CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय संस्कृति के विकास में जैन-वाङ्मय का अवदान

प्रथम खण्ड

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय संस्कृति के विकास में जैन-वाङ्मय का अवदान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान

[प्राच्य-भाषा, जैन-विद्या, भारतीय वाङ्मय तथा श्रमण-संस्कृति सम्बन्धी दुर्लभ शोध-निबन्धों का अपूर्व संग्रह]

[प्रथम खण्ड]

लेखक

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

एम० ए० (त्रय) पी-एच० डी०, डी० लिट्

सम्पादक

डॉ० राजाराम जैन
एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत-प्राकृत विभाग
एच० डी० जैन कालेज, आरा

डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री
एम० ए०, पी-एच डी०
प्राध्यापक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नीमच

प्रकाशक

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक
डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन
मंत्री, अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

■

पुस्तक प्राप्ति-स्थान
अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्
कटरा, बाजार, सागर (म० प्र०)

■

© अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

प्रथम संस्करण : मार्च, १९८२
प्रकाशित प्रतियाँ : ५००
मूल्य : ६० रुपये

■

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस, भेलूपुर, वाराणसी-१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Contribution of Jaina Literature to the Development of Indian Culture

[A Collection of rare research papers on different aspects of Jainology, old Indian Languages, Literature and Culture etc. etc.]

Written by

Late Dr. Nemichandra Shastri

Jyotishacharya M. A. (Triple) Ph. D., D. Litt.

Editors

Dr. Raja Ram Jain
Reader and Head of the Dept.
of Sanskrit & Prakrit
H. D. Jain College, ARRAH

Dr. Devendra Kumar Shastri
P. G. Dept. of Sanskrit and Hindi
Govt. P. G. College NEEMACH

Published by

All India Dig. Jain Vidwat-Parishad

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Published by
Dr. H. B. Jain
(Secretary) A. I. D. J. Vidwat Parishad

First Edition, March, 1982
No. of Copies Published : 500

Price Sixty Rupees

© All India Dig. Jain Vidwat Parishad

Copies to be had from—
All India Dig. Jain Vidwat-Parishad
Katra Bazar, SAGAR (M. P.)

Printed by
Babulal Jain Fagulla
Mahavir Press
Bhelupur, Varanasi-1

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

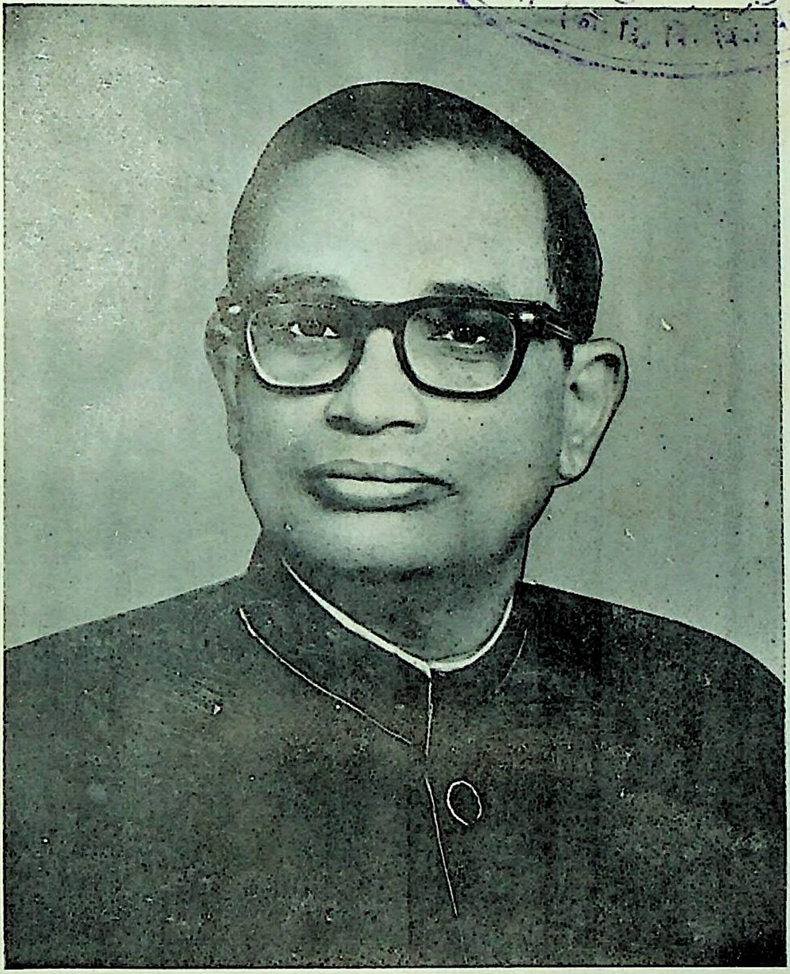

स्व० डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य

जन्म : १६ सितम्बर १९२२] [मृत्यु : १० जनवरी १९७४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय वक्तव्य

भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, अपने भूतपूर्व अध्यक्ष, डॉ० नेमिचन्द्र जी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, एम. ए., डी. लिट्के अभी तक अप्रकाशित तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें यत्र-तत्र बिखरे शोध-निबन्धोंको प्रस्तुत ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित कर, गर्वका अनुभव कर रही है।

इस ग्रन्थके प्रकाशनकी योजना २६-५-७९ को किशनगढ़में सम्पन्न विद्वत्परिषद्की कार्य समितिकी बैठकमें बनी थी। वहाँ एक प्रस्ताव द्वारा स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' के चारों भागोंसे प्राप्त धनराशिमेंसे २५००१) रु० के द्वारा 'डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री स्मारक निधि' की स्थापना की गई तथा दूसरे प्रस्ताव द्वारा डॉ० शास्त्रीके अद्यावधि अप्रकाशित शोधनिबंधोंके प्रकाशनका निश्चय किया गया। तत्पश्चात् डॉ० राजारामजी, आरा तथा डॉ० देवेन्द्र कुमारजी शास्त्री, नीमच, ग्रन्थके सम्पादक नियुक्त किए गए। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी योजनाका सुन्दर, सुखद एवं सफल परिणाम है।

कलकत्तामें वीर शासन जयन्ती महोत्सवके अवसर पर २-११-४४ को भारतवर्षीय दिग० जैन विद्वत्परिषद्की स्थापना हुई थी। प्रारम्भमें इसका उद्देश्य, जैन शासनका संरक्षण, प्रचार और विद्वानोंकी सामयिक उन्नति था। १९४७ के सोनगढ़ अधिवेशनमें जैन साहित्यके निर्माण और प्रकाशनका भी निर्णय लिया गया। तबसे आजतक विद्वत्परिषद् एक ओर विद्वज्जनोंके सर्वाङ्गीण विकास और साहित्य-पुरस्कार आदि देकर उनमें सम्मानकी भावना जागृत करनेका प्रयत्न करती रही और दूसरी ओर स्वयं साहित्यके प्रकाशन द्वारा विद्वानोंके मनोबलको उठाती रही। जितना भी साहित्य परिषद्के द्वारा प्रकाशित किया गया उसका न केवल जैन समाजमें अपितु भारतवर्षके समग्र प्रबुद्धवर्गमें अच्छा सम्मान हुआ।

परिषद्का प्रथम प्रकाशन था—आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार–व्यक्तित्व और कृतित्व', और इसके लेखक थे डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री। तत्पश्चात् 'श्रुतसप्ताह नवनीत' का प्रकाशन हुआ। जिसके संपादक थे डा० पन्नालालजी साहित्याचार्य।

तदनन्तर परिषद् द्वारा न्याय वाचस्पति, गुरूणां गुरुः श्री पं० गोपालदास जी बरैयाके जन्म शताब्दी समारोहके अवसरपर १९६७ में 'गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ' का प्रकाशन किया गया। इसमें पूज्य गुरुजीके जीवन परिचय तथा उनके संस्मरण आदिके अतिरिक्त जैन धर्म, दर्शन, साहित्य, इतिहास, पुरातत्त्व और संस्कृतिसे संबद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किए गए। यह ग्रन्थ भारतवर्षके समस्त विश्वविद्यालयोंको निःशुल्क भेंट किया गया था। इसके सुन्दर सम्पादनमें अन्य विद्वानोंके साथ डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीका भी प्रमुख हाथ था।

इसके पश्चात् परिषद्के शिवपुरी-रजतजयन्ती-अधिवेशनके अवसर पर 'रजत जयन्ती पत्रिका १९७३' का प्रकाशन हुआ। इसमें १९७३ तकके परिषद्के अधिवेशनों, प्रस्तावों,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरस्कारों, तथा कार्योंका सविस्तार सचित्र वर्णन है। विद्वत्परिषद्के इतिहासकी दृष्टिसे यह महत्त्वपूर्ण, अतिसुन्दर एवं संग्रहणीय प्रकाशन है।

तत्पश्चात् १९७४ में विद्वत्परिषद्के प्राण सन्तप्रवर क्षुल्लक श्री गणेशप्रसादजी वर्णीके जन्म शताब्दी-समारोहके अवसरपर 'श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ' प्रकाशित किया गया। यह ग्रन्थ वर्णीजीके जीवन और उनके अवदानकी दृष्टिसे अतिशय महत्त्वपूर्ण है।

भगवान् महावीरके २५०० वें निर्वाण महोत्सवके अवसर पर परिषद्ने जो अपनी साहित्य-श्रद्धाञ्जलि समर्पित की वह समग्र भारतीय साहित्यके क्षेत्रमें निरन्तर स्मरणीय रहेगी। और वह है 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' का चार खण्डोंमें प्रकाशन। लगभग २००० पृष्ठोंके इस विशालकाय ग्रन्थमें जैनधर्म और दर्शनका ढाई हजार वर्षोंका इतिहास सुरक्षित है। इस ग्रन्थके लेखक स्वनामधन्य स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री हैं। इसके लेखनमें उन्होंने पांच वर्ष तक न केवल अकथनीय परिश्रम किया, किन्तु सच बात तो यह है कि उन्होंने अपनेको इस यज्ञमें होम दिया। फलतः नवम्बर १९७४ में इस ग्रन्थके प्रकाशनके लगभग आठ माह पूर्व ही, वे अपनी चिरयात्रा पर प्रयाण कर गए। इस ग्रन्थके प्रकाशनके लिये अर्थ संग्रह एवं अग्रिम ग्राहक बनने आदिमें तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० दरबारी-लालजी कोठियाने महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया।

डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री विलक्षण प्रतिभाके धनी थे। उन्हें साहित्य लिखनेका व्यसन था। अपने शरीर और स्वास्थ्यके प्रति निर्मम होकर वे सतत साहित्य-साधनामें संलग्न रहे। विद्वत्परिषद्को अपनी समस्त गतिविधियोंमें डॉ० शास्त्रीका निरन्तर सहयोग प्राप्त होता रहा। वे इसकी प्रगतिके लिए सदैव कार्य करते रहे। यही कारण है कि विद्वत्परिषद्ने उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करनेके निमित्त उनके समस्त अप्रकाशित साहित्यको प्रकाशित करनेका निर्णय लिया।

डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री द्वारा लिखित तथा अद्यावधि अप्रकाशित साहित्य विपुल मात्रामें है। इसलिए उसे अलग-अलग दो खण्डोंमें प्रकाशित करनेका निर्णय लिया गया।

प्रस्तुत ग्रन्थके प्रथम खण्डके प्रथम अध्यायमें संस्कृत, प्राकृत एवं भोजपुरी भाषाओंमें भाषावैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक-अध्ययन, द्वितीय अध्यायमें संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दीकी साहित्यिक-विधाओंका समीक्षात्मक अध्ययन तथा तृतीय अध्यायमें जैनधर्म और दर्शनसे संबद्ध निबन्ध संकलित किए गए हैं। द्वितीय खण्डके प्रथम अध्यायमें तीर्थ, इतिहास, कला, संस्कृति एवं राजनीति, द्वितीय अध्यायमें भक्ति, संगीत एवं ललितकलाओं तथा तृतीय अध्यायमें ज्योतिष एवं गणितसे सम्बद्ध निबन्धोंका अतिशीघ्र प्रकाशन किया जा रहा है।

डॉ० राजाराम जी जैन, आरा, तथा डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, नीमच, ने शास्त्री जीके यत्र-तत्र बिखरे महनीय निबन्धोंके संग्रह और संपादनमें पर्याप्त परिश्रम किया है। उन्हींके सतत प्रयत्नोंके परिणाम स्वरूप शास्त्रीजीके निबन्ध प्रस्तुत पुस्तकका आकार ग्रहण कर सके। अतः ये दोनों विद्वान् धन्यवादके पात्र हैं। निबन्धोंके संकलनमें स्व० डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीके सुपुत्र चि० नलिन शास्त्रीका प्रयत्न भी श्लाघनीय रहा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदरणीय गुरुवर्य श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसीने अपने अत्यन्त व्यस्त समयमेंसे कुछ क्षण निकालकर इस ग्रन्थका प्राक्कथन लिखनेकी कृपा की, तदर्थ मैं उनके प्रति अपना कृतज्ञभाव व्यक्त करता हूँ । मान्यवर डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, वाराणसीका भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनकी सतत प्रेरणा एवं मार्गदर्शनके फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन संभव हुआ ।

विद्वत्परिषद्के प्रकाशन मंत्री, डॉ० फूलचन्द्र प्रेमी, अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसीका इस ग्रन्थके प्रकाशनमें महनीय योगदान है । उन्होंने पूरे ग्रन्थके अन्तिम प्रूफ तो देखे ही हैं, साथ ही वे ग्रन्थके शीघ्र प्रकाशनके लिए निरन्तर प्रयत्नशील भी रहे, अतः वे हमारे अतिशय साधुवादके पात्र हैं ।

विद्वत्परिषद्के अध्यक्ष तथा भूतपूर्व मन्त्री एवं मेरे गुरुवर डॉ० पन्नालाल जी साहित्याचार्यका मैं किन शब्दोंमें आभार प्रकट करूँ । उन्हींके सतत अध्यवसायसे परिषद्की समस्त गतिविधियाँ सुचारुरूपसे संचालित हो रही हैं । प्रस्तुत ग्रन्थके प्रकाशनमें भी अथसे इति तक उनका भगीरथ प्रयत्न रहा है । उनके इस समर्पण भावके प्रति, श्रद्धासे विनत हूँ । मेरे विशेष आग्रह पर उन्होंने ग्रन्थके प्रारम्भमें 'अन्तर्ध्वनि' के रूपमें वक्तव्य लिख देनेका कष्ट किया है । तदर्थ मैं उनका विशेष आभारी हूँ ।

मित्रप्रवर, महामनीषी, स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करनेके लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं । उनका समग्र जीवन विद्वानोंके लिए आदर्श है । उनका छात्रप्रेम एवं साहित्यिक श्रम, नई पीढ़ीके अन्वेषणोंके लिए अनुकरणीय है । परिषद् उनके शोध-खोजको प्रकाशित कर अपनेको धन्य मानती है । मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हूँ ।

अंतमें, महावीर प्रेसके मालिक मित्रवर, श्री बाबूलाल जी फागुल्लको मैं धन्यवाद देता हूँ जिनकी मुद्रण संबंधी विशेष प्रतिभाके कारण प्रस्तुत ग्रन्थका प्रकाशन अत्यन्त सुन्दर और नितान्त नयनहारी बन सका ।

उज्जैन
दि० २३-२-१९८२

(महामहोपाध्याय) डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन
मंत्री
अ० भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो शब्द

स्वनामधन्य स्व० डॉ० नेमिचन्दजी शास्त्री द्वारा समय-समय पर लिखे गये निबन्धोंका संग्रह कर अ० भा० दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्ने ग्रन्थरूपमें प्रकाशित कर अपनी गरिमाके अनुरूप कार्य किया है। यह प्रसन्नताकी बात है कि विद्वत् परिषद्के प्रकाशनोंकी गौरवपूर्ण परम्परामें यह ग्रन्थ भी जुड़ गया। विद्वान् लेखकने जिस गहनता तथा व्यापकताके साथ प्रतिपाद्य विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया है, उससे जैन साहित्यकी विविध विधाओंमें शोध-खोज और तदनुसार लेखनकी आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओंके द्वार उद्घाटित होते हैं। भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, तत्त्वज्ञान एवं विज्ञान आदि विषयोंकी बहुमूल्य सामग्री प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश आदि भाषाओंके प्रकाशित एवं अप्रकाशित जैन साहित्यमें उपलब्ध है। आज सबसे बड़ी आवश्यकता उन्हें प्रकाशमें लानेकी है। संस्कृत नाटकों के विषयमें तो यहाँ तक कहा जाता है कि इन नाटकोंको संस्कृत नाटककी अपेक्षा प्राकृत नाटक ही कहना चाहिए, क्योंकि इनमें संस्कृत भाषाकी अपेक्षा प्राकृतभाषाका ही अंश अधिक विद्यमान है।

प्रस्तुत ग्रन्थमें विद्वान् लेखकद्वारा लिखित इन निबन्धोंमें अतीतके प्रयत्नोंका मूल्यांकन और उनकी वर्तमान उपयोगिता तथा महत्त्वका दिशा-निर्देश विद्यमान है। इसी तरहके प्रयत्नों द्वारा हम उन जड़ोंका पता लगा सकते हैं, जिनका योग हमें और हमारे 'आज'को बनानेमें रहा है। सम्पूर्ण विश्वकी बात छोड़ दें, मात्र अपने भारत देशको ही लें तो हम पाते हैं कि विविध भाषाओंके विशाल जैन साहित्यका जो मूल्यांकन और स्थान यहाँ होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया। इस दिशामें हमारी उदासीनता ही प्रमुख दृष्टिगोचर होती है। यदि आजकी रुचि एवं आवश्यकताके अनुरूप उसे नवीन आयामोंमें प्रस्तुत कर सकें तो अपनी विविधता और विराट्-स्वरूपके सहारे जैन साहित्य सम्पूर्ण साहित्य जगत्के शिखरकी ऊँची चोटीपर खड़े होने का दावा कर सकता है। अन्य विद्वानोंकी तरह स्व० डॉ० नेमिचन्दजी शास्त्रीका भी यही प्रयत्न रहा है और इसके लिए वे जीवन पर्यन्त एक सजग प्रहरीकी तरह निरन्तर कार्य करते रहे। इन्हीं सब दृष्टियोंसे हम उनका समर्पण युक्त अनुकरणीय जीवन आजकी युवा पीढीके लिए एक मिशालके रूपमें पाते हैं।

इस ग्रन्थमें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषाओंसे संबंधित विविध निबंधोंका संग्रह है। श्रद्धेय पं० कैलाशचंद्रजी सिद्धान्ताचार्यने अपने प्राक्कथनमें विद्वान् लेखक तथा उनके इन निबंधोंके विषयमें जो मूल्यांकन प्रस्तुत किया है उससे इस ग्रन्थके गौरवकी श्री वृद्धि हुई है। विद्वत्तापूर्ण सम्पादकीयमें भी इन विषयोंपर अच्छा प्रकाश डाला गया है। जनवरी १९८१ में खजुराहोमें श्रीमद्जिनेन्द्र पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सवके अवसरपर सम्पन्न विद्वत् परिषद्के चतुर्दश अधिवेशनमें मुझे प्रकाशन मंत्रीके कार्यभारके साथ ही शास्त्रीजीके निबंध संग्रहके प्रकाशनका दायित्व मिला। अन्तिम प्रूफ संशोधनके समय आवश्यतानुसार सन्दर्भ और टिप्पण आदि मूलग्रन्थोंसे भी मिलानेका यथासम्भव प्रयत्न किया है। कोशिश यही रही है कि त्रुटियाँ न रहें, फिर भी वे सम्भव हैं, जिनकी सूचना मिलनेपर आगे संशोधनका ध्यान रखा जा सकेगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत्परिषद्के सम्माननीय अध्यक्ष, मंत्री, संरक्षक तथा सम्पादकद्वय एवं अन्य सभी विद्वानोंके सतत मार्गदर्शन एवं प्रेरणाके प्रति आभारी हूँ। ये सभी विद्वान् मेरे श्रद्धेय गुरुजन हैं, अतः इनके अच्छे वक्तव्योंके रहते हुए दायित्व निर्वाह हेतु दो शब्द लिखनेकी धृष्टताके प्रति क्षमाप्रार्थी हूँ। मान्यवर बाबूलालजी फागुल्ल एवं पं० श्री महादेव चतुर्वेदीजीको उनके अच्छे सहयोगके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

जो अध्येता, अन्वेष्टा तथा जिज्ञासु जैन वाङ्मयकी विविध विधाओंका अच्छा परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ उन्हें महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रमोंमें भी यह ग्रन्थ सम्मिलित किये जाने योग्य है।

जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
ऋषभ जयन्ती, दिनांक—१९-३-८२

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी
प्रकाशन मंत्री
अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राक्कथन

स्व० डाक्टर नेमिचन्द्र शास्त्रीका अवसान सन् १९७४ के प्रारम्भमें ही हो गया था। धौलपुर राज्यके अन्तर्गत राजाखेडा ग्रामकी जैन पाठशालामें प्रारम्भिक अध्ययन पूर्ण करके वह काशीके स्याद्वाद महाविद्यालयमें प्रविष्ट हुए थे। उनका गणितका विषय भी अच्छा था अतः उन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालिज वाराणसी (वर्तमानमें सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) से ज्योतिषाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। इस प्रकार वह जैन समाजमें प्रथम ज्योतिषाचार्य थे और उनका फलित ज्योतिष बहुत ही प्रामाणिक होता था। ज्योतिषके साथ उन्होंने महाविद्यालयमें जैनधर्म, जैनदर्शन, साहित्य आदिका भी अध्ययन किया था।

महाविद्यालयका अध्ययन समाप्त करके वह आराके जैन सिद्धान्त भवनके पुस्तकाध्यक्ष तथा जैन बालाविश्राममें अध्यापक पदपर नियुक्त हुए। किन्तु उन्हें पठन-पाठनका इतना अधिक व्यासंग था कि उन्होंने संस्कृत और प्राकृतमें न केवल एम. ए. परीक्षा पास की, किन्तु पी. एच. डी. और डी-लिट् भी किया तथा आराके बाबू हरप्रसाद जैन कालिजमें संस्कृत-प्राकृतके विभागाध्यक्ष हुए। उनकी तत्परतासे मगध विश्वविद्यालयमें प्राकृत भाषाके अध्ययनका खूब विस्तार हुआ।

वे केवल प्राध्यापक ही नहीं थे किन्तु सुलेखक भी थे और उनका हिन्दी, संस्कृत तथा प्राकृत भाषामें समानाधिकार था। भगवान् महावीरके निर्वाणकी २५०० वें समारोहके उपलक्ष्यमें उन्होंने 'भगवान् महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामका ग्रंथ लिखा, जो उनके स्वर्गवासके पश्चात् भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद्की ओरसे प्रकाशित हुआ। उसके विक्रयसे प्राप्त धनराशिसे विद्वत्परिषद्ने शास्त्रीजीकी पुण्यस्मृतिमें उनके नामसे ग्रंथमाला स्थापित की और निर्णय किया कि उसके अप्रकाशित लेखोंके संग्रहके प्रकाशनसे इस ग्रन्थमालाका प्रारम्भ किया जाये। उसीके फलस्वरूप शास्त्रीजीके लेखोंका यह संग्रह हमारे सामने हैं।

इस निबन्ध संग्रहका प्रथम विभाग है—भाषाविज्ञान। इसमें संस्कृत प्राकृत एवं भोजपुरी भाषाओंका भाषा वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें ७ लेख हैं। उसमें एक लेख प्राकृत भाषामें है उसका हिन्दी अनुवाद साथमें दिया है। उसका शीर्षक 'संस्कृतके सर्वाङ्गीण अध्ययनमें प्राकृतके अध्ययनकी उपयोगिता' है। आज तो इस उपयोगिताको सर्वथा भुला दिया गया है। संस्कृतके नाटकोंमें व्यवहृत प्राकृतको भी संस्कृतके आधारसे ही पढ़ाया जाता है। जैन विद्यालयोंमें भी प्राकृत ग्रंथोंका अध्ययन इसी प्रकार चलता है। प्राकृत गाथाओंके नीचे संस्कृत छाया दिये जानेसे अध्यापक और छात्र दोनों ही प्राकृत भाषासे अछूते बने रहते हैं। संस्कृतज्ञजन तो प्राकृतको कोई भाषा भी माननेको तैयार नहीं है, जबकि आजकी भारतीय भाषाओंका उद्गम ही प्राकृत भाषासे हुआ है। स्व० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवालने प्राकृतकोश पाइयसद्दमहण्णवकी भूमिकामें लिखा है—जब मैं पद्मावत और कीर्तिलतापर टीका लिखता था तो मुझे सैकड़ों पुराने हिन्दी शब्दोंका अर्थ खोजनेमें बड़ी कठिनाई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होती हैं। हिन्दी शब्दकोशमें वे नहीं मिलते थे। उस समय मैंने पाइअसद्दमहण्णवको देखा और मैंने यह अनुभव किया कि न केवल पुराने हिन्दी साहित्यको किन्तु पुराने राजस्थानी, गुजराती, मराठी, बंगाली, मैथिली आदि भाषा साहित्यको समझनेके लिये भी प्राकृत भाषाका अध्ययन आवश्यक है।

संस्कृतमें भी प्राकृत शब्द पाये जाते हैं किन्तु उन्हें संस्कृतका ही अंग मान लिया गया है। उदाहरणके लिए गोविन्द शब्दको गोपेन्द्रका प्राकृतरूप माना जाता है जो अब संस्कृत भाषाका ही अंग बन गया है। इसी तरह अन्य भी बहुतसे रहस्य भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनसे प्रकाशमें आते हैं। अतः संस्कृतके प्रेमियोंको प्राकृतका भी अध्ययन करना चाहिये। शास्त्रीजीने निवन्धमें इसपर अच्छा प्रकाश डाला है।

इसीके आगे 'अर्थविकासकी प्रक्रिया—कुछ शब्द' शीर्षक निबन्ध है—जिसमें बतलाया है कि भाषा विकासके अनुसार शब्दके अर्थमें परिवर्तन होता रहता है। शास्त्रीजीने इसे उदाहरणों द्वारा सप्रमाण सिद्ध किया है। यह लेख ही उनकी अध्ययनशीलता और वैदुष्यके परिचयके लिये पर्याप्त है। संस्कृतके विद्वानोंमें इस प्रकारकी सूझबूझ वह भी भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे-विरल ही देखी जाती है।

दूसरा विभाग है—साहित्य। इसमें १७ लेख हैं जिनमें अन्तिम दो लेख संस्कृतमें हैं। इन लेखोंमें संस्कृत—प्राकृत और हिन्दीकी साहित्यिक विधाओंका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी जैन साहित्य, जैन कोशसाहित्य, जैन व्याकरणसाहित्य, जैन संस्कृतकाव्य आदि शीर्षकोंके अन्तर्गत जैन साहित्यका समीक्षात्मक अध्ययन पठनीय है।

हिन्दी जैन साहित्यके विकासके लिए सत्रहवीं शताब्दीका विशेष महत्त्व बतलाते हुए शास्त्रीजीने १७, १८, १९-२० वीं शताब्दीमें होने वाले ग्रन्थकारोंकी रचनाओंकी पूरी तालिका ही दे डाली है।

इसमें दो लेख प्राकृत साहित्यसे सम्बद्ध हैं। जिनमें प्राकृत काव्यका उद्भव और विकास वतलानेके साथ प्राकृत कथा साहित्यपर प्रकाश डाला गया है। प्राकृत साहित्यका एक तरहसे पूर्ण परिचय इन लेखोंसे मिल जाता है। शास्त्रीजी जो कुछ लिखते थे वह गहरे अध्ययन पूर्वक ही लिखते थे, इसका निदर्शन साहित्य विभाग है। यह विभाग तो प्रत्येक साहित्य प्रेमी विद्वान् और विद्यार्थीके लिये पठनीय है। इसके अध्ययनसे पाठकके ज्ञानमें बहुत वृद्धि हो सकेगी। एक ही स्थानपर साहित्य विषयक इतनी जानकारी प्रायः दुर्लभ है। और साहित्यकी कोई विधा छूटी नहीं है—काव्य, कोश, अलंकार, नाटक, व्याकरण आदि सभीका गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। तथा ऐतिहासिक पर्यवेक्षण भी किया गया है। उदाहरणके लिए भक्तामर स्तोत्रका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उसके रचयिताके समयपर भी प्रकाश डाला गया है।

आचार्य हेमचन्द्रका महत्त्व और ऐतिहासिक सामग्रीके अन्तर्गत अभिधान चिन्तामणिकी स्वोपज्ञ वृत्तिमें हेमचन्द्रने अपने पूर्वके जिन ५६ ग्रन्थकारों और ३१ ग्रन्थोंका उल्लेख किया है—उसकी सूची दी हुई है। अभिधान चिन्तामणिकी विशेषताओंपर बहुत ही सुन्दर प्रकाश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri.
डाला है। यही स्थिति नाटक साहित्यकी भी है। प्रत्येक नाटककी विशेषताका चित्रण बड़ी सूक्ष्मतासे किया गया है। इस दृष्टि से ऐतिहासिक संस्कृत नाटकोंका विश्लेषण उल्लेखनीय है।

'भट्टारक युगीन जैन संस्कृत साहित्यकी प्रवृत्तियां' शीर्षक निबन्धका विषय एक तरहसे एकदम नवीन है, इससे पहले इसपर किसीने प्रकाशन हीं डाला है। शास्त्रीजीने १३से १८ वीं शती तकके कालको भट्टारक युग माना है।

इस विभागका अन्तिम लेख संस्कृतमें है। कविकुलगुरु कालिदासका मेघदूत काव्य अति प्रसिद्ध है। जैनाचार्य जिनसेनने उसकी समस्यापूर्तिरूप पार्श्वाभ्युदय काव्य रचा था। उसीके सम्बन्धमें यह लेख है।

चतुर्थ विभाग है—जैनधर्म और दर्शन। इसमें ७ लेख हैं—प्रथम लेख है पुण्यकर्म और देवपूजा–विकास और विधि। इस लेखमें शास्त्रीजीने पद्म पुराण, वरांग चरित, हरिवंश-पुराण तथा श्रावकाचारोंके आधारपर देवपूजाके विकास और विधिपर अध्ययन पूर्ण प्रकाश डाला है। उनका यह निबन्ध भी अध्ययनपूर्ण सामग्रीसे सम्बद्ध है। इसमें देवपूजाके द्रव्य, तथा विधि और उद्देश्यपर समुचित प्रकाश डाला गया है। पूजा सम्बन्धी विविध प्रश्नोंका समाधान इस लेख से हो जाता है।

दूसरा लेख है—'जैन दर्शनकी मौलिक अवधारणाएँ।' इसमें 'दर्शन' शब्दकी पूर्वीय और पाश्चात्य परिभाषाओं द्वारा उसका अर्थ स्पष्ट करके जैन दर्शनके स्वरूप और वर्ण्य विषय-का विचार किया गया है। तथा वर्ण्य विषयके अन्तर्गत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र-का स्वरूप दर्शाया है।

यथार्थमें प्रत्येक दर्शन या धर्मके प्रवर्तकोंकी एक विशेष दृष्टि होती हैं जो उसकी आधारभूत होती है। जैसे बुद्धकी मध्यम प्रतिपदा दृष्टि और शंकराचार्यकी अद्वैत दृष्टि। अतः दर्शनका अर्थ होता है वस्तुको देखनेकी दृष्टि। जैन दर्शनमें वह दृष्टिविशेष है अनेकान्तवाद। जैन दर्शनका समस्त आचार और विचारका आधार वही है। इसीसे जैन दर्शनको अनेकान्तवादी दर्शन कहते हैं। अतः जैन दर्शनका तात्पर्य अनेकान्त दृष्टिसे वस्तु विवेचनसे है, केवल नय दृष्टिसे नहीं, जैसा शास्त्रीजी ने पृ० ४०३ पर लिखा है।

आगे शास्त्रीजीने 'दर्शन' की विभिन्न व्याख्याएं बतलाई हैं। आगामिक परम्परामें सामान्यावलोकन रूप दर्शनका अर्थ आत्मावलोकन लिया है। यह आत्मावलोकन वह नहीं है जो सम्यक्त्वके साथ होता है किन्तु प्रत्येक ज्ञानसे पहले होनेवाली आत्माभिमुखता मात्र है। आगे वस्तुके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकताका विवेचन है। पुनः तत्त्व, ईश्वर, सृष्टि, कर्मसिद्धान्त ज्ञान और आचारकी पृथक्-पृथक् मीमांसा करते हुए जैन दर्शन सम्मत विचार प्रस्तुत किया गया है। अन्तमें अन्य भारतीय दर्शनोंके आलोकमें जैनदर्शनकी विशेषताएं बतलाई हैं।

तीसरा लेख है—अहिंसा और पांच जैनाचार्य। इसमें स्वामी समन्तभद्र, आचार्य अमितगति, आचार्य अमृतचन्द्र, आशाधर और शुभचन्द्राचार्यके ग्रन्थोंके आधारसे अहिंसाका विवेचन किया गया है। शास्त्रीजीने अमृतचन्द्रका समय बारहवीं शताब्दी लिखा है जो ठीक नहीं है। उनका समय दसवीं शताब्दी है और वह अमितगतिके पूर्वज थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्तभद्रके पश्चात् हुए आचार्य पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें आगत 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' सूत्रकी व्याख्यामें हिंसाके स्वरूपको बहुत स्पष्ट कर दिया है और प्रमाण रूपसे जो गाथाएँ उद्धृत की हैं वे आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारमें पाई जाती हैं। उन्हीसे उत्तर कालके उक्त आचार्यों ने मूल वस्तु को लेकर अहिंसाके भेद-प्रभेदोंका विवेचन किया है।

जैनी अहिंसाकी मुख्य बात है अहिंसाका द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके रूपमें विभाजन। तथा भावहिंसाको ही हिंसा मानना। शास्त्रीजीने टिप्पणमें तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकारोंके वचनोंको उद्धृत तो किया है किन्तु उनका आशय अपने लेखमें नहीं दिया है। अमितगतिने अपने श्रावकाचारमें हिंसा-अहिंसाकी व्यवस्था करते हुए जो पद्य कहा है—

म्रियतां मा मृतजीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति॥—६।२५॥

यह पद्य सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी गाथाका ही संस्कृत रूपान्तर है—

मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स॥ ३।१७॥

अर्थात् जीव मरे या जीवे, जो असावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा से होनेवाला बन्ध अवश्य होता है। किन्तु जो असावधान नहीं है, देखभाल कर सावधानता पूर्वक प्रवृत्ति करता है उसे किसीकी हिंसा हो जाने मात्रसे बन्ध नहीं होता।

हिंसा-अहिंसाकी इस व्याख्यासे ही अहिंसाका पालन अशक्य कहनेवालोंकी सब आपत्तियोंका निरसन हो जाता है। संक्षेपमें जो प्रमादी है वह हिंसक है और जो मन वचन कायसे सावधान है वह अहिंसक है।

आगे प्रमुख दि० जैनाचार्योंका विवरण दिया है जो शास्त्रीजीको स्व० आचार्य महावीर कीर्तिजीके एक गुटकेमें मिला था। इसमें उनके सम्बन्धमें प्रायः सभी विवरण दिया है जो अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। इसमें आचार्योंकी जाति भी लिखी है जैसे आचार्य कुन्दकुन्दको पल्लीवाल लिखा है। उमास्वामीको अयोध्यापुरी श्रावक लिखा है। लोहाचार्यको लमेंचु लिखा है, पूज्यपादको पद्मावती पोरवाल लिखा है। पूज्यपादका ही नाम देवनन्दी था। किन्तु इसमें दोनोंको अलग-अलग लिखा है और दोनोंके मध्यमें ५० वर्षोंका अन्तर, बतलाया है। इसमें समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्दि, वीरसेन आदिके नाम नहीं हैं। दिया हुआ समय भी काल्पनिक ही है। अतः यह गुर्वावली प्रामाणिक नहीं है। इस काल्पनिक विवरणको इतिहास नहीं मानना चाहिए।

शास्त्री जी भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्के सभापति भी चुने गये थे उनका अध्यक्षीय भाषण भी इसमें है। आगे दि० जैन संस्कृत पूजाओंकी तालिका भी है। जिसकी संख्या लगभग दो सौ है। कुछ पूजा ग्रन्थोंकी अन्तिम प्रशस्ति भी दी हैं।

अन्तमें प्राकृत भाषामें एक लेख है जिसका शीर्षक है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'भगवदीआराहणाए वसधिवियारो'—भगवती आराधना में वसतिका विचार।

प्राचीन काल तो जैनसाधु वनोंमें निवास करते थे। तत्त्वार्थसूत्रमें अचौर्यव्रतकी भावनाओंमें शून्य मकानमें तथा दूसरोंके द्वारा त्यागे गये मकानमें आवास बतलाया है। शास्त्रीजीका अनुमान है कि उस समय तक साधुओंका चैत्यवास प्रारम्भ हो गया था। एक ओर आचार्य गुणभद्र अपने आत्मानुशासनमें लिखते हैं—

'इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः।
वनाद् विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः॥'

अर्थात् जैसे मृग रात्रिके समय इधर-उधरसे डरकर ग्रामोंके समीप आ बसते हैं, खेद है कि कलिकालमें साधु वन छोड़कर ग्रामोंमें रहते हैं।

दूसरी ओर शिवकोटिके नामसे रचित रत्नमालामें कहा है—

'कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनिसत्तमैः।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः॥'

अर्थात् कलियुगमें मुनिश्रेष्ठ वनवास छोड़कर ग्रामादिमें जिनालयमें ठहरते हैं।

इस प्रकार साधुओंका वास ग्रामादिमें होनेपर उनके लिये जो आवास बनाये जाते थे उन्हें 'वसति' कहते थे। दक्षिणमें मन्दिरोंको भी वसति कहते हैं। इस वसतिका विचार भगवती आराधनामें किया है।

विविक्त शय्यासन तपका वर्णन करते हुए कहा है—

जत्थ ण विसोत्तिगा अत्थि दु सद्दरसरूवगंधफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाघादो वा वसधी विवित्ता सा॥ २३०,

अर्थात् जिस वसतिमें मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द रस रूप, गन्ध और स्पर्शके द्वारा अशुभ परिणाम नहीं होते अथवा स्वाध्याय और ध्यानमें व्याघात नहीं होता वह विविक्त वसति है।

वियडाए अवियडाए समाविसमाए बहिं च अंतो वा।
इत्थिणउंसयपसुवज्जिवाए सीवाए उसिणाए॥२३१॥

'वह वसति खुले द्वारवाली हो अथवा बन्द द्वारवाली हो, उसकी भूमि सम हो या ऊँची नीची हो। वह बाहरमें हो या अन्दरमें हो, स्त्री, नपुंसक और पशुओंसे रहित हो, ठंडी हो या गर्म हो।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित हो, दुष्प्रमार्जन आदि संस्कारोंसे रहित हो, जीवोंकी उत्पत्तिसे रहित हो, शय्यारहित हो ऐसी वसतिकामें विविक्त शय्यासन तपके धारी मुनि निवास करते हैं।

शास्त्रीजीने अपने लेखमें इन दोषोंका विवेचन किया है। किन्तु यह चैत्यवासका पूर्वरूप नहीं होना चाहिये, क्योंकि जब साधु वनोंमें निवास करते थे तो पहाड़ोंमें उनके निवासके लिये गुफाएँ बनवा दी जाती थीं। ऐसी गुफाएँ कलिंगमें, राजगृहीमें, दक्षिणमें प्रायः मिलती हैं। उन्हींके विषयमें उक्त कथन प्रतीत होता है। साधुको वनमें भी खुलेमें ही रहना चाहिये ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो विधान नहीं है। फिर विविक्त शय्यासन तप तो प्राचीन है। जो एकान्त स्थानमें शयन और आसनका विधान करता है। फिर भी शास्त्रोंकी रचनाके समय साधुओंका निवास प्रायः ग्रामोंके आस-पास होने लगा था। अस्तु।

शास्त्रीजीके उक्त सभी निबन्ध पठनीय हैं। उनमें खोज की भी बहुत सामग्री है। विद्वानों और स्वाध्याय-प्रेमियोंको उन्हें अवश्य पढ़ना चाहिये। विद्वत्परिषद्ने शास्त्रीजीके लेखोंको प्रकाशित करनेका निर्णय करके बहुत ही उचित कार्य किया है। अन्यथा इस बहुमूल्य सामग्रीके साथ लेखकका श्रम भी धूलमें मिल जाता। जिन डा० राजाराम जी आदि विद्वानोंके सहयोगसे यह प्रकाशन कार्य हुआ है वे सब बधाईके पात्र हैं। खेद है कि शास्त्रीजी असमयमें दिवंगत हो गये।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
भदैनी, वाराणसी

कैलाशचन्द्र शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

भारतीय संस्कृति, साहित्य तथा साधना एक ही सूत्रमें समन्वित उस मणिमालाके सदृश है, जिसे हम विभिन्न मणियोंके रूपमें देख-समझ कर उनकी विलक्षणताका वर्णन करते हैं। यद्यपि मणियोंका भिन्न-भिन्न दाना माला नहीं है, उन सभी प्रकारकी मणियोंसे माला निर्मित होती है, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति श्रमण, वैदिक या वैष्णव अथवा शैव न होकर उन सभीका समन्वित रूप है, जिसे आज हम भिन्न-भिन्न नामोंसे अभिहित करने लगे हैं। भारतीय संस्कृतिकी मूल धारा, साहित्यिक व आचार-परम्पराके उन सभी रूपोंमें आज तक प्रवाहित है, जो विभिन्न जातियों, रीति-नीतियों, सम-सामयिक परिस्थितियों व वातावरणका सम्मिश्रित प्रभाव है। वर्णन, विवेचन और विश्लेषण करनेकी यह एक पद्धति भी रही है। इसके साथ ही एक अन्तःप्रवाह भी इन सभीके अन्तस्तलमें लक्षित होता है, जिसके विवेचनकी ओर विद्वानोंकी दृष्टि प्रायः नहीं जाती। किन्तु जब तक इन दोनों ही दृष्टियोंसे अन्तरंग व बाह्य-प्रवृत्तियोंका विवेचन व विश्लेषण नहीं किया जाता, तब तक अध्ययन एकांगी ही कहा जायगा। विवेचनकी तात्त्विक व समन्वयात्मक पद्धतिमें सदा अन्तर रहा है। शोध व अनुसन्धानकी दिशामें उन सभीका आकलन किया जाता है व मूल्यांकन भी होता है, जो किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा व मान्यताकी धारासे विकसित होनेवाले मूल उपादान तत्त्वोंसे संवलित होते हैं। सम्प्रति यह निश्चित और स्पष्ट हो चुका है कि श्रमण संस्कृति, साहित्य एवं साधना भारतीय-संस्कृतिकी मूल अखण्ड-धारासे सतत सम्बद्ध रही है। अतएव प्राच्य संस्कृति, साहित्य तथा साधना व दर्शनके अध्ययन, अनुसन्धान तथा विवेचन में यह महत्त्वपूर्ण व उपयोगी ही नहीं, वरन् अनिवार्य भी मानी गयी है। पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों ही रूपोंमें श्रमण संस्कृतिकी तपोनिष्ठ त्यागकी उज्ज्वल परम्परा और अध्यात्मकी सर्वोच्च साधना उसके वैशिष्ट्यको प्रकट करनेके लिए पर्याप्त है। उसे सिद्ध करनेके लिए किसी अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है, वह स्वयंसिद्ध है।

उक्त संस्कृति, साधना और साहित्यकी विभिन्न मुख्य प्रवृत्तियोंसे सम्बन्धित निबन्ध प्रस्तुत ग्रंथमें आकलित किए गए हैं। इसके सभी निबन्ध डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा समय-समय पर लिखित वे प्रतिनिधि-निबन्ध हैं, जो विभिन्न विषयोंकी प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत करते हैं। निबन्धोंमें अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनके अध्ययनसे मौलिकता व स्वतन्त्र चिन्तनका भी परिचय मिलता है। डॉ० शास्त्रीने भिन्न-भिन्न अवसरों पर जिन उपयोगी व महत्त्वपूर्ण निबन्धोंको लिखकर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं स्मृति एवं अभिनन्दन ग्रन्थोंमें प्रकाशित कराया, उनमें कहीं-कहीं कुछ संशोधन व परिवर्तन तथा कुछ ज्योंके त्यों एवं कई अप्रकाशित निबन्ध प्रथम बार प्रस्तुत-रचनाके रूपमें पाठकोंके समक्ष पहुँच रहे हैं। इन सभी निबन्धोंका मूल प्रतिपाद्य भारतीय-संस्कृति किंवा आर्हत-संस्कृतिका सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करना है। इनमें भाषा, साहित्य, धर्म-दर्शन आदि विषयोंके माध्यमसे भारतीय संस्कृतिकी अनन्यभूत आर्हत-संस्कृतिको उजागर किया गया है। शोधपरक अध्ययनकी दिशामें यह विशिष्ट प्रयत्न एक महत्त्वपूर्ण आयाम है, जो समग्रताको अपने यथार्थ परिवेशमें प्रतिबिम्बित करने वाला है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत संकलनमें सर्वप्रथम 'भाषाविज्ञान' शीर्षकके अन्तर्गत उन सभी निबन्धोंको क्रमवार नियोजित किया गया है, जो प्राकृत, संस्कृत तथा लोक-भाषाओंके माध्यमसे सांस्कृतिक अध्ययनकी विशिष्टताको प्रतिफलित करते हैं। इन सभी निबन्धोंमें प्राकृत वाङ्मयकी उपयोगिताको भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। प्राकृतकी सतत प्रवहमान लोक-परम्पराने किस प्रकार भारतीय लोक-भाषाओंको समृद्ध बनाया है—इसका प्रामाणिक विवेचन किया गया है—'भोजपुरी-भाषामें प्राकृत-तत्त्व' के अन्तर्गत। प्राकृत तथा अपभ्रंशकी आनुपूर्वीमें ही इन मध्यदेशीय या मधेशी बोलियोंका जन्म हुआ, जिनमें अद्यावधि प्राकृत-सम्पदा भरपूर लक्षित होती है। प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डॉ० जार्ज ग्रियर्सन, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और डॉ० टर्नरके विवेचनका आधार लेकर तथा बारहवीं शतीमें रचित पं० दामोदरके 'उक्तिव्यक्ति-प्रकरण' एवं वर्तमानमें प्रचलित भोजपुरीका संक्षेपमें सभी दृष्टियोंसे इस निबन्धमें विचार किया गया है, जो शोध व अनुसन्धान करने वालोंके लिए प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार 'देशीनाममाला' के अध्ययनसे विद्वान् लेखकने हिन्दीके अनेक ठेठ शब्दोंकी व्युत्पत्तिकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। इसी प्रकार वैदिक तथा लौकिक संस्कृतके अध्ययनके लिए, विशेष रूपसे प्राकृतके अध्ययनकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला गया है। प्राकृत और संस्कृतका समानान्तर विकास हुआ है। संस्कृतका विकास छठी शताब्दी पश्चात् रूढ़ एवं गतिहीन हो गया; किन्तु प्राकृतोंका विकास अपभ्रंश तथा देशी भाषाओंके रूपमें निरन्तर होता रहा। आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओंके स्वरूप ग्रहण कर लेनेके पश्चात् ही उनकी स्थितिमें विपरीतता लक्षित होने लगी है। संस्कृतके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि निपात, अव्यय तथा उणादि शब्द मूलमें देशज-भाषाओंके हैं। जहाँ तक शब्द-प्रयोगोंका सम्बन्ध है, प्रत्येक साहित्यिक-भाषामें विभिन्न स्रोतोंसे समागत नानाविध शब्दोंका समावेश लक्षित होता है। अतएव संस्कृत वैयाकरणोंने विशेषकर महर्षि पतंजलिने लोकभाषाके निपातनसे सिद्ध शब्दोंमें द्योतकत्व और वाचकत्व दोनों प्रकारकी शक्तियाँ मानी हैं।

भाषाकी भाँति संस्कृत वाङ्मयके सर्वांगीण अध्ययनके लिए डॉ० शास्त्रीने प्राकृत-साहित्यका अध्ययन अपेक्षित माना है। उसके अनुसार संस्कृत-चरितकाव्योंका मूल स्रोत प्राकृतके चरितकाव्य हैं। प्राकृत-साहित्यमें प्रारम्भसे ही महापुरुषोंके जीवनचरित्रोंका वर्णन मिलने लगता है। संस्कृतके 'बुद्धचरित,' 'हर्षचरित' जैसे चरितकाव्योंकी रचना प्राकृतके चरितकाव्योंके अनुकरण पर हुई कही जाती है। प्राकृतमें गद्य और पद्य दोनों में ही चरितकाव्य लिखे हुए मिलते हैं। प्राकृत कथा-साहित्यकी अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं। केलेके पात की तरह ही कथामेंसे कथा उत्पन्न होते चलना यह उसकी अपनी विशेषता है, जो विश्व-साहित्यमें शैलीकी दृष्टिसे विलक्षण है। जन्म-जन्मान्तरोंकी अवान्तर-कथाओंका संयोजन जैन व प्राकृत कथा-साहित्यके शिल्पकी अपनी विशिष्टता है। अतएव डॉ० शास्त्रीने सम्यक् अनुशीलन कर यह निष्कर्ष प्रकट किया है—"कथाकाव्य कादम्बरी, वासवदत्ता, अवन्तिसुन्दरी जैसी उत्कृष्ट रचनाओंका अध्ययन प्राकृत-कथाकाव्यके बिना नहीं किया जा सकता। प्राकृत कथा-साहित्यके स्थापत्यकी प्रमुख विशेषता उसके कदली-स्थापत्यकी है।" कुवलयमाला कहा एवं समराइच्चकहाके अतिरिक्त गाथासप्तशतीका अत्यन्त मार्मिक अनुशीलन किया गया है। इन कथाकाव्योंके अध्ययनके बिना संस्कृत-कथाकाव्योंका अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा—यह सुनि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्चित है। इसके अतिरिक्त संस्कृत-नाटकोंका मूल ढाँचा व प्रकृति प्राकृत-भाषा व साहित्यकी है। क्योंकि नाट्यप्रयोग प्रत्येक युगमें लोकमानससे उद्भूत होते रहे हैं। लोकभाषा, लोक-जीवन तथा सभी प्रकारके पात्रोंका समावेश तथा उनमें अन्तर्हित लोकमानसकी अभिव्यंजना लोकधर्मी-नाट्य-परम्पराकी प्रमुख विशेषता रही है। जन-जीवनसे सम्पर्क रखने वाले सभी प्रकारके पात्र संस्कृत-नाटकोंमें भी प्राकृतोंका प्रयोग करते हुए लक्षित होते हैं। संस्कृतके नाटक-लेखक भासके 'अविमारक' और 'चारुदत्त' नाटकोंके अध्ययनके आधार पर डॉ० शास्त्री ने यह सिद्ध किया है कि ये दोनों प्राकृत-नाटक भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि इनमें प्राकृतोंका विपुल प्रयोग है। 'चारुदत्त' नाटकके द्वितीय अंकमें संस्कृतका सर्वथा अभाव है। उसके ही चतुर्थ अंकमें केवल एक पात्र प्राकृतका प्रयोग करता है। महाकवि कालिदासका 'मालविकाग्निमित्र' प्राकृत-सट्टकोंकी परम्परामें रचा गया। वस्तुतः जन-जीवनमें लोकधर्मिताके रूपमें प्रचलित विभिन्न विधाओंका संस्कार कर संस्कृत-साहित्यमें उनका स्थापन करके ही उन्हें साहित्यिक मानदण्ड प्रदान किया गया। इसलिये संस्कृत-भाषा तथा साहित्यका गौरव बढ़ता गया।

यह सत्य है कि विश्व-साहित्यमें संस्कृतका अपना विशिष्ट स्थान है और भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन आदि विषयोंको समझनेके लिए उसका अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि प्राकृतोंके ज्ञानके बिना न तो संस्कृत-नाटकोंकी वस्तु, नेता एवं रसगत विशेषताओंका परिज्ञान हो सकता है और न अलंकार, रस, व्यंजना-ध्वनि आदिका स्वरूप ही स्पष्ट हो सकता है। संस्कृत-काव्यशास्त्रके आचार्योंने समस्त काव्यशास्त्रोंमें अधिकतर लक्षण व उदाहरण प्राकृतके प्रस्तुत किए। यह उसका एक श्रेष्ठ प्रमाण है। इसी प्रकार संस्कृतके कोश, व्याकरण, दर्शन आदिके रहस्यपूर्ण परिज्ञानके लिए भी प्राकृत-भाषा व साहित्यका अध्ययन महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है। डॉ० शास्त्रीने अर्थविकासकी प्रक्रियामें संस्कृत तथा प्राकृतोंमें प्रयुक्त अनेक शब्दोंके अर्थके विकासका अध्ययन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्राकृतोंके अध्ययनके बिना भारतीय आर्यभाषाओंका ऐतिहासिक विकास अपने यथार्थ परिवेशमें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उदाहरणके लिए, प्राकृत "छइल्ल" शब्द आज भी "छैला" के रूपमें प्रचलित है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृतिके "विदग्ध"से कदापि नहीं हो सकती। शब्द तथा अर्थ-विकास दोनों ही दृष्टियोंसे प्राकृतके "छइल्ल" शब्दका विकास होता रहा है। यद्यपि आचार्य हेमचन्द्रने चतुर व्यक्ति (विदग्ध) को "छइल्ल" कहा है। किन्तु अनेकविध कलाओंमें निपुण व्यक्तिको "छइल्ल" कहा जाता रहा है। डॉ० शास्त्री के शब्दोंमें "त्रिभुवनकी ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका ज्ञान इन छइल्लोंको न हो। गाथासप्तशती और संस्कृत-नाटकोंके अवलोकनसे अवगत होता है कि विदग्धसे धूर्त और धूर्तसे विट, विटसे पीठमर्द और पीठमर्दसे छइल्ल शब्दका व्यवहार होने लगा है। विदग्धजन काव्यकलाके अतिरिक्त कामकलामें भी प्रवीण होता था। कुछ दिनोंके पश्चात् उसका काव्यकलाका नैपुण्य तो समाप्त हो गया और कामतन्त्रकी (उसकी) अभिज्ञता (मात्र ही) प्रधान बन गई। हिन्दीमें प्रयुक्त 'छैला' शब्द इसी कामतंत्रकी पटुताका सूचक है। आज इस शब्दके अर्थमें और भी ह्रास हो रहा है और अब यह गुण्डाशाहीका सूचक होता जा रहा है। इस प्रकारका अध्ययन प्राकृत-संस्कृतके सन्दर्भमें आज तक नहीं किया गया। शोध व अनुसंधानकी दृष्टिसे यह निबंध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशुद्ध साहित्यकी दृष्टिसे प्राकृत-संस्कृतकी आनुपूर्वीमें रचित अपभ्रंश तथा हिंदी जैन साहित्यकी छटा दर्शनीय है। 'हिंदी जैन काव्योंमें प्रकृति-चित्रण' शीर्षकके अन्तर्गत डॉ० शास्त्रीने बानगीके रूपमें आठ-दस कवियोंके अनेक अलंकृत चित्रोंको प्रस्तुत करने वाले पद्योंको उद्धृत किया है, जिनको पढ़कर साहित्यकी सरसताका रसास्वादन हुए बिना नहीं रहता।

हिंदी जैन साहित्यका कालवर्गीकरण आ० रामचन्द्र शुक्लके अनुसार किया गया है—आदिकाल, मध्यकाल और अर्वाचीनकाल। आदिकालके दो विभाग किए गए हैं—

१. अपभ्रंश साहित्य-काल (८वीं से १२वीं सदी तक)
२. पुरानी हिंदीका साहित्य-काल (१३वीं से १६वीं सदी तक)
३. मध्यकाल (१७वीं से १९वीं सदी तक)
४. अर्वाचीनकाल (१९वीं सदीके पश्चात्)

उक्त काल-गणनाके अन्तर्गत होने वाले प्रमुख कवियोंका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय इन निबन्धोंमें दिया गया है। किन्तु सबसे अधिक विशिष्टताओंको समायोजित करने वाला महत्त्वपूर्ण निबन्ध है—'प्राकृतकाव्यका उद्भव एवं विकास।' प्रस्तुत निबन्धमें पाँचवीं शताब्दीके शास्त्रीय महाकाव्योंसे प्रारम्भ कर चरितकाव्य, खण्डकाव्य, चम्पूकाव्य, मुक्तककाव्य, सट्टक एवं कथाकाव्योंका संक्षिप्त विवेचन किया गया है। प्राकृतका विशुद्ध कथा-साहित्य तीसरी सदीसे पादलिप्तसूरिकी 'तरंग-वतीकथा' से माना जाता है। प्राकृत-कथाओंके विश्लेषण व विवेचनसे डॉ० शास्त्रीने कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. प्राकृत कथाएँ लोककथाका आदिम रूप है। इनका मूल स्रोत 'वसुदेवहिण्डी' में सुरक्षित है।
२. कथाओंका ढाँचा लोककथाओंका है।
३. सम्पूर्ण जन्म-जन्मान्तरोंका वर्णन वर्तमानसे सम्बद्ध बताया गया है। अतः पालि-भाषाकी जातककथाओंसे इनमें मौलिक भिन्नता है।
४. प्रो० हर्टेलने इन कथाओंमें भारतीय सभ्यताका इतिहास सुरक्षित माना है।
५. पशु-पक्षी, हितोपदेश तथा धर्मकथाओंका भी सुन्दर भण्डार प्राकृत कथा-साहित्यमें मिलता है।
६. लौकिक तथा लोकोत्तर समस्याओंके समाधानके लिए भी कथा-साहित्य रचा गया।
७. विभिन्न कथानक-रूढ़ियोके प्रयोग।

"जैन कोश-साहित्य" शीर्षक निबन्धमें डॉ० शास्त्रीने जैन कोश-साहित्यकी उत्पत्तिसे लेकर उसके विकास तकका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर संस्कृत-प्राकृतके विभिन्न शब्दकोशोंका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार जैन व्याकरण साहित्यके उद्भव और विकासकी संक्षिप्त रूप-रेखा जैनेन्द्र, शाकटायन, हैमशब्दानुशासन आदि ग्रन्थोंके विवरणात्मक परिचयके आधारपर प्रस्तुत की है। जैन-व्याकरण-साहित्यकी उपलब्धियोंका पृथक्से उल्लेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर डॉ० शास्त्रीने कई महत्त्वपूर्ण विशेषताओंकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं :—

१. जैन-व्याकरण पंचांगयुक्त हैं। उनमें लाघव और स्पष्टता है।

२. विवेचनमें मौलिकता है। शब्दकी सिद्धि अनेकान्तात्मक मानी गई है।

३. गतिशील भाषाको स्थिरता प्रदान करनेवाले विधान न कर सहज रूपसे निष्पन्न होनेवाले वाच्य-वाचकोंका वाच्यगत-धर्मके रूपमें विचार किया गया है।

४. विकारोंके उत्सर्ग और अपवाद-विधानोंका भी प्रतिपादन किया गया है।

५. शब्दोंकी कथंचित् नित्यत्व एवं अनित्यत्व सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

साहित्य के सन्दर्भमें केवल प्राकृत या संस्कृतके जैन साहित्यका ही नहीं, सम्बन्धित जैनेतर रचनाओंका भी डॉ० शास्त्रीने ऐतिहासिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिसे अध्ययन प्रस्तुत किया है जो उदात्त भावनाका परिचायक है। उन्होंने उन सभी विशेषताओंका उल्लेख किया है, जो सांस्कृतिक अनुशीलनमें हमारी जानकारीकी परिधिके बाहर प्रायः छूट जाती रहीं अथवा जिनकी उपेक्षा की जाती रही है। साहित्यिक अनुशीलनके सन्दर्भके अवलोकनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्वान् लेखकका उद्देश्य पिष्टपेषण करना नहीं रहा।

यद्यपि जैनधर्म व जैनदर्शन पर कई पुस्तकें लिखी जाती रही हैं। किन्तु संकलित इन निबन्धोंमें कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्योंका उल्लेख किया गया है, जो अन्यत्र अप्रकाशित हैं। जैन पूजा-विधि और उसका विकास, दि० जैन संस्कृत पूजाओंका विवरण, प्रमुख दि० जैनाचार्योंका विवरण इत्यादि विशेष हैं। यद्यपि दिगम्बर जैनाचार्योंका पूर्ण विवरण पं० परमानन्दजी शास्त्रीके "प्राचीन जैन साहित्यका इतिहास" और डॉ० शास्त्रीके "तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा" में भी मिलता है, फिर भी प्रतिनिधि निबन्धोंके रूपमें इनमें कुछ ऐसे सूचन भी हैं, जिनके कारण उनकी आवृत्ति भी उपयोगी प्रतीत होती है।

यह सुनिश्चित है कि यज्ञ, पूजा, अर्चना, आराधना, साधना, भक्ति आदि शब्दोंके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। जैनधर्ममें पूजा गृहस्थोंके आवश्यक कार्योंमेंसे प्रमुख है। उसे पुण्यकर्म भी कहा जाता है। भले ही द्रविण भाषामें 'पूजा' शब्दका अर्थ 'पुष्पकर्म' और वैदिक-साहित्यमें 'पशुकर्म' हो, किन्तु जैनधर्ममें यह अर्थ कदापि किसी भी युगमें न रहा है और न अभीष्ट ही है। पता नहीं, निबन्धके शीर्षकमें 'पुण्यकर्म : देवपूजा' के स्थानपर 'पुष्पकर्म : देवपूजा' कैसे हो गया? पाठकोंसे निवेदन है कि वे 'पुण्यकर्म' ही पढ़ें। डॉ० शास्त्रीने आचार्य समन्तभद्रके जिस श्लोकका उल्लेख पृ० ३८४ पर किया है, जिसमें पूजाको 'पुण्यगुणस्मृति' कहा गया है। आचार्य पूज्यपादकी भक्तियोंसे भी यह स्पष्ट है कि वीतरागताके हेतु वीतराग परमात्माके पुण्यगुणोंका स्मरण किया जाता रहा है। यथार्थमें सच्ची जिनपूजा तो जिनत्वको उपलब्ध करना है, शुद्ध भाव रूपसे परिणमन करना है तथा परमात्मा जैसी विशुद्धताको प्राप्त करना ही है। डॉ० शास्त्रीका यह विवेचन तर्कपूर्ण व शास्त्रसम्मत है कि प्रारम्भमें पूजा केवल दिव्य-पुष्पोंसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की जाती थी, परवर्ती कालमें क्रमशः धूप, चन्दन, नैवेद्य आदि का प्रचलन; होते-होते अष्टद्रव्यों से पूजा की जाने लगी। यद्यपि विद्वान् अष्टद्रव्योंसे पूजा क्यों की जाती है; इस सम्बन्धमें ऊहापोह करने लगे हैं और उनका औचित्य भी किसी प्रकार सिद्ध करनेका प्रयत्न करने लगे हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे यह सब परवर्ती-विकास है।

"दर्शन और भौतिक विज्ञान' के सम्बन्धमें भी इन नित्रन्धोंमें यथास्थान विचार किया गया है। कुल मिलाकर इन निबन्धोंसे डॉ० शास्त्रीके सर्वतोमुखी व्यक्तित्वका भलीभाँति आकलन हो जाता है। संस्कृत, प्राकृत, ज्योतिष आदि विभिन्न विषयोंका जो वैदुष्य उन्हें प्राप्त था, उसका सहज ही दर्शन इन निबन्धोंके भीतर झाँकनेसे मिल जाता है।

अन्तमें—

विविध विषयक शोधपरक निबंधोंका संकलन एवं सम्पादन वस्तुतः मौलिक लेखन-कर्मकी अपेक्षा अधिक जटिल एवं दुरूह होता है। अपने मदनगंज–किशनगढ़ (राजस्थान) के विशेष अधिवेशन (२६-५-१९७९) के सुअवसरपर अ० भा० दि० जै० विद्वत्परिषद्ने जब यह गुरुतर कार्य हम लोगोंको सौंपनेका प्रस्ताव किया तो हम बड़े ही असमंजसमें पड़ गए। अपनी अज्ञताओंसे पूर्ण परिचित होनेपर भी जब श्रद्धेय गुरुवर पूज्य पं० कैलाशचंद्रजी शास्त्री, वाराणसी, श्री पं० नाथूलालजी शास्त्री, इन्दौर (अध्यक्ष-विद्वत्परिषद्), श्री पं० (डॉ०) पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर (मन्त्री–विद्वत्परिषद्), श्री प्रो० खुशालचन्द्रजी गोरावाला, वाराणसी, पं० नीरजजी सतना, प्रभृति गण्यमान्य विद्वानोंकी उपस्थितिमें जब उसने महती आशा एवं विश्वासके साथ उक्त कार्य सम्पन्न करनेका हमें आदेश दिया तो विनम्र प्रणतिपूर्वक अपनी स्वीकृति प्रदान करनेके अतिरिक्त अन्य कोई चारा ही न रहा। मदनगंजसे लौटते ही हम लोग इस कार्यमें जुट गए। उसके संकलन एवं सम्पादनमें जो श्रम किया गया है, सहृदय पाठक उसका अनुभव करेंगे ही। सामग्रीके संचयनमें हमें चि० प्रो० नलिनकुमार शास्त्री M.Sc. (सुपुत्र डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्री) ने हर प्रकारसे अपेक्षित सक्रिय सहयोग दिया है, उसके अभावमें हमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता। उनके इस सौजन्यकी हम भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनके प्रति अपना स्नेह-आभार व्यक्त करते हैं तथा उनके दीर्घ यशस्वी-जीवनकी मंगल-कामना करते हैं।

श्रद्धेय पूज्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीजीने प्राक्कथन लिखकर ग्रन्थके गौरव-सौरभको बढ़ा देनेकी कृपा की है। उनके अमित-स्नेहके प्रति हम उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। परिषद्के अध्यक्ष आ० डॉ० पन्नालालजी साहित्याचार्य तथा मंत्री डॉ० हरीन्द्रभूषणजीके अमूल्य सहयोगके प्रति आभारी हूँ।

सम्पादित सामग्रीकी अन्तिम पाण्डुलिपि तैयार कर विद्वत्परिषद्के मन्त्री महोदयके आदेशसे हम लोगोंने उसे गुरुवर श्री डॉ० (पं०) दरबारीलालजी कोठियाके पास वाराणसी भिजवा दिया। उन्होंने उसे देखकर तथा अपनी दृष्टिसे कुछ संशोधित कर तथा निबंधोंके क्रममें कुछ परिवर्तन कर उसे सीधे ही मुद्रणार्थ प्रेसमें भेज दिया। उनकी इस कृपाके लिए हम लोग उनके अत्यन्त आभारी हैं। वि० प० के प्रकाशन-मन्त्री डॉ० फूलचन्द्रजी प्रेमी, वाराणसी ने बड़ी लगनके साथ उसका आद्योपान्त प्रूफ संशोधन कर तथा उसका अन्तिम मुद्रणादेश भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देकर प्रकाशन-कार्यमें तीव्रगति प्रदान की। उन्होंने मुद्रित कुछ फर्मे जब हमें पिछले माह भेजे और शीघ्र ही उसके लिए सम्पादकीय लिख भेजनेका अनुरोध किया, तभी ग्रंथकी मुद्रण-समाप्तिका हमें पता चला। अस्तु, उनकी तत्परताके प्रति भी हम उनके आभारी हैं। हमें इस बातकी अत्यन्त प्रसन्नता एवं आत्म-सन्तोष है कि सरस्वतीके वरदपुत्र स्व० डॉ० नेमिचन्द्रजी शास्त्रीकी इधर-उधर बिखरी हुई अप्रकाशित अथवा दुर्लभ रचनाओंका आकलन कर उन्हें इस रूपमें तैयार कर सके तथा उनके प्रकाशनकी दिशामें हम लोग अपना कुछ योगदान देकर उनके प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धा व्यक्त कर सके। पुनरपि, प्रस्तुत साहित्यिक अनुष्ठानमें अनेक त्रुटियोंका रह जाना प्रायः सम्भव है। उनके लिए हम अपने सहृदय पाठकोंसे क्षमा-याचना कर उनसे प्रार्थना करते हैं कि उनकी ओर हमारा ध्यान आकर्षित करें, जिससे आगामी संस्करणमें उनका परिमार्जन किया जा सके !

२८-२-१९८२

देवेन्द्रकुमार शास्त्री, नीमच
राजाराम जैन, आरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तर्ध्वनि

स्व० डॉ० श्री नेमिचन्द्रजी शास्त्री चतुर्मुखी प्रतिभाके धनी थे। संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी आदि विविध भाषाओंपर आपका अधिकार था। अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी होनेके कारण आप प्रत्येक विषयके तलस्पर्शी विद्वान् थे। लेखन और वक्तृत्व कलाके पारगामी थे। साहित्यसृजनका आपको व्यसन था। अवकाशका दुरुपयोग आपने कभी नहीं किया। साहित्य-सृजन और सहयोगियोंको आगे बढ़ाना आपके जीवनका लक्ष्य था।

'गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ' और 'तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' नामक विशाल ग्रन्थ तैयार कर आपने प्रकाशनार्थ भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद् को दिये। विद्वत्परिषद्के प्रति उनकी आत्मीयता थी। यही कारण रहा कि वे उसके गौरवको बढ़ानेके लिए सतत प्रयत्नशील रहे।

विद्वत्परिषद्ने उनकी स्मृतिमें 'डॉ० नेमिचन्द्र स्मारक निधि' की स्थापना कर उसमें २५००१) की राशि समर्पित की। उसी स्मारक निधिकी ओरसे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है। जो पाठकोंके हस्तमें समर्पित है। इनके शेष निबन्धोंका संग्रहरूप दूसरा खण्ड भी प्रकाशित होकर पाठकोंके हाथमें शीघ्र ही पहुँचेगा। प्रस्तुत ग्रन्थमें केवल प्राकृत भाषाकी देनके साथ ही संस्कृत, हिन्दी, भोजपुरी आदिकी देनका भी दिग्दर्शन यथास्थान किया गया है। जैनधर्म और जैनदर्शनका भी समीचीन निर्देश किया गया है। ग्रंथकी सामग्री शोधपूर्ण है अतः शोधार्थी छात्रों तथा नवीन लेखकोंके लिए मार्गदर्शन करनेमें इस ग्रन्थका सदुपयोग होगा। शास्त्रीजीके अन्य ग्रन्थोंके समान यह ग्रन्थ भी विद्वद्वर्गके बीच महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, यह आशा है।

सागर
९ मार्च १९८२

पन्नालाल साहित्याचार्य
अध्यक्ष, अखिल भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-क्रम

भाषा-विज्ञान

संस्कृत, प्राकृत एवं भोजपुरी भाषाओंका भाषा वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन

१. प्राकृत भाषाका सांस्कृतिक अध्ययन — १
२. भोजपुरी भाषामें प्राकृत-तत्त्व — ८
३. अशोक-कालीन भाषाओंका भाषा-शास्त्रीय सर्वेक्षण — २०
४. देशीनाममाला : भाषा-शास्त्रीय व सांस्कृतिक अध्ययन — ३१
५. सक्कय-अज्झयणत्थं पाइय-अज्झयणस्सावसिगदा उवजोगिदा य — ४३
६. संस्कृतके सर्वांगीण अध्ययन हेतु प्राकृतके अध्ययनकी उपयोगिता — ५४
७. अर्थ-विकासकी प्रक्रिया : कुछ शब्द — ६७

साहित्य

संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दीकी साहित्यिक विधाओंका समीक्षात्मक अध्ययन

१. हिन्दी जैन काव्योंमें प्रकृति-चित्रण — ८६
२. हिन्दी जैन साहित्यमें अलंकार-योजना — ९३
३. हिन्दी जैन साहित्यको शाहाबादका अवदान — १०४
४. हिन्दी जैन साहित्य — ११५
५. प्राकृत काव्यका उद्भव एवं विकास — १३४
६. प्राकृत-कथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ — १५८
७. जैन कोश साहित्य — १७७
८. जैन व्याकरण साहित्य — १९१
९. कवीश्वर मानतुङ्ग — २११
१०. जैन संस्कृत काव्य : समीक्षात्मक अध्ययन — २१९
११. संस्कृत साहित्यके सांकेतिक अंक — २६७
१२. संस्कृत कोश-साहित्यको आचार्य हेमकी अपूर्व देन — २७२
१३. संस्कृतके ऐतिहासिक नाटकोंका अनुशीलन — २८४
१४. भट्टारक युगीन जैन संस्कृत साहित्यकी प्रवृत्तियाँ — ३४४
१५. महाकवि कालिदास : आधुनिक परवेश में — ३५४
१६. कालिदासस्य राष्ट्रियभावना — ३६७
१७. मेघदूतस्य समस्यापूर्त्यात्मकं पार्श्वाभ्युदयकाव्यम् — ३६९

जैन-धर्म-दर्शन

१. पुष्पकर्म तथा देवपूजा : विकास और विधि — ३७९
२. जैन दर्शनकी मौलिक अवधारणाएं — ३९७
३, अहिंसा और पाँच जैनाचार्य — ४३६
४. प्रमुख दिगम्बर जैनाचार्योंका विवरण — ४५१
५. विद्वत्परिषद्का दायित्व एवं जैन सिद्धान्त — ४५८
६. दि० जैन संस्कृत पूजाएँ : एक अनुचिन्तन — ४७२
७. भगवदी आराहणाए वसधि-वियारो — ४९०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषा विज्ञान

[संस्कृत, प्राकृत एवं भोजपुरी भाषाओंका भाषा वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन]

१. प्राकृत भाषाका सांस्कृतिक अध्ययन
२. भोजपुरी भाषामें प्राकृत–तत्त्व
३. अशोक-कालीन भाषाओंका भाषा-शास्त्रीय सर्वेक्षण
४. देशीनाममाला : भाषा-शास्त्रीय व सांस्कृतिक अध्ययन
५. सक्कय-अज्झयणत्थं पाइय-अज्झयणस्सावसिगदा उवजोगिदा य
६. संस्कृतके सर्वांगीण अध्ययन हेतु प्राकृतके अध्ययनकी उपयोगिता
७. अर्थ-विकासकी प्रक्रिया : कुछ शब्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत भाषाका सांस्कृतिक अध्ययन

प्राकृतवाङ्मयका भारतीय संस्कृतिके अध्ययनकी दृष्टिसे विशेष महत्त्व है। इसमें मानवके लौकिक और पारलौकिक जीवनकी समृद्धिकी व्यवस्थित प्रक्रिया निरूपित है। मन, आचार एवं रुचियोंके परिष्कारकी विधि प्रतिपादित की गयी है। मानवकी उन भूषणभूत चेष्टाओंपर सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवनको सुखी एवं समृद्ध बनाया जा सकता है। यहाँ प्राकृत वाङ्मयके आधारपर भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवनकी समृद्धिका लेखा-जोखा प्रस्तुत करनेका प्रयास करूँगा।

सर्व-प्रथम भोजन-पान, वस्त्राभूषण एवं आवास सम्बन्धी समृद्धि तथा तत्सम्बन्धी जीवन-यापन प्रक्रियाकी ओर ध्यान आकर्षित करूँगा। प्राकृत वाङ्मयमें भोजन-पानकी विभिन्न विधियोंका निरूपण आया है। सहस्रों वर्ष पूर्व भारतीय चावल, जौ, मसूर, गेहूँ, मूंग, उड़द, तिल, चना, अरहर (सडिण) कालासचा (पलिमंथक) गोलचना (हरिमंथ), अलसी, मटर (कलाय), कंगनी (प्रियंगु), कुलथी (कुलत्थ) आदि अनाजोंका प्रयोग करते थे। मसालोंमें अदरक (सिंगवेर), सोंठ (सुंठ), लौंग, हल्दी (हलिद्दा), जीरा-लवण (बेसन), मिर्च, पीपल और सरसों (सिरसवत्थक) का व्यवहार किया जाता था। लौंग, जीरा, लवण, इलायची आदिके संयोगसे नाना प्रकारके स्वादिष्ट व्यंजन तैयार किये जाते थे। गन्नेका प्रयोग मोर्य (छीलकर खाना), चोय (बिना छीले), डगल (छीलकर छोटे टुकड़ोंके रूपमें) एवं गड़रियों (छोटे-छोटे टुकड़ोंको कपूर, लवंग, इलायची और जावित्री द्वारा सुवासित) के रूपमें होता था। गुड़से विभिन्न प्रकारके खाद्यान्न बनते थे। मत्स्यंडिका, पुष्पोत्तर (फूलखांड) एवं पदमोत्तर (कमल द्वारा निर्मित खंड) शर्करोंका भी व्यवहार किया जाता था। भगवती आराधनामें साणसादिम मेवायुक्त हलुए और सादिम सादे हलुएको कहा गया है। इन दोनों प्रकारके हलुओंके बनानेकी विधियाँ भी वर्णित हैं। धनी-मानी जिस पुष्टिकारक भोजनका उपयोग करते थे उसे कल्लाणग कहा गया है। सीहकेसर, मोरण्डक, गुलपणिक (तिलकी बनी मिठाई), मंडक (मीठी रोटी), घयपुण्ण (घीमें तली पूरी), पुरंपूरी, इट्टगा (सेवई), गुललावणिया (गोलापापड़ी, मोदक, ओगा हिमग (पक्वान्न), फणिय (राब), पप्पडिय (पापड़) आदि खाद्य पदार्थोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है। एक विशेष प्रकारकी मिठाई बनायी जाती थी, जिसे 'आहडिया' कहा गया है। आहडियाको उपहारके रूपमें अन्य व्यक्तियोंको भेंट किया जाता था। विवाहके पश्चात् वरके घरमें वधूके प्रवेश करनेपर जो विशिष्ट भोजन तैयार किया जाता था, उसे 'आहेणडा' और वधूके पीहरसे जो पक्वान्न आते थे उन्हें 'पहेणग' कहा है। यात्राके समय विशिष्ट व्यक्तियोंको आमन्त्रित कर जो समृद्ध भोजन कराया जाता था, उसे 'हिंगोल' एवं स्वजातिके व्यक्तियोंको भोजन कराया जाता था उसे 'संमेल' बताया है। रसोईघरके प्रबन्धको आवास और तैयार किये गये भोजनके परीक्षणको निर्वाप कहा गया है। राजा एवं श्रीमन्तोंके घर भोजन बनानेके लिये महाणसिय (रसोईदार) नियुक्त किये जाते थे, इनकी गणना नौ नाहओंमें की गयी है। इस प्रकार प्राकृत वाङ्मयमें भोजन-पान सम्बन्धी विविध प्रक्रियाओं, विधियों एवं रुचियोंका चित्रण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाया जाता है। सांस्कृतिक जीवनके अध्ययनके लिये भोजन-पानका विवेचन परम आवश्यक है। पानक नाना प्रकारके सुवासित पदार्थों और शर्कराओंके संयोगसे बनाये जाते थे। उत्सवों एवं गोष्ठियोंमें पानकका विशेष रूपसे व्यवहार किया जाता था।

भोजन-पानके पश्चात् जीवनका आवश्यक अंग वस्त्राभूषण है। जन-साधारण भी सुन्दर वस्त्र, गन्ध-माल्य एवं अलंकार धारण करते थे। सभामें सम्मान प्राप्त करनेके लिये शुक्ल वस्त्र उपादेय माने गये हैं। आचारांगमें जंगिय, भंगिय, साणिय, पोत्तग (पत्तोंसे बने वस्त्र), खोमिय (कपासके बने वस्त्र) और तूलकड (वृक्षोंकी छालसे बने वस्त्र) का उल्लेख आया है। बहुमूल्य वस्त्रोंमें आईणग (चर्म निर्मित), सहिण (सूक्ष्म वस्त्र), सहिण कल्लाण (सूक्ष्म और सुन्दर), आम (रोम निमित), दुगुल्ल (तन्तु निर्मित), पट्ट, अंसुय देसराग कम्बल और पावारगे (प्रावरण) को गिनाया है। सामान्यतः अंडय, बोंडय (कपाससे निर्मित), कीडय (कीडोंसे निर्मित), बालय (बालोंसे निष्पन्न) एवं वागय (छालसे निष्पन्न) वस्त्रोंका कथन आया है। प्रायः उत्तरीय और अन्तरीय दो प्रकारके वस्त्र धारण किये जाते थे। सिले वस्त्रोंके व्यवहारका भी उल्लेख आया है। पुष्पदन्तके महापुराणमें विभिन्न प्रकारके वस्त्रोंका निर्देश मिलता है। 'डंगाहणतिग' लंगोट जैसा वस्त्र होता था, जिसका उपयोग साधु करते थे। दूष्य वस्त्रका उपयोग श्रीमन्तों और राजा-महाराजाओंमें होता था। नारियाँ कंचुक, उक्कच्छिय वेगाच्छिय एवं खंधकरणीका व्यवहार करती थीं। खंधकरणी पून्धगजकी शाटिका जैसी ही थी।

निवास स्थानका वर्णन वत्थुविज्जाके अन्तर्गत आया है। सम्पन्न व्यक्तियोंके ऊँचे प्रासाद (अवतंसक) होते थे। प्रासादोंमें स्कन्ध, स्तम्भ, मंच, माल और तलका उल्लेख किया गया है। पत्थर, ईंट, लकड़ीसे प्रासाद बनाये जाते थे। मणि, रत्न एवं सुवर्णका प्रयोग भी प्रासादोंके लिए किया जाता था। मध्यमवित्तोय जनता भवनों और गरीब व्यक्ति कुटिया, जो घासकी बनाई जाती थी, उसका उपयोग करते थे। महाराजाओंके स्नानगृह रत्नजटित होते थे। उवटाणसाला, पोसहसाला, कूडागारसाला आदिके भी उल्लेख मिलते हैं। चैत्य, स्तूप एवं वसतिके निर्देश सर्वत्र प्राप्त होते हैं। वसतिका निर्माण दो धरणोंसे होता था और उनपर एक खम्भा तिरछा रखते थे। अनन्तर दोनों धरणोंके ऊपर दो दो मूलवेलि रखी जाती थी। मूलवेलिके ऊपर बाँस रखे जाते थे और पृष्ठवंशको चटाईसे ढक दिया जाता था। पश्चात् मिट्टीसे लीपकर और दरवाजा लगाकर वसति तैयार हो जाती थी। इसी बसतिके आधार पर वर्तमानमें दक्षिण भारतके वसदि नामक देवगृहोंका विकास हुआ है, जिनके चार अंग होते हैं—गर्भगृह, नवरंग, सुखनासी और मंडप। गर्भगृहसे लगा नवरंग होता है, जिसमें कम-से-कम १२ स्तम्भोंका आँगन रहता है। इसके बाहरी भागमें सुखनासी होती है और तत्पश्चात् मंडप रहता है। इस प्रकार प्राकृत वाङ्मयमें स्थापत्य कलाका बहुत ही सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है।

वास्तुकलाके साथ-साथ चित्र एवं संगीतकलाके भी अनेक महत्त्वपूर्ण उल्लेख उपलब्ध होते हैं। चित्रकार सर्वप्रथम विविध रंगों द्वारा पटभूमि तैयार करता था। तत्पश्चात् कूची द्वारा हाव-भाव एवं विलासपूर्ण चित्रोंका अंकन करता था। कुछ ऐसे भी चित्रकार होते थे जो द्विपद, चतुष्पद और अपद (वृक्षादि) के एक अंगको देखकर ही सम्पूर्ण चित्र अंकित कर देते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थे। वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, भवन, वल्ली, लतावितान, पूर्णकलश, स्वस्तिक आदि पदार्थोंका लेखन निर्दोष चित्रधर्म कहलाता था। और स्त्री-पुरुषोंकी विभिन्न श्रृंगारिक चेष्टाओंकी अभिव्यंजना सदोष चित्रकर्म कहा जाता था। ६४ कलाओंमें निष्णात एक ऐसी वेश्याका उल्लेख आया है जिसने अपनी चित्रसभामें मनुष्योंके जाति कर्म शिल्प और कुपित प्रसादनको आलेखन कराया था। पट्टफलक पर बनाये हुए चित्र प्रेमको उत्तेजित करते थे। आवश्यकचूर्णि और बृहत्कल्पभाष्यमें बताया है कि किसी परिव्राजिकाने चेटककी कन्या राजकुमारी सुज्येष्ठाका एक चित्र सम्राट् श्रेणिकको भेंट किया। इस चित्रफलकको देखकर राजा श्रेणिक मुग्ध हो गया था और अपनी सुध-बुध भूल गया था। उत्तराध्ययनकी टीकामें एक आख्यान आया है, जिसमें क्षितिप्रतिष्ठित नगरके राजा जितशत्रुकी सभाका वर्णन है। उसमें कहा गया है कि इस राजाकी सभामें चित्रांगद नामका एक वृद्ध चित्रकार रहता था। उस चित्रकारकी कन्या कनकमंजरीने कोट्टिमतल-फर्शके ऊपर एक मयूरपिच्छकी रचना की थी। राजा उसे वास्तविक मयूरपंख समझकर उठाने लगा, जिससे उसके नख आहत हो गये। इस प्रकार प्राकृत वाङ्मय में चित्रकलाका अत्यन्त सुन्दर निर्देश उपलब्ध होता है।

संगीत और नृत्यकलाका विवेचन प्रायः प्रत्येक प्राकृत ग्रन्थमें मिलता है। धवला टीकाकार वीरसेन स्वामीने सात-स्वरों, ग्यारह अलंकारों एवं तत-वितत वाद्योंका बहुत सुन्दर चित्रण किया है। षड्जका उच्चारण अग्रजिह्वासे होता था, और इसकी नादध्वनि मयूर सदृश कही गयी है। ऋषभका उच्चारण हृदयसे, तथा उसकी नादध्वनि कुक्कुरतुल्य, गांधारका उच्चारण कण्ठसे और उसकी नादध्वनि हंसतुल्य, मध्यमका उच्चारण मध्यजिह्वासे और नादध्वनि गोतुल्य, पंचमका उच्चारण नासिकासे और नादध्वनि कोकिलतुल्य, धैवतका उच्चारण दन्तोष्ठसे और नादध्वनि क्रौंचतुल्य एवं निषादका उच्चारण मूर्धासे और उसकी नादध्वनि गजतुल्य बतलायी गयी है। वीणा, विपंची, वल्लकी, महती, कच्छपी, सुघोषा, नन्दिघोषा, भ्रामरी आदि अनेक भेद वीणाओंके बताये गये हैं। गेय, नाट्य और अभिनयका सांगोपांग वर्णन आया है। उत्थितप्त, पादान्त, मंदक और सोचतावसान इन चारों प्रकारके गेयोंका सुन्दर वर्णन आया है।

पुष्पदन्तके महापुराण और रायपसेणियसुत्तमें बत्तीस नाट्य-विधियोंका वर्णन आया है। स्वस्तिक नाट्यमें आंगिक अभिनय अपेक्षित है। अभिनेता स्वस्तिक आदि आठ मंगलोंके आकारमें खड़े हो जाते हैं और हस्त आदि अंगोंकी मुद्राओं द्वारा भावभंगियोंका प्रदर्शन करते हैं। अभिनयके मध्यमें मंगल शब्दके उच्चारण द्वारा दर्शकोंके मनमें स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, मत्स्ययुगल एवं दर्पण आदि मंगलोंके प्रति रतिभाव उत्पन्न करते हैं। आवर्त, प्रत्यावर्त, सागर तरंग, श्रेणी, प्रश्रेणी इत्यादि विभिन्न रूपोंमें नाट्य विधियोंका वर्णन किया गया है। मूक रूपमें किसी विशेष भावावलिके प्रदर्शन द्वारा आख्यान या तथ्यकी स्थापना की गयी है। इस प्रकार संगीत, चित्र एवं नृत्य और अभिनय द्वारा विविध प्रकारसे मनोरंजन तथा रुचियोंके परिष्कारोंका वर्णन किया गया है।

सामाजिक रीति-रिवाज, पारिवारिक जीवन, विभिन्न प्रकारके उत्सव, आर्थिक परिस्थितियों, व्यापार, वाणिज्य, कृषि, पशु-पालन, अर्थार्जनके साधन, नर-नारियोंके कर्तव्य अकर्तव्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आदिका भी प्राकृत वाङ्मयमें महत्त्वपूर्ण वर्णन किया है। प्रेम, सौन्दर्य एवं जीवनभोगोंका चित्रण गाथासप्तशतीमें अत्यन्त कुशलताके साथ चित्रित किया गया है। एक प्रोषितपतिका नायिकाका पति परदेशसे लौटकर आ गया है। सखी उससे श्रृंगार करनेके लिए कहती हैं तब नायिका उत्तर देती है कि मेरी पड़ोसिनका प्रिय अभी लौटकर नहीं आया। अतः मैं श्रृंगार नहीं करूँगी, क्योंकि मेरे श्रृंगार करनेसे उसे पीड़ा होगी। इस आशयकी गाथामें नायिकाके हृदयकी सम्पूर्ण समवेदना सहज रूपमें प्रकट हो उठी है। वज्जालग्गमें कविने नारीके आन्तरिक सौन्दर्यका वर्णन करते हुए लिखा है—'भुज्जइ भुज्जियसेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सथेलं पढमं चेव विबुज्झइ घरस्स लच्छी न सा घरणी॥' अर्थात् जो परिवारके समस्त सदस्योंके भोजन कर लेनेके उपरान्त भोजन करती है, सभी परिजनोंके सोनेके पश्चात् सोती है और प्रातःकाल सर्वप्रथम जाग उठती है, वह सामान्य गृहिणी नहीं, बल्कि घरकी लक्ष्मी है।

अतिथि-सत्कारका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए बताया गया है कि एक दम्पतिके घर पर एक अतिथि आया है। दरिद्रताके कारण खाद्य सामग्रीका अभाव है। गृहपति अतिथिको भोजन करानेके लिए आकुल है। पर साधनाभावके कारण वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहा है। गृहस्वामिनीके पास विवाहके अवसरपर सौभाग्यसूचक दिया गया एकमात्र मंगलकंकण अवशिष्ट है। वह अपने पतिसे परामर्श किये बिना ही उस सौभाग्यकंकणको बेचकर अतिथिका पूर्ण स्वागत करती है। एक गाथामें कविने अन्योक्ति द्वारा विपत्ति और दुर्भाग्यके समयको शान्ति और धैर्यपूर्वक यापन करनेका निर्देश किया है क्योंकि विपत्तिमें ही सम्पत्ति और दुर्भाग्यमें सौभाग्यका निवास रहता है—

छप्पंय गमेसु काले आसव कुसुमाई ताव मा मुयसु।
यन्न जियन्तो पेच्छसि पउरा रिद्धी वसंतस्स॥

अतएव स्पष्ट है कि प्राकृत वाङ्मयमें जीवनको सुखी एवं समृद्ध बनाने वाले जीवन-मूल्य अंकित हैं।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह रूप व्रताचरण द्वारा आत्माका संस्कार कर आत्मोन्नति करना जीवनका चरम लक्ष्य माना गया है। कषाय एवं वासनाएँ जीवनको विकृत करती हैं। अतएव जो व्यक्ति संयमाचरण द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह एवं समस्त प्राणियों पर समताभाव रूप प्रवृत्तिको ग्रहण कर लेता है वह आत्मोत्थानमें अग्रसर होता है। प्राकृत वाङ्मयमें सदाचारका बहुत ही विस्तृत वर्णन आया है। गृहस्थ मूलगुण और उत्तरगुणों द्वारा तथा साधु महाव्रत, समिति, गुप्ति, परीषहजय, तप, ध्यान आदि रूप चारित्र द्वारा आत्माका संस्कार करता है। उत्तराध्ययनमें सांस्कृतिक जीवनके लिए मनुष्यता, ज्ञानाभ्यास, श्रद्धा और संयमको आवश्यक माना है—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं॥

स्वामी कुन्दकुन्द आचार्यने धर्मकी परिभाषा बतलाते हुए मोह और क्षोभसे रहित आत्म-परिणतिको धर्म कहा है। जो आत्माके साम्यभावको प्राप्त कर लेता है वही सुसंस्कृत या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मज्ञ है। 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो। मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥'

प्राकृतके आचार्योंने मनोमालिन्यको दूर करनेके लिए स्याद्वाद-सिद्धान्तका प्रवचन किया है। इस सिद्धान्त द्वारा विचारोंमें उदारता तथा समन्वयकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यह अहिंसाका आध्यात्मिक पक्ष है। कार्यों और विचारोंमें सामंजस्यकी स्थापना इसी सिद्धान्त द्वारा सम्भव हो सकती है। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि प्राकृत वाङ्मयका संस्कृति और सभ्यताके तत्त्वोंकी दृष्टिसे संस्कृत वाङ्मयकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोजपुरी भाषामें प्राकृत-तत्त्व

भारतीय आर्यभाषाओंमें भोजपुरीका प्रमुख स्थान है। इस भाषाका नाम शाहाबाद जिलेके भोजपुर नामक कसबेके नामपर प्रचलित हुआ है। मातृभाषाके रूपमें इस भाषाका प्रयोग करनेवालोंकी संख्या लगभग छः करोड़ है। क्षेत्रकी दृष्टिसे भोजपुरी भाषाके बोलनेवाले उत्तरप्रदेश राज्यके वाराणसी, मिर्जापुर, गाजीपुर, जौनपुर, बलिया, आजमगढ़, गोरखपुर, देवरिया, और बस्ती जिलोंमें तथा बिहार राज्यके आरा, छपरा, राँची, पलामू, चम्पारन और मुजफ्फरपुरके पश्चिमी भागमें निवास करते हैं। इतना ही नहीं, इस भाषाके बोलनेवाले आसामके चायबगान, बम्बईके अँधेरी क्षेत्रमें रहनेवाले भैया लोग, कलकत्तेमें निवास करनेवाले हिन्दुस्तानी भाई एवं फिजी और मोरिससके टापुओंके निवासी तथा ब्रिटिश गाइना और दक्षिणी अफ्रीकाके प्रवासी भी भोजपुरी भाषाका व्यवहार करते हैं।

उत्पत्ति—

उत्पत्तिकी दृष्टिसे सर जार्ज ग्रिथर्सनने बिहारी भाषाओंके साथ भोजपुरी भाषाका सम्बन्ध मागधी अपभ्रंशसे माना है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी भोजपुरीको मगधी, मैथिलीसे भिन्न एवं पृथक् वर्ग पश्चिमीमागधीसे सम्बद्ध मानते हैं।[1] भोजपुरी भाषाके व्याकरण एवं भाषा वैज्ञानिक तत्त्वोंके अध्ययनसे इस भाषाका सम्बन्ध अर्धमागधी प्राकृतके साथ प्रतीत होता है। शब्दकोष, ध्वनितत्त्व, विभक्ति, सर्वनाम एवं प्रत्ययोंकी दृष्टिसे अवधी तथा पूर्वी हिन्दीके समान भोजपुरी अर्धमागधी अपभ्रंशसे निष्पन्न है। सत्य तो यह है कि आधुनिक किसी भी भाषाका निश्चयात्मक रूप से किसी विशेष प्राकृत या अपभ्रंशके साथ सम्बन्ध दिखलाना कुछ कठिन-सा है। टर्नरने लिखा है—"प्राचीन प्राकृत या अपभ्रंश कालमें विशेष जनवर्गद्वारा वास्तविक रूपमें बोली जानेवाली भाषाका कोई प्रामाणिक लिखित उदाहरण आज हमें उपलब्ध नहीं है और दूसरी ओर वर्तमान देशी भाषाओंमें तीर्थयात्रा, सांस्कृतिक एकता, शादी-विवाहके सम्बन्ध, देश-प्रदेशके यातायात तथा भाषागत समान परिवर्तनोंके कारण परस्पर बहुत कुछ मिश्रण हो चुका है।[2]

भोजपुरी भाषामें प्राकृत तत्त्वोंकी प्रचुरता है। हमारे इस कथनकी पुष्टि हेमचन्द्र के दोहों, 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' एवं प्राकृतपैङ्गलम्के प्राचीन पद्योंसे होती है। पं० दामोदरने बनारसी बोलीके द्वारा संस्कृतकी शिक्षा देनेके लिये बारहवीं शती में 'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' की रचना की है। डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जीने इस ग्रन्थकी भाषा को 'कोशली' कहा है, पर अध्ययनसे प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थकी भाषा पश्चिमी भोजपुरी है, जिसमें अर्धमागधीके अनेक तत्त्व वर्तमान हैं। यथा—

---

१. डॉ० एस० के० चटर्जी : ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट ऑफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ९२।

२. आर० एल० टर्नर : गुजराती फ़ोनोलॉजी (जे० आर० ए० एस०, सन् १८२८ ई०), पृ० ५२८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"को ए काह करत, को ईहां काहकर"[1]

"वेद पढ़ब, स्मृती अभ्यसबि, पुराण देखब, धर्म करब"[2]

"करण चाह"[3]

उक्त वाक्योंमें भोजपुरीका रूप स्पष्ट है। साथ ही इनमें विभक्ति और क्रियारूप प्राकृतके भी निहित हैं।

'उक्तिव्यक्तिप्रकरण' में सावर्ण्यकी अपेक्षा स्वरभक्ति और विप्रकर्षकी प्रवृत्ति पायी जाती है, यह प्राकृत प्रवृत्ति है तथा इसका अस्तित्व वर्तमान भोजपुरीमें भी विद्यमान है। यथा—

वर्ष > बरिस; नित्य > नित; रत्न > रतन; त्यज > तज।

हेमचन्द्रके अपभ्रंश दोहों में जइसो, तइसो, कइसो, जसु या जसके प्रयोग उपलब्ध हैं, जो भोजपुरीके हैं।[4]

'प्राकृतपैङ्गलम्' में सर्वनाम और परसर्गोंके प्रयोग भोजपुरीके तुल्य हैं। यथा—

चंदकला जसु सीसहिं णोक्खा, तो तुट संकर दिज्जउ मोक्खा" २|१०५

'जसु मित्र घणेसा······· ····।

'जो जसहि दिआवा देव सहावा कवहु ण हो तसु भंग ।। प्रा. पै. १|२०९

उपर्युक्त उदाहरणोंमें जसु, तुह, जो, जसहि प्रयोग भोजपुरीके हैं। अतएव भोजपुरी भाषामें प्राकृत तत्त्वोंकी प्रचुरता है।

भोजपुरी भाषाके भेद

भोजपुरी भाषाके तीन भेद हैं—

(१) आदर्श भोजपुरी,

(२) पश्चिमी भोजपुरी और

(३) नागपुरिया भोजपुरी।

आदर्श भोजपुरी आरा, बलिया, गाजीपुर तथा घाघरा और गंडकके दोआबमें बोली जाती है। कुछ विद्वान् छपरा जिलेकी भोजपुरीको आदर्श भोजपुरीके अन्तर्गत रखते हैं। पश्चिमी भोजपुरी जौनपुर, वाराणसी, आजमगढ़, गाजीपुरके पश्चिमी भाग और मिर्जापुर जिलेके मध्यभागमें बोली जाती है। नागपुरिया भोजपुरीका एक विशेष भेद है, जो बिहार राज्यके छोटा नागपुर प्रदेशमें बोली जाती है। चम्पारन जिलेमें बोली जानेवाली भोजपुरीका नाम मधेशी है, जो मध्यप्रदेशका अपभ्रंश प्रतीत होता है।

भोजपुरीमें प्राकृत ध्वनितत्त्व

(१) भोजपुरीमें ह्रस्व स्वरोंका दीर्घ और दीर्घोंका ह्रस्व हो जाता है।[5]

---

१. उक्तिव्यक्तिप्रकरण, सिंघी सिरीज, कारिका २९, पृ० २९।

२. वही, कारिका १४-१७, पृ. १२.

३. वही; कारिका १५, पृ. १२.

४. हेम शब्दानुशासन, ५।४।४०३ की व्याख्या.

५ तुलनीय—दीर्घ ह्रस्वौ मिथो वृत्तौ—हेम, श. ५।१।४,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथा—

जीभ < जीहा < जिह्वा
चाक < चक्का < चक्र — संस्कृतके ह्रस्व स्वर प्राकृतके समान भोजपुरीमें दीर्घ हो जाते हैं ।

पोंछ < पुच्छ

अचरज < आश्चर्य

अकास < आकाश
सराध < श्राद्ध — संस्कृत के दीर्घ भोजपुरीमें ह्रस्व हो गये हैं ।
असाढ़ < आषाढ़

(२) प्राकृतके समीकृत व्यञ्जनों—क्क, क्ख, ग्ग, ग्घ, आदिमेंसे केवल एक व्यञ्जन ध्वनिग्रहण कर भोजपुरीमें पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वरका दीर्घरूप होता है । यथा—

काम < कम्म < कर्म

काज < कज्ज < कार्य

आज < अज्ज < अद्य

(३) भोजपुरीमें ऋ ध्वनि का इ, ई, आ और रि के रूपमें परिवर्तन उपलब्ध होता है । यथा—

किसुन या किसन < कृष्ण

रिसी या रीसी < ऋषि

मतारी < मातृ

उरिन < उऋण

अमरित < अमृत

मिरतु < मृत्यु

(४) ऐ और औ का उच्चारण प्राकृतके समान अइ और अउ हो जाता है । कहीं-कहीं इनके ह्रस्व रूप भी मिलते हैं । यथा—

वइर < वैर

वइद् < वैद्य

भइया < भैया < भ्रातृ

अउर < अवर < अपर < और

गउड < गौड

गउरव < गौरव

मउन < मौन

अइसन < एतादृश

(५) प्राकृतके समान भोजपुरीमें ए और ओ का ह्रस्व रूप प्रकट करनेके लिए ऐ और औ का व्यवहार किया जाता है । यथा—

पिया पिया कहत पियर भइल देहिया ।
तोहके द्रेबों देवी दुधवा के धरवा ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार गोड़वा, गोरिया, बटलोहिया आदि रूप भी प्रचलित हैं। इन पदोंमें ए और ओ का उच्चारण अर्ध संस्कृत, ह्रस्व, अग्र या पश्च स्वरके रूपमें होता है। भोजपुरी पद्योंमें उक्त ध्वनि सम्बन्धी विशेषताएँ सर्वत्र निहित हैं।

(६) अकारण अनुनासिक प्रवृत्ति भी प्राकृतके समान भोजपुरीमें पायी जाती है।[1] यथा—

गाँव < ग्राम

भइंस < महिषी

धनियां < धनिया

रंथी < अरथी—आदि स्वर आकारका लोप और अकारण अनुस्वार

पंथ < पथ्य

(७) यदि अन्य वर्णोंके साथ अनुनासिक वर्ण संयुक्त रहता है तो अन्य व्यंजनवर्ण लुप्त हो जाता है और अनुनासिक पूर्ण रूपको धारण कर लेता है। यथा—

गेना < गेंदा < गेन्दुक < कन्दुक

सुन्नर < सुन्दर

चनरमा < चन्द्रमा

(८) भोजपुरीकी व्यंजन ध्वनियोंमें प्राकृतके तुल्य क के स्थान पर ख और ग ध्वनियां पायी जाती हैं। यथा—

खिस्सा < किस्सा

खील < कीलकर

ताखा < ताक

सउख < शौक—विदेशी शब्द सादृश्यके कारण प्रभावित है।

तमाखू < तंबाकू

सगुन < शकुन

सुग्गा < शुक

लोग < लोक

भगत < भक्त

पंगत < पंक्ति

(९) ग के स्थान पर क; त के स्थान पर ट; ल के स्थान पर र; ल के स्थान पर न और द के स्थान पर ध पाये जाते हैं। यथा—

कोबी < गोबी; कुल्फ < गुल्फ

केरा < केला

अङुरी < अंगुलि

पत्थर < पत्थल

---

१. तुलनीय—मांसादिष्वनुस्वारे—हेम० ८-१-७०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ल के स्थान पर अ भी मिलता है—अनद् प्रत्ययके स्थानपर अल्, इल् प्रत्यय होते हैं। यथा—

खिआवल < खिलाना

पिआवल < पिलाना

विदेशी ल के स्थानपर न भी उपलब्ध होता है। यथा—

नंगोट < लंगोट

नंगोटी < लंगोटी

लोट < नोट

लम्बर < नम्बर

लील < नील

लीलाम < नीलाम

सूध < सूद

(१०) भोजपुरीमें नासिक्य संयुक्त ध्वनि क्षीण होते होते प्रायः लुप्त हो गयी है और पूर्ववर्ती स्वर सानुनासिक हो गया है। यह प्रवृत्ति प्राकृत की है। यथा—

कांटा—कंटक < कण्टक

काँप < कंप

(११) अग्र-पश्चात् स्वर ध्वनियुक्त ड् ढ् भोजपुरी में ताड़ित ड् ढ् अथवा कम्पित र् रह् में परिणत हो जाते हैं। यथा—

परल या परब < पडण < पतन

व्याकरण तत्त्व

भोजपुरी भाषाके व्याकरण सम्बन्धी अध्ययनमें प्राकृत व्याकरणके अनेक तत्त्व उपलब्ध होते हैं। कारक रचनामें प्रयुक्त परसर्गोंका सम्बन्ध प्राकृतके साथ है। सर्वनाम और मूल धातु रूप प्राकृत के निकट हैं। कृत और तद्धित प्रत्ययों की व्युत्पत्ति प्राकृत प्रत्ययोंसे है।

कारक रचना और प्राकृत तत्त्व

भोजपुरी के संज्ञारूपोंकी रचनापर प्राकृतका स्पष्ट प्रभाव है तथा विभक्ति लोपके साथ परसर्गोंका प्रयोग उत्तरकालीन अपभ्रंशकी प्रवृत्तिका सूचक है। भोजपुरीमें अर्धमागधीके प्रथमा विभक्ति एकवचनका विभक्ति चिन्ह 'ए' 'इ' में परिणत होकर लुप्त हो गया है। 'ए' का विस्तृत रूप 'ई' भोजपुरीके कतिपय शब्दोंमें पाया जाता है। यथा—

ठाई < ठाम < थान < स्थान

देही < देह

द्वितीया विभक्ति एकवचनमें 'के' और 'से' प्रत्यय जोड़े जाते हैं। 'के' का सम्बन्ध मागधीके कए > कैं > के साथ है तथा सामान्य प्राकृत के कअ से है। यथा—

राजा के परगाम कर।

से का सम्बन्ध सम्—एन से है, जो क्रमशः सएँ < सइं < से हो गया है। यह परसर्ग द्वितीया, तृतीया और पंचमी इन तीनों विभक्तियों में प्रयुक्त होता है। यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१ हमरासे मत कइब

२ हमरासे ई काम न होई

३ पेड़वासे एगो फल गिरल

चतुर्थी विभक्तिमें 'ला', 'लगे', 'बदे' और 'वास्ते' परसर्गोंका प्रयोग होता है। 'बदे' और 'वास्ते' तो विदेशी भाषाके परसर्ग हैं, पर 'लगे', 'लागि' प्राकृतके लग्गा और पालिके लडनकसे निस्सृत हैं तथा 'ला' का सम्बन्ध प्राकृतके लहर ओर पालि लमहिसे भी संभव है।

अपना पिय लागि पेन्हलों चुंदरिया।

हम तोहरे ला सब कुछ करतिन।

षष्ठी विभक्तिमें के, 'करा' हरा परसर्ग जोड़कर सम्वन्धकारककी रचना की जाती है। 'करा' की उत्पत्ति प्राकृतकी 'कर' धातुसे ओर हराकी उत्पत्ति प्राकृतके अम्हरा, महरा एवं अम्हकेरसे संभव है। यथा—

रामके घोड़ा जाता

उनकरा काम भी करत अइब।

तोहरा कामसे हम अलग रहिला।

सप्तमी विभक्तिमें 'ए', 'में'' 'पर' 'कीहा' 'ईहा' जोड़ने पर अधिकरण कारकके रूप निष्पन्न होते हैं। 'ए' की व्युत्पत्ति अ–हिं < हि और पालिके 'धि' से मानी जा सकती है। अतः अस्मि < अम्हि, अम्मि, अहि–अहिं < ए या एँ रूप संभव हैं। 'पर' का मूल प्राकृत उप्परि; पालि 'उपरि' से है और में का सम्बन्ध प्राकृत मज्झे, संस्कृत मध्येसे है। पुरानी भोजपुरीमें यह माहिंके रूपमें मिलता है। माहिं घिसकर मेंके रूपमें परिणत हो गया है। इसीप्रकार 'करत्' 'करतें' की व्युत्पत्ति प्राकृतके करते, करन्ते < करन्तहिंसे मानी जा सकती है। सम्बन्ध कारकमें जुड़नेवाला पाछां या पाछे प्राकृतके पच्छ और संस्कृतके पश्चासे निष्पन्न हैं।

सर्वनाम और प्राकृत तत्त्व

भोजपुरी सर्वनामोंकी प्रकृति प्राकृतके सर्वनामोंके तुल्य है। भोजपुरीमें प्राप्त होनेवाले सर्वनामके अनेक वैकल्पिक रूप भी प्राकृतके साथ उनका सम्बन्ध सूचित करते हैं। पुरुषवाचक सर्वनामोंमें उत्तम पुरुष एकवचनमें 'हम' 'हमनी' या 'हमनीका' रूप होते हैं, जो प्राकृतके 'अम्हि', 'हम्म' तथा 'अहकं' और अम्हाणंसे निष्पन्न हैं। विकारी रूपोंमें हमरा और हमनी की व्युत्पत्ति अम्हकर, अम्हाउ, अम्हाओ, अम्हाणंसे की जा सकती है। मयं, मेरा, हमराका सम्बन्ध मए, मम्हं, अम्हं, मम्मकेर, अम्हंकेरसे माना जा सकता है। मध्यमपुरुषमें तु, तुं, तूं, तो प्राकृतसे सीधे रूपमें गृहीत हैं। मध्यमपुरुष बहुवचनका तुँहं प्राकृतकें तुम्हसे निष्पन्न है। भोजपुरीका तैं मूलतः करण कारकका रूप है और इसकी व्युत्पत्ति संस्कृतके त्वया + एन तथा प्राकृतके तुए और तुमइसे सम्भव है। तोहनीका सम्बन्ध तुब्भाण, तुम्हाण, तुहाणसे माना जाता है।

अन्य पुरुषमें 'ई' और 'ए' की व्युत्पत्ति प्राकृतके 'एअ' से हुई है। इन पर इदं और अमंका भी प्रभाव है। अपभ्रंश कालमें ए के स्थान पर ई का व्यवहार आरंभ हुआ,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो भोजपुरीमें विद्यमान हैं। 'अपने' का सम्बन्ध प्राकृतके 'अप्पाणं' से और 'अपनका' 'अप्पण अ' से है। आदरसूचक सर्वनाम रउरा, रउरां, रउआकी व्युत्पत्ति प्राकृतके लाडलासे हुई है। संस्कृतमें इसका राजकुल या राजकुल्य होता है। रउआँ या रउवां का मूल रायाण या रायाणं है। इन्हि, इन्हिकर, इहांका, एकरा, हेकरा आदि सर्वनामोंका सम्बन्ध प्राकृतके एन्ह, एआँणसे है। निश्चयवाचक ऊ, ऊह, उन्हि, हुन्हि की व्युत्पत्ति प्राकृतके अब < ओ < ऊसे संभव है। तथा ओस्ससे प्राचीन भोजपुरी ओह < अह तथा अवाणं < ओणंसे ओन निष्पन्न है। इन ओनमें 'ह' और 'इ' जोड़कर आधुनिक भोजपुरीमें आदरसूचक रूप बनते हैं। हऊ की व्युत्पत्ति ऊहह < उहहिसे प्रतीत होती है। उन्हिकी व्युत्पत्ति अउण < अमूणं < अमूनाम + हिंसे हुई है। हि प्राकृतके कारण बहुवचन का विभक्ति चिह्न है। हुन्हिमें ह का आदि आगम हुआ है। इहांके, उहांका रूप संस्कृतके अत्रभवान् और तत्रभवान्से सम्बद्ध हैं। जिनके प्राकृत रूप इहा, जहा, उहा, तहा होते हैं।

सम्बन्धवाचक सर्वनाम जे, जवन, जौन, जिन्हि, जेह, जेकर, जिन्हिकर आदि हैं। इनमें 'जे' की उत्पत्ति प्राकृत जके < जए < जै < जे के रूपमें निष्पन्न हुई है। प्राकृत भाषामें 'जे' सर्वनाम वर्तमान है। यथा—

जे जे आइला ते ते गइला

जवन और जौन की उत्पत्ति ज + पुणसे है। अर्थात् जपुण < जउणं < जौन < जवन। 'जिह्नि' की व्युत्पत्ति जाणंसे है, इस पर तृतीया बहुवचन के 'जेंहि' का प्रभाव भी है। जेह प्राकृतके जस्ससे और सम्बन्धके अविकारी और विकारी रूप जेकर, जिह्निकर, जेहकर आदि जे, जेह, जिन्हिमें कर प्रत्यय जोड़ देनेसे बनते हैं। से, ते, तवन, तेकर सर्वनाम प्राकृतके समान है। 'से' की उत्पत्ति मागधी प्राकृतके शके < शगे < शए < शै < शेसे है। यह 'शे' भोजपुरीमें 'से' रूपमें प्रयुक्त है। इस उक्ति-व्यक्तिप्रकरणमें भी इस सर्वनामका प्रयोग पाया जाता हैं।

जो परकें हं वुज्झ चित, सो आपुणकेहं तैसे मा (म) त।

टर्नरने सो की उत्पत्ति स + उ से मानी है। भोजपुरी ते सर्वनामका सम्बन्ध तेषाम् > तेसं < तेस < तेहँ < ते से है। साधारणतः इसका सम्बन्ध प्राकृत 'ते' से मानना अधिक तर्कसंगत है। संयुक्त सम्बन्धित रूपों की व्युत्पत्ति पूर्ववत् संयोगी शब्दों द्वारा संभव है।

प्रश्नवाचक भोजपुरी के, कौन की व्युत्पत्ति ककः < कके < कगे < कए < कै के रूपमें की जाती है। मूलतः के प्राकृतका ही सर्वनाम है। कौन की उत्पत्ति कःपुनः < कंपुण < कवुण < कउण < कवण < कौनसे निष्पन्न है। भोजपुरी केहकी उत्पत्ति प्राकृतके कस्स < काह से है, पर का, काआं, के के एके कारण 'ए' में परिवर्तित हो गया है।

भोजपुरीमें अनिश्चयवाचक सर्वनाम केऊ, केऊं, केहु, केहू, कौनो, और कवनो हैं। केऊ की उत्पत्ति कः + अपि < केऽपि < केवि < केव < केओ, केऊँ, केऊ रूपमें है। केहु और केहू रूप 'हु' अव्यय जोड़नेसे निष्पन्न हैं।

अनिश्चयवाचक सर्वनाम किछु प्राकृतमें वर्तमान है। अशोकके शिलालेखोंमें किछि रूप प्राप्त है। किछु में 'उ' अव्यय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रीति या गुणवाचक सर्वनामजन्य विशेषण

भोजपुरीमें अइंसन्, एइंसन, ओइंसन्, जइसन्, कइसन् आदि रीतिवाचक विशेषण वर्तमान हैं। इनकी उत्पत्ति क्रमशः प्राकृतके एअइसण, ओंएसण, जइसण, तेसण, कइसणसे है।

संख्यावाचक विशेषण

अतेक्, एतेक्, ओतेक्, जेतेक्, ततेक्, ते–तेक्, कतेक्, केंतेक् परिमाणवाचक सर्वनामोंकी व्युत्पत्ति पालिके सत्त + क, कित्त + क तथा प्राकृतके सत्तिअ, केत्तिय, तेत्तिय, जेत्तिय से है। पिशल ने इनका सम्बन्ध अयत्तय < अयत्तिय, कयत्तय < कयत्तिय से माना है तथा इनका मूल सर्वनाम 'तिय' प्रत्यय है। संख्यावाचक इगो, दूगो आदि प्राकृतके समान है।

भोजपुरी धातुओं में प्राकृत तत्त्व

भोजपुरी भाषाकी अधिकांश धातुएँ प्राकृतसे गृहीत हैं। यथा—कस, कर, कूट > कुट्ट, काढ़ < कड्ढ, कूद, कद्द, खा, गन, गल, गूंज < गुञ्ज, कढ < कट्ट, चढ़, < चड, वक, चुक < चुक्क, छाड < छड्डु, छेद, जान, जाग, जिअ, डूब < कुड्ड < डुब्ब < डूब, डंस > डंस, डर, ढांक < ढकूशा, देख < देक्खं, पुछ < पुच्छ, पढ़, पाक < पक्व, पिट < पट्ट, बोल < बोल्ल, बढ < वड्ढ, बुझ < बुज्झ, भज, भूल < भुल्लइ, भांज < भज्ज, ले, सुन < सुण, हरिस, सोहं, सह, सीझ < सिज्झ एवं पढ़इ आदि।

भोजपुरीमें ध्वन्यात्मक और औपम्य सम्बन्धी परिवर्तनों के अतिरिक्त प्राकृत धातुओं में अन्य प्रकारके भी परिवर्तन हुए हैं। प्राकृत की कर्तृनिष्ठ धातुओंके मूलरूप भोजपुरीमें कर्तृवाच्यमें प्रयुक्त हैं।

भोजपुरीके क्रियापदोंमें 'आव्' जोड़नेसे णिजन्त अथवा प्रेरणार्थक रूप बनते हैं। इस 'आव्' प्रत्यय की उत्पत्ति प्राकृतके 'आव्' से हुई है। इस प्रत्ययका प्रयोग आरंभमें केवल आकारान्त धातुओंसे णिजन्त बनानेमें किया जाता था, पर वर्तमानमें व्यत्यय भी होने लगा है। आवका विस्तृत रूप वाव है, जो द्विगुण णिजन्तके लिए आता है। अशोकके शिलालेखोंमें भी यह णिजन्त रूप उपलब्ध है। इसका सम्बन्ध आप + आप से माना जा सकता है।

भोजपुरीमें नामधातु प्राकृत नामधातुओंके ही समान हैं। ये भूतकालिक कृदन्तीय रूपों से बनते हैं। यथा – बइठ भोजपुरी प्राकृतमें वइट्ठइसे और काढ़ कट्टइसे निष्पन्न हैं। प्राकृतके कई नामधातुएँ भोजपुरीमें आकर सिद्ध धातु बन गये हैं। इनमें नामधातुका आ प्रत्यय नहीं लगता। यथा—पिट < पिट्टइ, आदि।

भोजपुरीके क्रियारूपोंपर प्राकृतका पूर्ण प्रभाव है। प्राकृतके समान इस भाषाके समस्त धातु प्रायः एक ही गणमें मिलते हैं। क्रियारूपोंकी निष्पत्ति भी प्राकृतके समान है। भोजपुरीमें क्रियारूप पाँच प्रकारसे निर्मित होते हैं।

(१) धातु + प्रत्यय—आधारभूत रूप—√कर + ली = करली, सक + ली = सकली।

(२) धातु + आधारभूत रूप—√कर + √सक + ली = कर सकली।

(३) वर्तमानकालिक कृदन्त + धातु + प्रत्यय (आधारभूत रूप) – करत + √रह + ली = करत रहली।

(४) भूतकालिक कृदन्त + आधारभूत रूप—भरले + √रह + ली = भरले रहली।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(५) धातु + भूत या वर्तमानकालिक कृदन्त + आधारभूत रूप—√हो + आवत√ रहली – हो आवत रहली।
√खा गइल√रहली = खागइल रहली ॥

भोजपुरीमें प्राकृतके समान वर्तमान, भूत, भविष्यत्, आज्ञाविधि और संभावना ये पाँच काल होते हैं।

भोजपुरीकी प्रसिद्ध धातु बाड़े, बानी, बाड़न हैं। इसके विभिन्न रूपोंका सम्बन्ध प्राकृतके साथ है। यथा—वड्ढदि — ति — इ, वड्ढ < बाढ़ < बाडे < वा। यह बाड़े < बाड़े < बारे तथा उत्तमपुरुष बहुवचनमें बाड़े, बाड़ी, बानीके रूपमें परिवर्तित हो जाते हैं। क्रियारूपोंमें जुड़नेवाले ल – ली, ब–बे-बू, और हन प्रत्ययों की निष्पत्ति अले, अव्व, एवं हो + अतसे मानी जा सकती है। भोजपुरी क्रियाओंमें प्राकृतके समान सरलीकरणकी प्रवृत्ति पायी जाती है।

अव्यय

भोजपुरीमें अव्ययोंकी निष्पत्ति नाम तथा सर्वनाम पदों से परे तद्धित प्रत्यय लगानेसे होती है। कालवाचक अव्ययोंमें अधिकांश अव्यय प्राकृत से निस्सृत हैं। यथा—आजु < अज्ज < अद्य, कल < कलु, < कल्ल, तुरन्त < तुरँ, तुवरन्त, अव < एव्वसे सम्बद्ध हैं। कब, जब, तब की उत्पत्ति सर्वनाम क + ब < व्व त + ब, ज + ब से है। नियर, पार, भीतर एवं बाहिर प्राकृतसे सीधे गृहीत हैं। परिमाणवाचक 'बहुत' प्राकृत के बहुत्त और अउर प्राकृत के अवर से निस्सृत हैं।

तद्धित एवं कृत् प्रत्यय

(१) भोजपुरीमें सर्वनामके तिर्यक् रूपका निर्माण करा रा दरा और का द्वारा होता है। इन का सम्बन्ध प्राकृतके इदं अर्थमें प्रयुक्त होनेवाले केर प्रत्यय से है। यथा—
इनकरा, उनकरा, हमरा, तुम्हरा।

(२) भव अर्थ बतलानेके लिए भोजपुरी में 'ई' प्रत्यय होता है, जिस का सम्बन्ध प्रकृतके इल्ल से है। यथा—
(ग्राम) गम + ई = गमई, हवाई।

(३) वाला अर्थ प्रकट करने के लिए भोजपुरी में आलू वाला इर एलु वन्त प्रत्यय होते हैं। जिनका प्राकृतके आलु, आल, वन्त और इर से सम्बन्ध है। यथा—
रस + वाला = रसवाला
इरखा + आलु = इरखालु
नेह + आलु = नेहालु
घर + एलु = घरेलू
गह + इर = गहिर
धन + वन्त = धनवन्त

(४) संज्ञासे सम्बन्धवाचक विशेषण बनानेके लिए भोजपुरीमें 'इल' प्रत्यय होता है जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि प्राकृत के इल्लका रूप है। इसका गुरु रूप बनाने के लिए अइला प्रत्यय लगता है। यथा—

तोन + इल = तोनइल < तुन्द + इल्ल

वन + अइला = वनइला; घर + अइला — घरइला।

(५) भोजपुरीमें समतावाची रू प्रत्यय होता है, इसका सम्बन्ध प्राकृत के रूव और संस्कृत रूप से है। यथा—

गो + रू = गोरू = गायबैल (गो + रूव)

गम + रू = गमरू = बालक जैसा;

पठ + रू = पठरू < पठरूव = बकरी का बच्चा।

मेहरा + रू = मेहरारू < महिलरूव।

(६) स्वार्थिक 'क' प्रत्यय के स्थानपर भोजपुरी में वा, या और जा प्रत्यय होते हैं। यथा—

लोटा + वा = लुटवा

झाड़ू + आ = झड़ुआ

(७) संस्कृत के त्रप् प्रत्यय के स्थान पर भोजपुरी में हां प्रत्यय होता है, जो कि प्राकृत के हि, हा से सम्बद्ध है। यथा—

ईहाँ < अत्र

ऊहां < तत्र

कहां < कुत्र, कहि, कह

(८) भोजपुरी में स्थान और कालवाचक विशेषण बनाने के लिए इला प्रत्यय होता है, जिसका प्राकृत के इल्लअ से सम्बन्ध है। यथा—

अगिला < अगिल्ल + आक (अग्गिल्लअ)

पिछला < पच्छिल्ल + आक (पिच्छिल्लअ)

मझिला < मज्झिल्ल — आक (मज्झिल्लअ)

पहिला < पहिल्ल + आक (पहिल्लअ)

विचिला < विच्चिल्ल + आक (विच्चिल्लअ)

(९) आत्मशब्द से होनेवाले संस्कृत के ईय और प्राकृत के ठाय प्रत्यय के स्थान पर भोजपुरी में 'ना' प्रत्यय होता है। यथा—

अपना < अप्पणयं (आत्मीयम्)

(१०) अनार्थ या लघु अर्थ प्रकट करने के लिए भोजपुरी में ई प्रत्यय होता है, इस 'ई' का सम्बन्ध 'इका' से है। यथा—

कटार + ई = कटारी < कट्टारी < कट्टरिया

ढोलक + ई = ढोलकी < ढोल्लइया

पोखर + ई = पोखरी < पोक्खरिया

(११) विशेषण बनाने के लिए भोजपुरी में 'ई' और 'ऊ' प्रत्यय होते हैं, जिनके सम्बन्ध इक और उक प्रत्ययों से हैं। यथा—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

खा + ऊ = खाऊ < खाद + उक,
उतार + ऊ = उतारू < उतारब
कोढ + ई = कोढ़ी < कुट्ठी < कुठ्ठी

(१२) भोजपुरीके वाँ वों और ई प्रत्ययोंकी व्युत्पत्ति मक प्रत्ययके साथ; वालाकी पालक या पालऊ से; ता की उत्पत्ति अंत (शत्) से अ–नी की उत्पति इणी, अणी प्रत्ययों से; स की उत्पत्ति सदृश से, ड़, ड़ा और ड़ी की उत्पति स्वार्थिक ड से या वत् < वर < बड़ + इक से 'ठ' की उत्पत्ति अवत्था या अवट्ठा से हुई है। अतएव स्पष्ट है कि भोजपुरी के तद्धित प्रत्ययों में प्राकृत तत्त्वों की प्रचुरता है।

भोजपुरी के कृत प्रत्ययों में अत, अल्, इल, वल, अक्कड़, ती, ए, तव आदि प्रमुख हैं। इनमें 'अत' का सीधा सम्बन्ध प्राकृतके अन्त प्रत्यय से है, जो संस्कृतके शतृ प्रत्यय से निष्पन्न है। यथा—

कह + अत = कहत, ले + अत = लेत, दे + अत = देत,
गिर + अत = गिरत, गत + इल = गइल, आगत + इल = आइल

(१) प्रेरणार्थक क्रियासे स्त्रीलिंग संज्ञापद बनानेके लिए भोजपुरीमें आई प्रत्यय लगता है। इस आईकी उत्पत्ति संस्कृतके आपिका और प्राकृतके आपिआसे हुई है। यथा—
जांच + आई = जंचाई, चर + आई = चराई, पढ़ + आई = पढ़ाई

(२) भोजपुरी में क्रियाओं से संज्ञापद बनाने के लिए 'अक्कड़' प्रत्यय जोड़ा जाता है, जो कि प्राकृत से सीधा आया है। यथा—
बुझ + अक्कड़ = बुझक्कड़, पि + अक्कड़ = पिअक्कड़
घुम + अक्कड़ = घुमक्कड़, भुल + अक्कड़ = भुलक्कड़

(३) भोजपुरीमें प्रेरणार्थक क्रियाओंसे क्रियामूलक विशेष्य बनाने के लिए 'आवन' जोड़ते हैं, जो कि प्राकृतके आप्पण और संस्कृतके आत्मन > आपन से सम्बद्ध है। यथा—
डर् + आवन = डरावन।

(४) हेत्वर्थ प्रकट करनेके लिए भोजपुरीमें 'ए' प्रत्यय जोड़ा जाता है। इस 'ए' की उत्पत्ति प्राकृतके त्रए से हुई है। यथा—
कर + ए = करे, चल + ए = चले

(५) असमापिका क्रिया बनानेके लिए भोजपुरीमें 'के' प्रत्यय होता है, जिसका सम्बन्ध प्राकृत के 'करिअ' प्रत्यय से है। यथा—
कर + के = करके, खा + के = खाके

(६) भोजपुरीमें 'चाहिए' अर्थ बतलानेके लिए 'तब' प्रत्यय होता है, जो प्राकृत के अव्व, तव्व से निस्सृत है। यथा—
कर + तव = करतब
पढ़ + तव = पढ़तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) भोजपुरीमें प्रेरणार्थक भूत कृदन्त में 'आ' और 'आव' प्रत्यय होते हैं, जिनका सम्बन्ध प्राकृत प्रत्ययों से है। यथा—

कर + आव + ता = करावता ।

शब्दकोश

शब्दकोशकी दृष्टिसे प्राकृतके अनेक शब्द भोजपुरीमें समाविष्ट हैं यथा—

अगाढ, अट्ठमी; अणत—अनत, झाड़ ठाव ठक्तव खन, अथव, अनट< अण्णट्ट—अट्ठव, अबूझ, नोह, खीला, सपना, किलिंच, (तिनिका), करिल, सगुन, कवल, असगइ, अवटर, दुआर, खिडकी, अमाई, कलसुव (छोटा सूप) कलूछ आदि ।

इस प्रकार भोजपुरी भाषामें प्राकृत तत्त्वों का बाहुल्य है ।

मातुग्रामी >माडगामी >माडगा >मडगा, मोगा
स्थितेता >ठिदेता > थिदेत्ता >थित्तर >थेत्तर
अवढर< अप + घर = अवहर = अवढर
गोजी< गा + याजी = गोजी ।
लडा< लमुट< लमुड< लउर ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशोककालीन भाषाओंका भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण

सम्राट् अशोकके अभिलेखोंसे अशोककालीन भाषाओंका परिज्ञान प्राप्त होता है। अशोकके लगभग चौंतीस अभिलेख उपलब्ध हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है :

१. चतुर्दश धर्मलेख—शाहबाजगढ़ी (पेशावर जिला), मानसेहरा (हजारा जिला), गिरनार (जूनागढ़), सोपारा (थाना जिला), कालसी (देहरादून), धौली (पुरी जिला), जौगढ़ (गंजाम जिला) और इरागुडी (निजाम स्टेट) स्थानोंमें प्राप्त हुए हैं।

२. सात स्तम्भ-लेख—टोपरा (दिल्ली), मेरठ, कौशाम्बी (इलाहाबाद, रामपुरवा, लौरिया (नन्दनगढ़), लौरिया (अरेराज) स्थानोंमें उत्कीर्ण हैं। इनमें अन्तिम तीन बिहारके चम्पारन जिलेमें हैं।

३. बभ्रू-शिलालेख।

४. दो लघुशिलालेख—सं० १ शिलालेख सिद्धपुर जटिंग, रामेश्वर, ब्रह्मगिरि, रूपनाथ (जबलपुर), सासाराम (शाहाबाद), वैराट (जयपुर), मारकी, गवीमठ, पल्कीगुण्डू और इरागुडीमें पाया जाता है। सं० २ शिलालेख सिद्धपुर जटिंग, रामेश्वर और ब्रह्मगिरिमें पाया गया है। ये तीनों स्थान मैसूरके चीतलदुर्गमें हैं।

५. दो कलिंग-अभिलेख—धौली और जौगढ़में प्राप्त हैं।

६. दो तराई-अभिलेख—सम्मिनदेई और निग्लिवमें उपलब्ध हैं।

७. तीन लघुस्तम्भ-लेख—साँची, कौशाम्बी और सारनाथमें प्राप्त हैं।

८. तीन गुहालेख—बराबर-दरीगृहके तीन अभिलेख हैं।

उपर्युक्त अभिलेखोंमें तत्कालीन प्रादेशिक भाषाका स्वरूप तो प्राप्त होता ही है, पर मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाका अध्ययन करनेकी दृष्टिसे भी प्रचुर सामग्री वर्त्तमान है। अशोकके अभिलेखोंमें चार प्रकारकी वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं :

१. पश्चिमोत्तरी प्रादेशिक भाषा—प्राकृत।

२. पश्चिमी या दक्षिण-पश्चिमी विभाषा।

३. मध्यपूर्वी विभाषा—मागधी।

४. पूर्वी विभाषा—मागधी।

सामान्यतः, उपर्युक्त विभाषाओंकी गणना प्राकृत-भाषामें की गई है। पर, यथार्थमें ये विभाषाएँ अपनी भाषागत प्रवृत्तियोंकी विशेषताके कारण परस्पर भिन्न हैं। उच्चारण-सम्बन्धी अनेक विभिन्नताएँ तो पाई ही जाती हैं, पर पद-रचनामें भी अन्तर है।

पश्चिमोत्तरी या उत्तर-पश्चिम विभाषा :

पश्चिमोत्तरी विभाषाकी प्रवृत्तियोंको अवगत करनेके लिए शाहबाजगढ़ी और मानसेहराके अभिलेखोंको उदाहृत किया जा सकता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि उक्त प्रदेशकी विभाषाका वास्तविक प्रतिनिधित्व शाहबाजगढ़ीके अभिलेख ही करते हैं। यतः, मानसेहरा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर मध्य-पूर्वी समूहका प्रभाव परिलक्षित होता है। पश्चिमोत्तरीकी सामान्य प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं :

१. उक्त विभाषामें ऋ का परिवर्त्तन रि, रु, र, और आगेके मध्य व्यंजनका मूर्द्धन्यमें परिवर्त्तन पाया जाता है। यथा :

क्रिट < कृत (शाहबाजगढ़ी, शि० ले० २, पं० ४)।

म्रुग, म्रुग < मृग (शाहबाजगढ़ी, शि० ले० १, पं० ३ तथा म्रिगके लिए मानसेहरा, शि० १, पं० ८)।

व्रुधेषु, व्रुद्धेषु (मानसेहरा, शि० २)।

मानसेहराके शिलालेखमें ऋ का उक्त परिवर्त्तन नहीं प्राप्त होता है।

१. शाहबाजगढ़ीमें क्ष के स्थान पर छ और मानसेहरामें ख पाया जाता है। यथा : मोछ < मोक्ष (शाहबाजगढ़ी, शि० ५, पं० १३)।

खुद्र, खुद < क्षुद्र (मानसेहरा शि० ९, पं० १३ तथा शाहबाजगढ़ी शि० १०, पं० २२।

३. स्म और स्व संयुक्त व्यंजनके स्थान पर स्प तथा स्मिन्के स्थान पर स्पि पाये जाते हैं। यथा :

विनितस्पि < विनितस्मिन् (शाहबाज, शि० ६, पं० १४ तथा शि० ६, पं० २७)।

स्पमिकेन < स्वामिकेन (शाह० ९।१९; ११।१४ तथा मान० ९।५, ११।१३)।

४. संयुक्त व्यंजनोंमें सन्निविष्ट 'र' ध्वनिका परिवर्त्तन भी कहीं-कहीं पाया जाता है। यथा : ध्रम < धर्म (शाह० ९।२०; मानसेहरा, ९।४, ५।७, ९।८, ५।२१, ५।२६, १२।८)। द्रशन < दर्शन (शाह० ८।१७, ४।८; मानसेहरा, ८।३५-३६, ४।१३)

५. संयुक्त व्यंजनोंमें स ध्वनि हो, तो उसका समीकरण हो जाता है और आगेके दन्त्य व्यंजनका विकल्पसे मूर्द्धन्य रूप प्राप्त होता है। यथा :

ग्रहथ < गृहस्थ (शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा दोनोंमें)।

अठ < अष्ट (मानसेहरा)।

६. पश्चिमोत्तरी विभाषामें दन्त्य व्यंजनोंका मूर्द्धन्य रूपमें अधिक विकास मिलता है। यथा :

अठर < अर्थ (शाह० १।२)।

त्रेडस < त्रयोदश (मानसेहरा, ५।२१)।

ओषढनि < औषधानि (शाहबाजगढ़ी और मानसेहरा)।

डॉ० सुकुमार सेनका अभिमत है कि शाहबाजगढ़ीकी विभाषामें मूर्द्धन्य ध्वनियाँ सम्भवतः वर्त्स्य प्रकारकी थीं। इसी कारण दन्त्य और मूर्द्धन्यमें कोई भेद नहीं मिलता। पश्चिमोत्तरी शिलालेखी विभाषामें मूर्द्धन्य और दन्त्य दोनों ही प्रकारकी ध्वनियोंका अस्तित्व वर्त्तमान है।[1] यथा—स्नेठम् और स्तोतमिति; अठवष और अस्तवष।

७. शब्दमें व्यंजनके बाद 'य' आने पर उसका समीकरण हो गया है। यथा :

कलण < कल्याण (शाह० ५।११; मान० ५।१९)।

---

१. Garebralisation of dental plo sives is more marked here than in the other dialects.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कटव < कर्त्तव्य (शाह० १।१)।

मानसेहराकी भाषामें यह समीकरणकी प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती है। यथा : एकतिय < एकत्य (कालसी, १।२; धौली, १।२; जौगढ़, १।२)

८. शब्दमें अनुनासिक व्यंजनके साथ प्रयुक्त 'न्य' और 'ज्ञ' का 'ञ्ज' पाया जाता है :

अञ्ज < अन्य (शाहबाजगढ़ी, ४।९; ९।१९)।

अणत्त < अन्यत्र (मानसेहरा, १०।९)।

पुञ्ञ < पुण्यम् (शाहबाजगढ़ी)।

ञ्ञनं < ज्ञानम् (शाह० ४।१०)।

९. शब्दके मध्यमें प्रयुक्त 'ह्' का प्रायः लोप हो गया है। यथा :

ब्रमण < ब्राह्मण (शाहबाजगढ़ी)।

बमण < ब्राह्मण (मानसेहरा)।

१०. शाहबाजगढ़ी और मानसेहराके अभिलेखोंमें दीर्घ स्वरोंका प्रायः अभाव है। जहाँ दीर्घ स्वरकी आवश्यकता है, वहाँ भी ह्रस्व स्वरसे काम चलाया गया है। यथा :

लिखपेशमि < लेखपिष्यामि—ए के स्थान पर इ और आ के स्थान पर अ। (शाह० १४।१४; मान० १४।१४)।

ओषढनि < औषधानि—अ के स्थान पर उ (शाह० २।५, मान० २।७)।

लिखपितु < लेखितो—ओ के स्थान पर उ (शाह० १।१ तथा लिखपित, मान० ४।१८)।

११. ष के स्थान पर श और स तथा स के स्थान पर श और ह पाये जाते हैं। यथा :

मनुश < मनुष्य (शि० ले० २, पं० ४)।

अभिसित < अभिषिक्त (शि० ले० ४; पं० १०)।

अनुशशनं < अनुशासनं (शि० ले० ४, पंक्ति १०)।

हचे < सचेत् (शि० ले० ९)।

१२. पद-रचनाकी दृष्टिसे पश्चिमोत्तरी विभाषामें प्रथमाके एकवचनमें पुंल्लिगमें ओ तथा क्वचित् ए प्रत्यय पाये जाते हैं और नपुंसकलिंगके प्रथमा एकवचनका रूप मकारान्त और एकारान्त दोनों ही रूपोंमें पाया जाता है। हलन्त शब्द प्रायः अजन्त हो गये हैं, पर कुछ शब्दोंमें हलन्त रूप विद्यमान भी है। यथा :

देवनं प्रियो < देवानां प्रियः (शाहबाजगढ़ी, शि० ले० १०)।

दवन प्रिये < देवानां प्रियः (मानसेहरा, शि० ले० १०)।

यदिशं....न मुतप्रुवे तदिशे (शि० ले० ४, पं० ८)।

रज < राजा (शा० ३।५, ७।१, ८।१७; मान० १।२, ३।९, ४।१६, ५।१९, ६।२६, ७।३२, ८।३५, ९।१, १०।९, ११।१२, १२।१)।

रञो < राज्ञः (शाह० १।१-२, २।४, ४।७-८, ८।१७, १३।१।

रजनो < राजानः (शि० ले० १०, पं० २१)

१३. सप्तमीके एकवचनमें प्रायः एकारान्त पाया जाता है, पर कहीं-कहीं उसके अन्तमें असि भी मिलता है। यथा :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महनससि < महानसे (शा० शि० ले० १, पं० २; मान० १।३)

गणनसि < गणने (शा० शि० ले० ३, पं० ७; मानसेहरा, ३।११)

१४. धातु-रूपों में पालिके नियमोंके अनुसार स्वर और व्यंजनोंमें परिवर्त्तन होता है। शाहबाजगढ़ीके अभिलेखोंमें 'आह' के स्थान पर 'अहति' रूप पाया जाता है। प्रेरणार्थक क्रिया में अय अथवा पय प्रत्यय जुड़े हुए मिलते हैं तथा 'अत' के स्थानमें 'ए' उपलब्ध होता है।

लिखपेशमि < लिखापयिष्यामि (शा० शि० ले० १४, पं० १३; मा० १४।१४)।

१५. शाहबाजगढ़ीके 'क्त्वा' का रूप 'तु' में परिवर्त्तित पाया जाता है।[1] यथा : श्रुतु < श्रुत्वा (शि० ले० १३)।

शाहबाजगढ़ी और मानसेहराके पाठोंको देखनेसे अवगत होता है कि ध्वनिकी दृष्टिसे दोनोंमें महत्त्वपूर्ण अनुरूपता है, पर ओ और ए विभक्तिमें समविचारकी दृष्टिसे शाहबाजगढ़ीके पाठ गिरनारके अधिक निकट हैं और मानसेहराके पाठ जौगढ़के। इसी स्वरूप-साम्यके कारण कुछ विद्वान् अशोकके शिलालेखोंको भाषा-प्रवृत्तिकी दृष्टिसे दो ही वर्गोंमें विभक्त करते हैं। प्रथम वर्गमें गिरनार और शाहबाजगढ़ीके अभिलेख और द्वितीय वर्गमें कालसी, मानसेहरा, धौली, जौगढ़ तथा अन्य सभी स्थानोंके गौण अभिलेख। यहाँ ध्यातव्य यह है कि अशोक के अभिलेखोंमें मगधकी प्रधान केन्द्रीय बोलीके अतिरिक्त उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी भाषाका स्वरूप भी वर्त्तमान है, अतः उक्त स्वरूपके विश्लेषणके हेतु पूर्वोक्त वर्गीकरणके आधार पर ही प्रवृत्तियोंका विश्लेषण करना आवश्यक है। पश्चिमोत्तरकी भाषामें 'ज्ञ' और 'ण्य' के स्थान पर 'ञ्ञ' का प्रयोग हुआ है; अतः इस विभाषाको पैशाचीका पूर्वरूप कहा जा सकता है।

दक्षिण-पश्चिमी विभाषा :

इस विभाषाका प्रतिनिधित्व जूनागढ़ और गिरनारके अभिलेखोंमें पाया जाता है। गिरनारके अभिलेखकी भाषा शौरसेनी है। यह मध्यप्रदेशकी भाषासे प्रभावित है। इसकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :

१. शब्दमें 'व्' ध्वनिके पश्चात् प्रयुक्त होनेवाले 'ऋ' स्वरके स्थान पर अ और ऊ स्वर पाये जाते हैं। यथा :

वुत्त, वत्त < वृत्त (शाह० २।५; मान० १३।११)।

मग < मृग।

२. सामान्यतः, 'ऋ' स्वरके स्थान पर 'अ' ही पाया जाता है। यथा :

मग < मृग (शि० ले० १, पं० १२)।

मत < मृत (गिर० ले० १, पं० १२)।

दृढ < दढ (गिरनार ७।३)।

३. संयुक्त व्यंजन की 'स्' ध्वनि का लोप नहीं होता। यथा :

---

१. विशेष जानकारीके लिए देखें—कम्परेटिव ग्रामर ऑव मिडिल इण्डो आरियन, पृ० ७-८ तथा डॉ० मधुकर अनन्त मेहैण्डल : कम्परेटिव स्टडी ऑव अशोकन इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० १—४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अस्ति < अस्ति (गिरनार, १।६—९, १४।१, २, ३; शाह० १।२)।

हस्ति < हस्ति (गिरनार, ४।३)।

सष्टि < सृष्टि—'ऋ' स्वर का परिवर्त्तन आ के रूप में हुआ है।

४. 'क्ष्' ध्वनिके स्थानमें पश्चिमोत्तरी भाषाके समान 'छ्' ध्वनि ही उपलब्ध होती है। यथा :

छुद < क्षुद्र—संयुक्त रेफ का भी लोप हुआ है (शि० ले० १०, पं० ४ तथा शि० ले० ९ पं० ०८)।

व्रछा < वृक्षा—ऋ ध्वनिके स्थान पर 'र' ध्वनि हुई है। यह प्रवृत्ति पश्चिमोत्तरी के समान है (शि० ले० २, पं० ८)।

इत्थी झख < स्त्री अध्यक्ष—यहाँ संयुक्त 'स्' ध्वनि और 'क्ष्' ध्वनिके परिवर्त्तनमें उक्त नियम प्रवृत्त नहीं होता। अतः, इसे अपवाद ही मानना चाहिए (शि० ले० १२, पं० ९।

५. संयुक्त 'र' का वैकल्पिक लोप उपलब्ध होता है। यथा :

अतिक्रांतं, अतिकांतं < अतिक्रान्तम् (शि० ले० ६ पं० १)।

त्री, ती < त्रि (शि० ले० १, पं० १२)।

सर्व, सव < सव (शि० २, पं० १, ४)।

६. संयुक्त व्यंजनों में 'व्य' के अतिरिक्त अन्यत्र 'य' का समीकरण पाया जाता है। यथा :

कलाण < कल्याण (शि० ले० ५, पं० १ तथा पं० २)।

कत्तव्यो < कर्त्तव्यः (शि० ले० १, पं० ४)।

मगव्या < मृगव्या (गिर० ८।१)।

७. संयुक्त व्यंजन 'त्व' और 'त्य' का परिवर्त्तन 'त्प' ध्वनि के रूप में और 'द्व' का 'ब्द' के रूप में पाया जाता है। यथा :

चत्पारो < चत्वारः (गिरनार, १३।८)।

अत्प < आत्म (गिरनार-शि० ले० १२, पं० ९)।

दवादस < ब्दादश यह अपवाद का उदाहरण है।

८. 'श्', 'ष्' और 'स्' इन तीनों ऊष्म वर्णों के स्थान पर एकमात्र दन्त्य 'स्' ध्वनि का व्यवहार पाया जाता है। यह शौरसेनीकी शुद्धतम प्रवृत्ति है। यथा :

पसति < पश्यति (गि० शि० ले० १, पं० ५)।

अभिसितेन < अभिषिक्तेन (गि० शि० ले० ३, पं० १)।

सकं < शक्यं (गि० शि० ले० १३)।

९. संयुक्त व्यंजनों में 'त्य' के स्थान पर 'च'; 'त्स' के स्थान पर 'छ'; 'द्य' के स्थान पर 'ज'; 'ध्य' के स्थान पर 'झ'; 'प्त' के स्थान पर 'त', 'भ्र' के स्थान पर 'भ' तथा 'न्च' के स्थान पर 'छ' पाये जाते हैं। [यथा :

आचायिके < आत्ययिके (गि० शि० ले० ६, पं० ७)।

चिकीछा < चिकित्सा (गि० शि० ले० २, पं० ४)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अज < अद्य (शि० ले० ४, पं० २; शि० ले० १३, पं० ५; शि० १, पं० ७; शि० १, पं० १०)।

मझम < मध्यम (गि० शि० ले० १४, पं० २)।
भाता < भ्राता (गि० शि० ले० ११, पं० ३)।
पछा < पश्चात् (गि० शि० ले० १, पं० १२)।

१०. साधारणतः, स्वर-परिवर्त्तनोंमें ह्रस्व स्वरके स्थानपर दीर्घ तथा अनुस्वार अथवा संयुक्त व्यंजनका पूर्व दीर्घ स्वर ह्रस्व हो जाता है। पर, कभी-कभी व्यंजन द्वित्व नहीं होता और उसके बदलेमें पहलेवाला स्वर दीर्घ हो गया है। यथा :

आनन्तरं < अनन्तरम् (शि० ले० ६, पं० ८)।
धाम < धर्म (शि० ले० ५, पं ४)।
वास < वर्ष (शि० ले० १, पं० ४)।

११. सप्तमीके एकवचनमें 'स्म' संयुक्त ध्वनिके स्थान पर 'म्ह' ध्वनि पाई जाती है। यथा :

अथम्हि < अथस्मिन् (शि० ले० ४, पं० १०)।
ह्मि < अस्मिन् (शि० ले० २, पं० १)।
महनसम्हि < महानसस्मिन् (शि० ले० १, पं० ७)।
धंमम्हि < धर्मस्मिन् (शि० ले० ४, पं० ९)।
तम्हि < तस्मिन् (शि० ले० ९, पं० ८; शि० ले० १२, पं० ४)।

१२, पद-रचनामें प्रथमा विभक्तिमें अकारान्त एकवचनमें 'ओ' प्रत्यय मिलता है। कहीं-कहीं मागधीका प्रभाव रहनेसे एकारान्त रूप भी पाये जाते हैं। यथा :

देवानंप्रियो < देवानांप्रियः (शि० ले० १, पं० ५; शि० ३, पं० १; शि० ५, पं० १; शि० ९-१०, पं० १; शि० ले० ११–१२, पं० १)।

अनारंभो < अनालम्भः (शि० ले० ११, पं० ३)।
समवायो < समवायः (शि० ले० १२, पं० ६)।
देवानंपिये < देवानां प्रियः (शि० ले० १२, पं १)।

१३. हलन्त शब्द अजन्त रूपमें उपलब्ध होते हैं, पर कुछ शब्दोंमें संस्कृतका शुद्ध रूप भी सुरक्षित है। यथा :

परिसा < परिषद् (शि० ले० ३, पं० ६)।
कंम < कर्मन्(शि० ले० ३, पं० ४)।
पियदसिनो < प्रियदर्शनः (शि० ले० २, पं० १); हलन्त 'न' ध्वनि सुरक्षित है।

राजानो < राजानः (शि० २, पं० ४), हलन्त 'न' ध्वनि सुरक्षित है।

१४. द्वितीया विभक्ति एकवचनका रूप प्रायः एकारान्त होता है यथा

अथे < अर्थम् (शि० ले० ६, पं० ५)।
युते < युक्तम् (शि० ले० ३, पं० ६)।

४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. सप्तमी एकवचनमें अम्हि और ए दोनों विभक्ति-चिह्न प्राप्त होते हैं । यथा :

काले < काले (शि० ले० ६, पं० ३ तथा पं० ८) ।
ओरोधनम्हि < अवरोधने (शि० ले० ६, पं० ३) ।
गभागारम्हि < गर्भागारे (शि० ले० ६, पं० ३) ।

१६. स्त्रीलिङ्ग रूपोंमें प्रथमा विभक्तिके बहुवचनमें 'आयो'' तृतीयाके एकवचनमें 'आय' और सप्तमीके एकवचनमें 'आयं' प्रत्यय पाये जाते हैं । यथा :

महिडायो < महिलाः (शि० ले० ९, पं० ३) ।
माधूरताय < माधुर्येण (शि० ले० १४, पं० ४) ।
परिसायं < परिषदि (शि० ले० ६, पं० ७) ।

१७. √स्था का भारतीय ईरानीमें √स्ता होता है । गिरनारके अभिलेखोंमें इस संयुक्त व्यंजनकी एक ध्वनिका मूर्द्धन्य हो गया है । यथा :

ष्ठिता < स्थिता (शि० ले० ६, पं० ४) ।
तिष्टंतो < तिष्ठतः (शि० ले० ३, पं० ९) ।
तिस्टेय < तिष्ठेत् (शि० ले० ६, पं १३) ।
धामाधिस्टनाय < धर्माधिष्ठनाय (शि० ले० ५, पं० १४) ।
रिस्टिक < राष्ट्रिक (शि० ले० ५, पं ५) ।

१८. क्रियापदोंमें आतमनेपदके रूपोंमें परिवर्त्तन नहीं होता और √अस् धातुका 'अ' स्वर विधिलिङ्में स्थिर रह गया है । यथा :

अस < स्यात् (शि० ले० १२, पं० २ तथा पं० ३) ।

१९. √भू धातुके 'भवति' और 'होती' दोनों रूप उपलब्ध होते हैं ।

२०. क्त्वाका रूप त्वामें परिवर्त्तित पाया जाता है । प्रेरणार्थक क्रियामें 'अय' अथवा 'पय' प्रत्यय जुड़े हुए हैं और 'अय' का 'ए' हो गया है । यथा :

आलोचेत्वा < आलोचयित्वा (शि० ले० १४, पं० ६) ।
हापेसति < हापयिष्यति (शि० ले० ५, पं० ३) ।

मध्यपूर्वी भाषा

इस भाषाके स्वरूपको जाननेके लिए कालसीके अभिलेख, टोपरा (दिल्ली) के स्तम्भ-लेख तथा रूपनाथ और जोगीमाराके गुफालेखोंको उदाहरणके लिए ग्रहण किया जा सकता है । इसकी मुख्य प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :

१. अन्तिम ह्रस्व स्वरके स्थानपर दीर्घ स्वर हो गया है । यथा :

आहा < आह (रूपनाथ-अभि०, पं० १ दिल्ली-टो० १, पं० १) ।
लोकसा < लोकस्य (दिल्ली-टोपरा-स्तम्भ ६, पं० २) ।

२. शब्दमें प्रयुक्त संयुक्त 'र्', 'ष्', 'स्' ध्वनियोंका लोप पाया जाता है । यथा :

अठेसु < अष्टसु (दिल्ली-टो०,स्तम्भ ६, पं० २५) ।
अठाये < अर्थाय (दि० टो० स्तम्भ १-२, पं० १५) ।
सब < सर्व (दि० टो० स्तम्भ ७, पं० २५) ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. शब्दमें त्, व् के अनन्तर प्रयुक्त 'य्' ध्वनि या 'इय्' हुआ है; परन्तु उसके पूर्वमें द्, ल् के रहने पर समीकरण हो गया है। यथा :

कटविये < कर्त्तव्यम् (दि० टो० स्तम्भ ५, पं० ९ तथा पं० १९)।

उयान < उद्यान।

मज्झ < मध्य (दि० टो० स्त०, पं० ७)।

कयाने < कल्याणम् (दि० टो० स्त०, पं० ११)।

४. 'त्य' के स्थान पर 'च' और 'स्म' और 'ष्म' के स्थान पर 'प्फ' पाये जाते हैं। यथा :

सचे < सत्यः (दि० टो० शि० १, पं० १२)।
तुप्फे < तुष्मे (सारनाथ-स्तम्भ, पं० १०)।
अफाक < अस्माकम्।
येतफा < एतस्मात्।

५. संयुक्त व्यंजन 'क्ष' के स्थान पर 'ख' पाया जाता है। यथा :

मोख < मोक्ष।

खुद < क्षुद्र।

६. मध्यवर्त्ती 'क्त्वा' का घोष रूपमें विकास मिलता है। यत्र-तत्र मागधीका प्रभाव भी है और 'र' के स्थान पर 'ल' उपलब्ध है। यथा :

अधिगिच्य < अधिकृत्य।

लोगं < लोकम्।

पलीखाया < परीक्षायाः (दि० टो० १, पं० ४)।

७. प्राच्य समूहकी भाषाके समान 'र्' के स्थान पर 'ल्' एवं 'श्' के स्थान पर 'ष्' के प्रयोग पाये जाते हैं।

८. प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें 'ए' प्रत्यय तथा सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें 'स्सि' और 'सि' प्रत्ययके प्रयोग पाये जाते हैं। यथा :

महानससि < महानसे।

९. √भू धातुका विकास √हू के रूपमें पाया जाता है। यथा :

होति < भवति।

पूर्वी विभाषा-समूह

इस समूहकी भाषाओंका रूप अधिक स्थिर है। पूर्वी भाषा अशोककी राजभाषा थी, सम्भवतः, इसका रूप मागधी-भाषाका है। एक प्रकारसे इसे प्राचीन मागधीका प्रतिनिधि कहा जा सकता है। दिल्ली, इलाहाबाद, कौशाम्बी, सारनाथ, लौरिया, सासाराम एवं साँचीके शिलालेखोंमें पूर्वी भाषाका रूप सुरक्षित हैं। सम्मिन्देह और नेपालके नीगलिव स्थानोंमें मिले दानलेखोंकी भाषा भी पूर्वी है। इसकी प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं :

१. 'ऋ' के स्थान पर 'अ' स्वर मिलता है। यथा :

मगे < मृगः (साँची-स्तम्भ-लेख, पं० १)।

२. पूर्वी प्रकृतिके अनुसार 'र्' के स्थान पर 'ल्' ध्वनिका प्रयोग पाया जाता है। यथा :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालनेन < कारणेन (टोपरा, ३।२१)।

लाजा < राजा (कालसी, १।२, ३।६, ५।१३, ६।१७, ७।११, ८।२२, धौली, १।२, ३।१, ४।५; जौ० ३।१; २।२)।

मजूला < मयूराः (कालसी, १।४; जौगढ़, १।४)।

लजूका < रज्जुका (टोपरा, ४।२, ४, ८, ९, १२; ७।२२)।

अभिहाले < अभिहारे (टोपरा, ४।३-१४)।

पटिचलितवे < परिचरितुम् (टोपरा ४।८)।

३. संयुक्त व्यंजनोंमें 'र्' और 'स्' का परिवर्त्तन समीकरणमें हो गया है। यथा :

सव्वत्त, सवत < सर्वत्र (गिर० १३।९; शाह० ५।१३; धौ० २।१; २७।३, जौ० २।१)।

अत्थि, अथि < अस्ति (कालसी, १।२, १३।३६, १४।१९; धौ० ९।१, ५; १४।१, २; जौ० १।२; टोपरा, ६।३२; रूप० ४; स० ७)।

४. संयुक्त व्यंजनके अनन्तर प्रयुक्त 'य्' और 'व' के स्थान पर 'इय्' और 'उव्' पाये जाते हैं। यथा :

दुवादस < द्वादश (दि० टो० स्तम्भ ६, पं० १)।

कटवियेे < कर्त्तव्यम् (दि० टो० स्तम्भ ५, पं० १९)।

५. संयुक्त व्यंजन 'ल्य' के स्थान पर 'य' पाया जाता है। यथा :

कयाने < कल्याणं (दि० टो० शि०, पं० १८)

६. 'एवं' के स्थान पर 'हेवं' का प्रयोग पाया जाता है। यथा :

हेवं आहा < एवमाह (सासाराम-अभि०, पं० १; दि० टो० स्त०, पं० १७)।

७. दन्त्य 'त्' के स्थान पर कुछ शब्दोंमें मूर्धन्य 'ट' और कहीं-कहीं ज्यों-का-त्यों 'त्' भी पाया जाता है। यथा :

कटेति < कृतमिति (दि० टो० स्त०, पं० १८)।

दुपटिवेखे < दुष्प्रत्यवेक्ष्यम् (दिल्ली-टोपरा-स्त०, पं० १९)।

८. 'अहं' के स्थान पर 'हकं' या 'अहकं' रूप मिलते हैं। यथा :

हकं < अहम् (धौली, पं० ५)।

९. सप्तमी एकवचनमें 'स्मन्' के स्थान पर 'सि', 'स्सि', पाये जाते हैं तथा प्रथमा विभक्तिके एकवचनमें 'ए' प्रत्ययान्त रूप मिलते हैं। यथा :

पिये < प्रियः (दि० टो० स्त० ४, पं० १)

धम्मसि, धम्मस्सि < धर्मस्मिन्।

तसि, तस्सि < तस्मिन्।

१०. कृत् प्रत्ययोंके रूपोंमें 'त्वा' के स्थान पर 'तु' और 'त्वा' दोनों ही उपलब्ध होते हैं। यथा :

आलभितु < आरभित्वा—आरब्ध्वा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११. √दृश धातुके स्थान पर √देख का प्रयोग पाया जाता है। यथा :
देखति < पश्यति (दि० टो० स्त०, पं० १८)।
देखिये < द्रष्टव्यम् (दि० टो० स्त०, पं० १९)।

अशोकके विशाल साम्राज्यकी फैली हुई सीमाओंपर खुदवाये गये इन अभिलेखोंको भारतका प्रथम लिंग्विस्टिक सर्वे कहा जा सकता है। यद्यपि ये शिलालेख एक ही शैलीमें लिखे गये हैं, फिर भी उनकी भाषामें स्थान-विशेषके कारण अन्तर है। इसी अन्तरको वैभाषिक प्रवृत्ति कहा गया है। इन शिलालेखोंमें पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृतकी प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। पश्चिमोत्तरी विभाषामें पैशाची-प्राकृतकी प्रवृत्तियाँ, पूर्वीमें मागधीकी, दक्षिण-पश्चिममें शौरसेनी-प्राकृतको एवं मध्य-पूर्वी समूहमें शौरसेनी और मागधीकी मिश्रित प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। प्रवृत्तिमूलक अध्ययनकी दृष्टिसे इस विभाषाको अर्द्धमागधीके निकट माना जा सकता है। अशोककी राजभाषा मागधी थी, पर उस कालके बृहत्तर भारतमें पैशाची, शौरसेनी एवं अर्द्धमागधीका भी अस्तित्व विद्यमान था। वस्तुतः अर्द्धमागधी मागधी और शौरसेनीके संयोगसे निष्पन्न भाषा है। अशोकके शिलालेखोंमें इसकी प्रवृत्तियाँ भी उपलब्ध हैं।

उपर्युक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि अशोकके समयकी पश्चिमोत्तरीय (पैशाच-गान्धार), मध्यभारतीय (मागध), पश्चिमीय (महाराष्ट्र) और दाक्षिणात्य (आन्ध्र-कर्णाटक) बोलियाँ उस समयकी जनभाषाएँ हैं। पश्चिमोत्तरीय वर्गकी बोलीमें शाहबाजगढ़ी और मानसेहराके अभिलेख; मध्यभारतीय बोलीमें वैराट, दिल्ली-टोपरा, सारनाथ और कलिंग-अभिलेख; पश्चिमीमें गिरनार और बम्बईमें सोपाराके लेख एवं दाक्षिणात्यमें दक्षिणी अभिलेख सम्मिलित हैं। पश्चिमोत्तरीयमें दीर्घ स्वरोंका अभाव, ऊष्म व्यंजनोंका प्रयोग, अन्तिम हलन्त व्यंजनोंका अभाव, रेफका प्रयोग एवं प्रथमा विभक्ति एकवचनमें एकारान्त शब्दोंका अस्तित्व पाया जाता है। मध्य भारतीय बोलीमें र् के स्थान पर ल्, प्रथमा एकवचनमें एकारान्त रूपका सद्भाव, स्वरभक्तिका अस्तित्व, 'अहं' के स्थान पर 'हकं' का प्रयोग, तु के स्थान पर तवे, तुम्हाण अथवा तुज्झाणके स्थान पर तुफाकं एवं कृ धातुके क्त के स्थान पर 'ट' का प्रयोग पाया जाता है। पश्चिमीय बोलीमें र का प्रयोग, अधोवर्ती रेफका शीर्षवर्त्ती रेफके रूपमें प्रयोग, न्य और ञ्ञ के स्थान पर ञ, तथा ट में परिवर्त्तन, प्रथमा एकवचनमें ओकारान्त रूप, र्द्ध के स्थान पर ड्ढ एवं सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें 'स्मि' के स्थान पर 'म्हि' का प्रयोग पाया जाता है। दाक्षिणात्य बोलीमें मूर्द्धन्य ण का प्रयोग, तालव्य ञ का प्रयोग, स्वरभक्तिकी प्राप्ति, त्म के स्थान पर त्प, ऊष्म वर्णोंका दन्त्यवर्णके रूपमें प्रयोग एवं तु के स्थान पर तवेका प्रयोग मिलता है।

अशोकके अभिलेखोंकी विभिन्न बोलियोंकी विशेषताओंको देखनेसे ज्ञात होता है कि मध्यभारतीय भाषा ही उस समयकी सार्वदेशिक भाषा थी, मूलतः इसीमें अभिलेख प्रस्तुत हुए हैं। अशोककी यह मागधी नाटकीय मागधीसे भिन्न है; क्योंकि अभिलेखोंमें तालव्य 'श' के स्थान पर केवल दन्त्य 'स' ही पाया जाता है।

पश्चिमोत्तरी (गान्धारी) में जिस बोलीका प्रयोग हुआ है, वह उस प्रदेशकी राजभाषा थी। इसमें संस्कृत-भाषाके तत्त्वोंके साथ मागधीके भी तत्त्व वर्त्तमान हैं। यथा :

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक वर्ग के स्पर्शों के दूसरे वर्ग के स्पर्शों से समीकरण। यहाँ यह ध्यातव्य है कि बोली-सम्बन्धी भिन्नताएँ प्रायः ध्वनिमूलक हैं, व्याकरण अथवा व्युत्पत्तिमूलक नहीं। सभी बोलियों का एक सार्वदेशिक अथवा सर्वतोनिष्ठ व्याकरण है। भाषा की दृष्टि से अभिलेखों की भाषा संस्कृत और परवर्त्ती प्राकृतों के बीच की है। अशोकके अभिलेखोंमें प्रयुक्त सर्वनाम शब्द प्रायः संस्कृतसे मिलते-जुलते हैं। पर, उत्तमपुरुष सर्वनाम अफ और मध्यम पुरुष सर्वनाम तुफ इन अभिलेखों की अपनी विशेषता है। सम्बन्धवाचक सर्वनाम का आदिम 'य' पूर्वी अभिलेखों में लुप्त है, किन्तु परवर्त्ती प्राकृतके समान इसका परिवर्त्तन 'ज' के रूपमें नहीं पाया जाता है।

गिरनार, शाहबाजगढ़ी और मानसेहराके अभिलेखोंमें 'अहं' सुरक्षित है। मानसेहरामें 'अअं' रूप भी पाया जाता है।

करण एकवचनका 'मया' रूप गिरनार, शाहबाजगढ़ी, ब्रह्मगिरि और एरगुण्डिके अभिलेखोंमें; मइया रूप कालसी, धौली, जौगढ़, टोपरा और वैराटके अभिलेखोंमें; 'मे' कालसी, धौली, रधिया, मेरठ और पालकगुण्डिके अभिलेखोंमें; 'ममिया' टोपरा-अभिलेखमें, ममाये धौली-अभिलेखमें; 'ममियाये' जौगढ़-अभिलेखमें एवं 'हमियाये' भाब्रू-अभिलेखमें पाया जाता है।

अपादान एकवचन 'ममते' धौली और जौगढ़-अभिलेखोंमें पाया जाता है।

सम्बन्ध एकवचन-रूप 'मम' गिरनार, कालसी, धौली और जौगढ़के अभिलेखोंमें; 'मअ' पश्चिमोत्तर के अभिलेखोंमें; 'मे' स्तम्भलेखोंमें एवं 'हमा' भाब्रू-अभिलेखमें आया है। मध्यम-पुरुषमें तुफ, तुफे, तुफेनि, फेनि, तुफाक और तुफेसु रूप पाये जाते हैं। अन्यपुरुष में सो, सा, स, षे, शे और ते रूप मिलते हैं।

धातुरूपोंके प्रयोगका अशोकके अभिलेखों पर प्रचुर प्रभाव दिखाई पड़ता है। प्राकृतके नियमोंके अनुसार स्वर और व्यंजन ध्वनियोंमें आवश्यक परिवर्त्तन हुए हैं। धातुरूपोंके संचालनमें सरलीकरणकी प्रवृत्ति पायी जाती है। द्विवचनका अभाव है। कर्मवाच्य प्रयोग केवल पश्चिमी अभिलेखमें अवशेष रह गया है। संस्कृतके दस वर्णोंके स्थान पर भ्वादि (अ) और चुरादि (अय) का प्रयोग पाया जाता है।

इतिहासके आलोकसे यह ज्ञात किया जा सकता है कि महाभारतके बादका भारतीय इतिहास मगध-साम्राज्यका इतिहास है। विशाल मगध-साम्राज्यको प्रशासनके लिए एकसूत्रीय सार्वदेशिक भाषाकी आवश्यकता थी। यह भाषा वैदिक भाषासे उद्भूत लौकिक संस्कृतसे मिलती-जुलती और उसके समानान्तर प्रचलित शिष्ट लोकभाषा प्राकृत राष्ट्रभाषा थी। यह पुरानी लौकिक संस्कृत और पालिके बीचकी भाषा थी। अशोकने अपने अभिलेखोंमें जन-बोलियोंका भी व्यवहार किया है। पैशाची और शौरसेनीका भी प्रयोग मिलता है। अतएव अशोकके अभिलेख प्राचीन भाषाके अध्ययनकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देशीनाममाला : भाषा-शास्त्रीय व सांस्कृतिक अध्ययन

आचार्य हेमचन्द्रकी प्रतिभा बहुमुखी थी। इन्होंने दर्शन, कोश, व्याकरण, पुराण एवं अलंकारशास्त्रपर महत्त्वपूर्ण और उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। इनका देशीनाममाला नामक प्राकृत-कोश प्राचीन आर्यभाषाके जिज्ञासुओंके लिए अत्यन्त उपयोगी है। इस कोशके आधार पर आधुनिक आर्यभाषाओंके शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ एवं उनके अर्थगत वैशिष्ट्यकी विवेचना सम्यक् प्रकार की जा सकती है।

प्राकृत-भाषाका शब्द-भाण्डार तीन प्रकारके शब्दोंसे युक्त है—तत्सम, तद्भव और देश्य। तत्सम वे शब्द हैं, जिनकी ध्वनियाँ संस्कृतके समान ही रहती हैं, जिनमें किसी प्रकार का भी विकार उत्पन्न नहीं होता, जैसे नीर, कंक, कंठ, ताल, तीर आदि। जिन शब्दोंको संस्कृत-ध्वनियोंमें वर्णलोप, वर्णागम, वर्ण-विकार अथवा वर्ण-परिवर्त्तन द्वारा अवगत किया जाय, वे तद्भव कहलाते हैं; जैसे अग्र >अग्ग, इष्ट >इट्ठ, धर्म >धम्म, गज >गय, ध्यान > झाण, पश्चात् >पच्छा आदि। जिन प्राकृत-शब्दोंकी व्युत्पत्ति—प्रकृति-प्रत्यय-विधान—संभव न हो और जिनका अर्थ रूढिमात्रपर अवलम्बित हो, उन शब्दोंको देश्य या देशी कहते हैं; जैसे अगय = दैत्य, इराव = हाथी, छासी = छाश, चोद = विल्व आदि। इस देशीनाममालामें जिन शब्दोंका संकलन किया गया है, उनका स्वरूप-निर्धारण स्वयं ही आचार्य हेमचन्द्रने किया है—

जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण य गउणलक्खणासत्तिसंभवा ते इह णिबद्धा॥ (१।३)
देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणन्तया हुन्ति।
तम्हा अणाइपाइअपयट्टभासाविसेसओ देसी॥ (१।४)

जो शब्द न तो व्याकरणसे व्युत्पन्न हैं और न संस्कृत-कोशोंमें निबद्ध हैं तथा लक्षणा शक्तिके द्वारा भी जिसका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है, ऐसे शब्दोंका संकलन इस कोशमें किया है। देशी शब्दोंसे वहाँ महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि प्रदेशोंमें प्रचलित शब्दोंका संकलन भी नहीं समझना चाहिए। यतः देशविशेषमें प्रचलित शब्द अनन्त हैं, अतः उनका संकलन संभव नहीं। यहाँ देशी शब्दोंसे तात्पर्य जनसाधारणकी बोलचालकी भाषा प्राकृतके शब्दोंके संग्रहसे ही है। इसी कारण हेमचन्द्रने अनादिकालसे प्रचलित प्राकृत-भाषाको ही देशी कहा है।

हेमचन्द्रके उपर्युक्त प्रतिज्ञा-वाक्यके अनुसार व्याकरणसे अनिष्पन्न शब्द देशी हैं और इस कोशमें ऐसे ही देशी शब्दोंके संकलनकी प्रतिज्ञा की है। पर, इस देशीनाममालामें लगभग एक-तिहाई इस प्रकारके शब्द हैं, जिनकी व्युत्पत्तियाँ व्याकरणके नियमोंके आधारपर सिद्ध की जा सकती हैं। जैसे, अमयनिग्गम—अमृतनिर्गम शब्द चन्द्रमाका वाचक माना गया है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति व्याकरणसे सिद्ध है, पर संस्कृत-कोशोंमें इसे अनिबद्ध रहनेके कारण ही यहाँ देशी कहा है। इस प्रकारके अब्भपिसाय—अभ्रपिशाच, पुरिल्लदेवो—पूर्वदेव, बंभणी—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्राह्मणी, गहवई—गृहपति आदि अनेक शब्द हैं। इस कोशमें ऐसे भी शब्दोंका संकलन है, जिनका अर्थ लक्षणाशक्तिके द्वारा सिद्ध होता है। यथा 'गोसण्णो' शब्द मूर्खके अर्थमें संगृहीत है, इसका संस्कृत-रूप गोसंज्ञ है, यह बलीवर्दके समान लक्षणाशक्तिके द्वारा ही मूर्ख अर्थका द्योतन करता है। अतः स्पष्ट है कि हेमचन्द्रने इस कोशके संकलनमें अपने प्रतिज्ञा-वाक्यका पूर्णतया निर्वाह नहीं किया है।

देशीनाममालामें ३९७८ शब्द संगृहीत है। इनका विवरण इस प्रकार हैं—

तत्सम शब्द—(जिनकी ध्वनियाँ संस्कृत शब्दोंके समान हैं)—१००

गर्भित तद्भव—(वर्णागम, वर्णविकार आदिसे विकृत)—१८५०

संशययुक्त तद्भव—(खींच-तानकर जिनकी व्युत्पत्तियाँ सिद्ध की जायँ)—५२८

अव्युत्पादित प्राकृत शब्द—१५००

इस कोशकी रचना वर्णक्रमके आधारपर की गई है। यह स्वरवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और सवर्ग इन आठ अध्यायोंमें विभक्त है। इसमें कुल ७८३ गाथाएँ हैं। जिस प्रकार धनपाल कविकी 'पाइअलच्छीनाममाला' प्राकृतके आरम्भिक अभ्यासियों के लिए उपयोगी है उसी प्रकार यह कोश प्राकृत-भाषा और साहित्यके प्रौढ अभ्यासियोंके लिए उपयोगी है। इस कोशमें निम्नांकित विशेषताएँ हैं—

१. साहित्यिक सुन्दर उदाहरणोंका संकलन।
२. संकलित शब्दोंका आधुनिक देशी भाषाओंके साथ सम्बन्ध।
३. ऐसे शब्दोंका संकलन, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं।
४. ऐसे शब्दोंका संकलन, जिनके आधारपर उस कालकी रहन-सहन और रीति-रिवाजोंका यथेष्ट परिज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।
५. परिवर्त्तित अर्थवाले ऐसे शब्दोंका संकलन, जो सांस्कृतिक इतिहासके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और उपयोगी हैं।

साहित्यिक सौन्दर्य

कोशकारने कोशगत शब्दोंके उदाहरणोंके अर्थको हृदयंगम करनेके लिए कुछ सरस गाथाएँ उदाहरणस्वरूप उपस्थित की हैं। यह अभी तक विवादास्पद है कि इन गाथाओंका रचयिता कौन है? शैली और शब्दोंके उदाहरणोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि इन गाथाओंका रचयिता भी आचार्य हेमचन्द्रको होना चाहिए। उदाहृत गाथाओंका साहित्यिक मूल्य अत्यधिक है। सरसता, भाव और कलागत सौन्दर्यकी दृष्टिसे ये गाथाएँ गाथासप्तशतीकी गाथाओं के समान ही लोकप्रिय हैं। प्रत्येक पाठक इनमें डूबनेपर उदात्त भावनाओंके हृदयंगम करनेके साथ रसास्वादन कर सकता है। इनमें विरहिणियोंकी चित्तवृत्ति, नखशिख-चित्रण, धनिकोंके विलास-भाव, रणभूमिकी वीरता, संभोग और वियोग शृंगारकी विभिन्न परिस्थितियाँ, कृपणों की कृपणता, प्रकृतिके विभिन्न रूप और दृश्य, नारीकी मसृण और मांसल भावनाएँ एवं विभिन्न प्रकारके रमणीय भाव निरूपित किये गये हैं। देशीनाममालाकी यह शैली संस्कृत-कोश-साहित्यसे बिलकुल भिन्न एवं रुचिर है। किसी भी भाषाके कोशमें इस प्रकारके सरस पद्य उदाहरणोंके रूपमें नहीं मिलते। संकलित शब्दोंका अर्थ उदाहरण देकर अवगत करा देना हेमचन्द्रकी विलक्षण प्रतिभाका ही कार्य है। नमूनेके लिए एकाध गाथा उद्धृत की जाती है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आयावलो य बालायवम्मि, आवालयं च जलणियडे।
आडोवियं च आरोसियम्मि, आराइयं गहिए॥ (१।७०)

अर्थात्, आयावलो = बालातपः, आवालयं = जलनिकटम्, आडोवियं = आरोपितम् और आराइयं = गृहीतम् अर्थमें प्रयुक्त है। इन शब्दोंका यथार्थ प्रयोग अवगत करनेके लिए आचार्य हेमचन्द्रने निम्नांकित गाथा उदाहरणमें उपस्थित की है—

आयावले पसरिए किं आडोवसि रहङ्ग णिअदइअं।
आराइअबिसकन्दो आवासठियं पसाएसु॥ (५८।७०)

अर्थ—हे चक्रवाक! सूर्यके बाल आतपके फैल जाने पर – उदय होने पर तुम अपनी स्त्रीके ऊपर क्यों क्रोध कर रहे हो? तुम कमलनाल लेकर जलके निकट बैठी हुई अपनी भार्या-को प्रसन्न करो।

खणमित्तकलुसियाए लुलियालयवल्लरी समोत्थरियं।
भमरभर ओहुरयं पंकयं व भरिमो मुहं तीए॥ (१।१५७)

अर्थ—क्षण-भरके लिए उदास मुँहवाली स्त्रीके मुख पर लटकती हुई केशावली कमल पर आसीन भ्रमर-पंक्तिकी याद दिलाती है।

इस पद्यमें उपमा-अलंकारका सुन्दर प्रयोग हुआ है।

अंकारो तथा अत्थारो साहाय्यम्, अत्थुडं लघु, अक्कंतं—प्रवृद्धम्, अब्बोच्ची—पुष्प-लावीको सोदाहरण दिखलानेके लिए यह गाथा उद्धृत की है—

कुसुमाउहअंकारं अब्बोच्चीणं च कुणइ अत्थारं।
मलयसमीरो अइअत्थुडोवि काही किं अवकंतो। (६।९)

अर्थात्, अत्यन्त मन्द चलनेवाला मलयानिल कामदेव और पुष्पचयन करनेवाली महिला की सहायता करता है; पर तेजीसे चलनेवाला वायुमण्डल कुछ नहीं कर सकता!

इस प्रकार, कोशकारने इस कोशमें आये हुए शब्दोंके अर्थको सरस उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। अतः, उदाहरणोंका साहित्यिक दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्व है।

आधुनिक भाषा-शब्दों से साम्य

इस कोशमें ऐसे अनेक शब्द संगृहीत हैं, जिनसे मराठी, कन्नड, गुजराती, अवधी, व्रजभाषा और भोजपुरीके शब्दोंकी व्युत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है। अधुना हिन्दी शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ संस्कृत-शब्दावलीसे सिद्ध की जा रही हैं; पर यथार्थमें अनेक ऐसे शब्द हैं; जिनका संस्कृतके शब्दोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ इस प्रकारके देशी शब्दोंकी एक तालिका दी जाती है, जिनसे हिन्दीके ठेठ शब्दोंकी व्युत्पत्ति सिद्ध की जा सकती है—

अंगालिअं इक्षुखण्डम् (१।२८)—यह शब्द ईखके उस टुकड़ेके अर्थमें आया है, जो निस्सार होता है, जहाँ ईखकी पत्तियाँ लगी रहती हैं। यह पशुओंके चारेके काममें आता है। भोजपुरी, व्रजभाषा और अवधीमें अंगोला शब्द प्रचलित है। इसकी व्युत्पत्ति **अंगालिअं** से मानी जा सकती है।

५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अम्मा (१।५)—हिन्दीकी विभिन्न ग्रामीण बोलियोंमें यह इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

उक्खलीपिठरम् (१।८८)—अवधीमें ओखरी, राजस्थानी, व्रजभाषा और भोजपुरीमें ओखली, उखली, ओखरी और ओखड़ी; बुन्देलीमें उखरी।

चुल्लीइ उल्लीउद्दाणा (१।८७)—भोजपुरी, राजस्थानी, व्रजभाषा और अवधीमें चूल्हा; गुजरातीमें चूलो; बुन्देलीमें चूलौ और खड़ीबोलीमें चूल्हा।

उत्थल्ला परिवर्त्तनम् (१।९३)—हिन्दीमें उथल; गुजरातीमें भी उथल।

उल्लुटं मिथ्या (१।७९)—हिन्दीकी सभी ग्रामीण बोलियोंमें उलटा।

उसीरं विसतन्तुः (१।९४)—अवधी, भोजपुरी और व्रजभाषामें उशीर; यह शब्द कमलनाल या खशके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

उडिदो माषधान्यम् (१।९८)—व्रजभाषा उड़द; भोजपुरी उरिद; खड़ी बोली उड़द; गुजराती अडद और राजस्थानी उड़िद या उड़द तथा बुन्देलीमें उदरन।

उड्डसो मत्कुणः (१।९६)—भोजपुरीमें उड़िस या उड़ीस; बँगला और मैथिलीमें उड़ीस।

उत्तालं, उव्वेत्तालं द्वावप्येतो निरन्तरस्वररुदिते (१।१०१)—हिन्दीकी समस्त ग्रामीण बोलियोंमें उद्धृत अर्थमें उत्ताल।

उव्वाओ खिन्नार्थं (१।१०२)—व्रजभाषा और अवधीमें ऊबना; भोजपुरीमें उबना और ऊबना; अवधि-कोशमें बतलाया गया है कि 'ओबा' से सम्बद्ध, अर्थात् वैसे ही घबराना, जैसे ओबाकी बीमारीमें लोग घबराते हैं। इससे स्पष्ट है कि अवधी कोशकार ऊबनाका सम्बन्ध 'ओबा' से मानते हैं, पर यह ठीक नहीं। ऊबनाका सम्बन्ध उव्वाओसे ठीक बैठता है।

उत्थल्ल पत्थल्ला पार्श्वद्वयेन परिवर्त्तनम् (१।१२२)—हिन्दीमें उथल-पुथल; गुजरातीमें उथल-पाथल।

ओज्झरी अन्त्रावरणम् (१।१५७)—आँत या पेट व्रजभाषामें ओझ, ओझर; भोजपुरीमें ओज्झरी।

ओड्ढणं उत्तरीयम् (१।१५५)—राजस्थानी ओढ़णी; व्रजभाषा, अवधी और गुजरातीमें ओढ़नी। व्रजभाषा सूर-कोशमें बताया गया है कि ओढ़नी स्त्रियोंके ओढ़नेके वस्त्र, उपरैनी, चादर, फरिया है। सं० के अवधान शब्दसे इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

कट्टारी क्षुरिका (२।४)—हिन्दीकी सभी ग्रामीण बोलियोंमें कटारी सं० शब्द कर्त्तरीसे इसे सम्बद्ध किया जा सकता है।

कन्दो मूलशाकम् (२।१)—हिन्दी, बँगला और मैथिलीमें कन्द।

काहारो जलादिवाही कर्मकारः (२।२७)—हिन्दीकी सभी ग्रामीण बोलियोंमें काहार या कहार।

कुकुसो धान्यादितुषः (२।३६)—व्रजभाषामें कूकस; कन-ककस मुहावरा प्रसिद्ध है। गुजराती में कूसका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कुच्छी कुक्षि (२।३४)—हिन्दी कोंख या कूँख।

कुडीरं, कुडिआ वृत्तिविवरम् (२।२४) हिन्दी कुटी या कुटीर।

कोइला काष्ठाङ्गारः (२।४९)—हिन्दी कोयला।

कोप्पो अपराधः (२।४५)—हिन्दी कोप।

कोलिओ तन्तुवायः (२।६५)—हिन्दी में कोली।

कोल्हुओ इक्षुनिपीडनयन्त्रम् (२।६५)—हिन्दी की सभी बोलियों में कोल्हू।

खट्टिको शौनिकः (२।७०)—हिन्दी और गुजराती में खटीक।

खड्डा खनिः (२।६६)—हिन्दीमें खड्डा, गुजरातीमें खाडी।

खडक्की लघुद्वारम् (२।७१)—खड़ी बोलीमें खिड़की; व्रजभाषामें खिड़की; भोजपुरी-में खिरकी और बुन्देलीमें भी खिरकी।

खद्दं भुक्तम् (२।६७)—हिन्दी खाया।

खलइयं रिक्तम् (२।७१)—राजस्थानी, भोजपुरी और व्रजभाषामें खाली।

खली तिलपिण्डिका (२।६६)—हिन्दीमें खली।

खाइया परिखा (२।७३)—खड़ो बोली, राजस्थानी, गुजराती और भोजपुरीमें खाई।

खल्ला चर्म (२।६६)—हिन्दी खाल।

गायरी, गग्गरी गर्गरी (२।८९) हिन्दी गागर।

गड्डरी छागो (२।८४)—व्रजभाषामें बकरियोंको चराने और पालनेवाली जातिको गड़ेरी कहा जाता है।

गढ दुर्गम् (२।८१)—हिन्दी गढ़।

गंडीरी इक्षुखण्डम् (२।८२)—हिन्दी गँड़ेली या गँडेरी।

गोवरं करीषम् (२।९६)—हिन्दी गोबर।

घग्घरं जघनस्थवस्त्रभेदः (२।१०७)—व्रजभाषा और राजस्थानीमें घाँघरा।

घट्टो नदीतीर्थम् (२।१११)—हिन्दी घाट।

चउक्कं चत्वरम् (३।२)—हिन्दी चौक।

चवेडी श्लिष्टकरसम्पुटम् (३।३)—हिन्दी चपेट।

चाउला तण्डुलाः (३।८)—हिन्दी चावल।

चोट्टी शिखा (३।१)—हिन्दी चोटी।

छइल्लो विदग्धः (३।२४)—हिन्दी छैला। हिन्दीमें छबीला भी पाया जाता है, जो सं० छवि + ल (सुन्दर) से व्युत्पन्न होता है।

छिणाली जारः (३।२७)—हिन्दी छिनाल।

छेंडी लघुरथ्या (३।३१)—व्रजभाषामें छेड़ी।

छल्ली त्वक् (३।२४)—खड़ीबोलीमें छाल।

छडा विद्युत् (३।८४)—खड़ीबोली छटा, राजस्थानी छडा।

छेलओ छागः (३।३२)—भोजपुरी और व्रजभाषामें छेर।

जोण्णलिआ धान्यम् (३।५०)—व्रजभाषा जुणरी, जुनरी, जोणरी, भोजपुरी जनरी, राजस्थानी जोणरी या जुणरी और अंगिका जोणरा या जनेरा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जोवारी धान्यम् (३।५०)—व्रजभाषामें जुआर।

झंखरो शुष्कतरु: (३।५४)—हिन्दी झंखर, झाड़-झंखार मुहावरा प्रसिद्ध है।

झडी निरन्तरवृष्टि: (३।५३)—व्रजभाषा, खड़ीबोली, भोजपुरी और राजस्थानीमें झड़ी या झरी, बँगला तथा अंगिका झऽड़।

झमालं इंद्रजालम् (३।५३)--हिन्दी झमेला।

झलुसिअं दग्धम् (३।५६)—हिन्दी झुलसना।

झाडं लतागहनम् (३।५७)--हिन्दी झाड़।

झुट्टं अलीकम् (३।५८)—हिन्दीकी सभी बोलियोंमें झूठ।

टिक्कं तिलकम् (४।३)--हिन्दी टीका, अंगिका टिक्का।

टिप्पी तिलकम् (४।३)—हिन्दी टिपकी या टिप्पी।

ठल्लो निर्धनः (४।५)--हिन्दी ठल्ला।

डलो लोष्ठम् (४।७) हिन्दी डली, ढेला, डेला।

डाली शाखा (४।९)—हिन्दी डाली।

डोला शिविका (४।११)--हिन्दी डोला।

ढंकणी पिधानिका (४।१४)—हिन्दी ढकना।

ढेंका कूपतुला (४।१७)--हिन्दी ढेंका या ढेंकुल।

ढेंकी बलाका (४।१५)—हिन्दी ढेंकी—चावल कूटनेवाली।

तग्गं सूत्रम् (५।१)--हिन्दी तागा।

दअरी सुरा (५।३४)--हिन्दी दारू।

पलही कर्पासः (६।४)—व्रजभाषा पेहला, पैला।

पूणी तूललता (?)--यन्मध्यात्सूत्रतन्तुर्निस्सरति—हिन्दी पूनी या पौनी।

पोट्टं उदरम् (६।६०)--हिन्दी पेट।

पोत्तओ वृषणः (६।६२)--हिन्दी पोता या फोता।

बोक्कडो छागः (६।९६)- -व्रजभाषा बोकरा; हिन्दी बकरा।

भाओ ज्येष्ठभगिनीपतिः (६।१०२)—बुंदेलीमें भऊआ।

मम्मी, मामी, मातुलानी (६।११२) – हिन्दीकी सभी बोलियोंमें मामी तथा प्यारकी बोलीमें मम्मी।

सोहणी सम्मार्जनी (८।१७)--हिन्दीमें सोहनी।

हड्डम् अस्थि (८।५९)—हिन्दीमें हड्डी, हाड़।

हरिआली दूर्वा (८।६४)—हिन्दीमें हरियाली।

विशेष देशी शब्द

इस कोशमें कुछ ऐसे शब्द भी संकलित हैं, जिनके समकक्ष अन्य किसी भाषामें उन अर्थोंको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द नहीं हैं। यथा **चिच्चो** (३।९) शब्द चिपटी नाक या चिपटी नाकवालेके लिये; **अज्झेलो** (१।७) शब्द दूध देनेवाली गायके लिए, **जंगा** (३।४०) गोचरभूमि Pasture land के लिए, **अण्णाणं** (१।७) शब्द विवाहके समय वरपक्षकी ओरसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वधूको दी जानेवाली भेंटके लिए; **अंगुट्ठी**(१।६) शब्द शिरगुन्थीके लिए; **अणुवज्जिअं**(१।४१), जिसकी सेवा-शुश्रूषा की जाती है, उसके लिये; **कक्कसो** (२।१४), दधि और भात मिलाकर खाने या मिले हुए दही-भातके लिए; **उलुहलिओ** (१।११७) शब्द उस व्यक्तिके लिए प्रयुक्त होता है, जो कभी तृप्तिको प्राप्त नहीं होता; **परिहारिणी** (६।३१) शब्द उस भैंसके लिये आया है, जो भैंस पाँच वर्षोंसे प्रजनन नहीं कर रही है; **अहिविण्ण** (१।२५) शब्द उस स्त्रीके लिये आया है, जिसके पतिने दूसरी स्त्रीसे विवाह किया है; **आइप्पणं** (१।७४) शब्द उत्सवके समय घरको चूनेसे पुतवानेके अर्थमें; **पड्डो** (६।१) पहले-पहल बच्चा देनेवाली गायके लिये एवं **पोउआ** (६।६१) शब्द सूखे गोबरकी अग्निके लिये आया है। यहाँ इस प्रकारके शब्दोंकी एक छोटी-सी तालिका दी जाती है—

अयाली (१।१३)—मेघोंसे घिरे हुए दुर्दिनके लिए।

अलयलो (१।२५)—बलवान् जबरदस्त साँड़के लिये।

अल्लत्थं (१।५४)—पंखेको गीलाकर—पानीसे भिगोकर हवा करनेके अर्थमें।

अवअच्छिअं (१।४०)—दाढ़ी बनवाकर साफ किए हुए मुँहके लिए।

अवअच्छं (१।२६)—अधोवस्त्र, विशेषतः जाँघियाके अर्थमें, पेटीकोट या अन्डरवियर।

अइरो (१।१६)—गाँवके मुखियाके लिए।

अइगयं (१।५७)—सड़कके पीछेके हिस्सेके लिए।

अदूरजुवई (१।४८)—नववधू—तत्काल विवाहित युवतीके लिए।

अक्कसाला (१।५८)—कुछ-कुछ उन्मत्त हुई स्त्रीके अर्थमें।

अगंडिगेहो (१।४०)—यौवनोन्मत्त युवकके अर्थमें।

अवलं (१।५३)—घरका पश्चिमी भाग।

अच्छिविअच्छी (१।४१)—परस्पर आकर्षणके अर्थमें।

अब्बुद्धसिरी (१।४२)—इच्छा या कल्पनासे अधिक फलकी प्राप्ति।

आराडी (१।७५)—चित्रोंसे सजाया गया।

उच्छुअ (१।९५)—भय या आतंकपूर्ण की गई चोरी।

उच्छडिअं (१।११२)—चोरीका माल।

उच्छुंडिओ (१।१३५)—बाण या तलवारका घाव।

उज्झरिअं (१।१३३)—कानेका दृष्टिपात।

उण्णुइओ (१।१३२)—आकाशकी ओर मुख किए हुए कुत्तेका शब्द।

उद्दं (१।१२३)—जलजन्तु।

उड्डुणो (१।१२३)—बूढ़ा बैल।

उव्वहणं (१।११०)—अत्यधिक आवेश या क्रोध।

कुप्पढो (२।३६)—गृह-समुदायाचार या घरेलू नियम-प्रतिनियम।

कूवो (२।६२)—चोरी किये गये या लूटे गये धनका पीछा करना।

खुण्णं (२।७५)—परिवेष्टित।

छप्पंती (३।३३)—एक धार्मिक नियम, जिसमें कमलका चित्रण किया जाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झंखरो (३।५४)--सूखा पेड़।

झसो (३।६१)—छैनीसे काटा गया।

झोटी (३।५९)—कीमती भैंस।

झेरो (३।५९)—पुराना घण्टा।

णीसंपायं (४।४२)—नष्ट हुआ पुराना जनपद या नगर।

तवणी (५।१)—खानेके योग्य वस्तु।

थूहो (५।३२)—प्रासादशिखर।

दुम्मइणी (५।४७)--लड़ाकू स्त्री।

धण्णाउसो (५।५८)—वाचनिक आशीर्वाद—जो आशीर्वाद हृदयसे नहीं, केवल वचन से दिया जाय।

धम्मओ (५।६३)—हाथका घाव अथवा चण्डी देवीके लिये उपस्थित की गई पुरुष-बलि।

पंथुच्छुहणी (६।३५)—श्वशुरके घर प्रथम बार लाई गई बहू।

पद्धारो (६।१३)—पूँछ कटा हुआ।

फसलिओ (६।८३)—सजाया या सँवारा गया।

सामंती (८।२३)—समतल भूमि।

हंजओ (८।६१)—शरीर छूकर की गई शपथ।

भिन्नार्थक तत्सम शब्द

इस कोशमें ऐसे भी संस्कृतके तत्सम शब्द संकलित हैं, जो संस्कृतकी अपेक्षा भिन्नार्थक हैं। यहाँ कुछ शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं—

उच्चं नाभितलं (१।८६)—संस्कृतमें उच्च शब्दका अर्थ ऊँचा, उन्नत और श्रेष्ठ है पर इस कोशमें नाभिकी गहराईके लिये आया है।

उच्चारो विमलः (१।९७)—संस्कृतमें उच्चार शब्दका अर्थ उच्चारण, कथन, विष्ठा और मल है, पर इस कोशमें निर्मल अर्थ है।

कलंको वंशः (२।८)—संस्कृतमें कलंक शब्दका अर्थ चिह्न, धब्बा, दोष, अपवाद, दुर्नाम, लांछन आदि हैं, पर इस कोशमें बाँसके अर्थमें आया है।

कमलो पिठरः (२।५४)—संस्कृतमें कमल शब्द जलमें उत्पन्न होनेवाले सुन्दर पुष्पके अर्थमें प्रसिद्ध है, पर इस कोशमें इसका अर्थ बरतन है।

कली शत्रुः (२।२)—संस्कृतमें कलि शब्द कलियुग, बहेड़ेका वृक्ष, शूरवीर और विवादके अर्थमें प्रयुक्त हैं; पर इस कोशमें शत्रु अर्थ है।

कुमारी चंडी (२।३५)—संस्कृतमें कुमारी शब्द अविवाहित कन्या, बारह वर्षकी कन्या, घी-कुआर, मेदिनीपुष्प, बड़ी इलायची, नवमल्लिका, चमेली, दुर्गा, पार्वती और सीताके अर्थमें आया है; पर इस कोशमें शुद्ध नारीके अर्थमें प्रयुक्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमो शोकः (५।११)—संस्कृतमें तम शब्द अन्धकार, राहु, मोह और नरक आदि अर्थोंमें प्रयुक्त है; पर इस कोशमें इसका अर्थ शोक है। सम्भवतः, लक्षणा शक्तिसे ही इसका यह अर्थ कोशकतारने ग्रहण किया है।

तलं ग्रामेशः (५।१९)—संस्कृतमें तल शब्दका अर्थ मध्यदेश, पेंदी, पाताल, स्वभाव, जंगल, गड्ढा, घरकी छत, थप्पड़, तमाचा, ताड़का वृक्ष, अधोभाग, पृष्ठदेश, मूलदेश, हथेली, पैरका तलवा, तलवारकी मूठ, गोह, कलाई, पहुँचा, एक नरकका नाम, सहारा, आधार, जलके नीचे की भूमि, वक्षःस्थल, महादेव, सात पातालोंमेंसे पहला पाताल आदि हैं; किन्तु इस कोशमें ग्रामाधिपति या गाँवका मुखिया है।

पलं स्वेदः (६।१)—संस्कृतमें पल शब्दका अर्थ मांस, क्षण, घटीका साठवाँ भाग, धानका पुआल, चलनेकी क्रिया, छल, तुला, तराजू, एक तौल, जो चार कर्षके बराबर होती हैं, मूर्ख, पलक आदि हैं; किन्तु इस कोशमें पल शब्दका अर्थ पसीना है।

माला ज्योत्स्ना (६।१२८)—संस्कृत माला शब्द श्रेणी, पंक्ति, आवलि, गलेमें पहनने का पुष्पोंका हार, गजरा, जप करनेकी माला, एक प्रकारकी दूर्वा एवं उपजाति छन्दका एक भेदके अर्थोंमें आया है; पर इस कोशमें चाँदनीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

वल्लरी केशः (७।३२)—संस्कृतमें वल्लरी शब्द वल्ली, मंजरी, लता और एक प्रकारका बाजा, इन अर्थोंमें प्रयुक्त है; पर इस कोशमें केशके अर्थमें आया है।

इस प्रकार, संस्कृतके तत्सम शब्दोंके अर्थ बिलकुल बदले हुए हैं। इन अर्थोंके आधार पर उक्त शब्दोंकी सुन्दर आत्मकथा उपस्थित की जा सकती है।

संस्कृति-सूचक शब्द

इस कोशमें संस्कृति-सूचक बहुत-से शब्दोंका संकलन किया गया है। इन शब्दोंके आधार पर उस कालकी रहन-सहन और रीति-रिवाजोंका लेखा-जोखा उपस्थित किया जा सकता है। उदाहरणके लिए कुछ शब्द उपस्थित किये जाते हैं।

केश-रचनाके लिए हेमचन्द्रने इस कोशमें कई प्रकारके शब्द प्रयुक्त किये हैं। उन शब्दोंके अवलोकनसे अवगत होता है कि उस समय केशविन्यासके कई तरीके प्रचलित थे। सामान्य केश-रचनाके लिए **बब्बरी** (६।९०); रूखे केश-बन्धके लिए **फुंटा** (६।८४); केशोंका जूड़ा बाँधनेके लिए **ओअग्गिअं** (१।१७२); सीमान्त सुन्दर ढंगसे सजाये गये केश-विन्यासको **कुंभी** (२।३४); रूखे बालोंको साधारण ढंगसे लपेटनेके अर्थमें **दुमंतओ** (५।४७); सिर पर रंगीन कपड़ा लपेटनेके अर्थमें **अणराहो** (१।२४); एवं किसी लसदार पदार्थको लगाकर सिरके अवगुंठनके अर्थमें **णीरंगी** (५।३१) शब्द आया है। ये शब्द इस बातको प्रकट करते हैं कि उस समय समाजकी रहन-सहनका स्तर पर्याप्त उन्नत था। केश-विन्यासको समाजमें महत्त्व दिया जाता था।

आचार्य हेमचन्द्रने आषाढ़ मासमें गौरी-पूजाके निमित्त होनेवाले उत्सव-विशेषका नाम **भाउअं** (६।१०३); श्रावणमासमें शुक्लपक्षकी चतुर्दशीको होनेवाले उत्सव-विशेषके लिए **वोरल्ली** (७।८१); भाद्रपदमासमें शुक्लपक्षकी दशमीको सम्पन्न होनेवालेके लिए **णेडुरिआ**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४।४५), आश्विन कृष्णपक्षमें सम्पादित होनेवाले श्राद्धपक्षके लिए **महालवक्खो** (६।१२७); आश्विनमासमें शरत्पूर्णिमा-जैसे महोत्सवके लिए **पोअलओ** (६।८१); इस उत्सवमें पति पत्नीके हाथसे पूओंका भोजन करता था; माघ महीनेमें एक प्रकारका ऐसा उत्सव सम्पन्न किया जाता था; जिसमें ऊखकी दतवन की जाती थी, इस उत्सवके लिए **अवयारो** (१।३२); वसन्तोत्सवोंके लिए **फग्गू** (६।८२) एवं नवदम्पति परस्पर एक-दूसरेका नाम लेते थे, उस समय जो उत्सव सम्पादित किया था, उसके लिए **लयं** (७।१६) शब्दका प्रयोग किया है। इन उत्सववाची शब्दोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि उस समयका समाज अपना मनोरञ्जन करनेके लिए नाना प्रकारके उत्सव सम्पन्न करता था। **पोआलओ**, **फग्गू** और **अवयारो** उत्सव सार्वजनीन थे। इनमें सभी स्त्री-पुरुष समान रूपसे भाग लेते थे।

रीति-रिवाज-सूचक शब्दोंकी भी इस कोशमें कमी नहीं है। **एमिणिआ** (१।१४५) शब्द उस स्त्रीका वाचक है, जो अपने शरीरको सूतसे नापकर उस सूतको चारों दिशाओंमें फेंकती है। **आणंदवडो** (१।७२) शब्द आया है, इसका अर्थ है कि जिसका विवाह कुमारी अवस्थामें हो जाय, वह स्त्री जब प्रथम बार रजस्वला हो, उसके रजोलिप्त वस्त्रको देखकर पति या पतिके अन्य कुटुम्बी जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह आनन्द इस शब्दके द्वारा व्यक्त किया गया है।

इसमें कुछ खेलके वाचक शब्द भी संकलित हैं। इन शब्दोंसे उस कालके मनोरंजनोंके साधनों पर सुन्दर प्रकाश पड़ता है। यहाँ उदाहरणार्थ दो-एक खेलको ही लिया जाता है। जो खेल आँखोंको थका देनेवाला या आँखोंको अतिप्रिय लगनेवाला होता था, उसके लिए **गंदीणी** (२।८३) शब्द आया है। लुका-छिपीके खेलके लिए **आलुंको** (१।१५३); ऊना-पूरा—मुट्ठीमें पैसे लेकर अन्य व्यक्तिसे पैसोंकी संख्या सम है या विषम, यह पूछना और उसके उत्तर पर जय-पराजयका निर्णय करना, इस प्रकारके खेलके लिए **अंबेट्टी** (१।७) प्रयुक्त होता है। रीति-रिवाज-सूचक शब्दोंकी एक तालिका दी जाती है।

अज्झोल्लिओ क्रोडाभरणे मौक्तिकरचना (१।३२)—गलेके हारमें अथवा वक्षःस्थलके आभूषणमें मोतियोंका लगाना।

अद्धजंघा मोचकं पादत्राणं (१।३३)—एक प्रकारका जूता, जो आजकलके चप्पलके समान होता था।

अंबोच्ची पुष्पलावी (१।९)—पुष्प-चयन करनेवाली मालिन।

अवअच्छं कन्थावस्त्रम् (१।२६)—कटि पर पहना जानेवाला वस्त्र; पुरुषों के लिए धोती; स्त्रियों के लिए घग्घर—घाँघरा। प्रयोग की दृष्टि से इस शब्द का अर्थ जाँघिया या पेटीकोट है।

अवरेडआ मद्यपरिवेषणभाण्डम् (१।७१)—शराब वितरित करने का बरतन।

अण्णाणं विवाहवधूदानम् (१।७)—विवाह के अवसर पर बहू को उसके पति की ओर से दिया गया उपहार।

अंबसमी (१।३७)—रात में रखा भोजन; बासी भोजन के अर्थ में।

अइराणी (१।५८)—इन्द्राणी-व्रत की आराधना करनेवाली नारी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवडओ (१।२०, १।५३)—घासका आदमी बनाकर खड़ा करना, विजुका। खेत में जंगली पशुओं या हरिण आदिको डरानेके लिए तृणकी पुरुषाकृति खड़ी करना।

अवडक्किओ (१।४७)—किसीकी हत्या कर कुएँमें डाल देना।

अवहडं (१।३२)—धान कूटनेके लिए काममें लाया जानेवाला मूसल।

अवयासिणी (१।४६)—पशुओंको नाकमें पहनाई जानेवाली नाथ।

आयासलवो (१।७२)—पक्षियोंको बन्द रखनेके लिए बनाया गया पिंजड़ा।

आयावलो (१।७०)—अज्ञानपूर्वक तपश्चरण करना।

इब्भो (१।७९)—धनिक व्यक्ति, जिसका समाजमें सम्मान रहता था।

इल्लो (१।८२)—दरिद्र व्यक्ति, गरीबीके कारण जिसका समाजमें कोई स्थान न हो और सम्भ्रान्त लोग जिसे सदा तिरस्कृत करें।

आमलयं (१।६७)—अलंकरण करनेका घर (Dressing room)।

आसंगो (१।६६)—निवास-घर।

इरिआ (१।८०)—कुटी, घास-फूसकी बनाई गई कुटिया।

उआलो (१।९०)—सोनेके बने कर्णाभूषण।

उल्लरयं (१।११०)—कौड़ियोंके बने आभूषण।

उच्छुरणं (१।११७)—गन्नेका बगीचा, इस अर्थके लिए **उच्छुअरणं** (१।११७) भी आया है।

उत्तरणवरंडिआ (१।१२२) समुद्रनद्यादौ जलतरणोपकरणं प्रवहणादि—समुद्र या नदी पार करनेके लिए निर्मित स्टीमर या जहाज।

खुपा (२।७५)—घासका बना छप्पर।

घरोलं (२।१०६)—घरमें तैयार किये गये विशेष भोजन के लिए।

घडिअघडा (२।१०५)—गोष्ठीके अर्थमें घडी और असेम्बलीके अर्थमें घडिअघडा शब्द प्रयुक्त है।

चडुलातिलयं (३।८)—स्वर्णजटित रत्नहार। इस हारमें रत्नोंकी प्रधानता रहती थी और सोना थोड़ा-सा लगा रहता था।

चिरिक्का (३।२१)—पानी भरनेके लिए चमड़ेका बना बरतन—बैल या भैंसके चमड़ेका बना हुआ मोट।

झज्झरी (३।३४)—एक छड़ी, जिसे चाण्डाल अपना अस्पर्शत्व सूचित करनेके लिए रखता था।

जंबुलं (३।४१)—शराब रखने का बरतन और शराब नापनेवाले बरतनके लिए **टोक्कणं** (४।४) आया है।

टेंटा (४।३)—जिस स्थान पर जूआ खेला जाता था, उस स्थानके लिए टेंटा और जूआ खेलनेके लिए **आफरो** (१।६३) शब्द आया है। जूआके खिलाड़ियोंके लिए **डंभिओ** (४।८) शब्द प्रयुक्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

झोडप्पो (३।५९)—चनेके भूसेके लिए ।

डुंघो (४।११)—नारियलकी बनी बालटी या डोल ।

डोओ (४।११)—लकड़ीका चम्मच ।

डोंगिली (४।१२)—पानदान; यह पानदान मूल्यवान् होता था और इसके ऊपर नक्काशीकी जाती थी । इस शब्दका प्रयोग ताम्बूलकरङ्कवाहिनीके अर्थमें भी आया है ।

णिद्धमणं (४।३९)—घरसे गन्दा पानी बाहर निकालनेके लिए बनी हुई नाली अथवा घरमें बनी हुई पानी की नहर । दीर्घिकाके अर्थमें इस शब्द का प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है । हेमचन्द्रके उदाहरणसे भी दीर्घिका अर्थ प्रकट होता है ।

णोसारो (४।४१)—एक बड़े पण्डाल केअर्थ में ।

तणेसी (५।३)—कुसमयके लिए इकट्ठाकी गई घास का ढेर ।

पंथुच्छुहणी (५।३५)—श्वशुरके घरसे पहली बार लाई गई बहू । जो पिताके घरसे बहूको पतिगृहमें ले जाता है, उसके लिए **पाडिअज्झो** (६।४३) शब्द आया है ।

पिसुली (६।४७), **पिछोली** (६।४७)—बाँसुरीके लिए । सुन्दर और श्रेष्ठ बजनेवाली बाँसुरीके लिए पिहुलं (६।४७) शब्द आया है । **वाली** (५।५३) भी इसी अर्थमें प्रयुक्त है ।

पोइओ (६।५३)—पोतकी, पोई साग । भावप्रकाशके अनुसार यह साग नींद लानेवाला है ।

पाडुच्ची (६।३९) घोड़े का साज ।

वण्णयं (७।३७)—चन्दन-चूर्ण । धनिक लोग ग्रीष्म ऋतुमें इसका उपयोग करते थे । शरबत भी इसका बनाया जाता था ।

वहू (७।३१)—सुगन्धित द्रव्योंका बनाया गया चूर्ण या पाउडर । सुगन्धित लेपके अर्थमें **चिविडा** तथा वहू दोनों शब्द व्यवहृत हैं ।

इस प्रकार, यह कोश भाषा, साहित्य और संस्कृति-विषयक शोध और अध्ययनकी सामग्रीसे सम्पन्न है ।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सक्कय-अज्झयणत्थं पाइय-अज्झयणस्सावस्सिगदा उवजोगिदा य

सक्कयभासाए तदसाहित्तस्स भासासत्थकेरं पउत्तिमूलगं अज्झयणं पाइयभासाअ-तदवाङ्मयस्साज्झयणाभावे अपुण्णमेव मणंते। वत्थुदो सक्कअं पाइअं य भासादुगं णत्थि, पच्चुलं एगाअ एव भासाए रूवदुयं अत्थि। भिण्णत्तं दु एदहमेत्तमत्थि, जओ एगाएकत्थभासाअ अहियगुणा उवलब्भंते, विइयाए लिहिदभासाए माणगभासाए य पउरा गुणा मिलंति। पाईण-भारदीय-अज्जभासाए उप्पत्ति-संबंधम्मि वियारेण जाणइ जओ एगा एव पाईण-जणभासा आसी, जीए सक्कारं किच्चा छांदस-साहित्तभासाए रूवणिम्माणं जादं। अत्थेदं तादपज्जमत्थि जओ जीए छांदसभासाए वेदिगवाङ्मयस्स पणयणं जादमत्थि, तीए लोगभासाए अणेगा सोत्तआ मिलिदा संति। भारदे पाईणकाले चउण्णां निसाद-दविड-किराद-अज्ज-जाइणं जणा णिवसीअ। एदेहिं सव्वेहिं मिलित्ता भारदीयजणजीवणे तदसक्कइए य णवरूवणिम्माणं किदं, इत्थत्त णत्थि संदेहो। डॉ० सुनीतिकुमार चटुर्ज्या लिहिदमाणं जओ—"औष्ट्रिक और द्रविडों द्वारा भारतीय संस्कृतिका शिलान्यास हुआ था और आर्योंने उस आधारशिलापर जिस मिश्रित संस्कृति का निर्माण किया, उस संस्कृतिका माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्य भाषा बनी।"[1] अतएव फुडं एतद अत्थि जओ छांदस-सक्कयम्मि अणेयविभासाणं बीजाणि वट्टमाणाणि संति। रिगवेदस्स भासा तक्कालीणं पुरोहाणं रायाणं य भासा अत्थि, परं अथव्व-वेदस्स भासाए जणभासाअ रूवाणि लब्भंते। अदो भासा इयं सिट्टताए रूढिवादस्स य सीमाए पिहं अत्थि इदि जणेहिं अणुमोदिदं।[2]

अज्जेसु सत्तसिंधुए मज्झपदेसादो अग्गे पयादेसु ताणं भासा दविडभासाए मुंडावग्गस्स य भासेहिं पभाविदा आसी इदि अणुमिज्जइ अम्हाहिं। अणेण सिज्झइ जओ झुणि-गठनदिट्ठीए पदरयणादिट्ठिए य तीसे अणेगविसेसाणं मिस्सणं होहीअ। मुद्धण्ण'ट'वग्गीयझुणीणं सामासिगपउत्तीए पच्चयसंजोगकारणादो संलिट्ठरूवाणं वियासो पाईणभारदीयाज्जभासाए अज्जाणं वित्थारादो पच्छा एव जादो। भासाए एत्थरूवं वत्थुदो जणभासाए आसी, तधा अणया एव साहित्तिगछांदसभासाए रूवसंघडणं होही। अम्हाणं एतअकहणपुट्ठि छांदसभासाए पज्जुदेहिं—विकट-कीकट-निकट-दंड-अंड-पिठ-घट-क्षुल्लादिसद्देहिं होदि। एताणं वात्थविग सद्दरूवाणि कमसो विकृत-किंकृत-निकृत-दंद्र-अंद्र /प्रथ, ग्रन्थ क्षुद्रादि पमाणाणि संति। भासाए एतअ-जणरूवं वत्थुदोकत्थपाइयभासाए अत्थि। डॉ० पी० डी० गुणे महोदयो[3] सगीए—"An

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, सन् १९५७ ई०, पृ० १५।

२. डॉ० प्रबोधबेचरदास पंडित—प्राकृत भाषा—वाराणसी, प्रथम संस्करण, पृ० १३।

३. An Introduction to comparative philology, second Impression 1950 page 163।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Introduction to comsarative philology" गंथे लिहिदमंतो अत्थि—"पाइअभासाणं अत्थित्तं णिच्छिदरूवेण वेदिगबोल्लीणं सह वट्टमाणो आसी। एदेहिं पाइएहिं परवत्तिसाहित्तिगपाइयभासाणं विगासो जादो। वेदेसु पंडिदाणं भासाहिं सह एगा अहिया विगसिदा लोअभासा आसी। अमूए भासाए मज्झकालीण पाईण भारतीयबोल्लीए पमुक्खविसेसदा वट्टमाणा परिलक्खदि।"

अदएव संक्खेवेण एतद मणंते जओ छांदसभासाए भासासत्थकेरं अज्झयणत्थं पाइयभासा साहित्तस्साज्झयणं अवेक्खिदं ण, पच्चुलं अणिवारियं अत्थि। पाइयसरूवाजाणे छांदसस्स सरूवण्णाणं कयावि कधमवि ण संभवदि। जओ छांदसभासाए < पश्चात् ठाणे पश्चा (अथर्व० १०।४।११, शतपथ १।१।२५), युष्मान् इच्चस्स ठाणे युष्मा (वाजसनेयी सं० १।१३।१; शतपथ १।२।९) उच्चात् इच्चस्स ठाणे उच्चा (तैत्तिरीय सं० २।३।१४) एवं नीचात् इच्चस्स ठाणे नीचा (तै० सं० १।२।१४) पजोगा उवलब्भंते। एत्थ दुइ ठिदि वट्टदि, पढमाए ठिदिए अंतविंजणवण्णस्स लोवो होदि तधा दुइए अंतविंजणस्स ठाणे सुरपजोगो हवदि। फुडो इयं पउत्ति पाइअभासाए अत्थि, अस्सा पउत्तीए पवेसो छांदसभासाए होहीअ।

पाइयभासाए विजादीयसंजुत्तवण्णेसु एगवण्णस्स लोवं विहाय पुव्ववत्ति रस्ससुरो दीहरो हवदि। एसा पउत्ति वेदिगसक्कयम्मि वि पायेण दिक्खदि। जधा-निश्वासः < नीसास, कर्त्तव्यम् < कातव्वं, दुर्लभः < दूलह, दुर्दुभ < दूडह, दुर्नाशः < दूणास, इच्चादि।

सुरभत्तिपजोगा वि पाइयसरिसछांदसभासाए उपलब्भंते—जधा–तन्वः < तनुवः (तै० आ० ७।२२।१), स्वः < सुवः (तै० आ० ६।२।७), स्वर्गः < सुवर्गः (तै० आ० ६।२।७, तै० सं० ४।२।३, ऐ० ब्रा० १।११); रात्र्या < रात्रिया, सहस्त्र्यः < सहसिरियः, इच्चादि।

छांदसभासाए पदरयणाए अज्झयणं पाइअ-अज्झयणं विणा अपुण्णमत्थि। छांदसे तइया बहुवचणे 'देव' सद्दस्स देवेभिः (ऋ०वे० १।१।१) तधा पढमाबहुवचणे देव-जनसद्देसु कमसो देवाः, देवासः (ऋग्वेद १।३।७) तधा जनाः, जनासः (ऋग्वेद इन्द्रसूक्त) रूवाणि दिस्संति, एताणि रूवाणि पाइयभासाए वि उवलब्भंते। एवमेव चउत्थीए विभत्तीए किदे छट्ठीए विभत्तीए तधा छट्ठीए विभत्तीए किदे चउत्थीए विभत्तीए पजोगा वि छांदसस्स मूलपउत्ति पाइअभासाए अत्थि दि सुट्ठुपयारेण सिद्धदि। एवमेव पढमा एगवयणे अगारांतसद्दस्स ओगारादेसो पाइयतच्चपरिण्णाणाभावे जहत्थरूवेण विसलिट्ठिदुं ण सक्कदि। जधा—सः चित् < सोचित् (ऋक् १।१९१।११), संवत्सर अजायत < संवत्सरो अजायत (ऋग्वेद १०।१९०।२)। वेयागरणेण पाणिणा सक्कयभासाए इमीएं पउत्तीए णियमणाय "दृशि च" (अ० ६।१।११४) तथा अतो रोरप्लुतादप्लुते (अष्टा० ६।१।११४) इदि सुत्तदुगं रचिदं। वत्थदो एतअसुत्तदुगस्स मूलमुद्देशो पढमाविभत्तिबहुवचणे ओगारांतपजोगाणं साहुत्तं पदस्सणं अत्थि। अतएव फुडं भवदि जओ पाणिणिणा ओगारांतविभत्तिचिण्हस्स सक्कयावरणदाणं किदमत्थि। विसग्गसंधीए कइवयणियमा वि सक्कयभासाए पाइअपउत्तिणियमणत्थं लिहिया संति। एवं सक्कयपाहाणखंडेसु पाइयभासाए महुरजलधारा पवाहिदा परिलक्खदि। वेयागरणेहिं पाइअमूलपउत्तिअणुसासणत्थं सद्दाणं एआरिसरूवेण णियमणं किदं, जेण पाइअ-सद्दाणमुवरि सक्कयभासाए आवरणं जादं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छांदसभासाए कइवयपजोगा पाइयसरिसा वट्टंते। जधा—इन्द्रावरुणा (ऋग्वेद १।१७।७; १।१७।८); मित्रावरुण (ऋग्वेद ५।६२।२, ५।६३।२); द्यावापृथिवी (ऋग्वेद ५।६२।२, ६।१८।१५) इदि। उत्तरूवाणं अज्झयणं जथत्थरूवेण पाइयभासापरिण्णाणेण विणा ण संभवदि। सक्कयसद्दाणुसासणेहिं 'ण' सिज्झयणत्थं "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (अष्टा० ८।४।१) सुत्तस्स णिम्माणं किदं। अणेण सुत्तेण दंतनकारादो पुव्वं जइ तीए सद्दे ऋ, र, ष वण्णाणं ठिदि आसी, तो दंतनगारस्स मुधण्ण णगारो भवदि। एयमि णियमे अब्भंतरपवेसेण जाणदि जओ पाईणम्मि मज्झकालीणम्मि अज्जभासाए इयं णत्तपउत्ति दविडपभावादो आगदा तधा इयं पउत्ति पाइयभासाए सरूवभूदमत्थि। वत्थुदो मुज्झण्णझुणीणं अत्थित्तं अज्जभासाए दविड-परिवारसंप्पकेणेव आयादं। इदमेव कारणं अत्थि जओ भारोपीयपरिवारस्साण्णकस्सावि भासाए एतअझुणीणं अत्थित्तं ण विज्जदि।

छांदसभासाए 'र' इच्चस्स 'ल' झुणिरूवे विगासो लभंते, एस लगारो दंतझुणिणा सह मिलिदूण मुज्झण्णभावं गदो, तेण 'ळ' रूवे परिवत्तितो अत्थि। अयं पच्छिमपाइयस्स पभावो विज्जइ। तत्थं एत्तमित्तं अत्थि जओ उत्तरभारदं समतलखेत्तस्स पदेसादो पायो पच्छिमादो पुव्वं तधा कयाचिओ पुव्वादो पच्छिमं दिसमागदाणं जणाणं भासाए पयलिदा रूवविसेसा सरलताए परोप्परं पविट्ठंदि। अदो सक्कयस्स पुण्य-पण-कर्ण-निपुण-गण-तूण-कुठार-वेणी-वेणु-पभदिसद्दाणं जथत्थ परिण्णाणं पाइय-पकिदीए णाणं विणा संभवं णत्थि। एवमेव 'शिथिल' सद्दे इकारठिदि तधा रेफस्स ठाणे लाएसो पुव्वीयपाइयपभावं पमाणीकरोदि। पाणिणिणा सक्कयस्स ऋकारांतसद्दाणं णियमणाय "ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाञ्च" (अष्टा० ७।१।९४) सुत्तं लिहिदं। अणेण णियमेंण ऋकारांतसद्देसु पढमा-एगवचणे ऋकारस्स ठाणे अनंगादेसो हवदि। अहुणा विचारणीयी पण्हो एसो अत्थि जओ पाणिणिणा अण्णवेयागरणेहिं य कहं एदं अणुसासणं किदं एतदणियमस्स तत्थोदग्घाडणेण इदमाआदि जओ पाइयभासाए अ इ उ इमे तिण्णि एव मूलसुरा संति। अण्णा सुरा संजोजिणो विगारिणो वा हवंति। अदएव सद्दांते तेसिं अवसेसो मूलपकिदीए लोवक्कप्पो अत्थि। तेण सुरभाराछुण्णताए 'ऋ'गारठाणे अनंगादेसो विहाय अगारस्स विहाणं किदं।

सक्कयम्मि 'भ' झुणिठाणे जत्तत्थ 'ह' झुणि उवलब्भदि। जधा—√गृभ् जग्राह √भृ भरति, हरति सरिसाणि रूवाणि मिलंति। एरेसिं सक्कयरूवाणं अज्झयणं पाइयरूवाणं अज्झयणेण विणा ण संभवदि। 'भ' ठाणे 'ह' पउत्ति मूलदो पाइयस्सेवात्थि।

सक्कयम्मि आत्त, रोम-लोम, मेट् (भ्वादिगणीय), मोकम् पभिद एरिसा सद्दपजोगा एताणं साहणत्थं वेयागरणेहिं महापयत्तो किदो, परं एताणं जत्थत्थं साहुत्तं ण जादं। अतएव बलपुव्वं कधेमि जओ सक्कयम्मि एरिसा कियंता सद्दा पदरूवाणि य संति, जे मूलदो पाइयभासाए एव दिस्संदि, परं ताणं सक्कयगरणं विभत्तिसंजोगेण पच्चयसंजोगेण वा साहुत्तं पदस्सिदं। एरिसेसु सद्देसु पदरूवेसु य वट < वृतः; नापित < स्नापितं; लांछनम् < लक्षणम्; पुत्तल < पुत्र + लः; भट्टारक < भर्ता, भट < भृतः, मनोरथ < मनोऽर्थ पमुखा संति। "मारि-बेंगालमैरेया" त्ति त्तिण्णि सद्दा वि पाइअभासाए संति। एताणं पाइयमूलसद्दा मारिस-इंगाल-मइरेय त्ति संति; परं एदाणं सक्कयगरणं विहिदं। जइ वि मारिस सद्दस्स विगासो सक्कय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मादृशात्' संभवदि, परं इयं संभावणा भममूला अत्थि। जओ अयं सद्दो आदरत्थे संबोहणे पउंज्जइ। सक्कयणाडगेसु अस्स पजोगो पाइयभासादो णिग्गदं। सिरिहरसेण—"वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे (नैष० १।९) पज्जे 'इंगाल' सद्दस्स ववहारो किदो। एवं पयारेण 'मइरेय' सद्दस्स सक्कय 'मदिरा' सद्देण सह संबंधो पचीयदे, परं मूलदो अयं सद्दो पाइय-सद्दो अत्थि। सिसुवालवहकव्वे महाकइमाघेण "पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद् रोचनालोहितेन" (माघ ११।५१) पज्जंसे अस्स सद्दस्स पजोगो किदो। अदो संक्खेवेण वक्खदे जओ सक्कयसद्दाणं झुणीणं अज्झयणाय पाइय-अज्झयणस्सादीव आवसिगदा उवजोगिदा य संति।

उत्तरवेदिगकाले विगसिदा 'उदिच्चविभासा' पाइयभासाए अहिगा णियडा अत्थि। महरसि पाणिणि इमीए एवोदिच्चविभासाए आहारं घेत्तूण साहित्तिगपरिसक्किदरूवस्स णि माणत्थं विआरणस्स रयणा किदा।

केसिंचि विदुषां अभिमदमत्थि जओ महाभारदस्स बालमीगिरामायणस्स य भासा पाइयपउत्तीए अहियसमीवो अत्थि। आत्तमणे-परसमइपदाणं अभेदो अणिमित्तपदपजोगा तधा किदंतपदाणं पउरपजोगा तीए पाइयस्स समाणत्तं पमाणयदि। जधा—

तन्त्रीस्वराः कर्णसुखा प्रवृत्ताः, स्वपन्ति नार्यः पतिभिः सुवृत्ताः।
नक्तंचराश्चापि तथा प्रवृत्ताः, विहर्त्तुमत्यद्भुतरौद्रवृत्ताः॥
—वाल्मीकि सुन्दरकाण्ड ५।९

उवरिलिहिदे पज्जे पंचकिदंतपदाणि संति; किरियापदं य एग एवात्थि। भासाए एसा पउत्ति पाइयस्स अच्चंत णियडत्तं पमाणयदि। जओ पाइयभासा किरियाण जडिलरूवेण मुत्ता आसी। तीए भूद-वत्तमाण-भविस्सकालाणं समाणकिरियारूवेहिं सह किदंतपदाणं पजोगो अधिगो जादो त्थि। भासाए एतदमूलपउत्ताए अत्थित्तं रामायणे महाभारदे य सव्वत्थ लक्खदि।

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः॥—महाभारत उद्योगपर्व ३३।६५

एत्थ वि किदंतपदाणं पजोगबाहुल्लं अत्थि। अणेण णाणदे जओ महाभारत-रामायणगंथाणं भासासत्थकेरं अज्झयणं पाइयभासापरिण्णाणाभावे कहमवि ण सक्कदि।

सक्कयाज्झयणत्थं णिपातसिद्धसद्दाणं उवसग्ग-अव्वयसद्दाणं बोहणं आवीसगं अत्थि, परं एआणं णाणं पाइयदेसजसद्दाणं परिण्णाणेण विणा ण संभवदि। अव्वयणिपातसद्दा मूलदो पाइयभासाए एव संति। सक्कयवेयागरणेहिं एताणं पच्चयसंजोगेणेव सक्कयगरणं किदं।

भर्तृहरिमहोदयो[1] सकीये वाक्कपदीयगंथे लिहिदमंदो अत्थि सक्कयस्साणेगा सद्दा सिद्धपरंपरं मोत्तूण जणपरंपराए आगदा संति। सिद्धपरंपरागदा सद्दा साहू वुच्चेमो तब्भिण्णपरंपरागदा सद्दा असाहू, परं सद्दाणं एसा साहु-असाहुपउत्ति परोप्परं सावेक्खं अत्थि। अतएव सद्दत्थसंबंधविवत्थाकारणादु परंपरागदा सद्दा अज्झयणीया संति। अणेण भर्तृहरि-

१. पारम्पर्यादपभ्रंशा विगुणेष्वभिधातृषु।
प्रसिद्धिमागता येषु तेषां साधुरवाचकः॥—वाक्यपदीय १।५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कधणेण इदं तत्थं णिप्फण्णं भवदि जओ सक्कयभासाए परंपरागदा सद्दा मूलदो देसजा पाइय-भासाए वा संति । एताणं सद्दाणं अज्झयणं सक्कयभासाए भासाविसयिगपउत्ति-अज्झयणत्थं आवसिगं अत्थि ।

वाक्कपदीयगंथस्स[1] अज्झयणेण एतदवि सिद्धदि जओ सक्कयवेयागरणेहिं एताणं सद्दाणं साहुत्तं पदस्सिदं, ताणं मज्झे अणेगसद्दाणं पउत्ति मूलदो सक्कयस्स णत्थि, एदाणं सद्दाणं अज्झयणेण बुज्झदि जओ एदा सद्दा पाइय-सोत्तदो आगदा संति । सद्दाणं जोगदा-अजोगदाए परिण्णाणं जणभासा—पाइयभासा तधा—साहित्तिगभासा—सक्कयभासा अज्झयणेण विणा ण संभवदि । तच्चमेतद अत्थि जओ कस्सावि भासाए कस्सावि सद्दस्स पजोगो एगंतदो माणग-भासामूलगो णत्थि । सद्दस्स मूलरूवो लोगकंठादो णिग्गच्छदि, अदो पच्चेगसद्दस्स मूलरूव-स्साज्झयणं पाइयभासं विणा ण सक्कदि । सद्दपजोगस्स पमुखकारणं लोगपसिद्धि एव वट्टदि । अदो जणवदेसु ये सद्दा पचलिदा, तेसु मज्झे याणं पजोगो साहित्ते भवदि ताणं पजोगकारणादो साहुत्तं मण्णंते, जे सद्दा जणमाणसे पउज्जंते, ताणं लोगववहारवसादो असाहुत्तं गामिल्लं य जणा कधेंति । णिक्कसमिदमत्थि जओ भासासरीरं एगविहसद्देहिं ण संघडदे, पच्चुलं तदरूव-सज्जाए णाणापयारसोत्तेहिं सद्दाणं चयणं भवदि । अतएव सक्कयस्स सद्दत्थाणं तधा तदसंबंधाणं अज्झयणं पाइयसद्दाणं तज्झुणीणं अज्झयणाभावे संभवं णत्थि । अणेणेव हेदुणा पतंजलिमहोदयो सभास्से णिपातसिद्धसद्दाणं वाचग-जोदग इदि सक्किदुयं अणुबंधदि[2] । एतद अणुबंधणेण झुणदि जओ णिवादागदा सद्दा लोगभासाए संति । अदो तेसु जोदगत्तं वाचगत्तं इदि सक्किदुगं णिहिदं अत्थि ।

जधा सक्कयभासाए भासासत्थकेराज्झयणत्थं पाइय-अज्झयणस्सावसिगदा अत्थि तधा सक्कयवाङ्मयस्साज्झयणत्थं विविहकव्वरूवाणं दस्सण-सिद्धांतविसयाणं परिण्णाणाय पाइयवाङ्-मयस्साज्झयणं वि अवेक्खिदं अत्थि । वयं एतददिढपुव्वगं कधेमो जओ सक्कय-चरियकव्वाणं मूलसोत्तआ पाइयचरियकव्वाणं मज्झे एव संति । पउराणिगेतिहासिगवित्ताणि पाइयकहागंथेसु णिबद्धाणि संति । चरियकव्व-तच्चाणि जीवणवित्तांत-आयारदस्सण-अक्खाण-संवाद-अलंकिद-वण्णण-रूवग-उवमान-पईगादि संति, एताणि बीयं आगमगंथेषु उवलब्भंते । पाइय-साहित्ते राम-क्रिण्ह-तित्थंगरपुरुषाणं जीवणवित्तंतं अदीव पाईणदरं विज्जदि । तिलोयपण्णत्ति-कप्पसुत्त-सरिसेसु पाइयगंथेसु चरियकव्वाणं पउरोवगरणाणि संति । अम्हाणं इदं मदं अत्थि जओ सक्कय-चरिदकव्वाणं उवगरणाणि खारवेलस्स हाथीगुंफासिलालेहे मिलंदि ।

एतद णिच्छयं अत्थि जओ 'बुद्धचरित' 'हर्षचरित' सरिसाणं कव्वाणं पेरणा पाइय-चरिदकव्वेसु णिहिदा वट्टदि । चरियकव्वस्स पमुखो गुणो णायगस्स चरिदोक्कस्सपयासणं अत्थि तधा सरलवित्थररूवेण णायगस्स जीवण-पसंगाणं इदिवित्तांकणं अत्थि । एत्तिअ दुयं सक्कयचरियकव्वम्मि सक्कयलेहगेहिं रचिदं, परं तच्चाणि पाइयसिलालेहादो उवासगददसादो,

---

१. अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे ।
निमित्तभेदात्सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम् ॥—वही १।१४९

२. 'अव्ययं विभक्तिसमीप' अष्टा० २।१।६ की व्याख्यामें पतञ्जलिने उक्त सिद्धान्त स्पष्ट किया है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कव्वसुत्तादो गहिदं अत्थि। जइ वि इदं सच्चं जओ 'नैषधचरितं' सरिसं कव्वं पाइयभासाए णत्थि, तधावि सक्कयचरिदकव्वम्मि मूलपउत्तितच्चाणि ताणं गुण-दोसाणं अज्झयणं पाइय-चरिदकव्वाज्झयणाभावे णितांतं असंभवं अत्थि।

केणचि पाइयकव्वस्स महल्लं लिहिदमत्थि—"प्राकृतभाषायां चमत्कारकवाक्यसन्दर्भाणामनुकूलाः शैल्य अप्यनायासेनैव निर्वोढुं शक्यन्ते। ततश्च तादृक्शैलीनिबद्धा सेयं लोकानामधिकाधिकं प्रीतिपात्रं बभूव। विशेषतश्च शृङ्गारादिसदृशेषु मधुरेषु रसेषु शैलीबन्धबन्धुरा पदशय्या भाषां सजीवामिवोपस्थापयतीति काव्यसूक्तिस्तथा सति भूरिमनोहारिणी संपद्यते।"[1] अतएव पाइय-कव्वस्स रसदिट्ठिए अज्झयणं आवसिगं अत्थि। पाइयभासाए माहुरियगुणविरुद्धा ओजोऽणुगूला संघडणा बाहुल्लेण उवलब्भंते, परं इयं संघडणा कव्वरसाणुप्पादिगा णत्थि, अणुभवविरोधादो। जधा—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु सेज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
वालेम्मि वट्टदि पवट्टदि कव्वबंधे झाणेण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी॥

एत्थ पडिगुलवण्णत्तं ण दोसो, पाइयस्सोजगुणपहाणादो। अदो सक्कयकव्वाज्झयणाय पाइयकव्वाज्झयणं अदीव उवजोगी अत्थि।

कहाकव्वम्मि कादंबरी-वासवदत्ता-अवन्तिसुन्दरीसरिसाणं उक्किट्ठरयणाणं अज्झयणं वि पाइयकहाकव्वपरिण्णाणं विणा अपुण्णमेवेदि। पाइयकहाकव्वस्स पमुखविसेसदा कयली-थावच्चस्स हवदि, यम्मि अणेगपुव्वजम्मवित्तांतकहा वट्टमाणजीवणस्सोच्छाणत्थं अंकिदा वट्टदि। जदा णायगो सजीवणस्स वइभव-विलासेण तिप्पो ण भवदि, तदा तं जागरिदुं को वि मुणि इसि वा उवत्थित्तो होदूण णायगं उव्बोहदि।

कादंबरीए वि इदं थावच्चं अत्थि तस्स सम्मगाज्झयणं कुवलयमाला समराइच्चकहा अज्झयणेण विणा कहमवि ण संभवदि। कुवलयमालाए थावच्चं कादंबरीए थावच्चेण सह समाणांतररूवेण चलदि। वीयगंथम्मि णायिगा समाणगुणधम्मजुत्ता अत्थि। एवमेव वासव-दत्तादिगंथाणं अज्झयणमवि पाइय-कहा-थावच्चाज्झयणेण विणा अपुण्णं भवदि। पेम-सिंगार-विलास-वइभव-चाग-विरागस्स एगत्थ समवायो पाइय-कहाकव्वम्मि णिहिदो वट्टदि। पाइय-कहापउत्तीणं परिण्णाणं आगम-वसुदेवहिंडि-तरंगवदीकहागंथाणं अज्झयणेण उप्पदि। गुणाड्ढ-किदे कहासरिदसागरे अणेगा एरिसा उवकहा संति, जो उत्तरकालवत्तिसाहित्तस्स आहारभूदा जादा। कादंबरीकहाणस्स मूलसोत्तओ कहासरियसागरस्स राया सुमणस्स कहाणगं अत्थि, परं बाणभट्टेण अस्सिं वण्णणचमक्कारं णिजोगिदं, जेण कहाचमक्कारं रसजोजणं पडिभाए महुर-कप्पणं पात्तजीवणचित्तणं मउलिगविहाणं कियं संजादं।

लहुकहासु घडणा-चरिद-भावणा-विंग-बुद्धिचमक्कार-मणोरंजण-णीदि-उवएसाणं एरिसो जोगो विज्जदि, जस्स अज्झयणं सक्कयलहुकहाणं अज्झयणत्थं परिण्णाणं आवसिगं अत्थि। एद्दहमित्तमवि चिंतणीयं जओ पेम्मकहाणं विगासकमो पाइयकहापरिण्णाणाभावे कधमवि ण

---

१. गाथासप्तशती सं० मथुरानाथ शास्त्री, प्र० निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३३ ई० भूमिका पृ० १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सक्कदि। तरंगवइए पेम्मविगासो णायग-णायिगासु उभेसु लक्खदि। संपुण्णकहा पढमपुरिसे वण्णिदा अत्थि। एयम्मि कहाकव्वे करुण-सिंगार-सांतरसाणं पेम्मस्स विविहअवत्थाणं चरिय-स्सारोह-अवरोहाणं बहि-अब्भितर संघस्साणं सहलचित्तणं विज्जदि। कहाए वण्णिदं पेम्म सारीरिग-संजोगठिदे उपरि अप्पसोहणठिदिं पाविदं। जो पेम्म खणमवि सजणविजोगो ण सहदे, सो मुणिराजदंस्सणेण वइरागपदं गच्छदि। सक्कयकहागंथेसु वण्णिदा पेम्मपणाली पाइय-कहा-कव्वादो पभाविदा, इदि णिच्छिदं अत्थि।

भारदीयवाङ्मये एगो एव एरिसो गंथो अत्थि, जो वत्थुदो धम्मणिरवेक्खो-वट्टदि। सो य गंथो 'गाहासत्तसई' इदि। एयम्मि कव्वे विसुद्धसिंगारस्स चित्तणं अत्थि, ण दु राहा-किण्हस्स सीया-रामस्स वा सिंगारचेट्ठा वण्णिदा। एयम्मि विजोगपक्खे पुव्वरागस्स, माणस्स पवाससाहणस्स गुणसुणणस्स चित्तदंस्सणस्स विजोगीजणाणं कामदसाणं सम्मगवण्णणं विज्जदि। अस्सिं कव्वे गामिल्लजीवणस्स सरलतमचित्तणं वि वट्टदि। गमिल्ला णायरविलाससामग्गीए वंचिदा, परं ते पेम्म-दया-सुजणदा-णिट्ठादिगुणेहिं संजुत्ता संति। पच्चेगगाथाए चमक्कारेण सह विंजणत्थो वि णिहिदो अत्थि। एका किसगवधू रंजिदा साडिगा लब्भा, अणेण कारणेण तस्सा हडगे एरिसो उल्लासो जादो जओ सा तणु-अंगी गामस्स वित्थिण्णमग्गे वि ण समाजदि। किसगवई सगुव्विणीं भारियं दोहदाहिलासं पुच्छदि, परं सा अत्थाहावकट्ठं वइमहोदयो णाणु-भवदीदि वियारेण केवलं जल-इच्छां कधेदि।

घणघोर वुट्ठि होदि। कुडीरे जलं भरदि। किंसगभारिया सपियसुत्तरक्खत्थं तदुवरि आणता होदूण जलबिन्दू ससिरे घेप्पदि। एत्थ कवि कप्पेदि जओ सा मूढा इदं ण जाणादि जओ तस्सा णयणपडिद अंसुजलेण एव सा पुत्तं जलमइअं करेदि। एवं ममता करुणा य एगस्सिं सुत्ते कइणा बद्धा किदा। एयम्मि कव्वे आहीरभज्जाणं पेम्मगाहा गामबधूणं सिंगार-चेट्ठा चक्कपेसणकरेमाणं जुवईणं रुक्खसिंचमाणाणं सुंदरीणं जुवग-जुवतीणं विभिण्णकीडाणं विग्गात्तग चित्तगं किदं। गिम्हरिपुणा उम्हकारणादो परिदो एगो विचित्तो भावो उप्पणो। जधा—

गिरसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो।
महिसस्स कह्लवत्थरझरोत्ति सप्पो पिअइ लालं॥ ६.५१

गिम्हसंतावसंतत्तो महिसो गिरिसोत्तं परिण्णाय सप्पं जिब्भा लिहदि; सप्पोवि तं किण्हपासाणणिज्झरं मत्ता महिसलालावाणं करेदि। एत्थ कइणा गिम्हभयंकरताए चित्तणं किदमत्थि।

एवं पायारेण गाहासत्तसईए भावाणं अपुव्वचित्तणं वट्टदि। इयं सत्तसई सक्कयमुत्त-गकव्वस्स उवजीव्वा अत्थि। एगत्थ लिहिदमत्थि—"एवं च अस्मिन्मुक्तककाव्यजगति एतदवधिप्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु गाथासप्तशत्येव सर्वेषां मुक्तककाव्यानामादिम उपजीव्यश्चेति सिध्यति।"[1]

कालिदासादि सव्वे सक्कयकवी गाहासत्तसईए, विज्जलग्गाए अदीव पभाविदा संति। मेघदूतस्स कइवयअंसा वज्जालग्गादो गिहीदा संति। एत्थ उदाहरणत्थं केचण पज्जा-साणं उद्धरिअं करेमि। जधा—

१. गाथा सप्तशती—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३३ ई०, भूमिका पृ० १६।

७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूरयरदेसपरिस-ठियस्स पियसंगमं महंतस्स ।
आसाबंधो च्चिय माणसस्स अवलंबए जीवं ।।—पियोल्लासवज्जा गा० ७८६

कालिदासेण लिहिदं—

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां ।
सद्यःपाति प्रणयि-हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ।।—पूर्वमेघ ९

पियतमे दूरदेसं गदे विजोगकढिणसमये आसाबंधणो एव पाणा रक्खदि ।

अमरुककइणा वि गाहासत्तसईए कइवयपज्जाणं छाया घेत्तूण सपज्जाणं णिम्माणं किदं । जधा—

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिं वि हत्थेहिं वि तस्सिं दिट्ठे ।
अंगं कलंबकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं ।।—गाथा० ४।१४

अमरुक—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते ।
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते
द्रष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने ।।

—अमरुक २८, बम्बई १९५४ ई०

अण्णं च गाहा—

णिद्दाए मिच्छाभिणेयं करेमाणां णायिगां को वि णायगो चुंबदि ।
अलिअपसुत्तअविणिमीलिअच्छदे सुहअ मज्झ ओआसं ।
गंडपरिउंबणापुलइअंग ण पुणो चिराइस्सं ।।-गा० १।२०

अमरुक—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किंचिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ।।

—अमरुशतक, निर्णयसागर बम्बई, सन् १९५४, पद्य ८२

गोवद्धणेण गाहासत्तसईए फद्धाए सक्कयभासाए अज्जासत्तसई रचिदा । अयं कव्वो गाहासत्तसईए आहारभूमीए णिम्मिदो अत्थि । जधा—

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणंत ।
उअआरअ जर जीअं पि णेंत ण कआवराहोसि ।।—गाथा० १।५०

गोवद्धणो—

ज्वरवीतौषधबाधास्तिष्ठ सुखं दत्तमङ्गमखिलं ते ।
असुलभलोकाकर्षणपाषाण सखे न मोक्ष्यसि माम् ।। आर्यास० २४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जालसुत्ते लंबमाणामक्कडीए तुलणा वउलपुप्फेण समाणं किदं। गोबद्धगेण गाहासत्तसईए इयं भावजोजणा किदा। जधा—

उअह पडलंतरोइण्णणिअतंतुद्धपाअपडिलग्गं।
दुल्लक्खसुत्तगुत्थेक्कवउलकुसुमं व मक्कडअं॥—गाथा० १।६३

गोबद्धणो—

निजसूक्ष्मसूत्रलम्बी विलोचनं तरुण ते क्षणं हरतु।
अयमुद्गृहीतवडिशः कर्कट इव मर्कटः पुरतः॥—आर्या० ३२२

कावि णायिगा पियतमागमणपइक्खाए दिवसगणणत्थं भित्तीए रेखांकण करोदि। तस्सा आदुरावत्थां घेत्तूण गोबद्धणेण लिहिदं—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए।
पढम व्विअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिं चित्तलिओ॥—गाथा० ३।८

गोबद्धणो—

त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरंकिता सुभग।
गण्डस्थलीव तस्याः पांडुरिता भवनभित्तिरपि॥ आर्या० १२०

वामच्छिफुरेण कांतागमणस्स सूयणा मिलदि। गाहासत्तसईए वामणयणस्स पसंसा किदा, इयं कप्पणा गोबद्धणमवि वामबाहुफुरणरूवेण पेरदि। जधा—

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरम्।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सं॥ गा० २।३७

गोबद्धणो—

प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः।
प्रियसङ्गाय स्फुरितां वियोगिनी वामबाहुलताम्॥ आर्या० ३४७

गाहासत्तसईए तुल्लं वज्जलग्गमवि सक्कयकवीणं पेरणासोत्तओ अत्थि। जयवल्लहमुणिणा पाईणगाथाणं संगलणं किदं पुव्वमेव मया लिहिदं जओ अस्स कव्वस्स गाथाणं पभावो कालिदास-भत्तहरि-जयदेव-पण्डितराजजगन्नाथमहोदायाणमुवरि परिलक्खदि।

वज्जालग्गस्स भँवरं संबोहणं किच्चा विरसदिवसा संतोसपुव्वगं गमणिज्जं इदि भावं घेत्तूण पंडितराज जगण्णाधेण लिहिदं। जधा—

छप्पय गमेसु कालं आसवकुसुमाइ ताव मा मुयसु।
यन्न जियंतो पेच्छसि पउरारिद्धी वसंतस्स॥—इंदिंदिरवज्जा, २४४

पंडितराजजगन्नाथो—

तावत्कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति॥—भामिनीविलास, ७

पाइयकविणा जो पण्हो भँवरं पडि किदो, पंडितराजेण सो पण्हो कोइलं पडि किदो। अंतएव सक्कयमुत्तगकव्वस्साज्झयणत्थं पाइय-कव्वस्साज्झयणं अदीवावसिगं अत्थि; जओ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोगजीवणेण संबद्ध वइत्तिगजीवणस्साणुभूदीणं पाइयगीदिकव्वेसु विसेसरूवेण उग्घडिदं वट्टदि। सक्कयणाडगेसु हंसपदिगा पाइयभासाए लिहिदा अत्थि। इयं हंसपदिगा पाइयगीदिकव्वस्स, मूलभूदा वट्टइ, अस्सा माहुज्जं अदीवविलक्खणं विज्जदि। सक्कयगीदिकव्वाणं विगासभूमि एता हंसपदिगा वि अज्झयणीया संति। एत्थ उदाहरणत्थं साउंतलनाडगस्स एगां हंसपदिगां पत्थुदां करेमि।

अहिणव महुलोलुवो भवं, तह परिचुंबिय चूअमंजरिं।
कमलवसइमेत्त णिव्वुदो, महुयर विम्हरिओसि णं कहं॥–अ० शा० ५।१

सक्कय-णाडगाणं अज्झयणत्थं पाइयभासासाहित्तस्साज्झयणं अवसिगं अत्थि। जओ णाडगाणं संविहाणे णिद्दिट्ठं वट्टदि—राया-बम्हण-सेणावइ-मंती-रायकुमारी-रायमहिसी सक्कय भासं बोल्लंति; परं गणिगा-परिवज्जिगा-सिप्पी-इत्थी-णिम्मसेढिपत्ताणि पाइयभासं पउज्जंति। उत्तमपत्ताणि वि कज्जवसेण पाइयभासं वदंति। गंगा-जउँणामज्झवत्तिपदेसणिवासीजणा वि पाइयभासाए पजोगं कुव्वंति। वव्वर-किराद-द्दबिड-अंधाणो सोरसेनीपाइयभासं पउज्जंति। दासी-सखि-इत्थीओ मज्झिमवग्गीयपुरिसा वि सामण्णेण सोरसेनीभासं पउज्जंति। णट्ठसत्थस्स रचयिदा भरतमुणिणा मदमत्थि,जओ अंतेउर णिवासिणीओ सुरात्तिक्केता रक्खगा तधा आपत्ति-काले णायगो वि मागधीए पजोगं काउं सक्कंति। सेणिग-नायरिग-जुअकीडग-दक्खिणाच्चा य मागधीं बोल्लंति। चंडालाणं ढक्कीभासाए विवहारो विहेयो मणंते। एवं पयारेण णट्ठसंविहाणे पाइयभासाए पजोगस्स विवत्था विहिदा। केसिंचि विदुसाणं अणुमाणं अत्थि जओ मूलदो सक्कयणाडगा पाइयभासाए एव णिबद्धा संति। एत्थ संदेहो णत्थि जओ अभिणय-संगीद-णच्चस्स विभिण्णगदित्तिहीणं अज्झयणं पाइय-णाणाभावे कधमवि ण संभवदि।

अस्सघोसो सक्कयणाडगेसु पढमो णाडगगारो अत्थि। अस्स णाडगेसु मागही-अद्धमागही-सउरसेनीभासाणं पाईणरूवं उवलब्भंते। भासस्स तेरहणाडगाणि संति, एदेसु अविमारक-चारु-दत्तेसु पाइयभासाए पाहण्णं अत्थि, अणेण हेदुणा इमे णाडगा पाइय-भासाए कधेत्तुं सक्कदि। अविमारगे छ अंका संति। एयम्मि णाडगे राइणो कुंतीभोजस्स रूववदी कण्णा कुरंगाए सह अविमारगणामगस्स रायकुमारस्स पच्छन्नविवाहस्स वण्णणं अत्थि। चारुदत्तस्स बीए अंके सक्कयभासाए पजोगो णत्थि। चउत्थे अंके केवलं एगपत्तो पाइयं वुच्चदि। अण्णम्मि अंकदुयम्मि पाइयभासाए अहियपजोगो सक्कयस्स अप्प पजोगो उपलब्भदि। भासस्स अवसिट्ठणाडगेसु सोरसेनीए पजोगो मिलदि। कालिदासस्स साउंतले सोरसेनी-मागही-मरहट्ठीभासाणं पजोगा संति। विक्करमोरवसीयस्स चउत्थे अंके पुरुरवस्स पलावोत्तिसु कइवयठाणे अपभ्रंसभासाए पजोगो दिक्खदि। मालविकग्गिमित्तस्स कहाणयं पाइयसट्टकादो आयादि। एयम्मि णाडगे इत्थी-पत्ताणं बाहुल्लं अत्थि, तेण भासावि पाइयं अत्थि। एयम्मि पाइयणिबद्धसंवादा पुण्ण-सरसा सजीवा य संति।

सुद्दस्स मिच्छकडिगं पाइयभासादिट्ठीए सव्वाधिगं महत्तपुण्णं अत्थि। णाडगगारेण पेम्मघडणा रायणीदिगघडणेहिं सह संबद्धा किदा। एयम्मि एगादहपत्ता सोरसेनीं विऊसगो पच्छिमाए सोरसेनीं वीरगो अवंतीं चंदनगो दक्खिणीमरहठीं चांडालो चंडालिं जुअदीवागो ढक्कि सकार-थावरक-कुंभीलगा मागधीं बोल्लंति। सोमदेवस्स ललिदविग्गहराजणाडगे मरहट्ठी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोरसेनी-मागधीणं पजोगो परिलक्खदि। एवं पयारेण णाडगाणं वत्थु-णेदा-रसगदविसेसाणं परिण्णाणं पाइयणाणं विणा कधमवि ण संभवदि। पाइय-पउत्ति विणा को वि जणो णाडगाणं मूलपउत्ति णातुं ण सक्कदि। अतएव पाइयरूवगाणं अज्झयणं सक्कयरूवगाणं अज्झयणत्थं परमावसिगं अत्थि।

सक्कय-अलंगारसत्थस्स सम्मगरूवेणाज्झयणाय पाइयणाणं अवेक्खिदं अत्थि। सक्कय-अलंगार-गंथेसु जाव गंथा उवलब्भा संति, तेसु रसस्स विंजणाए झुणिलक्खणे लक्खणाए फुडीकरणे अलंगाराणं चमक्कारपुण्णोदाहरणत्थं उवठिदा पज्जा पाइयभासाए एव संति, ण दु सक्कयभासाए। 'ध्वन्यालोके' आणंदवद्धणेण टीगागार अहिणवगुत्तेण य छचत्तालीसा पाइय-पज्जा; 'दशरूपके' धणंजयेण टीगागारधणिकेण य छब्बीसा; 'सरस्वतीकण्ठाभरणे' भोयराजेन सयाधिग एगतीसा, 'अलंकारसर्वस्वे' राजाणक रुच्चकेण दह; मम्मडेण कव्वपयासे एगूणव, 'कव्वाणुसासणे' हेमचंदेण अडसयरि पाइय-पज्जा उद्धिता संति।

झुणि-गुणीभूदकव्वे सक्कय-आयारेहिं लक्खणाणं फुडीकरणत्थं पाइयस्स सरस-मणोरमा पज्जा उद्धरिदा। एवं सक्कय-कोस-दंस्सण-वेयागणगंथाणं रहस्स-परिण्णाणं वि पाइय-भासाए अज्झयणं विणा ण संभवदि, जओ अणेगा सद्दा मूलदो पाइयभासादो सक्कयगंथेसु मिलिदा संति।

भासाए अंगभूदाणं सद्दाणं आणंतं अत्थि, अदो कस्सावि भासाए अज्झयणत्थं सहजोगिणी भासाए णाणं आवसिगं वट्टदि। पतंजलिवयणेणवि उत्त तत्थस्स सिद्धि हवदि। जधा—

"एवं श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः, न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति, वर्षशतं जीवति।"

अस्स कहणस्स पुट्ठि 'अनुभूतिस्वरूपाचार्य' वयणेणवि भवदि। जधा—

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।
प्रक्रियान्तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्॥

अतएव सक्कय-भासा-साहित्तस्स अज्झयणत्थं पाइयपरिण्णाणं आवसिगं उवजोगिदं य।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृतके सर्वाङ्गीण अध्ययन हेतु प्राकृत अध्ययनकी उपयोगिता

संस्कृत भाषाका भाषाशास्त्रीय एवं प्रवृत्तिमूलक अध्ययन प्राकृत भाषाके अध्ययनके अभावमें अपूर्ण ही माना जायगा। वास्तवमें संस्कृत और प्राकृत ये दो भाषाएँ नहीं हैं, बल्कि ये दोनों एक ही भाषाके दो रूप हैं। अन्तर यही है कि एक में कथ्य भाषाके अधिक तत्त्व पाये जाते हैं, तो दूसरीमें लिखित भाषा के। प्राचीन भारतीय आर्यभाषाकी उत्पत्तिके सम्बन्ध में विचार करने पर ज्ञात होता है कि प्राचीन कालमें एक जनभाषा थी, जिसे परिष्कृत कर 'छान्दस्' साहित्यिक भाषाको निर्मित किया गया। आशय यह है कि जिस 'छान्दस्' भाषामें वैदिक वाङ्मयका प्रणयन हुआ है, उसमें लोकभाषाके अनेक स्रोत मिश्रित हैं। भारतमें निषाद, द्रविड और किरात, आर्य इन चारों जातियोंके लोग निवास करते थे तथा इन चारों ने ही भारतीय जन-जीवन एवं संस्कृतिको विकसित किया है। डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का अभिमत है "आष्ट्रिक और द्रविड़ों द्वारा भारतीय संस्कृतिका शिलान्यास हुआ था और आर्योंने उस आधारशिला पर जिस मिश्रित संस्कृतिका निर्माण किया, उस संस्कृतिका माध्यम, उसकी प्रकाशभूमि एवं उसका प्रतीक यही आर्यभाषा बनी।"[1] अतएव स्पष्ट है कि 'छान्दस्' या वैदिक संस्कृतिमें कई विभाषाओंके बीज वर्त्तमान हैं। ऋग्वेदकी भाषा उस कालके पुरोहितों और राजाओंकी भाषा है। पर अथर्ववेदकी भाषामें जनभाषाके रूप उपलब्ध होते हैं। यह भाषा शिष्टता एवं रूढ़िवादकी सीमासे पृथक् है।[2]

आर्य सप्तसिन्धु और मध्य प्रदेशसे आगे बढ़े, तो उनकी भाषा द्रविड़ और मुण्डा वर्ग की भाषाओंसे प्रभावित होने लगी। ध्वन्यात्मक एवं पदरचनात्मक दृष्टिसे उसमें अनेक विशेषताएँ मिश्रित होने लगीं। मूर्धन्य टवर्गीय ध्वनियाँ, सामासिक प्रवृत्ति एवं प्रत्यय संयोगके कारण संश्लिष्ट रूपोंका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषामें आर्योंके विस्तारके पश्चात् ही हुआ है। भाषाका यह रूप वास्तवमें जन-भाषाका था और इसीसे साहित्यिक 'छान्दस्' भाषाका रूप निर्मित हुआ है। हमारे इस कथनकी पुष्टि 'छान्दस्' भाषामें प्रयुक्त, विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, पट, घट, क्षुल्ल आदि शब्दोंसे होती है; जिनके वास्तविक संस्कृत रूप क्रमशः भिन्नजातीय भाषाओंके प्रभावसे आये हैं। भाषाका यह जनरूप वास्तवमें कथ्य प्राकृतका रूप है। डॉ० पी० डी० गुणेने अपने "एन इन्ट्रोडक्सन टु कम्परेटिव फिलोलाजी" में लिखा है कि "प्राकृतोंका अस्तित्व निश्चित रूपसे वैदिक बोलियोंके साथ वर्त्तमान था। इन्हीं प्राकृतोंसे परवर्ती साहित्यिक प्राकृतोंका विकास हुआ। वेदों एवं पण्डितोंकी भाषाके साथ-साथ, यहाँ तक कि मंत्रोंकी रचनाके समय भी, एक ऐसी भाषा प्रचलित थी, जो पण्डितों

---

१. डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या : भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, राजकमल प्रकाशन, सन् १९५७, पृ० १५।

२. प्रबोध बेचरदास पण्डित : प्राकृत भाषा, पृ० १३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की भाषासे अधिक विकसित थी। इस भाषामें मध्यकालीन भारतीय बोलियोंकी प्राचीनतम अवस्थाकी प्रमुख विशेषताएँ वर्त्तमान थीं।"[1] अतएव संक्षेपमें यह माना जा सकता है कि 'छान्दस्' भाषाके शास्त्रीय अध्ययनके लिए प्राकृत भाषाका ज्ञान अपेक्षित ही नहीं, अनिवार्य है। छान्दस्में 'पश्चात्' के स्थानमें 'पश्चा' (अथर्ववेद १०-४-११) (शतपथ ब्राह्मण १-१-२५) 'युष्मान्' के स्थान पर 'युष्मा' (वाजसनेयी संहिता) १-१३-१ शतपथ ब्राह्मण १-२-९) 'उच्चात्' के स्थान पर 'उच्चा' (तैत्तिरीय-संहिता २-३-१४) एवं 'नीचात्' के स्थान पर 'नीचा' (तै० स० १-२-१४) प्रयोग उपलब्ध होते हैं। ये शब्द प्रयोग प्राकृत भाषाके हैं। क्योंकि प्राकृतमें संस्कृतके व्यञ्जनान्त शब्द दो रूपोंमें पाये जाते हैं। प्रथम स्थितिमें अन्त्य व्यञ्जनका लोप हो जाता है और द्वितीयमें अन्त्य व्यञ्जनके स्थान पर स्वरका प्रयोग पाया जाता है। प्राकृतकी यह प्रवृत्ति 'छान्दस्' भाषामें पायी जाती है।

प्राकृत विजातीय संयुक्त वर्णोंमेंसे एकका लोप कर पूर्ववर्त्ती ह्रस्व स्वरको दीर्घ कर दिया जाता है। यह प्रवृत्ति वैदिक संस्कृतमें प्रायः पायी जाती है। यथा—निश्वास = नीसास, कर्त्तव्य = कातव्य, दुर्हार = दूहार, दुर्लभ = दूलह, दुर्दम = दुडम, दुर्नाश = दूणाश, (शुक्ल-यजुर्वेदीय प्रातिशाख्य ३।४३) इत्यादि।

स्वर भक्तिके प्रयोग प्राकृतके समान छान्दस् भाषामें उपलब्ध होते हैं। तन्वः = तनुवः (तै० आरण्यक ७-८२-१), स्वः = सुवः (तै० आरण्यक ६-२-६), स्वर्गः = सुवर्गः (तै० सं० ४-२-३ मै० ब्रा० १-१-१) राञ्या = रात्रिया, सहस्रयः = सहसिरियः इत्यादि।

'छान्दस्' भाषाकी पदरचनाका अध्ययन प्राकृत अध्ययनके बिना अपूर्ण है। छान्दस्में तृतीयाके बहुवचनमें 'देव' शब्दका देवेभिः (ऋग्वेद १।१।१) और प्रथमाके बहुवचन में देव एवं जन शब्दका क्रमश- देवा, देवासः, जना एवं जनासः (ऋग्वेद १।३।७, ऋग्वेद इन्द्र सूक्त) रूप पाये जाते हैं, जो कि प्राकृतके रूप हैं। इसी प्रकार चतुर्थी विभक्तिके लिए षष्ठीका प्रयोग तथा षष्ठीके अर्थमें चतुर्थीका प्रयोग भी प्राकृत तत्त्वसिद्धिके लिए पर्याप्त प्रमाण हैं। इसी प्रकार अकारान्त शब्दका प्रथमाके एकवचनमें ओकारान्त हो जाना भी प्राकृत तत्त्वकी जानकारीके अभावमें यथार्थ रूप में विश्लेषित नहीं किया जा सकता है। यथा—सः चित् = सो चित् (ऋक् १।१९१।११) संवत्सरः अजायत = संवत्सरो अजायत (ऋग्वेद १०।१९०।२) वैयाकरण पाणिनिने 'छान्दस्' की इस प्रवृत्तिका नियमन करनेके लिए 'हशि च' ६।१।११४ एवं "अतोरोरप्लुतादप्लुते" ६।१।११३ लिखे हैं। वस्तुतः इन सूत्रोंका मूल उद्देश्य ओकारान्त वाले प्रयोगोंका साधुत्व प्रदर्शित करना है और प्राकृतके मूल शब्दों पर संस्कृतका आवरण डाल देना है। विसर्ग सन्धिके कतिपय नियम भी 'छान्दस्' की प्राकृत प्रवृत्तिके संस्कृतीकरणके लिए ही लिखे गये हैं।

इन्द्रावरुणा, (ऋग्वेद १।१७।७ तथा १।१७।८), मित्रावरुणा (ऋ० ५।६२।२, ५।६३।२) द्यावापृथिवी (ऋ० ५।६२।२, ६।१८।१५) आदि प्रयोग संहिता ग्रन्थोंमें उपलब्ध हैं, जो प्राकृत भाषाके रूप हैं। प्राकृतके तत्त्वोंके अध्ययनके बिना उक्तरूपोंके यथार्थ स्वरूपका अध्य-

---

१. An Introduction to Comparative philology Second edt. 1950; P. 163

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यन सम्भव नहीं हो सकता है। संस्कृतके वैयाकरणोंने 'ण' की सिद्धिके लिए "रषाभ्यां नो णः समानपदे" (८।४।१) सूत्रका नियमन किया है इसके अनुसार दन्त्य 'न' के पूर्व यदि उसी शब्दमें ऋ, र, अथवा ष् हो तो वह मूर्धन्य 'ण' में परिवर्त्तित हो जाता है। इस नियमके भीतर प्रवेश करने पर अवगत होगा कि प्राचीन या मध्यकालीन आर्यभाषामें यह णत्वकी प्रवृत्ति द्रविड प्रभावित प्राकृत भाषाके कारण आयी है। वस्तुतः मूर्धन्य ध्वनियोंका अस्तित्व आर्यभाषा में द्रविड परिवारके सम्पर्कसे ही आया है। यही कारण है कि भारोपीय परिवार की अन्य किसी भी भाषामें इन ध्वनियोंका अस्तित्व नहीं है।' 'छान्दस्' में 'र' 'ळ' ध्वनिके रूपमें विकसित पाया जाता है। यही 'ळ' दन्त्य ध्वनिसे मिलकर मूर्धन्यत्वको प्राप्त होकर 'ऋ' हुई है, जो प्राच्य प्राकृतका प्रभाव है। बात यह है कि उत्तरी भारत समतल मैदानोंका प्रदेश होनेके कारण पश्चिमसे पूर्वकी ओर प्रायः तथा कभी-कभी पूर्वसे पश्चिमकी ओर लोगोंके आवागमन होनेसे एक प्रदेशकी भाषामें प्रचलित विशेष रूप दूसरे प्रदेशकी भाषा में सरलतया पहुँच जाता हैं। अतः संस्कृतके पुण्य, पण, कर्ण, निपुण, गण, तूण, कुठार, वेणी, वेणु, प्रभृति शब्दोंका यथार्थ परिज्ञान प्राकृतकी प्रकृतिके परिज्ञानके अभावमें संभव नहीं। इसी प्रकार 'शिथिल' शब्दमें इकारका होना तथा रेफ स्थान पर 'ल' हो जाना भी पूर्वीय प्राकृतका प्रभाव सिद्ध करता है। पाणिनिने संस्कृतके ऋकारान्त शब्दोंके नियमनके लिए 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' (६।१।९४) सूत्र लिखा हैं, जिसका आशय यह है कि ऋकारान्त शब्दोंमें प्रथमाके एकवचनमें 'ऋ' के स्थान पर अनङादेश होता है। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि पाणिनि और अन्य वैयाकरणोंने ऐसा क्यों किया ? इस नियमके तथ्यका विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि प्राकृतमें 'अ' 'इ' 'ऊ' ये तीन ही मूल स्वर हैं। अन्य स्वर संयोगी या विकारी हैं। अतएव शब्दान्तमें उनका अवशेष रहना उनके मूल प्रकृतिका लोप हो जाना है। इसी कारण स्वरभारको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए ऋकारके स्थान पर अनङादेश कर अकारका विधान किया है।

संस्कृतमें 'भ' ध्वनिके स्थान पर कहीं-कहीं 'ह' ध्वनि पायी जाती है। यथा—√ गृग् = जग्राह, भरति—हरति जैसे रूप पाये जाते हैं। इन संस्कृत रूपोंका अध्ययन प्राकृतके अध्ययनके बिना सम्भव नहीं है। 'भ' के स्थान पर 'ह' होनेकी प्रवृत्ति मूलतः प्राकृतकी है। अतः जब तक प्राकृत भाषाका सम्यक् अध्ययन नहीं किया जायगा, जब तक संस्कृतकी उक्त प्रकृतिको समझना शक्य नहीं है।

संस्कृतमें ऐसे कई शब्द और रूप हैं जो मूलतः प्राकृतके थे, पर उनका संस्कृतीकरण हो गया है। ऐसे शब्दोंमें वर < वृत, नापितर < स्ना, लांछन < लक्षण पुत्तल, < पुर + ल, भट्टारक < भर्ता, भट < भृत, मनोरथ < मनोऽर्थ,। मारिष, इंगाल और मैरेय ये तीनों शब्द प्राकृतके मारिस इगाल और मइर, मइरेयसे निष्पन्न हैं। मूलतः ये तीनों शब्द प्राकृतके हैं। मारिसका विकास 'मादृश' से सम्भव है। संस्कृत नाटकोंमें जिस 'मारिष' शब्दका प्रयोग हुआ है, वह वास्तवमें प्राकृतका शब्द है। श्रीहर्षने अपने नैषधमें 'वितेनुरिङ्गालमिवायशः परे' में इङ्गालका प्रयोग किया है। यह इङ्गाल शब्द प्राकृतका तद्रूप है। संस्कृतके आचार्यों ने इस प्रकारके शब्दोंको प्राकृतसे ग्रहण किया है। "मइरेय" संस्कृतके 'मदिर' से अवश्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बद्ध है। पर यह मूलतः प्राकृत का शब्द है। शिशुपालवधमें महाकवि माघने इस 'मइरेय' का "पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद्रोचना-लोहितेन' (११।५१) प्रयोग किया है। अतः संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृत शब्दों और ध्वनियोंके अध्ययनके लिए प्राकृत अध्ययनकी अत्यधिक आवश्यकता और उपयोगिता है। उत्तर वैदिक-कालमें विकसित 'उदीच्यविभाषा' प्राकृतके अत्यधिक समीप है। इसी उदीच्यविभाषाके आधारपर महर्षि पाणिनि ने साहित्यिक तथा परिष्कृतरूप देनेके लिए अष्टाध्यायीके सूत्रोंका निबन्धन किया है।

कुछ विद्वानोंका अभिमत है कि महाभारत और वाल्मीकि रामायणकी भाषा प्राकृतकी प्रकृतिके बहुत ही निकट है। आत्मनेपद और परस्मैपदका अभेद, अनियमित-पद-प्रयोग एवं कृदन्त पदोंका अधिक प्रयोग भी उसे प्राकृतके समकक्ष सिद्ध करते हैं। यथा—

तन्त्रीस्वराः कर्णसुखाः प्रवृत्ताः, स्वपन्ति नार्यः पतिभिः सुवृत्ताः।
नक्तंचराश्चापि तथा प्रवृत्ताः विहर्तुमत्यद्भुतरौद्रवृत्ताः॥
(वाल्मीकि, सु० का० सर्ग ५ श्लोक ९)

उल्लिखित पद्य में पाँच कृदन्तपद हैं और एक क्रियापद। भाषाकी यह प्रवृत्ति प्राकृतके बहुत ही निकट है। प्राकृतभाषा क्रियाओंके जटिल रूप से मुक्त थी। उसमें वर्तमान, भूत और भविष्यत् कालके समान क्रियारूपोंके साथ कृदन्तपदोंका प्रयोग अधिक रूपमें हुआ है। भाषाकी इस मूल प्रवृत्तिका अस्तित्व रामायण और महाभारतमें सर्वत्र पाया जाता है।

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया शान्तयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥

यहाँ भी कृदन्तीय पदोंका बाहुल्य है।

संस्कृत अध्ययनके लिए निपातन से सिद्ध शब्द अव्यय एवं उणादि शब्दोंका परिज्ञान आवश्यक है। उल्लिखित शब्द मूलतः देशज भाषाओं के हैं। केवल प्रत्यय जोड़कर वैयाकरणोंने उनका संस्कृतीकरण प्रस्तुत किया है। भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीय ग्रन्थमें बताया है कि संस्कृतके अनेक शब्द शिष्टोंकी परम्परासे न आकर जनपरम्परा से आये हैं। शिष्ट-परम्परा से आगत शब्दोंको हम साधु कहते हैं और उनसे भिन्न स्रोतसे आनेवाले शब्दोंको असाधु। पर वस्तुतः साधु-असाधु शब्दोंकी यह परम्परा परस्पर सापेक्ष है। वे दोनों अपने अपने विशिष्ट सम्बन्धोंसे सिद्ध हैं। अतएव शब्दार्थ सम्बन्धकी व्यवस्थाके कारण परम्परासे आगत शब्द भी अध्ययनीय हैं। भर्तृहरिके उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि संस्कृत भाषामें परम्परासे आये हुए शब्द मूलतः देशज या प्राकृतभाषाओंके हैं। इन शब्दोंका सम्यक् अध्ययन संस्कृत भाषाके सर्वाङ्गपूर्ण अध्ययनके लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

वाक्यपदीयके अध्ययनसे यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृतके वैयाकरणोंने जिन शब्दोंका साधुत्व प्रदर्शित किया है, उनमें अधिकांश शब्दोंकी प्रकृति मूलतः संस्कृतकी नहीं है। उन शब्दोंकी प्रकृतिका अध्ययन भाषाके द्वारा ही किया जा सकता है। शब्दोंकी योग्यता, अयोग्यताका पूर्ण ज्ञान प्राकृत भाषाके अध्ययनके बिना असम्भव है। तथ्य यह है कि किसी भाषामें किसी शब्दके प्रयुक्त होने और उस भाषाका अंग बन जानेका एकमात्र कारण शब्दकी लोकप्रसिद्धि है। जनतामें जो शब्द प्रचलित हैं, वही साधुवत् मान लिया जाता है। प्रयोक्ता इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकारके शब्दोंको वाङ्मयमें व्यवहृत करने लगता है। इसी कारण भर्तृहरिने भाषा-विकासकी प्रक्रियाको अनादि और अव्यवच्छिन्न माना है।[1] भाषाका कलेवर एक ही प्रकारके शब्दोंसे गठित नहीं होता; बल्कि उसकी सज्जाके लिए नाना प्रकारके स्रोतोंसे शब्दोंका चयन किया जाता है। अतएव संस्कृतके शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्धका अध्ययन प्राकृत शब्दों और ध्वनियोंके अध्ययनके अभावमें सम्भव नहीं है। पतञ्जलिने अपने भाष्यमें निपातनसे सिद्ध शब्दोंको द्योतक और वाचक दोनों रूपोंमें परिणत किया है। यह परिगणना इस बातको ध्वनित करती है कि निपातनसे आये हुए शब्द लोकभाषा के हैं। अतः उनमें द्योतकत्व और वाचकत्व दोनों शक्तियाँ निहित हैं।

संस्कृत भाषाके शास्त्रीय अध्ययन हेतु जिस प्रकार प्राकृतके अध्ययनकी आवश्यकता है, उसी प्रकार संस्कृत वाङ्मयका भी अध्ययन अपेक्षित है। हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि संस्कृत चरित काव्योंका मूलस्रोत प्राकृतके चरितकाव्य हैं। पौराणिक और ऐतिहासिक इतिवृत्तोंको तिथिगत एवं तथ्यगत विवरणोंसे पुष्ट किया गया है। कथा, वर्णन एवं आचार-विषयक मान्यताओंके अनन्तर ही चरितकाव्योंका सृजन होता है। घटना-विन्यास और कुतूहल आख्यानोंसे गृहीत होते हैं। तथा चरितगत वैशिष्ट्य पुराणों एवं आराध्योंके जीवनसे ग्रहण किये जाते हैं। प्राकृतमें राम, कृष्ण, तीर्थंकर या अन्य महापुरुषोंके जीवनोंसे चरित लिये जाते हैं। 'तिलोयपण्णत्ति' एवं 'कप्पसुत्त' जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें चरित काव्योंके प्रचुर उपकरण विद्यमान हैं। खारवेलके हाथीगुम्फा शिलालेख एवं आगमोंमें आये हुए आख्यान भी चरित-काव्यके लिए उपादान हैं। हम यहाँ प्राकृतकाव्योंके नामोंका उल्लेख कर कलेवरवृद्धि करना नहीं चाहते पर इतना सुनिश्चित है कि बुद्धचरित, हर्षचरित जैसे काव्योंकी प्रेरणा प्राकृतके चरित काव्योंसे मिली है। चरितकाव्यका सर्वप्रधान गुण नायकके चरितका उत्कर्ष दिखलाना है तथा सरल और विस्तृत रूपमें नायकके जीवन प्रसंगोंको ऐतिह्य रूपसे अंकित करना है। ये दोनों ही बातें संस्कृत चरितकाव्योंमें संस्कृत अभिलेखोंके अतिरिक्त प्राकृत उपादानोंसे ग्रहण कर गये हैं। प्राकृतमें गद्य और पद्य दोनोंमें ही चरितकाव्य लिखे गये हैं। परिमाणकी दृष्टिसे प्राकृतके चरितकाव्य प्राकृतभाषामें ही नहीं लिखे गये तथापि इतना तो मानना ही पड़ेगा कि संस्कृत चरितकाव्योंकी मूल प्रवृत्तियों, तत्त्वों, गुण-दोषों एवं उनके बहिरंग और अंतरंग रूपका सम्यक् अध्ययन संस्कृत-प्राकृत चरितकाव्यके अध्ययनके बिना नहीं किया जा सकता है।

कथा-काव्य कादम्बरी, वासवदत्ता, अवन्तिसुन्दरी जैसी उत्कृष्ट रचनाओंका अध्ययन प्राकृत कथाकाव्यके बिना नहीं किया जा सकता है। प्राकृत-कथा साहित्यके स्थापत्यकी प्रमुख विशेषता उसके कदली स्थापत्य की है। पूर्व जन्मोंकी अवान्तार कथाएँ वर्तमान जीवनको प्रोत्साहित एवं प्रेरित करनेके लिए उपस्थित होती हैं। नायक अपने जीवनकी वासन्ती विलास वैभवसे जब तृप्त नहीं हो पाता है और उसके मनमें इस रहस्यको जाननेके लिए बेचैनी उत्पन्न होती है, तो कोई मुनि या ऋषि उपस्थित होकर उसकी जिज्ञासाको शांत करता है एवं पूर्वजन्मोंके आख्यानको कहकर उसे यथार्थताका बोध कराता है।

---

१. वाक्यपदीय १।१४८—१५४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कादम्बरीका जो स्थापत्य है, उसका सम्यक् अध्ययन 'कुवलयमाला' और 'समराइच्च कहा' के अध्ययनके बिना कभी नहीं किया जा सकता है। 'कुवलयमाला' का स्थापत्य ठीक समानान्तर रूपमें कादम्बरीके साथ चलता है। 'कादम्बरी' और 'कुवलयमाला' दोनों की ही नायिकायें समानगुण-धर्मोंसे युक्त हैं। अतएव कथा साहित्यके अध्ययनके लिए प्राकृत कथाओं का अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। प्रेम, शृंगार, विलास, त्याग एवं विरागका एकत्र समवाय प्राकृत कथाओंमें पाया जाता है। कथाकी प्रवृत्ति आगममें निबद्ध उपासकोंके चरितसे 'वसुदेव हिण्डी' जैसे ग्रन्थोंसे होती है। गुणाढ्य द्वारा लिखित "बृहत्कथा" एवं धर्मदास संघदास गणिद्वारा विरचित 'वसुदेव-हिण्डी' संस्कृत वाङ्मयके आख्यानोंका मूलस्रोत अवगत करनेके लिए अत्यावश्यक ग्रन्थ हैं। कादम्बरीकी कथावस्तु भी कथासरित्सागर से ही ग्रहण की गयी है। इस ग्रन्थमें राजा सुमनाकी कथा आयी है, जो कादम्बरीकी कथाका स्रोत है। ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि बाणने कादम्बरीको मूल घटनाओंको 'वृहत् कथा' से ग्रहण किया हो और अपनी अलौकिक काव्य प्रतिभाकी मधुर कल्पनासे निष्प्राण घटनाचक्रों और पात्रोंको सजीवता प्रदानकर एक नयारूप दिया हो। राजा सुमनाकी सभामें आयी हुई निषाधपतिकी कन्या मुक्तालता और शूद्रककी सभामें उपस्थित हुई चाण्डाल कन्या समानरूपेण निबद्ध हैं। कथाकी गतिविधिमें भी सुमनाकी कथायें तुल्य ही हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि प्राकृतके कथाग्रन्थोंके अध्ययनके विना संस्कृतके कथाग्रन्थोंका अध्ययन एक प्रकारसे अपूर्ण है। अमूर्त पात्रोंको मूर्तरूप देना एवं उनमें मनुष्यत्वकी प्रतिष्ठा करना प्राकृत कथाकारोंके लिए एक सामान्य परम्परा रही है। लघुकथाओंमें घटना-प्रधान, नीति या उपदेश प्रधानकी गणना की जा सकती है। प्रेमकथाओंके विकासक्रमके अध्ययनके लिए तरङ्गवती कथाका अध्ययन परमावश्यक है। इस कथामें प्रेमका विकास दोनों ही ओर होता है। समस्त कथा उत्तमपुरुषमें वर्णित है। करुण, शृंगार और शांतरसों, प्रेमकी विविध स्थितियों, चरित्रकी ऊँची-नीची अवस्थाओं, बाह्य एवं आन्तरिक संघर्षोंका बहुत ही सफल चित्रण इसमें हुआ है। कथामें वर्णित प्रेम, शारीरिक संयोगकी स्थितिसे ऊपर उठकर आत्मशोधनकी स्थितिको प्राप्त हुआ है। जो प्रेमिका एक क्षण भी अपने प्रेमीका वियोग नहीं सहन कर सकती है, वह मुनिराजके दर्शन मात्रसे साध्वी बन सकती है। इस प्रकारकी कथाशैली संस्कृत ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होती है। अतएव संस्कृत कथा साहित्यके अध्ययनमें प्राकृत कथाओंका अध्ययन विशेष उपयोगी है।

भारतीय वाङ्मयमें एक ही ऐसा काव्यग्रन्थ है, जो वस्तुतः धर्मनिरपेक्ष है और वह है—गाथासप्तशती। इस ग्रन्थमें विशुद्ध शृंगारका चित्रण किया गया है। न इसमें राधाका चित्रण है और न कृष्ण का। सामान्य नायक-नायिकाओंका आलम्बनके रूपमें चित्रण किया गया है। वियोगपक्षमें पूर्वराग, मान, प्रवासके साधन, गुणश्रवण, चित्रदर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन, मानमोचनके अनेक उपाय एवं वियोगजन्य कामदशाएँ वर्णित हैं। नख-शिख वर्णनोंके साथ वयःसन्धिके वर्णनोंमें अनेक अमुक्त उपमान उपलब्ध होते हैं। प्रेमकी पीर अभिव्यंजना तो अत्यन्त गम्भीर है। पार्थिव प्रेमकी सम्पूर्ण श्यामलता एवं उज्ज्वलता, विलासिता एवं नैसर्गिकता कुरूपता एवं कमनीयता एक साथ प्रतिफलित हुई हैं। प्रेम एवं सौन्दर्यके चित्रण उत्तरोत्तर सूक्ष्म एवं अभौतिक होते गये हैं। शृंगारमें होनेवाले स्तम्भ, रोमाञ्च, स्वरभंग, कम्प तथा निर्बलताका हेतु भय या त्रास भी पूर्णरूपेण वर्णित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस काव्यका प्रत्येक पद्य अपने आपमें स्वतन्त्र एवं आमुष्मिकताकी चिन्तासे मुक्त है। इसमें ग्रामीण जीवनका सरलतम चित्रण किया गया है। गाँवोंके निवासी नगरकी विलास-सामग्री से भले ही वंचित हों, पर प्रेम, दया, सहृदयता, एकनिष्ठता जैसे भावोंके धनी हैं। प्रत्येक गाथामें चमत्कारके साथ व्यंजनार्थ भी निहित है।

किसानकी एक मुग्धा पुत्रवधूको रंगीन साड़ी उपलब्ध हुई है। उसका उल्लास इतना असीम हो रहा है कि गाँवके विस्तृत मार्गमें भी वह तन्वंगी नहीं समा रही है। कृषक पति अपनी गर्भवती पत्नीसे इसकी दोहद अभिलाषा पूछता है। पतिको आर्थिक कष्ट न हो, इस लिए वह केवल जलकी इच्छा व्यक्त करती है।

मूसलाधार पानी पड़ रहा है। झोपड़ेमें टप्-टप् पानी चू रहा है। कृषक पत्नी अपने प्यारे बच्चेको बचानेके लिए उस पर झुककर पानीकी बूँदें अपने सिर पर ले रही है। कवि कहता है कि पर उसे पता नहीं कि वह अपने नयनोंसे झरते हुए जलसे उसे भिंगो रही है। इस प्रकार ममता और करुणाको कविने एक सूत्रमें बाँध दिया है। गाथा सप्तशतीमें अहीर-अहीरनियोंकी प्रेम गाथाएँ, ग्रामवधुओंकी शृंगार चेष्टाएँ, चक्की पीसती हुई युवतियोंकी विभिन्न भाषावलियाँ, पौधोंको सींचती हुई सुन्दरियोंके मोहक चित्र, युवक-युवतियोंकी विभिन्न क्रीडाएँ, सास-ननद और युवतियोंके व्यंग्याभिभाषण एवं ऋतुओंके मोहक चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। ग्रीष्मऋतुने अपनी उष्णताके कारण चारों ओर एक विचित्र भाव उत्पन्न कर दिया है।

गिरिसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहइ लिहइ संतत्तो,
महिसस्स कह्णवत्थरझरो ति सप्पो पिअइ लालं। ५५१।

ग्रीष्म सन्तापसे सन्तप्त भैंसा गिरिस्रोत समझकर साँपको अपनी जिह्वासे चाट रहा है एवं सर्प भी काले पत्थरका झरना समझकर उसके लारका पान कर रहा है। इस पद्यमें कविने व्यंग्य द्वारा ग्रीष्मकी भयङ्करताका बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है।

भावनाकी पराकाष्ठा वहाँ पर हो जाती है, जहाँ प्रियतमके लौट आने पर भी नायिका इसलिए वस्त्राभूषण नहीं धारण करती कि अभी उसका पड़ोसी नहीं लौटा है और उसके शृंगार करनेसे उसकी पड़ोसिनको अपार कष्ट होगा। नायिकाकी इस भावनामें संयोग और सहानुभूतिकी पराकाष्ठा ही परिलक्षित होती है।

गाथा सप्तशतीकी आधार भूमि पर संस्कृतके मुक्तक काव्य का विकास हुआ है। एक विद्वान्ने लिखा है "एवं चास्मिन् मुक्तककाव्यजगति एतदवधि प्रसिद्धेषु ग्रन्थेषु गाथासप्तशत्येव सर्वेषां मुक्तककाव्यानामादिम उपजीव्यश्चेति सिद्धचति।" अतः सिद्ध है, कवि अमरुक, गोवर्द्धन प्रभृतिने गाथा सप्तशतीकी गाथाओंकी छाया ग्रहण कर अपने काव्य ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। यहाँ तुलनाके लिए कतिपय पद्योंको प्रस्तुत किया जाता है।

अलि अपसुत्त अविणि भोलिअच्छ दे सुहऊ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिडम्बणापुलरअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं॥ गाथा० १।२०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमरुक—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनैः
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता। अमरुक०।८२।

मानिनी नायिकाको सखी शिक्षा देती है। नायिका नायकके प्रति अतिशय अनुराग व्यक्त करती है। कवि अमरुकने गाथा सप्तशतीकी उक्त आशयकी गाथाका भाव ग्रहण कर निम्न प्रकारकी पद्य रचना प्रस्तुत की है। मूलगाथा—

अच्छीइं ता थइस्सं दोहि वि हत्थेहिं विं दिट्ठो,
अङ्गं कलम्ब कुसुमं व पुलइअं-कहँ णु ढक्किस्सम्। गाथा० ४।१४।

अमरुक—

भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू रोमाञ्चमालम्बते,
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते,
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिन् जने। अमरुक—२४।

गोवर्द्धनाचार्यने अपनी आर्यासप्तशतीका निर्माण गाथासप्तशतीका अवलोकनकर किया है। श्रृंगारविषयक लोकप्रिय और माधुर्यगुणसम्पन्न प्राकृत गाथासप्तशतीका अवलोकन कर उनके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न हुई कि क्या संस्कृतमें इस प्रकारका सरस काव्य नहीं लिखा जा सकता है। फलतः उन्होंने आर्याछन्दमें गाथाकी अनुकृति पर आर्यासप्तशतीकी रचना की। इस काव्यके आधेसे अधिक पद्य गाथासप्तशतीकी छाया पर ही निर्मित हैं। हम यहाँ कतिपय पद्योंके उदाहरण प्रस्तुत कर अपने तथ्यकी सिद्धि करते हैं।

कोई विरहिणी चिरकालके पश्चात् आये हुए अपने प्रिय को ज्वरकी ज्वालाके छलसे उपालम्भ देती हुई कहती है—

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं वि दूराहि अम्ह आणंत,
उअआरअ जर जोअं पि णेन्तणकआवराहो सि। गाथा०१।५०—

गोवर्द्धनाचार्य

ज्वरवीतौषधबाधस्तिष्ठ सुखं दत्तभङ्गमखिलं ते।
असुलभलोकाकर्षणपाषाण सखे न मोक्ष्यसि माम्। आर्यासप्त०।१।२४०।

जालसूत्रमें लम्बमान मकड़ीकी तुलना वकुल पुष्पके समान की गई है। गोवर्द्धनने भी इसी आश्रयको ग्रहण कर सूत्र सम्बद्ध कर्कटका चित्रण किया है। यथा—

उअह पडलन्तरो इण्णणि अअतन्तुद्ध पाअडिलग्गं,
दुल्लक्ख सुत्त गुत्थेक्क वउल कुसुमं व मक्कडअं।१।६३।

गोवर्द्धनाचार्य

निजसूक्ष्मसूत्रलम्बी विलोचनं तरुण ते क्षणं हरतु,
अयमुद्गृहीतवडिशः कर्कट इव मर्कटः पुरतः। आर्यासप्त०—३२२—

कोई नायिका अपने प्रियतमके आगमनकी प्रतीक्षामें दिवसगणनाके हेतु दीवाल पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रेखाङ्कित करती हैं। वह दिवसगणनामें इतनी आतुर है कि दिनके पूर्वार्द्धमें ही समस्त भित्ति रेखाओंसे भर जाती है। प्रोषितभर्तृकाकी इस मनोदशाका चित्रण गाथासप्तशतीके आधार पर ही गोवर्द्धनने किया है—

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए,
पढम च्चिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ। गाथा० १०।३।८

गोवर्द्धनाचार्य

त्वद्गमनदिवसगणनावलक्षरेखाभिरङ्किता सुभग,
गण्डस्थलीव तस्याः पाण्डुरिता भवनभित्तिरपि। आर्यासप्त० ६२०।

वामनेत्रके स्फुरणसे कान्ताको अपने प्रियतमके आगमनकी सूचनाके कारण हर्ष मालूम पड़ता है। अतः वह वामनयनको पारितोषक देनेके हेतु कहती है कि जब प्रियतम आयेगा तब मैं दक्षिण नयनको बन्द करके तुम्हारे द्वारा ही प्रियतमका आनन्द लूँगी। गाथा सप्तशतीके इस आशयमें कुछ परिवर्तन कर गोवर्द्धनाचार्यने वामबाहुके स्फुरणसे कान्तागमनकी सूचना प्राप्त कर वामबाहु पाशमें प्रियको आबद्ध कर उसे पुरस्कार देनेकी बात कही है। दोनों आशयोंमें कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। यथा—

फुटिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्जता सुइरं,
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि रज्हं पलोइस्सं। गाथा० २।३७।

गोवर्द्धनाचार्य

प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः,
प्रियसङ्गाय स्फुरितां वियोगिनो वामबाहुलताम्। आर्या० ३४७।

गाथासप्तशतीके समान ही बज्जालग्गं भी संस्कृत कवियोंके लिये अध्ययनीय रहा है। इस काव्यमें जयवल्लभमें पुरानी ७९५ गाथाओंका संकलन किया है। विषयक्रमानुसार ये संकलित गाथाएँ, नीति, धर्म, कर्तव्य, प्रेम, शृंगार आदिके सम्बन्धमें सरस अनुभूति उत्पन्न करती हैं। इन गाथाओंका कालिदास, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति कवियों पर पर्याप्त प्रभाव पाया जाता है। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

मेघदूतमें कवि कालिदासने विरहियोंको जीवित रहनेके लिये आशाको ही बन्धन माना है। इसी आशयकी एक गाथा पियोल्लासबज्जामें भी मिलती है। यथा—

दूरयरदेस परिसठियस्य पियसङ्गमं महन्तस्स,
आसाबन्धो च्चिय माणसस्स अवलम्बए जीवं। पियोल्लासवज्जा, ७८६।

कालिदास

आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयिहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि। भं० दू०, ५०, मेघ, ९।

वज्जालग्गं-की एक गाथामें भ्रमरको उपदेश दिया जाता है कि हे भ्रमर! तुम कुसुम आसवके लिए अपने प्राण मत गँवाओ। अब शीघ्र ही वसन्तका समय आनेवाला है। किसी प्रकार नीरस दिनोंके काट लेने पर आम्रमञ्जरीसे मँहकते हुए सुखके दिन आयेंगे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस कल्पनासे पण्डितराज जगन्नाथ प्रभावित हैं। उन्होंने उक्त उपदेश कोयलको दिया है। यथा—

छप्पय गमेसु कालं आसवकुसुमाइ ताव सा मुयसु,
यन्न जियन्तो पेच्छस्सि पउरा रिद्धी वसन्तस्य ।।—इन्दिन्दिरवज्जा–२४४।

तावत् कोकिल विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्,
यावन्मिलदलिआलः कोऽपि रसालः समुल्लसति ।—भामिनीविलास–६।

हे कोकिल, तब तक इन नीरस दिनोंको वनान्तरमें छिपकर चुपचाप काट ले, जब तक भौंरोंसे घिरा हुआ कोई सहकार तरु खिल न जाय।

स्पष्ट है कि गाथा सप्तशती, वज्जालग्गं जैसे ग्रन्थोंके अध्ययनाभावमें संस्कृतके मुक्तक काव्योंका वास्तविक रहस्य नहीं जाना जा सकता है। श्रृंगार और प्रेमकी मुक्तक काव्योंकी विभिन्न अवस्थाएँ संस्कृत साहित्यमें प्राकृतके स्रोतोंसे ही पहुँची हैं। अत एव सौन्दर्य बोध एवं जीवनके विभिन्न प्रतिमान प्राकृत मुक्तकोंके अध्ययनके विना अवगत नहीं किये जा सकते। क्योंकि मुक्तकोंमें प्राकृत जनोंकी प्राकृत वाणी यथार्थ रूपमें अभिव्यक्त हुई है। यही कारण है कि जीवनके अनेक मूल्य प्राकृत मुक्तकोंके द्वारा संस्कृतके काव्योंमें समाहित हुए हैं। लोक जीवनसे सम्बद्ध वैयक्तिक अनुभूतियाँ जितनी गहराईके साथ वज्जालग्गं की गाथाओंमें पायी जाती हैं, उतनी संस्कृतके मुक्तक काव्योंमें नहीं। यद्यपि यह सत्य है कि प्राकृत गाथाओंमें गेयताका अभाव है, पर भावनाओंकी गम्भीरता और कल्पनाकी नवीन उड़ान प्राकृत गाथाओंमें विशेष रूपसे निहित है।

कतिपय विद्वानोंका अभिमत है कि संस्कृतके सरस गीत एवं सुभाषितोंका मूल स्रोत, नाटकोंकी हंसपदिकाएँ एवं जन-जीवनमें प्रचलित गाथाएँ ही हैं। हंसपदिकाएँ प्रेमकी मधुर अभिव्यंजनाके लिए अंकित की जाती थीं। नायक और नायिकाएँ इन हंसपदिकाओंको स्वर और लय पूर्ण राग-विशेषोंमें गाती थीं। भावनाओंके साथ स्वरलहरीका समावेश भी हंसपदिकाओंमें अवश्य किया जाता था। वास्तवमें नाटकोंमें आयी हुई प्राकृतकी हंसपदिकाएँ प्रेम, नीति एवं कर्तव्यकी ओर अग्रसर करती हैं। उदाहरणार्थ शाकुन्तल नाटककी एक हंसपदिका उद्धृत की जाती है। इस हंसपदिकाको वीणा और हारमोनियम पर बहुत सुन्दर राग में गाते हुए मैंने सुना है—

अहिणव महुलोलुवो भवंतह परिचुम्बिय चूयमंजरिं
कमलवसइमेतणिव्वुयो महुअर विम्हरिओसि णं कहं। अ० शा० अं० ५।१

हे अभिनव मधुके लोभी भ्रमर! तुमने एक बार भी आम्रमञ्जरीका परिचुम्बन कर अब कमलमें रहते हुए उसे क्यों भुला दिया।

इस हंसपदिका द्वारा महारानी (दुष्यन्तकी राजमहिषी) स्वर साधन करती हैं। वे संगीतशालाओंमें ताल और लयके साथ हंसपदिकाको गाती हैं। राजा दुष्यन्त स्वयं कहता है "अहो रागपरिवाहिनी गीति" अर्थात् गीतमें कैसी प्रेमकी धारा बह रही है। वस्तुतः इसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रेमकी धाराके अतिरिक्त मधुर उपालम्भ भी छिपा है। प्राकृतकी यह गीति श्रेणी संस्कृतके गीतोंके लिए तो आधारभूत है ही, पर मार्मिक सूक्तियोंके लिए भी प्रेरक है। यह विरही न होने पर भी चित्तको विगलित कर देती है। अतः संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृतके चरितकाव्य, मुक्तककाव्य और गीतोंके अध्ययनके लिए प्राकृत वाङ्मयका अध्ययन आवश्यक है।

संस्कृत नाटकोंका अध्ययन तो प्राकृत भाषाके अध्ययनके अभावमें कथमपि संभव नहीं है। संस्कृत नाटकोंका जितना सम्बन्ध सुसंस्कृत नागरिकोंके साथ है, उससे कहीं अधिक लोक मानसके साथ है। लोकमानसमें जनताकी मूलभूत प्रवृत्तियाँ वर्त्तमान रहती हैं। अतः संस्कृत नाटकोंका अनुशीलन और अनुचिन्तन लोकमानसके अध्ययनके अभावमें अपूर्ण ही माना जायगा। हमारे इस कथनकी पुष्टि नाटकीय संविधान से भी होती है। भरतमुनि, धनञ्जय प्रभृतिने नाटकोंके संविधानमें बतलाया है कि राजा, ब्राह्मण, सेनापति, मन्त्री और विद्वान् संस्कृत भाषाका प्रयोग करें। राजमहिषी और राजकुमारी भी संस्कृत भाषाका प्रयोग करती हैं। स्त्रियाँ एवं निम्न श्रेणीके पात्र प्राकृतका प्रयोग करते हैं। जो पात्र जनताके बीच रहते हैं, जनताका प्रतिनिधित्व करते हैं, उनकी भाषा प्राकृत होती है। उत्तम पात्र भी कार्यवश प्राकृतका प्रयोग कर सकते हैं। बर्बरों, किरातों, आन्ध्रों एवं द्रविड़ोंकी शौरसेनी भाषा बतलायी गयी है। गंगा और यमुनाके मध्यवर्गीय पुरुष पात्र शौरसेनीका व्यवहार करते हैं। धूर्तोंकी भाषा आवन्ती मानी जाती है। पूर्वके निवासी मछुए मागधीका प्रयोग करते हैं। नाट्य शास्त्रका मत है कि अन्तःपुरवासियों, सुराविक्रेताओं, रक्षकों एवं आपत्यकालमें नायकों द्वारा भी मागधी का प्रयोग किया जा सकता है। शकारकी भाषा भी मागधी होती है। सैनिकों, नागरिकों और जुआरियों द्वारा दाक्षिणात्याका प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार नाट्य संविधानमें प्राकृत भाषाका सर्वाधिक प्रयोग पाया जाता है। अतः मूलतः नाटकोंकी प्रकृति प्राकृतकी है।

[१] कारणव्यपदेशेन प्राकृतम्—नाट्यशास्त्र, (चौखम्बा संस्करण) पृ० ३३--३४ पद्य २१९ से आगे कुछ विद्वानोंने नाटकोंमें प्राकृतका विशेष व्यवहार देखकर यह अनुमान किया है कि नाटक मूलतः प्राकृतमें ही लिखे गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि अभिनव, संगीत एवं नाटककी विभिन्न गतिविधियोंका अध्ययन प्राकृत ज्ञानके अभावमें सम्भव नहीं है। जो अध्येता प्राकृत साहित्य एवं सदृशोंका मनोयोग पूर्वक अध्ययन करता है, वही रूपककी विविध विधाओं का सम्यक् अध्ययन करनेमें सशक्त है।

अश्वघोष संस्कृतके प्रथम नाटककार हैं। इनके नाटकोंमें मागधी, अर्धमागधी और शौरसेनी भाषाके प्राचीन रूप उपलब्ध हैं। भासके १३ नाटक प्राप्त हैं, इनमें अविमारक और चारुदत्तमें प्राकृतका प्राधान्य है। इन दोनोंको प्राकृत नाटक भी कहा जा सकता है। अविमारकमें छः अंक हैं। इसमें राजा कुन्तिभोजकी रूपवती कन्या कुरंसरिके साथ सम्पन्न हुए अविमारक नामक राजकुमारके प्रच्छन्न विवाहका वर्णन है। चारुदत्तके द्वितीय अंकमें संस्कृत का प्रयोग नहीं पाया जाता है। चतुर्थ अंकमें केवल एक पात्र प्राकृत बोलता है। अन्य दो अंकोंमें प्राकृत भाषाका प्रयोग अधिक हुआ है और संस्कृतका कम। भासके शेष नाटकोंमें भी शौरसेनी भाषाका व्यवहार पाया जाता है। कालिदासके शाकुन्तलमें शौरसेनी, महाराष्ट्री और मागधी के प्रयोग उपलब्ध होते हैं। विक्रमोर्वशीयके चतुर्थ अंकमें पुरुरवाकी प्रलापोक्तियों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कई स्थानों पर अपभ्रंशकी छाया भी पायी जाती है। मालविकाग्निमित्रका कथानक प्राकृत सट्टकोंकी परम्परामें आता है। इस नाटकमें अधिकतर स्त्रीपात्र हैं और उनकी भाषा प्राकृत है। प्राकृतके संवाद बड़े सजीव और सरस हैं।

शूद्रकका मृच्छकटिक प्राकृत भाषाकी दृष्टिसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। नाटककारने प्रेमके कथानकको राजनैतिक घटनाओंके साथ सम्बद्ध किया है। इसमें सूत्रधार नहीं, नायिका आदि ११ पात्र शौरसेनी में, विदूषक प्राच्या शौरसेनीमें, वीरक आवन्तीमें, चन्दनक दाक्षिणात्य महाराष्ट्रीमें, चाण्डाल चाण्डालीमें, जुआरी ढक्कीमें, शकार, स्थावरक और कुम्भीलक मागधीमें बातचीत करते हैं। इस नाटकमें प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ भरतके नाट्य शास्त्रके अनुसार व्यवहृत हैं। श्रीहर्षके रूपकोंमें भी प्राकृत का प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। भवभूतिके नाटकोंमें प्राकृतका व्यवहार बहुत कम हुआ है। विशाखदत्तके मुद्राराक्षसमें अनेक दृश्य प्राकृतके हैं, पर नाटककी मूल प्रकृति संस्कृतकी ओर है। भट्टनारायणके वेणीसंहारमें शौरसेनीकी प्रधानता है। तीसरे अंकके प्रारम्भमें राक्षस और उनकी पत्नी मागधीमें वार्तालाप करते हैं। सोमदेव के ललितग्रहराज नाटकमें महाराष्ट्री, शौरसेनी और मागधीका व्यवहार पाया जाता है।

इस प्रकार संस्कृत नाटकों की वस्तु, नेता और रसगत विशेषताओं का परिज्ञान प्राकृत ज्ञानके बिना अपूर्ण है।

संस्कृत अलंकार शास्त्रका सम्यक्तया मर्म अवगत करनेके लिए प्राकृतज्ञान आवश्यक है। संस्कृतके जितने अलंकार ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनमें रस, व्यंजना, ध्वनि, लक्षण, गुण-दोष और अलंकारोंके चमत्कारपूर्ण उदाहरण प्राकृत भाषामें आये हैं। ध्वन्यालोकमें आनन्दवर्द्धन और उसके टीकाकार अभिनवगुप्तने ४६ गाथाएँ उद्धृत की हैं। दशरूपकमें धनंजय और उसके टीकाकार धनिकने २६ प्राकृत गाथाएँ, सरस्वतीकण्ठाभरणमें भोजराजने ३३१ गाथाएँ, अलंकारसर्वस्वमें राजानक सत्यकने १० प्राकृत पद्य, म मटने ४९ प्राकृत पद्य एवं हेमचन्द्राचार्यने काव्यानुशासनमें ७८ प्राकृत पद्य संगृहीत किये हैं। आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पणमें सरस उदाहरणोंके लिए २४ प्राकृत गाथाएँ उपस्थित की हैं।

ध्वनि तथा गुणीभूत काव्यमें कविकी प्रतिभा तथा सदा नूतन चमत्कार प्रकट करती हैं। इसी कारण संस्कृतके आचार्योंने लक्षणोंको स्पष्ट करनेके लिए प्राकृतके सरस और मनोरम पद्य प्रस्तुत किये हैं। अतएव अलंकार, रस, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि, आदिके स्वरूपकी यथार्थ जानकारी प्राकृतके अध्ययन द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। इसी प्रकार संस्कृत कोश, व्याकरण और दर्शनग्रन्थोंके रहस्यका भी परिज्ञान प्राकृत भाषाके अध्ययनके बिना सम्भव नहीं है।

भाषाका गठन अनन्त शब्दों द्वारा होता है। ये शब्द विभिन्न स्रोतोंसे आते हैं। वाङ्मयमें जिस मानक भाषाका प्रयोग होता है, उसकी शब्द राशि भी अनन्त है। आचार्य पतञ्जलिने इस तथ्यकी पुष्टि निम्नलिखित उद्धरणमें की है।

''एवं श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः, न चान्तं जगाम, किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं जीवति।''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पतञ्जलिके इस सन्दर्भसे स्पष्ट है कि अनन्त शब्दोंका ज्ञान प्रकृति प्रत्ययके अध्ययन द्वारा ही सम्पन्न नहीं किया जा सकता है। क्योंकि, जो शब्द लोकमानससे आये हैं, उनका विश्लेषण सम्भव नहीं। हमारा अनुमान है कि पतञ्जलिका उक्त कथन ऐसे शब्दोंकी ओर संकेत करता है जो शब्द मूलतः प्राकृत भाषा के हैं। अनुभूतिस्वरूपाचार्यने भी इसी प्रकारकी शब्दराशिकी ओर संकेत किया है।

इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तं न ययुः शब्दवारिधेः।
प्रक्रियान्तस्य कृत्स्नस्य क्षमो वक्तुं नरः कथम्॥

अतएव यह स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा और उसके साहित्यका अध्ययन किये बिना संस्कृत भाषा और उसके साहित्यका सम्यक् अध्ययन सम्पन्न नहीं हो सकता। प्राकृतकी अनेक प्रवृत्तियाँ संस्कृत वाङ्मयमें प्रविष्ट हैं। उनकी धारा प्रयागमें त्रिवेणीमें समाहित होनेवाली यमुनाकी धाराके समान देखी और परखी जा सकती है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थविकासकी प्रक्रिया : कुछ शब्द

प्रत्येक सार्थक शब्द अपने साथ एक अर्थ, भाव या विचार रखता है। यही अर्थ उसका प्राण या सार है। इसी अर्थको अर्थतत्त्व (Semantame) कहते हैं। प्रत्येक शब्दका अर्थतत्त्व सर्वदा एक नहीं रहता। उसमें सभ्यता और संस्कृतिके विकासके कारण शनैः-शनैः परिवर्तन होता रहता है। कैयटने अर्थके विषयमें लिखा है—यद्येकः शब्दः एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्, तत एतद् युज्यते वक्तुम्, यतस्त्वनियमः ततः प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः"—(प्रदीप-महा० १,२,४५) अर्थात् यदि एक शब्दका एक ही अर्थ निश्चित हो जाता, तो फिर कभी किसीको अर्थविषयक सन्देह ही उत्पन्न नहीं होता, पर ऐसी बात नहीं है। अतः शब्दके अर्थमें विकासका होना स्वभावसिद्ध है। नानार्थक कोषोंका तभी निर्माण होता है, जब अर्थविकास-की शक्तिके कारण एक ही शब्दका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थोंमें होने लगता है। प्रत्येक शब्दके सर्वार्थबोधक और अनन्तशक्तिवाला होनेपर भी उसे विशिष्ट अर्थमें नियन्त्रित कर दिया जाता है। कैयटने इसीका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—"सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते, तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र।"

शब्दका एक ही अर्थ सर्वदा नहीं रहता, भाषाविकासके अनुसार उसमें विकास या परिवर्तन होता रहता है। किसी शब्दके अर्थका विस्तार, किसीके अर्थका संकोच, तथा किसी शब्दके अर्थकी अन्यार्थमें प्रवृत्ति देखी जाती है। पतञ्जलिने अर्थको नित्य माना है। नागेशने इस नित्यको प्रवाह नित्य कहा है तथा बतलाया है कि शब्दका अर्थ अनादिकालसे चला आ रहा है, उसमें प्रवाहके कारण परिवर्तन होने पर भी स्वरूपगत अर्थवत्ता बनी रहती है अर्थात् किसी न किसी अर्थका अस्तित्व विद्यमान रहता है। भर्तृहरिने अर्थको अनित्य कहा है और प्रतिभाको वाक्यार्थका बोधक माना है तथा बतलाया है कि नाना व्यक्ति प्रत्येक शब्दका अपने अनुभवके अनुरूप अर्थ ग्रहण करते हैं। प्रतिभाकी भिन्नताके कारण एक ही शब्दके अर्थमें व्यक्ति और कालके भेदसे अन्तर हो जाता है। यथा—

प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोऽर्थः, तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते।

यथेन्द्रियं सन्निपतद् वैचित्र्येणोपदर्शकम्।
तथैव शब्दार्थस्थ प्रतिपत्तिरनेकधा ॥वाक्य० २,१३६।
एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण चैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः ॥वाक्य० २,१३८।

अर्थात् शब्दका कोई निश्चित एक अर्थ नहीं है, वक्ता अपनी भावना और वासनाके अनुसार एक शब्दका एक अर्थमें प्रयोग करता है, पर भिन्न-भिन्न श्रोता अपने-अपने ज्ञानके अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थ ग्रहण करते हैं। अभिप्राय यह है कि अर्थबोधका कारण प्रतिभा है; समय, परिस्थिति और वातावरणके अनुसार प्रतिभामें परिवर्तन होता रहता है। अतएव शब्दका अर्थ कूटस्थ नित्य नहीं है, सम्बन्ध शक्तिके कारण उनमें निरन्तर विकास या परि-वर्तन होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आधुनिक भाषाविज्ञान अर्थविकासके २२ कारण मानता है, पर प्राचीन भारतीय विचारकोंने इसके द्वादश कारण माने हैं। मेरा अपना विचार है कि प्राचीन द्वादश कारणोंमें ही वर्तमानमें अभिमत २२ कारणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। अतः यहाँ द्वादश कारणोंका ही उल्लेख किया जाता है।

१. सादृश्य, २. लक्षण, ३. साहचर्य, ४. सांस्कृतिक विकास, ५. मानव सुलभ स्खलन, ६. प्रकरण, ७. समास, ८. उपसर्ग संयोग, ९. वाच्य, १०. लिङ्ग, ११. स्वरभेद एवं १२. आलंकारिक प्रयोग।

यास्कने सादृश्यको अर्थविकासका हेतु बतलाये हुए पाद शब्दका उदाहरण प्रस्तुत किया है। पाद शब्दका अर्थ पैर है, इसीके सादृश्य पर पशुके एक पैरको चतुर्थांश देखकर चतुर्थांशके लिये भी पाद शब्दका व्यवहार होने लगा है। इतना ही नहीं खाटके पावे और वृक्षकी जड़के लिये भी चतुष्पादिका और पादपके रूपमें इसका व्यवहार होता है।

पतञ्जलिने लक्षणाको अर्थविकास या अर्थपरिवर्तनका आधार मानते हुए कहा है कि लाक्षणिक प्रयोगोंके मूलमें तत्स्थता, तद्धर्मता, तत्समीपता और तत्साहचर्य ये चार तथ्य हैं, जिनके कारण शब्दका अभिधेय विकसित होता रहता है। यथा 'मंचा हसन्ति'—मचान हँसते हैं, गिरिर्दह्यते—पर्वत जलता है, में तत्स्थताके कारण मंच शब्दसे मंचस्थ बालकोंको और पर्वतसे पर्वतस्थ वृक्षादिको लक्षित किया गया है। 'सिंहो माणवकः' और 'गौर्वाहीकः' में तद्धर्मतासे तेजस्विताके कारण बच्चेको सिंह एवं वाहीक देशवासीको मूर्खताके कारण बैल कहा है। समीपस्थताके आधार पर 'गंगामें घोष'—झोपड़ी और कूपमें 'गर्गकुल' प्रयोगोंमें गंगातीरके लिए गंगा शब्द और कूप समीपके लिए कूप शब्दका प्रयोग किया है। साहचर्यसे 'कुन्तान् प्रवेशय', 'यष्टीः प्रवेशय' प्रयोगोंमें भालेवालोंको कुन्त और यष्टिधारियोंको यष्टि शब्दसे अभिहित किया गया है।

यास्क, पतंजलि और भर्तृहरि इन तीनों वैयाकरणोंने साहचर्यको अर्थविकासका प्रबल कारण कहा है। यास्कने (निरुक्त २।२०) बताया है कि साहचर्यके कारण एक शब्द अपने रूढ़ अर्थको छोड़ अन्य अर्थमें प्रयुक्त होने लगता है। ऋग्वेदमें सूर्यको उषाके साहचर्यसे वत्स—बछड़ा कहा गया है।

पतञ्जलिने लिखा है—"सर्वश्च शब्दोऽन्येन शब्देनाभिसम्बद्ध्यमानो विशेषवचनः सम्पद्यते"—महा० २,१,५५।

अर्थात् सादृश्यके कारण प्रत्येक शब्दके अर्थमें वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है। यथा 'पितरौ' कहनेसे साहचर्यके कारण ही माता-पिता दोनोंका बोध होता है। हेलाराजका अभिमत है कि साहचर्यसे दो शब्दोंमें ऐसी पारस्परिक शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे एक शब्दके द्वारा ही दोनोंका अर्थबोध हो जाता है। एकशेष समासमें जिन शब्दोंका पाठ है, उनका साहचर्य प्रसिद्ध है, जिन शब्दोंमें साहचर्य नहीं है, उनमें एकशेष समास नहीं होता। इसी साहचर्यमूलक शक्तिको लक्ष्यकर भर्तृहरिने बताया है—"अर्थान्तराभिधायित्वं तथाऽर्थान्तरवर्तिना"—(वाक्य० ३ पृ० ४६३) अर्थात् अर्थान्तरवाची शब्द भी अर्थान्तरके बोधक होते हैं। इस सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए—'छत्रिणो यान्ति', 'ध्वजिनो यान्ति', 'ते विष्णुमित्राः' प्रयोगोंमें छत्रयुक्त जन, ध्वजयुक्त जन और विष्णुमित्रके साथियोंको विष्णुमित्र कहा गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांस्कृतिक विकासके कारण भाषाके अंग और उपांगोंमें नाना भावोंकी अभिव्यक्तिके हेतु नये शब्द गढ़े जाते हैं और पुराने लुप्त हो जाते हैं। शब्दका मौलिक अर्थ कुछ रहता है और वह सांस्कृतिक प्रवाहमें पड़ अन्य अर्थका बोधक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सामाजिक रीति-रिवाज और परम्पराएँ जैसी बनती बिगड़ती हैं, शब्दोंके अर्थ भी उन्हींके अनुसार विकसित होते रहते हैं। उदाहरणार्थ गुण शब्दको लिया जा सकता है। आरम्भमें यह शब्द किसी वस्तुकी विशेषताका वाचक था, पर संस्कृतिके विकासके साथ-साथ इसके अनेक अर्थ होते गये। सांख्यदर्शनमें यह गुण शब्द सत्त्व, रजस् और तमस्का वाचक हो गया। साहित्यमें यह रसोत्कर्षके हेतु शौर्यादि गुण या माधुर्य, ओज एवं प्रसादका, राजनीतिमें सन्धि, विग्रह आदि छः राजनीतिके प्रयोगोंका; ज्योतिषमें तीन संख्याका एवं व्याकरणमें अ, ए और ओ अक्षरोंका सूचक बन गया है।

मानवसुलभ स्खलनके अन्तर्गत अज्ञान, त्रुटियुक्त स्मरणशक्ति, अस्पष्ट श्रवण, मिथ्याज्ञान और प्रमादकी गणना की गई है। जैसे प्रमाणका अर्थबोध करानेके लिए द्वयस्, दघ्न और मात्र प्रत्यय शब्दमें जोड़े जाते हैं, पर शब्द प्रयोगके स्थलोंमें संयोगी शब्दोंके बिना ये प्रत्यय भी प्रमाण अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। यथा—किमस्य द्वयसम्, किमस्य मात्रम् आदि।

एक ही शब्दके वाक्य और प्रकरणके भिन्न होनेसे अर्थमें विकास या परिवर्तन हो जाता है। यथा एक ही उपतिष्ठते क्रियापदके—'आदित्यमुपतिष्ठते' में आदित्यकी उपासना करता है, 'रथिकानुपतिष्ठते' में—रथिकोंका साथ करता है, 'महामात्रानुपतिष्ठते' में महामात्रोंसे मित्रता करता है, 'गंगा यमुनामुपतिष्ठते' में गंगा यमुनासे मिलती है एवं 'अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते' में यह मार्ग आराको जाता है, अर्थ है।

समासको अर्थविकासका हेतु बतलाते हुए पतञ्जलिने लिखा है कि 'परार्थाभिधानवृत्तिः' (महा० २,१,१) अर्थात् समासके कारण शब्द अपने अभिहित अर्थसे भिन्न अर्थका बोध कराता है। आशय यह है कि पृथक्-पृथक् यह शब्द सामान्य अर्थका बोध कराते हैं, किन्तु समास होनेसे अन्य किसी विशेष अर्थका बोध होता है। यथा अप्सुचर—जलजन्तु, गोषुचर—मुर्गा, वर्षासुज—वीरबहूटी, सरसिज—कमल, स्तम्बेरम—हाथी, कर्णेजप—चुगुलखोर, पश्यतोहर—सुनार, एवं कण्ठेकाल—शिव आदि उदाहरणोंमें पदोंके मूल अर्थकी अपेक्षा समस्यन्त पदोंके अर्थमें पर्याप्त विकास हुआ है।

उपसर्ग-संयोगसे शब्द और धातुओंके अर्थमें बहुत अन्तर हो जाता है। पतञ्जलिने 'क्रियाविशेषक उपसर्गः' (महा० १,३,१) अर्थात् उपसर्गको धात्वर्थमें विशेषताका आधायक माना है। भट्टोजिदीक्षितने भी इसी सिद्धान्तका समर्थन करते हुए कहा है—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारप्रतिहारवत् ॥

यथा—हृ धातुका अर्थ हरण करना है, पर उपसर्गोंके कारण इसका अर्थ प्रहार, आहार, संहार, विहार और प्रतिहार आदि हो जाता है। इसी प्रकार एक ही धाञ् धातुसे उपसर्गोंके संयोगसे निष्पन्न विधान शब्दका अर्थ करना, अभिधानका अर्थ कहना, सन्धानका मिलना और निधानका कोष अर्थ होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाच्यभेदसे भी अर्थमें विकास होता है। यथा 'छिनत्ति काष्ठम्' और 'छिद्यते काष्ठम्' में कर्तृवाच्यमें छिद् धातुका अर्थ काटना और कर्मवाच्यमें कटना है। इसी प्रकार भिद् धातुका अर्थ टूटना और तोड़ना, पच् धातुका अर्थ पकना और पकाना होता है। भर्तृहरिने इस प्रकारके अर्थविकासमें समीपस्थ पदको कारण माना है। उनका सिद्धान्त है—'अत्र तूपपदेनायमर्थभेदः प्रतीयते।'

लिङ्गभेदको अर्थविकासका कारण बतलाते हुए भर्तृहरिने लिखा है—

स्वरभेदाद्यथा शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
लिङ्गभेदात् तथा सिद्धात् साधुत्वमनुगम्यते॥

वृक्षवाची पुंल्लिङ्ग शब्द वृक्षका वाचक है और यही शब्द नपुंसक लिङ्ग होने पर फलका वाचक बन जाता है। यथा—'पीलुर्वृक्षः', पीलु फलम्','आम्रः वृक्षः', 'आम्रम् फलम्', प्रयोगोंमें पीलु और आम्र वृक्ष और फलके वाचक हैं।

हेलाराजने इसी सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नपुंसक लिङ्ग सार शब्दका अर्थ न्यायसंगत है, यथा—'नैतत् सारम्' और पुलिङ्ग सारका शब्दका अर्थ उत्कर्ष या सारभाग है; यथा चन्दनसार, खदिरसार आदि। पद्म और शंख शब्द कमलके अर्थमें नपुंसक लिङ्ग हैं और निधिके अर्थमें पुंल्लिङ्ग। कुछ शब्दोंमें तो लिङ्गभेदसे बिल्कुल अर्थ बदल जाता है। यथा—लक्षणः-लक्षणा, व्यञ्जनम्-व्यञ्जना, अभिधः-अभिधा आदि। एक ही लिङ्गके शब्दोंमें प्रत्ययभेदसे भी अर्थभेद हो जाता है। यथा आचार्य शब्दसे स्त्रीलिङ्गमें आचार्या और आचार्याणी शब्द बनते हैं। आचार्या का अर्थ स्वयंशिक्षिता-स्त्री और आचार्याणीका अर्थ आचार्यकी धर्मपत्नी है। इसी प्रकार पाणिगृहीति का अर्थ भार्या है और पाणिगृहीताका अर्थ कोई भी स्त्री, जिसका हाथ पकड़ा हो।

अलंकार प्रयोग द्वारा शब्दोंके अर्थमें निरन्तर विकास होता रहता है। यतः सूक्ष्म वस्तुओं या व्यापारोंको साधारण शब्दोंमें अभिव्यक्त करना आसान नहीं है। इसके लिए आलंकारिक प्रयोग आवश्यक होते हैं। यथा हृदयकी कठोरता दिखलानेके लिए पाषाण, कोमलता दिखलानेके लिए जल, अनिश्चय या ढुलमुल नीति दिखलानेके लिए बिना पेन्दीका लोटा, साधुत्व दिखलानेके लिए गाय, चालाकी बतलानेके लिए कौआ एवं होशियारी और धूर्त्तता बतलानेके लिए सियार शब्दका प्रयोग किया जाता है।

अर्थविकास किसी निश्चित एक दिशामें नहीं होता है। कुछ शब्दोंके पहले संकुचित अर्थ थे, संस्कृति और सभ्यताके विकासके साथ-साथ उनके अर्थ भी विस्तृत होते गये हैं। कुछ शब्दोंके आरम्भमें विस्तृत अर्थ थे, पर बादमें समयके थपेड़ोंसे उनके अर्थ संकुचित होते गये हैं। तथ्य यह है कि आरम्भमें सभी शब्द सामान्य रहे होंगे। सांस्कृतिक क्रिया-कलापोंके परिवर्तन और विकासके साथ विशिष्ट नयी भावनाओंके आनेसे अर्थविस्तार, अर्थसंकोच और अर्थादेश हुआ है। किसी शब्दके अर्थमें पुराने अर्थकी अपेक्षा विस्तार, किसीमें संकोच और किसी शब्दके प्रधान अर्थका लोप होकर गौण अर्थमें ही उस शब्दका प्रयोग होने लगा है। यहाँ अर्थपरिवर्तनकी उक्त तीनों दिशाओंके उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गोष्ठी—इसका प्राचीन रूप गोष्ठ है। वैदिक कालमें गायोंको रखनेके लिए बाड़े बनते थे, वे गोष्ठ कहलाते थे। गोल्डनरने ऐतरेय ब्राह्मण ३, १८, २४ के स्थल तथा वाजसनेयि संहिता ३।२१ पर अंकित महीधरकी टिप्पणीके आधारपर इसे 'गायोंके खड़े रहनेका स्थान' कहा है। ऋग्वेद 'नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत' १।१९१।४ तथा 'आ गावो ऊग्मन्नुत भद्रमक्रत्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्ये ६।२८।१ के अनुसार गोष्ठ शब्दका अर्थ गायोंके बैठनेका स्थान है। यह अर्थ ऋग्वेदके उन सभी स्थलोंके अनुकूल है, जहाँ यह आया है। साम्यमूलक हेतुके अनुसार अथर्ववेदमें इस शब्दके अर्थका विस्तार पाया जाता है। वहाँ-एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष। त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ तथा इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्' मन्त्रोंमें गोष्ठ शब्द पशुओंके रहनेके स्थानके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

कात्यायनने "गोष्ठादयः स्थानादिषु पशुनामादिभ्यः" अर्थात् पशुओंके बाड़ेको गविष्ठ कहा है। यथा—गोगोष्ठ—गायोंका बाड़ा, महिष गोष्ठ—भैंसोंका बाड़ा, अविगोष्ठम्—भेड़ोंके रहनेका स्थान। प्राकृत साहित्यमें पशुओंके व्रज या चरागाहके लिए गोट्ठ शब्दका प्रयोग उवासगदसाओ, समराइच्चकहा, विवागसुओ आदि ग्रन्थोंमें अनेक बार आया है। अतः सिद्ध है कि मानव गोष्ठीका आविर्भाव पशुगोष्ठ से हुआ है। पञ्चतन्त्र, हितोपदेश और कथासरित्सागर आदि ग्रन्थोंमें पशुओंकी विविध गोष्ठियोंका वर्णन भी मिलता है।

गोष्ठी शब्दके अर्थका निरन्तर विकास होता रहा है और इसकी व्युत्पत्तियाँ भी समयानुसार नयी-नयी बनती गईं। आरम्भमें "समानशीलजनसमूहः गोष्ठी" अर्थात् एक-से शील या स्वभाव वाले व्यक्तियोंकी टोली गोष्ठी कहलायी। इसके पश्चात् "समानविद्यावित्तशीलबुद्धिवयसाम् अनुरूपैः आलापैः एकत्रासनसम्बन्धो गोष्ठी"—समान विद्या, धन, शील, बुद्धि और आयु वाले लोगोंका एक स्थानपर एकत्र हो परस्परमें उचित और उपयुक्त संभाषण करना गोष्ठी कहलाया। संगीत दामोदर ग्रन्थमें गोष्ठीके लिए संगीतका होना अनिवार्य कहा है। इस ग्रन्थका अभिमत है—

एकाङ्गा कथिता गोष्ठी कैशिकीवृत्तिसंयुता।
शृंगाररस षट्-पंच सप्त वा योषिदान्विता॥
प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलङ्कृता।
गर्वामर्षसन्धिभ्यां हीना प्राकृतसम्मता॥
वाद्याद्यैरन्विता चैव कर्तव्येवं विचक्षणैः।

गोष्ठी एक अंकवाली या एक ही बैठकमें समाप्त होनेवाली शृंगार प्रधान एवं आनन्दात्मक वृत्तियोंसे समन्वित होनी चाहिए। गोष्ठीमें पाँच-सात महिलाएँ हों और पुरुषोंकी संख्या नौ या दस होनी चाहिए। संगीतका रहना गोष्ठीके लिए आवश्यक है और सबसे आवश्यक यह है कि गोष्ठीका ढंग सहज, स्वाभाविक—हो उसमें गर्व, ईर्ष्या या झगड़ा-टंटा आदि न हो।

१, अथर्ववेद २।२६।१-२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्तमान अर्थमें प्रचलित गोष्ठी शब्दका प्रयोग भरत मुनिके नाट्यशास्त्रमें मिलता है। गोष्ठी सेवन दैनिक जीवनके लिए आवश्यक कार्यकलापोंमें सम्मिलित किया गया है। मनोविनोद, पारस्परिक विचारविनिमय तथा ज्ञान-संवर्धनका साधन गोष्ठीको माना गया है। वात्स्यायनने अपने कामसूत्रमें "गृहीतप्रसाधनास्यापराह्णे गोष्ठीविचाराः" अर्थात् गोष्ठी सेवन दैनिक परिचर्यामें सम्मिलित हैं। अतएव पशुगोष्ठीने ही मनुष्यगोष्ठीका रूप ग्रहण किया है और इससे द्यूतगोष्ठी, मदिरापानगोष्ठी, तस्कर गोष्ठी एवं धूर्तगोष्ठी जैसी गोष्ठियोंका विकास हुआ है। यह अर्थोत्कर्ष और अर्थविस्तारका उदाहरण है।

मंडप—इस शब्दकी व्युत्पत्ति 'मडि भूषायाम्' और 'मन ज्ञाने' धातुओंसे निष्पन्न की जाती है। आरम्भमें इस शब्दका अर्थ स्थान विशेष था। यज्ञ कार्य सम्पादन करनेके पूर्व ऋषि-मुनि स्फूर्त्ति लाभके लिए एक सुसज्जित स्थान पर एकत्र होकर मंड पीते थे, उस स्थान को 'मंडं पिवतीति मंडपः' कहा जाता था। यास्कने मण्डूक शब्दकी व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए 'मण्ड एषामोकः' अर्थात् गन्दला जल ही जिनका निवास स्थान है, वे मण्डूक हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार मण्ड—मांड भी एक प्रकारका गन्दला जल है, यह ध्वनित होता है। श्रौत और गृह्य दोनों प्रकारके यज्ञोंमें सोमरसके साथ मण्ड पीनेकी प्रथा थी। यज्ञविधिके ४६ कर्मोंमेंसे परिस्तरण और पात्रासादन क्रियाओंके मध्यमें सोमरस और मण्डका सेवन किया जाता था। फलीकरण तण्डुलके कणोंको दूरकर शोधन करना और कपालोपधान–मृत्तिकापात्रोंको यथास्थान रखना, ये दोनों क्रियाएँ तभी सम्पादित की जाती थीं, जब किसी सुपेय द्वारा शक्ति अर्जित कर ली जाती थी। मंडपानकी प्रथाके समाप्त होने पर भी उत्सवोंमें बैठनेके लिए बनाये गये सुसज्जित स्थानको मण्डप कहा जाने लगा। 'मडि भूषायाम्' से इस शब्दके निष्पन्न करने पर शोभाजनक या शोभारक्षक स्थानको मण्डप कहा जायगा, यथा—"मण्डनं मण्डः, मण्डं पाति—रक्षति—मण्डपः"। अतएव स्फूर्ति लाभके हेतु मण्ड पीनेके सुसज्जित स्थानसे इसका अर्थ विकसित होकर उत्सवके लिए प्रयुक्त सुसज्जित स्थान हो गया है।

प्रसाद—यह शब्द आरम्भमें देवनिवेदित द्रव्यके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। सत्यनारायण की कथाके अन्तमें बाँटे जानेवाले आटा, चीनी और घी आदि द्रव्योंको मिलाकर बनाये गये मिष्ठान्नके रूपमें आया है। स्कन्दपुराणके रेवाखण्डमें बताया है—

> **आसीद्वंशध्वजो राजा प्रजापालनतत्परः।**
> **प्रसादं सत्यदेवस्य त्यक्त्वा दुःखमवाप सः॥**

मेरा अनुमान है कि सत्यनारायण कथाका प्रचार यज्ञ प्रथाके बन्द होने पर यज्ञफलकी प्राप्तिके हेतु हुआ है। यही कारण है कि इस कथामें यज्ञकी आवश्यक सभी क्रियाएँ संक्षेपमें सम्पन्न की जाती हैं। यज्ञमें पुरोडाशका प्रयोग होता था, जो आटेकी मोटी रोटी, घी, चीनी और मेवासे तैयार किया जाता था। यह पुरोडाश ही सत्यनारायण कथामें प्रसाद बन गया है। आज भी व्रजमें इस प्रसादको पंडीरी या पँजीरी कहा जाता है। इस कथामें केलेके स्तम्भ द्वारा लघुमण्डप, बीचमें शंख ध्वनि सम्पन्न की जाती है। यज्ञीय सोमरस पञ्चामृतके रूपमें, यज्ञीयविष्णु पौराणिक विष्णुके रूपमें और पुरोडाश प्रसादके रूपमें परिवर्तित दिखलायी पड़ता है। कथाके नायक सत्यदेव इन्द्र, रुद्र और वरुणकी शक्तिसे सम्पन्न हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दार्शनिक विद्यानन्दिके "श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः" कारिकांश तथा "प्रसादः पुनः परमेष्ठिनस्तद्विनेयानां प्रसन्नमनोविषयत्वमेव, वीतरागाणां तुष्टिलक्षण-प्रसादासंभवात्कोपासंभववत्[1]" व्याख्यांशसे भी संकेत मिलता है कि प्रसाद शब्दका मूलार्थ सत्यनारायणकी कथामें वितरित होनेवाला मिष्टान्न है, यह देवताकी प्रसन्नताका सूचक था। यह प्रसाद मंगलोंके लिए भी मंगलार्थक माना गया था। इस प्रकार प्रसाद शब्द देवनिवेदित द्रव्यसे विकसित होकर लक्षणा और साहचर्यके कारण प्रसन्नता एवं निर्मलता अर्थको प्राप्त हुआ। रघुवंशमें महाकवि कालिदासने प्रसन्नताके अर्थमें इस शब्दका व्यवहार किया है।

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य ।[2]
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव ॥

प्रबोध चन्द्रोदय नाटककी प्रस्तावनामें भी इसी प्रसन्नताके अर्थमें प्रसाद शब्दका प्रयोग पाया जाता है।—

कल्पान्तवातसंक्षोभलङ्घिताशेषभूभृतः ।[3]
स्थैर्यप्रसादमर्यादास्ता एव हि महोदधेः ॥

अर्थात्—प्रलयकालकी हवासे समुद्रमें बाढ़ आती है, जिससे बड़े-बड़े पर्वत डूब जाते हैं, परन्तु प्रलयकालके बाद समुद्रकी स्थिरता, प्रसन्नता तथा मर्यादा वही हो जाती है।

साहित्यमें यही प्रसाद काव्यका सर्वस्व बन गया है। यह वैदर्भी रीतिका प्राण है।

प्रतिष्ठा—यह शब्द आरम्भमें देवमूर्त्तिकी प्रतिष्ठा—स्थापनाके लिए प्रयुक्त होता था। ऋग्वेदके "साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघंथ" १०।७।६ में शरीरके अर्थमें प्रतिष्ठा शब्दका व्यवहार हुआ है। मेरा अनुमान है कि ऋग्वेदका शरीरार्थक प्रतिष्ठा शब्द मूर्त्ति प्रतिष्ठाका वाचक बन गया है। पाँचवीं शतीके जैन दार्शनिक पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें बताया है—"काष्ठ-पुस्तचित्रकर्माक्षनिक्षेपादिषु सोऽयमिति स्थाप्यमाना स्थापना"[4]—अर्थात् काठ, पुस्त, चित्र और अक्ष आदिमें यह वह है इस प्रकार स्थापित—प्रतिष्ठित करनेको स्थापना कहते हैं। उन्होंने स्थापना जीव नामक एक जीवका भेद बताया है, जिसका अभिप्राय है कि किसी मूर्ति आदि में किसी शरीरधारीकी प्रतिष्ठाका सम्मान या असम्मानकी कल्पना करना। अतएव स्पष्ट है कि ऋग्वेदमें प्रयुक्त प्रतिष्ठा शब्द शरीरका पर्यायवाची है और इसका मूल अर्थ देवमूर्तिकी स्थापना है। मत्स्य पुराणमें प्रतिष्ठाकी तिथियोंका उल्लेख मिलता है। देवीपुराणमें—"यस्य देवस्य यः कालः प्रतिष्ठाध्वजरोपणे" द्वारा प्रतिष्ठा शब्दका व्यवहार उक्त अर्थ में ही हुआ है। विष्णु-पुराण, ब्रह्मपुराण, आदिपुराण प्रभृति पुराणोंमें "प्रति तिष्ठतीति प्रतिष्ठा"—स्थापनाके अर्थमें प्रतिष्ठा शब्द आया है। साहचर्य और सामीप्यसे इस शब्दके अर्थमें विस्तार हुआ है यह व्रतोद्यापन, गौरव, स्थान, आदर आदि अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगा है। पुराणोंमें व्रतोद्यापनके

---

१. आप्तपरीक्षा—बम्बई संस्करण पृ० ४।
२. रघुवंश सर्ग २ श्लो० ६८।
३. प्रबोध० अं० १, श्लो० ६।
४. सर्वार्थसिद्धि १।५ की वृत्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थमें, रघुवंशके "वेदिप्रतिष्ठान् विततताध्वराणां[१]" में स्थानके अर्थमें एवं कथासरित्सागरके "किञ्च व्याकरणं लोके प्रतिष्ठां प्रापयिष्यति[२]" में इस शब्दका व्यवहार गौरवके अर्थमें पाया जाता है। वर्तमानमें गौरव एवं सम्मानके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है।

अतिथि—इस शब्दका अर्थ—"न तिथिः यस्य सोऽतिथिः" अर्थात् अज्ञातपूर्व गृहागत व्यक्ति था। इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—

यस्य न ज्ञायते नाम न च गोत्रं न च स्थितिः।
अकस्मात् गृहमायाति सोऽतिथिः प्रोच्यते बुधैः॥

अर्थात्—घरमें अकस्मात् आनेवाले अज्ञात नाम, गोत्रधारी व्यक्तिको अतिथि कहा है। अथर्ववेद और तैत्तिरीय उपनिषद्में[३] अतिथिदेव व्याहृतिका प्रयोग करते हुए अतिथि सत्कारके महत्त्व पर जोर दिया है। अपरिचित व्यक्ति, जिससे कभीका परिचय नहीं है, जिसके सम्बन्धमें अन्य किसी व्यक्तिसे भी कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई है, ऐसे व्यक्तिको ही अतिथि कहा गया है। मार्कण्डेय पुराणमें अतिथि शब्दकी व्युत्पत्ति—"अतति सातत्येन गच्छति न तिष्ठतीति अतिथिः" अर्थात् जो लगातार चलता रहता है और एक स्थान पर अधिक समय नहीं ठहरता, वह अतिथि है। विष्णु पुराणमें अकस्मात् आनेवाले ऐसे अपरिचित व्यक्तिको, जो मुहूर्त्तका अष्टमांश अर्थात् छः मिनट ठहरता था, अतिथि कहा गया है। ऐसे अतिथिको ही अग्निके समान तेजस्वी कहा है और इसके निराश लौटनेको पाप बताया है। वर्तमानमें अतिथि शब्दके अर्थमें विस्तार हुआ है और सूचना देकर निश्चित समय पर आनेवाले परिचित व्यक्ति भी अतिथि कहे जाते हैं। इतना ही नहीं, सगे भाई भी यदि कहीं बाहरसे आ जायें तो वे भी अतिथि बन जाते हैं। मिलने वाले मित्र, जिन्हें चाय पीनेके लिए आमन्त्रित किया जाता है, वे भी अतिथि कहलाते हैं

उपवास—इस शब्दका मूल अर्थ अग्निके निकट बैठना या पास रहना था। यज्ञके समय यजमान अग्निके पास बैठता था तथा अग्निकी उपासना करता था। वैदिक कालमें अग्नि विद्याकी उपासना करनेको उपवास कहा जाता था। आरण्यक ग्रन्थोंमें भी उपवासका अर्थ यज्ञाग्निके पास बैठना किया है। उपनिषद् कालमें जब संन्यासका प्रचार आरम्भ हुआ, तब उपवासका अर्थ भोजनका त्याग किया जाने लगा। पुराणोंमें उपवासकी व्यवस्थाका वर्णन करते हुए लिखा है—

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः॥

अर्थात्—अञ्जन, रोचन, गन्ध, पुष्प, माल्य, अलंकार, दन्तधावन, तैलमर्दन, शिरोभ्यङ्ग, ताम्बूल सेवन, दिवास्वाप, अर्थक्रीड़ा एवं मैथुन सेवन आदि पापकारक क्रियाओंको

---

१. रघुवंश १६।३५।
२. कथासरित्सागर २।६९।
३. तैत्तिरीय उपनिषद् ११।२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागकर गुण—स्वाध्याय, ध्यान, समाधि पूर्वक निवास करना उपवास है। उपवासमें आहारादि समस्त भोग क्रियाओंका त्याग करना आवश्यक माना गया है। उपवास शब्दके अर्थमें समय और परिस्थितियोंके अनुसार विकास होता रहा है, स्वास्थ्य सुधारके लिए भोजन छोड़ देनेको भी उपवास कहा जाता है। सत्याग्रह या भूख हड़ताल भी उपवासमें शामिल है।

उत्सव—इस शब्दका प्रयोग सोमरस निकालकर संभार सम्पन्न करनेके अर्थमें हुआ है। यज्ञके अवसर पर सोमपान कर यजमान और ऋत्विक् आनन्दित होते थे, तथा यजमान यज्ञीय देवताको प्रसन्न करनेके लिए सोमरस निकालकर उसे चढ़ाता था। अतएव सिद्ध है कि उत्सवका प्रयोग निचोड़े हुए सोमरसको देखकर आनन्दित होनेके अर्थमें आया है। इसको नियताह्लादजनक व्यापार कहा है। आरण्यक और सूत्रग्रन्थोंमें यह उत्सव शब्द आनन्दके सामान्य अवसरों या आयोजनोंके लिए भी प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृतिमें यज्ञोपवीत, विवाह आदि माङ्गलिक अवसरोंको उत्सव कहा गया है। यथा—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च[1] **॥**

अर्थात्—उन्नतिकी कामना करनेवाले व्यक्तिको कौमुदी आदि सत्कार तथा यज्ञोपवीत आदि उत्सवोंके अवसरों पर स्त्रियोंका वस्त्र, आभूषण और भोजनादिसे आदर-सत्कार करना चाहिए। हितोपदेशमें अभ्युदयके अर्थमें उत्सव शब्दका प्रयोग हुआ है। यथा—

उत्सवे व्यसने चैव दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे।
राजद्वारे श्मशाने च यः तिष्ठति स बान्धवः॥

पौराणिक कालसे उत्सव शब्दका प्रयोग पर्व और त्यौहारके अर्थमें भी होने लगा है। बसन्तोत्सव, होलिकोत्सव, दशरात्रोत्सव आदि अनेक उत्सवोंके नाम उक्त अर्थमें ही आये हैं।

सपत्न—इस शब्दका मूल अर्थ एक ही स्त्रीके लिए झगड़नेवाले दो व्यक्ति हैं। इतिहासके आरम्भमें स्त्री भी धन-सम्पत्तिके समान ईर्ष्याकी वस्तु थी। अतः उसको प्राप्तिके लिए यदा-कदा लोग आपसमें झगड़ जाते थे और यह झगड़ा उग्ररूप धारण कर शत्रुतामें परिणत हो जाता था। अतएव आरम्भमें इस शब्दका व्यवहार स्त्रीके लिए झगड़ा करनेवाले या शत्रुता करनेवाले व्यक्तिके लिए हुआ है। पर कालान्तरमें इस शब्दका व्युत्पत्तिगत अर्थ—"सह पतति एकार्थे" अर्थात् किसी भी एक वस्तुकी उपलब्धिके हेतु आपसमें झगड़नेवाले या शत्रुता करनेवाले व्यक्ति हो गया। महाभारतमें भी इसका प्रयोग शत्रुके अर्थमें पाया जाता है। यथा—

संरक्ष तात मन्त्रञ्च सपत्नांश्च ममोद्धर।[2]
निपुणेनाभ्युपायेन यद् ब्रवीमि तथा कुरु॥

श्रेण्य संस्कृत साहित्यमें इस शब्दका प्रयोग शत्रुके अर्थमें प्रचुर परिमाणमें पाया जाता है।

द्रव्य—इस शब्दका मूल अर्थ लकड़ीका बना पात्र था। मुख्यतः यह शब्द सोमयज्ञके

---

१. मनुस्मृति अ० ३ श्लो० ५९।
२. महाभारत १।४५।५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय सोमरसको छानकर जिस पात्रमें रखा जाता था, उस पात्रका द्योतक था। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें लकड़ीसे बनी किसी भी वस्तुको द्रव्य कहा गया है। द्रव्य शब्दकी व्युत्पत्ति हिलेब्राण्ट नामक विद्वान्ने 'द्रु' धातुसे मानी है और इस शब्दका अर्थ मूसल बताया है। मैकडौनेल और कीथने अपने वैदिक इण्डेक्स नामक ग्रन्थमें ऋग्वेदके विभिन्न प्रमाणोंके आधारपर इसका अर्थ लकड़ीकी मुठिया लिखा है। यास्क लकड़ीके बने 'घन'[1]के रूपमें इसका अनुवाद करते हैं। सम्भवतः रौथ भी इसे लकड़ीकी[2] गदाके अर्थमें ग्रहण करते हैं। गोल्डनरका विचार है कि यह एक दौड़में सम्मिलित होनेकी इच्छा होनेपर मुद्गल द्वारा दूसरे बैलके स्थानापन्नके रूपमें प्रयुक्त लकड़ीके बैलका द्योतक है[3]। सिद्धान्त कौमुदीमें द्रुमविकारको द्रव्य कहा है, जिससे स्पष्ट है कि लकड़ीकी बनी किसी भी वस्तुको द्रव्य कहा जाता था। इसका समर्थन मेदिनी और अभिधान चिन्तामणि से भी होता है। तन्त्र ग्रन्थोंमें इसका व्यवहार मदिरा—शरावके अर्थमें भी हुआ है। कुलार्णव-तन्त्रमें "सशब्दं न पिवेद्द्रव्यम्" अर्थात् बोलते हुए मदिरापान नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति और महाभारतमें सामान्य वस्तुके अर्थमें द्रव्य शब्दका प्रयोग उपलब्ध होता है। यथा—

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम्॥—मनु०८९

अर्थात्—अग्नि केवल असावधानीसे स्पर्श करनेवालेको जलाती है, किन्तु राजाग्नि पशु सहित समस्त द्रव्य—वस्तुओंको नष्ट कर देती है।

न्यायके विकासके साथ द्रव्यका प्रयोग पृथिवी आदि नव द्रव्योंके लिए हुआ है और द्रव्यका आश्रय गुणोंको कहा गया है। द्रव्य शब्दका अर्थ धातु, धन-सम्पत्ति, रुपया-पैसा जो ग्रहण किया जाता है, वह वैदिक काष्ठवस्तुसे ही विकसित होकर आया है।

शुश्रूषा—इस शब्दकी मूल व्युत्पत्ति 'श्रोतुमिच्छा' अर्थात् सुननेकी इच्छाके रूपमें प्रचलित थी। कामन्दकीय नीतिमें इस शब्दका प्रयोग उक्त अर्थमें पाया जाता है। यथा—

शुश्रूषा श्रवणञ्चैव ग्रहणं धारणं तथा[4]।
ऊहाऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानञ्च धीगुणाः॥

अर्थात् सुननेकी इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, ऊहापोह करना, अर्थज्ञान प्राप्त करना और तत्त्वज्ञान ग्रहण करना बुद्धिके गुण हैं। अतः स्पष्ट है कि इस शब्दका मूल अर्थ सुननेकी इच्छा ही था, पर अर्थविकसित होकर इसका प्रयोग सेवा-शुश्रूषाके अर्थमें होने लगा है। मनुस्मृतिमें कहा है—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥[5]

---

१. निरुक्त ९।२३।
२. विदेशे माइथौलॉजी १, १९१-१९२।
३. सेन्ट पीयर्सवर्गकोश और विदेशे स्टूडियन २, ३, ४।
४. कामन्दकीय नीति ४।२२।
५. मनुस्मृति २।११२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्—जिस शिष्यमें धर्म तथा अर्थ न हों अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो, ऊसर में उत्तम बीज-वपनके समान उस शिष्यको विद्यादान नहीं करना चाहिए ।

कर्पट—इस शब्दका आरम्भिक प्रयोग जीर्ण—पुराने वस्त्रके अर्थमें हुआ है। प्राचीन भारतमें वस्त्र चार प्रकारसे बनते थे—कुछ छालसे, कुछ फलसे, कुछ कीड़ोंसे और कुछ रोओंसे। इन्हें क्रमशः क्षौम, कार्पास—रुई, कौशेय—रेशमी और राङ्कव—ऊनी कहा गया है। इन वस्त्रोंको पहननेके निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य ये तीन प्रकार प्रचलित थे। निबन्धनीयमें बाँधे जानेवाले पगड़ी, धोती, साड़ी आदि वस्त्रोंका ग्रहण किया जाता था; प्रक्षेप्यमें शरीरसे चिपटाकर धारण किये जानेवाले चोली, सलूका आदि एवं आरोप्यमें उत्तरीय—चादर आदिका ग्रहण होता था। कर्पट शब्दका प्रयोग वास्तवमें क्षौम, कार्पास, कौशेय और राङ्कव इन चारों ही प्रकार के वस्त्रोंकी जीर्ण अवस्थाको व्यक्त करनेके लिए किया गया है। इसी कारण कोषकारोंने "मलिनत्वादिदुष्टजीर्णवस्त्रखण्डम्" अर्थात् मलिन और जीर्ण वस्त्र खण्डको कर्पट कहा है। कर्पटसे कार्पट बनाकर इसका अर्थ संन्यासी ग्रहण किया गया है। अमरकोषके त्रिकाण्डमें "कर्पटेन कषायवस्त्रेण चरतीति कार्पटिकः" अर्थात् कर्पट शब्दका अर्थ गेरुआ वस्त्र किया है। प्राकृत साहित्यमें 'कप्पडिय—कार्पटिक—ऐसे लोगोंको कहा है, जो मैले, पुराने और गेरुआ रंगके कपड़े पहनते थे। देवेन्द्रगणिका मत है कि सातवीं, आठवीं शतीमें कार्पटिक एक सम्प्रदाय ही बन गया था, जिसका प्रधान चिह्न जीर्ण कंथा—कथली धारण करना था।[१] इससे स्पष्ट है कि कर्पट शब्दका अर्थ जीर्ण और मलिन वस्त्र लिया जाता था। कथासरित्सागरमें "धृतकार्पटिकाकारै राजपुत्रापदेशिभिः"[२] में कार्पटिक मलिनवस्त्र पहने हुए पथिकके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। कालान्तरमें इस शब्दके अर्थमें प्रसार हुआ और मलिन या जीर्ण वस्त्रसे हट-कर सामान्य वस्त्रके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा। शब्दरत्नावलीमें इसका अर्थ सामान्य वस्त्र ही किया है। कर्पट, कप्पडसे होता हुआ हिन्दी कपड़ा शब्द भी सामान्य वस्त्रवाचक है। यथा मैं कपड़े पहनकर आता हूँ, बाजारसे कपड़ा खरीदता हूँ आदिमें कपड़ा शब्द सभी प्रकारके वस्त्रोंके लिए व्यवहृत है। मेरा अनुमान है कि कार्पटिक सम्प्रदायके समाप्त होने पर इस शब्दके अर्थमें विस्तार हुआ है और यह विशेषसे सामान्य अर्थका द्योतन करने लगा है।

म्लेच्छ—इस शब्दका मूलार्थ ऐसा देश विशेष है, जो बहुत दिनों तक आर्योंके प्रभावसे मुक्त रहा था। सम्भवतः यह मगध या उसके आस-पासके प्रदेशका नाम है, जो अपनी समुन्नत संस्कृतिके कारण बहुत समय तक आर्योंके प्रभावसे वंचित रहा और उनके द्वारा तिरस्कृत होता रहा। तृतीय शतीके विद्वान् उमास्वातिने "आर्यम्लेच्छाश्च[३]" सूत्रमें समस्त भारतवर्षको आर्य और म्लेच्छ इन दो भागोंमें विभक्त किया है। पतञ्जलिने महाभाष्यमें म्लेच्छोंको अस्पष्ट भाषा बोलने वाला बताया है और यह भाषा ऐसे स्थानकी मानी है, जहाँ 'र' के स्थान पर 'ल' और दन्त्य स के स्थान पर तालव्य श का उच्चारण किया जाता है। उक्त भाषागत वैशिष्ट्य

१. देखें—उत्तराध्ययनकी टीका—बाईस परीषह प्रकरण।

२. कथासरित्सागर लम्ब ५, श्लो० १२।

३. तत्त्वार्थसूत्र ३।३६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मागधीमें पाया जाता है। अतः सम्भव है कि इनके अनुसार भी मगधको ही म्लेच्छ कहा गया होगा। इसकी पुष्टि शब्दकल्पद्रुमके "भारतवर्षस्यान्तः शिष्टाचाररहितः कामरूपवङ्गादिः म्लेच्छः"[१]—उद्धरणसे भी होती है। मेदिनीकोशमें काशीके पूर्वमें गंगाके दूसरी ओर स्थित प्रदेशको म्लेच्छ बताया है। सूत्र ग्रन्थोंमें यह शब्द देशवाचकके स्थान पर व्यक्तिवाचकके रूपमें व्यवहृत दिखलायी पड़ता है। बौधायन सूत्रमें बताया है—

गोमांसखादको यश्च विरुद्धं बहुभाषते।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥

अर्थात् आचार भ्रष्ट गोमांस भक्षकको म्लेच्छ कहा गया है। अमरकोशमें इसे जातिवाचक माना गया है और—"किरातशवरपुलिन्दादिजातिः म्लेच्छः" कहा है। महाभारतमें भी म्लेच्छोंको पशुधर्मी बताया है।

गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्यग्योनिगतेषु च।
पशुधर्मिषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि॥

अतएव स्पष्ट है कि क्रमशः विद्वेष वश यह शब्द घृणाका प्रतीक होकर देशसे व्यक्ति वाचक बना और व्यक्तिसे जातिवाचक हो गया है।

मेहतर—इस शब्दकी निष्पत्ति महत्तर शब्दसे मानी जा सकती है। 'अयमनयोरतिशयेन महान्—इति महत्तरः—अर्थात् यह इससे महान्—बड़ा है व्युत्पत्तिके अनुसार इस शब्द का मूलार्थ महान् व्यक्ति है। यह बड़े और सम्पन्न व्यक्तिके लिए प्रयुक्त होता था। अमरकोश में "शूद्रः स्यात्पादजो दासो ग्रामकूटो महत्तरः"[२]—अर्थात् शूद्र, पादज और दास ग्रामकूटके समान अत्यन्त महान् हैं। टीकाकारने—"ग्रामकूटो महत्तरः" का अर्थ "ग्रामस्य कूट इव अतिशयेन महान्" किया है। अतः स्पष्ट है कि महत्तर शब्द महान्का वाचक होते हुए भी व्यंग्यवश शूद्रोंके लिए प्रयुक्त होने लगा है। इसका समर्थन संस्कृत नाटकोंसे भी होता है। संस्कृत नाटकोंमें किसी निम्नश्रेणीके पात्रको चिढ़ानेके लिए "अयं स्वजातिषु महत्तरः" अर्थात् यह अपनी जातिमें बड़ा है, का प्रयोग मिलता है। इसका व्यञ्जना द्वारा शूद्र अर्थ ग्रहण किया गया है। कथासरित्सागरमें भी यह शूद्रके अर्थमें ही व्यवहृत प्रतीत होता है।

केनायं रचितोऽत्रेति सोऽपृच्छच्च महत्तरान्।[३]
ते च न्यवेदयंस्तस्मै कर्त्तारं तिलकस्य माम्॥

अतएव सिद्ध है कि महत्तर शब्द आरम्भमें अपने व्युत्पत्तिगत अर्थके अनुसार बड़ी जातिवालोंके लिए प्रयुक्त होता था, पर कालान्तरमें व्यंग्यका संयोग पाकर शूद्रके लिए व्यवहृत होने लगा और इससे निष्पन्न मेहतर भंगीका वाचक बन गया है।

कथा—इस शब्दका मूलार्थ बात-चीत है। मनुस्मृतिमें यह शब्द इसी मूलार्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—

---

१. शब्दकल्पद्रुम—म्लेच्छ शब्द।
२. अमरकोश—त्रिकाण्डशेष ११।१।
३. कथासरित्सागर ५।३४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यद्रोचते विप्रेभ्यस्तत्तदद्यादमत्सरः[१]
ब्रह्मोद्याश्च कथाः कुर्यात्पितृणामेतदीप्सितम् ॥

अर्थात्—ब्राह्मणोंको जो-जो वस्तुएँ रुचिकर हों, उन-उन वस्तुओंको मात्सर्य भावसे रहित हो परोसे और परमात्म निरूपण सम्बन्धिनी कथा—बात-चीत करे; क्योंकि यही पितरों को अभीष्ट है।

रघुवंशमें महाकवि कालिदासने भी कथा शब्दका प्रयोग बातके अर्थमें किया है। यथा—

अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु[२]।

अर्थात् तपने पर लोहा भी नरम हो जाता है, फिर देहधारियोंकी बात ही क्या ? आदिकवि वाल्मीकिने भी कथा शब्दका प्रयोग बातके अर्थमें किया है।

नाना चित्राः कथाश्चान्या विश्वामित्र सहायने ॥[३]

महाकवि भारविके किरातार्जुनीय नामक काव्यमें इस शब्दका प्रयोग बातचीतके अर्थमें हुआ है। यथा—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः[४]।

हितोपदेशमें कथा शब्दका व्यवहार चर्चा या गोष्ठीके अर्थमें हुआ है। यथा—

तेन सह नाना कथाप्रसङ्गेन अवस्थितः।

कथासरित्सागरसे भी इसकी पुष्टि होती है—

मिथः कथाप्रसङ्गेन विवादं किल चक्रतुः।

कथा शब्द दार्शनिक चिन्तकोंके हाथमें पड़ वाक्यसमूहका बोधक बना। तर्कभाषामें—"कथा तु नानावक्तृकपूर्वोत्तरपक्षप्रतिपादकवाक्यसन्दर्भः"[५]। अर्थात् अनेक वक्ता मिलकर किसी तत्त्वके निर्णय अथवा जय-पराजयके लिए पूर्वोत्तर पक्षके रूपमें जो चर्चा या वार्तालाप करते हैं, वह कथा है। इसके तीन भेद हैं—वाद, जल्प एवं वितण्डा। जैन परम्परामें कथाके वीतरागी और विजिगीषु ये भेद किये हैं। गुरु-शिष्यके बीच होनेवाली चर्चा वीतरागी कथा और जय-पराजयके निर्णयके हेतु सम्पन्न की जानेवाली चर्चा विजिगीषु कथा है।

साहित्यकारोंने प्रबन्ध कल्पनाको कथा कहा है। जिनसेनने "पुरुषार्थोपयोगित्वात्त्रिवर्ग-कथनं कथा"[६]। अर्थात् मोक्ष पुरुषार्थके उपयोगी होनेसे धर्म, अर्थ और कामका कथन करने-वाला प्रबन्ध कथा है।

कथा—कहानीके अर्थमें कथा शब्दका प्रयोग श्रीमद्भागवतमें उपलब्ध होता है। यथा—

---

१. मनुस्मृति ३।२३१।
२. रघुवंश ८।४३।
३. वाल्मीकि रामायण १।३।११।
४. किरातार्जुनीयम् १।२४।
५. तर्कभाषा-वितण्डा पदार्थ।
६. आदिपुराण १।११८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च।
हसन्तं हास्यकथया कदाचित् प्रियया गृहे॥—भागव० १०।६९।२८-२९
"तव कथामृतं तप्तजीवनम्"—१०।३१।९

इस प्रकार कथा शब्दने सामान्य बातचीत अर्थको छोड़कर कहानी अर्थको अपना लिया है।

ओषधि—वैदिक साहित्यमें ओषधि शब्दका प्रयोग वनस्पतिके अर्थमें किया गया है। यह शब्द मूलतः उन पौधोंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, जिनमें उपशमन शक्ति अथवा कुछ अन्य मानवोपयोगी गुण हों। ऋग्वेदमें प्रयुक्त वीरुध शब्द वनस्पतियोंके लिये एक जातीय अर्थका द्योतक है, जबकि ओषधि शब्द उपयोगी वनस्पतिके अर्थमें आया है। अथर्ववेदमें वनस्पतियोंका वर्गीकरण करते हुए लिखा है। प्र-स्तृणती:—फैलनेवाले वृक्ष, स्तम्बिनी:—झाड़ीदार वृक्ष, एकशुङ्गः—एक खोलवाले वृक्ष, प्रतन्वती:—चढ़नेवाले वृक्ष, अंशुमती:—अनेक नालवाले वृक्ष, कण्डिनी—जोड़वाले वृक्ष, विशाखाः—फैली हुई शाखावाले, फलिनी—फलवाले वृक्ष और पुष्पवती:—फूलनेवाले वृक्ष। इनमें बहुत फलने-फूलनेवाले वृक्षोंको ओषधि कहा है। मनुस्मृतिके "ओषध्यः फलपाकान्ताः बहुपुष्पफलोपगाः" अर्थात् फल पकनेपर जिनका पौधा नष्ट हो जाता है और जिनमें बहुत फल-फूल लगते हैं, वे पौधे ओषधि कहलाते हैं। हारीत प्रथम स्थानमें—"औषधयः प्रशुष्यन्ति गवादीनां पयांसि च" की व्याख्यामें बताया गया है कि फल देकर नष्ट होनेवाले पोधोंको खिलानेसे गाय आदि पशुओंका दूध सूख जाता है। अतः स्पष्ट है कि आरम्भमें ओषधि शब्दका अर्थ वनस्पति था, पर आगे चलकर इसका अर्थ दवा हो गया।

घास—यह शब्द संस्कृतकी 'घस्ल अदने' धातुसे बना है। इसका अर्थ है—"घस्यते असौ प्राणिभिः" अर्थात् भोजन करना। महाभारतमें गृहस्थ धर्मका उपदेश देते हुए कहा गया है कि गृहस्थको विघसाशी होना चाहिए। विघसका अर्थ है अतिथि, परिवार तथा सेवक वर्गके भोजन कर लेनेके पश्चात् शेष बचा हुआ अन्न। इस अन्नको अत्यन्त पवित्र माना जाता था। इसी घस् धातुसे निष्पन्न घास शब्द पशुओंके चारेके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा है। अमरकोशमें इसका अर्थ—"गवाद्यदनीयतृणविशेषः" किया गया है। इस प्रकार यह शब्द मनुष्य भोजनसे पशु चारेके अर्थका वाचक बन गया है। यह अर्थापकर्षका सुन्दर उदाहरण है।

छैला—यह शब्द प्राकृतके छइल्ल शब्दसे बना है। प्राकृत साहित्यमें इसका प्रयोग विदग्ध या चतुर व्यक्तिके अर्थमें हुआ है। हेमचन्द्रने देशीनाममालामें 'छइल्लो विदग्धः (३।२४)' अर्थात् अत्यन्त चतुर व्यक्तिको छइल्ल कहा है। जयवल्लभने वज्जालग्गं नामक प्राकृत गाथाओंका सुन्दर संग्रह प्रस्तुत किया है। इस संग्रहकी गाथाओंके रचयिता भी हालकी गाथा सप्तशतीके समान अनेक कवि हैं, पर गाथाओंके मूल रचयिताओंका नाम उपलब्ध नहीं है। इस काव्यमें 'छइल्लवज्जा' शीर्षकमें बताया गया है कि जिस गाँवमें छइल्ल व्यक्ति निवास करते हैं, वह गाँव भी नगर बन जाता है। क्योंकि ये लोग ललित और मधुर काव्य रच-नाओंके द्वारा रसका संचारकर अपूर्व आनन्द प्रवाहित करते हैं। उनकी वक्रोक्तियाँ ग्रामको भी नगर बना देती हैं। अनेक प्रकारकी आपत्ति और विघ्नोंके आनेपर भी छइल्ल अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कार्यसे शिथिल नहीं होते हैं। उनकी लगन और दृढ़ता उन्हें पूर्णतया सफलता प्रदान करती है। ये नाना कला-कौशलोंके ज्ञाता और प्रत्युत्पन्नमति होते हैं। त्रिभुवनकी ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसका ज्ञान इन छइल्लोंको न हो। यथा—

नयरं न होइ अट्टालएहि पायारतुंगसिहरेहिं।
गामो वि होइ नयरं जत्थ छइल्लो जणो वसइ॥
निवसंति जत्थ छइल्ला ललियक्खरकव्वबंधणो कुसला।
जाणंति वंकभणियं सुन्दरि नयरं न सो गामो॥

गाथा सप्तशती और संस्कृत नाटकोंके अवलोकनसे अवगत होता है कि विदग्धसे धूर्त और धूर्तसे विट, विटसे पीठमर्द और पीठमर्दसे छइल्ल शब्दका व्यवहार होने लगा है। विदग्ध काव्यकलाके अतिरिक्त कामकलामें भी प्रवीण होता था। कुछ दिनोंके पश्चात् उसका काव्य-कलाका नैपुण्य तो समाप्त हो गया और कामतन्त्रकी अभिज्ञता प्रधान बन गई। हिन्दीमें प्रयुक्त छैला शब्द इसी कामतन्त्रकी पटुताका सूचक है। आज इस शब्दके अर्थमें और भी ह्रास हो रहा है और अब यह गुण्डाशाहीका सूचक होता जा रहा है।

अयस्—ऋग्वेदमें इस शब्दका अर्थ कांसा है। अग्निको उसकी ज्वालाके सन्दर्भमें 'अयोदंष्ट्र' अयस्के दाँतों वाला कहा गया है तथा वरुणके रथमें बैठनेके स्थानको सूर्यास्तके समय—'अयःस्थूणः'—अयस्के स्तम्भों वाला कहा है। इसके अतिरिक्त वाजसनेयि संहितामें छः धातुओंकी एक तालिकामें अयस्की भी गणना है। इसमें हिरण्य—स्वर्ण, अयस्—काँसा, श्याम—लौह, लोह—ताँबा, सीसा और त्रिपु—टीन का उल्लेख आया है। इस प्रकरण में श्याम शब्दसे लोहा और लोह शब्दसे ताँबेका ही ग्रहण किया गया है। अथर्ववेदमें अयस् शब्दका वर्णन दो रूपोंमें उपलब्ध होता है—श्याम और लोह। श्याम शब्द स्पष्टतः कृष्ण वर्ण का वाचक होनेसे लोहा का सूचक है। शतपथ ब्राह्मणमें लोहायस और अयस्में भेद किया गया है। श्रोडरका मत है कि अयस् शब्द काँसा या ताँबाका वाचक है। एक वर्णनमें शतपथ ब्राह्मणमें बताया गया है कि अयस्को अच्छी तरह तपाया जाय तो स्वर्णके समान हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि आरम्भमें अयस् शब्दका अर्थ ताँबा या काँसा ही था; पर रामायण और भारतमें इसका प्रयोग लोहेके अर्थमें उपलब्ध होता है। ऐसा मालूम होता है कि इस शब्द का प्रधान अर्थ काँसा था और गौण अर्थ लोहा। कालान्तरमें प्रधान अर्थका लोप होकर गौण अर्थने ही प्रधानका स्थान ले लिया है, जिससे अयस् शब्द लोहेका वाचक बन गया है।

अरण्य—ऋग्वेद[1] में इस शब्द का प्रयोग अकर्षित भूमि—बंजर भूमिके अर्थमें हुआ है। अमा—घर और कृषियोग्य भूमिसे इसका अन्तर स्पष्ट किया गया है और इसे आबादीसे दूर स्थित तिरस् कहा गया है साथ ही इसके गाँवसे दूर रहनेके संकेत भी मिलते हैं, क्योंकि इस स्थानको चोर और लुटेरोंका आवास माना है। ऋग्वेदके अरण्य वर्णनसे इतना तो स्पष्ट है कि यह आजकलके अरण्यका वाचक नहीं है। यतः इसके अरण्यानी सूक्त से ज्ञात होता है कि इसका वास्तविक अर्थ श्मशानभूमि है। कालान्तर में श्मशानके सन-सान और भयंकर होने से यह शब्द भी वन का वाचक बन गया।

---

१. ऋग्वेद ६।२४।१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आवास—इस शब्दका अर्थ भोजनोत्सव और यज्ञके समय अतिथियों, मुख्यतः ब्राह्मणों एवं अन्य व्यक्तियोंके स्वागत करनेका स्थान प्रतीत होता है। अथर्ववेदमें आये हुए ब्राह्मणोंके सत्कार सूक्तसे[1] ज्ञात होता है कि यह इस प्रकारके स्थानका वाचक है, जहाँ अतिथियों और ऋत्विजोंका स्वागत किया जाता था। आजकल तीर्थयात्रियोंके विश्रामके लिए जिस प्रकार धर्मशालाएँ होती हैं, उसी प्रकार पहले अतिथियों और ब्राह्मणोंके लिए आवास होते थे। पर ये आवास आजकलके Guest house से भिन्न थे। मनुस्मृतिमें कहा हैं—

आसनावसथौ शय्यामनुव्रज्यामुपासनाम्[2]।

अर्थात् अतिथियोंके आने पर आसन, आवास—विश्राम स्थान और शय्या आदिका प्रबन्ध करना चाहिए।

हेमचन्द्रने अपनी अभिधानचिन्तामणिमें इस शब्दका अर्थ गृह किया है, जो आजकल के डेरे या क्वार्टरका सूचक है। गीतगोविन्दमें भी इसका व्यवहार वर्तमान निवास स्थानके अर्थ में हुआ है। यथा—

आवासो विपिनायते प्रियसखी मालापि जालायते[3]

अतएव स्पष्ट है कि श्रेण्य संस्कृत साहित्यमें आवासका अर्थ निवास स्थान—क्वार्टर लिया गया है, पर इसके पहले वैदिक साहित्यमें यह अतिथियोंके स्वागत स्थानके लिए ही प्रयुक्त होता था।

कुलटा—बौद्धकालमें इस शब्दका अर्थ भिक्षुणी था। इसकी व्युत्पत्ति 'कुले भिक्षार्थं अटतीति कुलटा' रूपमें मान्य थी। महाराज शुद्धोदनकी मृत्युके उपरान्त बुद्धने अपने प्रिय शिष्य आनन्दके आग्रहसे अपनी विमाता महाप्रजापती गोतमी को धर्ममें प्रव्रजित किया और उन्हें भिक्षुणी बनने की अनुमति प्रदान की। गोतमीके साथ पाँच सौ अन्य स्त्रियाँ भी प्रव्रजित हुई थीं। कृशा गोतमीके द्वारा लिखित थेरी गाथासे भी यह संकेत मिलता है कि पारिवारिक कष्टों से संत्रस्त होने पर नारियाँ दीक्षा धारण करती थीं और भिक्षार्थ विभिन्न परिवारोंमें जाती थीं। अतः भिक्षार्थ भ्रमण करनेके कारण इन्हें कुलटा कहा जाता था। भट्टोजि दीक्षितने सिद्धान्त कौमुदीमें "कुलटाया वा" ४।१।१२७ सूत्रके व्याख्यानमें बताया है कि "सती भिक्षुक्यत्र कुलटा" अर्थात् सती भिक्षुणी नारीको भी कुलटा कहा जाता है। कालान्तर में जब बौद्धभिक्षुणी संघ में दोष उत्पन्न हो गए और पौराणिक धर्मके अभ्युदयसे बौद्धसंघके प्रति घृणा उत्पन्न हो गयी तो उस घृणाकी अभिव्यञ्जनाके लिए कुलटा शब्दका अर्थ—'कुलात् व्यभिचारार्थं कुलान्तरं अटतीति कुलटा—दुराचारिणी स्त्री हो गया। आर्या सप्तशती और रसमंजरी प्रभृति ग्रन्थोंमें कुलटाको परोढा नायिकाके भेदोंमें परिगणित किया है।

वैधेय—इस शब्दकी व्युत्पत्ति "विधिं पद्धतिमेवानुसृत्य व्यवहरतीति वैधेयः" शास्त्र-विधिका अनुसरण करनेवाला अर्थात् शास्त्राज्ञाके अनुसार व्यवहार करनेवाला वैधेय कहा गया है। आगे चलने पर क्रियाकाण्डका जोर बढ़नेसे लोगोंने शास्त्र विधिका अन्धानुसरण करना

१. अथर्ववेद ९।६।५।
२. मनुस्मृति ३।१०७।
३. गीतगोबिन्द ४।१०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आरम्भ किया और परिस्थितियोंका ध्यान न रखकर विवेक रहित हो शास्त्रविधिका दुराग्रह आरम्भ हुआ। फलतः संस्कृत नाटकोंमें इसका अर्थ मूर्ख लिया गया है। टीकाकारों ने इस शब्दकी व्युत्पत्ति—"पद्धतिमाश्रित्य क्रियाकारित्वात् युक्तायुक्तविवेकशून्यत्वाच्च तथात्वमस्य"—अर्थात् उचित और अनुचितके विचार से रहित शास्त्रपद्धतिके अनावश्यक अनुसरण करनेवाले एवं हठग्राहितावश देश-कालविरुद्ध अनुचितको भी सत्य समझनेवाले व्यक्तिको वैधेय कहा है। राजतरंगिणीमें "पुंश्चली जाल्मवैधेयबालका द्रोग्धृनिर्भराः[1]"में मूर्ख अर्थमें ही वैधेय शब्द का प्रयोग हुआ है। हेमचन्द्रने वैधेय और मैत्रेय शब्दोंको व्यंग्यवश मूर्खका वाचक कहा है। मृच्छकटिकमें मैत्रेय शब्दका प्रयोग मूर्खके अर्थ में हुआ है। वास्तवमें, मैत्रेयका अर्थ वर्णसंकर है। मनुस्मृतिमें—मैत्रेयकं तु वैदेहो माधूकं संप्रसूयते[2]" अर्थात् वैदेह जातिवाला पुरुष आवोगव जातिवाली नारीके सहयोगसे मैत्रेय संज्ञक पुत्र उत्पन्न करता है। अतएव स्पष्ट है कि वैधेय शब्द शास्त्रविधिके पालन करनेवालेसे हटकर मूर्ख अर्थमें प्रयुक्त होने लगा।

दस्यु—इस शब्दका आरम्भिक अर्थ अतिमानवीय शत्रु था। आगे चलकर यह शब्द मानव शत्रुओंके लिए प्रयुक्त होने लगा है। ऋग्वेद १।५१।८ में दस्यु को आर्योंका विरोधी कहा गया है। दस्युओं को यज्ञ न करनेवाले, संस्कारहीन, विचित्र व्रतों में लिप्त, देवोंसे घृणा करनेवाले आदि रूपोंमें वर्णित किया गया है। ऋग्वेदके दस्यु वर्णनसे ऐसा लगता है कि यह एक जातिका वाचक था, इसकी उपाधिको अनास शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। अनास शब्दका अर्थ मुख अथवा नासिका विहीन होता है। अतः इस उपाधिके विश्लेषणसे ऐसा अवगत होता है कि आर्यों ने चिपटी नाकवाले द्रविड़ या आदिवासियोंको ही दस्यु कहना आरम्भ किया था। ब्लूमफील्डने ऋग्वेदके १।३१।३२ मन्त्रकी व्याख्या करते हुए रुजानाश शब्दका अर्थ भग्न नासिका किया है, यद्यपि मैकडौनलने अपनी वैदिक ग्रामरमें इस शब्दका अर्थ भग्न आश बतलाया है। ओल्डेनवर्गने रुजानास शब्दका 'रुजाअनाः, के रूपमें विश्लेषण कर भग्ननासिका अर्थ किया है। दस्युओंकी एक अन्य उपाधि मृध्रवाच् भी आयी है, जिसका अर्थ हकलाने या अस्पष्टवाणी वाला किया गया है। मेरा विचार है कि इस शब्दका अर्थ आक्रमक-वाणीवाले होना चाहिए। मनुने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंसे भिन्न म्लेच्छ भाषाभाषी या अनार्यभाषाभाषी जातियोंको दस्यु कहा है। श्रेण्य संस्कृत साहित्यमें यह दस्यु शब्द शत्रु अर्थसे हटकर लुटेरे या डाकुओंके अर्थमें व्यवहृत होने लगा है। आज भी नीच और लुटेरोंको दस्यु कहा जाता है।

प्रयोग—इस शब्दका मूल अर्थ कार्य है। काव्यकालमें इसका व्यवहार नाटक और काव्यके अर्थमें भी हुआ है। महाकवि कालिदासने अपने अभिज्ञान शाकुन्तलमें इस शब्दका व्यवहार नाटकके अर्थ में किया है। यथा—"आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्[3]" संस्कृत टीकाओंमें प्रयोगका अर्थ—"प्रयोगस्य आङ्गिक-वाचिक-आहार्यसात्त्विकरूपाभिनय-

---

१. राजतंरगिणी ६।१५९।
२. मनुस्मृति १०।३३।
३. शाकुन्तल १।२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुष्टयक्रियाकलापस्य'' आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनयरूप नाटक प्रयोग कहलाता है। इसकी पुष्टि अभिज्ञान शाकुन्तलमें आये हुए सूत्रधारके इस कथनसे भी होती है कि ''तदिदानीं कतमं प्रयोगमाश्रित्यैनमाराधयामः[1]'' अर्थात् इस समय हमलोग किस नाटक द्वारा सभाका अनुरंजन करें। रघुवंश के 'स प्रयोगनिपुणैः प्रयोक्तृभिः[2] से भी उक्त अर्थका समर्थन होता है। माघ कविने अपने शिशुपालवध महाकाव्यमें इस शब्दका काव्यके अर्थमें प्रयोग किया है। यथा—

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान्[3]।

मल्लिनाथ ने प्रयोगका अर्थ करते हुए बताया है—''गुणसाधुशब्दगुम्फान्''। रघुवंशमें प्रयोगका व्यवहार प्रयत्नके अर्थमें भी हुआ है। यथा—प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे''[4]।

व्याकरणशास्त्रमें प्रयोगका अर्थ उदाहरण है। यथा—कारकीय प्रयोग, सामासिक प्रयोग आदि। दर्शनशास्त्रमें प्रयोगका व्यवहार आत्मसिद्धिकी प्रक्रिया, तन्त्रमें साधना विशेष, आयुर्वेदमें नुस्खा और ज्योतिषमें खगोलीय अभ्यासके अर्थ में आया है।

प्रयोग शब्दके मूल अर्थ कार्यके साथ उसका गौण अर्थ व्यवहार भी चलता रहा है। पञ्चदशीके निम्न उदाहरण से इसका समर्थन होता है :—

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह।
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम्॥[5]

अर्थात्—स्वयं और आत्मा शब्द पर्यायवाची हैं, इस लोकमें इनका एक साथ प्रयोग-व्यवहार नहीं होता।

प्रयोग शब्दके अर्थमें अर्थादेशके साथ अर्थविस्तार भी हुआ है। आज इसका व्यवहार वैज्ञानिक साध्योंके अर्थमें भी होता है। रेखागणितके साध्य भी प्रयोग कहलाते हैं।

इसी प्रकार सप्तपदी शब्दका अर्थ सात पैर था, पर अब यह विवाह संस्कारके रूपमें रूढ़ हो गया है। धेनुका मूलार्थ दूध देनेवाला पशु था, पर अर्थ संकुचित हो जानेसे मात्र गाय का वाचक रह गया है। 'न' शब्द वैदिक कालमें उपमा वाचक था, पर अब उपमाका लोप होकर केवल निषेधार्थक ही रह गया है। इभ्यका मूलार्थ दरिद्र था, पर श्रेण्य संस्कृत साहित्यमें धनी अर्थ हो गया है। वैदिक कालमें असि शब्दका अर्थ छुरी था, पर श्रेण्य संस्कृत साहित्यमें इसका अर्थ तलवार हो गया है। अखाराका अर्थ नाचने-गानेवालोंकी मंडली था, पर अब मल्लोंके कुश्ती लड़नेका स्थान हो गया है। रामचरित मानसमें इस शब्दके दोनों अर्थ उपलब्ध होते हैं। यथा—'अतिविचित्र तहँ होइ अखारा' ६।१०।४ में संगीत जमावके अर्थमें और 'नाना अखारेन्ह भिरहिं बहुविधि एक एकन्ह तर्जहीं''—रा० च० ५।३।२ में कुश्ती लड़नेके स्थानके अर्थमें आया है।

इस प्रकार सहस्रों शब्दोंके अर्थमें यथेष्ट परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। मूल अर्थ कुछ ही था और वर्तमानमें कुछ ही अर्थ उपलब्ध होता है।

---

१. शाकुन्तल प्रथम अंक प्रस्तावना। २. रघुवंश १९।३६। ३. माघकाव्य ११।६।
४. रघुवंश २।४२। ५. पञ्चदशी ६।४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साहित्य

[संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी की साहित्यिक विधाओं का समीक्षात्मक अध्ययन]

१. हिन्दी जैन काव्यों में प्रकृति-चित्रण
२. हिन्दी जैन साहित्य में अलंकार-योजना
३. हिन्दी जैन साहित्य को शाहाबाद का अवदान
४. हिन्दी जैन साहित्य
५. प्राकृत काव्य का उद्भव एवं विकास
६. प्राकृत कथा-साहित्य और उसकी विशेषतायें
७. जैन कोश साहित्य
८. जैन-व्याकरण साहित्य
९. कवीश्वर मानतुङ्ग
१०. जैन संस्कृत काव्य : समीक्षात्मक अध्ययन
११. संस्कृत साहित्य के सांकेतिक अंक
१२. संस्कृत कोश-साहित्य को आचार्य हेम की अपूर्व देन
१३. संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का अनुशीलन
१४. भट्टारक युगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ
१५. महाकवि कालिदास : आधुनिक परिवेश में
१६. कालिदासस्य राष्ट्रिय भावना
१७. मेघदूतस्य समस्यापूर्त्यात्मकं पार्श्वभ्युदयकाव्यम्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी जैन काव्यों में प्रकृति-चित्रण

कविता को अलंकृत करने और रसानुभूति को बढ़ाने के लिए कवि प्रकृति का आश्रय ग्रहण करता है। अनादिकालसे प्रकृति मानवको सौन्दर्य प्रदान करती चली आ रही है। इसके लिए वन, पर्वत, नदी, नाले, उषा, सन्ध्या, रजनी, ऋतु सदासे आकर्षणके विषय रहे हैं। हिन्दीके जैन कवियोंको कविता करनेकी प्रेरणा जीवनकी नश्वरता और अपूर्णता के अनुभवसे ही प्राप्त हुई है। इसीलिये हर्ष-विषाद, सुख-दुख, घृणा-प्रेमका जीवनमें अनुभव कर उसके सारको ग्रहण करनेकी ओर कवियोंने संकेत किया है।

भावोंकी सचाई (Sincerity) या सद्यः रसोद्रेककी क्षमता कोई भी कलाकार प्रकृतिके अंचलसे ही ग्रहण करता है। इसी कारण जीवनके कवि होने पर भी जैन कवियोंकी सौन्दर्य ग्राहिणी दृष्टि प्रकृतिकी ओर भी गयी और उन्होंने प्रकृतिके सुन्दर चित्र अंकित किये। शान्त-रसके उद्दीपन और पुष्टिके लिये जैन कवियोंने प्रकृतिकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर ऐसे रमणीय चित्र खींचे हैं, जो विश्वजनीन भावोंकी अभिव्यक्तिमें अपना अद्वितीय स्थान रखते हैं। प्रकृतिकी पाठशाला प्रत्येक सहृदयको निरन्तर शिक्षा देती रहती है। यही कारण है कि मानव और मानवेतर प्रकृतिका निरूपण कुशल कलाकार तल्लीनता और रसमग्नताके साथ करता ही है।

त्यागी जैन कवियोंमें अनेक ऐसे कवि हैं, जिन्होंने अपनी साधनाके लिए वनाश्रम ग्रहण किया है। प्रकृतिके खुले वातावरणमें रहनेके कारण सन्ध्या, उषा और रजनीके सौन्दर्य से इन्होंने अपने भीतरके विरागको पुष्ट ही किया है। इन्हें सन्ध्या नवोढ़ा नायिकाके समान एकाएक वृद्धा, कलूटी रजनीके रूपमें परिवर्तित देखकर आत्मोत्थानकी प्रेरणा प्राप्त हुई और इसी प्रेरणाको अपने काव्यमें अंकित किया है। प्रकृतिके विभिन्न रूपोंमें सुन्दरी नर्तकीके दर्शन भी अनेक कवियोंने किये हैं, किन्तु यह नर्तकी दूसरे क्षणमें ही कुरूपा और बीभत्स-सी प्रतीत होने लगती है। रमणीके केशकलाप, सलज्ज कपोलकी लालिमा और साजसज्जाके विभिन्न रूपोंकी विरक्तिकी भावनाका दर्शन करना जैन कवियोंकी अपनी विशेषता है। परन्तु यह विरक्ति नीरस नहीं है, इसमें भी काव्यत्व है। भावनाओं और कल्पनाओंका संतुलन है। महलोंकी चकाचौंध, नगरके अशान्त कोलाहल और आपसके राग-द्वेषोंसे दूर हटकर कोई भी व्यक्ति निरावरण प्रकृतिमें अपूर्व शान्ति और आनन्द पा सकता है। मन्द-मन्द पवन, विशाल वन प्रान्त और हरी-भरी वसुन्धरा व्यक्तिको जितनी शान्ति दे सकती है; उतनी जन-संकीर्ण भवन, नाना कृत्रिम साधन तथा नूपुरोंकी छुनछुन कभी भी नहीं।

कवि अपने काव्यमें प्रकृतिके उन्हीं रम्य दृश्योंको स्थान देते हैं, जो मानवकी हृदय-बीनके तारोंको झनझना दें। ग्राम-सौन्दर्य और वन-सौन्दर्यका जितना सुन्दर चित्रण अपरिग्रही कवि या ग्रहीत परिमाण परिग्रही कवि कर सकते हैं, उतना अन्य नहीं। जैन साहित्यमें वन विभूति और नदी तालों पर, जहाँ दिगम्बर साधु ध्यान करते थे, उन प्रदेशोंकी तस्वीरें बड़ी ही सूक्ष्मता और चतुराईके साथ खींची गई हैं। ऐसा प्रतीत होगा कि गतिशील प्रकृति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वयं मूर्तमान रूप धारण कर आ गई है। विषयासक्त व्यक्ति प्रकृतिके जिस रूपसे अपनी वासनाको उद्‌बुद्ध करता है, विरक्त उसी रूपसे आत्मानुभूतिकी प्रेरणा प्राप्त करता है।

अपभ्रंश भाषाके जैन कवियोंने अपने महाकाव्योंमें आलंबन और उद्दीपन विभावके रूपमें प्रकृतिचित्रण किया है। षट्‌ऋतु वर्णन, रणभूमि वर्णन, नदी-नाले-वन-पर्वतका चित्रण उषा-सन्ध्या-रजनी-प्रभातका वर्णन, हरीतिमा आदि का चित्रांकन सुन्दर हुआ है। इस प्रकृति चित्रण पर संस्कृत काव्योंके प्रकृति चित्रणकी छाप है। अपभ्रंश भाषाके जैन कवियोंने नीति, धर्म और आत्मभावनाकी अभिव्यक्तिके लिए प्रकृतिका आलम्बन ग्रहण किया है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब भावसे भी प्रकृतिके भव्य चित्रोंको उपस्थित किया है।

पुरानी हिन्दी, ब्रजभाषा और राजस्थानी ढूँढारीभाषामें रचित प्रबन्ध काव्योंमें प्रकृतिका चित्रण बहुत कुछ रीतिकालीन प्रकृति चित्रणसे मिलता-जुलता है। इसका कारण यह है कि जैन कवियोंने पौराणिक कथावस्तुको अपनाया, जिससे वे परम्पराभुक्त वस्तु वर्णनमें ही लगे रहे और प्रकृतिके स्वस्थ चित्र न खींचे जा सके। शान्तरसकी प्रधानता होनेके कारण जैन चरित काव्योंमें श्रृंगारकी विभिन्न स्थितियोंका मार्मिक चित्रण न हुआ, जिससे प्रकृतिको उन्मुक्त रूपमें चित्रित होनेका कम ही अवसर मिला।

परवर्ती जैन साहित्यकारोंमें बनारसीदास, भगवतीदास, भूधरदास, दौलतराम, बुधजन, भागचन्द, नयनसुख आदि कवियोंकी रचनाओंमें प्रकृतिके रम्य रूपोंको भावों द्वारा सँवारा गया है। कवि बनारसीदासने कुबुद्धि की तुलना कुब्जासे और सुबुद्धिकी तुलना राधिका के साथ की है। यहाँ रूप चित्रणमें प्रकृतिका बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव देखने योग्य है।

कुटिल कुरूप अंग लगी है पराए संग, अपनों प्रवान कारे आपुहि विकाई है।
गहे गति अंधकीसी सकती कमंधकीसी, बंधको बढ़ाउ करे धंधईमें धाई है॥
रांड कीसी रीति लिए मांडकीसी मतवारी, सांड ज्यों सुछन्द डोले भांडकीसी जाई।
घरको न जाने भेद करे परधानी खेत, याते दुबु'द्धि दासी कुब्जा कहाई॥

× × × ×

रूपकी रसीली भ्रम कुलफकी कीली सील, सुधा के समुद्र झीली सीली सुखदाई।
प्राची ज्ञान भान की अजाची है निदान की सुराची नखाची ठोर साची ठकुराई है॥
धाम की खबरदार राम की रमनहार, राधारस पंथिनी में ग्रन्थनि में गाई है।
संतनिकी मानी निरवानी नूरकी निसानी, याते सदबुद्धि रानी राधिका कहाई है॥

कवि बनारसीदास ने प्रकृतिको उपमान और उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा चित्रमय रूपमें प्रस्तुत किया है। कवि ने शारीरिक मांसलताके स्थानपर भावात्मकता, विचित्र कल्पना और स्थूल आरोपवादिता के स्थान पर चित्रमयता और भाव प्रवणताका प्रयोग किया है। प्रकृतिके एक चित्रको स्पष्ट करनेके लिए दूसरे दृश्यका आश्रय लिया गया है, फिर भी रंग-रूपों, आकार-प्रकार एवं मानवीकरणमें कोई बाधा नहीं आयी है। सादृश्य और संयोगके आधारपर सुन्दर और रमणीय भावोंकी अभिव्यंजना सौन्दर्यानुभूतिकी वृद्धिमें परम सहायक है। प्रकृतिके विभिन्न रूपोंके साथ हमारा भाव-संयोग सर्वदा रहता है; इसी कारण कवि बनारसीदासने असंलक्ष्यक्रमसे प्रकृतिका सुन्दर विवेचन किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदाहरणालंकारके रूपमें प्रकृतिका चित्रण बनारसीदासके नाटक समयसारमें अनेक स्थलों पर हुआ है। ग्रीष्मकालमें पिपासाकुल मृग बालूके समूहको ही भ्रमवश जल समझकर इधर-उधर भटकता है, अथवा पवनके संचारसे स्थिर समुद्रके जलमें नाना प्रकारकी तरंगें उठने लगती हैं और समुद्रका जल आलोडित हो जाता है; इसीप्रकार यह आत्मा भ्रम वश कर्मोंका कर्त्ता कही जाती है और पुद्गलके संसर्ग से इनकी नाना प्रकारकी स्वभाव विरुद्ध क्रियाएँ देखी जाती हैं। कवि कहता है—

जैसे महाधूप की तपति में तिसो यो मृग, भरमसों मिथ्याजल पीवन को धायो है।
जैसे अन्धकार मांहि जेवरी निरखि नर, भरमसों डरपी सरप मानि आयो है॥
अपने सुभाय जैसे सागर सुथिर सदा, पवन सँजोगसों उछरि अकुलायो है।
तैसे जीव जड़जों अव्यापक सहज रूप, भरमसों करमको करता कहायो है॥

वर्षा ऋतुमें नदी, नाले और तलाबमें बाढ़ आ जाती है, जलके तेज प्रवाहमें तृण, काठ और अन्य छोटे-छोटे पदार्थ बहने लगते हैं। बादल गर्जते और विजली चमकती है। प्रकृति सर्वत्र हरी-भरी दिखलाई पड़ती है। कवि बनारसीदासने आत्मज्ञानीकी रीतिका वर्षाके उदाहरण द्वारा उपदेशात्मक रूप से कितना सुन्दर चित्रण किया है—

ऋतु बरसात नदी नाले सर जोर चढ़े, बढ़े नांहि मरजाद सागर के फैलकी।
नीर के प्रवाह तृण काठ वृन्द बहे जात, चित्रावेल आइ चढ़े नाहीं कहूँ गैलकी॥
बनारसीदास ऐसे पंचन के पर पंच, रंचक न संक आवै वीर बुद्धि छैलकी।
कुछ न अनीत न क्यों प्रीति पर गुण सेती, ऐसी रीति विपरीति अध्यातम शैलकी॥

जब प्रकृति मानवीय भावोंके समानान्तर भावात्मक-व्यंजन अथवा सहचरणके आधारपर प्रस्तुत की जाती है, उस समय उसे विशुद्ध उद्दीपनके अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। आलम्बन की स्थितिमें व्यक्ति अपनी मनःस्थितिका आरोप प्रकृति पर करके भावाभिव्यंजन करता है। सौन्दर्यानुभूति जो काव्यका आधार है, प्रकृति से सम्बन्धित है। यद्यपि इसमें नाना प्रकारकी सामाजिक भावस्थितियोंका योग रहता है, तो भी आलम्बन रूपमें यह सौन्दर्यानुभूति कराती ही है। जो रससिद्ध कवि प्रकृतिके मर्मको जितना अधिक गहराईके साथ अवगत कर लेता है, वह उतना ही सुन्दर भावाभिव्यञ्जन कर सकता है।

भैया भगवतीदास ने प्रकृतिके चित्रोंको किसी मनःस्थिति विशेषकी पृष्ठभूमिके रूपमें प्रस्तुत किया है। मानवीय भावनाओंको प्रकृतिके समानान्तर उपस्थित करना और प्रकृति रूप-व्यापारोंको भाव आलम्बनके रूपमें अभिव्यक्त करना आपकी प्रमुख विशेषता है। उपमानके रूपमें प्रकृति चित्रण देखिये—

धूमन के धौरहर देख कहा गर्व करै, ये तो छिनमाहि जांहि पौन परसत ही।
सन्ध्या के समान रंग देखत ही होय भंग, दीपक पतंग जैसे काल गरसत ही॥
सुपने में भूप जैसे इन्द्रधनुरूप जैसे, ओस बूंद धूप जैसे पुरे दरसत ही।
ऐसोई भरम सब कर्मजाल वर्गणा को, तामें मूढ मगन होय मरै तरसत ही॥

इन्होंने प्रकृतिको स्थितियोंके प्रसारमें समवाय रूपसे आलम्बन मानकर कतिपय रेखा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चित्र उपस्थित किये हैं। वर्षा और ग्रीष्म ऋतुका अपनी अभीष्ट मानसिक स्थिति को स्पष्ट करनेके लिए दृष्टान्तके रूपमें इन ऋतुओंका चित्रण किया है—

ग्रीषम में धूप परै तामें भूमि भारी जरै, फूलत है आक पुनी अतिही उमहिकै।
वर्षा ऋतु मेघ झरै तामें वृक्ष केई फरै, जरत जवासा अघ आपुहीतैं डहिकैं॥

यद्यपि उपर्युक्त पंक्तियोंमें प्रकृतिका स्वच्छ और चमत्कारिक वर्णन नहीं है, फिर भी भावको सबल बनानेमें प्रकृतिको सहायक अंकित किया है। कवि भूधरदासने रूपक बांधकर जीवनकी मार्मिकताको प्रकृतिके आलम्बन द्वारा कितने अनूठे ढंगसे व्यक्त किया है।

रात दिवस घटमाल सुभाव।
भरि भरि जल जीवन की जल॥
सूरज चाँद बैल ये दोय।
काल रैहट नित फैरे सोय॥

कविने अनुभूतिके सरोवरमें उतर प्रकृतिमें भावनाओंका आरोप कर कहा है कि काल-रूपी अरहट सूरज, चाँद रूपी बैलों द्वारा रात दिन रूपी घड़ोंमें प्राणियोंके आयुरूपी जलको भर-भर कर खाली कर देता है।

भावोत्कर्षके लिए कविने प्रकृतिकी अनेकस्थलों पर भयंकरता दिखलाई है। ऐसे स्थलों पर कविकी लेखनी चित्रकारकी तूलिका-सी बन गयी है। शब्द पिघल-पिघल कर रेखायें बन गये हैं और रेखाएँ शब्द बनकर मुखरित हो उठी हैं। कवि कहता है कि शीत ऋतुमें भयंकर सर्दी पड़ती है, यदि इस ऋतुमें वर्षा होने लगे और तेज पूर्वी हवा चलने लगे तो शीतकी भयंकरता और भी बढ़ जाती है। ऐसे समयमें नदीके किनारे खड़े ध्यानस्थ मुनि समस्त शीतकी बाधाओंको सहन करते रहते हैं।

शीतकाल सबही जन काँपैं खड़े जहाँ बन बिरछ डहे हैं।
झंझावायु वहै बरसा ऋतु, बरसत बादल झूम रहे हैं॥
तहाँ धीर तटनी तट चौपट, ताल पाल में कर्म दहे हैं।
सहै सँभाल शीत की बाधा, ते मुनि तारन-तरन कहे हैं॥

इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतुकी भयंकरता दिखलाता हुआ कवि गर्मीका चित्रण करता हुआ कहता है—

भूखप्यास पीडै उर अन्तर, प्रजलै आंत देह सब दागै।
अग्निसरूप धूप ग्रीषम की, ताती बाल झालसी लागै॥
तपै पहार ताप तन उपजै, कोपै पित्त दाहज्वर जागै।
इत्यादिक ग्रीषम की बाधा, सहत साधु धीरज नहीं त्यागै॥

ज्ञान वैभवसे युक्त आत्माको वसन्तका रूपक देकर कवि द्यानतरायने कितना सुन्दर चित्र खींचा है, यह देखते ही बनता है। कविकी दृष्टिमें प्रकृतिका कण-कण एक सजीव व्यक्तित्व लिये हुए है, जिससे प्रत्येक मानव प्रभावित होता है। जिस प्रकार वसन्तऋतु में प्रकृति राशि-राशि अपना सौन्दर्य बिखेर देती है, उसी प्रकार ज्ञान वैभवके प्राप्त होते ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माका अपार सौन्दर्य उद्बुद्ध हो जाता है और वह शर्मीली छुई-मुई-सी दुलहिन सामने खड़ी हो जाती है। साधक इसे प्राप्त कर निहाल हो जाता है, कवि इस भावनाको दिखलाते हुए कहता है—

तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।
दिन वड़े भये वैराग्य भाव, मिथ्यामत रजनी को घटाव॥
तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।
बहु फूली फैली सुरुचि बेल, ज्ञाताजन समता संग केलि।
तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।
द्यानत वानी दिक मधुर रूप, सुरनर पशु आनन्द घन-स्वरूप॥
तुम ज्ञान विभव फूली वसंत, यह मन मधुकर सुखसों रमंत।

कवि हेमविजयने प्रकृतिको संश्लिष्ट और सजीवरूपमें चित्रित किया है। कथा प्रवाहकी पूर्व पीठिकाके रूपमें प्रकृति भावोद्दीपनमें कितनी सहायक है, यह निम्न उदाहरणसे स्पष्ट है। पाठक देखेंगे कि इस उदाहरणमें कथा प्रसंगको मार्मिक बनानेके लिए अलंकार विधान और उद्दीपन विभावके रूपमें कितना सुंदर प्रकृतिका चित्रण किया है—

घनघोर घटा उनयी जुनई, इततैं उततैं चमकी बिजली।
पियुरे पियुरे पपिहा बिललाति जु, मोर किंगार किरंति मिली॥
बिच बिन्दु परें दृग आंसु फरें, दुनि धार अपार इसी निकली।
मुनि हेमके साहिब देखनकूं, उग्रसेन लली सु अकेली चली॥
कहि राजिमती सुमती सखियानकूं, एक खिनेक खरी रहुरे।
सखिरी सगरी अँगुरी मुही बाहि करांति इसे निहुरे॥
अबही तबही कबहीं जबही, यदुरायकूं जाय इसी कहुरे।
मुनि हेम के साहिब नेमजी हो, अब तोरनतें तुम्हकूं बहुरे॥

कविआनन्दघनको भी प्रकृतिकी अच्छी परख है। आपने मानव भावोंकी अभिव्यक्तिके माध्यमके रूपमें प्रस्तुत प्रतीकोंके लिए प्रकृतिका सुंदर उपयोग किया है। ज्ञानरूपी सूर्योदयके उदय होते ही आत्माकी क्या अवस्था हो जाती है, कविने इसका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। प्रातःकालको रूपक देकर ज्ञानोदयका कितना मर्मस्पर्शी चित्रण किया है, यह देखते ही बनता है—

मेरे घट ज्ञान भाव भयो भोर।
चेतन चकवा चेतन चकवी, भागो विरहको सोर।
फैली चहुँदिशि चतुर भाव रुचि, मिथ्यौ भरम-तम जोर।
आपकी चोरी आप ही जानत, और कहत न चोर॥
अमल कमल विकसित भये भूतल, मंद विषद शशिकोर।
आनन्दघन इक बल्लभ लागत, और न लाख किरोर॥

रूपक अलंकारके रूपमें कवि भागचन्दने अपने अधिकांश पदोंमें प्रकृतिका चित्रण किया है। कविने उपमा और उत्प्रेक्षाओंकी पुष्टिके लिए प्रकृतिका आश्रय ग्रहण करना उचित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझा है। कुछ ऐसे दृश्य हैं, जिनका मानव जीवनसे घना सम्बन्ध है। कुछ ऐसे भी भाव-चित्र हैं, जो हमारे सामुदायिक उपचेतन मनमें जन्मकालसे ही चले आते हैं। जिनवाणी, गुरुवाणी, मन्दिर, चैत्य आदि मानवके मनको ही शान्त नहीं करते; किन्तु अन्तरंग तृप्तिका परम साधन बनते हैं। प्रत्येक भावुक हृदयकी श्रद्धा उक्त वस्तुओंके प्रति स्वभावतः रहती है। कवि वीतराग वाणीको गंगाका रूपक देकर कहता है—

साँची तो गंगा यह वीतरागवानी, अविच्छिन्न धारा निजधर्म की बहानी।
जामें अतिही विमल अगाध ज्ञानपानी, जहाँ नहीं संशयादि पंककी निशानी ॥
सप्तभंग जहं तरंग उछलत सुखदानी, संत चित्त मरालवृन्द रमैं नित्यज्ञानी।
जाके अवगाहन तैं शुद्ध होय प्रानी, भागचंद निहचै घटमाँहि या प्रमानी ॥

प्रकृतिके अधिक चित्र इनकी कवितामें पाये जाते हैं। यद्यपि विशुद्ध रूपमें प्रकृतिका चित्रण इनकी कवितामें नहीं हुआ है, फिर भी उपमानोंका इतना सुन्दर व्यवहार किया गया है, जिससे प्रस्तुतकी अभिव्यञ्जनामें चार चाँद लग गये हैं। वर्षा होने पर चारों ओर शीतलता छा जाती है, निदाघके आतापसे सन्तप्त मेदिनी शान्त हो जाती है। सूर्य अपना पराजय देखकर ग्लानिके कारण अपना मुँह बादलोंमें छिपा लेता है। आकाश मण्डल घन तिमिरसे आच्छादित हो जाता है, जहाँ-तहाँ बिजली चमकती हुई दिखलायी पड़ती है। नदी नालोंमें बाढ़ आ जाती है। वर्षासे धूल दब जाती हैं और नवीन धानोंके पौधे लहलहाने लगते हैं। मेदिनी सर्वत्र हरी-भरी दिखलाई पड़ती है। कवि इस रूपक द्वारा जिनवाणीकी महत्ताका रहस्योद्घाटन करता है—

बरसत ज्ञान सुनीर हो, श्री जिनमुख घनसों।
शीतल होत सुबुद्धि मेदिनी, मिटत भवातप पीर ॥
स्यादवाद नय दामिनि दमकै, होत निनाद गंभीर।
करुना नदी बहै चहुँ दिशि तैं, भरी सो दोई तीर ॥

× × ×

मेघघटा सम श्री जिनवानी।
स्यात्पद चपला चमकत जामें, बरसत ज्ञान सुपानी।
धरम सस्य जातें बहु बाढ़ै, शिव आनन्द फल दानी।
मोहन धूल दबी सब यातै, क्रोधानल सुबुझानी ॥

आधुनिक जैनकाव्योंमें कविताकी पृष्ठभूमिके रूपमें तथा सत्योन्मीलनके रूपमें भी प्रकृतिका चित्रण किया गया है। निराश होनेके पश्चात् सहानुभूतिके रूपमें कोई भी कवि प्रकृति को पाता है, जैन काव्योंमें प्रकृतिका यह रूप भी पाया जाता है। जीवनकी समस्याओं का समाधान प्रकृतिके अंचलसे जैन कवियोंने ढूंढ़ा है। अतः उपयोगितावादी और उपदेशात्मक दोनों ही दृष्टिकोण आधुनिक जैन प्रबंधकाव्योंमें अपनाये गये हैं। वर्द्धमान काव्य में परम्परा-वादी साहित्यके समान प्रकृतिके यथातथ्य चित्र भी खींचे गये हैं। 'प्रतिफलन' और 'राजुल' में भी प्रकृतिके संवेदनशील रूपोंकी सुन्दर अभिव्यंजना की गयी है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी जैन साहित्य में अलंकार योजना

काव्यके दो पक्ष हैं—कलापक्ष और भावपक्ष। जैंसे मानव शरीर और प्राणोंका समवाय हैं, उसी प्रकार कलापक्ष काव्यका शरीर और भावपक्ष प्राण है। दोनों आपसमें सम्बद्ध हैं, एकके अभावमें दूसरेकी सुस्थिति संभव नहीं। भाषा, अलंकार, प्रतीक योजना प्रभृति कलापक्षके अन्तर्गत हैं और अनुभूति भावपक्षके। कोई भी कवि भावको तीव्र करने, व्यञ्जित करने तथा चमत्कार लानेके लिए अलंकारोंका प्रयोग करता है। जिस प्रकार काव्यको चिरन्तन बनानेके लिए अनुभूतिकी गहराई और सूक्ष्मता अपेक्षित हैं, उसी प्रकार उस अनुभूतिको अभिव्यक्त करनेके लिए चमत्कारपूर्ण अलंकृत शैलीकी भी आवश्यकता है।

हिन्दी जैन कवियोंकी कविता कामिनी अनाड़ी राजकुलाङ्गनाके समान न तो अधिक अलंकारोंके बोझसे दबी है और न ग्राम्यबालाके समान निराभरणा ही है। इसमें नागरिक रमणियोंके समान सुन्दर और उपयुक्त अलंकारोंका समावेश किया गया है। कवि बनारसीदास, भैया भगवतीदास और भूधरदास जैसे रससिद्ध कवियोंने अभिव्यञ्जनाकी चमत्कारपूर्ण शैलीमें बड़ी ही चतुराईसे अलंकार योजना की है। वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत वस्तुका वर्णन दो तरहसे किया जाता है—एकमें वस्तुका यथातथ्य वर्णन—अपनी ओरसे नमक-मिर्च मिलाये बिना ही और दूसरीमें कल्पनाके प्रयोग द्वारा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदिसे अलंकृत करके अंग-प्रत्यंग सौन्दर्यका निरूपण किया जाता है। कविकी प्रतिभा प्रस्तुत की अभिव्यंजना पर निर्भर है। अलंकार इस दिशामें परम सहायक होते हैं। मनोभावोंको हृदयस्पर्शी बनानेके लिए अलंकारोंकी योजना करना प्रत्येक कविके लिए आवश्यक है।

जैन कवियोंने प्रस्तुतके प्रति अनुभूति उत्पन्न करानेके लिए जिस अप्रस्तुत की योजना की है, वह स्वाभाविक एवं हृदयस्पर्शी है; साथ ही प्रस्तुतकी भाँति भावोद्रेक करनेमें सक्षम भी। कवि अपनी कल्पनाके बलसे प्रस्तुत प्रसंगके मेलमें अनुरंजक अप्रस्तुतकी योजना कर आत्माभिव्यंजनमें सफल हुए हैं। वस्तुतः जैन कवियोंने चर्मचक्षुओंसे देखे गये पदार्थोंका अनुभव कर कल्पना द्वारा एक ऐसा नया रूप दिया है, जिससे बाह्य जगत् और अन्तर्जगत्का सुन्दर समन्वय हुआ है। इन्होंने बाह्य जगत्के पदार्थोंको अपने अन्तःकरणमें ले जाकर उन्हें अपने भावोंसे अनुरंजित किया है और विधायक कल्पना द्वारा प्रतिपाद्य विषयकी सुन्दर अभिव्यंजना की है। आत्माभिव्यंजनमें जो कवि जितना सफल होता है, वह उतना ही उत्कृष्ट माना जाता है और यह आत्माभिव्यंजन तबतक संभव नहीं, जबतक प्रस्तुत वस्तुके लिए उसीके मेलकी दूसरी अप्रस्तुत वस्तुकी योजना न की जाय। मनीषियोंने इस योजनाको अलंकार कहा है।

काव्यानन्दका उपभोग तभी संभव है, जब काव्यका कलेवर कलामय होनेके साथ अनुभूतिकी विभूतिसे सम्पन्न हो। जो कवि अनुभूतिको जितना ही सुन्दर बनानेका प्रयास करता है, उसकी कविता उतनी ही निखरती जाती है और यह तभी संभव है, जब उपमान सुन्दर हों। अतएव अलंकार अनुभूतिको सरस और सुन्दर बनाते हैं। कवितामें भाव प्रवणता भी तभी आ सकती है, जब रूप योजना के लिए अलंकृत और सँवारे हुए पदोंका प्रयोग किया जाय। दूसरे शब्दोंमें इसीको अलंकार कह सकते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्दालंकारोंमें शब्दोंको चमत्कृत करनेके साथ भावोंको तीव्रता प्रदान करनेके लिए अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति आदि का प्रयोग सभी जैन काव्योंमें मिलता है। "**सकल करम खल दलन, कमठ सठ पवन कनक नग। धवल परम पद रमन जगत जन अमल कमल खग**—इसमें अनुप्रासकी सुन्दर छटा है। भैया भगवतीदासके निम्न पद्यमें कितना सुन्दर अनुप्रास है। इसने अनुभूतिको कितनी तीव्रता प्रदान की है, यह देखते ही बनता है—

कटाक कर्म तोरि के छटाक गांठ छोर के,
पटाक पाप मोर के तटाक दै मृषा गई।
चटाक चिन्ह जानिके, झटाक हीय आनके,
नटाकि नृत्य मानके खटाकि नै खरी ठई॥
घटा के घोर फारिकें तटाक बन्ध टार के,
अटा के राम धार के रटाक राम की जई।
गटाक शुद्ध पान को हटाकि आन आन को,
घटाकि आप दानको सटाक स्यो बधू लई॥

कवि बनारसीदासने यमकालंकार की—"**केवल पद महिमा कहों, कहों सिद्ध गुण गान**" में कितनी सुष्ठु योजना की है। भैया भगवतीदासकी कवितामें तो यमकालंकारकी भरमार है। निम्न पद्यमें यमककी योजना कितनी सुन्दर की गयी है—

एक मतवाले कहें अन्य मतवारे सब,
मेरे मतवारे पर वारे मत सारे हैं।
एक पंच सत्त्व वारे एक एक तत्त्व वारे,
एक भ्रम मत वारे एक एक न्यारे हैं।
जैसे मतवारे बकैं तैसे मतवारे बकैं,
तासों मतवारे तकैं बिना मत वारे हैं।
शान्तिरस वारे कहैं मत को निवारे रहैं,
तेई प्रान प्यारे रहें और सब वारे हैं।

इस पद्यमें प्रथम मतवारेका अर्थ मतवाले और द्वितीय मतवारेका अर्थ मदोन्मत्त। दूसरी पंक्तिमें प्रथम मतवारेका अर्थ मतवाले और द्वितीय मतवारेका अर्थ मतन्योछावर है।

भैया भगवतीदासने 'परमात्म शतक' में आत्माको सम्बोधित करते हुए परमात्माका रूप यमकालंकारमें बहुत ही सुन्दर दिखलाया है।

पीरे होहु सुजान, पीरे कारे है रहे।
पीरे तुम बिन ज्ञान, पीरे सुधा सुबुद्धि कहँ।

इस पद्यमें प्रथम पीरेका अर्थ पियरे अर्थात् हे प्रिय है और द्वितीय पीरेका अर्थ पीले है। द्वितीय पंक्तिमें प्रथम पीरेका अर्थ है पीड़े और द्वितीय पीरेका अर्थ पी-रे अर्थात् पियो इसी प्रकार निम्न पद्यमें यमकालंकार भावोंकी उत्कर्ष व्यंजनामें कितना सहायक है। साधक संसारके विषयोंसे ग्लानि प्राप्त करनेके अनन्तर कहता है कि मैं बलवान कामको न जीत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सका, व्यर्थ ही विषयासक्त रहा। आत्म साधना न कर मैं कामदेवके अधीन बना रहा अतः मुझसे मूर्ख और कौन होगा। जब विषयोंसे पूर्ण विरक्ति हो जाती है, उस समय इस प्रकार के भाव या विचारोंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यह सत्य है कि आत्मभर्त्सना या आत्मालोचनाकी अग्निके बिना विकार जलकर भस्म नहीं हो सकते हैं।

मैं न काम जीत्यो बली, मैं न काम रसलीन।
मैं न काम अपनो कियो, मैं न काम आधीन॥

इस पद्यकी प्रथम पंक्तिमें प्रथम न कामका अर्थ है कामदेवको नहीं और दूसरे न कामका अर्थ है व्यर्थ ही, दूसरी पंक्तिमें न कामका अर्थ है कार्य नहीं किया और दूसरे नकामका मैंने काम, इस प्रकारका पदच्छेद कर अर्थ करनेपर कामदेवके आधीन अर्थ निकलता है। इसी प्रकार निम्न पद्यमें 'तारी' शब्दके भी विभिन्न अर्थ कर पदावृत्ति की गयी है।

तारी पी तुम भूलकर, तारी तन रस लीन।
तारी खोजहु ज्ञान की, तारी पति पर लीन॥

कवि वृन्दावनदासने भी गुरुकी स्तुतिमें शब्दालंकारोंकी सुन्दर योजना की है। **'जिन नामके परभावसों परभावकों वहों'** में प्रथम परभावका अर्थ प्रभाव है और द्वितीय परभावका अर्थ परभाव—भेद बुद्धि या अन्य पदार्थ विषयक बुद्धि है।

कवि बनारसीदासने आत्मानुभूतिकी व्यंजना वक्रोक्ति अलंकारमें भी की है। इस नामरूपात्मक जगत्के बीच परमार्थतत्त्वका शुद्ध स्वरूप भेदबुद्धि द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। स्वात्मानुभव ही शुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेमें सहायक होता है।

अर्थालंकारोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, असम, दृष्टान्त, रूपक, विनोक्ति, विचित्र, उल्लेख, सहोक्ति, समासोक्ति, काव्यलिङ्ग, श्लेष, विरोधाभास एवं व्याजस्तुति आदिका प्रयोग जैन काव्योंमें पाया जाता है।

जैन कवियोंने सादृश्य मूलक अलंकारोंकी योजना स्वरूपमात्रका बोध करानेके लिए नहीं की है, किन्तु उपमेयके भावको उद्बुद्ध करनेके लिए की है। स्वरूपमात्र सादृश्यमें उपमान द्वारा केवल उपमेयकी आकृति या रंगका बोध हो सकता है, किन्तु प्रस्तुतके समान ही आकृतिवाले अप्रस्तुतकी योजना कर देने मात्रसे तज्जन्य भावका उदय नहीं हो सकता है। अतएव 'गोसदृशो गवयः' के समान सादृश्यबोधक वाक्योंमें अलंकार नहीं हो सकता। जबतक अप्रस्तुतके द्वारा प्रस्तुतके रूप या गुणमें सौन्दर्य या उत्कर्ष नहीं पहुँचता है, तबतक अर्थालंकार नहीं माना जा सकता है। अर्थालंकारके लिए "सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपकारकम्" अर्थात् सादृश्यमें चमत्कृत्याधायकत्वका रहना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि जिस अप्रस्तुतकी योजनासे भावानुभूतिमें वृद्धि हो वही वास्तवमें आलंकारिक रमणीयता है। कवि बनारसीदास ने निम्न पद्यमें उपमालंकारकी कितनी सुन्दर योजना की है—

आतम को अहित अध्यातम रहित एसो आसव महातम अखंड अंडवत है।
ताको विसतार गिलिबेकों परगट भयो, ब्रहमंड को विकासी ब्रह्ममंडवत है॥
जामें सबरूप जो सबमें सबरूप सोपें सबनिसों अलिप्त अकाश खंडवत है।
सोहै ज्ञानभानु शुद्ध संवर को भेष धरे, ताकी रुचि रेखको अमारे दण्डवत है॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समदृष्टिकी प्रशंसा करते हुए कवि बनारसीदासने उपमालंकारकी अद्भुत छटा दिखलायी है। कवि कहता है—

भेदविज्ञान जग्यो जिनके घट शीतल चित्त भयो जिमि चन्दन।
केलि करें शिव मारग में जग माँहि जिनेश्वर के लघुनन्दन॥

इस पद्यमें कविने चित्तकी उपमा चन्दनसे दी है। जिस प्रकार चन्दन शीतल होता है, आतापको दूर करता है, उसी प्रकार भेदविज्ञानीका हृदय भी। अतएव यहाँ चाँदनी उपमान और हृदय उपमेय है। समानधर्म शीतलता है तथा उपमावाची शब्द जिमि है। कवि कहता है कि जिनके मनमन्दिरमें आत्मविज्ञानका प्रकाश उत्पन्न हो गया है, उनका हृदय चन्दनके समान शीतल हो जाता है।

कवि मनरंगलालने निम्न पद्योंमें उपमालंकारकी योजना द्वारा रसोत्कर्ष करनेमें कितनी विलक्षणता प्रदर्शित की है। भावना और चिन्तनमें कितना संतुलन है, यह उदाहरणोंसे स्पष्ट है—

गिरिसम बेंच गयन्द सुमनकों खर पर चित्त चलावे।
पाय धरम लब्धि त्यागि शठ विषय भोग को ध्यावे॥
मुसिक्याय कही अब जावो। जन्मान्तर लौ अब खावो॥
ले हार मने मुसिक्याना। जिम पावत भूखो दाना॥

कवि बृन्दावनदासने भगवद्भक्तिकी विशेषता बतलाते हुए उपमालंकारकी कितनी सुन्दर योजना की है। यद्यपि यह पूर्णोपमा है, पर इसमें आत्म-भावनाको अभिव्यक्त करनेके लिए कविने 'सुन्दर नारीकी नाक कटी है' को उपमान बनाकर 'जिनचन्द पदाम्बुज प्रीति बिना' जीवनको उपमेय मानकर भावोंको मूर्त्तिकरूप प्रदान करनेका आयास किया है।

सब ही विधिसों गुनवान बड़े, बलबुद्धि विभा नहिं नेक हटी है।
जिनचन्दपदाम्बुजप्रीति बिना, जिमि सुन्दर नारी की नाक कटी है।

जैन कवियोंने अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुतके भावोंकी सुन्दर अभिव्यञ्जना करनेका पूरा यत्न किया है। प्रतीकों द्वारा, साम्यरूपमें, मूर्तके लिए अमूर्त्तरूपमें, आधारके लिए आधेयरूपमें और मानवीकरणके रूपमें उपमालंकारकी योजना की गयी है। कई कवियोंने निर्जीव वस्तुओंके वर्णन या सूक्ष्म भावोंकी गम्भीर अभिव्यञ्जनामें ऐसे उपमानोंका भी प्रयोग किया है जिनसे मानवके सम्बन्धमें अभिव्यक्ति की गयी है। साहित्यिक दृष्टिसे ये पद्य और भी महत्त्व रखते हैं।

सौन्दर्य और दृश्य चित्रके लिए भी जैन काव्योंमें उपमा और उत्प्रेक्षाका अधिक व्यवहार किया है। इन अलंकारोंके सहारे इन्होंने अपनी कल्पनाका विस्तार बहुत दूर तक बढ़ाया है। कवि-समय-सिद्ध उपमानोंके अलावा नूतन उपमानोंका भी प्रयोग किया है। प्रसिद्ध उपमानोंके व्यवहारमें भी अपनी कलाका पूरा परिचय ये कवि दे सके हैं। चन्द्रप्रभु पुराणमें नेत्रोंकी उपमा कमलसे दी गयी है। कमलके तीन वर्ण प्रसिद्ध हैं—लाल, नीला और श्वेत। बचपनमें नेत्र नीले वर्णके होते हैं, अतएव उस समयके नेत्रोंकी उपमा नील कमलसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तथा युवावस्थाके नेत्र अरुण वर्णके होनेसे **'कंजारुण लोचन'** कहकर वर्णन किया गया है। वृद्धावस्थामें नेत्रका रंग कुछ श्वेत हो जाता है, अतः **'कंजश्वेत इव राजत'** कहकर निरूपण किया है।

कविकी पहुँच कितनी दूर तक है यह उपर्युक्त उपमानोंकी योजनासे स्पष्ट है। कज्जल-युक्त बालकोंकी बड़ी-बड़ी आँखें चित्तको हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं। श्याम रंग भी चित्ताकर्षक और हृदयको शीतल करनेवाला होता है। अतएव केवल कमलको उपमा यहाँ उपयुक्त नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार युवावस्थामें अरुण नेत्र रहनेसे लाल कमलकी उपमा सौन्दर्यका पूरा चित्र सामने प्रस्तुत करनेमें सक्षम है। अरुण नेत्र प्रताप, शूरता और दुस्साहसके सूचक हैं। वीर-वेषके वर्णनमें अरुण कमलवत् नेत्रोंको कहना अधिक सौन्दर्य द्योतक है।

वृद्धावस्थामें शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है तथा रक्तकी कमी होनेसे नेत्र भी स्वभावतः कुछ श्वेत हो जाते हैं। कविने वृद्धावस्थाका पूरा चित्र सामने लानेके लिए श्वेत कमलके समान नेत्रोंको बताया है। कवि वृन्दावनने जिनेन्द्रके नेत्रोंकी निम्न छप्पयके प्रथम चरणमें छः उपमाएँ दी हैं। और शेष पाँच चरणोंमें प्रत्येक उपमाके छः छः विशेषण दिये हैं। नेत्रोंकी दूसरी उपमा कमलसे ही है, पर यह उपमा साधारण नहीं है, छः विशेषण युक्त है; अर्थात् सदल—पत्र सहित, विकसित, दिवसका, सजल-सरोवरका और मलयदेशका है। तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के नेत्र मलयदेशके सरोवरमें विकसित दैवसिक सदल अरुण कमलके तुल्य हैं। साधारण कमलकी उपमा देनेसे यह अभिव्यंजना कभी नहीं हो सकती थी। कोमलता, दयालुता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता और वीतरागताकी भावनाएँ उक्त उपमानोंसे ही यथार्थमें अभिव्यंजित हो सकी हैं—

मीन कमल मद धनद अमिय अंतकु छवि छज्जै।
जुगल सदल अति अरुन, सघन उज्ज्वल भय सज्जै॥
हुलसित विकसित समद, दानि नाकी अति कूरे।
केलि दिवस शुचि अति उदार, पोषक अरि चूरे॥
सम सरज नीति चित चिंत दे, वृंद मिष्ट अनशस्त्र धर।
जल मलय महत अकहत अकृत, देवदृष्टि दुखसृष्टिहर॥

उपर्युक्त पद्यसे स्पष्ट है कि कविका हृदय उपमानोंका अक्षय भंडार है। ये उपमान प्रकृतिसे तो लिये ही गये हैं, पर कुछ परंपरा भुक्त भी हैं। ज्यों ही कवि सौन्दर्यकी अभि-व्यंजना करनेकी इच्छा करता है, त्योंही उपमान उसकी कल्पनाकी पिटारीसे निकलने लगते हैं। कवि दौलतरामने भी उपमानोंकी झड़ी लगा दी है। एक ही उपमेयका सर्वाङ्गीण चित्रण करनेके लिए अनेकानेक उपमानोंका एक ही साथ व्यवहार किया है।

पद्मासद्म पद्मपद पद्मा–मुक्तसद्म दरशावन है।
कलिमल-गंजन मन-अलिरंजन मुनिजन शरन सुपावन।

× × ×

जाको शासन पंचानन सो, कुमति-मतंग-नशावन है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन कवियोंकी एक विशेषता यह भी है कि उसके उपमान किसी न किसी भावको पुष्ट करनेके लिए ही आये हैं। विश्वमें मोहका बन्धन सबसे सबल होता है, संसारका ऐसा कोई प्राणी नहीं, जिसे मोहका विष व्याप्त न हुआ हो। मोहका तीक्ष्ण विष प्राणीको सदा मूर्छित रखता है। अतः कवि दौलतराम और भैया भगवतीदासने इस मोहका चार उपमानों द्वारा विश्लेषण किया है—व्याल, शराब, गरल और धतूरा। इन चारों उपमानोंसे भिन्न-भिन्न भावनाओंकी अभिव्यञ्जना होती है। व्याल—सर्प जिस प्रकार किसी व्यक्तिको काट लेता है तो वह व्यक्ति सर्पके विषके प्रभावसे मूर्छित हो जाता है, तन-वदनका उसे होश नहीं रहता; उसी प्रकार मोहाभिभूत हो जानेसे प्राणी भी विवेकशून्य हो जाता है। रात-दिन संसारके विषय-साधनोंमें अनुरक्त रहता है। अतएव सर्प-विष द्वारा प्रस्तुत मोहके प्रभावका विश्लेषण किया गया है। इसी प्रकार अवशेष तीन उपमान भी मोहाभिभूत दशाकी अभिव्यञ्जना करनेमें सक्षम हैं।

मिथ्यात्वकी भावाभिव्यक्तिके लिए कवि बनारसीदासने तीन उपमानोंका प्रयोग किया है—मतंग, तिमिर और निशा। इन तीनों उपमानोंके द्वारा कविने मिथ्यात्वके प्रभावका निरूपण करनेमें अपूर्व सफलता प्राप्त की है। मिथ्यात्वको मदोन्मत्त हाथी इसलिए वतलाया गया है कि विवेकशून्य हो जानेपर व्यक्तिकी अवस्था मत्त हाथीसे कम नहीं होती। उसमें स्वेच्छाचारिता, अनियन्त्रित ऐन्द्रियक विषयोंका सेवन एवं आत्मज्ञानाभाव हो जाता है। इसी प्रकार अन्धकारके घनीभूत हो जानेसे पदार्थोंका दर्शन नहीं हो पाता है, पासमें रखी हुई वस्तु भी दिखलायी नहीं पड़ती है, और किसी अभीष्ट स्थानकी ओर गमन करना असंभव हो जाता है। कविने उपमानके इन गुणों द्वारा उपमेय मिथ्यात्वकी विभिन्न विशेषताओंका विश्लेषण किया है। वस्तुतः उक्त उपमान प्रस्तुतके स्वास्थ्यका सुन्दर विश्लेषण करते हैं।

सम्यक्त्वकी विशेषता और विश्लेषणके लिए कवि भैया भगवतीदास, भूधरदास और द्यानतरायने चार उपमानोंका प्रयोग किया है—सिंह, सूर्य, प्रदीप और चिन्तामणि रत्न। जिस प्रकार सिंहके वनमें प्रवेश करते ही इतर जन्तु भयभीत हो जाते हैं और वे सिंहकी आधीनता स्वीकार कर लेते हैं उसी प्रकार सम्यक्त्व—आत्मविश्वास गुणके आविर्भूत होते ही व्यक्तिकी सभी कमजोरियाँ समाप्त हो जातीं हैं। मिथ्यात्व—अनात्मा विषयक श्रद्धान, रूपी मदोन्मत्त हाथी सम्यक्त्वरूपी सिंहको देखते ही पलायमान हो जाता है। विषयाकांक्षाएँ और राग-द्वेषाभिनिवेश सम्यक्त्वके पहले तक ही रहते हैं, आत्म-श्रद्धानके उत्पन्न होनेपर व्यक्तिकी क्रियाएँ आत्मकल्याणके लिए ही होने लगती हैं। अतएव सम्यक्त्वके प्रभाव, प्रताप सामर्थ्य और अन्य दिव्य विशेषताओंको दिखलानेके लिए सिंह उपमानका व्यवहार किया है। इसी प्रकार अवशेष उपमान भी सम्यक्त्वकी विशेषताका पूरा चित्र सामने प्रस्तुत करते हैं।

पञ्चेन्द्रियके विषयोंकी सारहीनता कानी कौड़ी, जलमन्थन कर घृत निकालना, कुत्तेका सूखी हड्डी चबाकर स्वाद लेना आदि उपमानोंके द्वारा अभिव्यक्त की है। उपमालंकारका वर्णन हिन्दी जैन-साहित्यमें बहुत विस्तारके साथ मिलता है। उपमाके पूर्णोपमा और लुप्तोपमा इन दोनों प्रधान भेदोंके साथ आर्थी, श्रौती, धर्मलुप्ता, उपमानलुप्ता और वाचकलुप्ता इन उपभेदोंका व्यवहार भी किया गया है। सादृश्य सम्बन्ध वाचक इव, यथा, वा, सी, से, सो, लौं, जिमि आदिका प्रयोग भी यथास्थान मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवि बनारसीदास उपमा और उत्प्रेक्षाके विशेषज्ञ हैं। आपके नाटक समयसारमें इन दोनों अलंकारोंके पर्याप्त उदाहरण आये हैं। निम्न पदमें कितनी सुन्दर उत्प्रेक्षा की गयी है, कल्पनाकी उड़ान कितनी ऊँची है, यह देखते ही बनेगा।

ऊँचे ऊँचे गढके कंगुरे यों विराजत हैं, मानो नभ लोक लीलबेकों दांत दियो है।
सोहे चिहों उर उपवन की सघनताई, घेरा करि मानो भूमि लोक घेरि लियो है॥
गहरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई, नीचो करि आनत पताल जल पियो है।
ऐसो है नगर यामें नृप को न अंग कोउ, यों ही चिदानन्दसों शरीर भिन्न कियो है॥

उत्प्रेक्षा अलंकारका कवि बनारसीदासने कितने अनूठे ढंगसे प्रयोग किया है, भावोत्कर्ष कितना सुन्दर हुआ है, यह निम्न पद्यसे स्पष्ट है—

थोरे से धक्का लगे ऐसे फट जाय मानों,
कागद की पूरी कीधो चादर है चैल की।

संसारके सम्बन्धमें विभिम्न प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ कवि रूपचन्द पाण्डेय और नयसूरिने की हैं। भागचन्द ओर बुधजनके पदोंमें भी उत्प्रेक्षाओंकी भरमार है। कवि भूधरदासने हेतूत्प्रेक्षाका कितना सुन्दर समावेश किया है। कल्पनाकी उड़ानके साथ भावोंकी गहराई भी आश्चर्यजनक है—

काउसग्गा-मुद्रा धरि वन में, ठाड़े रिषभ रिद्धि तज दीनी।
निहचल अंग मेरु है मानों, दोऊँ भुजा छोर जिन दीनी॥
फँसे अनंत जंतु जग-चहलें, दुःखी देख करुना चित लीनी।
काढन काज तिन्हें समरथ प्रभु, किधौं बांह ये दीरघ कीनी॥

भगवान्‌की कायोत्सर्गस्थित मुद्रा देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि प्रभो! आपने अपनी दोनों विशाल भुजाओंको संसारकी कीचड़में फँसे प्राणियोंके निकालनेके लिए ही नीचेकी ओर लटका रखा है। ऊपरके पद्यमें इसी भावको दिखलाया गया है।

भगवान् शान्तिनाथकी स्तुति करता हुआ कवि कल्पना करता है कि देव लोग भगवान्‌को प्रतिदिन नमस्कार करते हैं, उनके मुकुटोंमें लगी नीलमणियोंकी छाया भगवान्‌के चरणोंपर पड़ती है, जिससे ऐसा मालूम पड़ता है, मानों भगवान्‌के चरण कमलोंकी सुगन्धका पान करने के लिए अनेक भ्रमर ही एकत्र हो गये हैं। कवि कहता है—

शांति जिनेश जयो जगतेश हरैं अघताप निशेष की नाईं।
सेवत पांय सुरासुरआय नमैं सिरनाय महीतल ताईं॥
मौलि लगे मनिनील दिपैं प्रभु के चरनों झलकै वह आईं।
सूंघन पाय-सरोज सुगन्धि किधो चलि ये अलि-पंकति आईं॥

जैन कवियोंने एक ही स्थानपर उपमेयमें उपमानकी उत्कटताकी संभावना कर वस्तूत्प्रेक्षा या स्वरूपोत्प्रेक्षाका सुन्दर प्रयोग किया है। वाच्या और प्रतीयमाना दोनों ही प्रकारकी उत्प्रेक्षाओंके उदाहरण वर्द्धमान चरित्रमें आये हैं। कविने वर्द्धमान स्वामीके रूप-सौन्दर्यका निरूपण नाना कल्पनाओं द्वारा अलंकृत रूपमें किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपकालंकारकी योजना करते हुए कवि बनारसीदासने कहा है कि कायाकी चित्रशालामें कर्मका पलंग बिछाया गया है। उसपर मायाकी सेज सजाकर मिथ्या कल्पनाका चादर डाला गया है। इसपर अचेतनताकी नींदमें चेतन सोता है। मोहकी मरोड़ नेत्रोंका बन्द करना है, कर्मके उदयका बल ही श्वासका घोर शब्द हैं और विषय सुखकी दौर ही स्वप्न हैं। कविने यहाँ उपमेयमें उपमानका आरोप बड़ी ही कुशलतासे किया है। कवि कहता है—

काया की चित्रसारी में करम परजंक भारी,
माया की सँवारी सेज चादर कलपना।
शैन करे चेतन अचेतनता नींद लिए,
मोह की मरोर यहै लोचन को ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर,
विषै सुखकारी जाकी दौर यही सपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहे तिहुँ काल,
धावे भ्रम-जाल में न पावे रूप अपना॥

वस्तुतः कवि बनारसीदासने अप्रस्तुतमें प्रस्तुतका केवल रूप-सादृश्य ही नहीं दिखलाया, किन्तु प्रस्तुतके भावको तीव्र बनाया है। निरंग रूपकोंमें सादृश्य, साधर्म्य तथा प्रभाव इन तीनों का ध्यान रखा है, पर साँग रूपकमें भी सादृश्य और साधर्म्यका पूरा निर्वाह किया है। कविने कई स्थलोंपर आत्मा और परमात्माके बीचके व्यवधानको दूर कर आत्माको ही अभेद रूप परमात्मा बतलाया है।

कवि भैया भगवतीदासके सिवा कवि वृन्दावनने भी अपनी कवितामें रूपकोंकी यथा-स्थान योजना की है। कवि वृन्दावन कहते हैं—

आदि पुरान सुनो भव कानन।
मिथ्यामत गयंद गंजनको, यह पुरान सांचो पंचानन॥
सुरगमुक्ति को मग दरसावत, भविक जीवको भवभय भानन॥

यहाँपर आदिपुराणको सिंह और मिथ्यामतको गयन्दका रूपक दिया गया है। आदि-पुराणके अध्ययन और चिन्तनसे मिथ्यात्वबुद्धिका दूर हो जाना दिखलाया गया है। मिथ्यात्वका निराकरण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेपर ही होता है। इसी कारण सम्यक्त्वको सिंह और मिथ्यात्वको मतंग—गज कहा जाता है। आदिपुराणका स्वाध्याय सम्यग्दर्शन उत्पन्न करता है, अतएव सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होनेसे कविने उसे सिंहका रूपक दिया है।

जैन कवियोंने प्रतिपाद्य विषयको प्रस्तुत करनेके लिए उन्हीं उपमानोंका उपयोग नहीं किया है, जो परम्परागत हैं। काव्यानुभूतिका सर्वाङ्गसुन्दर चित्र वहीं प्रस्फुटित होता है, जहाँ कविकी निजी अनुभूतिका उसके विचारोंसे सामञ्जस्य हो। यह अनुभूति जितनी विस्तृत और गम्भीर होती है, उतना ही प्रतिपाद्य विषय आकर्षक होता है। पुराने उपमानोंको सुनते-सुनते हमें अरुचि उत्पन्न हो गई है, अतएव नवीन उपमान ही हमें अधिक प्रभावित करते हैं तथा चर्वित-चर्वण किए हुए उपमानोंकी अपेक्षा प्रभाव भी स्थायी होता है। कवि बनारसीदासने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेक नवीन उपमानोंके उदाहरण देकर वर्ण्य विषयको प्रभावशाली बनाया है। कवि बनारसीदासने उदाहरणालंकारका प्रयोग बहुत ही सुन्दर किया है। निम्नपद्य दर्शनीय हैं—

जैसे तृनकाठ बांस आरनै इत्यादि और, इंधन अनेक विधि पावक में दहिये।
आकृति विलोकत कहावै आगि नानारूप, दीसै एक दाहक सुभाउ जब गहिये।
तैसे नवतत्व में भयो है बहु भेखी जीव, शुद्ध रूप मिश्रित अशुद्धरूप कहिये।
जाही दिन चेतना शकतिको विचार कीजै, ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये॥

× × ×

जैसे वनवारी में कुधातुके मिलाप हेम, नाना भांति भयो पैं तथापि एक नाम है।
कसिके कसौटी लीक निरखै सराफ तांही, बानके प्रमान करि लेतु देतु दान है॥
तैसे ही अनादि पुद्गलसों संयोगी जीव, नवतत्वरूप में अरूपी महाधाम है।
दीसे उनमानसो उद्योत वान ठौर ठौर, दूसरौ न और एक आतमाहि राम है॥

यहाँ कविने बतलाया है कि जैसे तृण, काष्ठ, बाँस आदिकी अग्नि भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही स्वभावकी अपेक्षा एकरूप है, उसी प्रकार यह जीव भी नाना द्रव्योंके सम्पर्कसे नाना रूप होनेपर भी चेतना शक्तिकी अपेक्षासे अभेद एकरूप है।

ज्ञान के उदयतें हमारी दशा ऐसी भई,
जैसे भानु भासत अवस्था होत प्रातको॥

कविने इस पद्यांशमें सूर्यके उदाहरण द्वारा ज्ञानकी विशेषता दिखलायी है। कवि कहता है कि ज्ञानका उदय होनेसे हमारी ऐसी अवस्था हो गई है, जैसे सूर्यके उदय होनेपर प्रातःकालकी होती है। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश अन्धकारको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार मोह अन्धकार दूर हो गया है।

कवि वृन्दावन और भूधरदासने भी उदाहरणालंकार द्वारा प्रस्तुतका भावोत्कर्ष दिखलाया है। भूधरदासने दृष्टान्तालंकारकी योजना निम्न पद्यमें कितने सुन्दर ढंगसे की है, यह दर्शनीय है—

जनम जलधि जलजान जान जनहंस मानकर।
सरब इन्द्र मिल आन आज जिस धरहिं शोसपर॥
पर उपमारी बान, बान उत्थपइ कुनय गन।
गनसरोज बन-भान, भान मम मोह तिमिरघन॥
घनवरन देह दुख-दाह-हर, हरखत हेरि मयूर मन।
मनमथ मतंग-हरि पास जिन, जिन विसरहु छिन जगतजन॥

यहाँ भगवान् पार्श्वनाथका ज्ञान उपमेय और सूर्य उपमान है तथा कमलका विकसित होना और अन्धकारका नष्ट होना समान धर्म है। बस, यही बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव है।

कवि मनरंगलालने उपमेयकी समताका अभाव प्रदर्शित करते हुए असम अलंकारकी कितनी अनूठी योजना की है—

जा सम न दूजी और कन्या देखि रूप लजे रती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार कवि भूधरदासने निम्न पद्यमें हृदयकी भावनाओं और मानसिक विचारोंको कितना साकार करनेका आयास किया है। भावोंके विकासमय आलोककी प्रोज्ज्वल राशि जगमगाती हुई दृष्टिगत होती है। कवि कहता है—

कृमिरास कुवास सराप दहै, शुचिता सब छीवत जात सही।
जिहि पान किये सुध जात हिये, जननी जन जानत नार यही ॥
मदिरा सम आन निषिद्ध कहा, यह जान भले कुलमें न गही।
धिक है उनको वह जीभ जले, जिन मूढ़न के मत लीन कही ॥

इस पद्यमें कविने मदिराके समान अन्य हेय पदार्थका अभाव दिखलाकर मदिराकी अशुचिताका दिग्दर्शन कराया है। इसी प्रकार आखेटका निषेध करते हुए कवि कहता है कि **"काननमें बसै ऐसो आन न गरीब जीव, प्राननसों प्यारे प्रान पूंजो जिस परै है।"** अर्थात् हिरणके समान अन्य कोई भी प्राणी दीन नहीं होता है।

एकके बिना दूसरेके शोभित अथवा अशोभित होनेका वर्णन कर विनोक्ति अलंकारकी योजना बड़ी ही चतुराईके साथ की गयी है। भैया भगवतीदासने—**"आतमके काज बिन रज सम राज सुख, सुनो महाराज कर कान किन दाहिने"**—में आत्मोद्धारके बिना राज्यसुखको भी धूल समान बताया है। कवि भूधरदासने राग बिना संसारके भोगोंकी सारहीनताका चित्रण करते हुए विनोक्ति अलंकारकी कितनी अनूठी योजना की है—

राग उदै भोग भाव लागत सुहावने से बिना ऐसे लागें जैसे नाग कारे हैं।
रागहीसों पाग रहे तनमें सदीव जीव राग गये आवत गिलानि होत न्यारे हैं ॥
रागसों जगत रीति झूंठी सब सांच जाने राग मिटे सूझत असार खेल सारे हैं।
रागी बिन रागी के विचार में बड़ो ही भेद जैसे भटा पथ्य काहु काहु को बयारे हैं ॥

कवि मनरंगलालने विनोक्ति अलंकारकी योजना द्वारा अपने अन्तरालकी व्यापकता और गहराईको बड़े ही अच्छे ढंगसे व्यक्त किया है—

नेम बिना जो नर पर्याय। पशु समान होती नर राय ॥

× × ×

नाथ तिहारे साथ बिन, तनक न मोहि करार।
ताते हमहू साथ तुम, चलसी तजि घर वार ॥

× × ×

हे पुत्र चलो अब घरै हाल। तुम बिन नगरी सब है बिहाल ॥

कवि मनरंगलालने एक ही क्रिया शब्दको दो अर्थोंमें प्रयुक्त कर सहोक्ति अलंकारका भी समावेश किया है। कविने प्रत्येक अंगमें कामदेव और सुषमाको साथ ही रखा है—

अंग अंग में छायो अनंग। जहँ देखो तहँ सुखमा सँग ॥

भैया भगवतीदासने हँसकी उक्ति देकर निम्न पद्यमें कितने सुन्दर ढंगसे चैतन्यका फन्देमें फँसना दिखलाया है। आपका अन्योक्ति अलंकार पर विशेष अधिकार है। तोता, मतंग आदिकी उक्तियोंसे आत्मकी परतन्त्रताकी विवेचना की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हँसा हँस हँस आप मुझ, पूर्व सँवारे फन्द;
तिहिं कुदाव में बंधि रहे, कैसे होहु सुछन्द।
कैसे होहु सुछन्द, चन्द जिस राहु गरासै;
तिमिर होय बल जोर, किरण की प्रभुता नासै।
स्वपर भेद भासै न देह जड़, लखि तजि संसा,
तुम गुण पूरन परम सहज अवलोकहु हँसा।

× × ×

सूवा सयानप सब गई, सेयो सेमर वृच्छ;
आये धोखे आमके, यापै पूरण इच्छ।

कवि मनरंगलालने निम्न पद्यमें अतिशयोक्ति अलंकारका समावेश कितने अनूठे ढंगसे किया है।

नासा लोल कपोल मझार। सब शोभा की राखन हार॥
ताहि देखि सुक बन में जाय। लज्जित ह्वै निवसे अधिकाय॥

कवि बनारसीदासने अपने अर्द्धकथानकमें आत्मचरित्रकी अभिव्यंजना करते हुए आक्षेपालंकारका कितना अच्छा समावेश किया है। कवि कहता है—

शंख रूप शिव देव, महा शंख बनारसी।
दोऊ मिले अबेव, साहिब सेवक एकसे॥

भैया भगवतीदास और बनारसीदासने श्लेषालंकारकी भी यथास्थान योजना की है। "अकृत्रिम प्रतिमा निरखत सु 'करी न धरी न भरी न धरी" में करीन, भरीन और धरीन पदके तीन-तीन अर्थ हैं। मोह अपने जालमें फँसाकर जीवोंको किस प्रकार नचाता है, कविने इसका वर्णन विचित्रालंकारमें कितना अनूंठा किया है—

नटपुर नाम नगर अति सुन्दर, तामें नृत्य होंहि चहुँ ओर।
नायक मोह नचावत सबको, ल्यावत स्वांग नये नित ओर।
उछरत गिरत फिरत फिरका दै, करत नृत्य नाना विधि घोर।
इहि विधि जगत जीव सब नाचत, राचत नांहि तहां सुकिशोर॥

कवि बनारसीदासने आत्मलीलाओंका निरूपण विरोधाभास अलंकारमें करते हुए लिखा है—"एक में अनेक है अनेक ही में एक हैं सो एक न अनेक कुछ कह्यों न परतु है"। इसी प्रकार वृन्दावन और द्यानतरायने भी विरोधाभासकी सुन्दर योजना की है। परिकर समासोक्ति, उल्लेख, विभावना और यथासंख्य अलंकारोंका प्रयोग जैन काव्योंमें यथेष्ट हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी साहित्य को शाहाबाद का अवदान[1]

शाहाबादकी यह उर्वरभूमि प्राचीनकालसे ही संस्कृत और हिन्दी दोनों ही भाषाओंके साहित्य प्रणयनमें अग्रसर रही है। महाकवि बाणभट्टने कादम्बरी और हर्षचरित जैसे प्रौढ़ गद्य ग्रन्थों की रचना इसी जिले की पावन मिट्टीमें की है। संस्कृत की इस गद्यशैलीके अन्तिम आचार्य अम्बिकादत्त व्यासने शिवराजविजय जैसे ऐतिहासिक गद्यकाव्यकी रचना यहींपर की हैं। आराका मिश्रटोला संस्कृत नैयायिकों, वैयाकरणों एवं अलङ्कार शास्त्रियोंकी दृष्टिसे सर्वाधिक गौरव मण्डित है। श्री बबुआजीका आचार्यत्व अभी भी जीवन्त है। सासाराम अनुमंडलके पं० श्रीरामस्वरूप पाठक, सदर अनुमंडलके पं० श्रीरंगनाथ पाठक, बक्सर अनुमंडलके स्वर्गीय पं० श्रीगिरिजादत्त पाठक एवं भभुआ अनुमंडलके कवितार्किक चक्रवर्ती पं० श्रीमहादेव पाण्डेय ऐसे हस्ताक्षर नहीं हैं, जिनसे लोग अपरिचित हों। पं० श्रीरामस्वरूप पाठक का चित्र-काव्य ऐसी अधुनातम कृति है, जो प्रशासनकी ओर से सम्मानित और पुरस्कृत है। पं० रंगनाथ पाठकजीके षड्दर्शन रहस्य और स्फोट दर्शन ग्रन्थ दर्शन और व्याकरणके क्षेत्रमें अद्वितीय हैं। पं० श्रीमहादेव पाण्डेयकी विद्वत्ता और चरित्रनिष्ठाके कारण ही उन्हें काशी जैसे पुण्य क्षेत्रकी पीठपर जगद्गुरु शङ्कराचार्यके रूपमें प्रतिष्ठित किया गया है। स्वर्गीय पं० श्री गिरिजादत्त पाठककी सम्पादन कुशलता एवं काव्य-प्रतिभाको साहित्य-जगत् भूल नहीं सकता है।

हिन्दी गद्यके स्वरूप-निर्धारणमें शाहाबादका योगदान सर्वोपरि है। पूज्य सदल मिश्रने आरम्भमें हिन्दी गद्यको जो स्वच्छशैली प्रदान की, उसका संस्कार और संवर्द्धन पं० श्रीईश्वरी प्रसाद शर्माने ८९-९० ग्रन्थ लिखकर किया है। जीवनचरित और उपन्यास ग्रन्थ लिखनेमें श्री शिवनन्दन सहाय, व्रजनन्दन सहाय 'ब्रजवल्लभ' राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह एवं आचार्य शिवपूजन सहायका नाम गौरवके साथ लिया जाता है। इनकी अमरलेखनीसे प्रसूत रचनाओंने हिन्दी साहित्यकी अपूर्व श्रीवृद्धि की है। अलंकारशास्त्रके सृजनमें स्वर्गीय पं० श्री रामदहिन मिश्रने काव्यदर्पण, काव्यालोक एवं अप्रस्तुत-योजनाकी रचना कर हिन्दी वाङ्मयके लिए एक नया दिशा-दान दिया है। काव्यालोकके प्रथम उद्योतमें साहित्य और काव्यपर प्रत्येक दृष्टिकोणसे विचार किया है। इस ग्रन्थके उत्तरार्द्धमें कवियोंकी असाधारणता, प्रतिनिधित्व एवं गति-मतिका पूरा-पूरा विचार किया है। इसके द्वितीय उद्योतमें अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना एवं ध्वनिपर साङ्गोपाङ्गविमर्श किया गया है। मिश्रजीका गम्भीर अध्ययन और सूक्ष्म विषयग्रहण करनेकी शक्ति प्रशंस्य है।

कविताके क्षेत्रमें महाकवि 'प्रभात', प्राचार्य मनोरंजन, कविवर कलक्टर सिंह 'केसरी', श्री बाबू दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह 'नाथ', कविवर रामदयाल पाण्डेय, पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय,

१. २३ नवम्बर १९६८ को शाहाबाद हिन्दी साहित्य सम्मेलनके चतुर्दश अधिवेशनमें दिया गया अध्यक्षीय अभिभाषण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री अवधविहारी सुमन, श्री प्रफुल्लचन्द ओझा 'मुक्त', श्री रामवचन द्विवेदी 'अरविन्द', डॉ० जितराम पाठक, प्रो० श्री सीताराम 'प्रभास', श्रीमधुसूदन ओझा 'स्वतन्त्र, श्री सिद्धनाथ सहाय 'विनयी', प्रो० कविश्री रामनाथ पाठक ''प्रणयी', पण्डित श्री विन्ध्यवासिनी दत्त 'त्रिपाठी', श्री कालूराम 'अखिलेश', श्री भुवनेश्वर प्रसाद 'भानु', श्री अम्बिकादत्त त्रिपाठी 'व्यास', श्री भगवती प्रसाद 'राकेश', प्रो० श्री सर्वदेव तिवारी 'राकेश', श्री वेदनन्दन, श्री मनमोहिनीकान्त, श्री सुरेन्द्राचार्य, श्रीराम तिवारी, श्री गणपति 'संकेत', प्रो० श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण', श्री विजेन्द्र 'अनिल', श्री विश्वनाथ प्रसाद 'शैदा', श्री व्रजभूषण 'आक्रान्त', श्री जगन्नाथ मिश्र गौड 'कमल', श्री रामनिहाल 'गुंजन', श्री सियाराम गुप्त, श्री सन्तोषकुमार 'मिश्र' 'गोपाल', श्री राधाकृष्ण टंडन, श्री रमाकान्त, श्री विप्र प्रभृति उल्लेखनीय हैं। महाकवि 'प्रभात' और श्री बाबू दुर्गाशंकर सिंहकी रचनाएँ हिन्दी जगत् और भोजपुरी क्षेत्र में विशेष-रूपसे समादृत हैं। जैनकवि वृन्दावनकी भक्ति विषयक रचनाएँ दक्षिणभारत, गुजरात और महाराष्ट्रमें हिन्दीका प्रचार कर रही हैं।

शाहाबादकी अधुनातन साहित्यिक देन

वर्तमान युगमें शाहाबादकी अनेक महनीय प्रतिभाएँ विशेषरूपसे प्रकाशित हुई हैं। हम यहाँ वैयक्तिक निबन्ध, कथा-कहानी, आलोचना प्रभृति साहित्यिक विधाओंके विकासका इति-वृत्त उपस्थित करनेका प्रयास करेंगे। व्यक्तिगत निबन्ध लेखनके क्षेत्रमें सर्वश्री प्रतिभामूर्त्ति प्रो० जगदीश पाण्डेय का महनीय व्यक्तित्व दार्शनिक, आलोचक एवं निबन्धकारके रूपमें माँ भारतीको प्राप्त है। पाण्डेयजीका 'गृहदाह' निबन्ध भूले-भटके बाबुओंके लिए दीपस्तम्भ है। गहन अनु-भवजन्य भावोंको व्यंग्यात्मक शैलीमें सरलता पूर्वक अभिव्यक्त करनेकी कलामें पाण्डेयजी अनुपम हैं। आपके निबन्धोंमें कार्य-कारण सम्बन्ध, स्वस्थ जीवन संकेत एवं उद्भावनाकी रोच-कता आदि गुण विशेष रूपसे समाहित हैं।

डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का 'हँसता जीवन' नामक सोलह वैयक्तिक निबन्धों का संग्रह प्रकाशित है। इन निबन्धोंमें उनकी उन्मुक्त भावधारा और वैयक्तिक चेतनाका स्फुरण पाया जाता है। 'साहित्यकी साधना', 'रसोल्लास', 'कला और सौन्दर्य', 'कला और भक्ति', 'भक्ति और भाव' एवं 'आनन्दका रहस्य' आदि निबन्ध विशुद्ध विचारात्मक होनेपर भी हृदयग्राही और सजीव हैं।

प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारीका ''खजूर का पेड़'' शीर्षक निबन्धसंग्रह विशेषरूपसे उल्लेख्य हैं। प्रो० रानातिके इन वैयक्तिक निबन्धोंमें साधारण और सामान्य विषयोंको अत्यन्त रोचक शैलीमें निबद्धकर आत्मीयता, विनोदशीलता और स्वच्छन्द कल्पना विहारका परिचय प्राप्त होता है। इनकी शैली सरल आडम्बरहीन और आत्मनिष्ठ है। लेखक बिना किसी संकोचके अपने पाठकोंको जीवन अनुभव सुनाता है और उन्हें आत्मीयता के साथ उनमें भाग लेनेके लिए आमन्त्रित करता है। रानाति उत्तरोत्तर अधिकाधिक ऋजु और उदाररूपमें अपने भावोंको अभिव्यक्त करते गये हैं। इस संग्रहके निबन्धोंमें 'खजूरका पेड़', 'ट्रक यात्रा', 'माटीके राम', 'ठाकुर', 'बेकारी', 'अस्त-व्यस्तता' और 'मनकी आँख' रूपविधानकी दृष्टिसे उच्चकोटिके हैं।

प्राचार्य विश्वनाथ सिंह भी वैयक्तिक निबन्धकारोंमें पंक्तेय हैं। आपका ''मञ्जन फल''

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निबन्ध तत्काल पाठकोंको मराल बनानेमें सशक्त है। काल्पनिक चमत्कारके साथ प्रवाहमय आकर्षण रहनेसे पाठक प्राचार्य 'सिंह' के निबन्धोंसे ऊबता नहीं। अन्य निबन्धकारोंमें डॉ० कपिलदेव पाण्डेयका नाम भी गौरवके साथ लिया जाता है।

कथा-कहानीके क्षेत्रोंमें शाहाबाद की प्रतिभाएँ विशेषरूपसे गतिशील हैं। हम आचार्य शिवपूजन सहाय और राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह जैसे यशस्वी कथाकारोंकी चर्चा न कर नये कहानी-उपन्यास लेखकोंके सम्बन्धमें ही विचार प्रस्तुत करेंगे।

स्व० श्री त्रिवेणीप्रसादका 'विसर्जन' उपन्यास, श्री वृन्दावनविहारीके आकांक्षा और लालचन्द एवं बनारसीप्रसाद 'भोजपुरी'के हलवाहाका बेटा, अर्धाङ्गिनी, समाजका पाप, गरीब की आह और मैदानेजंग लोकप्रिय रचनाएँ हैं। इन उपन्यासों द्वारा सर्वहरा समाजका जीवन्त चित्रण किया गया है। वस्तु और शिल्प दोनों ही दृष्टियोंसे उक्त उपन्यास उपादेय हैं। श्री भोजपुरीजीके उपन्यासोंमें श्रमिकों, कृषकों और पूँजीपतियोंके संघर्ष जीवन्तरूपमें चित्रित हैं। विभिन्न प्रकारकी सामाजिक समस्याओंके समाधान भी भोजपुरीजीने किये हैं। क्रियाकलापों द्वारा ही पात्रोंका चरित्र चित्रितकर कथानकके गठनमें पूर्ण कौशल प्रदर्शित किया है।

कथा-कहानीकारोंमें प्रो० रानाति, श्री राधाकृष्णप्रसाद, भोजपुरी, श्री बा० दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह, श्री मधुकर सिंह, प्रो० विजयमोहन सिंह, श्री सुबोधकुमार जैन, श्री उदयराज सिंह, श्री नन्दकिशोर तिवारी, श्री उमाशंकर, श्री शंकरदयाल श्रीवास्तव, श्री रामेश्वर प्रसाद वर्मा एवं डॉ० लक्ष्मीकान्त प्रभृतिके नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो० रानातिका सामाजिक कहानी संग्रह 'सुबह और शाम', हास्य कहानी संग्रह 'गजानन शास्त्री' एवं लघुकथासंग्रहके रूपमें 'रेलकी पटरियाँ' की भूमिकामें लिखा है—'रामेश्वरजी कुल मिलाकर सजग आँखों, सचेत बुद्धि और मर्मधनी हृदयसे जीवनको देखनेवाले हैं। जीवनसे उन्होंने प्रश्न पूछे हैं, लेकिन पद्धति और प्रभावमें साहित्यका रस है, तार्किकका वाक्छल नहीं। उन्होंने अपनेको अलंकृत पदवैभव और जटिल मार्मिकताओं से दूर रखा है। समग्रमें उनकी दृष्टि तीखी और अन्योक्तिगर्भित है।····· ····कोई-कोई लघुकथा तो अपनी गुरुतामें महान् है, महाकाव्योचित है, जैसे—'मरा हुआ पत्ता'।

रानातिकी कहानियोंके सम्बन्धमें प्रो० पाण्डेयजीका उक्त कथन अक्षरशः सत्य है। हृदयको छूनेकी शक्ति इनकी हास्य कहानियों और लघुकथाओंमें पूर्णतया विद्यमान है।

श्री दुर्गाशंकरबाबूकी 'वह शिल्पी था' नई शैलीकी नई कहानियोंका संग्रह है। इस संग्रहमें आठ कहानियाँ हैं। 'दुःखिया' और 'शैला' इन दोनों ही कथाओंमें प्रणयवंचनाके दारुण दुःखकी अभिव्यक्ति हुई है। बाबू साहबकी कहानीशैलीमें पर्याप्त तीखापन निहित है। उनकी फरारकी डायरीमें रोचकता और व्यंग्यात्मकता समानरूपमें समवेत हैं।

शाहाबाद के चिन्तक विद्वान् प्रो० विजयमोहनसिंह और मधुकरसिंहके सम्पादकत्वमें '६० के बादकी कहानियाँ' शीर्षक एक संग्रह, प्रकाशित हुआ है। इस संग्रहका 'आमुख' परिवर्तनकी प्रक्रियाके विश्लेषणमें लिखा गया है। इस विश्लेषणमें बताया है कि पिछली कहानियाँ सम्बन्धोंकी कहानियाँ हैं। अब सम्बन्ध विघटित हो रहे हैं और उनका खोखलापन प्रकट होता जा रहा है। अतः वर्तमान कहानियोंमें ईमानदारी और गम्भीरताके साथ समस्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ओंको सुलझाया नहीं जाता, कहानीकार समस्याओंके भीतर बँधकर उनका भोग करता है और सम्बन्धमुक्त कहानियाँ लिखी जाती हैं। इस विश्लेषणके आधारपर संग्रहकी सभी कहानियाँ खरी नहीं उतरतीं। निश्चय सम्पादक द्वयका यह प्रयास श्लाघनीय है।

शाहाबादका हिन्दी नाटककी श्रीवृद्धिमें भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। नाटककारोंमें सर्वश्री स्व० बाबू जैनेन्द्रकिशोर जैन. डॉ० श्री सिद्धनाथकुमार, महाराजकुमार, दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह, प्रो० श्याममोहन 'अस्थाना', श्री मनमोहिनीकान्त, श्री भगवती प्रसाद 'राकेश' आदिके नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० सिद्धनाथकुमारने रेडियो नाटकोंका प्रणयनकर एक नयी विधाको विकसित किया है। श्री दुर्गाशंकर प्रसादका 'कैकेयीका त्याग' पौराणिक नाटक होने पर भी आधुनिकतासे सम्पृक्त है। पौराणिक कथानकमें पर्याप्त परिवर्तनकर नये रूपमें लिखा गया है। इस नाटकके पात्रोंमें सच्चा बौद्धिक विकास दिखाई पड़ता है। नाटकमें लम्बी प्रस्तावना अंकित की गई है। प्रो० श्याममोहन 'अस्थाना' के 'पूर्व और पश्चिम' नाटकमें अभिनय गुण पाया जाता है। इस नाटकका रूपमके मंचपर सफल अभिनय भी हो चुका है। 'हम सब साथ हैं' मनमोहिनीकान्तका राष्ट्रीय नाटक है। यह नाटक भी अभिनेय है तथा जन जागरणके हेतु इसके पठन और अभिनय उपादेय होंगे। भगवतीप्रसाद 'राकेश' कवि हैं, अतः उनके 'निर्वाचन नाटक' में कवि-प्रतिभा मुखरित है। इस नाटकमें चार अंक और चौदह दृश्य हैं। इस नाटकमें एक साथ रामका अन्तर्द्वन्द्व, सीताका अलौकिक संयम एवं अविचल कर्त्तव्यनिष्ठा, उर्मिलाकी भावविह्वलता उपलब्ध है। नाट्य कलाकी दृष्टिसे नाटक अच्छा है। दिनेशप्रसाद 'शाहाबादी' का 'धरतीके लाल' ऐतिहासिक नाटक भी पठनीय है।

श्री डॉ० कमलाप्रसाद मिश्र 'विप्र' का 'वीरमंगल पांडे' भोजपुरी भाषाका नाटक है। इस नाटकमें विप्रजीने सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राममें आहुति देनेवाले मंगलपांडेका चरित्र निबद्ध किया है। इस नाटककी आलोचना करते हुए डॉ० श्री उदयनारायण तिवारीने लिखा है—'खांटी भोजपुरी भाखा आ मोहाबरा लिखेमें विप्रजी बेजोड़ बाड़न। हमरा पुरा भरोसा बा कि भोजपुरी बोलेवाला लोग विप्रजीका ए नाटकके प्रसन्न करी। हम विप्रजीके अइसन सुन्नर नाटक लिखला खातिर बधाई देत बानी'।

'आलोचना'की समृद्धिमें शाहाबादका योगदान किसी एक प्रदेश या राज्यसे अधिक है। प्रतिभामनीषी प्रो० जगदीश पाण्डेयकी रचनाएँ इस विधाकी सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं। शील-निरूपण : सिद्धान्त और विनियोग, उदात्त : सिद्धान्त और शिल्पन एवं कहानीकार जैनेन्द्र : अभिज्ञा और उपलब्धि ये तीनों ही ग्रन्थ हिन्दी आलोचनाके लिये अमूल्य निधि हैं। प्रथम ग्रन्थमें चरित्र-चित्रणके सिद्धान्तोंका पांडित्यपूर्ण विवेचन किया है। इस ग्रन्थके उत्तरार्द्धमें शीलके उदाहरण प्रस्तुत करनेके लिये 'गोदान', 'सुनीता', 'शेखर : एक जीवनी' एवं 'मैला आंचल' की समीक्षा की गई है। शीलकी परिभाषा निर्धारित करते हुए लिखा है—"जहाँ हावके पीछे भाव नहीं, वहाँ शील नहीं। क्रियामात्र शील नहीं, जबतक वह प्रतिक्रिया न हो। भोजन करना या सांस लेना या कोरा रास्ता चलना क्रियामात्र है। दुर्योधन के घरका मेवा छोड़ विदुरका शाक खाना, अपनी प्रेयसीकी सांसमें सांस मिलाना और चित्रकूट तीर्थको इस भावनासे जाना कि शायद रामके चरणचिह्न नसीब हो जायँ, शीलके अन्तर्गत आयेगा।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि लेखकने शीलकी परिभाषा अत्यन्त चिन्तन और मनन-पूर्वक निबद्ध की है। सौन्दर्यानुभूति और रसास्वादनकी प्रक्रिया पर भी पूरा प्रकाश डाला गया है। दुरूह विषयको विदग्धतापूर्ण उदाहरणोंके माध्यमसे पाठकों तक पहुँचा देनेकी कलामें पाण्डेयजी सिद्धहस्त हैं।

द्वितीय ग्रन्थमें उदात्त भावनाका अनुपम विश्लेषण किया है। कामायनी और राम-चरितमानसमें समाहित उदात्तका विवेचन उक्त दोनों रचनाओंका साहित्यिक मूल्यांकन है। असाधारण विद्वत्तापूर्वक लिखे गये इस ग्रन्थमें 'आनन्द' नामक एक नये रसकी स्थापना भी की है। हिन्दी समीक्षाके लिये पाण्डेयजीके समीक्षा ग्रन्थ ऐसे उज्ज्वल मणि हैं, जिनका आलोक त्रिकालमें भी न्यून न होगा। पाण्डेयजीके कृशकायमें ज्ञानपरमाणुओंके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। अतः संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि शाहाबादका यह सारस्वता अपनी मौलिक उद्भावनाओंके कारण हिन्दी आलोचनाके लिये वरदान है। इस लाड़लेपर माँ भारतीका सर्वाधिक दुलार देखकर ईर्ष्या-सी होती है।

रीतिकालीन साहित्यके संकलन और अध्ययनकी दिशामें श्री नकछेदी तिवारीके योग-दानको कम नहीं माना जा सकता है। रीतिकालीन अध्ययनके लिये आज भी तिवारीजीकी रचनाएँ मील पत्थरका कार्य करती हैं। उन जैसा माधुर्य भावनाका विश्लेषक अन्य दिखलाई नहीं पड़ता। भक्ति आन्दोलनके साथ माधुर्य भक्तिका रूप और काव्यशास्त्रके विवेचनमें श्रृंगारके महत्त्वका अद्भुत संयोग उपस्थित करनेवाले श्री नकछेदी तिवारीजीका नाम सदा अमर रहेगा।

आलोचनाकी समृद्धिमें प्राचार्य विश्वनाथ सिंहके 'नाटककार प्रसाद और चन्द्रगुप्त' एवं निर्गुण काव्यधारा, डॉ० सिद्धनाथ कुमार के 'हिन्दी एकांकी शिल्पविधिका विकास, एवं 'रेडियो नाट्यशिल्प', प्रो० राजवंश सहाय 'हीरा' का 'भारतीय काव्य शास्त्र', डॉ० श्री राम-खेलावन पाण्डेयके सन्त काव्य एवं हिन्दी गीतिकाव्य; प्रो० स्व० श्री सिद्धनाथ तिवारीके 'निर्गुण काव्य दर्शन' एवं 'ध्रुवस्वामिनी की नाट्यकला' श्री राजेन्द्र शर्माके 'हिन्दी उपन्यासोंके विकासमें पाठकोंकी रुचिका प्रभाव' एवं डा० लक्ष्मीकान्तका 'हिन्दी उपन्यास साहित्यका उद्भव और विकास' ग्रन्थ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। शोधकी दृष्टिसे डॉ० श्री कपिलदेव पाण्डेयका मध्य-कालीन साहित्यमें अवतारवाद एवं प्रो० रानाति का हिन्दी कविमीमांसा भी उल्लेख्य हैं। शोध-खोज करने वालोंमें डॉ० श्री चन्द्रभूषण तिवारी, डॉ० जितराम पाठक, डॉ० रमेशचन्द्र पाठक, प्रो० गदाधर सिंह, प्रो० रामनाथ पाठक, प्रो० चन्द्रदेवराय एवं प्रो० शालिग्राम उपा-ध्याय प्रभृति भी निर्देश्य हैं।

अर्थशास्त्र विषयक साहित्य निर्माताओंमें प्रो० लालमोहर राय, प्रो० श्रीधर पाण्डेय, प्रो० उदयप्रकाश श्रीवास्तव', प्राचार्य कुञ्जविहारी सिंह, डॉ० कामताप्रसाद, प्राचार्य डॉ० परम हंसराय प्रभृतिके नाम महत्त्वपूर्ण हैं। वाणिज्य विषयक ग्रन्थोंका निर्माण करनेमें प्राचार्य डॉ० परमहंस राय और डॉ० कामताप्रसाद का नाम स्मरणीय है।

रसायनशास्त्रके क्षेत्रमें हिन्दीभाषामें ग्रन्थ लिखनेवाले प्रो० श्री सत्यपति सहाय और डॉ० उमाशंकर पाण्डेय को भी भुलाया नहीं जा सकता है। विज्ञान विषयक ग्रन्थोंका प्रणयन हिन्दी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषामें आप दोनों विद्वान् कर रहे हैं। राजनीति विज्ञानकी ग्रन्थ समृद्धिमें प्रो० केशव प्रसाद सिंह और प्रो० शमशेरजंगबहादुर संलग्न हैं।

पत्रकारिताकी दिशामें शाहाबादका स्थान बहुत ऊँचा है। सम्पादकाचार्य श्री नन्दकिशोर तिवारी ने चाँद, भविष्य, कर्मयोगी और बिहार नामक पत्रोंका बड़ी कुशलताके साथ सम्पादन किया था। श्रीपति पाण्डेय विशाल भारतके सहायक सम्पादक पद पर आसीन रहे थे। मधूसूदन ओझा स्वतन्त्रने 'वर्मा टाइम्सका, महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्माने शिक्षा का, श्री कृष्णमोहन वर्माने अग्रदूत और योगीका, बनारसी प्रसाद भोजपुरीने देश, महावीर, जनक, आर्यमहिला, सूर्य, नवशक्ति और स्वाधीन भारतका, कविवर रामदयाल पाण्डेयजीने नवराष्ट्रका एवं पं० दुर्गादत्त त्रिपाठीने शिक्षाका सम्पादनकार्य योग्यता पूर्वक किया था। वर्तमानमें डॉ० गोपालराय समीक्षाका, श्री कृष्णमोहन वर्मा नवराष्ट्रका, श्री नर्मदेश्वरसहाय 'अजोर' का, श्रीमती पं० ब्र० चन्दाबाई जैन महिलादर्शका 'भानु' जी गाँव-घरका एवं डॉ० जितराम पाठक 'भोजपुरी साहित्य' का सम्पादन कर रहे हैं। श्री गोपालनन्दन सहायने नव शक्ति और नवराष्ट्रमें सहायक सम्पादक और सम्पादक पद पर कार्य किया है। श्री रघुवंशनारायण सिंह 'भोजपुरी' पत्रिका का कई वर्षों तक सम्पादन और संचालनकर शाहाबादकी सेवा की है। स्व० श्री त्रिवेणीप्रसादने 'बालकेसरी' नामक बालोपयोगी पत्र का सम्पादन किया था।

इधर नयी प्रतिभाओंमें श्री जगदीशराय 'सीमान्त' नामक मासिक पत्रका सम्पादन और प्रकाशन कर रहे हैं। श्री विजेन्द्र 'अनिल' के सम्पादनमें 'प्रगति' का प्रकाशन हो रहा है और प्रो० सर्वदेव तिवारी 'राकेश', प्रो० विजयमोहन सिंह एवं प्रो० श्याममोहन अस्थानाके सम्पादकत्वमें 'सम्बोधन' प्रकाशित हुआ था।

उक्त पत्रिकाएँ सामयिक विचारधाराओंका सम्यक् परिचय प्रस्तुत करती हैं। नयी कविताओं और नयी कहानियोंके साथ चिन्तनात्मक विचार भी प्रकाशित होते रहते हैं। वर्त्तमानको अवगत करनेके लिए इन लघु पत्रिकाओंका विशेष महत्त्व है। श्री वेदनन्दन द्वारा प्रकाशित पत्रिका भी महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी भाषाके समक्ष समस्याएँ

हिन्दी भाषाको राष्ट्रभाषा और राजभाषाके पद पर प्रतिष्ठित करने की घोषणा हो जाने पर भी आज अपने ही घरमें हिन्दी बहिष्कृत है। बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दिल्ली, हरियाणा और हिमाचल इन सात हिन्दी भाषाभाषी राज्योंमें भी हिन्दीकी उपेक्षा की जा रही है। सरकारी और गैरसरकारी दोनों ही प्रकारकी संस्थाएँ आज भी विदेशी भाषाका व्यवहार करती हैं। सत्ताधारी प्रशासक विदेशी भाषाके व्यवहारको शासनकी शान समझते हैं। अतएव विदेशी भाषा अंग्रेजीको शिक्षा, प्रशासन एवं न्यायालय आदि स्थानोंसे हटानेके लिए हम सभीको श्रम करना पड़ेगा। हमारा यह संकल्प होना चाहिए कि हम अपना प्रत्येक कार्य हिन्दीमें करेंगे, भले ही हमें इस व्यवहारसे कठिनाईका सामना करना पड़े। आज हम देखते हैं कि अंग्रेजीका जितना व्यामोह परतन्त्र भारतमें नहीं था, उतना आज स्वतन्त्र भारतमें है। लंगड़ी अंग्रेजीका व्यवहार करते हुए देखकर कभी-कभी बड़ी हँसी आती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारा विश्वास है कि हिन्दी भाषाभाषी राज्य यदि अपने राज कार्योंमें पूर्णतया हिन्दी का व्यवहार करने लगें तो हिन्दी को राष्ट्र भाषा बननेमें तनिक भी कठिनाई नहीं हो। अतएव इस सम्मेलनके उत्साही सदस्योंको हिन्दी भाषाके लिए अधिकाधिक प्रयत्न करना चाहिए।

ज्ञानकी दृष्टिसे कई भाषाओंको सीखा जा सकता है, पर निजी काम-काजमें विदेशी भाषाका व्यवहार करना भौतिक अपराध है। विज्ञान और तकनीकी विषयोंकी पुस्तकें भी हिन्दीमें शीघ्र ही तैयार होनी चाहिए। शाहाबादके कई सपूत विज्ञान, अर्थशास्त्र, राजनीति, वाणिज्य प्रभृति विषयोंकी पाठ्य पुस्तकोंको हिन्दीमें लिखने का स्तुत्य प्रयास कर रहे हैं। इस दिशामें शीघ्रता पूर्वक और अधिक प्रगति करनेकी आवश्यकता है।

हिन्दी भाषामें नये शब्दोंका चयन

हिन्दी भाषाके क्षेत्रमें नये-नये शब्दोंका चयन किया जा रहा है, पर इनमें भ्रामकताका बड़ा आधिपत्य है। इसका प्रधान कारण यह है कि नये शब्दोंका गठन करते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया जाता कि शब्दका गठन जिस आख्यात धातुसे किया गया है, शब्द उस धातुके अनुसार अर्थ बोधक है या नहीं? आचार्य शाकटायन ने लिखा है—'सर्वाणि नामानि आख्यातजानि' अर्थात् जो भी शब्द बनाया जाय उसमें कुछ अक्षर ऐसे हों, जो समस्त शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दें। संस्कृतमें प्रकृतिके साथ प्रत्यय जोड़कर जितने शब्द गढ़े जाते हैं वे सभी शब्द स्वयं अपना अर्थ खोल देते हैं। आज हिन्दी में खबरके अर्थमें प्रचलित समाचार शब्द आख्यातकी दृष्टिसे भ्रामक है। इस शब्दका प्रयोग महाभारतमें क्षत्रिय समाचार स्त्री समाचार आज पदोंके रूपमें आया है। इन शब्दोंका अर्थ क्षत्रियोंका आचार, स्त्री-जातिका आचार है। अतः यह शब्द सम् + आचारके योगसे बना है जिसका स्पष्ट अर्थ है समूहका आचार। हिन्दीमें भ्रमवश संचारके रूपमें समाचारको ग्रहण कर लिया गया है।

इसी प्रकार हिन्दीकी तर्कशास्त्र संबंधी रचनाओंमें Deductive Logic और Inductive Logic का अनुवाद आगमन तर्क और निगमन तर्क किया गया है, जो भारतीय न्याय ग्रन्थोंके विपरीत हैं। भारतीय न्यायमें अनुमानकी दो प्रक्रियाएँ हैं—प्रथम प्रक्रियामें सामान्यसे विशेष निर्णयको प्राप्त करते हैं और दूसरीमें विशेषसे सामान्य निर्णयको। ये दोनों प्रक्रियाएँ ही Deductive और Iuductive हैं। अतएव इन दोनोंके लिए उपयुक्त शब्द सामान्यतर्क और विशेषतर्क होने चाहिए।

वर्तमानमें हिन्दीमें विविध विषयोंके ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, अतएव घातक प्रभावोंसे बचने के लिए सर्व प्रथम एक प्रामाणिक शब्दकोषका निर्माण किया जाय, जिसके आधार पर तकनीकी विषय लिखे जा सकें। आज हम देखते हैं कि हिन्दीका अधिकाधिक प्रचार करने की धुनमें एक ओर कुछ लोग उसे अधिकसे अधिक क्लिष्ट बनानेकी अनधिकार चेष्टा कर रहे हैं तो दूसरी ओर कुछ लोग अज्ञानताके अनोखे हास्यास्पद और गलत शब्दोंका प्रयोग कर भाषा का पेट भर रहे हैं। हमारी दृष्टिमें दोनों ही प्रकारके व्यक्ति हिन्दीका हित न करके अहित ही करते हैं।

प्रायः आज अर्थशास्त्र, राजनीतिविज्ञान, दर्शनशास्त्र प्रभृति विषयोंके ग्रन्थलेखक अन्य भाषाओंमें लिखित पुस्तकोंकी पृष्ठभूमि बनाकर शब्दोंका अनुवाद करनेका प्रयास करते हैं, अतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषाकी स्वाभाविकता मारी जाती है और अनुपयुक्त एवं विलक्षण शब्दोंके प्रयुक्त होनेकी अधिक सम्भावना रहती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि विभिन्न विषयोंमें ग्रन्थ लिखते समय यह उद्देश्य रहना चाहिए कि शब्दोंके प्रयोगमें एकता हो और जिन शब्दोंका प्रयोग किया, वे स्वयं अर्थपूर्ण हों।

हिन्दीमें राजनीतिविज्ञान अथवा अन्य विज्ञानके ग्रन्थनिर्माण के समय भारतके प्राचीन वाङ्मयकी धरोहर पर भी दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। वर्तमान में Quorum (कोरम) के लिए 'अनिवार्य संख्या' और Secret ballot के लिए 'गुप्तमतदान' शब्द बन चुके हैं। पर हमारे यहाँ प्राचीन समयमें कोरमके लिए 'गणपूर्त्ति' और सेक्रेट बैलटके लिए 'शलाका पद्धति' शब्द प्रचलित थे। ये दोनों शब्द उक्त दोनोंको अपेक्षा यथार्थ अर्थबोधक हैं। भाषाविज्ञानकी दृष्टिमें ballet शब्द तत्त्वतः शलाकाका ही बन्धु है। अतएव प्राचीन पारिभाषिक शब्दभंडार-का प्रयोग करना उपादेय है। अतः आधुनिक शब्दावलीमें निहित अधिकांश कल्पनाओंके लिए प्राचीन शब्द पर्याप्तसीमा तक उपयोगी सिद्ध होंगे। अनेक नये तथा पुराने भावों-संकल्पनाओं-को व्यक्त करनेवाले शब्द प्रशासनके क्षेत्रमें बहुत समयसे प्रचलित हैं, ऐसे शब्दोंको हटाकर उनके स्थान पर संस्कृतके कठिन शब्दोंके व्यवहारकी आवश्यकता नहीं।

हिन्दी भाषाकी शब्दावलीके समन्वयका अर्थ एकरूपता न होकर समानरूपता होना चाहिए। अन्यथा प्रान्तीय क्षेत्रोंकी अपनी प्रचलित शब्दावलीके स्थानपर नये शब्द स्वीकृत नहीं होंगे तथा क्षेत्रीय ललित साहित्य और जनजीवनसे उनका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकेगा। अतएव हिन्दी भाषाकी शब्दावलीको समृद्ध करनेके लिए प्राचीन भारतीय भाषाओंके अतिरिक्त प्रादेशिक भाषाओंसे भी शब्दोंको ग्रहण करना पड़ेगा। कई लोक-भाषाओंमें तक-नीकी शब्दोंके लिए सुन्दर अर्थबोधक शब्द प्रचलित हैं। अतः विभिन्न लोकभाषाओंसे पारि-भाषिक शब्दोंके चयनका कार्य करना हिन्दी भाषाके प्रेमियोंके लिए आवश्यक है। इससे हिन्दी-का केवल प्रचार ही नहीं बढ़ेगा, बल्कि लोक-भाषाओंके साथ हिन्दीका भावात्मक सम्बन्ध भी स्थापित हो जायगा।

हिन्दी अथवा अन्य किसी प्रादेशिक भाषामें रचित ग्रन्थोंके समझनेमें भी कठिनाई नहीं होगी।

नयी कविता, अकविता एवं नयी कहानी, अकहानी

आज हिन्दी साहित्य शिल्पकी दृष्टिसे वहुत आगे है। नयी कविता अब अकविताका रूप ले चुकी है। ऐतिहासिक दृष्टिसे नयी कविता 'दूसरा सप्तक' (सन् १९५१ ई०) के बाद-की कविताको कहा जाता है, पर इस ऐतिहासिक क्रमके अतिरिक्त भी नयी कविताका वास्त-विक रूप उस समय प्रतिष्ठित हुआ जब 'दूसरा सप्तक' के बादके कवियोंने सारी कविताको 'दूसरा सप्तक' के निकटवर्ती पाते हुए किन्हीं अर्थोंमें कुछ भिन्नताका अनुभव भी किया। नयी कविता मूलतः १९५३ ई० में 'नये पत्ते' के प्रकाशनके साथ विकसित हुई और जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदीके सम्पादनमें प्रकाशित होने वाले संकलन 'नयी कविता' (सन् १९५४ ई०) में सर्व प्रथम अपने समस्त सम्भावित प्रतिमानोंके साथ प्रकाशमें आई। इसे नयी कविता कहे जानेके कई कारण हैं। विषयवस्तु और शिल्पकी दृष्टिसे यह अपने पूर्ववर्ती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवियोंसे आगे हैं। यह वैयक्तिक यथार्थ और सामाजिक यथार्थके साथ उन प्रतिमानोंको लेकर विकसित हुई है जो आजके भाव-बोधको वहन करते हुए सर्वथा नयी दृष्टिके साथ अवतरित होते हैं। इसका मूलस्रोत आजके युगसत्य और युग यथार्थमें निहित है। अतएव इसमें गद्यका यथार्थ और काव्यकी संवेदनशील अभिरुचि, दोनों एक साथ सर्वथा नयी भाव-भूमि पर समूची अनुभूति प्रस्तुत करते हैं। इस नयी भाव-भूमिका आग्रह उस मानवीय आत्मविश्वास और आत्म-अभिव्यक्तिसे प्रभावित है, जिस पिछले दो दशक अपने अस्तित्वके संघर्षमें बिताने पड़े हैं।

नयी कविताकी मूल स्थापनाओंमें चार मुख्य तत्त्व हैं। सर्व प्रथम इसका विश्वास आधुनिकतामें है; दूसरे यह जिस आधुनिकताको स्वीकार करती है, उसमें वर्जनाओं और कुण्ठाओंकी अपेक्षा मुक्त यथार्थका समर्थन हैं। तीसरे इस मुक्त यथार्थका साक्षात्कार वह विवेकके आधार पर करना अधिक न्यायोचित मानती है और चौथा यह कि इन तीनोंके साथ-साथ वह क्षणके दायित्व और नितान्त सम सामयिकता के दायित्वको स्वीकार करती है।

नयी कविताके समर्थक आधुनिकताका अर्थ विकृतियोंमें न लेकर वैज्ञानिक दृष्टिकोणके समर्थनमें ग्रहण करते हैं। संक्षेपमें नयी कवितामें निम्नलिखित तत्त्व समाहित हैं—

१. प्रगतिवादकी स्थूलताकी प्रतिक्रिया
२. साधारणीकरणकी अनिवार्यताका अभाव
३. जीवन-प्रवाहमें सन्दर्भ युक्त अभिव्यक्ति
४. वस्तु स्थितिके प्रति सापेक्ष मूल्योंका आग्रह
५. क्षणके दायित्वके प्रति आग्रहशीलता
६. नितान्त समसामयिकताकी दृष्टिसे अस्तित्वपूर्ण क्षणके प्रति जागरूक चेतनाकी अनुभूति
७. यथार्थ जीवनके बाह्य और आन्तरिक सत्योंके साथ भावस्निग्धता
८. नये बिम्ब और नये प्रतीकोंका समावेश
९. व्यञ्जनमें अस्थायित्व पर जोर और स्वर संगीतकी प्रमुखता
१०. परिवेशके प्रति दायित्वका बोध

अकविता नयी कवितासे भी एक कदम आगे है। यहाँ अकवितामें प्रयुक्त नञ् समास प्रसज्यपक्ष नहीं हैं, पर्युदासपक्ष है। अतएव अकविता अर्थ वैचारिक धरातल पर स्थित नितान्त समसामयिक क्षणके अस्तित्वका प्रकटीकरण है। अकवितामें नयी कविताके समस्त तत्त्व पाये जाते हैं।

नयी कविता और अकविता आज जिस मोड़ पर है, उससे यह आशा की जाती है कि वह शीघ्र ही उन प्रतिमानों और आधारोंको विकसित करनेमें समर्थ होगी जिससे उसके बिखरे हुए स्वर और अनुभूतियाँ एकत्र होकर उसके मूल्यों और मानव आस्थाओंको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ होंगी। नयी कविताका विश्वास किसी मतवादकी अपेक्षा मानवसन्दर्भमें उस व्यक्तिकी जागरूकतामें है जो अभी तक उपेक्षित अथवा वंचित रहनेके कारण अपनी किसी भी अनुभूतिको व्यक्त करनेमें असमर्थ था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आजके नये काव्यबोध एवं उसके सन्दर्भमें विकसित नयी काव्यशैली, दोनोंका ही आग्रह विशिष्टताको स्थापित करनेका है। वर्तमान कटुताओं और विषमताओंके प्रति व्यंग्यपूर्ण भावनाओंकी अभिव्यक्ति नयी कवितामें निहित है। अतः स्थापत्यकी दृष्टिसे निस्सन्देह नयी कविता हिन्दी साहित्यके लिए अमूल्य सम्पत्ति है, पर रसानुभूतिकी अपेक्षा विचार करने से निराशा ही हाथ आती है। अतः काव्यात्मक रसानुभूतिकी अपूर्णता रहनेसे भाव और इसके सम्बन्धका निर्वाह नहीं होता है। निस्सन्देह नयी कवितामें 'रसवाद' कुण्ठित है। यद्यपि नयी कवितामें अत्यधिक व्यक्तिगत चित्तवृत्तियोंको स्थायी भावोंका गौरव दिया गया है, तो भी साधारणीकरणकी प्रक्रिया संभव नहीं। विचित्र अनुभवोंकी नवीनताके कारण नयी कविताकी अशक्त उक्तियाँ कुछ समय तक रोचक लग सकती हैं पर वे पाठकको भावाभिभूत नहीं कर सकतीं। यह सत्य है कि शिवोद्देश्यता या मंगलभावनाका नयी कवितामें अभाव है।

नयी कहानीकी चर्चा इन दिनों विशेषरूपसे हो रही है। आजकी कहानी 'किस्सागोई' से बहुत आगे है। साधारण घटनाओंको कहानीका विषय बनाया गया है। आजका मानव देव दानवों जैसी अतिभौतिक सत्ताओंके हाथका क्रीड़ा कन्दुक नहीं है उसमें जीवनके महत् तथ्य समाहित हैं। वर्तमान समीक्षकोंका मत है कि प्रेमचन्दकी कहानियोंमें जीवनका समतल मिलता है, न तो उनकी कहानियोंमें पर्वतका शिखर है और न समुद्रकी गहराई। यह कथन कुछ अंशोंमें सत्य है; नई कहानीमें सामान्य घटनाओं, वस्तुओं और परिस्थितियोंको तात्त्विक दृष्टिसे देखनेकी प्रवृत्ति विद्यमान है। नई कविताके समान तीखे व्यंग भी प्राप्त होते हैं।

हिन्दीकी नई कहानीने प्रयत्नपूर्वक चमत्कृत शिल्पको ग्रहण किया है। सहजतम और सूक्ष्म संवेदनाओंके चित्र भी पाये जाते हैं। सचमुचमें नई कहानी 'युगबोध' के उस मोड़ पर पहुँच चुकी है, जहाँ जीवन अनेक युगोंकी तिमिराछन्न प्रतोलियोंको पारकर और अपनी सारी रहस्यात्मकताको उतारकर नग्न और सपाट रूपमें उपस्थित है। प्रेम, नैतिकता, आदर्श आदि अपने परम्परागत मूल्योंके पर्देको हटाकर सामने हैं। नया कहानीकार जीवन रहस्योंको बड़ी तीव्रतासे देखता है, वह निर्यातकी नपुंसकताका खोखलापन दिखलाता है। वह एक ऐसे गवाद भरे यथार्थकी ओर संकेत करता है, जहाँ जुगुप्सा, उपेक्षा अथवा उदासीनताके उपभोगके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। संक्षेपमें नई कहानीमें निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं—

१ कथातत्त्व या वस्तुतत्त्वकी गौणता।
२ वैयक्तिकता।
३ मानसिक ग्रन्थियोंका उद्घाटन।
४ परम्परागत आवेष्टनकी सहजता।
५ घटना और चरित्रके उदात्तोत्कर्षमें विश्वास।
६ नैतिक मूल्योंके प्रति बगावत।
७ अश्लीलताका समर्थन।
८ संक्षिप्तता।
९ वर्त्तमान क्षणके प्रति आस्था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अकहानीमें भी अकविताके समान 'नितान्त' विशेषण जोड़नेसे नई कहानीके तत्त्व अकहानीमें परिवर्तित हो जाते हैं।

निस्सन्देह नई कहानी और अकहानीके चिन्तनके अन्तर्गत शिल्प सम्बन्धी विशेषताओं-का महत्त्व है। यहाँ शिल्प कोई ऊपरसे प्रारोपित वस्तु न होकर कलाकारके संवेदनोंका अनि-वार्य बाह्य प्रतिरूप है। मनःस्थितियों और शिल्पके बाह्य उपकरणोंमें भी नितान्त संगतिका ध्यान रखा गया है। नया शिल्प अपनी मूलप्रेरणा सौन्दर्यशास्त्रके बदले हुए प्रतिमानोंसे लेता है।

नवलेखनका शिल्प बहुचिन्तित होते हुए भी कुछ खुरदुरा और अनगढ़ है, कंक्रीट पलस्तरके समान। यह खुरदुरा बहुत कुछ नये पाठककी आवश्यकता-जन्य है। परिपूर्ण शिल्पमें पाठकके सक्रिय सहयोगकी सम्भावना कम रहती है। भाषा, संगीत और शैलीकी सूक्ष्मताएँ संवेदनात्मक विस्तारको रोक सकती हैं। भावबोधकी इस त्रुटिको दूर करनेके लिये नया कला-कार कुछ अमूर्त और अनगढ़ शिल्पका सहारा लेता है।

अतएव यह माननेमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं कि नयी कहानी द्वारा हिन्दीमें शिल्पका विकास हुआ है, पर कहानीमें कथातत्त्व कितना है और कथारसकी प्राप्ति किस प्रक्रिया द्वारा होती है, यह चिन्तनीय है। कथानकके अभावमें पाठक कहानीका अध्येता रह सकेगा, यह विचारनेकी बात है। जीवनमें केवल अश्लीलता ही सब कुछ नहीं है। आदर्शोन्मुख यथार्थ या यथार्थोन्मुख आदर्श जीवनके लिये भले मंगलमय न हो, पर क्या यथार्थकी यथार्थरूपमें भी उपेक्षा उचित है। क्षणके प्रति नितान्त आस्था शाश्वतिक साहित्यकी प्रेरणा नहीं दे सकती। जीवनको केवल कुरुचियोंसे सँवारा जायगा तो जीवित भी मृत बन जायगा।

थोड़ी देरके लिये यह भी माना जा सकता है कि चमत्कारपूर्ण भावबोध ही सर्वस्व है, रसकी आवश्यकता नहीं; पर अश्लीलताका नग्नरूप चित्रित करना कहाँतक मंगलमय है, यह विचारणीय है। अतएव नवलेखनको विचारपूर्वक ही प्रश्रय मिलना चाहिये तथा नव-लेखकोंको भी जुगुप्सा और घृणाके स्थान पर प्रेम, करुणा, ममता आदि मानवीय गुणोंका उद्घाटन करना आवश्यक है। मनकी ग्रन्थियोंका भेदन करना बुरा नहीं, बुरा है केवल कुरुचिपूर्ण ग्रन्थियोंका विश्लेषण। अच्छेके साथ बुरा और बुरेके साथ अच्छा रहनेसे जीवनका सन्तुलन बना रह सकता है। इस सन्तुलनको बिखेरना, तोड़कर छितरा देना असंगत है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी जैन साहित्य

आन्तरिक रूप से विश्व के समस्त साहित्यमें भावों, विचारों और आदर्शों का सनातन साम्य सा है, यतः आन्तरिक भाव-धारा और जीवन-मरण की समस्या एक है। प्राकृतिक रहस्योंसे चकित होना तथा प्राकृतिक सौन्दर्यको देखकर पुलकित होना मानवमात्रके लिए समान है। साहित्य में साधना और अनुभूति के समन्वय से समाज, सम्प्रदाय और संसार से ऊपर सत्य एवं सौन्दर्यका चिरन्तन रूप पाया जाता है। इसी कारण साहित्यकार चाहे वह किसी भी जाति, समाज, देश और धर्मका हो, अनुभूतिका भण्डार समान रूपसे अर्जित करता है। वह सत्य और सौन्दर्यकी तहमें प्रविष्ट हो अपने मानससे भावराशि-रूपी मुक्ताओंको चुन-चुन कर शब्दावलीकी लड़ोमें शिवकी साधना करता है।

सौन्दर्य-पिपासा मानवकी चिरन्तन प्रवृत्ति है। जीवनकी नश्वरता और अपूर्णताकी अनुभूति सभी करते हैं, आबाल-वृद्ध सभी इसका मर्म जाननेके लिए उत्सुक रहते हैं। इसी कारण साहित्य सार्वजनीन अनुभूतिके प्राची पर उदय लेता है। मानवके भीतर चेतनाका एक गूढ़ और प्रबल आवेग है, अनुभूति इसी आवेगकी सच्ची, सजीव और साकार प्रतिमा है। अतएव साहित्यमें साम्प्रदायिक या जातिगत कोई ऐसा भेद नहीं होता, जो उसे विकृत या विरूप कर सके। यतः सत्य अविच्छिन्न, एक और अखण्ड है, उसमें किसी प्रकारका भेद करना, मानवतामें भेद डालना है।

जैन साहित्य भी उसी वाङ्मयका एक अंग है, जिसमें मानवताका अखण्ड रूपसे विश्लेषण किया गया है।

जैन साहित्यके स्रष्टाओंने अखण्ड चैतन्य आनन्दरूप आत्माका ही अपने अन्तस्में साक्षात्कार किया और साहित्यमें उसीकी अनुभूतिको मूर्त्तरूप प्रदानकर सौन्दर्यके शाश्वत प्रकाशकी रेखाओं द्वारा शब्दमय चित्र अंकित किया है। इन्होंने अपनी अनुभूतिको आत्मसाधना का विषय बनाकर चिरन्तन मंगल प्रभातका दर्शन किया तथा आभ्यन्तरिक धरातलमें अंकुरित अशांति एवं असंतोषका उपचार ऊपरी सतहमें लगे दोषोंके परिमार्जनसे न कर प्रस्फुटित अनुभूतिके झरनेमें मज्जन कर, किया।

हिन्दी जैन साहित्यका उद्‌भव

चिरन्तन सत्य अखण्ड और एक है, पर उसकी उपलब्धिके साधन और प्रकार भिन्न-भिन्न हैं। यही कारण है कि साहित्यमें साम्प्रदायिक भेद उत्पन्न होता है। साहित्यका प्रेरणा स्रोत, जो कि जीवन संघर्ष ही है, अनेक परिधानोंमें अभिव्यंजित होता है। साम्प्रदायिक साहित्यकार अपने दर्शनकी मान्यताओंके आवेष्टनसे आवेष्टित होकर साहित्य देवताकी भव्य मूर्ति अंकित करता है।

हिन्दीकी जननी अपभ्रंश है। ७-८ वीं शतीमें जनसाधारणकी भाषा बन जानेके कारण अपभ्रंशका प्रचार हिमालयकी तराईसे गोदावरी और सिन्धसे ब्रह्मपुत्र तक था। यह जीवित और भाव-प्रवण भाषा थी, अतः जैनाचार्योंने मानवके आदर्शोंके प्रचारके लिए तथा मूर्छित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानवताको सचेतन बनानेके लिए इस भाषामें प्रभूत साहित्य रचा। स्तोत्र काव्य, कथाकाव्य, महाकाव्य, खण्डकाव्य एवं चरितकाव्य जैन लेखकों द्वारा लिखित इस भाषामें पाए जाते हैं। दोहोंके क्षेत्रमें जोइन्दुके परमात्मप्रकाश और दोहासार इस भाषाके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। कुछ लोग जोइन्दुको अपभ्रंश भाषाका सर्वप्रथम जैन कवि मानते हैं।[1] इनके पश्चात् चतुर्मुख आदि कई अपभ्रंश कवियोंके नामोल्लेख मिलते हैं। ८–९ वीं शताब्दीमें रामायण, हरिवंश प्रभृति महाकाव्योंके रचयिता महाकवि स्वयंभूका नाम आता है। स्वयंभूके पुत्र त्रिभुवन स्वयंभू भी अपभ्रंशके श्रेष्ठ कवि हैं। दसवीं शताब्दीमें महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश भाषामें महापुराण नामक महाकाव्यकी रचना की। इन्हीं शताब्दियोंमें जैन कवि देवसेन, महेश्वरसूरि, पद्मकीर्ति, धनपाल, हरिषेण, नयनन्दि, धवल, वोद, श्रीचन्द आदिने अपनी काव्य कृतियों द्वारा अपभ्रंश साहित्यकी श्रीवृद्धि की। इनके उपरान्त श्रीधर, कनकामर, धाहिल, यशःकीर्ति प्रभृति कवियोंने सरस कृतियाँ प्रदान कीं। आचार्य हेमचन्द्रने इस भाषाका व्याकरण लिखा और उदाहरणके रूपमें अपभ्रंशके प्राचीन दोहोंको सुरक्षित रखा। इन दोहोंमें श्रृंगार, सौन्दर्य, नीति, करुणा एवं भयका बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है। नरसेन, सिंह, धनपाल, माणिक्यराज, पद्मकीर्ति और रइधू मध्यकालके प्रसिद्ध कवि हैं।[2] अपभ्रंश और पुरानी हिन्दीके जैन कवियोंने लोक प्रचलित कहानियोंको लेकर और उनमें स्वेच्छया परिवर्त्तन कर सुन्दर काव्यग्रंथ लिखे हैं। मध्यकालके आरम्भमें रामाज और धर्म संकीर्ण हो रहे थे। अतः जैन लेखकोंने परम्परा प्राप्त पुराने कथानकों और लोकप्रचलित प्रसिद्ध कथानकोंमें जैनधर्मका पुट देकर मानव हितकारी साहित्यका सृजन किया। हिन्दीके जैन लेखक प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्यकी जैन परम्पराओंके साथ विशाल संस्कृत वाङ्मयके विभिन्न अंगों से सुपरिचित थे। बौद्ध साहित्य, पौराणिक साहित्य, तन्त्र साहित्य एवं वेदान्त साहित्यका इन्होंने पूर्णतया अध्ययन किया था। फलतः पुरानी हिन्दी अपभ्रंशसे निःसृत, पर पूर्णतया उससे प्रभावित, में ही साहित्यका निर्माण जैनाचार्योंके द्वारा हुआ था। यों तो अपभ्रंशकी रचनाएँ १७ वीं शती तक मिलती हैं, पर १० वीं ११ वीं और १२ वीं शती ही अपभ्रंशका स्वर्णकाल है। १३ वीं शताब्दी और मेरुतुंगकी प्रबन्ध चिन्तामणि[3] के कतिपय आख्यान पुरानी हिन्दीका आदिमरूप कहे जा सकते हैं। जिसे वास्तविक रूपमें हिन्दी कहा जाता है। उसके काव्योंका आरंभ १३ वीं शतीके धर्मसूरिके जम्बूरासा से होता है। इसके पश्चात् हिन्दीमें जैन साहित्यकी परम्परा द्रुतगतिसे आगे बढ़ती है। १७ वीं शताब्दी और १८ वीं शती तो साहित्यका स्वर्णकाल हैं।

---

१. देखें—चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रंथके अन्तर्गत डा० ज्योतिप्रसाद जैनका "हिन्दीकी जननी अपभ्रंश" शीर्षक निबन्ध पृ० ४५१।

२. विशेष जानकारीके लिये देखें—भारतीय वाङ्मय भाग १ के अन्तर्गत डा० एच० एल० जैनका "अपभ्रंश साहित्य" शीर्षक निबन्ध पृ० १११–११७

३. जा मति पाछइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विधन न बेढ़इ कोइ॥
यह यदु रावणु जाइयो, दहमुहु इक्कु सरीरू।
जननि वियंभी चिन्तवइ, कवन पियावइ खीरू॥ हिन्दी साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिन्दी जैन साहित्यका कालवर्गीकरण

सामयिक अवधिके अनुसार जैन हिन्दी साहित्यके कालको तीन युगोंमें विभक्त किया जा सकता है—आदि काल, मध्यकाल और अर्वाचीन काल ।

आदिकालके पुनः दो भेद हैं—अपभ्रंश साहित्यकाल और पुरानी हिन्दीका साहित्य-काल । समय सीमाके अनुसार विक्रमकी ८ वीं शती से १२ वीं शती तक अपभ्रंश साहित्यकाल और १३ वीं शती से १६ वीं शती तक पुरानी हिन्दीका साहित्य काल माना जायगा । मध्य-कालकी समय सीमा १७ वीं शती से १९ वीं शती तक तथा अर्वाचीन काल विक्रम की १९वीं शती के पश्चात् आरम्भ होता है । प्रस्तुत निबंधमें उपर्युक्त वर्गीकरण के आधारपर हिन्दी जैन साहित्यका परिचय दिया जायगा ।

अपभ्रंश भाषाकी उत्पत्ति पाँचवीं शतीमें हुई थी और छठी शतीमें यह देशी भाषाका रूप ग्रहण कर चुकी थी । अतः छठी शतीसे १२वीं शती तक इस भाषा में पुष्कल परिणाममें साहित्यका सृजन होता रहा । आगे चलकर इसी भाषाने हिन्दीभाषी प्रान्तोंमें हिन्दीका रूप और अन्य भाषा-भाषी प्रान्तोंमें मराठी, गुजराती आदि भाषाओंका रूप धारण किया । लोक-भाषा होनेके कारण इसीमें गीत एवं लोकगाथा साहित्य लिखा गया । इस साहित्यके वर्ण्य विषय सर्वसाधारणके सुख-दुःख, हर्ष, विषाद, हास एवं विलास ही थे । ८-९वीं शतीमें भक्ति, प्रेम, वीर, करुण, हास्य आदि रसोंसे सम्बद्ध साहित्य दोहा, चौपाई, कडवक, घत्ता, छप्पय, रोला प्रभृति छन्दोंमें शास्त्रीय परम्पराके आधार पर लिखा गया ।

अपभ्रंश जैन साहित्यमें प्रबन्ध काव्यकी धारा आठवीं शतीसे ही प्रवाहित हुई । जैन कवियोंने प्राचीन कथानकोंको लेकर इस देशी भाषा अपभ्रंशमें अपने काव्य-भवनका निर्माण किया । तीर्थंकर, चक्रवर्ती और नारायण आदि महान् व्यक्तियोंके सरस और हृदयग्राही जीवनवृत्त काव्यके उपकरण बने । इतना ही नहीं, किन्तु वैदिक महापुरुषोंके चरित्र एवं लोक प्रसिद्ध प्रेमाख्यान या वीराख्यानके नायकोंके जीवनवृत्तोंको जैनत्व के आवरणमें वेष्टित कर नये कथानक भी उपस्थित किये गये । लोकप्रचलित प्रेमाख्यानोंमें जैनत्वकी रंग-बिरंगी कारी-गरी कर साहित्यका निर्माण किया गया । अपभ्रंश भाषामें पउमचरिउ--रामायण, हरिवंश—कृष्ण चरित, रिट्ठनेमिचरिउ, भविसयत्तकहा, तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकार, करकंड चरिउ और वइरिसामि चरिउ श्रेष्ठ महाकाव्य हैं । इन काव्योंमें महाकाव्यके सभी तत्त्व वर्त्तमान हैं ।

अपभ्रंश जैन साहित्य

अपभ्रंशमें पंचमी चरित, नागकुमार चरित, यशोधर चरित, नेमिनाथ चउपई आदि खण्डकाव्य हैं । खण्डकाव्यमें जीवनके किसी खास पहलू पर कविकी दृष्टि केन्द्रित रहती है । यद्यपि घटना विधान, दृश्य योजना और परिस्थितिमें निर्माणका भी प्रयास खण्डकाव्यके निर्माताओंको करना पड़ता है, पर जीवनके किसी खास अंशकी सीमामें बँधकर । उपर्युक्त अपभ्रंशके सभी खण्डकाव्य काव्यत्वकी दृष्टिसे पूर्ण सफल हैं ।

पुरानी हिन्दीके साहित्यमें प्रधान रूपमें रासा ग्रन्थोंका समावेश होता है । रासा शब्द-की व्युत्पत्तिके सम्बन्धमें विद्वानोंमें मतभेद है । कुछ का अभिमत है कि यह शब्द रसायन या रहस्यसे निकला है । पर इस शब्दका वास्तविक रहस्य प्रबन्धात्मक कथा है । जैन परम्परामें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३वीं शतीसे १६वीं शती तक अनेक रासा ग्रन्थ रचे गए हैं। यों तो रासो साहित्यकी परम्परा १८वीं शती तक पाई जाती है। व्रतोंके फलोंका कथन, जीवनकी किसी भी महत्त्व-पूर्ण घटनाका काव्यात्मक प्रतिपादन रासा ग्रन्थोंके वर्ण्य विषय हैं। इन रचनाओंमें धर्म और आचारके बीज तो वर्त्तमान हैं ही, पर काव्यतत्त्वकी न्यूनता नहीं है।

जम्बूस्वामी रासाकी रचना धर्मसूरिने संवत् १२६६ में की है। इनके गुरुका नाम महेन्द्रसूरि था। इस ग्रन्थकी भाषा अपभ्रंश और गुजरातीसे प्रभावित हिन्दी है। प्रबन्ध कल्पना कविमें पूर्णतया वर्त्तमान है। जीवनके उपयोगी अंशोंके उद्घाटनकी क्षमता भी कविमें है। भाषाका नमूना निम्न प्रकार है—

जिण चउबिस पय नमेवि गुरुचरन नमेवि।
जम्बूस्वार्मिहि तणूं चरिय भविउ निसुणेवि।
करि सानिध सरसति देवि जीयरयं कहाणऊ।
जंबू स्वार्मिहि (सु) गुणगहण संखेवि बखाणउ॥

रेवन्तगिरि रासाकी रचना विजयसेनसूरिने की है। इनका शिष्य वसुपाल मन्त्री था, इसने संवत् १२८८ के लगभग गिरनार संघ निकाला था। इस काव्यमें गिरनार यात्रा तथा गिरनार क्षेत्र पर किये गये जीर्णोद्धारका लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। इस ग्रन्थकी भाषा पुरानी हिन्दी है, पर गुजरातीका प्रभाव स्पष्ट है। इस रचनामें काव्यतत्त्वकी अपेक्षा धर्मतत्त्वकी मुख्यता है। नमूना निम्न प्रकार है—

परमेंसर तित्थेसरह पयपंकज पणमेणि।
भणिसु रास रेवन्तगिरि-अंबिकादिवि सुमरेवि।
गामागर-पुर वय गहण सरि-सरवरि-सुपएसु।
देवभूम दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु॥

नेमिनाथ चउपईके रचयिता विनयचन्द्र सूरि हैं। ये संस्कृत और प्राकृत भाषाके मर्मज्ञ विद्वान् थे तथा संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी इन तीनों ही भाषाओं में कविता करते थे। इनके गुरुका नाम रत्नसिंह है। इनका समय १३ वीं शती माना गया है। इन्होंने ४० पद्योंमें इस काव्य को पूरा किया है। इनका उपदेशमाला कथानक छप्पय नाम का ८ पद्यों का एक अन्य काव्य भी उपलब्ध है। नेमिनाथ चउपई की प्रारम्भिक पक्तियाँ निम्न प्रकार हैं।

सोहग सुंदर घण लावन्नु, सुमरवि सामिउ सामलवन्नु।
सखिपति राजल चढ़ि उत्तरिय, बार मास सुणि जिम बज्जरिय॥
नेमिकुमार सुमरवि गिरनार, सिद्धी राजल कन्न कुमारि।
श्रावणि सरवणि कडुए मेहु, गज्जइ विरहिरि भिज्जहुं देहु॥
विज्जु झवक्कइ रक्खसि जेव, नेमहि विणुसहि सहियइ केव।
सखी भणइ सामिणी मत झूरि, दुज्जण तण मनवांछित पूरि॥

संघपतिसमरा रास भी इस कालकी सुन्दर रचना है। इसके रचयिता नगेन्द्र गच्छके आचार्य पासड सूरि के शिष्य अम्बदेव थे। अणहिल्लपुर पट्टनके ओसवाल शाह समरासंघपतिने संवत् १३७१ में शत्रुंजय तीर्थका उद्धार अपार धनव्यय करके कराया था। कबि ने इसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतिवृत्तको लेकर इस काव्यकी रचना की है। भाषा राजस्थानीका परिष्कृत रूप है। अपभ्रंश का प्रभाव भी विद्यमान है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

वाजिए सँख असँख नादिकाहल दुडुदुडिया।
घोड़े चड़इ सल्लारसार राउत सींगडिया॥
तउ देवालउ जोन्निवेगि घाघरि खु क्षमक्कई।
सम विसम नवि गणइ कोई नवि वारिउ थक्कइ॥

थूलमद्र फागुनकी रचना चैत्र महीनेमें फाग खेलने के लिए जिनपद्मसूरिने की है। इनके पिताका नाम अम्बाशाह और पितामहका नाम लक्ष्मीधर था। ये खीमड कुलमें उत्पन्न हुए थे। संवत् १३८९ में ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी सोमवारको इन्हें खरतरगच्छीय जिनकुशल सूरि के पद पर प्रतिष्ठित किया गया था। शाह हरिपालने संघभक्ति और गुरुभक्ति के साथ इन्हें युगप्रधान पद बड़े उत्साहके साथ प्रदान किया था। इनकी कविता परिष्कृत और सरस है। अलंकारोंका भी यथास्थान समावेश हुआ है। उदाहरणके लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती है :—

ऊह सोहग सुन्दर रूपवंतु गुणमणि भंडारी।
कंचण जिम झलकंत कंति संजम सिरहारो॥
थूलिभद्र मुणिराउ जाम महियली बोहंतउ।
नयरराय पाउलिय माँहि पहूतउ बिहरंतउ॥

गौतम रासा वि० संवत् १४१२ में विजयभद्रने लिखा है। इस काव्यमें कल्पनाओंके सहारे सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किये गये हैं।

गौतम स्वामीके रूपका वर्णन करते हुए कवि कहता है—

सात हाथ सुप्रमाण देह रूर्वाहि रंभावरु॥
नयणवयण करचरिण जिण वि पंकज जलिपाडिय।
तेर्जाहि तारा चंद सूर आकासि भयाडिय॥
रूविहि मयुण अनंग करिवि मेल्हिउ निद्दाडिय।
धीरिम मेरु गंभीरि सिंधु चंगमि चय चाडिय॥

ज्ञानपंचमीकी रचना मगध देशमें विहार करते हुए जिनउदय गुरुके शिष्य ठक्कर माल्हेके पुत्र विद्धणूने संवत् १४२३ में की थी। इसमें श्रुतपंचमी व्रतका माहात्म्य बतलाया गया है। ललितांगचरित,[1] सारसिखावनरास[2], यशोधरचरित[3], कृपणचरित और रामसीता चरित १६ वीं शती की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

कवि ठकरसी द्वारा संवत् १५८० में रचित कृपण चरित एक सुन्दर काव्य है। इस काव्यका कथानक बड़ा रोचक एवं शिक्षाप्रद है। बताया गया है कि एक दिन कृपणकी पत्नीने अपने पतिसे गिरनारकी यात्राको चलनेका अनुरोध किया। कृपण महानुभावने पत्नीके प्रस्ताव

---

१. देखें—हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन भाग २, परिशिष्ट पृ० २१८।

२. वही पृ० २१९।

३. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ६७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का विरोध किया। पति-पत्नीमें इस विषय को लेकर बहुत वाद-विवाद हुआ। पत्नीने अनेक युक्तियोंसे तीर्थाटन, दान एवं पुण्य कार्यों के संपादनमें ही धनकी सार्थकता बतलायी, किन्तु कृपण महोदयको उक्त बातें रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। उसने किसी युक्तिसे पत्नीको उसके पीहर भेज दिया। इधर यात्रियोंका एक संघ गिरनारसे वापस आया। इस संघके कुछ लोग मार्गमें व्यापार करते हुए अपने छकड़ोंको ले गये थे। अतः वे यात्राके साथ-साथ बहुत सा धनार्जन भी कर लाये थे। कृपणके लिए वे व्यापारी यात्री ईर्ष्याका विषय बने। फलतः दिनरात चिन्ता करनेके कारण वह कृपण रोगी हो गया। कृपणताके कारण औषधि कर नहीं सका और उसकी मृत्यु हो गयी। वह मरकर नरक गया।

इस काव्यमें रोचकता इतनी अधिक है, कि आरम्भ करने पर समाप्त किये विना नहीं रहा जायगा। स्व० श्री पं० नाथूराम प्रेमीने इसके सम्बन्धमें लिखा है—"यह छोटा सा पर बहुत ही सुन्दर और प्रसादगुण सम्पन्न काव्य बम्बई दि० जैन मन्दिरके सरस्वती भण्डारमें एक गुटकेमें लिखा हुआ मौजूद है। इसमें कविने एक कंजूस धनीका अपनी आँखों देखा चरित्र ३५ छप्पय छन्दोंमें लिखा है।[१] उदाहरणके लिए कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं।

कृपणु एकु परसिद्धु नयरि निवसंतु निलक्खणु।
रही करम संजोग तासु घरि, नारि विचक्खणु॥
देखि दुहू की जोड़; सयलु जगि रहिउ तमासै।
याहि पुरिषकै याहि, दई किम दे इम भासै॥
वह रह्यो रीति चाहै भली, दाण पुंज गुण सील सति।
यह दे न खाण खरचण किवै, दुवै करहि दिणि कलह अति॥

ये सभी रासा ग्रन्थ प्रायः एक ही शैली पर लिखे गये हैं। इनमें काव्यत्व अल्प और पौराणिकता अधिक है। धर्मवार्त्ता होनेके कारण सुन्दर नीति और विश्वोपकारकी भावना अन्तर्हित है। इस रासा साहित्यमें प्रेम और विरहके चित्रों की भी कमी नहीं है। वीररसका चित्रण तो अनेक स्थलों पर बड़े सुन्दर रूपसे हुआ है। अंजनासुन्दरी [२]रासमें अंजनाके विरहका सजीव और उदात्त वर्णन किया गया है। विरहिणीके जीवनकी समस्त परिस्थितियोंका चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। संस्कृत साहित्यमें विरहकी जिन दस दशाओंका निरूपण किया गया है वे सभी अंजनाके जीवनमें विद्यमान हैं। विरहिणी अंजनाके जीवनमें कविने निष्ठा और सहानुभूतिकी भी कमी नहीं दिखलाई है। पति द्वारा अकारण तिरष्कृत होनेसे अंजनाके मन में अत्यन्त ग्लानि है, वह अपनी संकटकी घड़ियोंको पतिके प्रथम साक्षात्कारकी मधुर स्मृतिके अनुभव द्वारा प्रसन्नतापूर्वक बिता देती है। भगवद्भक्ति और सदाचार ही उसके जीवन के आधार हैं। इस काव्यकी कथावस्तु विरहिणी के आंसुओंसे ही ग्रथित की गयी है। इस काव्यके रचयिता कवि महानन्द है।

मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य बहुत विशाल है। इस कालमें महाकाव्य, खण्डकाव्य,

---

१. अंजनासुन्दरी रासकी प्रति जैन सिद्धान्त भवन, आरामें सुरक्षित है।
२. हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पं० नाथूराम प्रेमी, पृ० १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरित और कथाकाव्य, आध्यात्मिक रूपक काव्य, गीतिकाव्य, प्रकीर्णक काव्य, आत्मकथा काव्य, रीति साहित्य एवं गद्य साहित्यका सृजन हुआ। हम सुविधाके लिए इस कालखण्डका काव्य प्रवृत्तियोंके आधार पर विवेचन तथा समय क्रमानुसार कवियोंके आधार पर ही निरूपण करेंगे।

हमारे अभीष्ट कालखण्डमें श्रेष्ठतम कवि बनारसीदास हैं। ये महाकविकी उपाधिसे विभूषित हैं। इनका जन्म धनीमानी परिवारमें हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदासका साका चलता था, पितामह मूलदास हिन्दी और फारसीके पण्डित थे और ये नरवर (मालवा) में वहाँके मुसलमान नवाबके मोदी होकर गये थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुरके प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्‌गसिंह कुछ दिनों तक बंगालके सुलतान मोदी खाँके पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुरमें माघ सुदी ११ संवत् १६४३ में हुआ था। ये श्रीमाली वैश्य थे। ये बड़े ही प्रतिभाशाली और सुधारक कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त हुई थी, पर अद्‌भुत प्रतिभाके कारण ये अच्छे कवि थे। चौदह वर्षकी अवस्थामें इन्होंने एक हजार दोहा-चौपाइयोंका नवरस नामक ग्रन्थ बनाया था, जिसे आगे चलकर इस भयसे कि इस ग्रंथके अध्ययनसे समाज पथभ्रष्ट न हो जाए, गोमतीमें प्रवाहित कर दिया था।

महाकवि बनारसीदासके पूर्वज मूलतः आगरा निवासी ही थे, तथा इन्हें भी बहुत दिनों तक आगरामें रहनेका अवसर मिला था। उस समय आगरा जैन विद्वानोंका केन्द्र था। इनके सहयोगियोंमें पं० रामचन्द्रजी, चतुर्भुज वैरागी, भगवतीदास, धर्मदास, कुंवरपाल और जगजीवन राम विशेष उल्लेखनीय हैं। महाकवि बनारसीदासका सम्पर्क सन्तकवि सुन्दरदास[1] और तुलसी दासके साथ भी था। तुलसीदासकी रामायण पर बनारसीदासने 'विराजै रामायण घट माहीं। मरमी होय मरम सो जानैं मूरख समझें नाहीं', इत्यादि पद्य लिखकर अपनी सम्मति दी थी। रचनायें निम्न हैं।

नाममाला—एक सौ पचहत्तर दोहोंका एक छोटा सा शब्दकोश है। इसका आधार महाकवि धनंजयकी संस्कृत नाममाला है। कविने धनंजयके २०० श्लोकोंका सार १७४ दोहोंमें ही रख दिया है। इसकी प्रशस्तिमें बताया गया है—

> सौरह सै सत्तरि समै, असू मास सित पक्ष।
> विजैदसम ससिवार तह, श्रवण नखत परतक्ष॥
> दिन दिन तेज प्रताप जय, सदा अखंडित आन।
> पातसाह थिर नूर दी, जहांगीर सुलतान॥[2]

अर्थात्—इस ग्रंथकी रचना संवत् १६७० में, बादशाह जहाँगीरके राज्यकालमें, आश्विनमासके शुक्लपक्षमें विजयादशमी सोमवारके दिन, भानुगुरुके प्रसादसे पूर्णताको प्राप्त हुई।

---

१. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, पृ० ११७।

२. बनारसी नाममाला, पद्य १७१-१७२, प्रकाशक-वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

१६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाटक समयसार—यह एक उत्कृष्ट आध्यात्मिक रचना है। आत्मान्वेषकोंको सरस कवितामें आत्मतत्त्वकी उपलब्धिकी सुन्दर अभिव्यंजना प्राप्त है। कुशल कलाकारने चित्रकारके समान काव्यगत आत्मानुभूतिमें नाना कल्पनाओंका रंग लगाकर अद्भुत चित्र खींचने का प्रयास किया है। यद्यपि कविकी इस रचनाका आधार आचार्य कुन्दकुन्दका समयसार है, पर कविने रागतत्त्व, बुद्धितत्त्व और कल्पनातत्त्वका समावेश कर इस रचनाकी मौलिकताको अक्षुण्ण बनाये रखा है। प्रत्येक पद्यमें प्रवाह और माधुर्य वर्त्तमान है। सरस और कोमल शब्दोंका चयन करनेमें कवि ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। अनूठी उक्तियाँ और नवीन उद्भावनाएँ तो पाठकका मन बरबस अपनी ओर खींच लेती हैं। जीवनके कोमल पक्षकी अभि-व्यंजना होनेसे कविताएँ हृदय और मस्तिष्क दोनोंको समान रूपसे छूती हैं। इसमें जीवनके उन विशेष विचारों और भावनाओंका संकलन किया गया है; जो यथार्थ जीवनको गतिशील बनाते हैं।

इसमें ३१० दोहा-सोरठा, २४३ सवैया-एकतीसा, ८६ चौपाई, ६० सवैया-तेईसा, २० छप्पय, ९८ कवित्त, ७ अडिल्ल और ४ कुण्डलियाँ हैं। कुल पद्योंकी संख्या ७२६ है। इसमें कविने आत्मतत्त्वका निरूपण नाटकके पात्रोंका रूपक देकर किया है। इसमें सात तत्त्व अभिनय करने वाले हैं। यही कारण है कि इसका नाम नाटक समयसार रखा गया है।

कविने मंगलाचरणके उपरान्त सम्यग्दृष्टिकी प्रशंसा, अज्ञानीकी विभिन्न अवस्थाएँ, ज्ञानीकी अवस्थाएँ, ज्ञानीका हृदय, संसार और शरीरका स्वरूप दिग्दर्शन, आत्मजागृति, आत्मा की अनेकता, मनकी विचित्र दौड़ एवं सात व्यसनोंका सच्चा स्वरूप प्रतिपादित करनेके साथ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका काव्य शैलीमें निरूपण किया है। आत्माकी अनुपम शोभाका कितना सुन्दर और स्वाभाविक चित्रण किया गया है।

जो अपनी दुति आप विराजत, है परधान पदारथ नामी।
चेतन एक सदा निकलंक, महासुख सागर को विसरामी॥
जीव-अजीव जिते जग में, तिनको गुन ज्ञायक अन्तरजामी।
सो शिवरूप बसै शिवनाथक, ताहि विलोकनमें शिवगामी॥

अज्ञानी जीव भ्रमके कारण अपने स्वरूपको विस्मृत कर संसारमें जन्म-मरणके कष्ट उठा रहा है। कवि कहता है कि कायाकी चित्रशालामें कर्मका पलंग बिछाया गया है, उस पर मायाकी सेज सजाकर मिथ्या कल्पनाका चादर डाला गया है। इस शय्या पर चेतन-अचेतनकी नींदमें सोता है। मोहकी मरोड़, नेत्रोंको बंद करना—झपकी लेना है। कर्मके उदयका बल ही श्वासका घोर शब्द है और विषय सुखकी दौड़ ही स्वपन है। इस प्रकार तीनों कालोंमें अज्ञानकी निद्रामें मग्न यह आत्मा भ्रमजालमें ही दौड़ती है, पर इसे अपना रूप प्राप्त नहीं होता। कवि इसी स्वरूपका विश्लेषण करता हुआ कहता है :—

काया की चित्रसारी में करम परजंक भारी, माया की सँवारी सेज चादर कलपना।
शैन करे चेतन अचेतनता नींद लिए, मोह की मरोर यहै लोचन का ढपना॥
उदै बल जोर यहै श्वास को शबद घोर, विषसुखकारी जाकी दौर यहै सपना।
ऐसी मूढ़ दशा में मगन रहे तिहुँकाल, धावे भ्रमजाल में न पावे रूप अपना॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार कविने भेदविज्ञान, आत्मानुभूति, आत्मतत्त्व, सहजानुभूति कर्मसंसर्गमें होने वाली आत्मा विभिन्न प्रकारकी लीलाएँ, निश्चय और व्यवहारके स्वरूप, उनके दृष्टिकोण, आत्माका कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व प्रभृतिका रूपात्मक काव्य शैलीमें प्रतिपादन किया है। इन प्रसंगोंमें प्रयुक्त उपमान बड़े ही सरस और नवीन हैं। रूपकोंके सहारे आत्मतत्त्वका विश्लेषण काव्यके स्वरूपको चमत्कृत ही नहीं करता बल्कि उसे रस ग्राह्य बनाता है। यहाँ एक चित्रका वर्णन करना आवश्यक है। कवि कर्म संयोगी आत्माकी अनेकरूपताका चित्रण करता हुआ कहता है कि जिस प्रकार नदीकी एक ही धारा में नाना स्रोतोंका जल आकर मिलता है, तथा जिस स्थान पर पाषाण शिलाएँ रहती है, वहाँ धारा मुड़कर जाती है, जहाँ कंकड़ रहते है वहाँ झाग देती हुई आगे बढ़ती है, जहाँ हवाका जोर अधिक रहता है वहाँ चंचल तरंगें उठती हैं और जहाँकी भूमि नीची होती है वहाँ भवरें पड़ती है। इसी प्रकार आत्मामें पुद्गल अचेतनके अनन्त रसोंके कारण अनेक प्रकारके विभाव उत्पन्न होते हैं। आत्माकी विभाव पर्याय जन्म लीलाएँ किया करती है। नायक आत्मा है और प्रतिनायक पुद्गल–जड़पदार्थ। आत्मा की इसी अनेकरूपताका कितना स्वाभाविक चित्रण किया है।

जैसे महीमण्डल में नदी का प्रवाह एक, ताही में अनेक भाँति नीर की ठरनि है।
पाथर की जोर वहाँ धार की मरोर होत, कांकर की खानि तहाँ झाग की झरनि है॥
पौन की झकोर तहाँ चंचल तरंग उठै, भूमि को निचानि तहाँ भौंर की परनि है।
तैसो एक आत्मा अनन्त रस पुद्गल, दोहू के संयोग में विभाव की भरनि है॥

"नाटकसमयसार" की भाषा सरस, मधुर और प्रसादगुण पूर्ण है। शब्द चयन, वाक्य विन्यास और पदावलियोंके संगठनमें सतर्कता और सार्थकताका ध्यान सदैव रखा गया है।

अर्द्धकथानक[1]—इसमें कविने अपनी आत्मकथा लिखी है। वि० सं० १६९८ तक की सभी घटनाएँ दी गई हैं। यह हिन्दीमें लिखी गई सबसे पहली आत्मकथा है। यह आत्मकथा काव्य "मध्यप्रदेशकी बोली" में लिखा गया है। यह समूची आत्मकथा इतनी रोचक है और ऐतिहासिक निबन्धनकी दृष्टिसे इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें हिन्दी साहित्यकी अनेक नयी बातों पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही १६वीं शतीकी राजनीतिक और सामाजिक अनेक घटनाओं का जीता-जागता चित्र उपस्थित हो जाता है। इस आत्मकथामें कविने अपना ५५ वर्षका चरित्र स्पष्टता और सत्यतापूर्वक अंकित किया है।

बनारसी विलास— इसमें महाकवि बनारसीदास की ५७ छोटी-मोटी रचनाएँ संग्रहीत हैं। इसका संकलन संवत् १७०१ में पं० जगजीवनने किया है। इस संकलनमें तेरह काठिया, भवसिन्धु चतुर्दशी, अध्यात्महिंडोलना, सूक्तिमुक्तावली, ज्ञानपच्चीसी, अध्यात्मबत्तीसी, कर्मछत्तीसी, मोक्षपैंडी, शिवपच्चीसी और ज्ञानबावनी आदि प्रधान हैं।

तेरह काठियामें कवि कहता है कि जिस प्रकार लुटेरे, बदमाश, चोर आदि देश में उपद्रव–विकृति उत्पन्न करते हैं। विभाव परिवर्तनके संयोगसे विकृति उत्पन्न हो जाती है। उपयुक्त तेरह धूर्त्त आत्माके निजी धन, अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यको चुराते हैं।

---

१. अर्द्ध कथानक, हिन्दी गद्य रत्नाकर कार्यालय, बम्बईसे प्रकाशित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवसिन्धु चतुर्दशी एक सरस हृदय-ग्राहक रचना है। इसमें संसारकी बिडम्बनाओंसे पृथक् रहनेकी ओर संकेत करते हुए परमात्मचिन्तन अथवा अन्वेषण की ओर प्रवृत्त होनेकी बात कही है। इसमें विभिन्न रूपकों द्वारा संसारके स्वरूपका विश्लेषण किया है।

हिंडोलेका रूपक देकर आत्मानुभूतिकी सरस और सुन्दर अभिव्यंजना इस अध्यात्म-हिंडोलनामें की गयी है। चेतन आत्मा स्वाभाविक सुखके हिंडोले पर आत्मगुणोंके साथ क्रीड़ा करती रहती है। रूपक अत्यन्त सजीव और हृदयग्राही है। सूक्ति मुक्तावलीके पद्य भी सुन्दर और उपदेशप्रद हैं। यह संस्कृत भाषामें लिखी गई सोमप्रभकी सूक्तिमुक्तावली के आधार पर लिखित है।

हमारे इस युगके द्वितीय बड़े कवि भैया भगवतीदास हैं। ये आगराके निवासी ओस-वाल जैन थे। इनका गोत्र कटरिया था। इनके पिताका नाम लालजी और पितामहका नाम दशरथ साहू था। इनके जन्म संवत् एवं मृत्यु संवत्के सम्बन्धमें कुछ भी पता नही हैं। हाँ, इनकी रचनाओंमें संवत् १७३१ से १७५५ तकका उल्लेख मिलता है। वि० सं० १७११ में हीरानन्दने पंचास्तिकायका अनुवाद किया था, इसमें आगराके भगवतीदासका भी उल्लेख किया है। संभवतः ये ही भैया भगवतीदास रहे होंगे। इन्होंने कवितामें अपना उल्लेख भैया, भविक और दास-किशोर उपनामोंसे किया है। इनकी समस्त कविताओंका संग्रह ब्रह्मविलास में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त "लघु सीतासतु" नामक एक सुन्दर खण्डकाव्य भगवतीदासके नामसे उपलब्ध है। यहाँ दो एक रचनाओं का अनुशीलन उपस्थित किया जाता है।

चेतन कर्म चरित्र इनका एक सुन्दर आध्यात्मिक रूपक काव्य है। इसकी कथावस्तु में बतलाया गया है कि चेतनकी सुबुद्धि और कुबुद्धि नामकी दो भार्याएँ थीं।' सुबुद्धि चेतन आत्मा की कर्म संयुक्त अवस्थाको देखकर कहने लगी—'चेतन, तुम्हारे साथ दुष्टोंका संग कहाँ से आ गया। तुम उनको दूर क्यों नहीं करते हो।'

चेतन—'हे महाभागे! मैं तो इस प्रकार फँस गया हूँ जिससे इस गहन पंकसे निकलना असंभव सा लग रहा है।'

सुबुद्धि पुनः चेतनको समझाती है, जिससे चेतन कुबुद्धिको अपने घरसे निकाल देता है। कुबुद्धि रूठकर अपने पिता मोहके घर चली जाती है और मोह विकारोंकी सेना सजाकर चेतन गढ़को घेर लेता है। इधर चेतनकी ओरसे संयम, व्रत, समिति, अनुप्रेक्षा और गुणस्थान रूप योद्धा समर भूमिमें आते हैं तथा मोहकी ओरसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, योग और कषाय रूपी योद्धा जंग करते हैं। घमासान युद्ध होनेके उपरांत मोहकी सेना तितर-बितर हो जाती है। कविने उक्त रूपकको लेकर ही इस काव्यकी २९६ पदोंमें रचना की है। भावनाओंके अनुसार मधुर तथा परुषवर्णोंका प्रयोग इस कृतिमें चमत्कार उत्पन्न करता है। युद्धका वर्णन कितना सजीव हुआ है :—

सूर बलवंत मदमत्त महामोह के, निकसि सब सैन आगे जु आये।
भारि घमासान महाजुद्ध बहुक्रुद्ध करि, एकतैं एक सातो सवाये।।
वीर सुविवेक ने धनुष ले ध्यान का, मारिकैं सुभट सातो गिराये।
कुमुक जो ज्ञान की सेन सब संग धसी, मोह के सुभट सातो गिराये।।

पंचेन्द्रिय संवाद और मधुबिन्दुक चौपाई भी सुन्दर रचनाएँ हैं; इन दोनों काव्योंका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लक्ष्य भी आत्मतत्त्वको पहचानना है। लघु सीता सतु खण्डकाव्य है। इसमें कविने सीताके सतीत्वकी झाँकी दिखलाई है। बारहमासोंमें मन्दोदरी-सीताके प्रश्नोत्तरके रूपमें रावण और मन्दोदरीकी चित्तवृत्तिका सुन्दर विश्लेषण किया है। मानसिक घात-प्रतिघातोंका चित्र बड़ी चतुराईसे खींचा गया है। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

तब बोलइ मन्दोदरी रानी। सखि अषाढ़ घनघट घहरानी॥
पीय गए ते फिर घर आवा। पामर नह नित मन्दिर छावा॥
लबहि पपीहे दादुर मोरा। हियरा उमर धरत नहि धीरा॥
बादर उमहि रहे चौपासा। तिय पिय बिन लहिं उसन उसासा॥
नन्हीं बूंद झरत झरलावा। पावस नभ आगमु दरसावा॥
दामिनि दमकत निशि अँधियारी। विरहिनि काम बान उर मारी॥
भगुवहि भोगु सुनहि सिख मोरी। जानति काहे भई मति बौरी॥
मदन रसायन छूइ जग सारू। संजम नेमु कथन विवहारू॥
जब लग होस शरीर महिं, तब लग कीजइ भोगु।
राज तजहिं भिक्षा भमहिं, इउ भूला सब लोगु॥

ब्रह्मगुलाल कविने 'कृपणजगावन' काव्य रचा है। ये पद्मावती पुरवाल जाति के थे। ये चन्दवार—फिरोजाबादके पास टापू नामक गाँवके निवासी थे। कृपणजगावन काव्यकी प्रशस्तिमें बतलाया गया है कि ये भट्टारक जगभूषणके शिष्य थे। टापू गाँवके राजा कीरतसिंह थे। इस गाँवमें धर्मदासके कुलमें मथुरामल्ल नामके एक व्यक्ति थे। ये ब्रह्मचर्यके पालन करने में प्रसिद्ध थे। कविने इन्हींके उपदेशसे संवत् १६७१ में उक्त काव्य ग्रंथकी रचना की है। इस काव्यकी कथावस्तु रोचक और सरस है।

राजगृह नगरमें वसुमति राजा शासन करता था। इस नगरमें श्रेष्ठिपुत्री क्षयंकारी रहती थी। राजाने मुनिराजसे क्षयंकारीकी भवावली पूछी। मुनि कहने लगे—यह पहले भवमें उज्जैनके सेठ धवलकी पत्नी थी; इसका नाम मल्लि था। उज्जैनके राजा पद्मनाथने अष्टान्हिका उत्सव सामूहिक रूपसे मनाया, धवल सेठ भी इसमें शामिल था, पर मल्लि सेठानीको यह नहीं रुचा। पूजाके लिए सामग्री और पकवान बनाये अवश्य, किन्तु अच्छी वस्तुएँ न लेकर सड़े-गले सामानसे सामग्रियाँ तैयार कीं, जिससे मुनियोंको आहार नहीं दिया जा सका। मल्लिकी भावनायें सदा कलुषित रहती थीं, दानकर्ममें एक कानी कौड़ी भी खर्च करनेमें उसके प्राण सूखते थे। इसी कारण पतिसे निरन्तर संघर्ष होता रहता था। फलतः उसे कुष्ठ रोग हुआ है। मुनिराजने उसे पुरुषोंकी कंजूसीके आख्यान भी बतलाये। इन्हीं आख्यानोंको सुनकर क्षयंकारीको विरक्ति हो गयी और वह आत्मसाधनमें तत्पर हुई। इस काव्यमें जीवनके कतिपय तत्त्वोंका बड़ा सुन्दर विवेचन हुआ है।

इस कालमें बनारसीदास और भगवतीदासके अतिरिक्त पद रचयिताओंमें आनन्दघनका नाम बड़े आदरके साथ लिया जाता है। ये उपाध्याय यशोविजयके समकालीन थे। इनका "आनन्दघन बहत्तरी' नामक कविता संग्रह उपलब्ध है। ये आध्यात्मिकतासे ओत-प्रोत पहुँचे हुए आत्मरसिक सन्त थे। इन्होंने अपने अन्तस्में आत्मतत्त्वकी महत्ताका अनुभव कर आध्या-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्मिक धरातलपर मानवमात्रका उत्कर्ष दिखलाया है तथा ऐन्द्रियिक आनन्दको निकृष्ट और हीन बतलाकर इन्द्रियातीत, अलौकिक आनन्दकी अभिव्यंजना की है। आत्माकी अमरताका भाव निम्न पद्यमें कितनी सुन्दरताके साथ अभिव्यक्त हुआ है—

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तजि, क्योंकर देह धरेंगे ॥१॥
राग-दोष जग बन्ध करत हैं, इनको नाश करेंगे।
मर्‌यो अनन्तकाल तैं प्राणी, तो हम काल हरेंगे ॥२॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नासी नासी हम थिरवासी, चोखे ह्वै निखरेंगे ॥३॥
मर्‌यों अनन्त बार बिन समझें, अब सो सुख विसरेंगे।
'आनन्दघन' निपट निकट अक्षर दो, नहिं सुमरै सो मरैंगे ॥४॥

यशोविजयके पद्योंका संग्रह जसविलास नामसे प्रकाशित हुआ है। इनके पद्योंमें भावनाएँ तीव्र आवेगमय और संगीतात्मक प्रवाहमें प्रस्फुटित हुई हैं। भाषा में लाक्षणिक वैचित्र्यके स्थानपर सरसता और सरलता है। पदोंमें प्रधान रूपसे आध्यात्मिक भावोंकी अभिव्यंजना की गयी है।

इस कालके प्रथम श्रेणीके कवियोंमें भूधरदासकी भी गणना की जाती है। ये आगराके निवासी और जातिके खण्डेलवाल थे। इनका समय १७ वीं शताब्दीका अन्तिम भाग या १८ वीं शतीका प्रारम्भिक भाग है। इनकी तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—पार्श्वपुराण (महाकाव्य), जैन शतक और पदसंग्रह।

पार्श्वपुराणकी कथा बड़ी रोचक और आत्मपोषक है। वैरकी परम्परा किस प्रकार जन्म-जन्मान्तरों तक चलती है, यह इसमें बड़ी खूबीके साथ बतलाया गया है। इसमें भगवान् पार्श्वनाथका जीवनवृत्त वर्णित है। इसकी कथावस्तु महाकाव्यकी है। नायक पार्श्वनाथका जीव अपने समयके समाजका प्रतिनिधित्व करता हुआ लोक मंगलकी रक्षाके लिए बद्ध-परिकर है। कविने कथामें क्रमबद्धताका पूरा निर्वाह किया है। मानवता और युग भावनाका प्राधान्य सर्वत्र है। परिस्थितिनिर्माणमें पूर्वके नौ भवोंकी कथा जोड़कर कविने पूरी सफलता प्राप्त की है। जीवनका इतना सर्वांग और स्वस्थ विवेचन अन्यत्र नहीं मिल सकेगा।

जैन शतकमें भूधरदासने वैराग्य भावनाको उद्दीप्त करनेका विधान बतलाया है। इसके कवित्त, सवैये, छप्पय बड़े ही सरस, प्रवाहपूर्ण, लोकोक्ति समाविष्ट एवं जोरदार हुए हैं। वृद्धावस्था, संसारकी अस्थिरता, काल-सामर्थ्य, स्वार्थपरता, दिगम्बर मुनियोंकी तपस्या, आशा-तृष्णाकी नग्नता आदि विषयोंका निरूपण बड़ी ही ओजस्वी शैलीमें किया गया है। विषय निरूपणकी शैली उदात्त है। भावों को विशद करनेमें कविको अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है। जहाँ श्रृंगारी कवियोंने नायिकाके स्तनोंको स्वर्णकलशकी और उनके श्यामल अग्रभागको नील-मणिकी ढंकनीकी उपमा देकर प्रशंसा की, वहाँ भूधरदासने उन्हें आमिष पिण्ड तथा श्यामल भागको क्षार–राख कहकर भर्त्सना की है। उदाहरण निम्न प्रकार है—[१]

---

१. जैन शतक, पद्य ६४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कंचन कुम्भन को उपमा, कहि देत उरोजन को कवि वारे।
ऊपर श्याम विलोकन के, मानो नीलम की ढकनी ढंक ढारैं॥
यों सत बैन कहे न कुपंडित, ये युग आमिष पिंड उघारे।
साधन झार दई मुँह झार, भये इहि हेत किधौ कुच कारे॥

कवि भूधरदासने पद साहित्य भी लिखा है। इन्होंने गीतिकाव्यकी सभी बारीकियां अपने पदोंमें प्रदर्शित की हैं। इन्होंने स्थूलको छोड़कर सूक्ष्म सौन्दर्यको अभिव्यक्त किया है। यद्यपि इन्होंने बाह्य सौन्दर्यका भी पर्यवेक्षण किया है, पर वह इन्हें स्थिरता प्रदान नहीं कर सका है। यही कारण है कि इनके पदोंमें भावुकताके सहारे करुणरस और आत्मवेदनाकी अभिव्यंजना हुई है। इनके पदोंमें शाब्दिक कोमलता, भावनाओंकी मादकता और कल्पनाओंका इन्द्रजाल समन्वित रूपमें विद्यमान है। इनके पद स्तुतिपरक, जीवकी अज्ञानावस्थाके परिणाम और निस्तार सूचक, आराध्यकी शरणके दृढ़ विश्वास सूचक, आत्मोपदेशी, संसार और शरीर से विरक्ति-उत्पादक, नामस्मरणके महत्त्व द्योतक और मनुष्यताके पूर्ण अभिव्यंजक, इन सात वर्गोंमें विभक्त किये जा सकते हैं।

खेमचन्द तपागच्छकी चन्द्रशाखाके पण्डित थे। इनके गुरुका नाम मुक्तिचन्द्र था। इन्होंने नागर देशमें संवत् १७६१ में गुणमाला चउपई अथवा गजसिंह गुणमाल चरितकी रचना की है। यह अच्छा काव्य है, इसकी भाषापर गुजराती प्रभाव है।

द्यानतराय भी इस युगके उत्तम कवियों में हैं। ये आगराके निवासी थे। इनका जन्म अग्रवाल जातिके गोयल गोत्रमें हुआ था। इनके पूर्वज लालपुरासे आकर आगरामें बस गए थे। इनके पितामहका नाम वीरदास था। पिताका नाम श्यामलदास था। इनका जन्म संवत् १७३३ में और विवाह १७४८ में हुआ था। उस समय आगरामें मानसिंहजी की धर्मशैली थी। कवि धनपतरायने इससे लाभ उठाया। कविको पं० विहारीदास और पं० मानसिंहके धर्मोपदेशसे जैनधर्मके प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। इन्होंने संवत् १७७७ में सम्मेद शिखरकी यात्रा की। इनकी कविताओंका संग्रह "धर्मविलास" नामसे प्रसिद्ध है। इस संकलनको कविने स्वयं संवत् १७८० में किया था। इस संकलनमें ४५ विषयों पर फुटकर कविताएँ और ३३३ पद संग्रहीत हैं। उपदेश शतक, ब्यौहार पच्चीसी और पूर्णपंचासिका इनकी बहुत सुन्दर रचनाएँ हैं।

उपदेश शतकमें १२१ पद्य हैं। इसमें मंगलाचरणके पश्चात् भक्ति और स्तुतिकी आवश्यकता, मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी महिमा, गृहवासका दुःख, इन्द्रियोंकी दासता, नरक निगोदके दुःख, पाप-पुण्यकी महत्ता, धर्मका महत्त्व, ज्ञानी अज्ञानीका चिन्तन, आत्मानुभूतिकी विशेषता, शुद्ध आत्माका स्वरूप, नवतत्त्व-स्वरूप आदिका प्रतिपादन किया गया है। दानबावनीमें कविने दानका महत्त्व और उसके आदर्शोंका विश्लेषण किया है। अतिथि सत्कारका विश्लेषण करते हुए कहा गया है—

मौन कहाँ जहाँ साधन आवत, पावन सो सो भुवि तीरथ होई।
पाय प्रछालकैं काय लगाय कैं, देह की सर्व विधा नहीं खोई॥
दान कर्‌यो तहिं पेट भर्‌यो वहु, साधकी आवन वार न जोई।
मानुष जोनिकौ पायकै मूरख, काम की बात करो नाहिं कोई॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस युगमें कवि बनारसीदासके समकालीन रूपचन्द भी हैं। इन्होंने परमार्थ दोहाशतक, परमार्थ गीत, पदसंग्रह, गीतपरमार्थी, पंचमंगल एवं नमिनाथ रासकी रचना की है। राजमल्ल, पांडे जिनदास, कुंवरपाल, पांडे हेमराज, बुलाकीदास, किशनसिंह, खड्गसेन, रामचन्द्र, शिरोमणिदास, मनोहरलाल या मनोहरदास, जयसागर, खुशालचंद काला, लब्धरुचि, लोहट, ब्रह्मरायमल भी अच्छे कवि हैं।[1]

अर्वाचीन कालमें कवि वृन्दावन, बुधजन, मनरंग, भागचन्द, दौलतराम, बखतावरमल, जगमोहनदास, परमेष्ठिदास आदि प्रमुख हैं।

कवि वृन्दावनका जन्म शाहाबाद जिलेके बारा नामक गाँवमें संवत् १८४८ में हुआ था। ये गोयल गोत्री अग्रवाल थे। कविके वंशधर बाराको छोड़कर काशीमें आकर रहने लगे थे। कविके पिताका नाम धर्मचन्द था। १२ वर्षकी अवस्थामें वृन्दावन अपने पिताके साथ काशी आए। काशीमें ये लोग बाबर शहीदकी गलीमें रहते थे।

वृन्दावनकी माताका नाम सिताबी और स्त्रीका नाम रुक्मिणी थी। इनकी पत्नी बड़ी धर्मात्मा और पतिव्रता थीं। इनकी ससुराल भी काशीके ठठेरी बाजारमें ही थी। इनके श्वसुर बड़े ही धनिक थे। इनके यहाँ टकसालका काम होता था। एक दिन एक किरानी अंग्रेज इनके श्वसुरकी टकसाल देखने आया। वृन्दावन भी उस समय वहीं उपस्थित थे। जब किरानी अंग्रेज ने इनके श्वसुरसे कहा—"हम तुम्हारा कारखाना देखना चाहते हैं कि इसमें कैसे सिक्के तैयार हैं। वृन्दावनने इस अंग्रेज किरानीको फटकार दिया और उसे टकसाल नहीं दिखलायी। वह अंग्रेज नाराज होता हुआ चला गया।[2]

दैवयोगसे कुछ दिनके उपरान्त वही अंग्रेज किरानी काशीका कलक्टर होकर आया। इस समय वृन्दावन सरकारी खजाञ्चीके पद पर आसीन थे। साहब बहादुरने प्रथम साक्षात्कारके अनन्तर ही इन्हें पहचान लिया और बदला लेनेके लिए उसने निश्चय किया। यद्यपि कविवर अपना कार्य बड़ी इमानदारी, सचाई और कुशलतासे सम्पन्न करते थे, पर जब अफसर ही विरोधी बन जाये, तब कितने दिनों तक कोई बच सकता है। आखिर एक जाल बनाकर साहबने इन्हें तीन वर्षके लिए जेलकी सजा दे दी।

कुछ दिनोंके उपरान्त एक दिन प्रातःकाल ही कलक्टर साहब जेलका निरीक्षण करने गये। वहाँ उन्होंने कविको एक कोठरीमें पद्मासन लगाये निम्न स्तुति पढ़ते देखा।

'हे दीनबन्धु श्रीपति करुणानिधान जी।
अब मेरी व्यथा क्यों न हरो बार क्या लगी।

इस कविताको सुनकर अंग्रेज बहुत प्रसन्न हुआ और उसने इन्हें कारागृहसे मुक्त कर दिया। वृन्दावन आशु कवि थे। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ प्रवचनसार, तीस चौबीसी पाठ, चौबीसी पाठ, छन्दशतक, अर्हत्पासा केवली और वृन्दावन विलास उपलब्ध हैं।

---

१. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, प्रथम भाग, पृ० १७१-२०३ तथा आमेर शास्त्र भंडारके ग्रन्थोंका प्रशस्ति संग्रह, प्रस्तावना भाग, पृ० १७-२२।

२. रचनाओं और कवियोंकी विशेष जानकारीके लिये देखें—वृन्दावन विलासकी प्रस्तावना—आद्योपान्त तथा नाथूराम प्रेमीका हिन्दी जैन साहित्यका इतिहास, पृ० ६०-८०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विनोदीलाल भी इस युगके यशस्वी कवि हैं। इनकी रचनाओंमें बारहमासा नेमि-राजुल, नेमिविवाह आदि रचनाएँ अधिक लोकप्रिय हैं। तपश्चरणके लिये गये हुए अपने पतिको राजुल द्वादश मासोंके रम्य प्राकृतिक चित्रण द्वारा विचलित करनेकी चेष्टा करती हैं। नेमिकुमार राजुलके रागात्मक वचनोंका वैराग्य द्वारा उत्तर देते हैं। वार्तालाप बहुत ही सरस है।

पिय लागैगो चैत वसंत सुहावनी, फूलैंगी बेल सबै बनमाहीं।
फूलैंगी कामिनी जाको पिया घर, फूलैंगो फूल सबै बनराई।
खेलहिंगे व्रजके बनमें सब, बाल-गुपाल रु कुँवर कन्हाई।
नेमि पिया उठ आवो घरै तुम, काहे को करहो लोग हँसाई॥

बुधजन—इनका पूरा नाम विरधीचन्द था। ये जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन थे। इनका समय अनुमानतः १९वीं शतीका मध्य भाग है। इनके द्वारा विरचित चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—तत्त्वार्थ बोध, बुधजन सतसई, पंचास्तिकाय और बुधजन विलास। इनकी भाषा पर मारवाड़ी प्रभाव है। बुधजन सतसई सरस और नीतिपूर्ण रचना है। इसमें देवानुराग शतक, सुभापितनीति, उपेक्षाधिकार और विराग भावना ये चार प्रकरण हैं। प्रथम देवानुराग शतकमें कवि बुधजनने दास्यभावकी भक्ति अपने आराध्यके प्रति प्रकट की है। यद्यपि वीत-रागी प्रभुके साथ इस भावनाका सामंजस्य नहीं बैठता, तो भी भक्तिके अतिरेकके कारण कविने अपनेको दासके रूपमें उपस्थित किया है। आत्मालोचनके साथ जिनेश्वरके माहात्म्यको व्यक्त करना कविका लक्ष्य है। कवि कहता है—

मेरे अवगुन जिन गिनौं, मैं औगुन को धाम।
पतित उधारक आप हैं, करो पतित को काम॥

सुभाषित खण्डमें २०० दोहे हैं, ये सभी नीतिविषयक है। लोक-मर्यादाके रक्षणके लिए महाकविने हितोपदेशकी बातें कही हैं।

भारामल फर्रुखाबादके निवासी सिंघई परशुरामके पुत्र थे। इनकी जाति खरौआ थी। इन्होंने भिण्ड नगरमें रहकर संवत् १८१३ में चारुचरित्रकी रचना की है। सप्तव्यसन चरित्र, दानकथा, शीलकथा और रात्रि भोजन कथा भी पद्यबद्ध रचनाएँ हैं।

पंडित डालूराम माधवराजपुर निवासी अग्रवाल थे। इन्होंने संवत् १८६७ में गुरू-पदेश श्रावकाचार छन्दोवद्ध, संवत् १८७१ में सम्यक्त्व प्रकाश और अनेक पूजाओंकी रचना की है।

कवि दौलतराम हाथरसके रहने वाले पल्लिवाल थे। इनके पिताका नाम टोडरमल था। इनका जन्म विक्रमी संवत् १८४४ में हुआ था। इनकी बनाई हुई छहढाला और पद-संग्रह रचनायें प्राप्त हैं। छहढाला भाव, भाषा और अनुभूतिकी दृष्टिसे बेजोड़ है।

मनरंगलाल कन्नौजके निवासी पल्लीवाल थे। इनके पिताका नाम कन्नौजीलाल और माताका नाम देवकी था। कन्नौजमें गोपालदास नामक एक धर्मात्मा सज्जन निवास करते थे। इनके अनुरोधसे ही इन्होंने चौबीसी पाठकी रचना की है। इसके अतिरिक्त इनके नेमिचन्द्रिका, सप्तव्यसन चरित, सप्तर्षिपूजा एवं शिखर सम्मेदाचल माहात्म्य भी उपलब्ध हैं। कवि हरिकृष्णने सं० १८२६ ज्येष्ठकृष्ण अष्टमीको बुद्धिप्रकाश नामक काव्यकी रचना की

१७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसमें धर्म, वैराग्य और नीतिके विषयोंका सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। दाता और सूमका वार्तालाप तो बहुत ही सुन्दर हुआ है।

बखतरामने मिथ्यात्व खण्डन और बुद्धिविलास इन दो ग्रन्थोंकी रचना की है। बुद्धिविलासके आरम्भमें कविने जयपुरका इतिहास लिखा है। इस रचनामें विविध धार्मिक विषय, दिगम्बर संघ-पट्टावली, भट्टारकों तथा खण्डेलवाल जातिकी उत्पत्ति आदि वर्णित है। इस रचनाकी समाप्ति कविवरने मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशी सं० १८२७ में की थी।[1] पद्य साहित्यके साथ-साथ हिन्दी गद्य साहित्यकी धारा भी आदिकालसे प्रवाहित होती रही। आरम्भिक गद्यका रूप टीकाओं और वृत्तियोंमें मिलता है। १७वीं शतीके मध्य भागमें राजमल पाण्डेने गद्यमें समयसारकी टीका लिखी। इस टीकाकी भाषा ढूँढारी है। शैली परम्परागत है।

कविवर बनारसीदास कवि होनेके साथ-साथ गद्य लेखक भी हैं। आगरामें बहुत दिन रहनेके कारण इनके गद्यकी भाषा ब्रजभाषा है। इन्होंने परमार्थ वचनिका और उपादान-निमित्तकी चिट्ठी भी लिखी है। इनकी गद्य शैली व्यवस्थित है, भाषाका रूप निखरा हुआ है और क्रियापद प्रायः विशुद्ध ब्रजभाषाके हैं। संस्कृतके लिख्यते, कथ्यते और उच्यते जैसे कुछ क्रियापद भी इनके गद्यमें विद्यमान हैं।

अखयराम श्रीमालने संवत् १७८० के आसपास "चतुर्दश गुणस्थान चर्चा" नामक स्वतन्त्र गद्य ग्रन्थ तथा कई स्तोत्रोंकी हिन्दी वचनिकायें लिखीं। लेखकने गद्यमें अति सैद्धान्तिक विषयोंको बड़े ही हृदयग्राह्य ढंगसे उपस्थित किया है।

वचनिकाकारोंमें पाण्डे हेमराजका नाम अग्रगण्य है। इन्होंने सत्रहवीं शताब्दीके अंतिम पादमें प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका तथा भक्तामर भाषा, गोम्मटसार भाषा और नयचक्रकी वचनिका ये पाँच गद्य रचनाएँ लिखी हैं। इनकी टीकाओंकी शैली पुरातन तथा संस्कृत टीकाकारोंके अनुसार खण्डान्वय पर आधारित है।

अठारहवीं शतीके मध्यमें दीपचन्द काशलीवालका जन्म हुआ। इन्होंने प्राचीन ग्रन्थोंका अनुवाद न करके स्वतन्त्र रूपसे गद्य ग्रंथ लिखे। इनकी अनुभव प्रकाश, चिद्विलास, गुणस्थानभेद आदि धार्मिक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। वसवा निवासी पं० दौलतरामने पुण्यास्रव कथाकोष, पद्मपुराण, आदिपुराण और वसुनन्दी श्रावकाचार इन चार ग्रंथोंका गद्यमें अनुवाद किया। इनके गद्यको हिन्दी साहित्यके प्रसिद्ध इतिहासकार पं० रामचन्द्र शुक्लने अपरिमार्जित खड़ी बोलीका गद्य कहा है।

मुनि वैराग्यसारने सं० १७५१ में "आठकर्मनी १०८ प्रकृति" नामक गद्य ग्रंथकी रचना की है। शैली और भाषा दोनों पर अपभ्रंशका पूरा प्रभाव है। न के स्थान 'ण' दूसरेके स्थान पर 'बीजउ' का प्रयोग पाया जाता है।

१९ वीं शतीके आरम्भमें भूधरदासने 'चरचा समाधान' नामक गद्य ग्रन्थ लिखा है। यद्यपि इसमें विभक्तियाँ ढूंढारी है, पर भाषा खड़ी बोलीके अत्यन्त निकट है।

---

१. प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथके अन्तर्गत जैन सिद्धान्त भवन, आराके कुछ हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थ पृ० ५०५ तथा हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग २ का परिशिष्ट पृ० २३५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संवत् १८२० में चैनसुखने शतश्लोकी टीका और इनसे पहले दीपचन्दने बालतन्त्र भाषा वचनिका लिखी। १९ वीं शतीके मध्य भागमें "अंबड चरित" नामक भाषा ग्रंथ अमरकल्याणने लिखा। संवत् १८५८ में ज्ञानानन्दने श्रावकाचार लिखा। इनका गद्य विकसित और विकासोन्मुख है।

१९ वीं शताब्दीमें ही स्वनामधन्य आचार्यकल्प पं० टोडरमलका जन्म हुआ। इन्होंने अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा जैन सिद्धान्तके गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार और आत्मानुशासन आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी हिन्दी वचनिकाएँ लिखीं। अनुवाद कार्यके अतिरिक्त आपने ढूंढारी भाषामें मोक्षमार्ग प्रकाशकी रचना की। यह मौलिक ग्रन्थ भाषा और विषय दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

१९ वीं शतीमें पं० जयचन्दने सर्वार्थसिद्धि वचनिका, परीक्षामुख वचनिका, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, आत्मख्याति, समयसार, देवागमस्तोत्र वचनिका, अष्टपाहुड़ वचनिका, ज्ञानार्णव टीका, भक्तामर चरित्र, सामायिकपाठ, चन्द्रप्रभकाव्यके द्वितीय सर्गकी टीका, पत्र परीक्षावचनिका आदि ग्रंथ लिखे।

२० वीं शतीके प्रारम्भमें पं० सदासुखदास, पं० भागचन्द, चम्पाराम, जौहरीलाल, फतेहलाल, शिवचन्द एवं शिवजीलाल आदि कई टीकाकार हुए।

वर्त्तमानमें जैन लेखक खड़ी बोलीमें उपन्यास, नाटक, निबन्ध, कथाओं आदिकी रचना कर रहे हैं। जैनेन्द्रकिशोरका मनोवती, मुनि तिलकविजयका रत्नेन्दु और पं० गोपालदास बरैयाका 'सुशीला उपन्यास' इस बीसवीं शतीके प्रारम्भकी श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

हिन्दी जैन साहित्यका सर्वेक्षण

१३ वीं शतीमें रासा और चउपई ग्रन्थ लिखे गये। १४ वीं शतीकी सप्तक्षेत्र रास, संघपति समरा रास, और कच्छुलि रास प्रमुख रचनाएँ हैं। १५ वीं शतीमें भट्टारक सकलकीर्तिने आराधनासार प्रतिबोध, विजयभद्रका गौतमरासा, जिनउदय गुरुके शिष्य और ठक्कर माल्हेके पुत्र विद्धणने ज्ञानपंचमी चउपई और ब्र० दयासागर सूरिने धर्मदत्त चरित लिखा। १६ वीं शतीमें ब्रह्म जिनदासने आदिपुराण, श्रेणिक चरित, सम्यक्त्वरास, यशोधररास, धनपाल रास, व्रतकथाकोश, दशलक्षण व्रत कथा, सोलहकारण, चन्दनषष्ठी, मोक्ष सप्तमी, निर्दोष सप्तमी कथा आदि ग्रन्थ रचे। इसी शताब्दीमें चतरूमलने नेमीश्वरगीत और धर्मदासने धर्मोपदेश श्रावकाचार रचा।

हिन्दी जैन साहित्यके विकासके लिए सत्रहवीं शताब्दी विशेष महत्त्व की है। इस शतीमें गद्य और पद्य दोनोंमें साहित्य लिखा गया। महाकवि बनारसीदास, रूपचन्द्र और रायमल जैसे श्रेष्ठ कवियोंको उत्पन्न करनेका गौरव इसी शतीको है। इनके अतिरिक्त त्रिभुवनदास, हेमविजय, कुँवरपाल और उदयपतिकी रचनाएँ भी कम गौरवपूर्ण नहीं हैं। गद्य लेखकोंमें पांडे राजमल्ल एवं अखराजकी रचनाएँ प्रमुख हैं। राजभूषणने लोकनिराकरण रास, ब्रह्मवस्तुने पार्श्वनाथ रास, मुनि कल्याणकीर्तिने होली प्रबन्ध, नयनसुखने मेघ महोत्सव, हरिकलशने हरिकलश, रूपचन्द्रने परमार्थ दोहा शतक, परमार्थगीत, पदसंग्रह, गीतपरमार्थी, पंचमंगल, नेमिनाथ रासो, रायमलने हनुमन्त कथा, प्रद्युम्न चरित, सुदर्शनरासो, निर्दोष सप्तमी-व्रतकथा, नेमीश्वररासो, श्रीपाल रासो, भविष्यदत्त कथा, त्रिभुवनचन्द्रने अनित्यपंचाशत्, प्रस्ताविक दोहे, षट्द्रव्यवर्णन और फुटकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवित्त, बनारसीदासने बनारसी विलास, नाटक समयसार, अर्द्धकथानक, नाममाला, कल्याण-देवने देवराज वच्छराज चउपई, मालदेवने भोज प्रबन्ध, पुरन्दरकुमार चउपई, पाण्डे जिनदासने जम्बूचरित, ज्ञानसूर्योदय, पाण्डे हेमराजने प्रवचनसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, भाषा भक्ता-मर, विद्याकमलने भगवती गीता, मुनि लावण्यने रावण-मन्दोदरी संवाद, गुणसूरिने ढोलासागर, सागरने अंजनासुन्दरी संवाद, मानशिवने भाषा कवि रसमंजरी, केशवदासने जन्म प्रकाशिका, जटमलने बावनी गोरा बादलकी; प्रेमविलास चौपाई, हंसराजने हंसराज, ज्ञानभूषणने आदीश्वर फागु; भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिने नेमीश्वर चन्द्रायण, घेल्दने पंचेन्द्रिय बोल, समयसुन्दर गणिने मृगावती चरित, कुशललाभ गणिने माधवानल चौपाई एवं ब्रह्मरायमल्लने श्रीपाल रासकी रचना की।

अठारहवीं शताब्दीमें हेमने छंदमलिका, केसरकीर्तिने नाम रत्नाकर, विनयसागरने अनेकार्थ नाममाला, कुंवर कुशालने लखपति जयसिन्धु, मानने संयोग द्वात्रिंशिका; कवि विनोदने फुटकर पद, उदयचन्द्रने अनूप रसाल, उदयराजने वैद्य विरहिणी प्रबन्ध, मानसिंह विजयने राजविलास; सुबुद्धिविजयने प्रतापसिंहका गुणवर्णन; जगरूपने भावदेव सूरिरास; लक्ष्मीवल्लभने कालज्ञान, धर्मसिंहने कुंभक्रिया, समरथने रसमंजरी; रामचन्द्रने रामविनोद, दीपचन्दने वैद्यसार बालतंत्रकी भाषा वचनिका; जयधर्मने शकुन प्रदीप, रामचन्द्रने सामुद्रिक भाषा, नागराजने सामुद्रिक, लालचन्दने स्वरोदय भाषाटीका, रत्नशेखरने रत्नपरीक्षा, लक्ष्मीचन्द्रने आगरा गजल, खेतलने उदयपुर गजल, चित्तौड़ गजल, मनरूप विजयने झूनागढ़ वर्णन, उदयचन्दने बीकानेर गजल, दुर्गादासने मरोट; किशनने कृष्ण बावनी; केशवने केशव बावनी; जिनहर्षने उपदेश छत्तीसी सवैया, भैया भगवतीदासने ब्रह्मविलास, द्यानतरायने धर्मविलास, आगमविलास, शिरोमणिदासने धर्मसार, बुलाकीदासने महाभारत, प्रश्नोत्तर श्रावकाचार. पं० श्यामलालने सामायिकपाठ, विनोदीलालने श्रीपालचरित, पं० लक्ष्मीदासने यशोधर चरित, धर्मप्रबोध, पं० शिवलालने चर्चासागर, भूधरदासने पार्श्वपुराण, जैन शतक, पदसंग्रह, आनन्दघनने आनन्द बहत्तरी, यशोविजयने जयविलास, विनयविजयने विनयविलास, किशनसिंहने क्रियाकोश, भद्रबाहुचरित, रात्रिभोजन कथा, मनोहरलालने धर्मपरीक्षा, जोधराज गोदीकाने सम्यक्त्व कौमुदी, खुशालचन्द कालाने हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, उत्तरपुराण, रूपचन्दने नाटक समयसारकी टीका, पं० दौलतरामने हरिवंश पुराणकी वचनिका, पद्मपुराणकी वचनिका, आदिपुराणकी वचनिका परमात्मप्रकाशकी वचनिका, श्रीपालचरित, क्रियाकोश, खड्गसेनने त्रिलोक दर्पण; जगतरामने आगमविलास, सम्यक्त्वकौमुदी, पद्मनन्दपचीसी; देवीसिंहने उपदेश-सिद्धान्त रत्नमाला, जीवराजने परमात्मप्रकाशकी वचनिका, ताराचन्दने ज्ञानार्णव, विश्वभूषण भट्टारकने जिनदत्त चरित, हरचन्दने श्रीपालचरित, जिनरंगसूरिने सौभाग्य पचीसी, धर्ममन्दिर गणिने प्रबोध चिंतामणि; हंसविजययतिने कल्पसूत्रकी टीका, ज्ञानविजययतिने मलय चरित, लाभवर्द्धनने उपपदी ग्रन्थ, टीकमने चतुर्दश चउपई, लब्धरुचिने चन्द्रनृपरास; ब्रह्मजिनदासने जम्बूस्वामी चरित, अचलकीर्तिने धर्मरासो एवं परिमल्लने श्रीपाल चरितकी रचना की है।

उन्नीसवीं शताब्दीमें टोडरमलने गोम्मटसारकी वचनिका, त्रिलोकसारकी वचनिका, लब्धिसारकी वचनिका; क्षपणासारकी वचनिका, आत्मानुशासनकी वचनिका, मोक्षमार्ग प्रकाश, जयचन्दने सर्वार्थसिद्धिकी वचनिका, द्रव्यसंग्रहकी वचनिका, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी वचनिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भक्तामरकी वचनिका, वृन्दावनलालने वृन्दावन विलास, चतुर्विंशति जिनपाठ पूजा, तीस चौबीसी; पूजा-पाठ, भूधर मिश्रने पुरुषार्थ सिद्धिवचनिका, चर्चा समाधान, बुधजनने तत्त्वार्थ-बोध, बुधजन सतसई, पंचास्तिकाय भाषा, बुधजन विलास, दीपचन्दने ज्ञान दर्पण, अनुभव प्रकाश, अनुभव विलास, आत्मावलोकन, चिद्‌विलास, परमात्मपुराण, स्वरूपानन्द अध्यात्म पचीसी, ज्ञानानन्दने ज्ञानविलास, समय तरंग, रंगविजयने गजल, कपूरविजय या चिदानन्दने स्वरोदय, टेकचन्दने तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुतसागरी टीकाकी वचनिका, सुदृष्टितरंगणी, नथमल विलालाने जिनगुण विलास, नागकुमार चरित, जीवन्धर चरित, जम्बूस्वामी चरित, डालूरामने गुरूपदेश श्रावकाचार, सम्यक्त्वप्रकाश, पूजाएँ, सेवारामने हनुमत्‌चरित, शान्तिनाथ पुराण, भविष्यदत्तचरित, सप्तव्यसन चरित, दानकथा, शीलकथा, रात्रिभोजन कथा, गुलाबरायने शिखरविलास, थानसिंहने सुबुद्धि प्रकाश, नन्दलाल छावड़ाने मूलाचारकी वचनिका, मन्नालाल सांगाकरने चरितसारकी वचनिका, मनरंगलालने चौबीसी पूजापाठ, नेमिचन्द्रिका, सप्तव्यसन चरित, सप्तर्षि पूजा, षट्‌कर्मोपदेश रत्नमाला, वरांग चरित, विमलनाथ पुराण, शिखिर विलास, सम्यक्त्व कौमुदी, आगमशतक, अनेक पूजा ग्रंथ, चेतनविजयने लघुपिंगल, आत्मबोध, नाममाला, मेघराजने छन्दप्रकाश, उदयचन्दने छन्द प्रबन्ध, उत्तमचंदने अलंकार आशयभण्डारी, क्षमाकल्याणने अंबड चरित, जम्बूकथा, ज्ञानसागरने माला पिंगल, कामोद्दीपन, पूरबदेश वर्णन, चन्द चौपाई समालोचना, निहाल बावनी, मूलचन्दने वैद्यहुलास, मेघने मेघविनोद, मेघमाला, गंगारामने लोलिम्ब राजा भाषा, सूरतप्रकाश, भावनिदान, चैनसुखदासने शतश्लोकीकी भाषा टीका, रामचन्द्रने अवपदिशा शकुनावली, तत्त्वकुमारने रत्नपरीक्षा, गुरुविजयने कापरड़ा, कल्याणने गिरनार सिद्धाचल गजल, भक्तविजयने भावनगर वर्णन गजल, मनरूपने मेड़ता वर्णन, पोरबन्दर वर्णन, सोजात वर्णन, रघुपतिने जैनसार बावनी, निहालने ब्रह्मबावनी, चेतनने अध्यात्म बाराखड़ी, सेवारामशाहने चौबीसी पूजा पाठ, यति कुशालचन्द गणिने जिनवार्ता सार, हरिजसरायने साधु गुणमाला, देवाधिदेव स्तवन, क्षमाकल्याण पाठकने साधु प्रतिक्रमण-विधि, श्रावक प्रतिक्रमण विधि एवं विजयकीर्तिने श्रेणिक चरितकी रचना की है।

विक्रमकी २० वीं शतीके प्रारम्भमें एवं ई० सन् की १९ वीं शतीके अन्तमें पं० सुखदासने रत्नकरंड श्रावकाचारकी टीका, समयसारकी टीका, नित्य पूजाकी टीका, भागचन्दने ज्ञान सूर्योदय, उपदेश सिद्धांत रत्नमाला, अमितगति श्रावकाचार टीका, प्रमाण परीक्षा टीका, नेमिनाथ पुराण, दौलतरामने छहढाला, मुनि आत्मारामने जैन तत्त्वादर्श, तत्त्वदर्श, तत्त्वनिर्णय प्रसार, अज्ञानतिमिर भास्कर, चम्पारामने गौतम परीक्षा, वसुनन्दी श्रावकाचार टीका, चर्चा-सागर और योगसार, छत्रपतिने द्वादशानुप्रेक्षा, मनमोदन पंचासिका, उद्यम प्रकाश और शिक्षा प्रधान, नन्दरामने योगसार वचनिका, यशोधर चरित और त्रिलोकसार पूजा एवं नाथूराम दोशीने सुकुमाल चरित, सिद्धिप्रिय स्तोत्र, महीपाल चरित, रत्नकरण्डश्रावकाचारकी टीका, समाधि तन्त्रकी टीका, दर्शनसार टीका, परमात्मप्रकाश टीका लिखीं हैं। हिन्दी जैन साहित्यके विकासका यह क्रम उत्तरोत्तर होता जा रहा है। बीसवीं शतीमें अनेक विद्वान् इस साहित्यकी सेवामें संलग्न हैं।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत काव्यका उद्भव एवं विकास

प्राकृतभाषामें काव्य प्रणयनकी परम्परा प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। इस भाषाके कवियोंने सिसकती और आहें भरती मानवताका करुण क्रन्दन सुना। उनका हृदय द्रवीभूत हो गया और काव्य रचना निसृत हुई। प्राकृत काव्योंकी रसमयी भावधारा और मानवतावादी भावनाओंको अवगत करनेके लिये इस भाषाके काव्योंको निम्नलिखित वर्गोंमें विभक्त कर विश्लेषण किया जायेगा—

१. शास्त्रीय महाकाव्य
२. चरित काव्य
३. खण्ड काव्य या लघु काव्य
४. चम्पू काव्य
५. मुक्तक काव्य
६. सट्टक
७. कथा काव्य

शास्त्रीय महाकाव्य कलात्मक प्रतिभाकी सर्वोत्तम देन है। इनमें जातीय गुणों, सर्वोत्कृष्ट उपलब्धियां और परम्परागत अनुभवोंका पुंजीभूत ऐसा रसात्मक रूप दृष्टिगोचर होता है, जो समग्र सामाजिक जीवनका प्रतिनिधि है। इस विधामें छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूपमें निहित रहता है। जिसमें प्रक्षिप्त कथा प्रवाह, अलंकृत वर्णन और मनोवैज्ञानिक चित्रण ऐसे सुनियोजित रूपमें रहता है जिससे रसात्मकता या प्रभावान्विति उत्पन्न करनेमें कठिनाई नहीं होती है।

कथात्मक संगठन और घटनात्मक विकासकी दृष्टिसे प्रवरसेन द्वितीय द्वारा रचित सेतुबन्ध नामक महाकाव्य प्रथम शास्त्रीय प्राकृत महाकाव्य है। प्रवरसेनका समय ई० सन् ४४० के लगभग है। कवि वैष्णव धर्मानुयायी था। अतः विष्णुके अवतार रूपमें रामकथाको अपने महाकाव्यका आधार बनाया है। इस महाकाव्यमें दो प्रमुख घटनाएँ हैं—(१) सेतुबन्ध और (२) रावणवध। इस महाकाव्यमें १२९१ गाथाएँ हैं जो १५ आश्वासोंमें बिभक्त है। रामदास भूपतिकी संस्कृत टीका भी प्रकाशित है।

प्राकृतका दूसरा शास्त्रीय महाकाव्य वाक्पतिराजका 'गउडवहो'[2] है। यह कवि कन्नौजके राजा यशोवर्माके आश्रयमें रहता था। इसका समय ई० सन् ७६० है। इसमें १२०९ गाथाएँ हैं। इसका सर्गोंमें विभाजन न होकर कुलकोंमें हुआ है। यह सरस शास्त्रीय महाकाव्य है। इसमें जीवनके मधु और कटु दोनों ही चित्र समानान्तर रूपमें अंकित किये गये हैं। चित्रोंकी रेखाएँ इतनी सन्तुलित हैं, जिससे उनमें भद्दापन नहीं आ पाया है। ग्रामशोभा, वनशोभा, सरोवर, सन्ध्या, ऊषा आदिका रमणीय चित्रण किया गया है।

---

१. सन् १९३५ में निर्णय सागर प्रेस बम्बईमें प्रकाशित।
२. सन् १९२७ में ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट पूनासे प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य हेमचन्दने विक्रम संवत्की १२ वीं शतीमें द्वयाश्रय[1] महाकाव्यकी रचना की है। स्वरचित प्राकृत व्याकरणके नियमोंको स्पष्ट करनेके लिये इस महाकाव्यकी रचना की गयी है। इस काव्यमें आठ सर्ग हैं। प्रारम्भके छह सर्गोंमें महाराष्ट्रीय प्राकृतके उदाहरण और नियम वर्णित हैं। शेष दो सर्गोंमें शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका, पैशाची और अपभ्रंश भाषाके उदाहरण प्रयुक्त हैं। इस शास्त्रीय महाकाव्य पर पूर्णकलश गणिकी संस्कृत टीका भी है।

काव्यका नायक राजा कुमारपाल है और उसकी दिनचर्या विस्तृत रूपसे इस काव्यमें वर्णित है। एक दिनकी कथावस्तु रहने पर भी ऋतुओं तथा इन ऋतुओंमें सम्पन्न होने वाली क्रीडाओंका व्यापक चित्रण किया है। विज्ञप्ति निवेदनमें दिग्विजयका चित्रण आ गया है। कथाकी गति वर्तुलाकार सी प्रतीत होती है और दिग्विजयका चित्रण उस गतिमें मात्र बुलबुला बनकर रह जाता है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि कथावस्तुका आयाम शास्त्रीय महाकाव्योचित नहीं है। नायकका सम्पूर्ण जीवन-चरित समक्ष नहीं आ पाता है और न उसके जीवनका उतार-चढ़ाव ही प्रत्यक्ष हो पाता है। मूल कथाको विस्तृत करनेवाली अवान्तर कथाएँ भी इस काव्यमें नहीं आयी हैं।

वस्तु वर्णनकी दृष्टिसे यह महाकाव्य सफल है। ऋतु वर्णन, सन्ध्या, ऊषा, प्रातः एवं युद्ध आदिके दृश्य सजीव हैं। व्याकरणके उदाहरणोंको समाविष्ट करनेके कारण कृत्रिमता अवश्य है, पर इस कृत्रिमताने काव्यके सौन्दर्यको अपकर्षित नहीं किया है। प्राकृतिक दृश्योंके मनोरम चित्रण और प्रौढ़ व्यंजनाओंने काव्यको प्रौढ़ता प्रदान की है। इसमें सन्देह नहीं कि इस शास्त्रीय काव्यमें व्याकरणके जटिल-जटिल नियमोंके उदाहरण उपस्थित करनेके हेतु कथानकमें सर्वाङ्ग पूर्णताका सन्निवेश नहीं हो पाया है, पर चमत्कार और कमनीयताका अभाव नहीं है।

इसमें शाब्दी क्रीड़ा भी वर्तमान है। सुन्दर-सुन्दर वर्णनोंकी योजना कर कविने अलंकार वैचित्र्य और कल्पना शक्तिका पूर्ण मिश्रण किया है। इस काव्यमें राजाके विलासी जीवनका ही वर्णन नहीं है, अपितु धार्मिक और कर्मठ जीवनका भी चित्रण किया गया है। अलंकारोंके प्रयोगमें तो कवि अद्वितीय है। पूर्णोपमाका निम्नलिखित उदाहरण दर्शनीय है—

विज्जु-चलं महुर-गिरो दिंतो लच्छि जणो छुहत्ताण।
भिसओ खु जहा सरओ दिसाण पाउस-किलंताण ॥१।९॥

अणहिलपुरके निवासी अपनी लक्ष्मीको चंचल और नश्वर समझकर प्रिय वचन पूर्वक भूखे प्यासे व्यक्तियोंको उसी प्रकार दान देते हैं जिस प्रकार शरद् काल वर्षा ऋतुमें मलिन और कलुषित हुई दिशाओंको स्वच्छ बनाता है। इस पद्यमें कविने अन्योक्ति द्वारा अणहिलपुरके व्यक्तियोंकी दानशीलता और कर्त्तव्यपरायणताका निरूपण किया है। उत्प्रेक्षा (३।३४), अतिशयोक्ति (१।१३, १।१६, १।२६), रूपक (६।२), भ्रान्तिमान् (६।५) आदि सभी प्रमुख अलंकार प्रयुक्त हैं। रसभाव व्यन्जनाकी दृष्टिसे यह काव्य उच्चकोटिका है। शृङ्गार, शान्त और वीर रसोंसे सम्बन्धित अनेक श्रेष्ठ पद्य आये हैं। एक विट पुरुष आसन पर बैठी हुई अपनी प्रियाकी आँखें बन्द कर अन्य प्रेमिकाका चुम्बन कर लिया है। कविने इस सन्दर्भका सरस वर्णन किया है।

१. सन् १९३६ ई० में ओरियन्टल इन्सटीच्यूट पूना द्वारा प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आसइ-ठिआइ घरिणीइ गह-वई झम्पिऊण अच्छीइं।
हसिरो मोत्तुं सङ्कं चुम्बिअ अन्नं सढो मुइओ ॥३।७४॥
मा सोउआण अलिअं कुप्प मईआ सि तुम्हकेरो हं ।
इअ केण वि अणुणीआ णिअय-पिआ पाणिणी अजडा ॥३।७५॥

जब प्रियतमाको उस विटकी धूर्तताका आभास मिला, तब वह रुष्ट हो गई। अतः वह उसको प्रसन्न करता हुआ चाटुकारिका पूर्वक कहने लगा—"प्रिये झूठी बात सुनकर क्रोध मत करो। मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरी हो। भला तुम्हारे अतिरिक्त मैं अन्य किसीसे प्रेम कर सकता हूँ ? तुम्हें भ्रम हो गया है। इस प्रकार चाटुकारी बातें कर वह उस मानिनो नायिकाको प्रसन्न करता है।

रस निरूपणमें कवि जहाँ पटु है, वहाँ वह वैयक्तिक और सामाजिक जीवनको उन्नत बनानेके लिए भी सचेष्ट है। कवि भाव शुद्धि पर वल देता हुआ कहता है—

जमुण गमेप्पि गमेप्पिणु जन्हवि ।
गम्पि सरस्सइ गम्पिणु नम्मद ॥
लोउ अजाणउ जं जलि बुड्डइ ।
नं पसु किं नीरइ सिव-सम्मद ॥८।८०॥

गंगा, यमुना, सरस्वती और नर्मदा नदियोंमें स्नान करने मात्रसे कोई शुद्ध नहीं होता। यदि इन नदियोंमें स्नान करनेसे ही शुद्धि होती, तो महिष, वृषभ आदि पशु इन नदियोंमें सदा ही डुबकी लगाते रहते हैं, अतः उनकी भी शुद्धि हो जानी चाहिए। जो लोग अज्ञानतापूर्वक इन नदियोंमें स्नान करते हैं और अपने आचार-विचारको पवित्र नहीं बनाते, उन्हें कुछ भी लाभ नहीं हो सकता है। भावनाओं और क्रिया व्यापारोंको पवित्र रखने वाला व्यक्ति ही मोक्ष सुखको प्राप्त करता है। अन्तरंगकी शुद्धि कषाय और विकारोंके दूर करने पर ही हो सकती है। अन्तरंग शुद्धिके अभावमें बहिरंग शुद्धि निरर्थक है। इस काव्यकी कथा सर्गबद्ध है और आठ सर्गोंमें विभक्त है। वस्तु वर्णन, संवाद, भावाभिव्यञ्जन एवं इतिवृत्तमें सन्तुलन है।

श्रीकृष्णलीलाशुक कविने वररुचिके 'प्राकृत प्रकाश' के उदाहरणोंका प्रयोग कर 'सिरिचिंधकव्व' की रचना की है। इस काव्यमें १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग 'श्री' शब्दसे अंकित होनेके कारण यह 'श्रीचिह्न' काव्य कहलाता है। काव्यका रचनाकाल १३वीं शती है।

१८वीं शतीमें श्रीकण्ठने 'सोरिचरितम्' की रचना की है। इस महाकाव्यके अभी तक चार ही आश्वास प्राप्त हैं। श्रीकण्ठके शिष्य रुद्रमिश्रने 'सोरिचरितम्' पर विद्वत्तापूर्ण संस्कृत टीका लिखी है। काव्यमें कृष्ण कथा वर्णित है।

प्राकृत चरित काव्य

प्राकृत भाषामें चरित काव्योंकी रचना विशेष रूपमें हुई है। अनेक चरित काव्य पद्यबद्ध लिखे गये हैं और कुछ ऐसे भी हैं, जो गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू प्रणालीमें निबद्ध हैं। विमलसूरिका 'पउमचरिय', वर्द्धमानसूरिका 'आदिनाहचरिय', सोमप्रभका 'सुमतिनाहचरिय', देवसूरिका 'पउमपहचरिय', यशोदेवका 'चन्दपहचरिय', नेमिचन्द्रका 'अनन्तनाहचरिय', देवचन्द्रका 'शान्तिनाहचरिय', जिनेश्वरका 'मल्लिनाहचरिय', श्रीचन्द्रका 'मुणिसुव्वयचरिय',

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं नेमिचन्द्रका 'रयणचूडरायचरिय' प्रसिद्ध चरित काव्य हैं। प्राकृतके इन चरित काव्योंमें जीवनकी विभिन्न समस्याओं पर विचार प्रस्तुत किए गये हैं। प्राकृतका सर्वप्रथम चरित काव्य विमलसूरि कृत 'पउमचरियं'[1] है। इस ग्रन्थके रचयिता विमलसूरि आचार्य राहुके प्रशिष्य, विजयके शिष्य और नाइलकुलके वंशज थे। इनका समय ई० सन् की ७वीं शतीके पूर्व और दूसरी शतीके पश्चात् है। आलोचकोंने चौथी, पाँचवों शती निर्धारित किया है।

इस ग्रन्थमें सात अधिकार हैं—(१) स्थिति, (२) वंशसमुत्पत्ति, (३) प्रस्थान, (४) लवांगकुशोत्पत्ति, (५) निर्वाण, (६) अनेकभव और (७) उन भवोंका वर्णन है। इस चरित काव्यमें रामकथा ११८ सर्गोंमें वर्णित है। इसमें पौराणिक प्रबन्ध और शास्त्रीय प्रबन्ध इन दोनोंके लक्षणोंका समावेश हुआ है। वाल्मीकि रामायणकी कथावस्तुमें संशोधन कर यथार्थ बुद्धिवादकी प्रतिष्ठा की गयी है। राक्षस और बानर इन दोनोंको नृवंशी कहा है। मेघवाहनने लंका तथा अन्य द्वीपोंकी रक्षा की थी। अतः रक्षा करनेके कारण उसके वंशका नाम राक्षस वंश प्रसिद्ध हुआ। विद्याधर राजा अमरप्रभने अपनी प्राचीन परम्पराको जीवित रखनेके लिए महलोंके तोरणों और ध्वजाओं पर वानरोंकी आकृतियाँ अंकित करायी थीं तथा उन्हें राज्य चिह्नकी मान्यता दी थी। अतः उसका वंश वानरवंश कहलाया। इसी प्रकार इन्द्र, सोम, वरुण इत्यादिको देव न मानकर विभिन्न प्रान्तोंके मानववंशी सामन्त बतलाए हैं। रावणको उसकी माताने नौ मणियोंका हार पहनाया, जिससे उसके मुखके नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होनेके कारण पिताने उसका नाम दशानन रक्खा, इसी प्रकार हनुमान विद्याधर राजा प्रह्लादके पुत्र पवनञ्जय और उनकी पत्नी अञ्जना सुन्दरीके पुत्र थे। हनुरुहपुरमें जन्म लेनेके कारण इनका नाम हनुमान पड़ा था। सीताकी उत्पत्ति भी हलकी नोकसे भूमि खोदी जाने पर नहीं हुई है। वह तो राजा जनक और उनकी पत्नी विदेहाकी स्वाभाविक औरस पुत्री थी। इस प्रकार कविने अस्वाभाविक घटनाओंको स्थान नहीं दिया है।

चरित काव्यका सबसे प्रधान गुण नायकके चरित्रका उत्कर्ष दिखलाना है। दशरथ द्वारा भरतको राज्य देनेका समाचार सुनकर राम अपने पिताको धैर्य देते हुए कहते हैं कि पिता जी, आप अपने वचनकी रक्षा करें। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आपका लोकमें अपयश हो। जब भरत राज्य ग्रहण करनेमें आनाकानो करते हैं, तब राम उन्हें अपने पिताकी विमलकीर्ति बनाये रखने और माताके वचनकी रक्षा करनेका परामर्श देते हैं। जब भरत अनुरोध स्वीकार नहीं करते तो राम स्वयं ही वन चले जाते हैं। यह नायककी स्वाभाविक उदारताका निदर्शन है। इस प्रकार आद्योपान्त रामके चरितकी महत्ता उद्घाटित की गई है। कवि अलंकार चित्रणमें भी पीछे नहीं हैं। उसने वसंतको सिंहका रूपक देते हुए लिखा है—

अंकोलतिक्खणक्खो, मल्लियणयणो असोयदलजीहो।
कुरवयकरालदसणो सहयारसुकेसरासणिओ॥
कुसुमरयपिंजरंगो, अहमुत्तलयासभूसियकरग्गो।
पत्तो वसन्तसीहो, गयवहयाणं भयं देन्तो॥९२।७-८॥

---

१. डॉ० हर्मन जैकोबी द्वारा भावनगरसे सन् १९१४ ई० में प्रकाशित तथा प्राकृत टैक्स्ट सोसाइटी द्वारा हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात् वसन्त सिंहका अंकोल तीक्ष्ण नख है, मल्लिका पुष्प नेत्र हैं, अशोक-पल्लव जिह्वा है, कुरवक भयंकर दाँत हैं और मुक्तकलता कराग्रह है। प्रत्येक सर्गमें छन्द भी परिवर्तित हुआ है। वर्णिक छन्दोंमें वसन्ततिलका, उपजाति, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा एवं शार्दूलविक्रीडितका प्रयोग उल्लेखनीय है। आठ वर्णोंके प्रमाणिका छन्दका ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है, जिससे युद्ध संगीतके ताल और लयके साथ सैनिकोंके पैर भी उठने लगते हैं।

दूसरा चरित-काव्य धनेश्वरसूरि द्वारा विरचित 'सुरसुंन्दरीचरियम्' है। इसमें १६ परिच्छेद या सर्ग हैं और ४००१ गाथाएँ हैं। नायिकाके नाम पर ही काव्यका नामकरण किया गया है। नायिकाके चरितका विकास दिखलानेके लिए कविने मूल कथाके साथ प्रासंगिक कथाओंका गुम्फन भी किया हैं। परिस्थिति विशेषमें मानसिक स्थितियोंका चित्रण, वातावरण-की सुन्दर सृष्टि, चरित्रोंका मनोवैज्ञानिक विकास, राग-द्वेष रूपी वृत्तियोंके मूल संघर्ष एवं चरितके विभिन्न रूपोंका उद्घाटन इस काव्यमें किया गया है। प्रेम, विराग और पारस्परिक सहयोगकी त्रिवेणी भी पायी जाती है।

भिल्लोंकी क्रूरता, कनकप्रभकी वीरता, प्रियंगुमञ्जरीकी जाति स्मरण होने पर विह्वलता, सुरसुन्दरी और कमलावतीका विलाप एवं शत्रुञ्जय और नरवाहनका युद्ध प्रभृति कथानक इस काव्यकी कथावस्तुको सरस ही नहीं बनाते बल्कि उसमें गति एवं चमत्कार भी उत्पन्न करते हैं। अलंकार, छन्द और भाव-नियोजनकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल है। मनोरंजनार्थ सुरसुन्दरी और मकरकेतुके मध्य पहेली और समस्याएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। राग-प्रेमको दुःखका कारण बतलाते हुए कविने लिखा है—

तावच्चिय परमसुहं जाव न रागो मणम्मि उच्छरइ।
हंदि! सरागम्मि मणे दुक्खसहस्साइं पविसंति॥

शान्त रसका पूर्ण परिपाक हुआ है और काव्यकी भाषा पर अपभ्रंशका प्रभाव है। इस काव्यकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि इस ग्रन्थकी रचना 'चड्डावलि' (चन्द्रावलि) स्थानमें वि० सं० १०९५ (ई० सन् १०३८) भाद्रपद कृष्णा द्वितीया गुरुवारको धनिष्ठा नक्षत्रमें की[२] गयी है।

लक्ष्मण गणिने 'सुपासनाहचरियम्'[३] की रचना वि० सं० ११९९ में माघ शुक्ला दशमी गुरुवारके दिन की है। गुरुपरम्परामें बताया गया है कि जयसिंह सूरिके शिष्य अभयदेव सूरि और अभयदेव सूरिके शिष्य हेमचन्द्र सूरि हुए। इन हेमचन्द्रके विजयसिंह सूरि, श्रीचन्द्र सूरि और लक्ष्मणगणि आदि चार शिष्य हुए।

इस चरित-काव्यके नायक सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ हैं। लगभग आठ हजार गाथाओंमें ग्रन्थकी समाप्ति की गयी हैं। समस्त काव्य तीन भागोंमें विभक्त है—पूर्वभव प्रस्तावमें सुपार्श्वनाथके पूर्वभवोंका वर्णन और शेष दो प्रस्तावोंमें उनके वर्त्तमान जीवनका

---

१. सन् १९१३ ई० में जैन विविध साहित्य शास्त्रमालासे प्रकाशित।
२. सुरसुन्दरीचरियम् १६।२५०-२५१।
३. जैन विविध शास्त्रमाला वाराणसी, द्वारा प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णन आया है। इस चरित-काव्यमें प्रेम, आश्चर्य, राग-द्वेष एवं अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच नाना प्रकारके भावोंकी व्यञ्जना की गयी है। मूल कथाके नायकसे कहीं ज्यादा अवान्तर कथाके नायकोंका चरित्र विकसित है। अवान्तर कथाओं द्वारा धर्मतत्त्वका उपदेश दिया गया है। घटनाओंकी बहुलता रहनेसे वर्णनोंकी संख्या अत्यल्प है। भीमकुमारकी कथामें नर-मुण्डोंकी माला धारण किये हुए कापालिकका सजीव वर्णन आया है। कवि आत्मसाधनाके लिये सचेत करता हुआ कहता है—

जाव न जरकडपूयणि सव्वंगयं गसइ।
जाव न रोयभुयंगु उग्गु निद्दउ इसइ॥
ताव धम्मि मणु दिज्जउ किज्जउ अप्पहिउ।
अज्ज कि कल्लि पयाणउ जिउ निच्चप्पहिउ॥

अर्थात् जब-तक जरारूपी राक्षसी समस्त अंगोंको नहीं डँसती है, उग्र और निर्दय रोग रूपी सर्प नहीं डँसते हैं, उससे पहले ही धर्मसाधनामें चित्त लगाकर आत्महित करना चाहिये। यह शरीर तो आज या कल अवश्य ही छूट जायेगा। अतएव साधनामें लगना मानवका कर्त्तव्य होना चाहिये।

काव्य पर अपभ्रंशका प्रभाव है। संस्कृतकी शब्दावली भी अपनायी गयी है। वर्णनों की सजीवताने चरितोंको सरस बनाया है।

अभयदेव सूरिके शिष्य चन्द्रप्रभ महत्तरने वि० सं० ११२७ में 'सिरि विजयचंद-केवलिचरियं'[1] की रचना की है। इस चरित काव्यका उद्देश्य जिनपूजाका माहात्म्य प्रकट करना है। अष्ट द्रव्योंसे पूजा किये जानेका उल्लेख है। प्रत्येक द्रव्य द्वारा पृथक्-पृथक् पूजाका फल बतलानेके लिये कथानकोंका प्रणयन किया गया है। उत्थानिकामें रत्नपुरके राजा रिपुमर्दन और उनकी पत्नी अनंगरतिके पुत्र विजयचन्द्रका जीवन वृत्त दिया गया है। विजयचन्द्रने घोर तपश्चरणकर केवलज्ञान प्राप्त किया और केवली होकर यत्र-तत्र विहार किया। जब विजयचन्द्र केवली विहार करता हुआ कुसुमपुरमें आया, तो राजा हरिचन्द्रने अष्टप्रकार की पूजाका माहात्म्य पूछा। केवलीने इस माहात्म्यका वर्णन कथाओं सहित किया। इस प्रकार इस चरित काव्यमें मूल कथाके साथ अवान्तर कथाओंका स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्येक कथा अपनेमें पूर्ण है और हरेकका घटना चक्र किसी विशेष उद्देश्यको लेकर चलता है। जन्म-जन्मान्तरकी घटनाएँ उसी प्रमुख उद्देश्यके चारों ओर चक्कर लगाती रहती हैं। यों तो कविने भिन्न-भिन्न कार्य-व्यापारोंको एक ही सूत्रमें पिरोनेका प्रयास किया है; पर मुख्य कथासे अवान्तर कथाओंका सम्बन्ध संश्लिष्ट नहीं हो पाया है। प्रकृति वर्णन, शाब्दिक चमत्कार, कमनीयता और व्यापकताका भी समावेश किया है। समस्त काव्यमें १०६३ गाथाएँ हैं।

चन्द्रकुलके बृहद्गच्छिय उद्योतन सूरिके प्रशिष्य और आम्रदेव सूरिके शिष्य नेमिचन्द्र सूरिने वि० सं० ११४१ में 'महावीरचरियं'[2] की रचना की है। इस चरितकाव्यमें तीर्थङ्कर

---

१. श्री शुभंकरमुनि प्राप्ति स्थान केशवलाल प्रेमचंद्र कंसारा (खम्भात), वि० सं० २००७।

२. वि० सं० १९७३ में आत्मानन्दसभा भावनगर द्वारा प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महावीरके पूर्वभव और वर्त्तमान जीवनका चित्रण है। कविने कथावस्तुकी सजीवताके लिए वातावरणका मार्मिक चित्रण किया है। भौतिक और मानसिक दोनों ही प्रकारके वातावरणकी चारुता निर्मित की गयी है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही प्रकारके वातावरणोंसे राग-द्वेषकी अनुभूतियाँ किस प्रकार घटित होती हैं तथा मानवीय राग कैसे विस्तारको प्राप्त करता है, इसका लेखा-जोखा बहुत ही सटीक उपस्थित किया गया है। मारीच अपने अहंभाव द्वारा जीवनके आधारभूत विवेक और सम्यक्त्वकी उपेक्षा करता है फलतः उसे अनेक बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। श्रावकके जन्ममें परोपकार करनेसे वह जीवनोत्थानकी सामग्रीका संचय करता है, पर अहंकारके कारण शील और सद्भावना की उपेक्षा करनेसे वह अपने संसारकी सीमा बढ़ाता है। इस काव्यमें २३८५ पद्य हैं। भाषा सरल और प्रवाहमय है।

जगतचन्द्रसूरिके शिष्य देवेन्द्रचन्द्र सूरिने वि० सं० १२७० के आस-पास 'सुदंसणा-चरियं'[१] की रचना की है। इस चरित काव्यका नामकरण नायिकाके नाम पर हुआ है। नायिका अत्यन्त भविष्णु है और है प्रतिभाशालिनी। निमित्त पाकर सुदर्शना गृह त्यागकर संन्यास ग्रहण करती है। इस चरित काव्यमें तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिका भी चित्रण आया है। मूल कथा-वस्तुके साथ अवान्तर कथाओंका सुन्दर गुम्फन हुआ है। सुदर्शनाका चरित मन्दगतिसे विकसित होता हुआ आगे बढ़ा है। उसको प्रतिभाका विकास प्रारम्भ से दृष्टिगोचर होने लगता है। विद्या और कलाओंके अभ्याससे उसकी बुद्धि निर्मल हो जाती है। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर आत्म-साधना करती है। प्रत्युत्पन्न-मतित्व उसमें सर्वाधिक है। विशुद्ध दानके सम्बन्धमें अंकित की गयी वीरभद्रकी कथा और शीलके सम्बन्धमें कलावतीका उदाहरण उसके चरितके विकासकी वह दिशा है, जहाँ से उसे प्रेरणा और प्रकाश प्राप्त होता है। कविने सिंहल द्वीपकी कल्पना तथा सिंहल द्वीपकी राज-कुमारी सुदर्शनाकी कल्पना कर शिव और सौन्दर्य का मेल प्रदर्शित किया है। श्रेयांस कुमार की कथा, मरुदेवीके गर्भसे ऋषभदेवका अवतरण, नरसुन्दर राजाके शौर्य और पराक्रम सम्बन्धी वृत्तान्त किसी भी व्यक्तिके जीवनको आन्दोलित करनेकी पूर्ण क्षमता रखते हैं। संक्षेपमें कवि ने इस चरित काव्यको इतिवृत्त, संवाद, वस्तु व्यापार वर्णन एवं भावाभिव्यञ्जन इन चारों तत्त्वोंका समावेश कर रसमय बनाया है। इस काव्यमें चार हजार गाथाएँ हैं तथा आठ अधि-कार और १६ उद्देश्य हैं।

१६ वीं शतीमें अनन्तहंसने 'कुम्मापुत्तचरियं'[२] की रचना की है। इस चरितकाव्यमें राजा महेन्द्रसिंह और रानी कूर्माके पुत्र धर्मदेवके पूर्व जन्मों एवं वर्त्तमान जन्मकी कथावस्तु अंकित की गयी है। इस लघुकाय ग्रन्थमें १९८ पद्य हैं। कविने संयम और विशुद्धिभावनाकी अभिव्यञ्जना करते हुए बतलाया है कि गृहस्थावस्थामें रहते हुए भी आत्मसिद्धिकी क्षमता प्राप्त की जा सकती है। जो व्यक्ति दान, शील, तप और भावशुद्धिका अभ्यास करता हुआ अलिप्तभावसे निवास करता है, वह भरत चक्रवर्तीके समान शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता

---

१. सन् १९३२ में आत्मवल्लभ ग्रन्थ सिरीज वलाद (अहमदाबाद) से प्रकाशित।
२. के० वी० अभ्यंकर गुजरात कॉलेज, अहमदाबाद, सन् १९३३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। कवि वैभवके वर्णनमें अत्यन्त कुशल है। राजकुमार कूर्मापुत्र भद्रमुखी यक्षिणीके आवास पर पहुँचता है और उसके सौन्दर्यको देखकर मुग्ध हो जाता है। कविने लिखा है—

रयणमयखम्भपंती कंतीभरभरिअभितरपएसं।
मणिमयतोरणधोरणि तरुणपहाकिरणकब्बुरिअं ॥२५॥
मणिमयखंभअहिट्ठिअ पुत्तलिआकेलिखोभिअजणोहं।
बहुभत्तिचित्तचित्ति अगवक्खसंदोहकयसोहं ॥२६॥

यक्षिणीके आवास गृहोंके खम्भोंकी पंक्ति रत्नमयी थी और उनकी कांतिसे दीवालें प्रकाशित होती थीं। मणिमय तोरण लगे हुए थे तथा उनकी उज्ज्वल किरणोंकी प्रभा सर्वत्र व्याप्त थी। मणिमय खम्भोंके ऊपर शालभंजिकाएँ स्वर्ण और रत्नमय निर्मित थीं। दीवालोंके ऊपर नाना प्रकारके चित्र अंकित किये गये थे।

शैली और भाषा इन दोनों दृष्टिकोणसे यह रचना प्रौढ़ है। जहाँ-तहाँ अपभ्रंशका प्रभाव है। बीच-बीचमें संस्कृत पद्य भी आये हैं।

अन्य चरित काव्योंमें सोमप्रभसूरिका ९००० गाथा प्रमाण 'सुमतिनाहचरियं' वर्धमान सूरिके आदिनाह चरियं, और मनोरमाचरियं, देवेन्द्रसूरिका कण्हचरियं एवं जिनेश्वरसूरिका चंदप्पहचरियं (चन्द्रप्रभचरितम्) प्रसिद्ध और सरस चरितकाव्य है। चन्दप्पहचरियंमें ४० गाथाएँ और कण्हचरियं (कृष्णचरितं) में ११६३ गाथाएँ हैं। इन चरित काव्योंमें नायकोंके चरितका विकास दिखलाया है। काव्य तत्त्व भी प्रचुर रूपमें पाये जाते हैं।

हेमचन्द्राचार्यके गुरु देवेन्द्र सूरिने 'सन्तिनाहचरियं' नेमिचन्द्रके शिष्य शान्तिसूरिने मुनिचन्द्रके अनुरोधसे सन् ११०४ ई० में 'पोहपिचन्दचरियं', मलधारीहेमचन्द्रने 'नेमिनाहचरियं' और उनके शिष्य श्रीचन्द्रने सन् ११३५ ई० में 'मुणिसुव्वयसामिचरियं' एवं देवेन्द्रसूरिके शिष्य श्रीचन्द्रने सन् ११५४ ई० में 'सणंकुमारचरियं' की रचना की है।

सीताचरितको आधार मानकर आचार्य भुवनतुङ्गने 'सीयाचरियं' की रचना की है। इसी सीताचरितपर २०८ गाथाओंमें किसी अज्ञात कविका 'रामलक्खण सीयाचरियं' नामक-काव्य भी उपलब्ध है। इस प्रकार चरित काव्योंका विकास निरन्तर होता आया है।

प्राकृत चम्पू काव्य

प्राकृतभाषामें गद्य-पद्य मिश्रित शैलीमें अनेक चरित काव्य लिखे गये हैं। विधाकी दृष्टिसे इस प्रकारके चरित काव्योंका सम्बन्ध चम्पू काव्योंके साथ माना जा सकता है। प्राकृत-का सबसे पहला चम्पूकाव्य 'कुवलयमाला'[1] है। इसके रचयिता दाक्षिण्य चिन्ह उद्योतन सूरि हैं। ये आचार्य हरिभद्रसूरिके शिष्य थे। ग्रन्थकी रचना शक संवत् ७०० के लगभग हुई है। इस चम्पू काव्यमें धर्म, कथा, काव्य और दर्शनका एक साथ समन्वय हुआ है। काव्यकी नायिका कुवलयमाला है और नायक कुवलयचन्द। नायिकाके नाम पर ही काव्यका नामकरण हुआ है। इसमें प्रधान रूपसे क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन पाँचों विकारोंका परिणाम प्रदर्शित करनेके लिये अनेक अवान्तर कथाओंका गुम्फन किया गया है। पत्तेके भीतर पत्तेवाले कदलीस्तम्भके समान कथा जालका संगठन काव्य गुणोंसे युक्त है। कथानकका जितना विस्तार

१. डा. ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित एवं सिंघी सिरीज द्वारा प्रकाशित, वि० सं० २०१५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है उससे कहीं अधिक वर्णनोंका बाहुल्य है, पर कथावस्तुका विभाजन आश्वासोंमें नहीं किया गया है। कथात्मक संकेत आरम्भसे ही उपलब्ध होने लगते हैं। लूटमें कुमार महेन्द्रका प्राप्त होना, राजा दृढ़वर्माको पुत्र प्राप्तिका संकेत करता है। इस काव्यमें चम्पू काव्यके समान ही प्रौढ़ गद्य खण्डोंकी योजना की गयी है। यथा—

''इओ देव-समाएसेणं तहिं चेय दिवसे परिय-महा-करि-तुरय-रह-णर-सय सहस्सुच्छलंत-कलयलाराव-संघट्ट-घुट्ठमाण-णहयलं गुरुभरं दलंत-महियलं जणसय-संवाह-रुंभमाण-दिसावहं उद्दण्ड-पोंडरीय-संकुलं संपत्तं देवस्स संतियं बलं। जुज्झं च समाढत्तं। तओ देव, सर-सय-णिरंतरं खग्गग्ग-खणखणा-सद्द-बहिरिय-दिसिवहं-दलमाण-संणाह-च्छणच्छणा-संघट्टुट्ठेंत-जलण-जाला-कराल-भीसणं संप-लग्गं महाजुद्धं।''[1]

इस गद्य खण्डमें कविने सुषेण द्वारा मालवनरेन्द्रके साथ दृढ़वर्माकी सेना द्वारा किये गये युद्धका वर्णन किया है। कविने तलवारोंकी सरसराहट और खनखनाहटका अनुरणनात्मक ध्वनियों द्वारा सजीव चित्रण किया है। तलवारोंकी परस्पर टकराहटसे उत्पन्न होनेवाली अग्नि चिनगारियोंका जाज्वल्यमान रूप उपस्थित किया है। कवि रूप चित्रणमें अत्यन्त पटु है। रानी प्रियंगुश्यामाके अंग-प्रत्यंगका चित्रण करता हुआ कहता है—

वयण-मियंकोहामिय-कमलं कमल-सरिच्छसुपिंजर-थणयं।
थणय-भरेण सुणामिय-मज्झंमज्झ-सुरायसुपिहुलणियंबं॥
पिहुल-णियंब-समंथर-ऊरं ऊरभरेण सुसोहिय-गमणं।
गमण-विराविय-णेउर-कडयं णेउर-कडय-सुसोहिय-चलणं॥[2]

अलंकार योजना और रसभाव योजनाकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल है।

प्राकृतका दूसरा चम्पूकाव्य 'चउप्पन्नँ-महापुरिस-चरियं' है। इस ग्रन्थके रचयिता श्री शीलाङ्काचार्य हैं। ये निर्वृत कुलीन मानदेव सूरिके शिष्य थे। इनका समय ई० सन् ८६८ निर्धारित किया गया है। इसमें ५४ शलाका पुरुषोंका चरित निबद्ध है। इस चरित काव्यमें ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, शान्तिनाथ, मल्लिस्वामी और पार्श्वनाथके चरित पर्याप्त विस्तृत रूपमें अंकित हैं। सुमतिनाथ, सगरचक्रवर्ती, सनत्कुमार चक्रवर्ती, सुभौमचक्रवर्ती, अरिष्टनेमि, श्रीकृष्ण, बलदेव, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और वर्द्धमान स्वामीके चरितोंमें विविध प्रसंगोंके आख्यानों का मिश्रणकर रोचकता उत्पन्न की गयी है।

इस चरित काव्यका उद्देश्य शुभाशुभ कर्मबन्धके परिणामोंका दिग्दर्शन कराना है। इस उद्देश्यमें यह काव्य सफल है। कविने जन्म-जन्मान्तरके संस्कारों, निदान, विकार एवं संसार विषयक आसक्तियोंके विश्लेषणका पूर्ण प्रयास किया है। वरुण कथानक और मुनिचन्द्रके कथानकमें नारीके आकर्षणका चित्रण है। कथावस्तुके साथ संवादोंमें भी सजीवता है। प्रकृति चित्रणमें कविने अनेक सरस और रम्यरूपोंका उद्घाटन किया है।

---

१. कुवलयमाला, पृ० १०, अनुच्छेद २२।
२. कुवलयमाला, पृ० १४, अनु० ३५।
३. प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी द्वारा सन् १९६१ ई० में प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणपाल मुनि द्वारा 'जम्बूचरियं' की रचना की गयी है। इनकी एक अन्य कृति 'रिसिदत्ताचरियं' भी है। मुनि जिनविजयजी ने इस चरित-काव्यका रचनाकाल ११ वीं शताब्दीसे पूर्व माना है। इस काव्यकी कथावस्तु १६ उद्देश्योंमें विभक्त है। काव्यके नायक जम्बूस्वामी हैं। आरम्भके चार उद्देश्योंमें चरित-काव्यकी उत्थापना वर्णित है। अनन्तर जम्बू-स्वामीके प्रथम भव भवदेवका बड़ा ही रोमान्टिक वर्णन आया है। भवदेव नागिला पर इतना आसक्त है कि तपस्वी हो जाने पर भी अपनी उस नवोढ़ाका सर्वदा स्मरण करता रहता है। भवदेवका बड़ा भाई भवदत्त उसे अनेक प्रकारसे समझाता है। धर्ममें दृढ़ करता है, किन्तु भव-देवको एक भी उपदेश रुचता नहीं है। भवदत्तके स्वर्गारोहणके अनन्तर भवदेव अपने गाँवमें आता है और नागिला द्वारा उसे उपदेश मिलता है अतः नारी द्वारा प्रताड़ित हो भवदेव तपश्चरणमें संलग्न हो जाता है और स्वर्ग लाभ करता है। यही अपना विकास करता हुआ अन्तिम केवली जम्बूस्वामीके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। इस चम्पू काव्यमें संवाद भी बड़े सरस हैं। उपदेशों को वक्रोक्तियों द्वारा सरस वनानेका पूर्ण प्रयास किया गया है। यथा—

उवयारसहस्सेहिं वि, वंकं को तरइ उज्जुयं काउं।
सीसेण वि वुब्भंतो, हरेण वंको च्चिय मयंको ॥१५।३४॥

अर्थात् सहस्रों उपकार करने पर भी टेढ़े व्यक्तिको सीधा नहीं किया जा सकता है। शंकर चन्द्रमाको अपने सिरपर धारण करते हैं, पर वह टेढ़ेका टेढ़ा ही है, सीधा नहीं बन सका है।

नख-शिख चित्रणमें कविको पूर्ण सफलता मिली है। कनकवतीके अङ्ग-प्रत्यंग चित्रणमें कविका मन विशेष रमा है।

गद्य भी प्रौढ़ है। समस्यन्त पदावलीका व्यवहार सर्वत्र किया गया है। यथा—
"तत्थ वि सुरहिपइन्नकुसुमदामविलंबियपवराहिरामं, कप्पूररेणुकुंकुमकेसरलवंगकत्थरियसुरहि-गंधट्ठपूरपूरियं, विप्फुरमाणुब्भडपोमरायसमुज्जोइयओवरं नाणावयारचीणंसुयमहासमुल्लोय-कयपवरवित्थरं चलमाणमत्तमहुयरझंकारमुहलियमुहरवं पविट्ठो कुमारो वासहरं ति।"

'रयणचूडरायचरियं'की[3] रचना चन्द्रकुलके बृहद्गच्छिय उद्योतनसूरिके प्रशिष्य और आम्रदेवके शिष्य नेमचन्द्रसूरिने की है। आचार्य पद प्राप्त करनेके पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। इस काव्यका रचनाकाल वि० सं० ११२९ और ११४० के मध्य है। कविने वि० सं० ११४० में महावीर चरियंकी रचना की।

इस चम्पू काव्यकी कथा वस्तुको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—(१) रत्नचूड़का पूर्वभव, (२) जन्म, हाथीको वश करनेके लिये जाना, तिलकसुन्दरीके साथ विवाह और (३) रत्नचूड़का सपरिवार मेरुगमन और देशव्रत स्वीकृति। इस काव्यमें नायकके चरित्र-का पूर्ण विकास हुआ है। कथावस्तु अत्यन्त सरस है। तिलकसुन्दरीका वियोग और उसका प्रेम पत्र तथा प्रेम पत्रके उत्तरमें राजकुमारका प्रेम पत्र लिखना, इस काव्यके मर्मस्थल हैं।

---

१. सन् १९६९ में सिंधी जैनशास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई द्वारा प्रकाशित।
२. इसकी ताड़पत्री प्रति पूनामें सुरक्षित है।
३. पंन्यासमणिविजय गणिवर ग्रन्थमालामें सन् १९४२ में अहमदाबादसे प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नचूड़का प्रेमपत्र आधुनिक प्रेमपत्रसे नयी भावनाओंका विकास पूर्ण रूपसे पाया जाता है। वस्तु वर्णनोंमें नदी, वन, पर्वत, सरोवर, चैत्यालय, सन्ध्या, ऊषा, युद्ध, आश्रम आदिके काव्यात्मक वर्णन हुए हैं। मदनकेसरी और रत्नचूड़के युद्धका सजीव अंकन आया है। युद्ध भूमिका जीवन्त वर्णन किया गया है। अवान्तर कथाओंके वर्णनमें धनपालसेठकी भार्या ईश्वरीके स्वभावका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। कटुभाषिणी और कंजूस नारी अतिथियोंका कितना अपमान करती है और घरकी श्री को कितना फीका बना देती है, यह उक्त चरित्रसे स्पष्ट है। प्रेमी-प्रेमिकाओं, वीरों, योद्धाओं, तपस्वियों, भिक्षुओं, गृहपतियों एवं दरिद्रोंकी विभिन्न अवसरों पर उत्पन्न होनेवाली विभिन्न भाव-वृत्तियोंका सुन्दर चित्रण किया है। काव्यकी गद्य और पद्य शैली पर्याप्त प्रौढ़ है।

'सिरिपासनाहचरियं' के[1] रचयिता देवभद्र या गुणचन्द्र गणि हैं। सूरि पद प्राप्त करनेके पूर्व इनका नाम गुणचन्द्र था। इनके द्वारा रचित चार ग्रन्थ उपलब्ध हैं—(१) महावीरचरियं (२) पासनाहचरियं (३)आख्यानमणिकोस और (४) कहारयणकोस। इनका समय वि० सं० की १२वीं शताब्दी है। 'पासणाहचरियं' की कथावस्तु पाँच प्रस्तावोंमें विभक्त है। आरम्भके दो प्रस्तावोंमें पार्श्वनाथकी पूर्वभवावलि वर्णित है और शेष तीन प्रस्तावोंमें पार्श्वनाथके वर्त्तमान जीवनका वर्णन है।

इस चम्पू काव्यमें उत्कृष्ट भावों या मनोवृत्तियोंका सुन्दर चित्रण हुआ है। असाधारण वीर्य-विक्रम सम्पन्न नायकका पुरुषार्थ स्वाभाविक रूपमें विकसित होता गया है। मूल कथानकके चरितको विकसित करनेके लिये द्वीप जाति पुरुष कथानक, विजय धर्म, धन धर्म, नव-भव कथानक, कृष्ण गृहपति कथानक, अंग-वंग नृप कथानक, पाताल कन्या कथानक, सुदर्शना पूर्वभव कथानक, वसन्तसेना देविल कथानक, हस्तिपूर्वभव कथानक, ऐक्षत्र कथानक, ईश्वर नृप कथानक, जयमंगल कथानक आदि अनेक कथानकोंकी योजना की गयी है।

इस चम्पूकाव्यमें राग-द्वेष आदि भावोंका वर्णन पद्योंमें आया है और कथाका विकास गद्यके मध्यसे हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, दृष्टान्त, श्लेष, यथासंख्यप्रभृति अलंकारोंका सुन्दर प्रयोग किया है।

इसी कविका महावीरचरियं[2] चम्पूकाव्य भी उपलब्ध है। काव्यके नायक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं। यह काव्य आठ प्रस्तावोंमें विभक्त है। प्रारम्भके चार प्रस्तावों में भगवान् महावीर के पूर्व भवों का वर्णन है और शेष चार प्रस्तावोंमें उनके वर्तमान जीवनका चित्रण है। मूल कथाके विकासके लिये हरिवर्मा, सत्यश्रेष्ठ, सुरेन्द्रदत्त, वासवदत्ता, जिनपालित, रविपाल, कोरण्ट, कामदेव, सागरदेव, सागरदत्त-जिनदास और साधुरक्षितके आख्यानोंका सन्निवेश किया गया है। धर्म साधनाओंका वर्णन भी काव्यके परिप्रेक्ष्यमें किया गया है। अलंकृत वर्णनोंने इस काव्यको सरस बनाया है।

महसेन या महासेनने 'सियाचरियं' नामक चम्पूकाव्यकी रचना की है। ग्रन्थकर्त्ताके समयके सम्बन्धमें निश्चित जानकारी नहीं है, पर यह रचना वि० सं० की १२वीं शताब्दीकी

१. अहमदाबादसे सन् १९४४ में प्रकाशित।
२. सन् १९२९ में देवचन्द्र लालभाई ग्रंथमालासे प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होगी। इस चम्पूकाव्यकी भाषा सरल और सरस है। इसमें ३००० गाथाएं और कुछ पद्य भाग है। काव्यकी नायिका सीता है। कविने सीताके चरितको विस्तृत रूपमें अंकित करनेका प्रयास किया है। अलंकृत वर्णनोंका प्रायः अभाव है। सुभाषित और नीतिपरक पद्य अनेक आये हैं। कथा प्रवाहमें कविने त्रुटि नहीं आने दी है। विभीषणके द्वारा प्रश्न किये जाने पर सीता उत्तर देती है—

जणयस्स अहं तणया भगिणी भामंडलस्स गुणनिहिणो।
रामस्स पढमघरिणी अवहरियाणेण पावेण[1]॥

यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है और इसकी पाण्डुलिपि मेरे पास सुरक्षित है।

प्राकृत खण्डकाव्य या लघुकाव्य

प्राकृत भाषामें लिखे गये खण्डकाव्य अधिक प्राचीन नहीं हैं। रामपाणिवादने ई० सन् की १८वीं शताब्दीमें कंसवहो, उषानिरुद्धकी रचना की है। ये दोनों खण्ड काव्य प्रकाशित हैं। भृंग सन्देश नामक एक अन्य खण्डकाव्य भी उपलब्ध है। खण्डकाव्योंकी दृष्टिसे कतिपय चरित काव्योंको ही लिया जा सकता है। इन चरित काव्योंमें खण्डकाव्यके पर्याप्त गुण मिल जाते हैं। 'कुम्भापुत्तचरियं' और 'चन्दपहचरियं' की गणना खण्डकाव्यके अन्तर्गत सम्भव है।

प्राकृत मुक्तक काव्य

मुक्तक काव्य वह है, जिसके पद्य परतः निरपेक्ष रहते हुए पूर्ण अर्थकी अभिव्यक्तिमें समर्थ हैं। काव्यके लिये अपेक्षित चमत्कृति आदि विशेषताओंसे युक्त हों। अपनी काव्यगत विशेषताओंके कारण जो आनन्द देनेमें समर्थ हों, जिनका गुम्फन अत्यन्त रमणीय हो और जिनका परिशीलन ब्रह्मानन्द सहोदर रस चर्वणाके प्रभावसे हृदयकी मुक्तावस्थाको प्रदान करनेवाला हो। प्राकृत भाषामें मुक्तकोंका विकास छान्दसकी मुक्तक शैलीके आधार पर हुआ है और विकास आगम साहित्यकी प्रवचन पद्धतिके आधार पर सम्पन्न हुआ है। प्राकृतमें मुक्तकोंकी नवीन परम्पराका आरम्भ गाथा सप्तशतीसे होता है। इस मुक्तककी प्रौढ़ परंपरा इस बातकी ओर इंगित करती है कि प्राकृतमें इस काव्य ग्रन्थके पूर्व भी इस कोटिकी रचनाएँ अवश्य रही होगीं।

'गाथासप्तशती' प्राकृतका ही नहीं अपितु समस्त भारतीय भाषाओंका श्रेष्ठ मुक्तक काव्य है। ग्रामीण जीवन और सामाजिक जीवनके विभिन्न चित्र इस काव्यमें अंकित हुए हैं।

हालकी गाथा सप्तशतीके समान ही [2]वज्जालग्गं भी एक सुन्दर मुक्तक काव्य है। इसमें भी अनेक प्राकृत कवियोंकी सुभाषित गाथाएँ संगृहीत हैं। जयवल्लभ मुनिने इस ग्रन्थका संकलन किया है। इसमें ७९५ गाथाएँ हैं।

वज्जा शब्द देशी है। इसका अर्थ अधिकार या प्रस्ताव है। एक विषयसे सम्बन्धित गाथाएँ एक वज्जाके अन्तर्गत आती हैं। जिस प्रकार भर्तृहरिके नीति-शतकमें पद्धतियाँ हैं और एक पद्धतिमें एक विषयके पद्य संगृहीत हैं उसी प्रकार एक वज्जामें एक विषयसे सम्बद्ध गाथाएँ

---

१. सीयचरियं, पृ० ६७-६८।

२. प्रोफेसर जुलियस लेबर द्वारा सम्पादित होकर कलकत्तासे सन् १९४४ में 'रॉयल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल द्वारा प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकलित हैं। इस काव्य पर रत्नदेव गणिने सं० १३९३ में संस्कृत टीका लिखी है। इसका रचना काल चौथी शती माना जाता है। टीकाकार हेमचन्द्र और सन्देश रासकके लेखक अब्दुल रहमानकी गाथाएँ संकलित हैं। वज्जालग्गंमें जीवन के विभिन्न क्षेत्रोंकी गाथाएँ संकलित हैं। कविने जीवनको परिष्कृत करनेके लिए विभिन्न क्षेत्रोंसे गाथाओंका चयन किया है। ग्रन्थकी विषय सामग्री बहुमुखी है। दरिद्रताका चित्रण करता हुआ कवि कहता हैं—

दारिद्द्य तुज्झ नमो जस्स पसाएण एरिसी रिद्धी।
पेच्छामि सयललोए ते मह लोया न पेच्छंति ॥१३९॥

हे दरिद्रता ! तुझे नमस्कार करता हूँ क्योंकि तुम्हारी कृपासे मुझे ऐसी ऋद्धि प्राप्त हो गयी है कि मैं तो सब लोगोंको देख लेता हूँ लेकिन मुझे कोई नहीं देखता। कवि प्रोषितपतिका की हृदय व्यथाका चित्रण करता हुआ कहता :—

बंधवमरणे विहहा दुग्गयघरिणीए वि न तहा रूणं।
अप्पत्त बलिविलक्खे वल्लहकाए समुड्डीणे ॥

अर्थात्—प्रोषितपतिकाके घरकी छत पर कौवा आ बैठा पर उस गरीब के घर एक रोटीका टुकड़ा तक न था, जिसे शकुन बतलाने वाले उस कौवे को वह दे। वह बेचैनी या विह्वलताकी स्थितिके कारण इतना रोई, जितना वह बान्धवके मरने पर भी नहीं रोई थी।

इस प्रकार वज्जालग्गंमें जीवनके विभिन्न मार्मिक पक्षोंका उद्‌घाटन किया है।

ध्वन्यालोकमें आनन्दवर्धनने विषमबाणलीला नामक मुक्तक काव्यका निर्देश किया है। आचार्य हेमचन्द्रने काव्यानुशासनकी अलंकार चूड़ामणि (१--२४ पृ० ८१) में मदु मख विजय के साथ विषमबाण लीलाका भी उल्लेख किया है।

प्राकृतके रसेतर मुक्तक

प्राकृत कवियोंने आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक आदि विषयोंसे सम्बद्ध काव्य भी लिखे हैं। गम्भीर भावोंको सरल एवं जन-ग्राह्य बनानेके लिए प्राकृत कवियोंने अनेकान्त विचारधाराका प्रवर्तन किया है और जीवन-सत्योंको मधुमय काव्य वाणीमें उपस्थित कर ऐहिक मनोवासनाओंको दमित करनेका संकेत किया है। प्राकृतका पहला रसेतर मुक्तक वैराग्य शतक है। इस कृतिके लेखकका परिचय ज्ञात नहीं। इस काव्य पर गुणविनयने वि० सं० १६४७ में संस्कृत वृत्ति लिखी है। इस शतकका नामकरण भर्तृहरिके वैराग्य शतकके आधार पर किया गया है। शृंगार, नीति और वैराग्य ये तीन संज्ञाएँ प्रमुख भावनाओंके आधार पर ही घटित की गयी हैं। इस शतकमें १०५ गाथाएँ हैं और वैराग्य उत्पन्न करनेके हेतु शरीर, यौवन और धनकी अस्थिरताका चित्रण किया गया है—

रूवमसासयमेयं विज्जुलयाचंचलं जए जीयं।
संझाणुरागसरिसं खणरमणीयं च तारुण्णं ॥३६॥

शारीरिक सौन्दर्य रोगादिकके द्वारा विकृत होनेके कारण अनित्य है। जीवन विद्युल्लता के समान क्षण विध्वंसी है और यौवन संध्याकालकी अरुणिमाके समान क्षण पर्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है अतएव सावधान होकर संकल्प करना चाहिए। इस संसारके स्वभाव और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरितको देखकर कष्ट होता है क्योंकि जो स्नेह-सम्बन्धी पूर्वाह्णमें दिखलाई पड़ते थे वे ही सन्ध्याके समय दिखलाई नहीं पड़ते। अतः संसारकी क्षणभंगुरताको जानकर आत्मोत्थानके कार्योंमें विलम्ब नहीं करना चाहिए। कवि कहता है :—

विहवो सज्जणसंगो, विसयसुहाइं विलासललियाइं।
नलिणीदलऽग्गघोलिर - जललवपरिचंचलं सव्वं ॥१४॥

वैभव, सज्जन संगति, विषय, सुख और सुन्दर विलास सामग्री, कमल पत्ते पर संलग्न जलबिन्दुके समान क्षणस्थायी है। वायुके चलते ही जिस प्रकार कमल-पत्रके जल कण नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार धन-वैभव माता-पिता आदि स्वजनोंका साथ भी बिछुड़ जाता है। इस प्रकार कविने वैराग्यको पुष्ट करनेके लिए नीति और विरक्ति सम्बन्धी भावनाओंका उद्घाटन किया है।

लक्ष्मीलाभ-गणिने वैराग्य रसायन-प्रकरणकी रचना की है। इसमें १०२ गाथाएँ हैं। कषाय और विकारोंको दूर करनेके लिए उपदेश दिया गया है। कविने बताया है कि वैराग्य उसी व्यक्तिको प्राप्त होता है जो भवभीरु हैं। भवभीरुताके अभावमें वैराग्यके वचन भी विष के समान प्रतीत होते हैं। जिस साधकको अपनी आत्माका उद्धार करना अभीष्ट है, वह संसारसे अनासक्त रहता है। कवि रूपक अलंकारकी योजना करता हुआ कहता है कि मानव शरीर रूपी कमल के रसका पान मृत्यु रूपी भ्रमर नित्य करता रहता है। अतः जिस प्रज्वलित क्रोधाग्निमें शरीर रूपी तृणकुटीर जल रहा है उसकी शान्ति संवेग रूप शीतल क्षमा जलसे करनी चाहिए। शरीर रूपी गहन वनमें उत्पन्न मानरूपी उन्मत्त गजेन्द्रको मृदुभाव रूपी अंकुशके द्वारा वशमें करना चाहिए। अत्यन्त कुटिल और आत्म पुरुषार्थको विषाक्त बनाने वाली माया सर्पिणीको आर्जव रूपी महासर्पसे वश करना एवं जीवननृपतिके देह-श्री रूपी घरसे गुण-समूहको चुराने वाले भयंकर तृष्णा चोरको वश करना चाहिए[1]। कवि वैराग्यको पद्म सरोवरका रूपक देकर कहता है कि इसमें आगम रूपी जल भरा हैं, करुणा रूपी कमल कर्णिका है और इस सरोवरमें क्रीड़ा करने वाले १२ भावना रूपी हंस हैं। इस वैराग्य सरोवरमें साधकको स्नान कर अपनेको पवित्र बनाना चाहिए—

करुणाकमलाइन्ने आगम उज्जलजलेण पडिपुन्ने।
बारस भावणहंसे, झीलह वेरग्गपउमदहे ॥२०॥

इस प्रकार कविने सुभाषित पद्यों द्वारा वैराग्यका प्रतिपादन किया है। आचार्य पद्मनन्दिने धम्म रसायण नामक काव्य-ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थमें १९३ गाथाएँ हैं। इनमें संसार, शरीर और भोगोंसे विरक्त होनेके साथ आचार और नैतिक विषयोंको चर्चित किया गया है। इस काव्यमें काव्य-तत्त्वकी अपेक्षा धर्म-तत्त्व अधिक मुखरित है। कविने धर्मकी ग्राह्यताको महत्त्व देते हुए लिखा है—

धम्मो तिलोयबंधू धम्मो सरणं हवे तिहुयणस्स।
धम्मेण पूयणीओ होइ णरो सव्वलोयस्स ॥३॥

---

१. वैराग्य रसायन गाथा १—१५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धम्मेण कुलं विउलं धम्मेण दिव्वरूवमारोग्गं।
धम्मेण जए कित्ती धम्मेण होइ सोहग्गं ॥४॥
परभवणजाणवाहणसयणासणयाणभोयणाणं च।
परजुवइवत्थुभूसणसंपत्ती होइ धम्मेण ॥५॥

इस प्रकार समस्त काव्यमें धर्मनीति और आचारका चित्रण आया है।

रसेतर मुक्तकोंमें धार्मिक स्तोत्रोंकी भी गणना की गयी है। कवियोंने तीर्थंकरों, मुनियों, गुरुओं और वाङ्मयकी भक्तिमें स्तोत्रोंकी रचना की है। इन स्तोत्रोंमें आराध्योंकी गुणावलीके साथ दार्शनिक विचारोंकी महत्ता भी प्रदर्शित की गयी है। भक्तिविभोर होकर आत्म समर्पणकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

शोभन कविके भाई धनपाल द्वारा ५० पद्योंमें ऋषभ पञ्चाशिकाकी रचना की गयी है। कविका समय लगभग १० वीं शताब्दी है। इस स्तोत्रके प्रारम्भमें ऋषभदेवकी जीवन-घटनाओं पर प्रकाश डाला गया है। आत्मसमर्पणकी प्रवृत्ति आद्योपान्त व्याप्त है। कवि ने लिखा है—

तुह रूवं पेच्छन्ता न हुंन्ति जे नाह हरिसपडिहत्था।
समणावि गयमणच्चिअ ते केवलिणो जइ न हुन्ति ॥२१॥

× × ×

दोसरहिअस्स तुह जिणनिन्दावसरम्मि भगवपसराए।
वायाइ वयणकुसला वि बालिसा हुन्ति मच्छरिणो ॥२३॥

हे प्रभो ! आप जैसे वीतरागीकी निन्दा वचन-प्रवीण चतुर व्यक्ति भी करे तो वह भी मूर्ख बन जाता है। आपके श्रेष्ठ वीतरागी गुण सभी सरागियोंको वीतरागी बनानेका सामर्थ्य रखते हैं।

प्रभो, आपके वचन कर्ण-कुहरोंमें प्रविष्ट होकर मिथ्यात्व विषय और कषायका नाश मन्त्रकी शक्तिके समान कर देते हैं। जिस प्रकार कोई साधक मन्त्रका जापकर अपनी कामनाओंकी पूर्त्ति करता है, उसी प्रकार आपका वचन समस्त दोषोंका विनाशकर मोक्ष प्राप्तिमें सहायक होता है।

भद्रबाहुने २० गाथाओंमें उवसग्गहर स्तोत्रकी रचना की है। यह स्तोत्र इतना लोकप्रिय रहा है जिससे इसकी समस्या पूर्त्तिकर तेजसागरने पृथक् पार्श्वनाथ स्तोत्रकी रचना की है। इस स्तोत्रके सम्बन्धमें यह प्रसिद्धि है कि जो व्यक्ति इसका पाठ करता है उसके समस्त दुख दोष नष्ट हो जाते हैं और सभी सुखोंको प्राप्त होता है। फल प्राप्त करने वाले प्रियङ्कर नृपकी कथा भी प्रचलित है। इस स्तोत्रपर वृहद् और लघु वृत्तियाँ भी उपलब्ध हैं। स्तोत्रमें पार्श्वनाथकी स्तुति अंकित है।

नन्दिषेण द्वारा रचित 'अजिय संतिथय' स्तोत्र प्रसिद्ध है। इसमें अजितनाथ तीर्थंकर और शान्तिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति की गयी है। इस स्तोत्रकी रचना कविने शत्रुञ्जय पर्वत की तीर्थयात्रा करते समय की थी। नन्दिषेणका समय ९ वीं शताब्दी है।

देवेन्द्रसूरिने प्राकृतभाषामें आदिनाथ और शाश्वत चैत्यालय स्तोत्रोंकी रचना की है। ये जगतचन्द्रसूरिके शिष्य थे। इनका समय १३ वीं शताब्दी माना जाता है। प्रस्तुत स्तोत्रमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२४ गाथाएँ हैं। आरम्भमें ऋषभदेव, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण नामक शाश्वत चार जिनेन्द्रोंको नमस्कार कर त्रिकालवर्ती अकृत्रिम जिन चैत्यालयोंकी संख्याका वर्णन किया गया है।

धर्मघोषसूरिने भवस्तोत्रणिकी रचना की है। आदिनाथके १३ भवोंका वर्णन आदिनाथ-भवस्तोत्रमें, चन्द्रप्रभके सात भवोंका वर्णन चन्द्रप्रभभवस्तोत्रमें, शान्तिनाथके १२ भवोंका वर्णन शान्तिनाथभव स्तोत्रमें, मुनिसुव्रतके ९ भवोंका वर्णन मुनिसुव्रतनाथभव स्तोत्रमें, नेमिनाथके ९ भवोंका वर्णन नेमिनाथ भवस्तोत्रमें, पार्श्वनाथके १० भवोंका वर्णन पार्श्वनाथ भव-स्तोत्रमें और महावीर स्वामीके २७ भवोंका वर्णन वीरभव स्तोत्रमें किया है। ये आचार्य तपागच्छीय थे। इनका समय विक्रमकी १४ वीं शती है।

प्राकृतका प्राचीन स्तोत्र 'निर्वाण काण्ड' है। इसमें २४ तीर्थंकर एवं अन्य ऋषि-मुनियों के निर्वाण स्थानोंका निर्देश किया गया है। निर्वाण काण्डमें कुल २१ गाथाएँ हैं। आरम्भमें लिखा है—

अट्ठावयम्मि उसहो चंपाए वसुपुज्ज-जिणणाहो।
उज्जंते णेमि जिणो पावाए णिव्वुद्धो महावीरो ॥१॥
वीसं तु जिण-वरिंदा अमरासुर-वंदिदा धुद-किलेसा।
सम्मेदे गिरि-सिहरे णिव्वाय-गया णमो तेसिं ॥२॥

नवाङ्गवृत्तिके रचयिता अभयदेवसूरिके शिष्य जिनवल्लभसूरिने 'लध्वजित-शान्तिस्तव-नम्'की रचना की है। यह स्तोत्रकाव्य कलाकी दृष्टिसे अच्छा है। पद्य मनोहर हैं। कविने सरस शैलीमें अपने आराध्योंका महत्त्व प्रकट किया है। स्तोत्रका रचनाकाल १२ वीं शताब्दी है। कविने बताया है कि भगवान्की भक्ति देवाङ्गनाएँ भी करती हैं। उनके द्वारा वन्दनीय प्रभु चरण समस्त प्राणियोंके लिए शरणप्रद होते हैं। कवि कहता है—

छणससिवयणाहिं फुल्लनीलुप्पलाहिं,
थणभरनमिरीहिं मुट्ठिगिज्झोदरीहिं।
ललियभुयलयाहिं पीणसोणित्थलीहिं,
सय सुररमणीहिं वंदिया जेसि पाया ॥१४॥

जिसके चरण कमलके समान, मुख पूर्णचन्द्रके समान, और नेत्र विकसित नीलकमलके समान हैं ऐसी कोई कुचभारसे नत कृशोदरी सुन्दर भुज लतावाली, मुष्टिग्राह्यकटि वाली देवाङ्गनाके द्वारा पूज्य भगवान् मेरे ऊपर कृपा करें। कविने इस स्तोत्रमें समस्त रोगोंका उपाय भगवद्भक्तिको माना है। अन्तमें नयवादकी व्यवस्था करते हुए बताया है कि—नित्य-अनित्य, सत्य-असत्य, अभिलाप्य-अनभिलाप्य, एक-अनेक, कुनय-विपरीत एवं सुप्रसिद्ध सप्तनय ग्राह्य वस्तुका विवेचन जिन्होंने किया है, उन अजित और शान्तिको स्तुति करता हूँ।

योगेन्द्रदेवने निजात्माष्टककी रचना की है। इनका समय डा० ए० एन० उपाध्येने छठी शताब्दी माना है। प्रस्तुत स्तोत्र में आठ स्रग्धरा पद्य हैं। कविने निजात्माकी स्तुति की है और प्रत्येक पद्यके अन्तमें 'सोहं झायेमि णिच्चं परमपयगओ णिव्वियप्पो णियप्पो' चरणको समाहित किया है। कविने आरम्भमें ही बताया है कि अरहन्त, सिद्ध, गणधर, आचार्य,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपाध्याय और साधुओं ने शुद्ध परमात्म स्वरूप निजात्माका अनुसरणकर मोक्षको प्राप्त किया है। क्योंकि परमपदको प्राप्त निर्विकल्प निजात्मा मैं हूँ। इस ध्यानसे निर्वाणपदकी प्राप्ति सदा सम्भव है। स्तोत्रकी भाषा प्रौढ़ और प्रवाहगुणयुक्त है।

अरहतस्तवनम्के रचयिता समन्तभद्र माने गये हैं। पर निश्चित प्रमाणोंके अभावमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसके रचयिता कौनसे समन्तभद्र हैं। स्तोत्रकी भाषा ७ वीं ८ वीं शताब्दी की है, अतएव इसका रचनाकाल यही होना चाहिये। इस स्तोत्रमें रूपक और उपमालंकारकी योजना सुन्दर रूपमें की गयी है। कविने बताया है "जिन्होंने मोहरूपी वृक्षको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञान रूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो गये हैं, जिन्होंने अपने विघ्नोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित हैं, अचल हैं, कामदेवके प्रतापको नष्ट करने वाले हैं और जिन्होंने तीनों कालोंको विषय करने रूप तीन नेत्रोंसे सकल पदार्थोंके सार को देख लिया है, ऐसे अरहन्तको नमस्कार करना चाहिये। कविने लिखा है—

दलिय-मयण-प्पयावा तिकालविसएहि तीहि णयणेहि।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारा सदद्ध-तिउरा मुणि-व्वइणो॥
तिरयण-तिसूलधारिय मोहंधासुर-कबंध विंद-हरा।
सिद्ध-सयलप्प-रूवा अरहंता दुण्णय-कयंता॥

प्राकृत नाटक और सट्टक

संस्कृत साहित्यमें जितने नाटक लिखे गये हैं, उन सबमें कमसे कम तृतीयांश प्राकृत का है। सरस और मर्मस्पर्शी अंश तो प्राकृतमें ही लिखे गये हैं। सट्टकोंकी रचना तो प्राकृतमें ही होती है। राजशेखरका कर्पूरमञ्जरी, रुद्रदासका चन्दलेहा, घनश्याम कविका आनन्द सुन्दरी एवं नयचन्दका रम्भामञ्जरी प्रसिद्ध सट्टक हैं। नयचन्द्रके गुरुका नाम प्रसन्नचन्द्र था। ये छह भाषाओंमें काव्य रचनेका सामर्थ्य रखते थे। कविका समय १४ वीं शताब्दीका पूर्वार्द्ध है।

रम्भामञ्जरी सट्टकमें तीन यवनिकाएँ हैं। इसमें वाराणसीके राजा जैत्रचन्द्र और लाट नरेश देवराजकी पुत्री रम्भाके प्रणय व्यापारका वर्णन है। जैत्रचन्दकी ७ स्त्रियाँ थीं और वह अपना आठवाँ विवाह रम्भासे करना चाहता था। प्रधान महिषी वसन्तसेना इसमें विघ्न बनती है और अन्तमें राजाका विवाह रम्भामञ्जरी से होता है।

यह सट्टक अधूरा प्रतीत होता है। इसमें चार यवनिकाओंके स्थानपर तीन ही यवनिकाएँ पायी जाती हैं। कविने इसे कर्पूरमञ्जरीसे श्रेष्ठ बनाने की प्रतिज्ञा की है, पर यह कर्पूरमञ्जरीसे अच्छा बन नहीं सका है। इस सट्टकका उद्देश्य क्या है, यह अन्त तक स्पष्ट नहीं हो पाता है। नायकका चरित्र भी उदात्त नहीं है। वह सात पत्नियोंके रहनेपर भी रम्भाके साथ विवाह करता है और वह भी उस स्थितिमें जब कि रम्भाका विवाह अन्य किसी व्यक्तिके साथ हो चुका है। रम्भाका अपहरण करा लेना और उसके साथ विवाह कर लेना अभिजात्य संस्कार नहीं है। काव्यकी दृष्टिसे यह सट्टक बहुत ही सफल है। प्रकृति चित्रणका अलंकृत वर्णन सर्वत्र पाया जाता है।

कवि विश्वेश्वरका श्रृङ्गार मञ्जरी सट्टक भी रोचक है। मारकण्डेय कविका विलासवती नामक सट्टक भी रोचक है। इसकी रचना १७ वीं शताब्दीमें हुई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृत कथा काव्य

प्राकृतभाषामें कथाकाव्योंका प्रणयन प्राचीन कालसे ही होता आ रहा है। उपमान, रूपक और प्रतीकोंकी त्रयीसे इस काव्यविधाका जन्म हुआ है। आरम्भमें सिद्धान्त और तत्त्वों-को उक्त तीनोंके माध्यमसे व्यक्त किया जाता था। आचार्य और मुनि अपने सिद्धान्तोंको तर्क द्वारा तो उपस्थित करते ही थे, साथ ही उदाहरण या रूपक उपस्थित कर उसका स्वारस्य भी प्रतिपादित करते थे। आगम ग्रन्थोंके साथ टीकाग्रंथोंमें भी कथाओंकी लम्बी परम्परा उप-लब्ध होती है। प्राकृत कथाएँ केवल कथा मात्र नहीं हैं। इनमें वस्तु व्यापार वर्णन, संवाद और भावाभिव्यञ्जन भी अलंकृत रूपमें पाये जाते हैं। स्वतन्त्र रूपसे लिखे गये कथा-काव्योंमें सबसे पहला कथा-काव्य 'तरंगवती' है। आज यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, पर यत्र-तत्र उसके उल्लेख अथवा 'तरंगरोला' नामका संक्षिप्त सार पाया जाता है। नेमिचन्द्रने 'तरंगरोला'में बताया है कि पादलिप्तने 'तरंगवती'की रचना देशी भाषामें की थी। पादलिप्तका समय वि० संवत् १५१—२१९ के मध्य है। ये सातवाहन वंशी राजा हालके सभाकवि थे।

'तरंगवती' में कथा तन्त्रके साथ करुण, शृंगार, वीभत्स, वीर और शान्त रसोंकी धारा प्रवाहित है। इसमें प्रेमकी विविध परिस्थितियों, चरितकी ऊँची-नीची अवस्थाओं एवं बाह्य और अन्तःसंघर्षोंका, द्वंद्वोंका बहुत स्वाभाविक और विशद चित्रण हुआ है। समस्त कथा उत्तम पुरुषमें वर्णित है। इसमें समस्त घटनाएँ एक ही केन्द्रके साथ सम्बद्ध हैं। देश, काल और वातावरणका चित्रण भी प्रभावान्वितिसे पूर्ण हैं। अलंकारोंमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अर्थान्तरन्यासोंके साथ अनुप्रास और यमक छटा अनेक स्थानों पर मिलती है।

'वसुदेवहिण्डी'[1] भारतीय कथा साहित्यका अमूल्य रत्न है। जिस प्रकार गुणाढचने पैशाचीभाषामें नरवाहनदत्तकी कथा लिखी है, उसी प्रकार संघदास गणिने प्राकृत भाषामें वसुदेवके भ्रमण वृत्तान्तको लिखकर 'वसुदेवहिण्डी' की रचना की है। इस कथाग्रन्थमें दो खंड हैं—प्रथम और द्वितीय। प्रथम खण्डमें २९ लम्बक और द्वितीयमें ७१ लम्बक हैं। प्रथम खण्डके रचयिता संघदास गणि और द्वितीय खंडके रचयिता धर्मदास गणि हैं। इस ग्रन्थका रचना काल सम्भवतः चौथी शती है। 'वसुदेवहिण्डी' में कथोत्पत्ति प्रकरणके अन्तर्गत ५० पृष्ठों का धम्मिलहिण्डी नामका एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण उपलब्ध है। इस धम्मिलहिण्डी प्रकरणमें धम्मिल नामक किसी सार्थवाह पुरुषकी कथा वर्णित है। जिसने देश-देशान्तरोंमें भ्रमण कर २३ विवाह किये थे। मूल ग्रन्थमें यह 'धम्मिलचरित' कहा गया है।

वसुदेवहिण्डीमें धम्मिलहिण्डीके अतिरिक्त छह विभाग हैं—(१) कथोत्पत्ति, (२) पीठिका, (३) मुख, (४) प्रतिमुख, (५) शरीर और (६) उपसंहार। कथोत्पत्ति, पीठिका और मुखमें कथाका प्रस्ताव हुआ है। प्रतिमुख अधिकारमें पूर्वभवोंका विवेचन है। शरीरमें विवाह और भ्रमणसम्बन्धी वृत्तान्त हैं। उपसंहारमें कथा तत्त्व और प्रतीकोंका विश्लेषण किया गया है। यह ग्रंथ आकर ग्रंथ है और उत्तरवर्त्ती अनेक काव्योंका उपजीव्य है।

प्राकृतका सबसे महत्त्वपूर्ण कथा काव्य 'समराइच्चकहा' है। इस ग्रन्थका प्राकृतमें

---

१. मुनि चतुर्विजय और पुण्यविजय द्वारा सम्पादित, आत्मानन्द सभा, भावनगर द्वारा प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वही महत्त्व है, जो संस्कृतमें बाणकी कादम्बरीका। अन्तर इतना ही है कादम्बरी प्रेमकथा है और यह धर्मकथा है। विलास, वैभव, प्रकृति एवं वस्तुओंके भव्य चित्रण दोनों ग्रन्थोंमें प्रायः समान हैं।

इस ग्रंथके रचयिता विद्याधर गच्छके आचार्य हरिभद्रसूरि हैं। इनका समय मुनि जिनविजयजीने ई० सन् ७००–७७० माना है। पर कुछ अन्य विद्वान् ई० सन् ८००–८३० के मध्य मानते हैं।

'समराइच्चकहा'में[1] नौ भव या परिच्छेद हैं। प्रत्येक भवकी कथा किसी विशेष स्थान, काल और क्रियाकी भूमिकामें अपना पट परिवर्तन करती है। जिस प्रकार नाटकमें पर्दा गिर कर या उठकर सम्पूर्ण वातावरणको बदल देता है, उसी प्रकार इस कथाकृतिमें एक जन्मकी कथा अगले भवकी कथाके आने पर अपने वातावरण, काल और स्थानको परिवर्तित कर देती है। यों तो प्रत्येक भवकी कथा स्वतन्त्र है। अपनेमें उसकी प्रभावान्विति नुकीली है, पर है नौ भवोंकी कथा एक ही। समरादित्य इस कथाका नायक है और प्रतिनायक अग्निशर्मा। अग्निशर्माने निदान बाँधा था कि गुणसेनसे अगले भवमें बदला चुकाऊँगा। कथाकाव्यके लेखकने नायक गुणसेन—समरादित्यके चरितके गुणात्मक गुणवृद्धिके रूपमें और अग्निशर्माका व्यक्तित्व भावात्मक या भागात्मक भागवृद्धिके रूपमें गतिमान और संघर्षशील है। इन दोनों व्यक्तियोंने कथानककी रूप रचनामें ऐसी अनेक मोड़ें उत्पन्न की हैं जिनसे कार्य व्यापारकी एकता और परिपूर्णता सिद्ध होती है। रूप विधानकी दृष्टिसे इस कथाकाव्यको बीजधर्मा कहा जा सकता है। प्रतिशोधके लिये किया गया निदान रूप छोटा सा बीज, विशाल वट वृक्ष बन जाता है और नौ जन्मों तक यह प्रतिशोधकी भावना चलती रहती है।

इस कथा कृतिमें वर्णन विविधता, प्रणयोन्माद, प्रकृतिके रमणीय चित्र, तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाज, विशिष्ट दार्शनिक मत, त्याग और संयमके उज्ज्वल रूप वर्तमान हैं। अलंकारोंका समुचित प्रयोग कर लेखकने अपूर्व रमणीयताका संचार किया है। लम्बे-लम्बे समास, गिरि नदीके उद्दाम प्रवाहके समान हैं। अनेक स्थानों पर श्लिष्ट उपमाएँ इन्द्र-धनुषकी आभा उत्पन्न कर रही हैं। गद्यके साथ पद्यका प्रयोग भी पाया जाता है। पर यह सिद्धान्ततः चम्पू काव्य नहीं है, कथा काव्य ही है। अतः चम्पू काव्यके अन्तरंग लक्षण इसमें घटित नहीं होते हैं।

हरिभद्रसूरिका दूसरा ग्रंथ 'धुत्तोख्यान'[2] है। इस ग्रन्थमें आक्रमणात्मक शैलीको न अपनाकर व्यंग्य और सुझावोंके माध्यमसे असम्भव और मनगढ़न्त वातोंका त्याग करनेकी ओर संकेत किया है। कथानक बहुत सरल है और शैलीमें अद्भुत आकर्षण है। नारीकी विजय दिखलाकर मध्यकालीन गिरे हुए नारी समाजको उठानेकी चेष्टा की है। इस कथा कृतिमें कथानकका विकास कथोपकथनों और वर्णनोंके बीचसे होता है। भारतीय कथा साहित्य-

---

१. डा० हर्मन जैकोवी द्वारा सम्पादित और बंगाल एसियाटिक सोसाइटी कलकत्ता द्वारा सन् १९२६ में प्रकाशित।

२. डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित ओर सिंघी जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९४६ में प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का लाक्षणिक शैलीमें लिखा गया यह अद्भुत ग्रन्थ है। मूलदेव, कण्डरीक, एलाषाढ़, शष और खण्डपाना ये पाँच धूर्त नेता अपने कल्पित आख्यानों द्वारा पौराणिक असम्भव बातोंका भण्डाफोड़ करते हैं। इस प्रकार अन्यापदेशिक शैलीमें लिखी गयी यह कृति सृष्टि, उत्पत्ति-वाद, प्रलयवाद, त्रिदेव स्वरूप, अन्धविश्वास, जातिवाद आदि विषयों पर प्रकाश डालते हैं।

'निर्वाणलीलावती' कथाको जिनेश्वरसूरिने वि० सं० १०८२–१०९५ के मध्य लिखा है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्योंमें लिखा गया है। मूलप्रति अभी तक अनुपलब्ध है, पर इसका सार रूप संस्कृत भाषामें जिनरत्नसूरिका प्राप्य है। क्रोध, मान आदि विकारोंके साथ हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह आदि पापोंके फलका कथन किया है। इस कथा ग्रन्थकी शैली और कथातन्त्रमें कोई नवीनता नहीं है। पूर्वाचारियोंके कथा जालका अनुकरण किया है। घटनाएँ सीधी सरल रेखामें चलती हैं। उनमें घुमाव या उस प्रकारके चमत्कारका अभाव है जो पाठकके मर्मका स्पर्श कर उसे कुछ क्षणोंके लिये सोचनेका अवसर देता है।

'संवेगरंगशाला' नामक कथा ग्रन्थके रचयिता जिनेश्वरसूरिके शिष्य जिनचन्द्र हैं। इन्होंने अपने लघु गुरुबन्धु अभयदेवकी अभ्यर्थनासे इस ग्रन्थकी रचना वि० सं० ११२५ की है।

संवेगभावका निरूपण करनेके लिये कृतिमें अनेक कथाओंका गुम्फन हुआ है। मुख्य रूपसे गौतम स्वामी, महासेन राजऋषिकी कथा कहते हैं। राजा संसारका त्यागकर मुनि दीक्षा धारण करना चाहता है। इस अवसर पर राजा और रानीके बीच संवाद होता है। रानी अपने तर्कों द्वारा राजाको घरमें ही बाँधकर रखना चाहती है। वह तपश्चरण, उपसर्ग और परिषह का आतंक दिखलाती है, पर राजा महासेन संसार बन्धनको छोड़ दीक्षा धारण कर लेता है। इस कृतिमें अलंकृत वर्णनोंका अभाव है। पर चरित्र-चित्रणकी दृष्टिसे यह कृति सफल है।

'नाणपञ्चमीकहा' के रचयिता महेश्वर सूरि हैं। इनका समय वि० सं० की १२ वीं शताब्दी है। इस कथामें श्रुतपञ्चमी व्रतका माहात्म्य बतलानेके लिये दश कथाएँ संकलित हैं। कथाकारका विश्वास है कि इस व्रतके प्रभावसे सभी प्रकारकी शुभ सामग्रियाँ प्राप्त होती हैं।

इसमें जयसेणकहा, नंदकहा, भद्दा-कहा, वीर-कहा, कमला-कहा, गुणाणुरागकहा, विमलकहा, धरणकहा, देवी-कहा एवं भविस्सयत्तकहा ये दश कथाएँ निबद्ध की गयी हैं। समस्त कृतिमें २८०४ गाथाएँ हैं। उक्त दशकथाओंमेंसे 'भविस्सयत्तकहा' की संक्षिप्त कथावस्तु देकर इस कृतिके कथास्वरूपको उपस्थित किया जाता है।

इस कथाकृतिमें उपलब्ध होनेवाली कथाओंमें अलौकिक सत्ताओं एवं शक्तियोंका महत्त्व पाया जाता है। महेन्द्रसूरिने वि० सं० ११८७ में गद्य-पद्य मय [१]'नम्मयासुन्दरीकहा' लिखी है। इसमें १११७ पद्य हैं और कुल ग्रन्थका प्रमाण १७५० श्लोक है। इसमें महासती नर्मदा-सुन्दरीके सतीत्वका निरूपण किया गया है। कथामें कथानकका उतार-चढ़ाव पूर्णतया पाया जाता है। नायिकाके शीलव्रतकी परीक्षाके अनेक अवसर आते हैं, पर वह अपने व्रतमें अटल है। महेश्वरदत्त कापुरुष और शंकाशील व्यक्ति है। उसे अकारण ही अपनी पत्नीके आचरण

---

१. निर्णयसागर प्रेस बम्बई द्वारा सन् १९२४ में प्रकाशित।

२. सिंघी ग्रन्थमालासे ग्रन्थांक ४८ में प्रकाशित।

२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर शंका उत्पन्न होती है। कविने कथावस्तुके गठन और चरित्र-चित्रण इन दोनोंमें अपनी पूर्ण कुशलता प्रदर्शित की है। वार्तालाप बड़े ही सजीव हैं। काव्य तत्त्वोंका समावेश भी सर्वत्र हुआ है। उत्सव, मंगलपाठ, यात्रा, विरह, व्यथा, प्रलाप, अरण्य, नगर प्रभृतिका चित्रण अलंकृत रूपमें आया है। नर्मदासुन्दरीके विवाहोत्सवका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। कथा, काव्य और भावनाओंकी त्रिवेणी सर्वत्र पायी जाती है। बीच-बीचमें सूक्तियोंका भी समावेश हुआ है।

चारित्रिक निष्ठाको जागृत करनेके लिये सोमप्रभ सूरिने कुमार[1]पालप्रतिबोध (कुमारवालवहिवोह) की रचना की है। सोमप्रभका जन्म प्राग्वाट कुलके वैश्य परिवारमें हुआ था। ये संस्कृत और प्राकृतके प्रकाण्ड पण्डित थे। आचार्य हेमचन्द्रके उपदेशसे प्रभावित होकर चालुक्य वंशी राजा कुमारपालने अहिंसा धर्म स्वीकार किया था। इस कथा ग्रन्थकी रचना कुमारपालकी मृत्युके ११ वर्षके पश्चात् वि० सं० १२४१ में हुई है। इसमें ५ प्रस्ताव हैं और कुल ५८ कथाएँ हैं जो एक दूसरीसे सम्बद्ध हैं। ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृतमें लिखा गया है। पर बीच-बीचमें संस्कृत और अपभ्रंशके भी प्रयोग आये हैं। व्रत और व्यसनोंसे सम्बद्ध कथाएँ मूल कथाके साथ जुड़ी हुई हैं। इन कथाओंमें सभी प्रकारके पात्र आये हैं। इन सभी पात्रोंके चरित्र स्पष्ट रूपमें चित्रित हुए हैं। उपदेशतत्त्वकी प्रधानता रहनेके कारण शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक वातावरणमें जन समुदायकी चेतनाके बीच क्या सम्बन्ध है? दोनों के पारस्परिक सम्पर्कसे कौन-कौन सी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं इसकी सजीव अभिव्यक्ति नहीं होनेपर भी कथानकोंका चयन आत्मनिष्ठाकी आन्तरिक गहराईमें प्रविष्ट हो चेतना की आवेगमयी तरलताके रूपमें किया गया है। इस कथा ग्रन्थमें काव्यात्मकता अधिक नहीं है पर चारित्रिक विकासकी सीढ़ियाँ सर्वत्र प्राप्त हैं।

जिनदत्ताख्यानके रचयिता आचार्य सुमतिसूरि थे। यह पाडिच्छय गच्छीय आचार्य सर्वदेव सूरिके शिष्य थे। यह सुमतिसूरि दशवैकालिकके टीकाकारसे भिन्न हैं। ग्रन्थकर्त्ताके समयके सम्बन्धमें निश्चितरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता है। पर प्राप्त हुई हस्तलिखित प्रति वि० सं० १२४६ की लिखी हुई है। अतः यह अनिश्चित है कि इस ग्रन्थकी रचना इससे पहले हुई है।

जिनदत्ताख्यान नामकी एक अन्य कृति भी किसी अज्ञातनामा आचार्यकी मिलती है। इसकी पुष्पिकामें 'वि० संवत् ११८६ अद्येह श्री चित्रकूटे लिखियेतं मणिभद्रेण यतिना यतिहेतवे साधवे वरनागाय। स्वस्य च श्रेयकारणम्। मङ्गलमस्तु वाचकजनानाम्।''

यह सरस कथा ग्रन्थ है। इसमें जीवनके हर्ष और शोक, शील और दुर्बलता, कुरूपता और सुरूपता इन सभी पक्षोंका उद्घाटन किया गया है। लेखकने विषयासक्त मानवको जीवन के सात्त्विक धरातलपर लानेके लिये ही इस आख्यानको लिखा है। जीवनकी जटिलता, विषमता और विविधताका लेखा-जोखा धार्मिक वातावरणमें ही उपस्थित किया है। साधु परिचर्या या मुनि आहारदानसे व्यक्ति अपनी कितनी शुद्धि कर सकता है यह इस आख्यानसे स्पष्ट है। आख्यानकारने इस सीधे कथानकमें भी श्रीमती और रत्नसुन्दरीके प्रणय सम्बन्ध तथा नायक

१. सन् १९२० में गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज, बड़ौदासे प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा उनकी प्राप्तिके लिये किये गये साहसिक कार्योंका उल्लेखकर जीवनकी विविधताके साथ दान और परोपकार मार्गका प्रतिपादन किया है। अन्तमें जिनदत्त दीक्षा ग्रहणकर आत्म-कल्याण करता है। कथा गद्य-पद्य दोनोंमें लिखी गयी है। स्वयं ग्रन्थकारने लिखा है—

कोंसिचि पियं गज्जं पज्जं कोंसिचि वल्लहं होइ।
विरएमि गज्ज-पज्जं, तम्हा मज्झत्थवित्तीए ॥८॥ पृ० १

अर्थात् किसीको गद्य प्रिय है, किसीको पद्य प्रिय है अतः मैं गद्य-पद्य मिश्रित मध्यवृत्तिमें इस ग्रन्थकी रचना करता हूँ।

सिरिसिरिवाल कहाके रचयिता वज्रसेन सूरिके प्रशिष्य और हेमतिलक सूरिके शिष्य रत्नशेखरसूरि हैं। ग्रन्थका रचनाकाल वि० सं० १४२८ है। इस कथाग्रन्थमें श्रीपालकी रोचक कथा वर्णित है। पात्रोंके चरित्रका उत्थान-पतन, कथा-प्रवाहकी गति में विभिन्न प्रकारके मोड़, सरलता और रोचकता आदि गुण वर्तमान हैं। प्रासंगिक कथाओंका गुम्फन बड़ी कुशलतासे किया गया है। पृथ्वीपाल जैसा निष्ठुर पिता जो रुष्ट होकर अपनी कन्याको एक कोढ़ीको समर्पित कर देता है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। मां के हृदयकी ममता और पिताके हृदयकी कठोरता रूप विरोधाभासका सुन्दर समन्वय है। भाग्यवादिनी मदनसुन्दरी भी आधुनिक अप-टू-डेट नारीसे कम नहीं है। उसमें अपूर्व विश्वास और आत्मबल है।

इस कथाकृतिमें भावुकताको उभारनेकी पूरी शक्ति है। दुधमुँहे श्रीपालका अपने चाचा के अत्याचारों और आतंकोंसे आतंकित हो मां के साथ जंगलमें चला जाना और वहाँ कुष्ठ रोगियोंके सम्पर्कमें रहनेसे उम्बरकुष्ठसे पीड़ित होना प्रत्येक पाठकको द्रवित करनेमें समर्थ है। एक कठोर हृदय पिताका अपनी सुन्दरी और गुणवती कन्याकी स्पष्टवादितासे रुष्ट हो कोढ़ीके साथ विवाह कर देना कम हृदयहीनताका परिचायक नहीं है। इस प्रकार इस कृतिमें पात्रोंके चरित्रोंका अंकन बहुत ही स्पष्ट रूपमें किया गया है। कृतिमें अलंकृत भाषा शैली व्यवहृत है।

'रयणसेहरनिवकहा' की रचना जिनहर्षसूरिने वि० सं० १४८७ में की है। इनके गुरुका नाम जयचन्द्र मुनीश्वर था। यह ग्रन्थ चित्रकूट नगरमें रचा गया है। यह जायसीकृत 'पद्मावत' का पूर्व रूप है। यह प्रेमाख्यानक काव्य है। प्रेमिकाकी प्राप्तिके लिये रत्नशेखरकी ओरसे प्रथम प्रयास किया जाता है। अतः इस प्रेम-पद्धति पर विदेशी प्रभाव स्पष्ट है। इस कथाकृतिमें केवल मानव प्रेम ही चित्रित नहीं है। अपितु पशु-पक्षियोंके दाम्पत्य प्रेमका भी सुन्दर विवेचन हुआ है। लेखककी दृष्टिमें काम तो केवल बाह्यवस्तु है, पर प्रेम जन्म-जन्मान्तरोंके संस्कारोंसे उत्पन्न होता है। यह सुपरिपक्व और रसपेशल है। इसकी अपूर्व मिठास जीवनमें अक्षय आनन्दका संचार करती है। रत्नशेखर प्रेमी होनेके साथ संयमी भी है। वह पर्वके दिनोंमें पूर्णतया संयमका पालन करता है।

इस कथाकाव्यमें आधुनिक उपन्यासके अनेक गुण पाये जाते हैं। कथावस्तु, पात्र, चरित्र चित्रण, संवाद, वातावरण और उद्देश्यकी दृष्टिसे यह कृति सफल है। घटनाओं और पात्रोंके अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियोंका निर्माण सुन्दर रूपमें किया गया है। मूलकथाके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साथ प्रासंगिक कथाओंका ताँता लगा हुआ है। संक्षेपमें इस कथाकाव्यमें पर्व, व्रत एवं उपवासके महत्त्वको प्रदर्शित किया गया है।

वीरदेवगणिने महिपाल कथाकी रचना की है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि देवभद्रसूरि चन्द्रगच्छमें हुए थे। इनके शिष्य सिद्धसेनसूरि और सिद्धसेनसूरिके शिष्य मुनिचन्द्रसूरि थे। वीरदेवगणि मुनिचन्द्रके शिष्य थे। भाषा-शैलीके आधार पर इस ग्रन्थका रचनाकाल १४वीं शती प्रतीत होता है। इस कथाकाव्यमें उज्जयिनी नगरीके राजा नरसिंहके पुत्र महिपालका चरित्र वर्णित है। महिपाल अपनी कुशलता और कार्यपद्धतिसे अनेक उपलब्धियोंको प्राप्त करता है। कथानक निर्माणमें लेखकने देव और संयोगकी उपस्थिति दिखला कर अनेक तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इस कथा कृतिमें सभी श्रेणीके पात्र आये हैं। इसमें मध्यमवर्गीय पात्रोंका चरित्र विशेष रूपसे अंकित किया गया है। महिपालके स्वभाव और कौशलका बहुत ही स्पष्ट अंकन हुआ है। वस्तुतः यह एक सामन्त कुमारकी साहसपूर्ण कथा है। कथाको सरस और रोचक बनानेके लिये अनेक अवान्तर कथाएँ गुम्फित की गयी हैं। शैली अलंकृत है।

इन कथा-काव्योंके अतिरिक्त जिनेश्वरसूरिका कथा-कोष प्रकरण भी प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। इसमें ३६ कथाएँ हैं और इसका रचना काल ११वीं शताब्दी है। मूल ३० गाथाओं-में जितने नाम आये हैं, उन सभी नामोंके साथ कथाओंका सम्बन्ध जोड़ा गया है। आचार और धर्मकी दृष्टिसे ये सभी कथाएँ ग्राह्य हैं।

एक अन्य 'कहारयणकोस' वि० सं० ११५८ में देवभद्रसूरिने लिखा है। इसमें कुल ५० कथाएँ हैं और यह दो अधिकारोंमें विभक्त है। प्रथम अधिकारमें ३३ कथाएँ हैं और दूसरेमें १७ कथाएँ हैं। ये सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद, नगर आदिके सरस वर्णनोंके द्वारा कथाकारने कथाप्रवाहको गतिशील बनाया है। जातिवादका खंडन कर मानवतावादकी प्रतिष्ठा इन सभी कथाओंमें की गयी है।

नेमिचन्द्रसूरिने आख्यानमणिकोशकी रचना की। इस ग्रन्थ पर सन् ११३४ में आम्रदेवसूरिने प्राकृत पद्योंमें टीका लिखी है।

इस ग्रन्थमें ४१ अधिकार और १४६ आख्यान हैं। इन सभी आख्यानोंसे व्रत, उपवास, संयम, त्याग, शील, भक्ति, देववन्दन आदिकी अभिव्यञ्जना की गयी है। नगर, देश, वन आदिके चित्रणमें काव्यात्मक शैलीको अपनाया गया है। यही कारण है कि उपमा, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, अर्थान्तरन्यास आदिकी छटा सर्वत्र मिलती है।

पद्मचन्द्रसूरिके किसी अज्ञातनामा शिष्यने 'विक्कमसेणचरियं' नामक प्राकृत कथा-ग्रन्थकी रचना की। इस कथा-प्रबन्धमें १४ कथाएँ आयी हैं। जिनमेंसे १२ कथाओंका संग्रह 'पाइअकहासंगहो' में किया गया है। इस कथा संग्रहके रचयिताका समय आदि ज्ञात नहीं है, पर इसकी एक प्रति वि० सं० १३५८ की लिखी हुई उपलब्ध है। अतः मूल कथा-ग्रन्थकी रचना इसके पहले हुई होगी। कथाओंमें दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, नवकार एवं अनित्यता आदिकी अभिव्यक्ति हुई है।

इन प्रमुख कथा-कृतियोंके अतिरिक्त संघतिलकसूरि द्वारा विरचित 'आराम सोहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहा, पंडिअधणवालकहा, पुण्यचूलकथा, रोहगुप्तकथा, आरोग्यद्विजकथा, वज्रकर्णनृपकथा, शुभमतिकथा, मल्लवादीकथा, भद्रबाहुकथा, पादलिप्ताचार्यकथा, सिद्धसेन दिवाकरकथा, नागदत्तकथा, वाह्याभ्यन्तर कामिनीकथा, मेतार्य मुनिकथा, द्रवदन्तकथा, पद्मशेखरकथा, संग्रामशूरकथा, चंद्रलेखाकथा, एवं नरसुन्दरकथा आदि बीस कथाएँ उपलब्ध हैं। देवचंद्रसूरिका कालकाचार्य कथानक एवं अज्ञात नामक कविकी मलयसुन्दरी कथा विस्तृत कथाएँ हैं।

उपदेशप्रद कथाओंमें धर्मदासगणिकी उपदेशमाला, जयसिंहसूरिकी धर्मोपदेशमाला, जयकीर्तिकी शीलोपदेशमाला, विजयसिंहसूरिकी भुवनसुन्दरी, मलधारी हेमचन्द्रसूरिकी उपदेशमाला, साहडकी विवेकमञ्जरी; मुनिसुन्दरसूरिका उपदेश रत्नाकर, शुभवर्धनगणिकी वर्धमान देशना एवं सोमविमलकी दशदृष्टान्तगीता आदि रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

इस प्रकार प्राकृत काव्यका विकास उत्तरोत्तर होता रहा है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृतकथा-साहित्य और उसकी विशेषताएँ

उत्थानिका

स्थूलरूपमें कथासाहित्य दो वर्गोमें विभक्त किया गया है—लोककथा-साहित्य और अभिजात्यकथासाहित्य। लोककथाओंमें लोकमानसकी सहज और स्वाभाविक अभिव्यक्ति रहती है। कथाकार जो कुछ कहता-सुनता है, उसे समूहकी वाणी बनाकर और समूहमें घुलमिलकर। ये कथाएँ लोकचित्तसे सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारणको आन्दोलित, चलित और प्रभावित करती हैं और जनताकी बोलीमें लिखी जाती हैं। इन कथाओंमें मानवजातिकी आदिम परम्पराओं, प्रथाओं और उनके विभिन्न प्रकारके विश्वासोंका समवाय पाया जाता है। नृत्य, जादू, टोना, सम्मोहन, वशीकरण, भाग्य, शकुन, रोग, मृत्यु, कृषिके साधन-प्रकार, सामाजिक प्रथाएँ आदि भी लोककथाओं के तत्त्व हैं। अभिजात्यकथाओंमें शिक्षित, सम्पन्न एवं सुसंस्कृत समाज के विलास, वैभव, परम्परा, रीतिरिवाज एवं आचार-विचारका निरूपण रहता है। अभिजात्य कथाएँ समस्त समाज की नहीं, अभिजात्य वर्ग की होती हैं। इस प्रकारकी कथाएँ जनताकी बोलीमें नहीं लिखी जातीं, बल्कि किसी सामन्तीय परिष्कृत भाषामें निबद्ध की जाती हैं। संस्कृत भाषामें लिखी गयी कथाएँ भाषा और सामन्तीय वर्गविशेषका चित्रण होनेसे अभिजात्य-वर्ग की हैं। इनमें चित्रित समाज और संस्कृति उन्नतवर्ग की है, जनसामान्यका चित्रण इन कथाओंमें नहीं है।

प्राकृतकथा और उसके सामान्य भेद

प्राकृत कथाएँ लोककथाओंके संस्करणके रूपमें मानी जा सकती हैं। इनमें निम्न और उन्नत दोनों प्रकार के समाजका चित्रण पाया जाता है। प्राकृत भाषा भी जनताकी भाषा थी, जबकि संस्कृत भाषा अभिजात्यवर्ग की। अतः भाषाकी दृष्टिसे भी इन कथाओंको लोककथाके निकट मानना युक्तिसंगत है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृतकथाकारोंने लोककथाओंको धार्मिक कथाके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न किया है, जिससे इनमें लोकसंस्कृतिका पूर्ण प्रतिफलन उपलब्ध है। प्राकृत कथाओंका लक्ष्य मूलतः कर्मफल, पुनर्जन्म, आत्मशुद्धि, व्रतसाधना एवं तपश्चरण द्वारा मानवसे भगवान् बन जानेका संदेश देना है। आत्मसाधना किसी एक भवमें सम्पन्न नहीं होती, इसके लिए कई जन्म-जन्मान्तरोंमें प्रयास करना पड़ता है। जो व्यक्ति किसी के साथ शत्रुता, मित्रता या अन्य किसी प्रकारका भाव रखता है, उस भावकी निर्जरा किसी एक भवमें सम्पन्न नहीं होती। वैर-विरोध अनेक जन्मों तक चलता रहता है, जिससे व्यक्तिको शुद्धिके लिए भव-भवान्तर तक साधना की आवश्यकता रहती है। कर्मफल इतना प्रबल है, जिससे प्रेम, राग, द्वेष, ममता-मोह, घृणा-कलह आदिके भावोंकी समाप्ति किसी एक जन्ममें सम्भव नहीं है, अगणित जन्मोंतक उक्त संस्कारोंकी परम्परा चलती जाती है। पुनर्जन्म के उद्घाटक जैनमुनि और कर्मवादके भोक्ता नायक-नायिकाके शीलस्थापत्यके सन्दर्भमें लोककथाओंके अनेक रूप प्रकट होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राकृतकथाओंके विषय, पात्र, शैली और भाषा की दृष्टिसे भेद-प्रभेद किये गये हैं। विषयकी दृष्टिसे अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रितकथा ये चार भेद किये गये हैं।[१] पात्रोंके प्रकारोंके आधार पर दिव्य, मानुष और दिव्यमानुष ये तीन भेद किये हैं। जिनमें दिव्यलोकके व्यक्तियोंके क्रियाकलापसे कथानक और कथावस्तुका निर्माण होता है, वे कथाएँ दिव्य कहलाती हैं। मानुष कथामें पात्र मनुष्यलोकके ही रहते हैं, उनके चरित्रमें पूर्ण मानवता सन्निविष्ट रहती है। कथाके पात्र सजीव और क्रियाशील होते हैं। दिव्यमानुषीकथा बहुत सुन्दर मानी गयी है। इस कोटिकी कथाका कथाजाल सघन और कलात्मक होता है। चरित्र और घटना, विभिन्न परिस्थितियोंके विशद और मार्मिक चित्रण, हास्य-व्यंग्यका सम्मिश्रण एवं सौन्दर्यके विभिन्न रूप इस कथामें समवेत रहते हैं।[२]

शैलीके आधार पर सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा ये पांच भेद किये गये हैं।[३] सकलकथामें चारों पुरुषार्थ, नवरस, आदर्श चरित्र एवं जन्म-जन्मान्तरके संस्कार वर्णित रहते हैं।[४] प्राकृत भाषामें लिखा गया कथासाहित्य गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। लेखकोंने इसमें जनजीवनका पूर्णतया चित्रण कर साहित्यको अपूर्व निधि प्रदान की है।

प्राकृत-कथासाहित्यका सर्वेक्षण

प्राकृतकथा-साहित्यके बीज आगम ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि प्रभृति व्याख्याग्रन्थोंमें छोटी-बड़ी सभी प्रकारकी सहस्रों कथाएँ प्राप्त हैं। आगम-साहित्यमें धार्मिक आचार, आध्यात्मिक तत्त्व-चिन्तन तथा नीति-सदाचारका प्रणयन कथाओंके माध्यमसे किया गया है। सिद्धान्त निरूपण, तत्त्वनिर्णय एवं दर्शनकी गूढ समस्याओंको कथाके माध्यमसे सुलझानेका प्रयत्न आगमग्रन्थोंमें उपलब्ध है। अंग और उपांग साहित्यमें ऐसे संवेदनशील अनेक आख्यान आये हैं, जो ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्योंकी प्रतीतिके साथ बर्बरताकी निर्मम-

---

१. अत्थकहा कामकहा धम्मकहा चेव मीसिया य कहा।
एत्तो एक्केक्कावि य ·णेगविहा होइ नायव्वा ॥—दशवैकालिक, हरिभद्रीयवृत्ति गा० १८८ पृ० २१२

एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवंति। तं जहा—अत्थकहा कामकहा धम्मकहा संकिण्ण-कहा य— —समराइच्चकहा, याकोबी संस्करण पृ० २

२. दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च। तत्थ दिव्वं नाम जत्थ केवलमेव देवचरिअं वण्णिज्जइ। —समराइच्चकहा, याकोबी संस्करण पृ० २

तं जह दिव्व-माणुसी माणुसी तहच्चेय। —लीलावई गा० ३५
एमेय मुद्धजुयई मणोहरं पाययाए भासाए।
पविरलदेसि-सुलक्खं कहसु कहं दिव्वमाणुसियं॥ —लीलावई गा० ४१ पृ० ११

३. ताओ पुण पंचकहाओ। तं जहा—सयलकहा खंडकहा उल्लावकहा परिहासकहा तहावरा कहिय त्ति संकिण्ण कहत्ति। —कुवलयमाला पृ० ४, अनुच्छेद ७

४. समस्तफलान्तेति वृत्तवर्णना समरादित्यवत् सकलकथा। —हेम-काव्यानुशासन ५।९ पृ० ४६५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

घाटी पर निरुपाय लुढ़कती मानवताको नैतिक और आध्यात्मिक भाव-भूमि पर ला मानवको महान् और नैतिक अधिष्ठाता बनानेमें सक्षम हैं। प्राकृतिक कथाकारों ने समाज और व्यक्तिके जीवनकी विकृतियों पर जितना प्रहार किया है, उतना अन्य भाषाके कथाकारोंने नहीं।

यह सत्य है कि आगम-साहित्यमें प्रयुक्त कथाओंमें घटनाविहीनता, मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता एवं शीलनिरूपणके लिए आवश्यक वातावरण और कथनोपकथनकी कमी है, पर धार्मिकताका समाहार रहनेसे जीवनको उसके समस्त विस्तारमें देखनेकी प्रवृत्ति वर्तमान है, जिससे इन कथाओंमें स्थापत्यकी दृष्टिसे विरूपता नहीं है। इनमें पूरा चरित्र, कोई पूरा व्रत, कोई वर्जना, कोई आचार तथा सजीव क्रमयुक्तता वर्तमान है। जातीय संस्कृतिके आधार पर चरित्रों के व्यक्तित्वका संगठन, उनका नियमन इस विशिष्टतासे इन कथाओंमें हुआ है कि चरित्रका निश्चयात्मक प्रभाव अन्ततः पड़ ही जाता है। आगमकालीन कथाकारोंकी यह विशेषता है कि उन्होंने उपमाओं और दृष्टांतोंका अवलम्बन ग्रहण कर जनताको धर्म-सिद्धान्तोंकी ओर अधिक आकृष्ट किया है। उक्त कथाओंकी उत्पत्ति उपमान, रूपक और प्रतीकोंके आधार पर हुई है।

आगमकालीन कथाओंके पश्चात् प्राकृतकथा साहित्यका दूसरा युग टीकायुग है। आगम-कथाएँ "वण्णओ" द्वारा बोझिल थीं। चम्पा या अन्य किसी नगरी के वर्णन द्वारा ही समस्त वर्णनोंको अवगत कर लेनेकी ओर संकेत दिया जाता था; पर टीकाओंमें यह प्रवृत्ति न रही और कथाओंमें साहित्यिक सरस वर्णन होने लगे। दूसरी विशेषता यह आयी कि एकरूपता के स्थानपर विविधता और नवीनताका प्रयोग होने लगा। नवीनताकी दृष्टिसे पात्र, विषय, प्रवृत्ति, वातावरण, उद्देश्य, रूपगठन एवं नीतिसंश्लेष आदि सभीमें आगमिक कथाओंकी अपेक्षा टीका-कथाओंमें अधिक नवीनता पायी जाती है। इस युगकी कथाओंके परिवेश पर्याप्त विस्तृत हैं। वस्तुतः कथाका रूप या स्थापत्य दो बातोंपर निर्भर करता है—प्रथम यह कि कथा जिस वातावरणमें घटित हो रही है, उसके विस्तार, सीमा और निर्णायक तत्त्व कौन-कौनसे हैं? विषयके साथ पात्रोंके उद्देश्य किस प्रकार घटित किये गये हैं? कथाओंकी रूपाकृतिको प्रभावित करनेवाले निर्धारक तत्त्वकी उद्देश्यके प्रति कितनी सजगता है और प्रभावोत्पन्न करनेमें उसकी कितनी क्षमता है?

कथाके रूपतत्त्वको निर्धारित करनेवाली दूसरी वस्तु है, उसकी आवश्यकता। जीवनकी किस आवश्यकताकी पूर्तिके लिए कथा लिखी गयी है, उसके प्रतिपादनका उद्देश्य क्या है तथा इस उद्देश्यकी अभिव्यञ्जना किस प्रकार सम्पन्न हुई है, यह भी कथासाहित्यके रूपविधानमें सम्मिलित है। टीकायुगीन कथाओंकी स्पष्टतः आवश्यकता भाष्य या व्याख्याके सिलसिलेमें नीति या किसी तथ्य की पुष्टिके रूपमें ही ग्राह्य है। आगमकालीन कथाएँ साम्प्रदायिक धार्मिकतासे अभिभूत थीं, उनमें मनोरञ्जन और कुतूहलका प्रायः अभाव था। केवल कुछ घटनाओंकी श्रृंखला ही किसी चरित्र या वर्जनाका रूप प्रस्तुत करती थीं, किन्तु टीकायुग की प्राकृतकथाओंमें कथारस भी समाविष्ट है। आकार-प्रकार भी संक्षिप्त हो गया है तथा विभिन्न विषयोंसे सम्बद्ध होनेके कारण उनमें अनेकरूपता है। ऐतिहासिक, अर्द्ध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक प्रवृत्तियोंका उद्घाटन भी किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विशुद्ध कथासाहित्यका आरम्भ [1]तरंगवतीसे माना जा सकता है। पादलिप्त सूरिने इस कथाग्रन्थकी रचना विक्रम संवत्की तीसरी शतीमें की है। तरंगवतीका दूसरा नाम तरंगलोला भी है। तरंगवतीके संक्षिप्तकर्ता नेमिचन्द्र गणिने इस नामका उल्लेख किया है। यह प्रेमकथा है, इसकी अन्तिम परिणति विरक्तिमें घटित होती है। तरंगवती कौशाम्बी नगरीके ऋषभदेव श्रेष्ठीकी पुत्री थी। यमुनाकी प्रार्थनाके फलस्वरूप जन्म होनेके कारण इसका नाम तरंगवती रखा गया था। वनविहारके समय हंसमिथुनके दर्शनसे उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो गया था। कथामें बताया गया है कि गंगा नदीके तटपर चकवा-चकवी निवास करते थे। एक दिन एक शिकारी आया। उसने जंगली हाथीको मारनेके लिए बाण चलाया, पर वह बाण भूलसे चकवाको लगा। चकवाकी मृत्यु देखकर चकवी बहुत दुःखी हुई। शिकारीको भी चकवा की मृत्युसे पश्चात्ताप हुआ और उसने लकड़ियाँ एकत्रित कर उस चकवाका दाहसंस्कार सम्पन्न किया। चकवी प्रेमवश उसी चितामें जलकर भस्म हो गयी। उसी चकवीका जीव तरंगवतीके रूपमें उत्पन्न हुआ। तरंगवतीने अपने प्रियकी प्राप्तिका प्रयत्न किया और अन्तमें उसका विवाह चकवेके जोव पद्मदेवसे सम्पन्न हो गया।

समस्त कथा उत्तमपुरुषमें वर्णित है। करुण, शृंगार और शान्त रसकी त्रिवेणी समस्त कथा में प्रवाहित है। प्राकृत भाषाकी इस समृद्ध कथाकृतिके अवलोकनसे यह अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है कि प्राकृत भाषामें आधुनिक उपन्यासके रूपमें बृहत्कथाओंका निर्माण गुप्तकालके पहले ही हो चुका था। यद्यपि विशुद्धकथाकी यह प्रणाली आठवीं शतीके पूर्व चरितात्मक गद्याख्यानके रूपमें प्रचलित रही है, तो भी चरितग्रन्थों में सहकारी कथाओंके रूपमें निबद्ध कथाएँ अपने मौलिक रूपमें उपलब्ध हैं।

चरितात्मक कथाग्रंथके रूपमें वसुदेवहिण्डीका नाम आता है। इस ग्रंथके दो खण्ड हैं, प्रथम खण्डके कर्त्ता संघदास गणिवाचक और द्वितीय खण्डके कर्त्ता धर्मसेन गणि हैं। प्रथम खण्डमें २९ लंभक और द्वितीय में ७१ लम्भक हैं। यह ग्रन्थ 'बृहत्कथा' के समान कथाओंका कोष है। वसुदेवके भ्रमणके साथ तीर्थङ्करों एवं अन्य शलाकापुरुषोंके जीवनवृत्त भी अंकित हैं। वेश्या, जुआरी प्रभृति व्यक्तियोंके चरित्र चित्रित करनेके हेतु कई मनोरंजक कथाएँ निबद्ध की गयी हैं। इसमें वसन्ततिलका या वसन्तसेना गणिकाका आख्यान आया है, जो आगेके कथासाहित्यमें बहुत प्रिय रहा है। मृच्छकटिक नाटककी कथावस्तुका स्रोत भी वसु-

---

१. प्रसन्नपदगाम्भीर्यरथाङ्ग-मिथुनाश्रया।
पुण्या पुनाति गङ्गेव या तरङ्गवतीकथा॥
—संक्षिप्त तरंगवती प्रस्तावना पृ० १७।

को न जणो हरिसिज्जइ तरंगवइ-वइयरं सुणेऊण।
इयरे पवंधसिंधुवि पाविया जीए मुहरत्तं॥
—सुपासनाहचरियं, वाराणसी, पुव्वभव प० गा० ९

सीसं कहवि न फुट्टं जमस्स पालित्तयं हरन्तस्स।
जस्स मुहनिज्झराओ तरंगलोला-नई बूढा॥
—प्र० च० वि० प्र० पृ० २९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देव हिण्डीका उक्त आख्यान प्रतीत होता है। जिस प्रकार संस्कृत वाङ्मयमें उपजीव्यकाव्यके रूपमें बृहत्कथा, महाभारत और रामायणको माना गया है, उसी प्रकार प्राकृतकाव्य और कथा में विकास एवं स्रोतके रूपमें वसु देवहिण्डीको उपजीव्य माना जा सकता है।

चरितग्रन्थोंमें विमलसूरिका पउमचरिय और हरिवंसचरिय, शीलांकाचार्यका चउप्पन्नमहापुरिसचरिय, गुणपाल मुनिका जंबूचरिय, धनेश्वरका सुरसुन्दरीचरिय, नेमिचन्द्रका रयणचूडरायचरिय, गुणचन्द्र गणिका पासनाहचरिय और महावीरचरिय, देवेन्द्रसूरिका सुदंसणचरिय और कण्हचरिय, मानतुंग सूरिका जयन्तीप्रकरण, चन्द्रप्रभ महत्तरिका चन्दकेवलीचरिय, देवचन्दसूरिका सन्तिनाहचरिय, शान्तिसूरिका पुहवीचन्दचरिय, मलधारीहेमचन्द्रका नेमिनाहचरिय, श्रीचन्द्रका मुणिसुव्वयसामिचरिय, देवेन्द्रसूरिके शिष्य श्रीचन्द्रसूरिका सणंकुमारचरिय, सोमप्रभसूरिका सुमतिनाहचरिय, नेमिचन्द्रसूरिका अनन्तनाहचरिय एवं रत्नप्रभ का नेमिनाहचरिय प्रसिद्ध चरितात्मक कथा ग्रंथ हैं। इनमें कथा और आख्यानोंका अपूर्व सम्मिश्रण है। कथावस्तुओंमें बुद्धिमाहात्म्य, लौकिक आचार-व्यवहार, सामाजिक प्रथाएँ एवं राजनैतिक परिस्थितियोंका सजीव चित्रण किया गया है। पर इतना सत्य है कि उक्त रचनाओंमें 'कथारस' की अपेक्षा 'चरित' की प्रधानता है। अतः इन्हें विशुद्ध कथाकृतियोंमें परिगणित नहीं किया जा सकता है।

तरंगवती या तरंगलोलाके पश्चात् विशुद्ध कथासाहित्यकी समृद्धि हरिभद्रकी 'समराइच्चकहा' से होती है। इस कथाग्रन्थकी आधारभूत प्रवृत्ति प्रतिशोध भावना है। यह भावना विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त हुई है। अग्निशर्मा गुणसेनके प्रति अत्यन्त तीव्र घृणाके कारण निदान बाँधता है। यह घृणा ज्यों की त्यों अगले भवोंमें दिखलाई पड़ती है। कथा नौ भवों तक चलती है, तथा इन भवोंमें नायक शुभ परिणतिको शुद्ध परिणतिके रूपमें परिवर्तित कर शाश्वत सुख प्राप्त करता है और प्रतिनायक या खलनायक अनन्त संसारका पात्र बनता है। आचार्य हरिभद्रका समय ईस्वी सन् ७३०-८३० है।[1]

धूर्ताख्यान हरिभद्रसूरिकी व्यंग्यप्रधान रचना है। इसमें पुराणोंमें वर्णित असंभव और अविश्वसनीय बातोंका प्रत्याख्यान पाँच धूर्तोंकी कथाओंके द्वारा किया गया है। भारतीय कथासाहित्यमें इस ग्रन्थका शैलीकी दृष्टिसे मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैलीमें इस प्रकारकी अन्य रचना दिखलायी नहीं पड़ती है। इन दो कथाग्रन्थोंके अतिरिक्त दशवैकालिक टीका में ३० महत्त्वपूर्ण लघुकथाएँ और उपदेशपदमें लगभग ७० लघुकथाएँ आयी हैं। हरिभद्र सूरिकी इन प्राकृत लघुकथाओंमें मनोरंजक शैलीमें वासनाओंका उदात्तीकरण किया गया है।

धर्मकथा साहित्यमें समराइच्चकहाका जो स्थान है, वही 'प्रेमाख्यानक आख्यायिका' के रूपमें कौतूहल कविकी कथाकृति 'लीलावई' का। दोनों कथाकृतियाँ अपने-अपने क्षेत्रमें बेजोड़ और सरस हैं। दोनोंका स्थापत्य एक होनेपर भी दोनोंकी दिशाएँ दो हैं। इस कृतिमें प्रतिष्ठानके राजा सातवाहन और सिंहलद्वीपकी राजकुमारी लीलावतीकी प्रेमकथा वर्णित है।

---

१. विशेष जाननेके लिए देखिये—हरिभद्रके प्राकृत कथासाहित्यका आलोचनात्मक परिशीलन पृ० ४३--४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवान्तर कथा-वितानके पश्चात् प्रधान कथाका प्रवेश होता है। सिंहलराजकी पुत्री लीलावती-का जन्म वसन्तश्रीकी बहन विद्याधरी शारदश्रीसे हुआ था। एक दिन लीलावती प्रतिष्ठानके राजा सातवाहनके चित्रको देखकर मोहित हो गयी। बादमें उसने उसे स्वप्नमें भी देखा। माता-पिताकी आज्ञा लेकर वह अपने प्रियकी खोजमें निकल पड़ी। उसका दल मार्गमें गोदावरी-तटपर आकर ठहरा, वहाँ उसे अपनी मौसीकी पुत्री महानुमती मिली। महानुमती, कुलयावली और लीलावती तीनों ही विरहिणियाँ एक साथ रहने लगीं। अपने मन्त्री विजयानन्द द्वारा गोदावरी तटपर निवास करनेवाली लीलावतीका समाचार ज्ञात कर सातवाहन वहाँ उपस्थित होता है। सातवाहन लीलावतीके कथनानुसार माधवानिल और भीषणानलका उद्धार करता है और तीनों राजकुमारियोंका विवाह अपने-अपने प्रियोंसे सम्पन्न हो जाता है। इस ग्रन्थकी रचना वि० सं० ८०० के लगभग हुई है।

'लीलावई कहा' के पश्चात् 'कुवलयमाला' का नाम आता है। इस कथाकृतिके रचयिता हरिभद्र सूरिके शिष्य उद्योतन सूरि हैं। यह धर्मकथा होते हुए भी प्रेमकथा है। इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह इन पाँचों विकारोंका परिणाम प्रदर्शित करनेके लिए अनेक अवान्तर कथाओंका गुम्फन किया गया है। कदली-स्तम्भके समान कथाजाल संघटित है। कथानकका जितना विस्तार है, उससे कहीं अधिक वर्णनोंका बाहुल्य है। कथारसके साथ काव्यात्मकता भी विद्यमान है। आरम्भसे ही काव्यात्मक संकेत उपलब्ध होने लगते हैं। लूटमें कुमार महेन्द्रका प्राप्त होना राजा दृढ़वर्माको पुत्रप्राप्तिका संकेत करता है। कथावस्तुके विकासमें कथानकोंकी चमत्कारपूर्ण योजना की गयी है। मनोरञ्जन, उपदेश, कुतूहल और संयोगतत्त्वका सुन्दर संयोजन पाया जाता है। कथा और चम्पूकाव्यके गुण एक साथ इस कृतिमें समाविष्ट हैं। संवादोंकी प्रभावोत्पादकता और अलंकृतपदोंकी मनोहरता इस कृतिकी विशेषता है। इस कृतिका प्रणयनकाल शक संवत् ७०० में एक दिन कम बताया है।[1]

'जिनेश्वरसूरि'की 'निर्वाणलीलावती' कथा प्राकृत-पद्योंमें लिखी गयी है। मूल कृति अभीतक उपलब्ध नहीं है, पर इसका साररूप संस्कृतभाषामें जिनरत्न सूरि कृत प्राप्य है। क्रोध, मान आदि विकारोंके साथ हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार एवं परिग्रह—संचय आदि पापोंका फल जन्म-जन्मातर तक भोगना पड़ता है, इस तथ्यकी अभिव्यञ्जना कथा द्वारा की गयी है। कथा उत्तमपुरुषमें वर्णित है और समरसेन आचार्यने अपना आत्मवृत्त कहकर सिंहराज और रानी लीलावतीको सम्बुद्ध किया है। इस कृतिमें कथातत्त्वकी अपेक्षा उपदेश-तत्त्वकी प्रधानता है। रचनाकाल वि० सं० १०८२-१०९५ के मध्य है।

'कथाकोष प्रकरण' के रचयिता जिनेश्वर सूरि हैं। मूलग्रन्थमें ३० कथाएँ हैं और वृत्तिमें मुख्य कथाएँ ३६ और अवान्तर कथाएँ ४-५ हैं। इस कथाकोषकी समस्त कथाएँ जिनपूजा, जिनस्तुति, वैयावृत्य, दान, धर्मोत्साहकी प्रेरणा प्रभृति विषयोंकी अभिव्यञ्जना करती हैं। कथाओंका कथातन्त्र कर्मसंस्कारोंके ताने-बानेसे बुना गया है। कथाकारने चमत्कार और कुतूहलको बनाये रखनेके लिए प्ररोचन शैलीको अपनाया है। धार्मिक कथाएँ होनेपर भी

१. कुवलयमाला पृ० २८२, अनु० ४३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शृंगार और नीतिका यथेष्ट समावेश किया गया है। इस कथाकोषकी समाप्ति वि० सं० ११०८ मार्गशीर्ष कृष्ण पञ्चमी रविवारको हुई है।

अभयदेवकी प्रार्थनासे जिनेश्वर सूरिके शिष्य जिनचन्द्रने 'संवेग-रंगशाला' नामक रूपक कथाकी रचना की है। संवेगभावका निरूपण करनेके लिए इस कृतिमें अनेक कथाओंका गुम्फन किया गया है। मुख्यरूपसे महासेन राजर्षिकी कथा वर्णित है। राजा संसार त्यागकर मुनि-दीक्षा धारण करना चाहता है पर रानी अपने तर्कों द्वारा राजाको घरमें ही रखना चाहती है। वह तपश्चरण, उपसर्ग और परीषहका आतंक दिखलाती है। आराधनाके स्पष्टीकरणके लिए मधुराजा, कौशलमुनि, वंकचूल, कूलवाल, मंगु, श्रेणिक, नेमिराजा, वसुदत्त, स्थविरा, कुरुचन्द्र और वज्रमित्रके कथानक आये हैं। इस कथाकृतिके पात्र पौराणिक हैं, उनके चरित्रका विकास मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वोंके बीच नहीं हो पाया है। कथारसमें तरलताका अभाव है, कथाओं-में मनोरंजक परिवेशकी स्थापना भी नहीं हो पायी है। इसका रचनासमय वि० सं० ११२५ है।

'नाणपंचमी कहा' की रचना महेश्वर सूरिने की है। इस कृतिमें श्रुतपंचमी व्रतका माहात्म्य प्रतिपादित करनेके लिए दस कथाएँ संकलित हैं। प्रथम कथा 'जयसेण कथा' है। इसमें नारीकी भावनाओं, चेष्टाओं एवं विचारोंका अच्छा निरूपण हुआ है। कथातत्त्वोंकी दृष्टिसे भी इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। कुतूहल और संयोग आद्यन्त व्याप्त हैं। दूसरी 'नन्द कथा' में नन्दका शील-उत्कर्ष पाठकोंको मुग्ध किये बिना नहीं रह सकता। तीसरी 'भद्राकथा' रोचक अवश्य है पर चरित्रोंका विकास नहीं हो सका है। वीरकहा और कमल-कहामें आन्तरिक द्वन्द्व हैं, पर कथाकी गति सरल रेखाके रूपमें घटित हुई है, जिससे जिज्ञासा वृत्ति अन्ततक नहीं रह पाती। 'गुणाणुरागकहा' एक आदर्श कथा है, नैतिक और आध्यात्मिक गुणोंके प्रति आकृष्ट होना मानवता है। जिस व्यक्तिमें उदारता, दया, दाक्षिण्य आदि गुणोंकी कमी है, वह व्यक्ति समाज और राष्ट्रके लिए उपयोगी नहीं हो सकता है। विमल और धरणकहाओंमें कथाका प्रवाह बहुत तीव्र है। 'भविसयत्त कहा' सुन्दर कथा है, इसी कथाके (बीज स्रोतको ग्रहण कर अपभ्रंश भाषामें धनपाल कविने अत्यन्त श्रेष्ठकथाग्रन्थ लिखा है। इस कथाकृतिमें भविष्यदत्त और बन्धुदत्त तथा कमलश्री और नागस्वरूपा विरोधी प्रवृत्तियोंके पुरुष एवं स्त्रियोंके युगल हैं। कथाकारने नागस्वरूपामें सपत्नीसुलभ ईर्ष्याका और कमलश्रीमें दया-ममताका सुन्दर चित्रांकन किया है। भविष्यदत्त अपने सौतेले भाई बन्धुदत्तसे स्नेह करता है, उसका मंगल करना चाहता है, पर बन्धुदत्त सर्वदा भविष्यदत्तसे ईर्ष्या-द्वेष करता है। कथाकारने मानवस्वभावका अच्छा परिचय प्रस्तुत किया है।

इस कथाकृतिमें अलौकिक सत्ताओं एवं शक्तियोंका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। कथानकोंका गठन पौराणिक पृष्ठोंसे किया है। मानवके छल-कपट और राग-द्वेषोंके वितानके साथ इसमें मनुष्यताकी विजय दिखलायी गयी है। इस कथाकृतिका रचनाकाल विक्रम संवत् ११०९ है। कथाका स्रोत पौराणिक है, जिसका प्रचार-प्रसार निरन्तर होता रहता है।

देवभद्र सूरि या गुणचन्द्रने 'कहारयणकोस' की रचना वि० सं० ११५८ में की है। इस कृतिमें कुल ५० कथाएँ हैं। ग्रन्थमें दो अधिकार हैं—प्रथममें ३३ कथाएँ और द्वितीयमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७ कथाएँ निबद्ध हैं। इस कृतिकी सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, श्मशान, राजप्रासाद, नगर आदिके सरस वर्णनों द्वारा कथाकारने कथा-प्रवाहको गतिशील बनाया है। जातिवादका खण्डन कर मानवतावादकी प्रतिष्ठा इन सभी कथाओंमें मिलती है। इन कथाओंमें आदर्श गार्हस्थिक जीवन-यापन करनेकी ओर संकेत किया गया है। भौतिकवादके घेरेसे निकालकर आध्यात्मिक क्षेत्रमें उपस्थित करनेका प्रयास किया है। सम्यक्त्व, व्रत और संयमके शुष्क उपदेशोंको कथाके माध्यमसे पर्याप्त सरस बनाया है। सुदत्त और नागदत्तकी कथाएँ पर्याप्त रोचक हैं; सास, बहू, ननद और बच्चोंके स्वाभाविक चित्रणमें कथाकारने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसश्रेष्ठि और उसके पुत्रोंकी कथामें बालमनोविज्ञान तत्त्व विद्यमान हैं। धनपाल और बालचन्द्रकी कथामें वृद्ध विलासिनी वेश्याका चरित्र बहुत सुन्दर चित्रित हुआ है।

नेमिचन्द्र सूरिने 'आख्यानमणिकोश'की रचना की है। इस ग्रन्थपर आम्रदेव सूरिने ई० सन् ११३४ में टीका लिखी है। यह ग्रन्थ प्राकृत पद्योंमें लिखा गया है। इस कृतिमें ४१ अधिकार हैं और १२७ आख्यान। आख्यानोंमें प्राकृत भाषाके साथ संस्कृत और अपभ्रंशका भी प्रयोग पाया जाता है। इन आख्यानोंमें अभयाख्यानकमें बताया गया है कि चण्डप्रद्योत नृपति अपनी पुत्री वासवदत्ताको संगीत-शिक्षा देनेके लिए उदयनको नियत करता है। आख्यान भास कविके नाटक 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण'की कथावस्तुसे समता रखता है। कथानकमें नायिकाको कानी और नायकको कोढ़ी बताया गया है। गुरु और शिष्या एक-दूसरेके मुखदर्शनसे आसक्त न हो जायँ, अतएव पर्दा लगाकर शिक्षाका प्रारम्भ होता है। पर्दा हटाकर वे आपसमें देख न सकें, अतएव विकलांग होनेकी बात कही जाती है। अन्तमें भेद खुल जाता है और वे दोनों आपसमें प्रेम करने लगते हैं। तथा उनका विवाह भी हो जाता है। ये समस्त आख्यान सिद्धरूपमें किसी एक भाव, मनःस्थिति और घटनाका चित्रवत् स्वरूप उपस्थित करते हैं। चण्डचूडका आख्यान मानवस्वभाव पर प्रकाश डालता है। उपकोशा और तपस्वीके आख्यानमें मानसिक द्वन्द्व पूर्णतया वर्तमान हैं। ऐतिहासिक एवं अर्ध-ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र अपने व्यक्तित्वसे मण्डित हैं। कार्य-कारण, परिणाम-आरम्भ एवं उत्कर्ष-अपकर्षका निर्वाह भी आख्यानोंमें सुन्दर रूपमें हुआ है। लघु कथाओंका यह संग्रह कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। टीकाकारने आख्यानोंको पूर्ण बनानेका प्रयास किया है।

'जिनदत्ताख्यान'के रचयिता आचार्य सुमति सूरि हैं। इस ग्रन्थकी एक पाण्डुलिपि वि० सं० १२४६ की पायी जाती है, अतः इसका रचनाकाल वि० सं० की १३वीं शतीसे पूर्ववर्ती है। यह एक सरस कथाग्रन्थ है, इसमें जीवनके हर्ष-विषाद, शक्ति-दुर्बलता, सौन्दर्य-कुरूपता आदि पक्षोंका सुन्दर उद्घाटन किया गया है। इस सीधे आख्यानमें श्रीमती और रतिसुन्दरीके प्रणय-सम्बन्ध तथा नायक द्वारा उनकी प्राप्तिके लिए किये गये साहसिक कार्योंका उल्लेख कर जीवनकी विविधता और विचित्रताके साथ दान और परोपकारका मार्ग प्रदर्शित किया है। जिनदत्तकी द्यूतासक्ति और उसके परिभ्रमणका निरूपण कर मूलकथावस्तुके सौन्दर्यको पूरी तरह चमकाया है। यह सत्य है कि यह आख्यान सोद्देश्य है और जिनदत्तको वसन्तपुर उद्यानमें शुभंकर आचार्यके समक्ष दीक्षा दिलाकर मात्र आदर्श ही उपस्थित करना अभीष्ट है। इसे फलागमकी स्थिति तो कहा जा सकता है, पर कथाकी वह मार्मिकता नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, जो पाठकको झटका देकर विलास और वैभवसे विरक्त कर 'पेट भरो पेटी न भरो'की ओर ले जा सके। कथाकारने नायकके चरित्रमें सहृदयता, निष्पक्षता और उदारता इन तीनों गुणोंका समावेश किया है।

रचना-विधानकी दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि पूर्वजन्मके संस्कारोंका फल दिखलानेके लिए जिनदत्तके पूर्वभवकी कथा वर्णित है। घटित होनेवाली छोटी-छोटी घटनाएँ संगठित तो हैं, पर स्थापत्य कलाकी विशेषता प्रकट नहीं हो पायी है।

'नर्मदासुन्दरी'की कथाका प्रणयन महेन्द्रसूरिने वि० सं० ११८७ में किया है। नर्मदा-सुन्दरीका विवाह महेश्वरदत्तके साथ सम्पन्न हुआ है। धनार्जनके हेतु महेश्वरदत्त सपत्नीक भवनद्वीप गया। मार्गमें पत्नीके चरित्र पर सन्देह हो जानेके कारण उसने वहाँ सोती हुई नर्मदासुन्दरीको छोड़ दिया। जागनेपर नर्मदाने बहुत विलाप किया। कुछ समयके पश्चात् उसका चाचा वीरदास आया और वह उसे बब्बरकूल ले गया। यहाँ हरिणी नामकी एक प्रसिद्ध गणिका निवास करती थी, यह सातसौ गणिकाओंकी स्वामिनी थी। अन्य गणिकाएँ उसके लिए धन कमाकर लाती थीं। वह धनका कुछ भाग राजाको भेंट करती थी। वीरदास के वहाँ पहुँचनेपर उस हरिणीने चतुराईसे नर्मदासुन्दरीको अपने पास बुला लिया। वीरदासने नर्मदासुन्दरीकी बहुत खोज की, पर जब उसे पता न लगा तो वह अपने देश चला गया। हरिणीने नर्मदासुन्दरीको वेश्या बनानेका पूर्ण प्रयास किया, पर वह अपने व्रतमें अटल रही। हरिणी द्वारा दिये गये नाना प्रकारके प्रलोभन व्यर्थ सिद्ध हुए। अनेक प्रकारके त्रास दिये गये, किन्तु नर्मदासुन्दरी विचलित न हुई। वहाँ करिणी नामक एक अन्य वेश्या भी रहती थी, नर्मदासुन्दरी उसके यहाँ रसोई बनानेका कार्य करने लगी। हरिणीकी मृत्युके पश्चात् नर्मदा-सुन्दरीको प्रधान गणिकाके पदपर प्रतिष्ठित किया गया। बब्बर राजाको जब नर्मदासुन्दरीके अनुपम सौन्दर्यका पता चला तो उसने सैनिकों द्वारा उसे वहाँ बुलाया। वह स्नान कर और वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो चली। मार्गमें एक बावड़ीमें पानी पीनेके लिए उतरी और जान-बूझकर गड्ढेमें गिर गयी। उसने अपने शरीर पर कीचड़ लपेट ली और बकवाद करने लगी। उसने उन्मत्त जैसा आचरण करना आरम्भ किया। राजाने उसकी चिकित्सा करायी, पर सब निष्फल गया। अन्तमें नर्मदासुन्दरी जिनदेवनामक श्रावकसे मिली और उसने वीरदास के पास उसे पहुँचा दिया। नायिकाने कुछ समय उपरान्त सुहस्तमुनिसे दीक्षा ग्रहण कर ली।

कथाका गठन सुन्दर रूपमें हुआ है। कुतूहल आद्यन्त व्याप्त है। महेश्वरदत्तका धर्मपरिवर्तन करना और नर्मदासुन्दरीके सौन्दर्यसे आकृष्ट हो उसके साथ विवाह सम्पन्न करना, पश्चात् परित्याग करना जिज्ञासापूर्ण है। हरिणी वेश्याके अत्याचार और शीलरक्षाके हेतु नर्मदाकी दृढ़ता तथा बुद्धिमत्ता कथाप्रवाहमें रोचकता उत्पन्न करती है।

सोमप्रभसूरि द्वारा विरचित 'कुमारपाल प्रतिबोध' भी प्राकृतकथाओंका सुन्दर कोश है। इसमें ५४ कथाएँ हैं। मूलदेवकी कथा अधिक रोचक और सरस है। कुमारपालको प्रतिबुद्ध करनेके लिए अहिंसा, सत्य आदि व्रतोंसे सम्बद्ध कथाएँ लिखी गयी हैं। नल-दमयन्ती-का कथानक कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। शीलवतीकी कथा मनोरंजक और चित्ताकर्षक है। शीलवती एक दिन अर्धरात्रिके समय घड़ा लेकर घरसे बाहर गयी और बहुत विलम्ब कर लौटी। इससे उसके श्वसुरको शीलवतीके चरित्र पर आशंका हो गयी, अतः वह उसे रथमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सवार कर उसके पितृगृह पहुँचानेके लिए चला। मार्गमें एक नदी आयी, शीलवतीके श्वसुरने कहा—'बहू जूते उतारकर नदी पार करो'। पर उसने जूते नहीं उतारे। श्वसुरने सोचा यह उद्दण्ड है। आगे चलनेपर एक मूँगका खेत मिला। श्वसुर ने कहा, 'देखो यह खेत कितना अच्छा फल रहा है ? खेतका स्वामी इस धनका उपभोग करेगा'। शीलवतीने उत्तर दिया—'बात ठीक है, यदि खाया न जाय तो'। श्वसुरने सोचा यह व्यर्थ ही ऊट-पटांग बोलती है। आगे चलनेपर दोनों एक नगरमें पहुँच गये। वहाँके लोगोंको आनन्दमग्न देखकर श्वसुरने कहा—'यह नगर कितना सुन्दर है'। शीलवती—'बात ठीक है, पर कोई इसे उजाड़ दे तो क्या होगा ?' कुछ दूर चलनेपर एक कुलपुत्र मिला। श्वसुर—'यह कितना शूरवीर है'। शीलवतीने उत्तर दिया—'यदि पीट दिया जाय या रोग हो जाय तो क्या स्थिति होगी ?'

कुछ दूर चलनेके उपरान्त शीलवतीका श्वसुर एक वटवृक्षके नीचे विश्राम करने बैठ गया। शीलवती दूर ही बैठी रही। श्वसुरने विचार किया कि यह बहू सदा उल्टा कार्य करती है। थोड़ी दूर चलनेपर शीलवतीके मामाका गाँव आया। भोजनके पश्चात् श्वसुर रथके अन्दर लेट गया। शीलवती रथकी छायामें बैठी रही। इतनेमें बबूलके पेड़पर बैठे कौवेको बार-बार काँव-काँव करते देखकर उसने कहा—'क्यों तंग करते हो, एक बार तुम लोगोंकी बोली सुनकर कार्य करनेसे तो घरसे निकलना पड़ रहा है, अब दूसरी गलती करनेपर तो प्रियतमसे मिलन भी नहीं हो सकेगा।'

श्वसुर द्वारा पूछे जानेपर उसने अपना स्पष्टीकरण दिया कि मैं पशु-पक्षियोंकी बोली-को समझती हूँ। उस दिन अर्द्धरात्रिके समय गीदड़का शब्द सुनकर मैंने जाना कि नदीमें बहुमूल्य आभूषण पहने हुए मुर्दा बह रहा है। मैं वहाँ गयी और आभूषण लेकर लौट आयी। यहाँ यह कौवा कह रहा है कि इस बबूलके वृक्षके नीचे स्वर्ण गड़ा है। शीलवतीका श्वसुर अधिक प्रसन्न हुआ और उसने गड़ा हुआ सोना निकाल लिया। शीलवतीने श्वसुरके अन्य प्रश्नोंका भी तर्कपूर्ण उत्तर दिया, जिससे उसका श्वसुर बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी बहूको बहुत ही बुद्धिमती समझा और घर ले आया।

कुछ दिनोंके पश्चात् शीलवतीका पति अजितसेन राजाका प्रधान मन्त्री बन गया। राजाने शीलवतीके शीलकी परीक्षाके लिए अपने चरमित्रोंको भेजा, जिन्हें शीलवतीने अपने यहाँ कैद कर लिया। यहाँ यह आख्यान कथासरित्सागर (१-४) से मिलता-जुलता है।

इस प्रतिबोधकी अन्य कथाएँ भी अत्यन्त सरस और मनोरंजक हैं। चरित्रका उत्थान अनेक परिवेशोंमें दिखलाया गया है। कथारस सभी आख्यानोंमें पाया जाता है। पात्र सभी वर्गोंसे ग्रहण किये हैं। पञ्चम प्रस्तावकी 'जीवमनःकरणसंलापकथा' एक रूपक काव्य है, इसमें जीव, मन और इन्द्रियोंका वार्तालाप सुन्दर रूपमें निबद्ध किया गया है। देह नामक नगरी लावण्यमयीका निवासस्थान है, नगरीके चारों ओर आयुकर्मका प्राकार है, जिसमें सुख, दुःख, क्षुधा, तृषा आदि अनेक मार्ग हैं। इस नगरीका 'आत्मा' राजा है, यह बुद्धि नामक महादेवीके साथ रहता है। मन इसका प्रधानमन्त्री और पाँच इन्द्रियाँ प्रधान पुरुष हैं। कथाकारने इनका सरस संवाद अंकित किया है। यह कथा अपभ्रंश भाषामें लिखी गयी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके साथ ऐतिहासिक तथ्य भी उपलब्ध होते हैं। नन्दराज, स्थूलभद्र एवं कोशा आदिके कथानक भी प्रवाहपूर्ण हैं। इस कथाग्रन्थका रचनाकाल विक्रम संवत् १२४१ है।

'प्राकृतकथासंग्रह' बारह प्राकृतकथाओंका एक संग्रह ग्रन्थ है। इस कथाग्रन्थकी एक पाण्डुलिपि विक्रम संवत् १३९८ की उपलब्ध है। अतः इसका रचनाकाल वि० सं० की १४वीं शतीके पूर्व है। ग्रन्थसे रचयिता और रचनाकालके सम्बन्धमें कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती। इन कथाओंमें दानके महत्त्वको प्रकट करनेके लिए धनदेव-धनदत्त कथा; सम्यक्त्वका प्रभाव बतलानेके लिए धनश्रेष्ठि कथा; दानके विषयमें चंडकथा; दान देनेमें कृपणता दिखलानेके लिए कृपणश्रेष्ठि कथानक; शीलका प्रभाव व्यक्त करनेके लिए जयलक्ष्मीदेवी कथानक और सुन्दरीदेवी कथानक; नमस्कार मन्त्रका फल अभिव्यक्त करनेके लिए सौभाग्यसुन्दरी कथानक, तपका प्रभाव बतलानेके लिए मृगाङ्करेखा कथानक और घट कथानक, भावनाका प्रभाव व्यंजित करनेके लिए धर्मदत्त और बहुबुद्धि कथानक एवं अनित्यताके सम्बन्धमें समुद्रदत्त कथानक आया है। इन कथाओंमें दान, शील, तप, भावना, सम्यक्त्व, णमोकारमन्त्र एवं अनित्यता आदिका विश्लेषण किया गया है।

अनुरंजनके लिए कथाकारने परिस्थिति और वातावरणका बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। कृपणश्रेष्ठिकी कथामें लक्ष्मीनिलय नामक एक कंजूस सेठका बड़ा ही जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है। कथाकारने उसकी कृपणताकी अभिव्यञ्जनाके लिए कई मर्मस्थल अंकित किये हैं। वह अपने पुत्रको पान खाते देखकर दुःखी होता है। उसकी पत्नीको बच्चा उत्पन्न हुआ है, पर वह भोजन देनेमें कंजूसी करता है। दान न देना पड़े, इस भयसे वह साधु-महात्माओंके दर्शन करने नहीं जाता।

सुन्दरीकी प्रेमकथा तो अत्यन्त सरस और मनोरञ्जक है। कथाओंमें साहस, प्रेम, त्याग और साधनाका समन्वय पाया जाता है। कुतूहल और जिज्ञासाके सूत्रोंमें घटनाओंको पिरोया गया है। भावोंमें चढ़ाव-उतार एवं मानसिक द्वन्द्वोंकी स्थिति अनेक स्थलोंपर वर्तमान है। सुन्दरी अत्यन्त चतुराई और कुशलतासे अपना प्रेमपत्र विक्रम राजाकी सेवामें भेजती है। इस कथासंग्रहकी कथाओंकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :—

१. कथानक संयोग और दैवी घटनाओं पर आश्रित।
२. कथाओंमें सहसा दिशाका परिवर्तन।
३. समकालीन सामाजिक समस्याओंका उद्घाटन।
४. संवादतत्त्वकी अल्पता या अभाव, किन्तु घटनासूत्रों द्वारा कथाओंमें गतिमत्त्व धर्मकी उत्पत्ति।
५. रोचकता मध्यविन्दु तक रहती है, इसके आगे कथानककी एकरूपताके कारण आकर्षण भावकी स्थिति।
६. जीवनके शाश्वत मूल्योंका संयोजन—प्रेम, त्याग, शील, दान, संयम प्रभृति सिद्धान्तोंकी घटनाव्यापार द्वारा अभिव्यञ्जना।
७. विषयवस्तुमें जीवनकी विविध प्रवृत्तियों और कार्यव्यापारोंका समावेश।

'सिरिवालकहा (श्रीपालकथा) का संकलन बृहद् गच्छीय वज्रसेनसूरि' के प्रशिष्य और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमतिलकसूरिके शिष्य रत्नशेखरसूरिने किया है।[1] इसका संकलन काल वि० सं० १४२८ है। यह कथा बहुत ही रोचक है, इसका उद्देश्य सिद्धचक्र पूजाका माहात्म्य प्रदर्शित करना है। इसके प्रमुखपात्र पृथ्वीपाल और उसकी दोनों पत्नियाँ सौभाग्यसुन्दरी और रूपसुन्दरी; इनकी दोनों कन्याएँ—सुरसुन्दरी और मदनसुन्दरी एवं श्रीपाल हैं। श्रीपालकी माँ और अमात्य मतिसागर भी कथावस्तुसे सम्वद्ध हैं। इस कृतिमें एक धार्मिक उपन्यासके सभी गुण वर्तमान हैं। पात्रोंके चरित्रका उत्थान-पतन, कथाप्रवाहकी गतिमें विभिन्न प्रकारके मोड़, सरसता और रोचकता आदि गुण समाहित हैं। प्रासंगिक कथाओंका गुम्फन एवं घटनाको सम्पादित करनेकी प्रक्रिया रोचक है। पृथ्वीपाल जैसा निष्ठुर पिता, जो रुष्ट होकर अपनी कन्याको कोढ़ीको समर्पित कर देता है, आधुनिक यथार्थवादी पिता है। प्रतिशोधकी भावनाका प्राबल्य एवं कन्याके प्रति निष्ठुरताका प्रदर्शन उसे यथार्थवादी कोटिमें प्रतिष्ठित करनेके लिए पर्याप्त प्रमाण है। माँके हृदयकी ममता और पिताके हृदयकी कठोरता विरोधाभासका समुज्ज्वल उदाहरण है। भाग्यवादिनी मदनसुन्दरी भी आधुनिक अप-टू-डेट नारीसे कम नहीं है। उसमें अपूर्व आत्मविश्वास और बल है। धवलसेठ जैसे कृतघ्नी पात्रोंकी आज भी कमी नहीं है। ऐसे निम्न स्वार्थी व्यक्ति सदासे समाजके लिए कलंक रहे हैं। अजितसेन जैसे राज्यलम्पट और मतिसागर जैसे विश्वासभाजन आज भी विद्यमान हैं। राजकुमारी मदनमंजरीका त्याग और मानसिक द्वन्द्व किसी भी काव्यके लिए उपकरण बन सकते हैं। पात्रोंकी चारित्रिक दुर्बलताओंका चित्रण व्यापक रूपमें अंकित हुआ है।

इस कथाकृतिमें भावुकताको उभारनेकी पूरी शक्ति वर्तमान है। दुधमुँहे श्रीपालका अपने चाचाके अत्याचारों और आतंकोंसे त्रस्त हो माँके साथ जंगलमें चला जाना और वहाँ कुछ रोगियोंके सम्पर्कमें रहनेसे उम्बर कुष्ठ विशेषसे पीड़ित होना प्रत्येक पाठकको द्रवित करनेमें समर्थ है। दूसरी ओर अपनी सुन्दरी और गुणवती कन्याकी स्पष्टवादितासे रुष्ट हो कोढ़ीसे उसे ब्याह देना भी हृदयहीनताका परिचायक है। जीवनदर्शनको लेखकने अपनी इस कथाकृतिमें समझानेका पूरा यत्न किया है। परिवारका स्वार्थके कारण विघटन होता है और यह विघटित परिवार सदाके लिए दुःखी हो जाता है। अतः सामाजिक सम्बन्धोंको स्थिर करनेके हेतु समाजके सभी घटकों और उनकी प्रतिक्रियाओंको उदारभावसे स्थान देना होगा। प्रेम, सेवा, सहयोग, सहिष्णुता, अनुशासन एवं आज्ञापालन आदि गुणोंके अभावमें स्वस्थ और सबल समाजका गठन नहीं हो सकता है।

'रयणसेहरनिवकहा' (रत्नशेखरनृपकथा) के रचयिता जिनहर्षसूरि हैं। इसका रचना-काल विक्रम संवत् १४८७। यह जायसीकृत पद्मावतकी कथाका मूलस्रोत है। पर्वके दिनोंमें धर्मसाधन करनेका माहात्म्य बतलाया गया है। रत्नशेखर नृपति रत्नपुरनगरका रहनेवाला था, इसके प्रधानमन्त्रीका नाम मतिसागर था। राजा वसन्तविहारके समय किन्नरदम्पतीके वार्तालापमें रत्नवतीकी प्रशंसा सुनता है और उसे प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो जाता है।

---

१. सिरिवज्जसेण गणहरपट्टपहूहेमतिलयसूरीणं।
सीसेहिं रयणसेहरसूरीहिं इमाहु संकलिया॥
चउदस अट्ठावीसो.....................।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतिसागर जोगिनीका रूप धारण कर सिंहलद्वीपकी राजकुमारी रत्नवतीके पास पहुँचता है। रत्नवती अपनी वर-प्राप्तिके सम्बन्धमें प्रश्न करती है और जोगिनी वेषधारी मन्त्री उत्तर देता है—"जो कामदेवके मन्दिरमें द्यूतक्रीड़ा करता हुआ वहाँ तुम्हारा प्रवेश रोकेगा वही तुम्हारा पति होगा।"

मन्त्री लौटकर राजाको समाचार सुनाता है, राजा रत्नशेखर सिंहलद्वीपको प्रस्थान कर देता है और वहाँ कामदेवके मन्दिरमें पहुँचकर मन्त्रीके साथ द्यूतक्रीड़ा करने लगता है। रत्नवती अपनी सखियोंके साथ कामदेवकी पूजा करने आती है। दोनोंका साक्षात्कार होता है। युद्धके पश्चात् विवाह सम्पन्न हो जाता है। पर्वके दिनोंमें राजा अपने शीलव्रतका पालन करता है, जिससे उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

यह एक सुन्दर प्रेमकथा है। लेखकने प्रेमके मौलिक रूपका सार्वभौमिक विवेचन किया है। इन्द्रियोंके व्यापारों और वासनात्मक प्रवृत्तियोंके विश्लेषण द्वारा कथाकार पाठकोंके हृदयमें आनन्दका विकास करता हुआ विषय-वासनाके पंकसे निकालकर उन्मुक्त भावक्षेत्रमें उन्हें ले गया है। रागका उदात्तीकरण विरागके रूपमें हुआ है। पाशविक वासना परिष्कृत हो आध्यात्मिक भावभूमिको प्राप्त होती है।

इस कृतिमें उपन्यासके समस्त तत्त्व वर्तमान हैं। कथावस्तु, पात्र, चरित्र-चित्रण, संवाद, वातावरण और उद्देश्यकी दृष्टिसे यह सफल है। घटनाओं और पात्रोंके अनुसार वातावरण तथा परिस्थितियोंका निर्माण सुन्दर रूपमें किया गया है। समस्त तत्त्वोंके सामंजस्यने कथाके शिल्प-विधानको पर्याप्त गतिशील बनाया है। मूलकथाके साथ प्रासंगिक कथाओंका ताँता लगा है। दैवी चमत्कारों और अतिमानवीय तत्त्वोंका बाहुल्य भी निहित है। व्रत परीक्षा के सन्दर्भमें घटित घटनाएँ सरस और प्रभावोत्पादक हैं।

'महिवालकहा (महीपालकथा) के रचयिता वीरदेव गणि हैं। यह परी-कथा और निजन्धरी इन दोनोंका मिश्रित रूप है। इसका रचनाकाल १५वीं सदी है। कथामें बताया गया है कि उज्जयिनी नगरीके राजा नरसिंहके यहाँ कलाविचक्षण महीपाल नामका राजपुत्र रहता था। राजाने रुष्ट होकर महीपालको अपने राज्यसे निकाल दिया। वह अपनी पत्नीके साथ भड़ौच आया और वहाँसे जहाजमें सवार होकर कटाह द्वीपकी ओर चला। रास्तेमें जहाज जलमग्न हो गया और बड़ी कठिनाईसे वह किसी प्रकार तटपर पहुँचा। कटाह द्वीपके रत्नपुर नगरमें पहुँचकर उसने राजकुमारी चन्द्रलेखासे विवाह किया। अब वह अपनी प्रथम पत्नी सोमश्रीको ढूँढने चला। राजाने साथमें अथर्वण मन्त्रीको भी भेज दिया। महीपालका जलयान समुद्रमें चला जा रहा था, कि अथर्वण मन्त्रीके मनमें लोभ प्रविष्ट हुआ। उसने राजकुमारी चन्द्रलेखा और धनके लोभसे महीपालको समुद्रमें गिरा दिया। राजकुमारी इस दुर्घटनासे त्रस्त होकर चक्रेश्वरी देवीकी उपासनामें संलग्न हो गयी। महीपाल समुद्र पारकर जितशत्रु राजाके यहाँ पहुँचा, राजाने प्रभावित हो अपनी कन्या शशिप्रभाके साथ उसका विवाह कर दिया। यहाँ उसे तीन वस्तुएँ उपलब्ध हुई—**विचित्रलकूट, खट्वा और सर्वकामद विद्या।** इन तीनों वस्तुओंके बलसे वह रत्नसंचयपुर नगरमें गया और यहाँ चक्रेश्वरीके मन्दिरमें उसे तीनों स्त्रियाँ प्राप्त हो गयीं। इस नगरके राजाने अपनी पुत्री चन्द्रश्रीके साथ महीपालका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवाह सम्पन्न किया। महीपाल अपनी चारों पत्नियोंके साथ उज्जैनी चला आया और यहाँ नरसिंह राजाके यहाँ रहने लगा। धर्मघोष मुनिसे उपदेश सुनकर उसके मनमें विरक्ति उत्पन्न हुई और श्रमणदीक्षा ग्रहणकर तपश्चरण किया।

यह कथा साहसिक कथा है। महीपालके स्वभाव और प्रकृतिके अनुसारही सारी घटनाएँ घटित हुई हैं। चन्द्रलेखाका प्रत्युत्पन्नमतित्व और अपनी शीलरक्षाके लिए उसका कपट-प्रेम ऐसे स्थल हैं, जो मानव-जीवनमें एक नई दिशा और स्फूर्ति प्रदान करते हैं। इस कथाका मूलस्रोत प्राचीन है, लेखकने पौराणिक आख्यानोंसे कथावस्तुको लेकर एक नई कथाका प्रणयन किया है। अवान्तर कथाओंमें लोभके दोषका निरूपण करनेके हेतु लिखी गई नन्द सेठकी कथा बहुत सुन्दर है। इसमें कार्य-व्यापारोंकी तीव्रता निहित है।

इन प्रमुख कथाकृतियोंके अतिरिक्त संघतिलक सूरिने आरामसोहाकहा, पैडिअधणवाल-कहा, पुप्फचूलकहा, आरोग्यट्टजकहा; रोहगुत्तकहा वज्जकण्णनिवकहा, सुहजइकहा, भीमकुमार-कहा, मल्लवाईकहा, मलवाहुकहा, पादलित्ताचारियकहा, सिद्धसेनदिवायरकहा, नागदत्तकहा, कामिणीकहा, मेताय्यमुणिकहा, द्रवदंत्तकहा, पउमसेहरकहा संगामसूरकहा, चन्दलेहाकहा एवं नरसुन्दरकहाका प्रणयन किया है। देवचन्द्रसूरि का कालिकाचार्यकथानक और अज्ञातनामधारी कविकी मलयसुन्दरी कथाभी सुंदर रचनाएँ हैं।

उपदेशप्रद कथाओंमें धर्मदास गणिकी उपदेशमाला, हरिभद्रसूरिका उपदेशपद, जयसिंह सूरिकी धर्मोपदेशमाला, जयकीर्त्तिकी शीलोपदेशमाला, विजयसिंह सूरिकी भुवनसुन्दरी, मलधारी हेमचन्द्र सूरिकी उपदेशमाला, साहडकी विवेकमंजरी, मुनि सुन्दरसूरिका उपदेशरत्नाकर, शुभवर्धन गणिकी वर्धमानदेशना एवं सोमविमलकी दशदृष्टान्तगीता आदि रचनाएँ भी महत्त्व-पूर्ण हैं। इन रचनाओंमें कथाका सर्वांगीण विकास प्रमुख नहीं है। किन्तु संयम, शील, दान, तप, त्याग और वैराग्यकी भावनाओंका विकास मुख्य रूपसे दिखलाई पड़ता है। कथानकों, उदाहरणों, आख्यानों एवं दृष्टान्तोंका संयोजन उक्त श्रेणीकी समस्त रचनाओंमें पाया जाता है। लेखकोंने मनोरंजक तत्त्वोंकाभी समावेश किया है। उपदेशप्रद कथाओंमें नगर, वन, सरोवर एवं क्रीड़ाओंका चित्रण हुआ है, पर उद्दीप्त स्वर उपदेशकाही है। सदाचार, विनय और शीलका निरूपण पद-पदपर होता चला गया है। बुद्धिवादी कथाएँभी इस वर्गके साहित्यमें बिनद्धकी गई हैं।

प्राकृत-कथासाहित्य की विशेषताएँ और उपलब्धियाँ

हिन्दी और अपभ्रंशके प्रेमाख्यान कथाओंका विकास प्राकृत कथाओंसे हुआ है। यतः प्राकृत-कथाकारोंने धर्मकथाओंमें शृंगार-रससे पूर्ण प्रेमाख्यानोंका समावेशकर कथाओंको लोकोपयोगी बनाया है। मदन-महोत्सव, बसन्त-क्रीड़ा, प्रेमपत्र, साहसिक घटनाएँ, प्रेमी-प्रेमिकाओं की विभिन्न मानसिक दशाएँ, प्रेमानुराग, प्रेमालाप, हास्य-विनोद आदिका पूर्णतया समावेश किया है। रूपविधान की दृष्टिसे प्राकृत-कथाएँ 'बीजधर्मा' हैं। कथाबीजसे एक विशाल वट-वृक्ष उत्पन्न होता है और अनेक अवान्तर प्रासंगिक कथाशाखाएँ निकलती हैं, जो सभी धार्मिक अन्तश्चेतनासे प्राणतत्त्व ग्रहण करती हैं।

प्राकृत कथाओंमें विशेषतः कथोत्थप्ररोह शिल्प पाया जाता है। प्याजके छिलकोंके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समान अथवा केलेके स्तम्भकी परतके समान जहाँ एक कथासे दूसरी कथा और दूसरी कथा से तीसरी कथा निकलती जाय तथा वटके प्रारोहके समान शाखापर शाखा फूटती जाये, वहाँ इस शिल्पको माना जाता है। इस स्थापत्यका प्रयोग समस्त प्राकृत-कथाओंमें विद्यमान है। मनोरंजनके साथ वर्णनशैलीको सहज बनाया गया है। जिस प्रकार वृत्तको कई अंशोंमें विभाजित किया जाता है और उन अंशोंकी पूरी परिधिमें वृत्तकी समग्रता प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार कथोत्थप्ररोहके आधारपर इतिवृत्तकी समस्त गतिविधि प्रकटहो जाती है। वास्तवमें वट प्ररोहके समान उपस्थित कथाओंमें संकेतात्मकता और प्रतीकात्मकताकी योजना सुन्दर हुई है। परिवेशों या परिवेशमण्डलोंका नियोजन भी जीवन और जगत्के विस्तारको नायक और प्रति नायकके चरित्र गठनके रूपमें समेटे हुए हैं। रचना में सम्पूर्ण इतिवृत्तको इस प्रकार सुविचारित ढंगसे विभक्त किया गया है, कि प्रत्येक खण्ड अथवा परिच्छेद अपने परिवेश में प्रायः पूर्णसा प्रतीत होता है और कथाकी समष्टि-योजना प्रभावको उत्कर्षोंन्मुख करती है।

साहित्यमें चम्पूविधाका विकास शिलालेख और प्रशस्तियोंकी अपेक्षा गद्य-पद्य मिश्रित प्राकृत कथाओंसे मानना अधिक तर्कसंगत है। यतः प्राकृतमें कथाओंको रोचक बनानेकेलिए गद्य-पद्य दोनोंका ही प्रयोग किया गया है। पद्य भावनाका प्रतीक है और गद्य विचारका। प्रथमका सम्बन्ध हृदयसे है और द्वितीयका मस्तिष्कसे। अतएव प्राकृत कथाकारोंने अपने कथन की पुष्टि, कथानकके विकास, धर्मोपदेश, सिद्धांत-निरूपण एव कथाओंमें प्रभावोत्पादकता लानेकेलिए गद्यमें पद्यकी छोंक और पद्यमें गद्यकी छोंक लगाई है। समराइच्चकहा और कुवलयमाला की यह गद्य-पद्यमयी विशेषता चम्पूविधाकी उत्पत्तिकेलिए कारण हो सकती है। संस्कृतमें त्रिविक्रम भट्टके मदालसाचम्पू और नलचम्पूसे पहले कोई चम्पू ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। दंडीने चम्पूकी परिभाषा दी है, पर प्राकृतमें दण्डीके पहलेकी गद्य-पद्य मिश्रित शैलीमें लिखी गई कथाएँ रही हैं। अतः हमारी दृष्टिमें संस्कृतकी चम्पूविधाका मूलस्रोत प्राकृत कथाएँ हैं।

प्राकृत कथाएँ लोककथा का आदिमरूप हैं। वसुदेवहिण्डीमें लोककथाओंका मूलस्रोत सुरक्षित है। गुणाढ्यकी बृहत्कथा जोकि पैशाची प्राकृतमें लिखी गई थी, लोककथाओंका विश्वकोष है। अतः प्राकृत कथाओंका लोककथाके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। जातीय गौरव, वीरपूजा, जीवनकी नवीन व्याख्या एवं संकेत विशेषकी उपलब्धि प्राकृत कथाओंमें पाई जाती है। विशिष्ट तथ्यों, सामाजिक और राजनैतिक वातावरणका यथातथ्य चित्रण एवं गहन समस्याओंके समाधान प्राकृत कथाओंमें निहित हैं। कथाओंका ढाँचा लोककथाका है, प्राकृत लेखकोंने इसी धरातलपर धार्मिक कथाओंका निर्माण किया है। साधारणतः प्राकृत कथाओंका स्वरूप पालिकथाओंके समान प्रतीत होगा, किन्तु अन्तर यह दिखलाई पड़ेगा कि पालिकथा-साहित्यमें पूर्वजन्म कथाका मुख्य भाग रहता है, जबकि प्राकृतकथाओंमें यह केवल उपसंहार का कार्य करता है। पालिकथाओंमें बोधिसत्व या भविष्य बुद्ध ही मुख्यपात्र रहते हैं और कथाकी चरम परिणति उपदेश कथाके रूपमें हो जाती है। समस्त जातक कथाएँ एक ही पिटी-पिटाई शैलीमें लिखी गई हैं। पर प्राकृतकथाएँ भूत नहीं, वर्तमानकी होती हैं। प्राकृत कथाकार जन्म-जन्मान्तरोंका सम्बन्ध वर्तमानके साथ ही जोड़ देता है। सिद्धांतकी प्रतिष्ठा भी सीधे-साधे रूपमें नहीं की जाती है, बल्कि पात्रोंके कथोपकथन और शीलनिरूपण आदिके

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वारा उसकी आम व्यंजनाकी जाती है। प्राकृत कथाकार अपने पात्रोंको सीधे नैतिक नहीं दिखलाते। चरित्रके विकासकेलिए ये किसी प्रेमकथा अथवा अन्य किसी लोककथाके द्वारा उनके जीवनकी विकृतियोंको उपस्थित करते हैं। लम्बे संघर्षके पश्चात् पात्र किसी आचार्य या केवलीको प्राप्त करता है और उनके सम्पर्कसे उसके जीवनमें नैतिकता आती है। इसी स्थलपर सिद्धांतकी स्थापना भी इतिवृत्तके सहारे होती जाती है। कथानक और घटनाओंका विकास मनोरंजक शैलीमें होता है।

प्रो० हर्टेल प्राकृतकथाओंकी विशेषतासे अत्यन्त आकृष्ट हैं। उन्होंने बताया है। "कहानी कहनेकी कलाकी विशिष्टता प्राकृत कथाओंमें पाई जाती है। ये कहानियाँ भारत के भिन्न-भिन्न वर्गके लोगोंके रस्मरिवाजको पूर्ण सचाईके साथ अभिव्यक्त करती हैं। ये कथायें जनसाधारणकी शिक्षाका उद्गम-स्थान ही नहीं हैं, वरन् भारतीय सभ्यताका इतिहास भी है।"[1]

इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति और सभ्यताका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकेलिए प्राकृत कथा साहित्य वहुत उपयोगी है। जनसाधारणसे लेकर राजा-महाराजाओं तकके चरित्रको जितने विस्तार और सूक्ष्मताके साथ प्राकृतकथाओंने चित्रित किया है, उतना अन्य भाषाके कथाकारोंने नहीं। निम्नश्रेणीके व्यक्तियोंका यथार्थ मूल्यांकन प्राकृतकथाओंमें सम्मिलित है। इन कथाओंको केवल धार्मिक कथाएँ ही नहीं माना जा सकता। अपितु कथारस की प्रचुरताके कारण इसमें मनोरंजन, कुतूहल और प्रभावान्विति और पूर्णरूपेण वर्तमान रहनेसे इन्हें उत्तम श्रेणी की कथाएँ भी माना जा सकता है। जीवनके विस्तारमें जितनी समस्याएँ और परिस्थितियाँ आती हैं जिनसे नाना प्रकारके सत्य और सिद्धान्त निकाले जाते हैं, उनका यथेष्ट समावेश कथाओंमें हुआ है।

इन कथाओंमें पात्रों की क्रियाशीलता और वातावरणकी सजावट नाना प्रकारकी आवश्यकताओंका सृजन करती है। इन कथाओंमें ऐहिक समस्याओं के चिन्तन, पारलौकिक समस्याओंके समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियोंके विवरण, अर्थनीति राजनीतिके निदर्शन एवं जनताकी व्यापारिक कुशलताके उदाहरण समाहित हैं। पशु-पक्षी-कथाओंका विकास भी प्राकृतकथाओंसे हुआ है। संस्कृतमें गुप्तसाम्राज्यके पुनर्जागरणके पश्चात् नीति या उपदेश देनेके लिए पशु-पक्षिकथाएँ लिखी गयी हैं। पर 'नायाधम्मकहाओ' में कुएँका भेंढक, जंडलके कीड़े, दो कछुए आदि कई सुन्दर पशु-कथाएँ अंकित हैं। आचार और धर्मका उपदेश पशु एवं अन्य प्राणियोंके दृष्टान्त देते हुए नाना प्रकारके कथानकों और घटनाओं द्वारा उपस्थित किया गया है। 'नायाधम्मकहाओ' की पशु-पक्षि कथाएँ स्वयं भगवान् महावीरके मुखसे कहलायी गयी हैं। निर्युक्तियोंमें गज, मूषक, हिरण और वानर आदि पशुओंकी कई कथाएँ उपलब्ध हैं। वस्तुतः पञ्चतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थोंकी पशु-पक्षी कथाएँ प्राकृतकथाओंसे ही निःसृत हैं।

प्राकृतकथाओंमें ऐहिक समस्याओंके चिन्तन, पारलौकिक समस्याओंके समाधान, धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियोंके चित्रण, संगीत-चित्र-वास्तु कथाओंके सुन्दर उदाहरण एवं

---

१. आन दी लिटरेचर आफ दी श्वेताम्बरास् आफ गुजरात, पृ० ८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभिन्न प्रकारकी परिस्थितियोंके अंकन किये गये हैं। इन कथाओंका उद्देश्य मनोरंजन करता ही नहीं है, प्रत्युत व्यक्तित्वका निर्माण और चरित्रका उत्कर्ष दिखलाना है। इनमें वर्णाश्रम धर्मके प्रति बगावत की गयी है। मानवसमत्वका सिद्धान्त तथा जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंका अमिट प्रभाव और कर्मफलकी त्रिकालाबाधिता सिद्ध की गयी है।

कथानकोंके विकासमें चामात्कारिक घटनाओं और अप्रत्याशित कार्य-व्यापारोंके योग द्वारा मनोवैज्ञानिक द्वन्द्वोंकी स्थितियोंका भी चित्रण किया गया है, जिससे कथाओंके सिद्धान्तों-का स्फोटन और पात्रों का चरित्र चित्रित होता गया है।

प्राकृतकथासाहित्यकी कहानी लगभग दो हजार वर्षोंकी हैं। इस लम्बे समयमें उसके शिल्पमें भी आश्चर्यजनक विकास हुआ है। विभिन्न समय, परिस्थितियों और वातावरणमें निर्मित इन कथाओंके शिल्पमें भी कई रूप दिखलायी पड़ते हैं। अतः स्थापत्य-विकासकी दृष्टिसे प्राकृतकथाओंमें अनेक प्रकारकी विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। भारतीय वाङ्मयमें साहित्य-विधाओंके विकासको दृष्टिसे प्राकृतकथाओंका अध्ययन परम आवश्यक है।

प्राकृतकथा-साहित्यकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि कथामें आये हुए प्रतीकोंकी उत्तरार्धमें सैद्धान्तिक व्याख्या कर दी जाती है। उदाहरणार्थ वसुदेवहिण्डिका '**इब्भपुत्त-कहाणयं**' का उपसंहार अंश उद्धृत किया जाता है :—

"जहा सा गणिया, तहा धम्मसुई। जहा ते रायसुयाई, तहा सुर-मणुयसुहभोगिणो पाणिणो। जहा आभरणाणि, तहा देसविरतिसहियाणि तवोवहाणाणि। जहा सो इब्भपुत्तो, तहा मोक्खकंखी पुरिसो। जहा परिच्छाकोसल्लं, तहा सम्मन्नाणं। जहा रयणपायपीढं, तहा सम्मद्दंसणं। जहा रयणाणि, तहा महव्वयाणि। जहा रयणविणिओगो, तहा निव्वाणसुहला-भोत्ति।"—वसुदेवहिण्डि पृ० ४।

विण्टरनित्सने भी प्राकृतकथा-साहित्यकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

प्राकृतका कथासाहित्य सचमुचमें विशाल है। इसका महत्त्व केवल तुलनात्मक परिकथा साहित्यके विद्यार्थीके लिए ही नहीं है, बल्कि साहित्यकी अन्य शाखाओंकी अपेक्षा हमें इसमें जनसाधारणके वास्तविक जीवनकी झाँकियाँ भी मिलती हैं। जिस प्रकार इन कथाओंकी भाषा और जनताकी भाषामें अनेक साम्य हैं, उसी प्रकार उनका वर्ण्यविषय भी विभिन्न वर्गोंके वास्तविक जीवनका चित्र हमारे सामने उपस्थित करता है। केवल राजाओं और पुरोहितोंका जीवन ही इस कथासाहित्यमें चित्रित नहीं है, अपितु साधारण व्यक्तियोंका जीवन भी अंकित है।"[1]

वस्तुतः प्राकृतकथाओंके पात्र कलात्मक दृष्टिसे किसी समस्याको लेकर उपस्थित होते हैं। वे कथाके प्रारम्भसे लेकर उपसंहार तक अपने जीवनकी अनन्त पीड़ाओंके साथ उस समस्याको ढोते चलते हैं। इतिवृत्तोंका अधिक जमघट रहनेपर भी कथाप्रवाहमें कोई कमी नहीं आने पायी है। कथानकोंके मोड़ रोचकता उत्पन्न करनेमें सहायक हैं। मुख्य कथाका सिद्धान्त अवान्तर कथाओं द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राकृतकी लघुकथाओंमें घटना और

---

१. ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर, भाग दो, पृ० ५४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उद्देश्य ये दोनों तत्त्व उपलब्ध होते हैं। सूक्ति और लोकोक्तियों द्वारा लघुकथाओंको मनोरंजक बनाया गया है।

प्राकृतकथाओंमें व्यवहृत प्रमुख कथानक-रूढ़ियाँ

कथाओंमें बार-बार व्यवहृत होनेवाली एक-जैसी घटनाओं अथवा एक-से विचारोंको कथानक-रूढ़ि' की संज्ञा दी गयी है। यह शब्द 'अंग्रेजी' के फिक्सन मोटिवका पर्याय है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा है—"हमारे देशके साहित्यमें कथानकको गति और घुमाव देनेके लिए कुछ ऐसे अभिप्राय बहुत दीर्घकालसे व्यवहृत होते आये हैं, जो बहुत दूर तक यथार्थ होते हैं, और जो आगे चलकर कथानकरूढ़िमें बदल गये हैं"।[1] कथानकरूढ़ियोंका प्रयोग कर संस्कृतिके साथ कथातत्त्वोंकी भी योजना करना है। सामान्यतः कथानकरूढ़ियों द्वारा निम्नलिखित गुणोंका समवाय किया जाता है—

(१) कथानकों में गतिमत्व-कर्मकी निष्पत्ति।
(२) कथानकों और घटनाओंमें नया मोड़ उत्पन्न करना।
(३) कथामें विस्तारका सम्पादन।
(४) संकेतों द्वारा कथोद्देश्यका स्पष्टीकरण।
(५) प्रक्षेपकों द्वारा कथासूत्रोंका अध्याहार करना।
(६) भावी घटनाओंका संसूचन।
(७) पुरातन संस्कृत और प्रवृत्तियोंका संयोजन।
(८) घटनाओंमें आवृत्ति द्वारा उत्पन्न नीरसताका निराकरण।

प्राकृतकथा-साहित्यमें प्रयुक्त समस्त कथानकरूढ़ियोंका विश्लेषण करना इस लघुकाय निबन्धमें सम्भव नहीं है, अतएव यहाँ कतिपय प्रमुख कथानक-रूढ़ियोंकी तालिका प्रस्तुत की जाती है।

१. घोड़ेका आखेटके समय निर्जन-वनमें पहुँच जाना, मार्ग भूलना, समुद्रयात्रा करते समय यानका भंग हो जाना और काष्टफलकके सहारे नायक-नायिकाकी प्राणरक्षा, जैसी घटनात्मक रूढ़ियाँ इस कोटिके अन्तर्गत हैं।

२. स्वप्नमें किसी पुरुष या किसी स्त्रीको देखकर उसपर मोहित होना अथवा अभिशाप, यन्त्र-मन्त्र, जादू-टोनाके बलसे रूप-परिवर्तन करना आदि विचार या विश्वासोंका समवाय।

३. महान् शक्तिशाली व्यक्तिके जन्मके पूर्व स्वप्नदर्शनका होना एवं भविष्यसूचक शुभशकुनोंका प्रकट होना।

४. भविष्यवाणी और आकाशवाणीकी योजना। नायक-नायिकाको रहस्यमयी घटनाओं की सूचना देने हेतु उक्त वाणियोंका प्रयोग, उनको कर्त्तव्यकी सूचना एवं भावी-फलाफल।

५. राक्षस और व्यन्तरोंके वार्तालाप, व्यन्तरीकी प्रेमयाचना और रूपान्तर द्वारा नायकको धोखा देना एवं विद्याधरों द्वारा नायकके कार्योंमें सहयोग देना।

---

१. हिन्दी साहित्यका आदिकाल, पटना, प्रथम संस्करण पृ० ७४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. कठिन कार्यके सम्पादनके निमित्त सहायकके रूपमें देवताओंका अवतरित होना विशिष्ट अवसरों पर देवका प्रकट होकर कथानायक अथवा नायिकाके प्रणकी रक्षा करना।

७. किसी निमित्त-विशेषसे पूर्वजन्मकी स्मृति जाग्रत होनेपर नायक या नायिकाका अपने पूर्वजन्मके प्रेमीको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील होना, मन्त्र-औषधि-पट-गुटिका आदिके चमत्कारका प्रयोग और इनके द्वारा विलक्षण कार्योंका सम्पादन एवं किसी नगरके राजाकी मृत्यु होनेपर देवाधिष्ठित वस्तुओं द्वारा नये राजाका निर्वाचित होना।

८. वैराग्यप्राप्तिके निमित्तोंकी योजना, निर्जन स्थानमें ध्वस्त नगर या भवनकी प्राप्ति, वहाँपर राक्षस या व्यन्तरका उपद्रव, किसी रूपवती राजकुमारी या श्रेष्ठिकन्याका सद्भाव, नायकका उस कन्याके साथ विवाह सम्पादित होना एवं नगरकी ओर प्रस्थान। खलनायक द्वारा नायकको समुद्रमें गिरा देना; नायकका बचकर निकल आना; नायिकाके शीलपर खल-नायकका आक्रमण; पर-नायिकाकी दृढ़ता और अन्तमें किसी जैनमन्दिर या अन्य धर्मस्थानमें आर्यिकाके समक्ष साधनामें व्याप्त होना; कालान्तरमें नायकका मिलन और उनकी विपत्ति-का अन्त।

९. चित्रपट द्वारा पूर्वभवके नायक या नायिकाका अन्वेषण, विवाहमें विघ्न और संघर्षके अनन्तर विवाहका होना। छोटे भाईसे बड़े भाइयोंकी ईर्ष्या, उसका नगरत्याग, शुभोदयसे छोटे भाईका धनार्जन और अन्तमें बड़े भाइयोंका भी उसीके यहाँ पहुँच जाना।

१०. जन्म-जन्मान्तरोंकी श्रृंखला तथा एक जन्मके शत्रुका अगले जन्ममें भी शत्रुके रूपमें अवतरित होना, प्रतिशोध चुकानेके कारण अनेक प्रकारके कष्ट देना एवं कष्टसहिष्णु बनकर जनताकी सहानुभूति प्राप्त करना।

११. छोटी रानीके प्रेममें आसक्त हो राजा द्वारा अन्य रानियों और उनके पुत्रों पर अत्याचार, पुत्रोंका विदेश गमन, धनार्जन एवं शक्तिसम्पादन, लौटने पर राजा द्वारा स्वागत और घरमें यथोचित स्थान।

इस प्रकार प्राकृतकथाओंमें विभिन्न कथानकरूढ़ियोंका प्रयोग होनेसे उनकी प्राचीनता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही साहित्यिक महत्त्व भी प्रकट होता है। सामाजिक परम्परा, रीति-रिवाज, कला-कौशल, विद्या-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान आदिकी अभिव्यञ्जक शताधिक कथानक-रूढ़िवादियाँ प्राकृतकथा-साहित्यमें समवेत हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति, साहित्य और प्राचीन परिस्थितियोंके परिज्ञानार्थ प्राकृतकथा-साहित्य अत्यधिक उपयोगी है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन कोश-साहित्य

किसी भी भाषाके समूहका रक्षण और पोषण कोश-साहित्य द्वारा ही सम्भव है। कोश की महत्ताके सम्बन्धमें बतलाया गया है—

कोशस्यैव महीपानां कोशस्य विदुषामपि।
उपयोगो महानेष क्लेशस्तेन बिना भवेत् ॥

जिस प्रकार राजाओं या राष्ट्रोंका कार्य कोश (खजाना) के बिना नहीं चल सकता, कोशके अभावमें शासन-सूत्रके संचालनमें क्लेश होता है, उसी प्रकार विद्वानोंको शब्दकोशके बिना अर्थग्रहणमें क्लेश होता है। शब्दोंमें संकेत ग्रहणकी योग्यता कोश साहित्यके द्वारा ही प्रतीत होती है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस प्रकारके उपयोगी और सार्वजनीन साहित्यमें साम्प्रदायिक भेद किन कारणोंसे उत्पन्न होता है? कोशगत शब्दसम्पत्ति पर जैन, बौद्ध और वैदिक विचारधाराओंकी साम्प्रदायिक छाप किस प्रकार सम्भव है? ऐसा तो कभी सम्भव नहीं होता कि जैन आम्नायमें शब्दोंका प्रयोग किसी अर्थमें होता हो और इतर आम्नायमें अन्य किसी अर्थमें। जल शब्दका अर्थ मानवमात्रके लिए पिपासा शान्त करने वाला शीतल पदार्थ है, न कि जैन आम्नाय वालोंके लिए किसी भिन्नार्थका द्योतक। अतः कोश साहित्यमें साम्प्रदायिक भेद किस प्रकार सम्भव है? इस प्रश्नका समाधान निम्न निष्पत्तियों के आधार पर सहज ही किया जा सकता है।

१. प्रत्येक दर्शनकी अपनी कुछ मान्यताएँ होती हैं और इन मान्यताओंके अनुसार शब्दावली भी कुछ अंशों तक साम्प्रदायिक वातावरणसे प्रभावित रहती है; अतः इन शब्दावलियोंका तात्त्विक अर्थ उस सम्प्रदायके आचार्य ही अवगत कर पाते हैं। फलतः जैन दर्शनके प्रकाशमें शब्दोंके अर्थोंका विवेचन जैन कोशोंमें ही सम्भव है।

२. प्रत्येक दर्शन या आम्नायमें आवश्यकतानुसार नये-नये शब्दोंका गठन या संयोजन किया जाता है। अतः पुरानी या प्रचलित शब्दावली उनके भावोंकी अभिव्यंजनामें सफल नहीं हो पाती। अतएव साम्प्रदायिक कोशकार उपर्युक्त प्रकारकी शब्दावलियोंका चयन करते हैं। उदाहरणार्थ यों कहा जा सकता है कि अर्हत्, जिन, नाभिज, वर्गणा, द्रव्य, नारायण प्रभृति सहस्रों ऐसे शब्द हैं, जिनके पर्यायवाची शब्द अमरकोश, वैजयन्ती, मेदिनी, विश्वप्रकाश कोश आदिमें नहीं हैं। जैन कोशकारोंने साधारणीकरणके धरातल पर उतर कर ऐसे कोशोंका निर्माण किया, जो सबके लिए समान रूपसे उपादेय हो सकते हैं।

३. अपने सम्प्रदायमें प्रयुक्त होने वाले पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या, संकलन और प्रतिपादन करना भी साम्प्रदायिक कोशोंका एक लक्ष्य है।

४. साम्प्रदायिक क्षितिजमें आविष्ट व्यक्तियोंके नाम, वस्तुओंके नाम तथा भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं आगमिक शब्दावलियोंके अर्थोंका निरूपण भी साम्प्रदायिक कोशोंमें ही सम्भव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. प्रत्येक धर्मका किसी एक भाषाके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। वह भाषा उस सम्प्रदायके धर्मग्रन्थोंकी अपनी भाषा मान ली जाती है, यथा वैदिक-धर्मके लिए संस्कृत, बौद्ध-धर्मके लिए पालि एवं जैन-धर्मके लिए प्राकृत। अतः साम्प्रदायिक कोशकार अपने धर्म-ग्रंथोंमें व्यवहृत भाषाके कोशग्रंथ भी लिखते हैं। यही कारण हैं कि जैन कोशकारोंने संस्कृतके कोश-ग्रंथोंके साथ प्राकृत और देशी भाषामें भी कोशग्रंथोंकी रचना की है।

जैन कोश-साहित्यकी उत्पत्ति और विकास

द्वादशांगवाणीके अन्तर्गत सभी प्रकारका साहित्य सन्निविष्ट हो जाता है, अतः कोश-साहित्यकी रचनाएँ भी सत्यप्रवादपूर्व और विद्यानुवादकी पाँच सौ महाविद्याओंमेंसे अक्षर-विद्यामें सम्मिलित हैं। आरम्भमें एकादश अंगों, चतुर्दशपूर्वोंके भाष्य, चूर्णियाँ, वृत्तियाँ एवं विभिन्न प्रकारकी टीकाएँ ही कोश-साहित्यका काम करती रहीं। कालान्तरमें जब चूर्णियों और भाष्योंके शब्दार्थोंकी पूर्णतः जानकारी न रही, तो शब्दकोशोंकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

सबसे पहले कौन सा जैन या जैनेतर कोश लिखा गया, यह कहना कठिन है। उपलब्ध जैन कोश-साहित्यमें धनंजय कविकी नाममाला ही सबसे प्राचीन है। यद्यपि ई० की पाँचवीं और छठी शताब्दीमें कोशका स्वरूप निश्चित हो चुका था। संघदासगणीकी वसुदेव हिण्डीके "चत्तारि अट्ठ" वाली गाथाके १४ अर्थ किये गये हैं। ये नाना अर्थ ही अनेकार्थकोश की बुनियाद हैं। जैनोंमें प्रचलित द्विसंधान, चतुस्सन्धान, सप्तसन्धान, चतुर्विंशतिसन्धान जैसे अनेकार्थक काव्योंकी परम्परा इस बातका ज्वलन्त प्रमाण है कि जैनोंमें कोश-साहित्यका सृजन भाष्य और वृत्तियोंके पश्चात् तत्कालमें ही होगा। अनेकार्थक साहित्य तभी लिखा जाता है, जब कोशोंमें शब्दोंके विभिन्न अर्थ निश्चित कर लिये जाते हैं। एक-एक श्लोकके सौ-सौ अर्थोंकी अभिव्यंजना करना साधारण बात नहीं है।

महाकवि धनंजयके कोश विषयक तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—नाममाला, अनेकार्थक नाममाला और अनेकार्थनिघण्टु। इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त इनके द्वारा रचित द्विसन्धान काव्य और विषापहार स्तोत्र भी हैं। द्विसन्धान काव्यके अन्तिम श्लोककी टीकासे अवगत होता है कि इनके पिताका नाम वासुदेव, माताका नाम श्री देवी और गुरुका नाम दशरथ था। ये गृहस्थ थे। इनके जीवनवृत्तके सम्बन्धमें सुदृष्टितरंगिणीकी ४१वीं तरंगसे ज्ञात होता है कि ये प्रसिद्ध अमरकोशकार, अमर कविके साले थे। शोलापुर निवासी स्व० सेठ रावजी सखाराम जी दोशी महोदयने अमरकोश सम्बन्धी एक ट्रेक्ट प्रकाशित किया था, जिसकी भूमिकामें अनेक युक्तियोंसे यह सिद्ध किया था कि अमरकोशकार जैन हैं।

नाममालाके अन्तमें प्राप्त होनेवाले निम्न श्लोकसे कविकी कीर्त्ति "द्विसन्धानकवि"के नामसे व्याप्त थी।

प्रमाणमकलंकस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
द्विसन्धानकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्॥

अकंलकदेवका प्रमाणशास्त्र, पूज्यपादका लक्षण—व्याकरणशास्त्र और द्विसन्धान काव्य—ये तीनों अपूर्व रत्नत्रय हैं। वादिराज सूरिने पार्श्वनाथ चरितके प्रारम्भमें द्विसन्धान काव्यकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनेकभेदसन्धानाः खनन्तो हृदये मुहुः ।
बाणा धनंजयोन्मुक्ताः कर्णस्यैव प्रियाः कथम् ॥

धनंजय द्वारा कहे गए अनेक सन्धान—अर्थ भेदवाले और हृदयस्पर्शी वचन कानोंको ही प्रिय क्यों लगेंगे, जबकि अर्जुनके द्वारा छोड़े जाने वाले अनेक लक्ष्योंके भेदक मर्मभेदी बाण कर्णको प्रिय नहीं लगते ।

इससे स्पष्ट है कि शब्दके अर्थ और उनके समुचित प्रयोगका वैदग्ध्य इन्हें पूर्णतया प्राप्त था । नाममालाका अन्तिम श्लोक भी उक्त तथ्यका साक्षी है—

ब्राह्मणं समुपेत्य वेदनिनदव्याजात् तुषाराचल—
स्थानस्थावरमीश्वरं सुरनदीव्याजात् तथा केशवम् ।
अप्यम्भोनिधिशायिनं, जलनिधिः ध्वानापदेशादहो,
फूत्कुर्वन्ति धनंजयस्य च भिया शब्दाः समुत्पीडिताः ॥

धनंजयके भयसे पीड़ित होकर शब्द ब्रह्माजीके पास जाकर वेदोंके निनादके छलसे, हिमालय पर्वतके स्थानमें रहने वाले महादेवजीको प्राप्त होकर, उनके प्रति स्वर्गकी गंगाकी ध्वनिके मिषसे एवं समुद्रमें शयन करने वाले विष्णुके प्रति समुद्रकी गर्जनाके छलसे जाकर पुकारते हैं, यह नितान्त आश्चर्यकी बात है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि महाकवि धनंजयका शब्दोंके ऊपर पूरा अधिकार है ।

धनंजयके समयके सम्बन्धमें विद्वानोंमें पर्याप्त मतभेद है । स्व० श्री नाथूराम जी प्रेमी-ने बनारसी विलासकी उत्थानिकामें ध्वन्यालोकके कर्त्ता आनन्दवर्धन और हर्षचरितके कर्त्ता रत्नाकर द्वारा धनंजयकी स्तुति किये जानेकी बात कही है । आनन्दवर्धनका समय ई० ८४०-७० एवं रत्नाकरका समय ई० ८१३-५० है । अतः महाकवि धनंजयका समय ई० ८१३ से पहले होना चाहिए ।

उपर्युक्त कथनकी पुष्टि आदरणीय डाक्टर हीरालालजी द्वारा लिखित षट्खण्डागम प्रथम भागकी प्रस्तावनासे भी होती है । डाक्टर साहबने सूचित किया है कि जिनसेनके गुरु वीरसेन स्वामीने धवला टीका पृ० ३८७ पर अनेकार्थ नाममालाका 'हेतवेवं प्रकाराद्यैः' श्लोक उद्धृत किया है । धवला टीका सन् ८१६ में समाप्त हुई थी, अतः धनंजयका समय ई० ८१६ के पहले होना तर्क सम्मत है ।

नाममाला :—

यह छात्रोपयोगी सरल और सुन्दर शैलीमें लिखा गया कोश है । इसमें व्यवहारमें प्रयुक्त होने वाले सभी आवश्यक पर्यायवाची शब्दोंका संकलन किया गया है । महाकवि धनं-जयने २०० श्लोकोंमें ही संस्कृत भाषाकी आवश्यक शब्दावलीका चयनकर गागरमें सागर भर देनेकी कहावत चरितार्थ की है । शब्दसे शब्दान्तर बनानेकी प्रक्रिया निराली है । अमरकोश, वैजयन्ती, प्रभृति किसी भी कोशकारने इस पद्धतिको नहीं अपनाया है । इस पद्धतिका सबसे बड़ा लाभ है कि एक प्रकारके पर्यायवाची शब्दोंकी जानकारीसे ही दूसरे प्रकारके पर्यायवाची शब्दोंकी जानकारी सहजमें हो जाती है । जैसे पृथ्वीके नामोंके आगे 'धर' या 'धर'के पर्यायवाची शब्द जोड़ देनेसे वृक्षके नाम हो जाते हैं । इसी प्रकार 'जल' शब्द के आगे स्वामिन् आदि शब्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जोड़ देनेसे मछलीके नाम, वृक्ष शब्दके पर्यायवाची शब्दोंके आगे 'चर' शब्द जोड़ देनेसे बन्दरके नाम, जल शब्दके पर्यायवाची शब्दोंके आगे 'प्रद' शब्द जोड़ देनेसे बादलके नाम, 'उद्भव शब्द जोड़ देनेसे कमलके नाम एवं 'धर' जोड़ देनेसे समुद्रके नाम बन जाते हैं। महाकवि धनंजयने अपनी इस वैज्ञानिक पद्धति द्वारा इस कोशको अधिक लोकप्रिय और उपयोगी बनाया हैं। इस कोशमें कुल १७०० शब्दोंके अर्थ दिये गए हैं।

इस कोशपर अमरकीर्त्तिका भाष्य भी विद्यमान है। अमरकीर्त्तिका समय १५ वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने नाममालामें आए हुए समस्त शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं। इन व्युत्पत्तियोंसे शब्दोंका सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

अनेकार्थ नाममाला और अनेकार्थ-निघण्टु

अनेकार्थ-नाममालामें एक शब्दके अनेक अर्थोंका प्रतिपादन किया गया है। इसमें कुल ४६ पद्य हैं, और अद्य, अज, अंजन, अथ, आदि, अनन्त, अन्त, शब्द, अर्क, इति, कदली, कम्बु, केतन, कीलाल, कैवल्य, कोटि, क्षीर प्रभृति सौ शब्दोंके नाना अर्थोंका संकलन किया गया है। मंगलाचरणके पश्चात् कविने कहा है—

गम्भीरं रुचिरं चित्रं विस्तीर्णार्थप्रकाशकम्।
शाब्दं मनाक् प्रवक्ष्यामि कवीनां हितकाम्यया॥

कवियोंकी हितकामनाकी दृष्टिसे गम्भीर, सुन्दर, विचित्र और व्यापक अर्थको प्रकट करने वाले कतिपय शब्दोंका निरूपण करता हूँ।

अनेकार्थ-निघण्टुमें २३८ शब्दोंके विभिन्न अर्थोंका संकलन किया गया है। रचना शैलीकी दृष्टिसे यह कोश साधारण स्तरका है। इसकी श्लोक संख्या १५४ है। एक-एक शब्दके तीन-तीन चार-चार अर्थ बतलाये गये हैं। अनेकार्थ-निघण्टु पर अमरकीर्त्तिका भाष्य नहीं है।

पाइअलच्छी-नाममाला

प्राकृत भाषामें भी शब्दकोशोंकी रचना जैनाचार्योंने की है। अभिमान चिह्न, गोपाल, देवराज, द्रोण धनपाल और हेमचन्द्रके नाम इस दिशामें गौरवके साथ लिए जाते हैं। यद्यपि आज उपर्युक्त सभी रचयिताओंकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं है, कुछके नामोंकी मात्र सूचना ही मिलती है, तो भी धनपाल कविकी "पाइअलच्छी-नाममाला, प्राकृत भाषाके लिए एक अच्छा कोश है। महाकविने ग्रंथके अन्तमें अपनी प्रशस्ति निम्न प्रकार दी है—

विक्कमकालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि।
मालवरिंदधाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि॥
धारानयरीए परिट्ठिएण मग्गेठिआए अणवज्जे।
कज्जे कणिट्ठबहिणीए; 'सुन्दरी' नामधिज्जाए॥
कइणो अंधजणकिवा कुसलत्ति पयाण अंतिमावण्णा।
नामम्मि जस्स कमसो तेणेसा विरइया देसी॥
कव्वेसु जे रसड्ढा सद्दा बहुसा कईहि बज्झन्ति।
ते इत्थ मए रइया रमंतु हिअए सहिअयाणं॥

अर्थात् विक्रम संवत् १०२९ में जबकि मालवनरेन्द्रको निर्वासित कर दिया गया था; धारानगरीके अन्तर्गत मानखेड गाँवमें कवि धनपालने अपनी छोटी बहन सुन्दरीके लिए इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्दोष ग्रन्थकी रचना की। जो काव्योंका रसास्वादन करने वाले हैं, वे कवियोंके द्वारा प्रयुक्त नाना प्रकारकी शब्दावलीको इस वृत्तिके द्वारा अवगत कर सकेंगे।

धनपाल कविका उल्लेख कवि हेमचन्द्रने "अभिधान चिन्तामणि"की स्वोपज्ञ टीकामें "व्युत्पत्तिर्धनपालतः" कहकर किया है। अतः यह सिद्ध है कि कोषकार धनपाल, हेमचन्द्रके समय तक पर्याप्त यश अर्जन कर चुके थे।

इनके पिताका नाम सर्वदेव था। ये काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनका मूल निवास स्थान 'शंकास्य' नामक ग्राम था। ये आजीविकाके निमित्त धारा नगरीमें आये थे। इनके पिता वैष्णव धर्मानुयायी थे। आधी आयु बीत जानेपर भी वे महेन्द्र सूरिके निकट जैनधर्ममें दीक्षित हुए थे। इन्होंने धारा नगरीमें जैनोंके प्रवेश पर लगी हुई रोकको हटवाया था। जैन होनेके उपरान्त ही धनपालने "पाइअलच्छी नाममाला'की रचना की।

यह पद्यबद्ध कोश है, इसमें कुल २७५ गाथाएँ और ९९८ शब्दोंके पर्याय संग्रहीत हैं। इस कोशमें संस्कृत व्युत्पत्तियोंसे सिद्ध प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द, इन दोनों प्रकारके शब्दोंका संकलन किया गया है। उदाहरणके लिए भ्रमरके पर्यायवाची शब्दोंको दिया जाता है।

फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला या महुअरा अलिबो।
इंदिंदिरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा ॥११॥

अर्थ—फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, भसल, महुअर, अलि, इंदिदिर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भ्रमर ये ११ नाम भ्रमरके हैं। इन ग्यारह शब्दोंमें फुल्लंधअ, रसाऊ, भसल, इंदिदिर और धुअगाय ये पाँच शब्द देशी हैं। यों तो फुल्लधुंअकी व्युत्पत्ति पुष्पन्धय और रसाऊकी रसायुत् की जा सकती है और पुष्पन्धयका अर्थ भी पुष्परसका पान करने वाला भ्रमर होगा, किन्तु ये दोनों शब्द देशी ही हैं।

सुन्दर शब्दके पर्यायवाचियोंमें भी लट्ठका प्रयोग किया है। यह भी देशी शब्द है। इस कोषमें कुछ ऐसे भी देशी शब्द आये हैं, जिनका प्रयोग आज भी लोकभाषाओंमें होता है। उदाहरणके लिए अलस या आलसके पर्यायवाचियोंमें एक मट्ठ शब्द आया है। ब्रजभाषामें आज भी आलसीके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है। इसी प्रकार नूतन पल्लवोंके अर्थमें कुंपल शब्दका प्रयोग किया गया है। यह शब्द ब्रजभाषा, भोजपुरी और खड़ी बोली इन तीनोंमें प्रयुक्त होता है। इस प्रकार इस कोषमें अनेक ऐसे देशी शब्द संग्रहीत हैं, जिनका प्रयोग आज भी आर्यभाषाओंमें पाया जाता है।

इस कोशके अन्तमें प्रत्ययोंके अर्थ बतलाये गये हैं। इर प्रत्ययको स्वभावसूचक और इल्ल, इत्र, आल प्रत्ययको मत्वर्थक बताया गया है। इस तरह कोशकारने इसे सभी प्रकारसे उपयोगी बनानेका उपक्रम किया है।

पाइअलच्छी-नाममालाके उपरान्त कोशकारोंमें कालक्रमानुसार हेमचन्द्रका नाम आता है। इनका जन्म अहमदाबादसे ६० मील दक्षिण-पश्चिम कोणमें स्थित धुंधका नगरमें विक्रम संवत् ११४५ में कार्तिकी पूर्णिमाकी रात्रिमें हुआ था। इनके पिताका नाम चाचिग और माताका नाम पाहिणी देवी था। इनका जन्म नाम चांगदेव और दीक्षा नाम सोमचन्द्र था। इन्होंने आचार्य देवचन्द्रसे बचपनमें ही दीक्षा धारण की थी। सूरिपद प्राप्त होनेके पश्चात् ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमचन्द्र कहलाये । इनकी विद्वत्तासे सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल दोनों ही प्रभावित थे । अगाध पांडित्यके कारण ही ये 'कलिकालसर्वज्ञ' कहलाते थे । इन्होंने चार कोश ग्रंथोंकी रचना की है—अभिधान चिंतामणि, अनेकार्थ संग्रह, निघण्टु और देशीनाममाला । इनमेंसे प्रथम तीन संस्कृत भाषाके कोष हैं और चौथा देशी शब्दोंका संग्रह है । निघण्टु तो वनस्पति-शास्त्रका कोश है ।

अभिधानचिंतामणि :—

संस्कृतके उपलब्ध समस्त जैन कोश-साहित्यमें अभिधान चिंतामणि ही एक ऐसा कोश है, जिसमें जैनत्व पूर्णरूपेण सुरक्षित है । इसमें तीर्थंकरोंके नाम, प्रत्येक तीर्थंकरके पर्यायवाची शब्द, तीर्थंकरोंके माता-पिताओंके नाम, तीर्थंकरोंके अतिशयोंकी नामावली, भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन चौबीसी, गणधरोंके नाम, तीर्थंकरोंके ध्वजचिन्ह, अन्तिम केवली, श्रुतकेवली, तीर्थंकरोंकी जन्मभूमियाँ तथा जैन आम्नाय द्वारा समस्त देवगति, तिर्यंचगतिके जीवोंका वर्णन किया गया है । चतुर्थकाण्डमें पृथ्वीकायिक जीव पर्याय, अप्कायिक जीव पर्याय, तेजस्कायिक जीव पर्याय, वायुकायिक जीव पर्याय और वनस्पतिकायिक जीव पर्यायका विस्तृत निरूपण किया है । द्वीन्द्रिय जीवोंकी नामावली चार श्लोकोंमें दी गई है और त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी नामावली भी पूरे विस्तारके साथ लगभग २० श्लोकोंमें वर्णित की गई है। यहाँ उदाहरणके लिये दो इन्द्रिय जीवोंके पर्यायवाची शब्दोंको उद्धृत किया जाता है ।

नीलंगुः कृमिस्तेजः क्षुद्रकीटो बहिर्भवः ।
पुलकास्तूभयेऽपि स्युः कीकसाः कृमयोऽणवः ।।
काष्ठकीटो घुणः गण्डूपदः किंचुलकः कुसूः ।
भूलता गण्डूपदी तु शिली अस्त्रपा जलौकसः ।।
जुलालोका जलूका च जलौका जलसर्पिणी ।
मुक्तास्फोटोऽब्धिमडूकी शुक्तिः कम्बुस्तु वारिजः ।।
त्रिरेखःषोडशावर्तः शंखः अथ क्षुद्रकम्बवः ।
शंखनकाः क्षुल्लकाश्च शम्बूकास्त्वम्बुमात्रजाः ।।

कृमि, नीलंगु, क्षुद्रकीट, पुलक, अणुकृमि, कीकस, काष्ठकीट, घुण, गण्डूपद, किंचुलक, कुसूभूलता, गण्डूपदी, सिली, अस्त्रपा, जलौकस, जलालोक, जलूक, जलौक, जलसर्पी, मुक्ता-स्फोट, अब्धिममंडूकी, शुक्ति, कम्बु, शंख, वारिज, त्रिरेखा, षोडशावर्त्त, क्षुद्रकम्बव, शंखनक, क्षुल्लक, शम्बूक, कर्पद, हिरण्य, पणस्थिक, वराणट, दुर्नाम और दीर्घकोश ये द्वीन्द्रिय जीवोंके पर्यायवाची हैं ।

ऊहापोह करनेपर प्रतीत होगा कि इस प्रकारके पर्यायवाचीमें त्रस और स्थावरोंके पर्यायवाची शब्दोंका इतने विस्तारके साथ प्रतिपादन किया है कि संस्कृत भाषाके किसी भी कोशमें इतने पर्यायवाची शब्दोंका समावेश नहीं मिलेगा ।

इस पद्यमयकोशमें कुल छः काण्ड हैं । प्रथम देवाधिदेव नामका काण्ड है, इसमें ९६ पद्य हैं । द्वितीय देवकाण्ड, इसमें २५० पद्य हैं । तृतीय मर्त्यकाण्डमें ५९८ पद्य, चतुर्थ भूमि-काण्डमें ४२३ पद्य, पंचम नारककाण्डमें ७ पद्य एवं षष्ठ सामान्यकाण्डमें १७९ पद्य हैं । इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार कुल १५४२ श्लोक इस कोशमें हैं। हेमचन्द्रने आरम्भमें ही रूढ़, यौगिक और मिश्र शब्दोंके पर्यायवाची शब्द लिखनेकी प्रतिज्ञा की है। उन्होंने बतलाया है—

> व्युत्पत्तिरहिताः शब्दा रूढ़ा आखण्डलादयः।
> योगेऽन्वयः स तु गुणक्रियासम्बन्धसंभवः॥
> गुणतो नीलकण्ठाद्याः क्रियातः स्रष्टृसन्निभाः।

व्युत्पत्तिरहित शब्द रूढ़ कहलाते हैं, जैसे आखण्डल इत्यादि। जिन शब्दोंके प्रकृति प्रत्ययमें अर्थानुगमन होता है, वे यौगिक कहलाते हैं। वह योग गुण, क्रिया और अन्य संबंधोंके कारण जिन शब्दोंका व्यवहार होता है, वे नीलकंठ, शितिकण्ठ, कालकंठ, प्रभृति हैं। क्रियाका योग जिन शब्दोंमें होता है, वे शब्द स्रष्टा, विधाता आदि हैं।

इतर सम्बन्धमें स्वस्वामिभाव, जन्य-जनकभाव, कार्यकारक भाव, भोज्य-भोजक भाव, पति-कलत्रभाव, वाह्य-वाहकभाव, ज्ञातिसम्बन्ध, आश्रयाश्रयिभाव एवं बध्यबधक भावको ग्रहण किया गया है, और इन्हीं सम्बन्धोंके अनुसार पर्याय शब्दोंका कथन किया है। इसके पश्चात् अन्यान्य व्युत्पत्तिजन्य पर्यायोंका प्रतिपादन किया है।

इस कोशमें निम्न मौलिकताएँ और भी उपलब्ध होती हैं। सबसे पहली मौलिकता तो यह है कि हेमचन्द्रने भी धनंजयके समान शब्दयोगसे अनेक पर्यायवाची शब्दोंको बनानेका विधान किया है, किन्तु इस विधानमें "कविरूढ्या ज्ञेयोदाहरणावली"के अनुसार उन्हीं शब्दोंको ग्रहण किया गया है, जो कवि सम्प्रदायमें प्रचलित हैं। जैसे पतिवाचक शब्दोंमें कान्ता, प्रियतमा, बधू, प्रणयिनी एवं निभा शब्दोंको या इनके समान अन्य शब्दोंको जोड़ देनेसे पत्नीके नाम और कलत्रवाचक शब्दोंमें वर, रमण, प्रणयी, श एवं प्रिय शब्दोंको या इनके समान अन्य शब्दोंको जोड़ देनेसे पतिवाचक शब्द बन जाते हैं। गौरीके पर्यायवाची बनानेके लिए शिव शब्दमें उक्त शब्द जोड़नेपर शिवकान्ता, शिवप्रियतमा, शिववधू, शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं। निभका समानार्थक परिग्रह भी है, किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिवपरिग्रह नहीं। यतः कवि सम्प्रदायमें यह शब्द ग्रहण नहीं किया गया है।

कलत्रवाची गौरी शब्दमें वर, रमण, प्रभृति शब्द जोड़नेपर गौरीवर, गौरीरमण, गौरीश आदि शिववाचक शब्द बनते हैं। जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिवका वाचक है, उस प्रकार गंगावर शब्द नहीं। यद्यपि कांतावाची गंगा शब्दमें वर शब्द जोड़कर पतिवाचक शब्द बन जाते हैं, तो भी कवि सम्प्रदायमें इस शब्दकी प्रसिद्धि नहीं होनेसे यह शिवके अर्थमें ग्राह्य नहीं है। हेमचन्द्रने अपनी वृत्तिमें इन सारी विशेषताओंको बतलाया है तथा 'शेषाश्च' में और भी अनेक कोशगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

दूसरी मौलिकता इस कोशकी यह है कि इसमें अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो अन्य कोशोंमें नहीं मिलते। अमरकोशमें सुन्दर के पर्यायवाची सुन्दरम्, रुचिरम्, चारु, सुषमम्, साधु, शोभनम्, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यं, मनोज्ञं, मंजुः, मंजुलम्, ये बारह शब्द आये हैं। हेमने इसी सुन्दरके पर्यायवाची चारुः, हारिः, रुचिरं, मनोहरं, वल्गुः, कान्तं, अभिरामम्, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यं, सुषमम्, शोभनं, मंजुलम्, मंजुः, मनोरमम्, साधुः, रम्यम्, मनोरमम्, पेशलं, हृद्यं, काम्यं, कम्नं, कमनीयं, सौम्यं, मधुरम् और प्रियम् ये २६ शब्द बतलाये हैं। इतना ही नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमने अपनी वृत्तिमें 'लडह' देशी शब्दको भी सौन्दर्यवाची ग्रहण किया हैं। इस प्रकार हेमने एक ही शब्दके अनेक पर्यायवाची शब्दोंको ग्रहणकर अपने इस कोशको खूब समृद्धिशाली बनाया है। कुछ ऐसे नवीन शब्द भी इस कोशमें आये हैं, जिनका अन्यत्र पाया जाना संभव नहीं है। गेहूँके आटेके लिए समिता (३।६) जूठनके लिए फेला और पिण्डोलि (३।९०) बड़ी सालीके लिए ज्येष्ठश्वसा और कुली, छोटी सालीके लिए हाली, यन्त्रणी और केलिकुचिका (३।२१८-२१९) एवं बहुसन्तानवाली माताके लिए क्रमिला (३।२२२) शब्द आया हैं। इन शब्दोंके प्रयोगोंसे अवगत होता है कि हेमचन्द्रका शब्दज्ञान कितना विशाल था।

हेमचन्द्रने अपने इस संस्कृत कोशमें जिन शब्दोंका संकलन किया है, उनपर प्राकृत अपभ्रंश और देशी भाषाके शब्दोंका पूर्णतः प्रभाव लक्षित होता है। अनेक शब्द तो आधुनिक भाषाओंमें भी दिखलायी पड़ते हैं। उदाहरणके लिए कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं।

१. पोलिका (३।६२) गुजरातीमें पोणी, ब्रजभाषामें पोनी।

२. मोदको लड्डुकश्च (शेष ३।६४)—हिन्दीमें लड्डू, गुजरातीमें लाडू।

३. चोटी (३।३३१)—हिन्दी—चोटी, गुजराती—चोणी।

४. समौ कन्दुकगेन्दकौ—(३।३५३)—हिन्दीमें गेन्द, ब्रजभाषामें गेंद।

५. हेरिको गूढ़पुरुषः (३।३९७) ब्रजभाषामें हेर या हेरना—देखना, गुजराती हेर।

६. तरवारि (३।४४६) ब्रजभाषामें तरवार, राजस्थानीमें तलवार तथा गुजरातीमें तरवार।

७. जंगलो निर्जलः (४।१९) ब्रजभाषामें जंगल, हिन्दीमें जंगल।

८. सुरंगा तु सन्धिला स्याद् गूढ़मार्गो भुवोऽन्तरे (३।५१) ब्रजभाषा—हिन्दी तथा गुजराती तीनोंमें सुरंग।

९. निश्रेणी त्वधिरोहणी (४।७८) ब्रजभाषा नसेनी, गुजराती नीसरणी।

१०. चालनी तितउ (४।९४) ब्रज, राजस्थानी व गुजरातीमें चालनी, हिन्दीमें चलनी या छलनी।

११. पेटास्यान्मञ्जूषा (४।८१) राजस्थानीमें पेटी, गुजरातीमें पेटी, पेटो तथा ब्रजभाषामें पिटारी, पेटी।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि हेमचन्द्रकी शब्दावली देशीभाषाकी ओर विशेष झुकी हुई है। अभिधानचिंतामणि एक सर्वांगपूर्ण कोश है। इसके अध्ययनसे संस्कृत भाषाके पांडित्यके साथ-साथ भाषाके नये मोड़की जानकारी भी प्राप्त हो सकती है।

अनेकार्थसंग्रहनामकोश

अभिधान चिंतामणिमें हेमचन्द्रने एक शब्दके अनेक पर्यायवाची शब्द बतलाये हैं और इस कोशमें एक शब्दके अनेक अर्थोंका संकलन किया है। इसकी शैली भी अभिधान चिंतामणिकी ही है। इसमें सात काण्ड हैं प्रथम एक स्वर काण्डमें १६० श्लोक, द्वितीय द्विस्वरमें ६०८ श्लोक, तृतीय त्रिस्वर काण्डमें ८१४ श्लोक, चतुर्थ चतुःस्वरकाण्डमें ३५९ श्लोक, पंचम पंचस्वरकाण्डमें ५७, षष्ठ षट्स्वरकाण्डमें ७ श्लोक एवं सप्तम अव्ययकाण्डमें ६८ श्लोक हैं। कुल १९३१ श्लोक हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमचन्द्रके इस कोशका मेदिनीकोश और विश्वप्रकाशकोश पर बहुत प्रभाव पड़ा है ।

निघण्टुशेष

यह वनस्पतिकोश है । इसमें भी छः काण्ड हैं । प्रथम वृक्ष काण्डमें १८१ श्लोक, द्वितीय गुल्मकाण्डमें १०५ श्लोक, तृतीय लताकाण्डमें ४४ श्लोक, चतुर्थ शाककाण्डमें ३४ श्लोक, पंचम तृण काण्डमें १७ श्लोक और षष्ठ धान्यकाण्डमें १५ श्लोक हैं । समस्त निघण्टुमें कुल ३९६ श्लोक हैं । इस कोशकी वैद्यक शास्त्रके लिए अत्यधिक उपयोगिता है । अनेकार्थसंग्रहकी टीकाके आरंभमें ही कहा गया है—

> शास्त्राणि वीक्ष्य शतशो, धन्वन्तरिनिर्मितं निघण्टुं च ।
> लिंगानुशासनानि च क्रियतेऽनेकार्थटीकेयम् ।।

अर्थात् निघण्टु लिखनेके समय हेमचन्द्रके समक्ष धन्वन्तरि निघण्टु, राजकोशनिघण्टु, सरस्वती निघण्टु प्रभृति औषधिकोश विद्यमान थे। हेमचन्द्रने इन सभी कोषोंका मन्थनकर नया निघण्टु तैयार किया है, इस कोशको डाक्टर ब्युल्हरने श्रेष्ठ वनस्पतिकोश (Botanical Dictonary) माना है ।

देशीनाममाला

हेमचन्द्रका देशी शब्दोंका यह शब्दकोश बहुत महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है । इस कोशके आधारपर आधुनिक आर्यभाषाओंके शब्दोंकी सांगोपांग आत्मकहानी लिखी जा सकती है । प्राकृत भाषाका शब्दभण्डार तीन प्रकारके शब्दोंसे युक्त है—तत्सम, तद्भव और देशी । तत्सम वे शब्द हैं, जिनकी ध्वनियाँ संस्कृतके समान ही रहती हैं, जिनमें किसी भी प्रकारका वर्णविकार उत्पन्न नहीं होता, जैसे नीर, कंक, कंठताल, तीर, देवी आदि । जिन शब्दोंको संस्कृत ध्वनियोंमें वर्णलोप, वर्णागम, वर्णविकार अथवा वर्णपरिवर्तनके द्वारा अवगत किया जाये वे तद्भव कहलाते हैं, जैसे अग्र = अग्ग, इष्ट = इट्ट, धर्म = धम्म, गज = गया, ध्यान = झाण, पश्चात् = पच्छा आदि । जिन प्राकृत शब्दोंकी व्युत्पत्ति—प्रकृति-प्रत्यय विधान संभव न हो और जिनका अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित हो, ऐसे शब्दोंको देश्य या देशी कहते हैं; जैसे अगय=दैत्य, आकासिय = पर्याप्त, इराव = हस्ती, पलवलि धनाढच आदि । इस देशीनाममाला-में इसी प्रकारके शब्दोंका संकलन किया गया है ।

> जे लक्खणे ण सिद्धा ण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु ।
> ण य गउणलक्खणा सति संभवा ते इह निबद्धा ।।
> देसविसेसपसिद्धीइ भण्णमाणा अणंतया हुंति ।
> तम्हा अणाइपाइअपयट्ठ भासाविसेसओ देसी ।।

जो शब्द न तो व्याकरणसे व्युत्पादित और न संस्कृत कोशोंमें निबद्ध हैं, तथा लक्षणा शक्तिके द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है ऐसे शब्दोंका संकलन इस देशी नाममालामें किया जा रहा है । देशी शब्दसे यहाँ महाराष्ट्र, विदर्भ, आभीर आदि प्रदेशोंमें प्रचलित शब्दोंका संकलन भी नहीं समझना चाहिये । यतः देश विदेशमें प्रचलित शब्द अनन्त हैं, अतः उनका संकलन संभव नहीं । अतएव अनादिकालसे प्रचलित प्राकृत भाषाके शब्द ही देशी शब्द हैं ।

२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार हेमचन्द्रने देशी शब्दोंका आशय प्रकटकर अव्युत्पादित प्राकृत शब्दोंके संकलनकी प्रतिज्ञा की है। पर इसमें उपर्युक्त तीनों ही प्रकारके कुल ३९७८ शब्द संकलित हैं।

तत्सम शब्द १०० + गर्भिततद्भव १८५० + संशय युक्त तद्भव ५२८ + अव्युत्पादित प्राकृत शब्द १५०० = ३९७८।

इस कोशमें उदाहरणके लिए ऐसी अनेक गाथाएँ उद्धृत की गयी हैं जिनमें मूलमें प्रयुक्त शब्दोंको उपस्थित किया गया है। इन गाथाओंका साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। कितनी ही गाथाओंमें विरहिणियोंकी चित्तवृत्तिका सुन्दर अवलोकन किया गया है।

वर्णक्रममें लिखे गये इस कोशमें आठ अध्याय हैं और कुल ७८३ गाथाएँ हैं। धनपाल कविकी 'पाइअलच्छी नाममाला' प्राकृतके आरम्भिक अभ्यासियोंके लिये है, किन्तु यह नाममाला प्रौढ़ विद्वानोंके लिये भी उपयोगी है।

देशी नाममालामें मराठी, कन्नड, गुजराती और ब्रजभाषामें प्रचलित अनेक शब्द मिलते हैं। अवधी भाषामें भी नाममालामें प्रयुक्त अनेक शब्द व्यवहृत हुए हैं। यहाँ थोड़ेसे शब्दोंकी तालिका दी जा रही है।

१. उल्ली तथा उद्धाणा चुल्लीइ १।८७—राजस्थानी चूल्हा, गुजराती चूलो।

२' उत्थल्ला परिवर्त्तनम् १।९३—हिन्दी खड़ी बोली उथल, गुजराती उथल।

३. उल्लुट मिथ्या १।७९—ब्रजभाषा उलट, राजस्थानी उलंटु, गुजराजी उलटुं।

४. उडिदोषधान्यम् १।९८ ब्रजभाषा उड़द, भोजपुरी उरिद, खड़ी बोली उड़द, गुजराती उड़द और राजस्थानी उडिद।

५. ओड्ढनम् उत्तरीयम् १।१५५—खड़ी बोली, राजस्थानी और गुजरातीमें ओढ़नी।

६. खड्डा खनि २।६६—खड़ी बोली खाड़ी, भोजपुरी खड्ढा, गुजराती खाड़ी, ब्रजभाषा खड्ढा, गड्ढा।

७. खडक्की लघुद्वारम् २।७१—खड़ी बोली खिड़की, ब्रजभाषा खिड़की, भोजपुरी खिरकी।

८. खट्टिको शौनिकः २।७०—ब्रजभाषामें खटिक, भोजपुरीमें खाटके, गुजरातीमें खाटकी।

९. खाइया परिखा २।७३—खड़ी बोलीमें खाई, राजस्थानी, गुजराती और भोजपुरीमें भी खाई प्रयुक्त होता है।

१०. खलइयें रिक्तं २।७१—खाली, भोजपुरी, ब्रजभाषा, राजस्थानी और गुजरातीमें इसी अर्थमें प्रयुक्त है।

११. छलिओ छइल्लो छप्पण्णों—इत्येते त्रयोऽपि विदग्धार्थाः ३।२४—ब्रजभाषामें छलिया धोखेबाजके अर्थमें, भोजपुरीमें उस प्रेमीके अर्थमें जो प्रेमिका की वंचना करता है।

१२. छल्ली त्वक् ३।२४—खड़ी बोलमें छाल।

१३. छडा विद्युत ३-२४ खड़ी बोलीमें छटा, राजस्थानीमें छड़ा।

१४. छासी तक्रम् ३।२६—ब्रजभाषा, भोजपुरी और खड़ी बोलीमें छाछ।

१५, छेंड़ी लघुरथ्या ३।३१ ब्रजभाषामें छेड़ी शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१६. छेलओ छागः ३।३२—भोजपुरी और ब्रजभाषामें छेर ।

१७. जोण्णलिया जोवारी ३।५०—ब्रजभाषा, राजस्थानी और भोजपुरी इन तीनों भाषाओंमें झड़ी शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है ।

१८. झड़ी निरन्तर वृष्टि ३।५३—ब्रजभाषा, राजस्थानी और भोजपुरी इन तीनों भाषाओंमें झड़ी शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त है ।

१९. डाली शाखा ४।९—खड़ी बोली, ब्रजभाषा, राजस्थानी और गुजरातीमें डाली शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त होता है ।

२०. डोला शिविका ४।११—खड़ी बोली, राजस्थानी और गुजरातीमें भी इसी अर्थमें डोला ।

२१. ढंका कूपतुला ४।१७—भोजपुरीमें इसी अर्थमें ढेंका ।

२२. ढेंकी बलाका ४।१५ भोजपुरीमें धान कूटनेके लिए प्रयुक्त ढेंकी ।

२३. णहरी क्षुरिका ४।२० ब्रजभाषामें नाखून काटनेवाली नहनी, भोजपुरीमें नहरनी और खड़ी बोलीमें नेहरनी ।

२४. णीसणिआ निःश्रेणी । क प्रत्ययाभावे णीसणीत्यपि ४।४३—ब्रजभाषामें नसेनी शब्द इसी अर्थमें आया है ।

कुछ ऐसे शब्द भी इस कोशमें हैं, जिनके समकक्ष अन्य किसी भाषामें उन अर्थोंको अभिव्यक्त करनेवाले शब्द नहीं मिलेंगे । उदाहरणके लिए चिच्चो (३।९) शब्द चिपटी या चपटी नाकके लिए, अज्झेली (१।७) शब्द दूध देनेवाली गायके लिए, जंगा (३।४०) गोचरभूमि (Pasture land) के लिए, अण्णाणं (१।७) शब्द विवाहके समय वरपक्षकी ओरसे वधूको दी जाने वाली भेंटके लिए, अंगट्ठी (१।६) शब्द सिरगुत्थीके लिए और 'अनुवज्जिअ' शब्द जिसकी सेवा शुश्रूषा की जाती है, उसके लिए आया है । प्राकृत भाषाके साथ-साथ अन्य प्रादेशिक भाषाओं और बोलियोंके शब्दोंको अवगत करनेके लिए यह कोश बहुत उपयोगी है । अंगालिय शब्द ईखके उस टुकड़ेके अर्थमें आया है, जो निस्सार रहता है जहाँ ईखकी पत्तियाँ लगी रहती हैं, यह हिस्सा पशुओंके चारेके काममें आता है । इस अंगालिय शब्दसे राजस्थानी और भोजपुरी इन दोनों बोलियोंमें अंगोला या अंगेरी शब्द आया है । इस शब्दका अर्थ भी वही है, जो अंगालियका है । हिन्दीके अनेक शब्दोंका जिनकी व्युत्पत्ति आज सन्दिग्ध है इस देशी नाममालाके शब्दोंसे संबंध जोड़ा जा सकता है ।

विश्वलोचनकोश

श्रीधरसेनने इस कोशकी रचना की है । इसका दूसरा नाम मुक्तावलिकोश भी है । कोश की प्रशस्तिके अनुसार इनके गुरुका नाम मुनिसेन था, ये सेन संघके आचार्य थे । इन्हें कवि और नैयायिक कहा गया है । श्रीधरसेन नानाशास्त्रोंके पारगामी और बड़े-बड़े राजाओं द्वारा मान्य थे । सुन्दर गणिने अपने धातुरत्नाकरमें विश्वलोचन कोशके उद्धरण दिये हैं और रत्नाकरका रचनाकाल १६२४ है; अतः श्रीधरसेनका समय ई० १६२४ के पहले अवश्य है । विक्रमोर्वशीय पर रंगनाथने ई० १६५६ में टीका लिखी है । इस टीकामें विश्वलोचन कोशका उल्लेख किया गया है । अतः विश्वप्रकाश और मेदिनी इन कोशोंका प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है । विश्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशका रचनाकाल ई० ११०५, मेदिनीका समय इसके कुछ वर्ष पश्चात् अर्थात् १२वीं शतीका उत्तरार्द्ध और हेमका १२वीं शतीका उत्तरार्ध है अतः विश्वलोचन कोशका समय १३वीं शतीका उत्तरार्ध या १४वींका पूर्वार्ध मानना उचित होगा।

इस कोशमें २४५३ श्लोक है। स्वरवर्ण और ककार आदिके वर्णक्रमसे शब्दोंका संकलन किया गया है। इस कोशकी विशेषताके संबंधमें इसके संपादक श्री नन्दलालशर्माने लिखा है—"संस्कृतमें कई नानार्थ कोश हैं, परन्तु जहाँ तक हम जानते हैं कि कोई भी इतना बड़ा और इतने अधिक अर्थोंको बतलाने वाला नहीं है। इसमें एक-एक शब्दको जितने अर्थोंका वाचक बतलाया है, दूसरोंमें प्रायः इससे कम ही बतलाया है। उदाहरणके लिए रुचक शब्दको लीजिये। जहाँ अमरमें इसके चार व मेदिनीमें दश अर्थ बतलाये गए है, वहाँ इसमें १२ अर्थ बतलाये गये हैं, यही इस कोशकी विशेषता है।"

उपर्युक्त प्रसिद्ध कोश साहित्यके अतिरिक्त कुछ ऐसे ग्रन्थोंकी सूचना मिलती है जिनकी प्रतियाँ समक्ष न होनेके कारण साधारण परिचय ही दिया जा सकता है।

एकाक्षर-नाममाला नामकी चार रचनाएँ उपलब्ध हैं। एक कृतिके रचयिता जिनदत्त सूरिके शिष्य अमरचन्द्र हैं, इसमें एक-एक अक्षरका वर्णमाला क्रमसे अर्थ बतलाया गया है। दूसरी विश्वशम्भु द्वारा ११५ पद्योंमें रचित है। तीसरी कृति राजशेखरके शिष्य सुधाकैलाश द्वारा रचित है इसमें केवल ५० पद्य हैं। वर्णमाला क्रमसे एक-एक वर्णका पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। चौथी कृति धनंजयकी नाममालामें अमरकीर्त्ति कृत भाष्यके साथ प्रकाशित है। इसमें कुल १९ श्लोक हैं। रचना साधारण है, स्वरविशिष्ट एक-एक अक्षरका पृथक्-पृथक् अर्थ बतलाया गया है। यथा—"शं शुभे शा तु शोभायां शी शयने शु निशाकरे" अर्थात् 'शं' शुभार्थमें, 'शी' शयन अर्थमें और 'शु' चन्द्रमाके अर्थमें प्रयुक्त होता है। इन कोशोंके अतिरिक्त पुरुषोत्तम देवकृत त्रिकाण्डशेष, हारावली और एकाक्षरकोशके भी उल्लेख मिलते हैं। ये रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

राजचन्द्रका देश्यनिदेश-निघण्टु और विमलसूरिका देश्यशब्द-समुच्चय भी महत्वपूर्ण हैं। सं० १६४० में विमलसूरिने देशीनाममालाके शब्दोंका सार लेकर अकारादिक्रमसे 'देश्य-निदेश-निघण्टु' की रचना की है। पुण्यरत्नसूरिका द्व्यक्षरकोश, असगकविका नानार्थकोश, रामचन्द्रका नानार्थसंग्रह एवं हर्षकीर्तिकी नाममालाकी गणना भी उपयोगी कोशोंमें की जा सकती है। तपागच्छके आचार्य सूरचन्द्रके शिष्य भानुचन्द्रने नामसंग्रहकोशकी रचना की है। हर्षकीर्ति सूरिकी लघुनाममाला भी भाषा और साहित्यके अध्येताओंके लिए उपयोगी है।

शब्दप्रभेद नाममाला या शब्दभेद-प्रकाशकी रचना बौद्धधर्मावलम्बी महेश्वरने की है। इस कोशका नाम "विश्वप्रकाश" भी है। इसकी वृत्ति सं० १६५४ में जिनविमलने लिखी है। यह खरतरगच्छके आचार्य भानुकेसके शिष्य थे। साधुकीर्ति उपाध्यायके शिष्य साधु सुन्दरगणिने शब्दरत्नाकरकी रचना की है। इस कोशमें ६ काण्ड और १०११ श्लोक हैं। अभिधानचिंतामणिके पूरकके रूपमें सं० १४३३ में जिनदेवसूरिने शिलोंच्छ-नाममालाकी रचना १४० पद्योंमें की है। इस रचनामें अनेक प्रचलित शब्दोंका संकलन किया गया है, जिनका अस्तित्व आज भी लोक-भाषाओंकी शब्दावलीमें मिलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनमित्रके नामसे एक निघण्टुकी रचना भी मिलती है। अनेकार्थ नामके एक कोशकी सूचना मदनपराजयके कर्त्ताके नामपर भी उपलब्ध होती है। इन मौलिक रचनाओंके अतिरिक्त अमरकोशकी कई जैन टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। आशाधरकी अमरकोशकी क्रियाकलाप टीका महत्वपूर्ण है।

संस्कृत और प्राकृत भाषाके कोशोंके अतिरिक्त जैनाचार्योंने कन्नड़, हिन्दी आदि भाषाओंमें भी कोशोंकी रचना की है। कवि बनारसीदासने सं० १६७० में विजयादशमीके दिन अपने मित्र नरोत्तमके अनुरोधसे हिन्दी नाममालाकी रचना की है। इस रचनाका आधार महाकवि धनंजयकी नाममाला है। पर इतना सत्य है कि यह नाममालाका पद्यबद्ध अनुवाद नहीं है। कविने अन्य कोश ग्रन्थोंका अध्ययन कर इसे सर्वांगपूर्ण बनानेकी चेष्टा की है। इस नाममालामें ३५० विषयोंके नामोंका सुन्दर संकलन किया गया है। उदाहरणके लिए दर्शन, ज्ञान और चारित्रके नाम उद्धृत किये जाते हैं।

दर्शनके पर्यायवाची—

दरस विलोकनि देखनौं, अवलोकनि दृगचाल।
लखन दृष्टि निखरत जुवति, चितवति चाहहिं भाल ॥४७॥

ज्ञानके पर्यायवाची—

ज्ञान, बोध अवगम मनन, जगत मान जगजान।

चरित्रके पर्यायवाची—

संजम चारित आचरन चरवृत थिरवान ॥४८॥

इस रचनामें कुल १७५ पद्य हैं। हिन्दीके अभ्यासियोंके लिए इसका अध्ययन अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा।

जैन शब्दकोश-साहित्यकी उपलब्धियां

जैनाचार्योंने संस्कृत पुस्तक, कन्नड़, हिन्दी प्रभृति विभिन्न भाषाओंमें पर्यायवाची एवं अनेकार्थवाची कोशोंकी रचनाकर उक्त भाषाओंके अध्ययन मार्गको सुलभ बनाया है। प्राकृत और देशी भाषाओंके कोश तो एकमात्र जैनाचार्योंके ही हैं। कोश लिखनेकी परम्परा अब तक जैनोंमें चली आ रही है। इस शताब्दीमें भी शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजीने पाँच भागोंमें अर्धमागधी कोश और जैनागम शब्दसंग्रह—अर्धमागधी गुजराती कोशकी रचना की है। श्री राजेन्द्रसूरिका अभिधानराजेन्द्र नामका बृहत्काय कोश सात बड़ी-बड़ी जिल्दोंमें पूर्ण हुआ है। इस कोश द्वारा जैनागमके पारिभाषिक शब्दों एवं अन्य ग्रन्थ खण्डोंकी विस्तृत जानकारी प्राप्त की जा सकती है। स्व० सेठ गोविन्ददासका 'पाइअ सदद् महण्णवो' तो प्राकृत भाषाके विद्यार्थी और विद्वान् दोनोंके लिए अत्यधिक उपयोगी है तथा अपनी इसी उपयोगिताके कारण विद्वानोंका कंठहार बना हुआ है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा सम्पादित एवं भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा चार भागोंमें प्रकाशित "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" अध्येताओं, शोधार्थियों आदि सभी के लिए महान् उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें जैन सिद्धान्तके विभिन्न ग्रन्थोंके सन्दर्भ सहित मूल उद्धरण एवं उनका हिन्दी अनुवाद सहित साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया है। इसी तरह वीर सेवा मन्दिर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दिल्लीसे तीन भागोंमें "जैन लक्षणावलि" नामक जैन पारिभाषिक महत्त्वपूर्ण कोश ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। प्राकृत एवं संस्कृत भाषाओंके लगभग ४०० महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थोंके आधार-पर इस कोशको बहुत उपयोगी बनाया गया है। इसका सम्पादन पं० बालचंद्र सिद्धान्तशास्त्रीने किया है।

बी० एल० चैतन्य और ब्रह्मचारी शीतलप्रसादने बृहत् जैन-शब्दार्णव नामके कोश ग्रन्थोंकी रचना हिन्दी भाषामें की है। यह पारिभाषिक शब्दोंकी जानकारीके लिए बहुत उपयोगी है। इस कोशके केवल दो ही भाग प्रकाशित हो सके हैं। संक्षेपमें जैन कोश-साहित्य की निम्न उपलब्धियाँ हैं—

१. जैन पारिभाषिक और आम्नाय सम्मत शब्दावलीकी जानकारी।

२. प्राकृत, संस्कृत और देशी भाषाके शब्दोंका अर्थ बोध।

३. जैन परम्पराकी पौराणिक, धार्मिक एवं सैद्धान्तिक मान्यताओंका विवरण।

४. नानार्थक कोशों द्वारा अनेकार्थ साहित्यके सृजनकी प्रेरणा।

५. कोशोंके भाष्य और वृत्तियोंमें प्रतिपादित व्युत्पत्तियोंके द्वारा शब्दोंके सांस्कृतिक इतिहासका संकेत।

६. भाषाकी नयी और पुरानी प्रवृत्तियोंका चयनकर तद्-तद् समयमें बोलने वालोंके मनोविश्लेषणकी सामग्री उपस्थित करना।

७. शब्द तथा पदोंके अनेकार्थों द्वारा अर्थ परिवर्तनोंको उपस्थितकर भाषा विज्ञानके अध्ययनकी सामग्री रखना।

८. कोश साहित्यकी अविच्छिन्न परम्पराका ज्ञान प्राप्त करना और परस्परके अवदानों का अध्ययन एवं विश्लेषण।

९. शब्द सम्पत्तिकी मनोरंजक जांनकारी।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन व्याकरण साहित्य

भाषाके शुद्ध ज्ञानके लिए व्याकरण ज्ञान परम आवश्यक है। धातु और प्रत्ययके संश्लेष एवं विश्लेषण द्वारा भाषाके आन्तरिक गठनका विचार व्याकरण साहित्यमें ही किया जाता है। लक्ष्य और लक्षणोंका सुव्यवस्थित वर्णन करना ही व्याकरणका उद्देश्य है। व्याकरण शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके निर्माणकी प्राणवन्त प्रक्रियाके रहस्यका उद्‌घाटन करता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपोंके भीतर जो एक मूल संज्ञा या धातु निहित रहती है, उसके स्वरूपका निश्चय और उसमें प्रत्यय इसीके द्वारा होता है। संक्षेपमें व्याकरण भाषाका अनुशासनकर उसके विस्तृत साम्राज्यमें पहुँचनेके लिए राजपथका निर्माण करता है। प्राचीन परम्पराके अनुसार, आठ व्याकरण शास्त्रके निर्माताओंके नाम उपलब्ध होते हैं।

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टौ च शाब्दिकाः॥

अर्थात् इन्द्र, शाकटायन, आपिशली, काशकृत्स्न, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र ये आठ शाब्दिक प्रसिद्ध हुए हैं। इन आठोंमें इन्द्र, शाटकायन, आपिशलि, काशकृत्स्न और पाणिनि ये पाँच वैयाकरण प्राचीन और अमर, जैनेन्द्र तथा चन्द्र नवीन हैं। अब इस प्रसंगमें यह विचार करना है कि जैन सम्प्रदायमें व्याकरण शास्त्रका प्रवचन कबसे आरम्भ हुआ और उसमें कौन-कौन प्रसिद्ध वैयाकरण हुए।

जैन व्याकरण शास्त्रका उद्भव और विकास

भगवान् महावीरके मुखसे निसृत द्वादशांगवाणी ही समस्त ज्ञान-विज्ञानका आकर है। कहा जाता है कि सत्यप्रवाद पूर्वमें व्याकरणशास्त्रके सभी प्रमुख नियम आये हुए हैं। इसमें वचन संस्कारके कारण, शब्दोच्चारणके स्थान, प्रयत्न, वचन-प्रयोग, वचन भेद आदिका निरूपण है। वचन संस्कारका विवेचन करते हुए इसके दो कारण बतलाये गये हैं—स्थान और प्रयत्न। शब्दोच्चारणके हृदय, कण्ठ, मस्तक, जिह्वामूल, दन्त, तालु, नासिका और ओष्ठ ये आठ स्थान बतलाये गये हैं। शब्दोच्चारणके प्रयत्नोंका विवेचन करते हुए स्पृष्टता, ईषत्-स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता और संवृतता इन पाँचकी परिभाषाएँ दी गई हैं। वचनके शिष्ट एवं दुष्ट प्रयोगोंके विश्लेषणमें शब्दोंके साधुत्व और असाधुत्वका भी प्रतिपादन किया गया है।[1] अतः सत्यप्रवादपूर्वमें व्याकरणशास्त्रकी एक स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। जैन आम्नायके अनुसार पूर्वग्रन्थ भगवान् महावीरसे पहलेके हैं। इनका पूर्वान्त नाम ही इस बातका साक्षी है कि ये परम्परामें पहलेसे वर्तमान थे।

जैन आगम ग्रन्थोंकी रचना प्राकृतभाषामें है, अतः प्राकृतमें रचा गया कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य रहा होगा। प्राकृत भाषामें लिखित आगम ग्रन्थोंमें व्याकरणकी अनेक बातें

१. देखें—बोपदेव द्वारा विरचित मुग्धबोध।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आई हैं।[1] ठाण अंगके अष्टम स्थानमें आठ कारकोंका निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वार (सू० १२८) में तीन वचन, लिंग, काल और पुरुषोंका विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थके सूत्र १२४, १२५ और १३० में क्रमशः चार, पाँच और दश प्रकारकी संज्ञाओंका उल्लेख आया है। सूत्र १३० में सात समासों और पाँच प्रकारके पदोंका कथन किया गया है। अतः संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि संस्कृतमें व्याकरण शास्त्रके प्रणयनके पूर्व जैनाचार्योंने प्राकृत भाषामें ही व्याकरण ग्रन्थ लिखे[2] जो आज उपलब्ध नहीं हैं।

भारतीय इतिहासमें ई० पू० १८४ में शुंगवंशके पुष्यमित्रने मौर्यवंशका अन्तकर मगध का शासन स्वायत्त किया।[3] यह पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्मका अनुयायी और श्रमण धर्मका विरोधी था। अतः इसके राज्यकालमें प्राकृतकी अवहेलना और संस्कृत भाषाका पुनरुद्धार हुआ। पतंजलि जैसे भाष्यकारने अष्टाध्यायीपर भाष्य लिखा। संस्कृत साहित्यकी इस उत्पत्तिने कुषाण कालमें विराट्रूप धारण किया और सार्वजनिक भाषाके साथ-साथ राजभाषाका पद भी इसे प्राप्त हुआ। फलतः ब्राह्मणोंके साथ श्रमणोंने भी संस्कृत भाषाको ग्रन्थरचनाका माध्यम बनाया। श्रमणोंने अल्पकालमें ही संस्कृत भाषामें विभिन्न प्रकारका विपुल साहित्य रच डाला। पाणिनि के पश्चात् नवीन ग्रन्थ निर्माता वैयाकरण भी श्रमणोंमें ही हुए।[4] पतंजलि और कात्यायनके अतिरिक्त जयादित्य और जिनेन्द्रबुद्धिने भी पाणिनीय सूत्रोंपर टीकाएँ लिखी हैं। टीकाओंसे केवल व्याकरणका विशदीकरण हुआ था। अतः जैन और बौद्धोंने, जो श्रमणोंमें प्रधान थे, व्याकरणके ग्रन्थ रचे। बौद्धाचार्य चन्द्रगोमीने चन्द्र व्याकरण और जैनाचार्य देवनन्दी या पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरणकी रचना की। आचार्य देवनन्दीने अपने शब्दानुशासनमें निम्न छः पूर्ववर्त्ती आचार्योंका उल्लेख किया है।

१. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् (१।४।३४)
२. कुवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)
३. राद्भूतबलेः (३।४।९३)
४. रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८०)
५. वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)
६. चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)

उपर्युक्त सूत्रोंमें श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचन्द्र, सिद्धसेन और समन्तभद्र इन छः वैयाकरणोंके नाम आये हैं। इनके व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ रहे होंगे, पर आज वे उपलब्ध

---

१. देखें—प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथके अन्तर्गत "पाइय साहित्यका सिंहावलोकन" शीर्षक निबन्ध, पृ० ४१६ तथा "पाइय भाषाओ अने साहित्य, पृ० ५५।
२. यशस्तिलक चम्पूकी श्रुतसागर सूरिकी टीकामें "प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्ररचनाचंचुना" यह उल्लेख आया है तथा षट्पाहुडकी संस्कृत टीकामें प्राकृत सूत्रार्थ उद्धृत किये हैं।
३. देखें—जैनेन्द्र महावृत्तिकी डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित भूमिका पृ० ७।
४. देखें—जैन साहित्य और इतिहासके अन्तर्गत "देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण" शीर्षक निबन्ध, पृ० २७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं हैं। अभयनन्दीने जैनेन्द्र १।४।१६ की वृत्तिमें "उपसिद्धसेनं वैयाकरणाः" उदाहरण द्वारा यह बतलाया है कि सब वैयाकरण सिद्धसेनसे हीन हैं।

उपर्युक्त विवेचनके आधारसे भी हम यह निष्कर्ष निकालनेमें असमर्थ हैं कि जैन सम्प्रदायमें कौनसा व्याकरण ग्रन्थ सर्वप्रथम लिखा गया। उपलब्ध जैन व्याकरण साहित्यमें देवनन्दी या पूज्यपादका जैनेन्द्र व्याकरण ही सबसे प्राचीन है।

जैनाचार्यों द्वारा लिखे गये छोटे-मोटे कई व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमेंसे केवल तीन ग्रंथ ही प्रधान हैं। जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम।

जैनेन्द्र व्याकरण

यह एक महत्वपूर्ण शब्दानुशासन हैं। इसमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०६७ सूत्र हैं। इस व्याकरणके मूल सूत्रपाठ दो प्रकारके उपलब्ध है—एक तो वह जिसपर आचार्य अभयनन्दि या महावृत्ति तथा श्रुतकीर्त्ति कृत 'पंचवस्तु' नामकी प्रक्रिया है और दूसरा वह जिसपर सोमदेव सूरिकृत "शब्दार्णव चन्द्रिका" और गुणनन्दी कृत 'प्रक्रिया' है। पहले प्रकारके पाठमें लगभग ३००० और दूसरेमें लगभग ३७०० सूत्र हैं। सात सौ सूत्र अधिक होनेके साथ शेष तीन हजार सूत्र भी दोनोंमें एकसे नहीं हैं, किन्तु दूसरे सूत्रपाठमें पहले सूत्रपाठके सैकड़ों सूत्र भी परिवर्त्तित और परिवर्द्धित किये गये हैं। प्रथम सूत्रत्राठ पाणिनिके ढंगका है, अतः उसमें वर्तमान भाषा-साहित्यकी दृष्टिसे अनुशासन करनेमें अपूर्णता रह जाती है। इसी कमीकी पूर्ति अभयनन्दी ने अपनी महावृत्तिमें वार्तिक और उपसंख्यानों द्वारा की है।

दोनों प्रकारके सूत्रपाठोंमें कतिपय भिन्नताओंके रहते हुए भी समानता कम नहीं है। दोनोंके अधिकांश सूत्र समान हैं, दोनोंके प्रारम्भका मंगलाचरण भी एक है और दोनोंमें कर्ता का नाम देवनन्दी या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

आदरणीय स्व० प्रेमीजीने असली सूत्रपाठका निर्णय करते हुए लिखा है।[1] "हमारे ख्यालमें आचार्य देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिसपर अभयनन्दीने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समय तक तो ठीक समझा जाता रहा, जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायनको भी जैनेन्द्रके होते हुए एक जुदा व्याकरण बनानेकी आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है। और इसलिए विना वार्तिकों और उपसंख्यानोंके उससे काम नहीं चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वांगपूर्ण व्याकरण बन चुका तब जैनेन्द्र व्याकरणके भक्तोंको उसकी त्रुटियाँ खटकने लगीं और उनमेंसे आचार्य गुणनन्दिने उसे सर्वांगपूर्ण बनानेका प्रयत्न किया। इस प्रयत्नका फल ही दूसरा सूत्रपाठ है, जिसपर सोमदेवकी 'शब्दार्णव चन्द्रिका' रची गई है।" इस कथनसे स्पष्ट होता है कि शब्दार्णव चन्द्रिका और जैनेन्द्र प्रक्रियाके सूत्र जैनेन्द्र व्याकरणके वास्तविक सूत्र नहीं हैं। अभयनन्दिने अपनी वृत्ति जिन सूत्रोंपर लिखी है वे ही जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्र हैं।

इस शब्दानुशासनका जैनेन्द्र नाम होनेका कारण रचयिताका जिनेन्द्रबुद्धि नाम ही है। श्रवणबेल्गोलके ४०वें शिलालेखमें बताया गया है—

---

१. देखें—उपर्युक्त ग्रन्थ पृ० २८-३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः ।
श्रीपूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम्" ॥

आचार्यका प्रथम नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवोंने उनके चरणोंकी पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ ।

"पदेषु पदैकदेशान्" नियमके अनुसार जिनेन्द्रबुद्धिका संक्षिप्त नाम जिनेन्द्र है और उनके द्वारा ग्रथित शब्दानुशासन जैनेन्द्र कहा जाता है ।

आचार्य देवनन्दीका समय स्व० श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाणोंके आधारपर विक्रमकी छठी शताब्दी निश्चित किया है । अधिकांश विद्वान् इसी समयको ठीक मानते हैं । श्री युधिष्ठिर मीमांसकने जैनेन्द्र महावृत्तिमें जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके "खिल्यपाठ" शीर्षकमें "अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्" उदाहरणसे यह निष्कर्ष निकाला है[1] 'कि इसमें आचार्य पूज्यपादके कालकी "महेन्द्र और मथुरा विजय" ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है । यहाँ महेन्द्रसे आशय गुप्तवंशीय कुमारगुप्तसे है । इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है । अतः आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्तके समकालीन हैं और कुमारगुप्तका समय ई० ४१३-४५५ है । अतएव पूज्यपादका समय विक्रमकी पाँचवीं शतीका उत्तरार्ध या छठवीं शतीका पूर्वार्ध है । ये दर्शन और व्याकरणके धुरन्धर विद्वान् थे ।

इस व्याकरणमें अनेक विशेषताएँ हैं । पाणिनीय व्याकरणके सूत्रोंका आधार रहनेपर भी स्वर और वैदिक प्रयोग सम्बन्धी सूत्रोंका परित्याग कर दिया है । इसकी उल्लेखनीय विशेषताएँ निम्न हैं—

१. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषारम्भः (१।१।९९) सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभावसे ही एक शेषकी अपेक्षा न कर एकत्व, द्वित्व और बहुत्वमें प्रवृत्त होते हैं । अतः एकशेष मानना निरर्थक है । अतएव इनका यह व्याकरण अनेकशेष कहलाता है । इनका मत है कि लोकव्यवहारमें जो चीज सर्वत्र प्रचलित है, उसे सूत्रबद्ध निर्देश करनेसे शास्त्रका निरर्थक कलेवर बढ़ता है ।

२. सिद्धिरनेकान्तात् (१।१।१) द्वारा यह बतलाया गया है कि नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व; अनुभयत्व, प्रभृति नाना धर्मोंसे विशिष्ट धर्मीरूप शब्दकी सिद्धि अनेकान्तसे ही सम्भव है । एकान्त सिद्धान्तसे अनेक धर्मविशिष्ट शब्दोंका साधुत्व नहीं बतलाया जा सकता ।

३. जैनेन्द्रका संज्ञाप्रकरण बहुत ही मौलिक और सांकेतिक है । इसमें धातु, प्रत्यय, प्रातिपदिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासंज्ञाओंके लिए बीजगणित जैसी अतिसंक्षिप्त और पूर्ण संज्ञाएँ आई हैं । इस व्याकरणमें उपसर्गके लिए गि, अव्ययके लिए झिः, समासके लिए सः, वृद्धिके लिए ऐप्, गुणके लिए एप्, सम्प्रसारणके लिए जिः, प्रथमा विभक्तिके लिए वा, द्वितीयाके लिए इप्, तृतीयाके लिए भा, चतुर्थीके लिए अप्, पंचमीके लिए

१, जैनेन्द्र महावृत्तिका "जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके निबन्ध, पृ० ४३, ४४ तथा स्ट्रक्चर ऑफ दी अष्टाध्यायी भूमिका पृ० १३ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का, षष्ठीके लिए ता, सप्तमीके लिए इप् और सम्बोधनके लिए कि: संज्ञाएँ बतलायी गयी हैं। इन संज्ञाओंकी कल्पनामें आचार्यका अद्‌भुत पांडित्य छिपा हुआ है।

४. देवनन्दीने सन्धौ ४।२।६० को अधिकार सूत्र कहकर चतुर्थ अध्यायके तृतीय और चौथे पाद तथा पंचम अध्यायके कुछ सूत्रोंमें सन्धिका निरूपण किया है। अधिकार सूत्रके अनन्तर छकारके परे सन्धिमें तुगागमका विधान किया है। तुगागम करने वाले ४।३।६१-४।३।६४ तक चार सूत्र आये हैं। इन सूत्रों द्वारा ह्रस्व, आङ्, माङ् तथा दी संज्ञकोंसे परे तुगागम किया है और त् को च् बनाकर इच्छति, गच्छति, आच्छिनत्ति, माच्छिदत्त, ह्रीच्छति, म्लेच्छति, कुवलच्छाया आदि का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पाणिनिके समान है किन्तु इसमें अधिक सूत्रोंकी आवश्यकता उपस्थित नहीं होती है। संज्ञाओंकी मौलिकताके कारण ही अनुशासनमें लाघवत्व आ गया है।

५. यह पंचांग व्याकरण है। इसमें धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिंगानुशासन के निर्देश पूर्णतया उपलब्ध होते हैं।[1]

जैनेन्द्र व्याकरणकी टीकाएँ

इस व्याकरणपर अभयनन्दिकृत 'महावृत्ति' प्रभाचन्द्रकृत 'शब्दाम्भोज भास्करन्यास,' श्रुतकीर्तिकृत 'पंचवस्तुप्रक्रिया' और पं० महाचन्द्रकृत 'लघु जैनेन्द्र' ये चार टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। पंचवस्तुके अन्तके श्लोकमें जैनेन्द्रव्याकरणको महलकी उपमा दी है। वह मूलसूत्र रूपी स्तम्भों पर खड़ा किया गया है, न्यासरूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके कपाट हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मंजिल है और पंचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महल पर आरोहण किया जा सकता है। अतएव स्पष्ट है कि पंचवस्तुके कर्त्ताके समय तक इस व्याकरण पर एक न्यास, दो वृत्तियाँ, तीन भाष्य और चार टीकाएँ विद्यमान थीं।[2]

जैनेन्द्र सूत्रपाठका संशोधित और परिवर्धित संस्करण शब्दार्णव कहलाता है। इसके कर्ता गुणनन्दि हैं।[3] गुणनन्दिका समय दशवीं शताब्दी माना गया है। शब्दार्णवकी दो टीकाएँ उपलब्ध हैं—शब्दार्णव चन्द्रिका और शब्दार्णव प्रक्रिया। शब्दार्णव चन्द्रिकाके रचयिता सोमदेव हैं। ये शिलाहारवंशके राजा भोजदेव (द्वितीय) के समयमें हुए हैं। इन्होंने अर्जुरिका

---

१. जैनेन्द्र महावृत्ति प्रस्तावना भाग, पृ० ४७-४८।

२. सूत्रस्तम्भसमुद्धृतप्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षिति,
श्रीमद्वृत्तिकपाटसंपुटयुतं भाष्योऽथ शय्यातलम्।
टीका मालमिहारुरुक्षुरचितं जैनेन्द्रशब्दागमं,
प्रासादं पृथु पंचवस्तुकमिदं सोपानमारोहतात्॥—अन्तिम पद्य

३. श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवं सोमामरव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्धं समुन्नतपदं वृषभं जिनेन्द्रं, सच्छब्दलक्षणमहं विनमामि वीरम्॥
(मंगलाचरण, चित्र चन्द्रिका)

तथा नन्दिकी प्रशंसा चुरादि धातुपाठके अन्तमें—"शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधि गुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्य:" शब्दब्रह्मा विशेषण देकर की गयी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नामक ग्रामके त्रिभुवनतिलक नामक जैन मन्दिरमें शक संवत् ११२७ में इसकी रचना की है। यह रचना सनातन जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित है।

शब्दार्णव प्रक्रिया जैनेन्द्र-प्रक्रियाके नामसे मुद्रित है। जिस प्रकार अभयनन्दिकी वृत्तिके आधारपर प्रक्रिया रूप पंचवस्तुटीका लिखी गई है, उसी प्रकार सोमदेवकी शब्दार्णव चन्द्रिकाके आधारपर यह प्रक्रिया लिखी गई है।

जैनेन्द्रकी उपलब्ध समस्त टीकाओंमें अभयनन्दीकृत महावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इसका समय ई० सन् ७५० है।[1] इन्होंने मंगलाचरणके श्लोकमें पूर्ववर्त्ती प्राचीन टीकाओंका भी निर्देश किया है।

यच्छब्दलक्षणमसुब्रजपारमन्यै—
रव्यक्तमुक्तमभिधानविधौ दरिद्रैः।
तत्सर्वलोकहृदयप्रियचारुवाक्यै-
र्व्यक्तीकरोत्यभयनन्दिमुनिः समस्तम्॥

कठिनतासे पार पाने योग्य जिस शब्द लक्षणको दरिद्रोंने व्याख्या करनेमें स्पष्ट नहीं किया, उस सम्पूर्ण शब्द लक्षणको अभयनन्दी मुनि सबके हृदयको प्रिय लगने वाले सुन्दर वाक्योंसे स्पष्ट करता है।

अतः स्पष्ट है कि अभयनन्दीने अपनेसे पूर्ववर्त्ती व्याख्याकारोंको 'दरिद्रैः' पदसे व्यक्त किया है। सम्भवतः ये व्याख्याएँ लघुवृत्तिके रूपमें रही होंगी। आचार्य अभयनन्दीकी यह वृत्ति काशिकाके समान ही बृहत् है। इसमें निम्न विशेषताएँ विद्यमान हैं।

१. कात्यायनके वार्तिक और पतंजलिके महाभाष्यसे सार लेकर पूज्यपादसे छूटे हुए व्याकरण नियमोंकी पूर्ति वार्तिक, परिभाषा और उपाख्यान रचकर की।

२. शिक्षा सूत्र भी इस महावृत्तिमें पाए जाते हैं।१।१।१२ की व्याख्यामें लगभग ४० शिक्षासूत्र दिये गये हैं।

३. परिभाषाओंकी व्याख्याएँ भी की गई हैं।

४. अभयनन्दीने अपनी वृत्तिमें अनेक उणादिसूत्र उद्धृत किये हैं। इनमें कुछ प्राचीन पंचपादीसे मिलते हैं और कुछमें पाठान्तर हैं। अतः जैनेन्द्रके उणादिसूत्रोंको जाननेके लिए इस महावृत्तिका अध्ययन परम आवश्यक है।

५. अनेक नवीन शब्दोंका साधुत्व प्रदर्शित किया है। यथा १।२।९९ की व्याख्यामें प्रविनय्य प्रयोगकी सिद्धिमें अद्भुत पांडित्य दिखलाया गया है।

६. महावृत्तिमें दिये गये उदाहरणोंसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाशमें आते हैं—यथा सूत्र १।१।४ की वृत्तिमें शरदं मथुरा रमणीया, 'मासं कल्याणी कांची' दिये गये उदाहरणोंसे अवगत होता है कि कांचीपुरीमें मासव्यापी उत्सव होता था और मथुरामें शरत्—आश्विनके महीनेमें शोभा की जाती थी।

७. महावृत्तिके उदाहरणोंसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाशमें आते हैं—यथा सूत्र १।४।१५ में अनुशालिभद्रम् आढ्याः, अनुसमन्तभद्रं तार्किकाः। सूत्र १।४।१६ में उपसिंहनन्दिनं

१. सिस्टम ऑफ संस्कृत ग्रामर—पैराग्राफ ३०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवयः, उपसिद्धसेनं वैयाकरणः तथा १।३।१० में आकुमारं यशः समन्तभद्रस्य, प्रयोग आये हैं। इन प्रयोगोंसे सिद्ध है कि सबसे बड़ा धनी शालिभद्र, सबसे बड़ा तार्किक समन्तभद्र, सबसे बड़ा कवि सिंहनन्दि और सबसे बड़ा वैयाकरण सिद्धसेन था।

८. व्याकरण सम्बन्धी अनेक गुत्थियोंको भी इस महावृत्तिमें सुलझाया गया है।

इस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण संस्कृत साहित्यकी इस द्वितीय क्रान्तिका सर्वप्रथम व्याकरण है, इसमें पाणिनिकी अष्टाध्यायीके लौकिक भाषाके अनुशासन सम्बन्धी सूत्रोंको पूर्णतया सुरक्षित रखा है। अभयनन्दीने १२ हजार श्लोक प्रमाण इसकी महावृत्ति लिखी है। अन्य टीकाएँ भी हैं।

शाकटायन व्याकरण

इस व्याकरणके रचयिता यापनीय संघके आचार्य पल्यकीर्त्ति हैं। इनका दूसरा नाम शाकटायनाचार्य भी है। इन्होंने अमोघवृत्ति न्यास सहित शाकटायनके सूत्रोंकी रचना की है। अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायन या पल्यकीर्त्तिकी ही बतायी जाती है। मुनिवंशाभ्युदयमें बताया है, "उस मुनिने अपने बुद्धिरूप मन्दराचलके श्रुतरूप समुद्रका मन्थनकर यशके साथ व्याकरण-रूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायनने उत्कृष्ट शब्दानुशासनको बना लेनेके बाद अमोघवृत्ति नामकी टीका, जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं—बनायी जिसका परिमाण १८ हजार है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनिने व्याकरणके सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकारका पुण्य सम्पादन किया। एक बार अबिद्धकर्ण सिद्धान्त चक्रवर्त्ती पद्मनन्दिने मुनियोंके मध्य पूजित शाकटायनको मन्दर पर्वतके समान धीर विशेषणसे विभूषित किया।"

इससे स्पष्ट है कि पल्यकीर्त्तिने स्वोपज्ञवृत्ति—अमोघवृत्तिकी रचना की है। 'ख्याते दृश्ये' सूत्रकी अमोघवृत्तिमें 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' अर्थात् अमोघवर्षने शत्रुओंको जला दिया—इस घटनासे प्रथम अमोघवर्षका अपने शत्रुओं पर विजय पानेका उल्लेख प्राप्त होता है। इसी घटनाका उल्लेख शक संवत् ८३२ के शिलालेखमें भी हुआ है 'भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह' अर्थात् अमोघवर्षने उन कांटे जैसे राजाओंको घेरा और जला दिया, जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गए थे। इसमें लिट् लकारकी 'ददाह' क्रियाका प्रयोग हुआ है, किन्तु शाकटायनने लङ्लकारकी 'अदहत्' क्रियाका प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि शाकटायनके समय यह घटना घटित हुई थी। अतः शाकटायन या पल्यकीर्त्तिका समय शक संवत् ७३६-७८९ के मध्य है।[1]

इस व्याकरणमें चार अध्याय और सोलह पाद हैं। प्रथम अध्यायमें ७२१ सूत्र, द्वितीयमें ७५३, तृतीयमें ७५५ और चतुर्थमें १००७ सूत्र हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३२३६ है। कहा भी है।

गणनेयं सूत्राणामनुष्टुभामर्धसप्तमशतीह
त्रीणि सहस्राणि शते, द्वे षट्त्रिंशच्च योगानाम्[2] ॥

---

१ विशेष जानकारीके लिए देखें—जैन साहित्य और इतिहास पृ० १६५-१६६।

२. शाकटायनीय सूत्रके अन्तिम पद्य।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस शब्दानुशासनमें नौ प्रकारके सूत्रोंका कथन किया गया है—संज्ञा, नियम, निषेध, अधिकार, नित्यापवाद, विधि, परिभाषा, अतिदेश और विकल्प।

यथा—

संज्ञानियमनिषेधाधिकारनित्यापवादविधिपरिभाषाः।
अतिदेशविकल्पावति, गतयश्शब्दानुशासने सूत्राणाम्॥[1]

यह शब्दानुशासन सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और उणादि सूत्रपाठरूप पंचांग है। इसमें पाणिनीय या जैनेन्द्रके समान वार्त्तिक, उपाख्यान अथवा अन्य नियम वाक्योंकी आवश्यकता नहीं है। यह इतना पूर्ण और व्यवहारोपयोगी है कि इस एक ही व्याकरणके अध्ययनसे संस्कृत भाषाका पूर्ण पांडित्य प्राप्त किया जा सकता है।

शाकटायन व्याकरणने प्रत्याहार शैलीको अपनाया है। आरम्भमें "तत्रादौ शास्त्रे संव्यवहारार्थं संज्ञासंग्रहः कथ्यते" लिखकर (१) अइउण् (२) ऋक् (३) एओङ् (४) ऐऔच्, हयवरलञ् (५) ञमङणनम् (६) जबगडदश् (७) फभघढधष् (८) खफछठथद् (९) चटतव् (१०) कपय् (११) शषस अं अः ×क ⌣पर (१२) हल् (१३) इति वर्णसमाम्नायः अणादिप्रत्याहारार्थः। इस प्रकार शाकटायनमें १३ प्रत्याहार सूत्रोंका निरूपण किया गया है। यहाँ एक विशेषता यह है शाकटायनमें प्रत्याहार सूत्रोंका संग्रह पाणिनि जैसा ही नहीं है और न इनका क्रम जैनेन्द्रसे ही मिलता है, बल्कि इन्होंने उन दोनों आचार्योंके प्रत्याहार सूत्रोंमें संशोधन और परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायनमें ऌकारको स्वर माना ही नहीं गया है। इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीयकी गणना व्यंजनोंके अंतर्गत कर ली गई है। पाणिनिने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीयको विकृत व्यंजन माना है। वास्तवमें अनुस्वार मकार या नकार जन्य है, विसर्ग कहीं सकारसे और कहीं रेफसे स्वतः उत्पन्न होता है तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनों क्रमशः क, ख तथा प, फ के पूर्व विसर्गके ही विकृत रूप हैं। पाणिनिने इन सभी अक्षरोंको अपने प्रत्याहार सूत्रमें जो कि उनकी वर्णमाला कही जायगी, स्वतन्त्र रूपसे कोई स्थान नहीं दिया है। बादके पाणिनीय वैयाकरणोंमेंसे कात्यायनने उक्त चारोंको स्वर व्यंजन दोनोंमें ही परिगणित करनेका निर्देश किया। शाकटायन व्याकरणमें अनुस्वार, विसर्ग आदिके मूल रूपोंको ध्यानमें रखकर ही उन्हें प्रत्याहार सूत्रोंमें स्थान दिया और उनके व्यंजन होनेकी घोषणा कर दी गयी। शाकटायनके प्रत्याहार सूत्रोंकी दूसरी विशेषता यह है कि उनमें लण् सूत्रको स्थान नहीं दिया है और लवर्णको पूर्व सूत्रमें ही रख दिया गया है। इसमें सभी वर्णोंके प्रथमादि अक्षरोंके क्रमसे अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गए हैं। केवल वर्गोंके प्रथम वर्णोंके ग्रहणके लिए दो सूत्र हैं। पाणिनीय वर्णसमाम्नायकी भाँति शाकटायन व्याकरणमें भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरणमें ४१,४३ या ४४ प्रत्याहार रूपोंकी उपलब्धि होती हैं, किन्तु शाकटायनमें सिर्फ ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध हैं।

---

१. शाकटायन सूत्रके अन्तिम पद्य।

२. हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः।
—श्रवणबेलगोलका ५४वां शिलालेख

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शाकटायनमें सामान्य संज्ञाएँ बहुत अल्प हैं। इत्संज्ञा—सवर्ण संज्ञा करने वाले, बस ये दो ही संज्ञाविधायक सूत्र हैं और इस व्याकरणमें अवशेष दो सूत्र ग्राहकसूत्र कहे जायँगे। ग्राहक सूत्रोंमें प्रथम सूत्र वह है, जो स्वरसे उसके जातीय दीर्घादि वर्णोंका बोध करता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक सात्मेतत् १।१।१ सूत्र है। यह प्रत्याहारबोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी आत्मा दवी सी जान पड़ती है। यदि इसीको शब्दोंके अनुसार जानना हो तो इसके पूर्व पाणिनिका आदिरन्त्येन सहेता सूत्र कंठस्थ कर लेना होगा।

यद्यपि शाकटायनमें ऌवर्णको ग्रहण नहीं किया गया है, पर उसके टीकाकारोंने 'ऋवर्ण ग्रहणे ऌवर्णस्यापि ग्रहणम् भवति, तयोरेकत्वप्रतिज्ञानात्'' कथन किया है। अतः ऌकारके ग्रहणकी सिद्धि कर ली है।

यह स्पष्ट है, कि शाकटायन व्याकरणमें संज्ञाप्रकरणमें कुल छह सूत्र हैं, उनमें भी दो ही सूत्र ऐसे हैं, जो संज्ञाविधायक कहे जा सकते हैं। शाकटायन ही एक ऐसा व्याकरण है, जिसमें बहुत कम संज्ञाओंसे काम चलाया गया है। सरलता और आशुबोधताकी दृष्टिसे इस शब्दानुशासनके संज्ञाप्रकरणका अधिक महत्त्व है। पाणिनि और जैनेन्द्रके समान पल्यकीर्तिने संज्ञाओंको संक्षिप्त, जटिल और सांकेतिक बनानेकी चेष्टा नहीं की है।

शाकटायनमें 'न' १।१।७० सूत्रके द्वारा विराममें सन्धिकार्यका निषेध करते हुए अविराममें सन्धिका विधान मानकर 'न' सूत्रको अधिकार सूत्र बताया है। अच् सन्धिके आदिमें सबसे पहले अयादि सन्धिका विधान किया है। पश्चात् १।१।७३ द्वारा यण् सन्धिका निरूपण किया है। यण् सन्धिके विधानके प्रसंगमें शाकटायनमें ''ह्रस्वो वाऽपदे'' १।१।७४ सूत्र है, इसके द्वारा दधी + अत्र = दधिअत्र, नदी + एषा=नदिएषा, नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। शाकटायनका यह विधान विलकुल नवीन है। पाणिनीय तन्त्रमें ह्रस्व विधानका नियम नहीं है ज्ञात होता है कि शाकटायनके समयमें भाषाका प्रवाह पाणिनिकी अपेक्षा बहुत आगे बढ़ गया था।

प्रकृतिभाव सन्धिको शाकटायनने निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरणमें केवल चार ही सूत्र आये हैं। यद्यपि पाणिनिकी अपेक्षा इसमें कोई मौलिकता या नवीनता नहीं है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि शाकटायनने बहुत थोड़ेमें अधिक कार्य कर दिखलाया है। शाकटायनमें स्वरसन्धिके अन्तर्गत द्वित्व सन्धिको भी रखा गया है और इसका अनुशासन ९ सूत्रोंमें किया गया है। यह अनुशासन पाणिनिके समान है, किन्तु इसका प्रभाव उत्तरकालीन वैयाकरण हेमपर अधिक पड़ा है।

सम्राट् शब्दकी सिद्धि शाकटायनने ''सम्राट्'' १।१।११३ सूत्र द्वारा की है। वृत्तिमें ''समो मकारो निपात्यते क्विवन्ते राजि परे'' है। इससे स्पष्ट है कि इन्होंने मकारको निपातनसे ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि शाकटायनमें इस सूत्रसे पूर्व वैकल्पिक अनुस्वारका अनुशासन विद्यमान है, तो भी उन्होंने अनुस्वाराभावका जिक्र नहीं किया है। हमें ऐसा लगता है कि निपातन कह देनेसे ही शाकटायनने इसलिए सन्तोष कर लिया कि निपातनका अर्थ ही है, अन्य विकार्य स्थितियोंका अभाव। अतः उन्होंने हेमकी तरह अनुस्वाराभाव कहनेकी आवश्यकता नहीं समझी और उनके टीकाकारोंने इसपर प्रकाश डाला।

शब्दसाधुत्वमें शाकटायनका दृष्टिकोण पाणिनिके ही समान है। इन्होंने एक-एक शब्दको लेकर सातों विभक्तियोंमें उनके रूपोंकी साधनिका उपस्थित की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्त्रीप्रत्यय प्रकरणमें शाकटायनने स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दोंका साधुत्व छोड़ दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कवरपुच्छी, मणिपुच्छी, बिषपुच्छी, उलूकपुच्छी, अश्वक्रीति, मनसाक्रीति प्रभृति प्रयोगोंका शाकटायनमें अभाव है। इस कमीकी पूर्त्ति हेमचन्द्रने २।४।४, २।४।४२, २।४।४३, २।४।५ सूत्रोंके प्रणयन द्वारा की है। शाकटायनमें कारक सामान्य और कर्त्ता, कर्मादि की परिभाषाएँ नहीं आई हैं। इसमें विभक्ति विधायक सूत्रोंका सीधे ढंगसे ही कथन किया गया है। अतः शाब्दिक अनुशासनकी दृष्टिसे यह प्रकरण उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना पाणिनिका है।

शाकटायनमें समास प्रकरणका आरंभ प्रायः बहुव्रीहि समासमें होता है। जैसे न, दुस्, सु, इनसे परे प्रजा शब्दान्त बहुव्रीहिसे अम् प्रत्यय, न, दुस तथा अल्प शब्दसे परे मेधा, शब्दान्त बहुव्रीहिसे अन्प्रत्यय, जाति शब्दान्त बहुव्रीहिसे छः प्रत्यय एवं धर्मशब्दान्त बहुव्रीहिसे अम् प्रत्यय होता है। इसके पश्चात् बहुव्रीहि समासमें पुंवद्भाव, ह्रस्व प्रभृति अनुशासनोंका नियमन है। सुगन्धि, पूतगन्धि, सुरभिगन्धि, घृतगन्धि आदि सामासिक प्रयोगोंके साधुत्वके लिए इत् प्रत्ययका विधान किया है। बहुव्रीहि समास समाप्त करते ही अव्ययीभाव समासका प्रकरण आरम्भ हो जाता है तथा युद्धवाच्यमें ग्रहण और प्रहरण अर्थमें केशाकेशि और दण्डादण्डिको अव्ययीभाव समास माना है। अतः "केशांश्च केशांश्च परस्परस्थ ग्रहणम् यस्मिन् युद्धे" इस प्रकारके साध्य प्रयोग विग्रह वाक्यमें अन्य वाक्य प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनिने जिन प्रयोगोंको बहुव्रीहि समासमें गिनाया है, उनमेंसे कतिपय शाकटायनमें अव्ययीभाव समासमें गिनाये गए हैं।

शाकटायनका तद्धित, कृदन्त और तिङन्त प्रकरण भी प्रायः पाणिनिके अनुसार है। परन्तु इन प्रकरणोंमें प्रत्यय विधान और प्रत्ययोंके अर्थ अपनी मौलिकता समेटे हुए हैं। कुशल अनुशासकने उस शिल्पीका कार्य किया है, जो पुराने उपादानोंको लेकर भी भवनका नये ढंगसे निर्माण करता है।

शाकटायन शब्दानुशासनकी सात टीकाएँ अब तक उपलब्ध हैं। विवरण निम्न प्रकार है।

अमोघवृत्ति—यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षके नामपर लिखी गयी है। स्वयं सूत्रकर्त्ता ही इस वृत्तिके रचयिता हैं। यह सबसे बड़ी वृत्ति है।

२. **शाकटायन-न्यास**—यह अमोघवृत्तिपर प्रभाचन्द्रकृत न्यास है। इस ग्रन्थके केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं।

३. **चिंतामणि टीका**—(लघीयसीवृत्ति)—यक्षवर्माने अमोघवृत्तिको संक्षिप्तकर यह टीका लिखी है। व्याकरण शास्त्रकी दृष्टिसे यह टीका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

४. **मणिप्रकाशिका**—अजितसेनने चिंतामणिके अर्थको व्यक्त करनेके लिए इस टीकाका निर्माण किया है। अनुशासनकी दृष्टिसे यह टीका भी अध्येताओंके लिए उपयोगी है।

५. **प्रक्रिया संग्रह**—अभयचन्द्रने सिद्धान्त कौमुदीके ढंगकी यह टीका लिखी है। जो पाणिनीय तन्त्रके लिए भट्टोजिदीक्षितने कार्य किया है, वैसा ही यह कार्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. **शाकटायन टीका**—वादिपर्वतवज्र भावसेन त्रैविद्यने इस टीकाकी रचना की है। यही भावसेन कातन्त्रकी रूपमाला टीकाके कर्त्ता भी हैं। इनका एक 'विश्वतत्त्व प्रकाश' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७. **रूपसिद्धि**—पाणिनीय सूत्रोंपर लघुसिद्धान्त कौमुदीका निर्माण इसलिए हुआ कि जिज्ञासुओंको संक्षेपमें पाणिनीय शब्दानुशासनका बोध बिना किसी क्लेशके हो सके। इसी बातको ध्यानमें रखकर दयापाल मुनिने इस टीकाकी रचना की है। यह लघुसिद्धान्त कौमुदीके समान उपयोगी है। दयापालके गुरुका नाम मतिसागर था। टीकाकार पार्श्वनाथ चरित और न्याय-विनिश्चयके कर्त्ता वादिराज सूरिके सधर्मा थे। पार्श्वनाथ चरितकी रचना शकसंवत् ९४७ में हुई है। अतः टीकाकारका समय भी उपर्युक्त ही है।

हैमशब्दानुशासन

आचार्य हेमका व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना ही प्रेरक भी। इनमें एक साथ ही वैयाकरण, आलंकारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार, कोशकार, छन्दोनुशासक और महान् युग कविका अन्यतम समवाय हुआ है। हेमके इन विभिन्न रूपोंमें उनका कौनसा रूप सशक्त है, यह निश्चय करना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैयाकरण हेम अपने क्षेत्रमें अद्वितीय हैं। हेमके पूर्व पाणिनि, चान्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। इन्होंने अपने समयमें उपलब्ध समस्त शब्दार्थ-का अध्ययनकर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एवं सरल व्याकरणकी रचनाकर संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंको पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषाका अनुशासन लिखकर हेमने इस भाषाको अमर तो बना ही दिया है, किन्तु अपभ्रंशके प्राचीन दोहोंको उदाहरणके रूपमें उपस्थितकर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्यके नमूनोंकी रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेमका व्यक्तित्व अद्भुत है। इन्होंने धातु और प्रातिपदिक, प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत् और तद्धित, अव्यय और उपसर्ग प्रभृतिका निरूपण, विवेचन एवं विश्लेषण किया है।

शब्दानुशासनके क्षेत्रमें हेमचन्द्रने पाणिनि, भट्टोजिदीक्षित और भट्टिका कार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होंने सूत्र वृत्तिके साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। संस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायोंमें और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्यायमें, इस प्रकार कुल आठ अध्यायोंमें अपने अष्टाध्यायी शब्दानुशासनको समाप्त किया है।

संस्कृत शब्दानुशासनके उदाहरण संस्कृत द्व्याश्रय काव्यमें और प्राकृत शब्दानुशासनके उदाहरण प्राकृत द्व्याश्रय काव्यमें लिखे हैं।

संस्कृत शब्दानुशासनके प्रथम अध्यायमें २४१ सूत्र, द्वितीयमें ४६०, तृतीयमें ५२१, चतुर्थमें ४८१, पंचममें ४९८, षष्ठमें ६९२ और सप्तममें ६७३ सूत्र हैं। कुल सूत्र संख्या ३५६६ है। प्रथम अध्यायके प्रथम पादमें संज्ञाओंका विवेचन किया है। इसमें स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, सन्ध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यंजन, धुट्, वर्ग, अघोष, घोषवत्, अन्तस्थ, शिट्, स्व, प्रथमादि, विभक्ति पद, वाक्य, नाम, अव्यय और संख्यावत् इन चौबीसका प्रतिपादन किया है। शिष्टायस्य द्वितीयो वा १।३।५९ द्वारा ख्षीरम्, क्षीरम् तथा अ्प्सरा,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अप्सरा जैसे शब्दोंकी सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दीका खीर शब्द हेमचन्द्रके ख्षीरम्के बहुत नजदीक है।

हेमने इस प्रकरणमें व्यंजन और विसर्ग इन दोनों सन्धियोंका सम्मिलित रूपमें विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यंजन सन्धिके हैं तथा कुछ विसर्गके और आगे बढ़नेपर विसर्ग सन्धिके सूत्रोंके पश्चात् पुनः व्यंजन सन्धिके सूत्रोंपर लौट आते हैं और अन्तमें पुनः विसर्ग सन्धिकी बातें बतलाने लगते हैं। सामान्य रूपसे देखनेपर यह एक गड़बड़झाला सिखलाई पड़ेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्रने व्यंजन सन्धिके समान ही विसर्ग सन्धिको भी व्यंजन सन्धि ही माना है। यतः दोनोंका एकजातीय स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्रायः देखा जाता है कि व्यंजन सन्धिके प्रसंगमें आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धिके कार्यका समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्गको "र" और "स" का प्रतिनिधि ही मानते हैं। प्रथम अध्यायके चतुर्थपादमें कतिपय स्वरान्त और व्यंजनान्त शब्दोंका भी नियमन किया गया है।

द्वितीय अध्यायके प्रथम पादमें अवशेष शब्द-रूपोंकी चर्चा; द्वितीय पादमें कारक प्रकरण, तृतीय पादमें षत्व-णत्व विधान और चतुर्थपादमें स्त्री-प्रत्यय प्रकरण है। तृतीय अध्यायके प्रथम और द्वितीय पादमें समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थ पादमें आख्यात प्रकरण आया है। चतुर्थ अध्यायके चारों पादोंमें भी आख्यात प्रकरणका ही नियमन किया गया है। पंचम अध्यायके चारों पादोंमें कृदन्त और षष्ठ तथा सप्तम अध्यायमें तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेमने अपने पूर्ववर्त्ती समस्त व्याकरण शास्त्रका अध्ययनकर अपने शब्दानुशासनको सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनानेका श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना आवश्यक है कि हेममें अन्य वैयाकरणोंकी अपेक्षा क्या वैशिष्टच है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेमकी तुलना करनेसे ज्ञात होता है कि हेमने पाणिनिसे बहुत कुछ लिया है, पर इस अवदानको मौलिक और नवीन रूपमें ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। विचार करनेसे अवगत होता है कि संस्कृतके शब्दानुशासकोंने विभिन्न प्रकारसे अपनी-अपनी संज्ञाओंके सांकेतिक रूप दिये हैं। यत्र-तत्र एकता होनेपर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रामें विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए; उनकी रचनाएँ अलग-अलग व्याकरणके रूपमें अभिहित हुईं। विवेचन शैलीकी विभिन्नताके कारण एक ही संस्कृत भाषामें व्याकरणके कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्रकी सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होंने स्वर तथा व्यंजन विधान संज्ञाओंका विवेचन करनेके अनन्तर विभक्ति, पद, नाम और वाक्य संज्ञाओंका बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरणमें इस प्रकारके विवेचनका ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्यकी परिभाषा देना ही भूल गये हैं। परवर्त्ती वैयाकरण कात्यायनने सम्भालनेका प्रयत्न अवश्य क्रिया है, पर इन्होंने वाक्यकी जो परिभाषा "एकतिङ् वाक्यम्" दी है वह भी अधूरी ही रह गई है। बादके पाणिनीय तन्त्रकारोंने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी "एकतिङ् वाक्यम्" के दायरेसे दूर नहीं हो सके, फलतः उनकी वाक्य परिभाषा सीधा स्वरूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लेकर उपस्थित नहीं हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्योंकी त्यों बनी रही है। किन्तु हेमने वाक्यकी बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है—"सविशेषणमाख्यातं वाक्यम्" १।१।२६ "त्याद्यन्तं पदमाख्यातं साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैः प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहितं प्रयुज्यमानमप्रयुज्यमानं वा आख्यातं वाक्यसंज्ञं भवति।" अर्थात् मूलसूत्रमें सविशेषण आख्यानकी वाक्य संज्ञा बतलायी गयी है। यहाँ आख्यातके विशेषणका अर्थ है अव्यय कारक, संज्ञा, विशेषण और क्रिया विशेषणोंका साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्रके वृत्त्यंशसे स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान विशेषणोंके साथ प्रयुज्यमान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यातकी ही वाक्यमें प्रधानता रहती है। यहाँ विशेषण शब्दसे केवल संज्ञा विशेषणको ही ग्रहण नहीं किया गया है, अपितु साधारणतः अप्रधान अर्थमें इसे ग्रहण किया है। वैयाकरणोंका यह सिद्धान्त भी है कि वाक्यमें आख्यातका अर्थ ही प्रधान होता है? हेमने अपनी वाक्य परिभाषाका सम्बन्ध "पदायुग्विभक्त्येकवाक्ये रस्मसौ बहुत्वे" २।१।२१ सूत्रसे भी माना है। अतः पाणिनीय तन्त्रकारोंकी अपेक्षा हेमकी वाक्य-परिभाषा अधिक तर्कसंगत है।

हेम ने सात सूत्रोंमें अव्यय संज्ञाका निरूपण किया है। इस निरूपणमें सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निपात संज्ञाको अव्यय संज्ञामें ही विलीन कर लिया है। इन्होंने यदिको निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह संक्षिप्तीकरणका एक लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और संख्यावत् संज्ञाओंका विवेचन भी पूर्ण है। हेमने अनुनासिकका अर्थ व्युत्पत्ति-गत मान लिया है। अतः इसके लिए पृथक् सूत्र बनानेकी आवश्यकता नहीं समझी है। संज्ञा-प्रकरणकी हेमकी संज्ञाएँ शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय संज्ञाएँ अर्थानुसारी हैं। पाणिनिके समान हेमकी संज्ञाओंका तात्पर्य भी अधिकसे अधिक शब्दावलीको अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अतः हेमने पाणिनि और जैनेन्द्रकी अपेक्षा कम संज्ञाओंका प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्यसे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि हेमने पाणिनीय व्याकरणका अवलोकनकर भी उनकी संज्ञाओंको ग्रहण नहीं किया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत संज्ञाएँ पाणिनिने भी लिखी हैं, किन्तु हेमने इन संज्ञाओंमें स्पष्टता और सहज बोध-गम्यता लानेके लिए एक, द्वि और त्रि मात्रिकको क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनिके "ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः" १।२।२६ सूत्रमें हेमका उक्त भाव अंकित है, किन्तु हेमने एकमात्रिक द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारणके लिए स्पष्टीकरण कर दिया है।

हेम और पाणिनिकी संज्ञाओंमें एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहारोंके झमेलेमें नहीं पड़े हैं, इनकी संज्ञाओंमें प्रत्याहारोंका बिलकुल अभाव है। वर्णमालाके वर्णोंको लेकर ही हेमने संज्ञाका विधान किया है। पाणिनिने प्रत्याहारों द्वारा संज्ञाओंका निरूपण किया है, जिसमें प्रत्याहार क्रमको स्मरण किये बिना संज्ञाओंका अर्थबोध नहीं हो सकता है। अतः हेमका संज्ञा-विधान पाणिनि और जैनेन्द्रकी अपेक्षा सरल एवं स्पष्ट है।

सन्धि प्रकरणमें भी हेमने लाघवको कायम रखनेकी पूरी चेष्टा की है। गुण सन्धिमें ऋके स्थानपर अर् और ऌके स्थानपर अल् किया है। पाणिनिको इसी कार्यकी सिद्धिके लिए पृथक् "उरण्रपरः" १।१।५ सूत्र लिखना पड़ा। हेमने इस एक सूत्रकी बचत कर ली है। पाणिनिने "एङि पररूपम्" ६।१।९४ सूत्र द्वारा पहले अ हो बादमें ए हो तो पररूप करनेका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुशासन किया है। हेमने "वोष्ठौतौ समाने" १।२।१७ द्वारा लुक्का नियमन किया है। अतः पाणिनिकी अपेक्षा हेममें लाघव है। हेमने यह प्रक्रिया शाकटायनसे अपनायी है।

पाणिनिने ७।१।५७ के द्वारा जस्के स्थानमें शी होनेका विधान किया है, हेमने १।४।९ द्वारा सीधे जस्के स्थानपर "ई" कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनिके यहाँ केवल "ई" का विधान होता, तो यह जस्के अन्तिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होंने शकार अनुबन्धको लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस्के स्थानपर शी का विधान किया। हेमके यहाँ इस तरहका कुछ भी झमेला नहीं है। इनके यहाँ जस्के स्थानपर किया गया "ई" का नियमन समस्त जस्के स्थानपर होता है। अतः यहाँ हेमकी लाघव दृष्टि प्रशंसनीय है। हेमने पाणिनिकी तरह सर्वादिकी सर्वनाम संज्ञा नहीं की है, किन्तु सर्वादि कह कर ही काम चलाया है। जहाँ पाणिनिने सर्वनामको रोक कर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य रोका है; वहाँ हेमने सर्वादिको सर्वादि ही नहीं मानकर चलाया है। यह भी हेमकी लाघव दृष्टिका सूचक है। पाणिनिने आम्को साम् बनानेके लिए सुट्का आगम किया है, पर हेमने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम्को सीधे साम् बनानेका अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंगमें लतायै, लतायाः और लतायांकी सिद्धिके लिए पाणिनिने बहुत द्रविड प्राणायाम किया है। उन्होंने ७।३।११३ सूत्रसे याट् किया है, पुनः वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करनेपर लतायाः और लतायाम्का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेमने १।४।७ सूत्र द्वारा सीधे यै, याट् और याम् प्रत्यय जोड़कर उक्त रूपोंका सहज साधुत्व दिखाया है। हेमने १।४।२। सूत्र द्वारा इकारके बाद औ हो तो दीर्घ ईकार और उकारके बाद औ हो तो दीर्घ ऊकारका अनुशासन किया है। हेमकी यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्रके विद्वानोंके लिए अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है। मुनौ प्रयोगमें पाणिनिने ७।३।११९ के द्वारा इ को अ और ङी को ङौ किया है, जिससे यहाँ ङ् का अनुबंध होनेसे मुनौकी सिद्धि की हैं, किन्तु हेमने १।४।२५ सूत्र के द्वारा डी को डौ किया है, जिससे यहाँ ङ् का अनुबंध होनेसे मुनि शब्दका इकार स्वयं ही हट गया है, अतएव मुनि शब्दके नकारमें रहने वाले इकारके स्थान पर हेमको अकार करनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

हेमने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारककी परिभाषा दी है, जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय तन्त्रमें क्रिया विशेषणको कर्म बनानेका कोई भी नियम नहीं है, बादके वैयाकरणों और नैयायिकोंने "क्रियाविशेषणानां कार्यत्वं" का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेमने २।२।४१ सूत्रमें उक्त सिद्धान्तको अपने तन्त्रमें संग्रहीत कर लिया है। पाणिनि ने २।६।१६ सूत्र द्वारा अलं शब्दके योगमें चतुर्थीका विधान किया है, किन्तु हेमने शक्त्यर्थक सभी शब्दोंके योगमें चतुर्थीका नियमन किया है, इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनिके उक्त नियमको व्यावहारिक बनानेके लिए अलं शब्दको पर्याप्तार्थक मानना पड़ता है, अन्यथा "अलं महीपाल तव श्रमेण" इत्यादि वाक्य व्यवहित हो जायेंगे। हेमने शक्त्यर्थक और पर्याप्तार्थक शब्दोंके साधुत्वको पृथक् कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकारका विरोध नहीं आता है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि हेममें पाणिनि, जैनेन्द्र और शाकटायनकी अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है, पर यह भी हमें नहीं भूलना चाहिए कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हेमने उक्त तीनों व्याकरणोंसे प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्यपाद और पाणिनिकी अपेक्षा हेमने शाकटायनसे बहुत कुछ लिया है। जैनेन्द्रके "सिद्धिरनेकान्तात्" का प्रभाव सिद्धिः स्याद्वादात् १।१।२ पर स्पष्ट है। हेमने तद्धित और कृदन्त प्रकरणमें जैनेन्द्रके सूत्र ज्योंके त्यों अपनाये हैं।

शाकटायन व्याकरणकी शैलीका प्रभाव तो हेमपर सर्वाधिक है। यहाँ एक उदाहरण देकर उक्त कथनका स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" २।१।१८; पूज्यपादने "पारे मध्ये तथा वा" १।३।१५; और शाकटायन ने "पारे मध्येऽन्तः षष्ठ्या वा" २।१।९ सूत्र लिखा है। हेमने तद्धित और कृदन्त प्रकरण में जैनेन्द्रके सूत्र ज्योंके त्यों अपनाये हैं।

शाकटायन व्याकरणकी शैलीका प्रभाव तो हेमपर सर्वाधिक है। यहाँ एक उदाहरण देकर उक्त कथनका स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनिने "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" २।१।१८; पूज्यपादने "पारे मध्ये तथा वा" १।३।१५ और शाकटायनने "पारे मध्येऽन्तः षष्ठ्या वा" २।१।९ सूत्र लिखा है। हेमने उक्त सूत्रके स्थानपर "पारे मध्येऽग्रेऽन्तः षष्ठ्या वा" सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणोंके सूत्रकी हेमके साथ तुलना करनेपर अवगत होता है कि हेमने शाकटायनका सर्वाधिक अनुकरण किया है।

शाकटायनके "न नृपूजार्थध्वजचित्रे" ३।३।३४ का अमोघवृत्ति सहित हेमने "न नृपूजार्थध्वजचित्रे" ७।१।१०९ में शब्दशः अनुकरण किया है। यद्यपि हेमने अपने पूर्ववर्त्ती वैयाकरणोंसे बहुत कुछ लिया है, तो भी अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासनमें अनेक नवीनताएँ लानेका उनका प्रयास प्रशंस्य है।

हैम शब्दानुशासनका अष्टम अध्याय प्राकृत भाषाका अनुशासन करता है। इसमें चार पाद और कुल १११९ सूत्र हैं। प्रथम पादमें स्वर और व्यंजन विकार, द्वितीयमें संयुक्त व्यंजन विकार, तृतीयमें सर्वनाम, कारक, कृदन्त एवं चतुर्थपादमें धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंशका अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषाकी जानकारीके लिए इससे बड़ा और सर्वांगपूर्ण व्याकरण अन्य कोई नहीं है। पाणिनिने जिस प्रकार वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत भाषाका अनुशासन किया, उसी प्रकार हेमने लौकिक संस्कृत तथा उसकी निकटवर्त्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषाके तत्त्वोंकी जानकारी हेमकी अद्भुत है। हैमशब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरणके अकेले अध्ययनसे ही लोकप्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओंकी यथेष्ट जानकारी हो सकती है। यह गुजरातका व्याकरण कहलाता है। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध हैं :—

नाम	कर्त्ता	संवत्
लघुन्यास	हेमचन्द्रके शिष्य रामचन्द्रगणी	हेमचन्द्रकालीन
लघुन्यास	धर्मघोष	
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाम	कर्त्ता	संवत्
हैमलघुवृत्ति	काकल कायस्थ	हेमचन्द्रके समकालीन
हैमढुंढिका वृत्ति	उदय सौभाग्य	१५९१
हैमबृहद्वृत्ति ढुंढिका	सौभाग्य सागर	
हैमलघुवृत्ति ढुंढिका	मुनि शेखर	
हैम अवचूरि	धनचन्द्र	
प्राकृत दीपिका	द्वितीय हरिभद्र	
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	
हैमचतुर्थपाद वृत्ति	हृदय सौभाग्य	१५९१
हैम व्याकरण दीपिका	जिनसागर	
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	
हैम दुर्गपद प्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैम कारक समुच्चय	श्रीप्रभसूरि	१२९०
हैम वृत्ति		

हैम व्याकरणसे सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ :—

लिंगानुशासन वृत्ति	जयानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्न समुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैम विभ्रम सूत्र	गुणचन्द्र	
हैम विभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदय चन्द्र	
न्यायमंजूषा	हेमहंस	१५१५
न्यायमंजूषान्यास		
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	
हैम कौमुदी	मेघविजय	१७५९
शब्दचन्द्रिका	,,	१७६१
हैमप्रक्रिया	महेन्द्र सुतवीरसी	
हैम लघुप्रक्रिया	विनयविजय तपागच्छके आचार्य	
भिक्खु व्याकरण	अधुनातन	
कालुकौमुदी	अधुनातन	

इन प्रसिद्ध तीन महाव्याकरणोंके अतिरिक्त कातन्त्र, यशोभद्र कृत जैन व्याकरण, आर्य व्रजस्वामी कृत जैन व्याकरण, भूतवली जैन व्याकरण, श्रीदत्त कृत जैन व्याकरण, प्रभाचन्द्र कृत जैन व्याकरण एवं सिंहनन्दी कृत जैन व्याकरणके नामोंकी सूचना मिलती है।[1]

---

१. देखें—पं० गुरुपद हालदारकृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास, पृ० ४४९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कातन्त्रके मूलसूत्रोंके रचयिताके सम्बन्धमें विवाद है।[1] पर इतना सत्य है कि कातन्त्र रूपमालाके रचयिता भावसेन त्रैविद्य हैं[2]। यह व्याकरण-साहित्यके महान् विद्वान् थे। कातन्त्रका प्रचार प्राचीन कालमें बहुत था। संस्कृत भाषाको सरलताके साथ सीखनेमें यह व्याकरण बहुत सहायक है। कातन्त्रमें संज्ञाओंका कोई स्वतन्त्र प्रकरण नहीं है, सन्धि प्रकरणके पहले पादमें प्रायः सभी प्रमुख संज्ञाओंका उल्लेख कर दिया गया है। इस व्याकरणकी ''सिद्धो वर्णसमाम्नायः'' यह प्रथम सूत्रीय घोषणा अत्यन्त गंभीर है। इस सूत्र द्वारा वर्णोंकी नित्यता स्वीकार की गई है। इसमें प्रत्याहारका झमेला नहीं है। सन्धि, शब्द, विभक्त्यर्थ, स्त्रीप्रत्यय, समास, तिङन्त, कृदन्त और तद्धित सभी प्रकरण इस व्याकरण में हैं। कातन्त्रके तिङन्त प्रकरणमें कालवाची क्रियाओंका नामकरण वर्तमान, परोक्ष, सप्तमी, पंचमी, ह्यस्तनी, अद्यतनी, आशीः, श्वस्तनी, भविष्यन्ती और क्रियातिपत्तिके रूपमें किया गया है। जैनेन्द्र और शाकटायनमें लकारोंका निरूपण है, किन्तु हेमचन्द्रने अपने शब्दानुशासनमें कातन्त्र सम्मत कालवाची क्रियाओंको स्थान दिया है। कातन्त्र व्याकरणके पठन-पाठनका प्रचार जैन सम्प्रदायमें बहुत अधिक रहा है। इसकी एक प्रमुख विशेषता विराममें अनुस्वारका होना भी है। स्व० पं० पन्नालाल बाकलीवालने इसी व्याकरणके आधारपर बालबोध नामक अति सरल व्याकरण लिखा है। कातन्त्रपर सकलकीर्त्ति द्वितीयकृत कातन्त्ररूपमाला लघुवृत्ति, दुर्गसिंह कृत कातन्त्रव्याकरणकी वृत्ति और रविवर्माचार्यकृत कातन्त्रव्याकरणकी वृत्ति उपलब्ध है। वर्द्धमान कविकी कातन्त्र विस्तार नामकी टीका भी उपलब्ध है।[3] इस टीकामें सूत्रोंकी व्याख्याके साथ अनेक नवीन उदाहरण भी सम्मिलित किये गये हैं। इसमें कई उदाहरण कारिका वृत्ति के हैं। कातन्त्रके रचयिताका नाम सर्ववर्मा होनेसे विद्वान् इनके जैन होनेमें संदेह करते हैं। परन्तु इनके प्रथम सूत्रका ''सिद्धं'' पदसे प्रारम्भ होना, इनके अधिकांश टीकाकारोंका जैन होना व जैन समाजमें इस व्याकरणका विशेष प्रचार होना आदि तथ्य इनके जैन होनेकी प्रतीति उत्पन्न कराये बिना नहीं रहते। इस व्याकरणके विशेष अध्ययनसे यह बात और भी पुष्ट होती है।

---

१. अकारादिहसीमानं, वर्णाम्नायं वितन्वता।
ऋषभेणार्हताद्येन स्वनामाख्यातमादितः॥
यत्रार्हंपद्संदर्भाद् वर्णाम्नायः प्रतिष्ठितः।
तस्मै कौमारशब्दानुशासनाय नमो नमः॥
ब्राह्मा कुमार्या प्रथमं सरस्वत्याप्यधितिष्ठितम्।
अर्हं पदं संस्मरन्त्या तत् कौमारमधीयते॥
कुमार्या अपि भारत्या अंगन्यासेऽप्ययं क्रमः।
अकारादिहपर्यन्तस्ततः कौमारमित्यदः॥ कातन्त्र रूपमालाके अन्तिम श्लोक।

२. भावसेनत्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिणा।
कृतायां रूपमालायां कृदन्तः पर्यपूर्यत॥
मन्दबुद्धिप्रबोधार्थं, भावसेनमुनीश्वरः।
कातन्त्ररूपमालाख्यां कृतिं व्यरचयत्सुधीः॥ —रूपमालाके अन्तिम पद्य।

३. देखें—प्रशस्तिसंग्रह पृ० ११८-२००।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फुटकर स्तोत्रोंसे प्राप्त सूचनापर निम्न जैन व्याकरण ग्रंथोंकी जानकारी और भी प्राप्त होती है।

पाण्डव पुराणकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि १२२४ सूत्र प्रमाण 'चिन्तामणि' नामका शब्दानुशासन आचार्य शुभचन्द्रने लिखा था। यह तीन अध्यायोंमें विभक्त था तथा प्रत्येक अध्यायमें चार पाद थे। इस ग्रंथ पर द्वितीय समन्तभद्रने 'चिन्तामणि' व्याकरण टिप्पण भी लिखा है। ग्रंथप्रमाणके अनुसार यह व्याकरण उपयोगी होगा।

कन्नड़ भाषाका व्याकरण संस्कृत भाषामें अकलंकदेव भट्टने लिखा है। इस व्याकरणका नाम 'शब्दानुशासन' है। कन्नड़ भाषा और साहित्यके विद्वानोंमें इस ग्रन्थका बड़ा सम्मान है। आज भी यह व्याकरण अपनी उपयोगिताके कारण लोकप्रिय है। जैनाचार्योंने कन्नड़का व्याकरण कन्नड़ भाषामें भी लिखा है। कन्नड़ साहित्य और कन्नड़ व्याकरणको समृद्धिशाली बनानेका श्रेय जैनाचार्योंको ही है।

भावसेनका मनोरमा व्याकरण, केशवराजका शब्दमणि व्याकरण, तपागच्छके आचार्य राजविजय सूरिके शिष्य दानविजयका शब्दभूषण, पुण्यसुन्दरका स्वरवर्णानुक्रम धातुपाठ, धनरत्नके शिष्य नयसुन्दरका रूपरत्नमाला, कल्याणसागर सूरिका लिंग-निर्णय, शबरस्वामीका लिंगानुशासन, दुर्गसिंहका लिंगानुशासन तथा जयनन्दन सूरिका लिंगानुशासनोद्धार भी व्याकरण सम्बन्धी ग्रंथ हैं। अर्हन्नन्दीके शिष्य त्रिविक्रमका प्राकृत शब्दानुशासन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका आधार हेमचन्द्रका प्राकृत शब्दानुशासन ही है।

इन व्याकरण ग्रन्थोंके अतिरिक्त जैनाचार्योंने सारस्वत व्याकरण पर कई टीकाएँ लिखी हैं। कुछ विद्वान् तो अजितसेनके शिष्य नरेन्द्रसेनको ही इस व्याकरणका रचयिता मानते हैं। युधिष्ठिर मीमांसकने भी अपने व्याकरण-साहित्यके इतिहासमें इस ओर संकेत किया है। हमें लगता है कि इसी कारण इस पर अनेक टीकाएँ जैनाचार्यों द्वारा निर्मित हुई हैं। नागपुरीय तपागच्छके आचार्य चन्द्रकीर्तिकी सं० १६६४ में लिखी गयी इस व्याकरणकी प्रसिद्ध टीका है।

जैन-व्याकरण साहित्यकी उपलब्धियाँ

१. शब्दकी अनेकान्तात्मकता—अनेक धर्मात्मक होनेके कारण स्याद्वाद द्वारा शब्दोंकी सिद्धि पर जोर दिया। जैनेतर वैयाकरण शब्दमें वाच्य-वाचक सम्बन्धको मानकर भी दोनोंको स्वतन्त्र मानते हैं। वाचकके रूपमें परिवर्त्तन हो जाने पर भी वाच्यके रूपमें कोई परिवर्त्तन नहीं मानते। पर जैन शाब्दिकोंका मत है कि वाचकमें लिंग, संख्या आदिका जो परिवर्त्तन होता है, वह स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु अनन्त धर्मात्मक बाह्य वस्तुके अधीन है अर्थात् जिन धर्मोंसे विशिष्ट वाचकका प्रयोग किया जाता है, वे सब धर्म वाच्यमें रहते हैं।

२. वैदिक शब्दोंका अनुशासन करने वाले पाणिनीय व्याकरणके पंजेसे छुड़ाकर लौकिक भाषाके स्वरूप निर्धारणमें अधिक से अधिक योगदान देनेवाले शब्दानुशासनोंका निर्माण कर गतिशील भाषाको स्थिर या मृत न बनाकर उसकी गतिशीलतामें ही सहायक होना।

३. पाणिनीय तन्त्रोंका मन्थन कर सारभूत रत्नोंको उपस्थित किया, जिससे अध्येताओंके समय और श्रमकी बचत हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. उदाहरणोंमें उन ऐतिहासिक प्रयोगों और स्थानोंके नामोंको सुरक्षित रखा, जिनसे आज भी देशके सांस्कृतिक इतिहासके निर्माणमें पर्याप्त सहायता मिलती है तथा इतिहासकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

५. उन साम्प्रदायिक शब्दोंका साधुत्व प्रतिपादित किया, जिनकी अवहेलना अन्य सम्प्रदाय वाले वैयाकरण करते आ रहे थे।

६. उदाहरणोंमें जैन तीर्थंकरों, जैन राजाओं, जैन महापुरुषों और जैन ग्रन्थकारोंके नाम सन्निविष्ट किये तथा उक्त शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ बतलायीं।

७. शब्दोंमें स्वाभाविक रूपसे अनन्त शक्तियाँ स्वीकार कीं, फलतः एक शेषका त्यागकर अनेकशेषका निरूपण किया। यतः जैनेतर वैयाकरणोंके अनुसार एक शब्द एक ही व्यक्तिका कथन करता है, अतः बहुतसे व्यक्तियोंका बोध करना हो तो बहुतसे शब्दोंका प्रयोग करके "सरूपानामेकशेष एकविभक्तौ" १।२।६४ सूत्रके अनुसार एकशेष किया जाता है। बहुवचनमें एक रूपके शेष रहनेपर बहुवचन बोधक प्रत्यय लगाकर बहुवचन शब्द बना लिया जाता है। अतएव व्यक्ति और जातिके स्वतन्त्र रूपसे पृथक् होनेके कारण एकशेष आवश्यक है।

जैन वैयाकरण शब्दको अनेक धर्मात्मक मानते हैं, अतः एक ही शब्द परिस्थिति विशेषमें विशेषण, विशेष्य, पुल्लिग, स्त्रीलिंग, कर्त्ता, कर्म, करण आदि रूपोंमें परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण शब्द अनन्त धर्मात्मक वस्तुका वाचक है, उसका वाच्य न केवल व्यक्ति है और न जाति, किन्तु जाति व्यक्त्यात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वाच्य है। फलतः एकशेष माननेकी आवश्यकता नहीं। यतः "शब्द स्वभावसे ही एक, दो या बहुत व्यक्तियोंका कथन करता है। एक शेष माननेकी आवश्यकता नहीं। यतः "शब्द स्वभावसे ही एक, दो या बहुत व्यक्तियोंका कथन करता है।

८. जैन शब्दानुशासनोंके पंचांगपूर्ण होनेके कारण अनुशासनमें लाघव और स्पष्टता।

९. वर्णित विषयके क्रम विवेचनकी मौलिकता।

१०. विकारोंके उत्सर्ग और अपवाद मार्गोंका निरूपण।

११. विषय विवेचनमें वैज्ञानिकता और मौलिकताका सन्निवेश।

१२. ग्रन्थन शैलीकी महनीयता।

१३. संस्कृत भाषामें जैन शब्दानुशासनोंका प्रणयन उस समय हुआ, जब पाणिनीय व्याकरणका सांगोपांग विवेचन हो चुका था। इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधारपर कात्यायन तथा पतंजलि जैसे विशिष्ट वैयाकरणोंने सैद्धान्तिक गवेषणाएँ प्रस्तुत कर दी थीं। इस प्रकार जैन वैयाकरणोंके समक्ष पाणिनिकी अनुपलब्धियाँ और अभावपूर्तियाँ भी वर्तमान थीं। फलतः जैन आचार्योंने उन सारी सामग्रियोंका उपयोगकर अपने शब्दानुशासनोंको पूर्ण एवं समयानुकूल बनाया।

१४. पाणिनीय तन्त्रकारोंने शब्दोंका अनुशासन करते समय प्रत्ययों, आदेशों तथा आगम आदिमें जो अनुबन्ध लगाये हैं, उनका सम्बन्ध उन्होंने वैदिक स्वर प्रक्रियाके साथ भी जुटाये रखा है, जिसके कारण श्रेण्य संस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासनको समझनेमें क्लेश आ जाता है। जैन वैयाकरणोंने उन्हीं अनुबन्धोंको ग्रहीत किया है, जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। अतः स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्रमें भले ही साथ ही साथ वैदिक भाषाका भी अनुशासन होता गया, किन्तु श्रेण्य संस्कृतका सुबोध अनुशासन जैन वैयाकरणों द्वारा ही हुआ।

१५. जैनाचार्योंने समयानुसारिणी अनुशासन व्यवस्थाको अपनाया, फलतः उनके नियमोंमें सरलता, संक्षिप्तता और वैज्ञानिकताका रहना।

१६. संस्कृत भाषाके अनुशासनके साथ प्राकृत भाषाका अनुशासन भी लिखा गया।

१७. वाक्य विचार, रूप विचार, सम्बन्धतत्त्व और अर्थतत्त्वका विश्लेषण, ध्वनितत्व, ध्वनिपरिवर्तनके कारण, वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविपर्यय, अपिश्रुति, स्वरभक्ति, समीकरण एवं विषमीकरण सम्बन्धी भाषा विज्ञानके नियमोंका प्रतिपादन।

१८. शब्दके कथंचित् नित्यत्व और कथंचित् अनित्यत्वकी मौलिक उद्भावनाएँ।

१९. भाषाके विशाल और विराट् भण्डारका दर्शन।

२०. पुरातन और नूतन नियमोंका समन्वय।

२१. प्राचीन गणपाठ, शिक्षासूत्र, परिभाषाओं एवं सूत्रपाठकी परम्पराओंका संरक्षण।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कवीश्वर मानतुंग

मनुष्यके मनको सांसारिक ऐश्वर्यों, भौतिक सुखों एवं ऐन्द्रियिक भोगोंसे विमुखकर बुद्धिमार्ग और भगवद्भक्तिमें लीन करनेके हेतु जैन कवि मानतुंगने मयूर और बाणके समान स्तोत्र-काव्य का प्रणयन किया है। इनका भक्तामर-स्तोत्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान रूपसे समादृत है। कवि की यह रचना इतनी लोकप्रिय रही है, जिससे इसके प्रत्येक अन्तिम चरणको लेकर समस्यापूर्त्यात्मक स्तोत्र-काव्य लिखे जाते रहे हैं। इस स्तोत्रकी कई समस्यापूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं।

आचार्य कवि मानतुंगके जीवन-वृत्तके सम्बन्धमें अनेक विरोधी विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। भट्टारक सकलचन्द्रके शिष्य ब्रह्मचारी पायमल्ल कृत 'भक्तामरवृत्ति'[1] में जो कि विक्रम संवत् १६६७ में समाप्त हुई है, लिखा है कि धाराधीश भोजकी राजसभामें कालिदास, भारवि, माघ आदि कवि रहते थे। मानतुंगने ४८ सांकलोंको तोड़कर जैन धर्मकी प्रभावना की तथा राजा भोजको जैन धर्मका श्रद्धालु बनाया। दूसरी कथा भट्टारक विश्वभूषण कृत 'भक्तामरचरित'[2] में है। इसमें भोज, भर्तृहरि, शुभचन्द्र, कालिदास, धनञ्जय, वररुचि और मानतुंगको समकालीन लिखा है। इसी आख्यानमें द्विसन्धान-महाकाव्यके रचयिता धनञ्जयको मानतुंगका शिष्य भी बताया है।

आचार्य प्रभाचन्द्रने क्रियाकलापकी टीकाके अन्तर्गत भक्तामर-स्तोत्रकी टीकाकी उत्थानिकामें लिखा है—

"मानतुङ्गनामकः शिताम्बरो महाकविः निर्ग्रन्थाचार्यवर्यैरपनीतमहाव्याधिप्रतिपन्ननिर्ग्रन्थमार्गो भगवन् किं क्रियतामिति ब्रुवाणो भगवतः परमात्मनो गुणगणस्तोत्रं विधीयतामित्यादिष्टः भक्तामर इत्यादि।"

अर्थात्—मानतुंग श्वेताम्बर महाकवि थे। एक दिगम्बराचार्यने उनको महाव्याधिसे मुक्त कर दिया, इससे उन्होंने दिगम्बरमार्ग ग्रहण कर लिया और पूछा—भगवन्! अब मैं क्या करूँ? आचार्यने आज्ञा दी कि परमात्माके गुणोंका स्तोत्र बनाओ। फलतः आदेशानुसार भक्तामरस्तोत्रका प्रणयन किया गया।

वि० सं० १३३४ के श्वेताम्बराचार्य प्रभाचन्द्रसूरिकृत प्रभावकचरितमें मानतुंगके सम्बन्धमें लिखा है[3]—

---

१. इसका अनुवाद पं० उदयलाल काशलीवाल द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२. यह कथा जैन इतिहास-विशारद स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमीने सन् १९१६ में बम्बईसे प्रकाशित भक्तामर-स्तोत्रकी भूमिकामें लिखी है।

३. मानतुंगसूरिचरितम्—पृ० ११२-११७—सिंघी ग्रन्थमाला, १९४० ई०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये काशी निवासी धनदेव सेठके पुत्र थे। पहले इन्होंने एक दिगम्बर मुनिसे दीक्षा ली और इनका नाम चारुकीर्त्ति महाकीर्त्ति रखा गया। अनन्तर एक श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अनुयायिनी श्राविकाने उनके कमण्डलुके जलमें त्रसजीव बतलाये, जिससे, उन्हें दिगम्बर चर्यासे विरक्ति हो गयी और जितसिंह नामक श्वेताम्बराचार्यके निकट दीक्षित होकर श्वेताम्बर साधु हो गये और उसी अवस्थामें भक्तामरकी उन्होंने रचना की।

वि० सं० १३६१ के मेरुतुंगकृत प्रबन्धचिन्तामणि ग्रन्थमें लिखा है कि मयूर और बाण नामक साला-बहनोई पण्डित थे। वे अपनी विद्वत्तासे एक-दूसरेके साथ स्पर्द्धा करते थे। एक बार बाण पंडित अपनी बहिनसे मिलने गया और उसके घर जाकर रातमें द्वारपर सो गया। उसकी मानवती बहिन रातमें रूठी हुई थी और बहनोई रातभर मनाता रहा। प्रातः होनेपर मयूरने कहा—

"हे तन्वंगी! प्रायः सारी रात बीत चली, चन्द्रमा क्षीण-सा हो रहा है, यह प्रदीप मानो निद्राके अधीन होकर झूम रहा है और मानकी सीमा तो प्रणाम करने तक होती है, अहो! तो भी तुम क्रोध नहीं छोड़ रही हो।"

काव्यके तीन पाद बार-बार सुनकर बाणने चौथा चरण बनाकर कहा—'हे चण्डि! स्तनोंके निकटवर्त्ती होनेसे तुम्हारा हृदय कठिन हो गया है'—

गतप्राया रात्रिः कृशतनुशशी शीर्यत इव
प्रदीपोऽयं निद्रावशमुपगतो घूर्णित इव।
प्रणामान्तो मानस्त्यजसि न तथापि कुधमहो
कुचप्रत्यासत्त्या हृदयमपि ते चण्डि! कठिनम्॥[1]

भाईके मुखसे चतुर्थ पादको सुनकर वह लज्जित हो गयी और अभिशाप दिया कि तुम कुष्ठी हो जाओ। बाण पतिव्रताके शापसे तत्काल कुष्ठी हो गया। प्रातःकाल शालसे शरीर ढककर वह राजसभामें आया। मयूरने 'वरकोढी'[2] कहकर बाणका स्वागत किया। बाणने देवताराधनका विचार किया और सूर्यके स्तवन द्वारा कुष्ठरोगसे मुक्ति पायी। मयूरने भी अपने हाथ-पैर काट लिये और चण्डिका की—"मा भैक्षीर्विभ्रमम्"—स्तुति द्वारा अपना शरीर स्वस्थकर चमत्कार उपस्थित किया।

इन चमत्कारपूर्ण दृश्योंके घटित होनेके अनन्तर किसी सम्प्रदाय-विद्वेषीने राजासे कहा कि यदि जैन धर्मावलम्बियोंमें कोई ऐसा चमत्कारी हो, तभी जैन यहाँ रहें, अन्यथा उन्हें राज्यसे निर्वासित कर दिया जाय। मानतुंग आचार्यको बुलाकर राजाने कहा—'अपने देवताओंके चमत्कार दिखलाओ'। वे बोले—हमारे देवता तो वीतरागी हैं, उनके चमत्कार क्या हो सकते हैं। हाँ, उनके किंकर देवताओंका चमत्कार देखा जा सकता है। इस प्रकार कहकर अपने

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि—सिंघी ग्रन्थमाला, सन् १९३३ पृ० ४४। प्रभावकचरितके कथानकमें बाण और मयूरको ससुर और दामाद लिखा है। प्रबन्धचिन्तामणिके श्लोकके चतुर्थ चरणमें "चण्डि"के स्थानपर "सुभ्रु" पाठ पाया जाता है।

२. 'वरकोढी' प्राकृत पदका पदच्छेद करनेपर वरक ओढी—शाल ओढ़कर आये हो तथा अच्छे कुष्ठी बने हो; ये दोनों अर्थ निकलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरको चवालीस हथकड़ियों और बेड़ियोंसे कसवाकर उस नगरके श्रीयुगादिदेवके मन्दिरके पिछले भागमें बैठ गये। भक्तामर-स्तोत्रकी रचना करनेसे उनकी बेड़ियाँ टूट गयीं और मंदिरको अपने सम्मुख परिवर्तितकर शासनका प्रभाव दिखलाया।[1]

मानतुंगके सम्बन्धमें एक इतिवृत्त श्वेताम्बराचार्य गुणाकरका भी उपलब्ध है। उन्होंने भक्तामरस्तोत्रवृत्ति में, जिसकी रचना वि० सं० १४२६ में हुई है, प्रभावकचरितके समान ही मयूर और बाणको श्वसुर एवं जामाता बताया है तथा इनके द्वारा रचित सूर्यशतक और चण्डीशतकका निर्देश किया है। राजाका नाम वृद्धभोज है, जिसकी सभामें मानतुंग उपस्थित हुए थे।

मानतुंग सम्बन्धी इन परस्पर विरोधी आख्यानोंके अध्ययनसे निम्न लिखित तथ्य उपस्थित होते हैं—

(१) मयूर, बाण, कालिदास और माघ आदि प्रसिद्ध कवियोंका एकत्र समवाय दिखलानेकी प्रथा १०वीं शतीसे १६वीं शती तकके साहित्यमें उपलब्ध है। वल्लाल कवि विरचित भोजप्रबन्धमें भी इस प्रकारके अनेक इतिवृत्त हैं।

(२) मानतुंगको श्वेताम्बर आख्यानोंमें पहले दिगम्बर और पश्चात् श्वेताम्बर माना गया है। इसी परम्पराके आधारपर दिगम्बर लेखकोंने पहले इन्हें श्वेताम्बर और पश्चात् दिगम्बर लिखा है। यह कल्पना सम्प्रदाय-मोहका ही फल है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जब परस्पर कटुता उत्पन्न हो गयी और मान्य आचार्योंको अपनी ओर खींचने लगे तो इस प्रकारके विकृत इतिवृत्तोंका साहित्यमें प्रविष्ट होना अनिवार्य हो गया।

(३) मानतुंगने भक्तामरस्तोत्रकी रचना की। दोनों सम्प्रदायोंने अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार इसे अपनाया। आरम्भमें इस स्तोत्रमें ४८ काव्य-पद्य थे। प्रत्येक पद्यमें काव्यत्व रहनेके कारण ही ४८ पद्योंको ४८ काव्य कहा गया है। इन ४८ पद्योंमेंसे श्वेताम्बर सम्प्रदायने अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्र और चमर इन चार प्रातिहार्योंके निरूपक पद्योंको ग्रहण किया तथा दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि, भामण्डल और दिव्यध्वनि इन चार प्रातिहार्योंके विवेचक पद्योंको निकालकर इस स्तोत्रमें ४४ पद्य ही माने। इधर दिगम्बर सम्प्रदायकी कुछ हस्तलिखित प्रतियोंमें श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा निकाले हुए उक्त चार प्रातिहार्योंके बोधक चार नये पद्य और जोड़कर पद्योंकी संख्या ५२ गढ़ ली गयी।[2] वस्तुतः इस स्तोत्र-काव्यमें ४८ ही मूल पद्य हैं।

(४) स्तोत्र-काव्योंका महत्त्व दिखलानेके लिए उनके साथ चमत्कारपूर्ण आख्यानोंकी योजना की गयी है। मयूर, पुष्पदन्त, बाण प्रभृति कवियोंके स्तोत्रोंके पीछे कोई-न-कोई चमत्कार

---

१. प्रबन्धचिन्तामणि, सिंघी ग्रंथमाला, १९३३ ई०, पृ० ४४-४५।

२. अभी एक भक्तामर दि० जैन समाज, भागलपुर (वी० सं० २४९०)से प्रकाशित हुआ है; जिसमें "वृष्टिर्दिवः सुमनसां परितः पपात (३५); दुष्णामनुष्यसहसामपि कोटिसंख्यां (३७); देव त्वदीयसकलामलकेवलाव (३९) पद्य अधिक मुद्रित हैं।
श्वेताम्बर मान्यताका एक भक्तामर हमें मिला है; जिसमें 'गम्भीरताररव (३२); मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात (३३), शुम्भत्प्रभावलय (३४), स्वर्गापवर्ग (३५) पद्य मुद्रित नहीं हैं। ३१वें पद्यके पश्चात् ३६वें पद्यका पाठ ३२वें पद्यके रूपमें दिया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण आख्यान वर्तमान है। भगवद्भक्ति चाहे वह वीतरागीकी हो या सरागी की, अभीष्ट पूर्त्ति करती है। पूजा-पद्धतिके आरम्भ होनेके पूर्व स्तोत्रोंकी परम्परा ही भक्तिके क्षेत्रमें विद्यमान थी। यही कारण है कि भक्तामर, एकीभाव और कल्याणमन्दिर प्रभृति जैन स्तोत्रोंके साथ भी चमत्कारपूर्ण आख्यान जुड़े हुए हैं। इन आख्यानोंमें ऐतिहासिक तथ्य हो या न हो, पर इतना सत्य है कि एकाग्रतापूर्वक स्तोत्र-पाठ करनेसे आत्म-शुद्धि उत्पन्न होती है और यही आंशिक शुद्धि अभीष्टकी सिद्धिमें सहायक होती है।

समय-विचार

मानतुंगके समय-निर्णयपर उक्त विरोधी आख्यानोंसे इतना प्रकाश अवश्य पड़ता है कि वे हर्ष अथवा भोजके समकालीन हैं। अतः सर्वप्रथम भोजकी समकालीनतापर विचार किया जाता है। इतिहासमें बताया गया है कि सीमक हर्षके बाद उसका यशस्वी पुत्र मुञ्ज उपनाम वाक्पति वि० सं० १०३१ (ई० ९७४) में मालवाकी गद्दीपर आसीन हुआ। वाक्पति मुञ्जने लाट, कर्णाटक, चोल और केरलके साथ युद्ध किया था। यह योद्धा तो था ही, साथ ही कला और साहित्यका संरक्षक भी। उसने धारा नगरीमें अनेक तालाब खुदवाये थे। उसकी सभामें पद्मगुप्त, धनञ्जय, धनिक और हलायुध प्रभृति ख्यातिनाम साहित्यिक रहते थे। मुञ्जके अनन्तर सिन्धुराज या नवसाहसाङ्क सिंहासनासीन हुआ। सिन्धुराजके अल्पकालीन शासनके पश्चात् उसका पुत्र भोज परमारोंकी गद्दीपर बैठा। इस राजकुलका यह सर्वशक्तिमान और यशस्वी नृपति था। इसके राज्यासीन होनेका समय ई० सन् १००८ है। भोजने दक्षिणी राजाओंके साथ तो युद्ध किया ही, पर तुरुष्क एवं गुजरातके कीर्त्तिराजके साथ भी युद्ध किया। मेरुतुंगके अनुसार[1] भोजने पचपन वर्ष, सात मास, तीन दिन राज्य किया था। भोज विद्या-रसिक था। उसके द्वारा रचित लगभग एक दर्जन ग्रन्थ हैं। इन्हीं भोजके समयमें आचार्य प्रभाचन्द्रने अपना प्रमेयकमलमार्त्तण्ड लिखा है—

"श्रीभोजराज्ये श्रीमद्धारानिवासिना परापरपरमेष्ठिपदप्रणामार्जितामलपुण्यनिराकृत-निखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्द्योतपरीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति"।[2]

श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने प्रभाचन्द्रका समय ई० सन् १०२० के लगभग माना है। अतः भोजका राज्यकाल ११ वीं शताब्दी है।

आचार्य कवि मानतुंगके भक्तामर स्तोत्रकी शैली मयूर और बाणकी स्तोत्र-शैली के समान है। अतएव भोजके राज्यमें मानतुंगने अपने स्तोत्रकी रचना नहीं की है। अतः भोजके राज्य-कालमें बाण और मयूरके साथ मानतुंगका साहचर्य कराना संभव नहीं है।

संस्कृत साहित्यके प्रसिद्ध इतिहास-विद्वान् डॉ० ए० वी० कीथने भक्तामर-कथाके संबंधमें अनुमान किया है कि कोठरियोंके ताले या पाशबद्धता संसारबंधनका रूपक है। उनका कथन है—

---

१. पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि मासाः सप्त दिनत्रयम्।
भोक्तव्यं भोजराजेन सगौडं दक्षिणापथम्॥
—प्रबन्धचिन्तामणि पृ० २२, सिंघी ग्रन्थमाला १९३३।

२. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, ग्रन्थान्त-प्रशस्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"Perhaps the origin of the legend is simply the reference in his poem to the power of the fine to save those in fetters, doubtless metaphorically applied to the bonds holding men to Carnal life."[1]

अर्थात्—सम्भवतः इस कथाका मूल केवल उनकी कवितामें पाशोंसे आबद्धजनोंके बचानेके लिए जिनदेवकी शक्तिके उल्लेखमें है, जो निश्चय ही मनुष्योंको सांसारिक जीवनके बाँधने वाले पाशोंके लिए रूपक है।

डॉ० कीथने मानतुंगको बाणके समकालीन अनुमान किया है।[2] सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझाने अपने 'सिरोहीका इतिहास' नामक ग्रन्थमें मानतुंगका समय हर्षकालीन माना है। श्रीहर्षका राज्याभिषेक ई० सन् ६०७ (वि० सं० ६६४) में हुआ।

भक्तामर-स्तोत्रके अन्तरंग परीक्षणसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह स्तोत्र कल्याणमंदिरका पूर्ववर्ती है। कल्याणमन्दिरमें कल्पनाकी ऊँची उड़ानें हैं वैसी इस स्तोत्रमें नहीं हैं। अतः भक्तामरके बाद ही कल्याणमन्दिरकी रचना हुई होगी। अतः भक्तामरकी कल्पनाओंका पल्लवन एवं उन कल्पनाओंमें कुछ नवीनताओंका समावेश चमत्कारपूर्ण शैलीमें पाया जाता है। भक्तामरमें कहा है कि सूर्यकी बात ही क्या, उसकी प्रभा ही तालाबोंमें कमलोंको विकसित कर देती है। उसी प्रकार हे प्रभो ! आपका स्तोत्र तो दूर ही रहे पर आपकी नाम-कथा ही समस्त पापोंको दूर कर देती है। यथा—

आस्तां तव स्तवनमस्तसमस्तदोषं
त्वत्संकथापि जगतां दुरितानि हन्ति
दूरे सहस्रकिरणः कुरुते प्रभैव
पद्माकरेषु जलजानि विकासभाञ्जि ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (९)

कल्याणमन्दिरमें उपर्युक्त कल्पनाको बीज रूपमें स्वीकारकर बताया गया है कि जब निदाघमें कमलसे युक्त तालाबकी सरस वायु ही तीव्र आतापसे संतप्त पथिकोंकी गर्मीसे रक्षा करती है, तब जलाशयकी बात ही क्या ? उसी प्रकार जब आपका नाम ही संसार-तापको दूर कर सकता है, तब आपके स्तोत्रके सामर्थ्यका क्या कहना ?

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थजनान् निदाघे,
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि ॥

—कल्याणमन्दिर पद्य (७)

भक्तामर-स्तोत्रकी गुणगान-महत्त्व-सूचक कल्पनाका प्रभाव और विस्तार भी कल्याणमन्दिरमें पाया जाता है। भक्तामर-स्तोत्रमें बताया गया है कि प्रभो ! संग्राममें आपके नामका

१-२—A history of Sanskrit literature 1941 Page-214-115 (Religious poetry).

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्मरण करनेसे बलवान राजाओंका भी युद्ध करते हुए घोड़ों और हाथियोंकी भयानक गर्जनासे युक्त सैन्यदल उसी प्रकार नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है। यथा—

वल्गत्तुरङ्गगजगर्जितभीमनाद-
माजौ बलं बलवतामपि भूपतीनाम्।
उद्यद्दिवाकरमयूखशिखापविद्धं
त्वत्कीर्त्तनात्तम इवाशु भिदामुपैति ॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (४२)

उपर्युक्त कल्पनाका रूपान्तर कल्याणमन्दिरके ३२वें पद्यमें उसी प्रकार पाया जाता है जिस प्रकार जिनसेनके पार्श्वाभ्युदयमें मेघदूतके पाद-सन्निवेशके रहनेपर भी कल्पनाओंमें रूपान्तर। यथा—

यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम—
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम्।
दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे
तेनैव तस्य जिन! दुस्तरवारिकृत्यम् ॥

—कल्याणमन्दिर स्तोत्र पद्य (३२)

इसी प्रकार भक्तामर-स्तोत्रके 'नित्योऽदयं दलितमोहमहान्धकारं' (पद्य १८)का कल्याणमन्दिरके 'नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन' (पद्य ३७) पर और 'त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांसम्' (पद्य २३) का 'त्वां योगिनो जिन! सदा परमात्मरूपम्' (पद्य १४) पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

कोई भी निष्पक्ष समालोचक उपर्युक्त विश्लेषणके प्रभावमें इस स्वीकृतिका विरोध नहीं कर सकता है कि भक्तामरका शब्दों, पदों और कल्पनाओंमें पर्याप्त साम्य है तथा भक्तामरकी कल्पनाओं और पदावलियोंका विस्तार कल्याणमन्दिरमें हुआ है।

भक्तामर स्तोत्रके आरम्भ करनेकी शैली पुष्पदन्तके शिवमहिम्न-स्तोत्रसे प्रायः मिलती है। प्रातिहार्य एवं वैभव वर्णनमें भक्तामरपर पात्रकेसरीस्तोत्रका भी प्रभाव परिलक्षित होता है। अतएव मानतुंगका समय ७वीं शती है। यह शती मयूर, बाणभट्ट आदिके चमत्कारी स्तोत्रोंकी रचनाके लिए प्रसिद्ध भी है।

भारतका सांस्कृतिक इतिहास इस बातका साक्षी है कि ई० सन् की ५वीं शताब्दीमें मन्त्र-तन्त्रका प्रचार विशेष रूपसे हुआ है। ५वीं शताब्दीमें महायान और कापालिकोंने बड़े-बड़े चमत्कारकी बातें कहना आरम्भ कीं। अतएव यह क्लिष्ट कल्पना न होगी कि उस चमत्कारके युगमें आचार्य मानतुंगने भी भक्तामर-स्तोत्रकी रचना की हो। इस स्तोत्रको उन्होंने दावाग्नि, भयंकर सर्प, राज-सेवाएँ, भयानक समुद्र आदिके भयोसे रक्षा करनेवाला कहा है। जलोदर एवं कुष्ठ जैसी व्याधियाँ भी इस स्तोत्रके प्रभावसे नष्ट होनेकी बात कही गयी है। अतः स्पष्ट है कि चमत्कारके युगमें वीतरागी आदिजिनका महत्त्व और चमत्कार कविने युगके प्रभावसे ही दिखलाया है। अतएव मानतुंगका समय ७वीं शताब्दीका उत्तरार्द्ध है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रचना और काव्य-प्रतिभा

मानतुंगने ४८ पद्य-प्रमाण भक्तामर-स्तोत्रकी रचना की है। यह समस्त स्तोत्र वसन्ततिलका छन्दमें लिखा गया है। इसमें आदितीर्थंकर ऋषभनाथकी स्तुति की गई है। पर इस स्तोत्रकी यह विशेषता है कि इसे किसी भी तीर्थङ्करपर घटित किया जा सकता है। प्रत्येक पद्यमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारका समावेश किया गया है। इसका भाषासौष्ठव और भावगाम्भीर्य प्रसिद्ध है। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कहता हैं कि हे प्रभो! अल्पज्ञ और बहुश्रुतज्ञ विद्वानों द्वारा हँसीके पात्र होनेपर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती हैं। वसन्तमें कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहती, प्रत्युत-मंजरी ही उसे बलात् कूजनेका निमन्त्रण देती है। यथा—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचाम्रकलिकानिकरैकहेतुः॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (६)

अतिशयोक्ति अलंकारमें आराध्यके गुणोंका वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि हे भगवन्! आप एक अद्भुत जगत्-प्रकाशी दीपक हैं, जिसमें न तेल है न बाती, और न धूम। पर्वतोंको कम्पित करनेवाले वायुके झोंके भी इस दीपक तक पहुँच नहीं सकते हैं। तो भी जगत्में प्रकाश फैलता है। यथा—

निर्धूमवर्तिरपवर्जिततैलपूरः
कृत्स्नं जगत्त्रयमिदं प्रकटीकरोषि।
गम्यो न जातु मरुतां चलिताचलानां
दीपोऽपरस्त्वमसि नाथ जगत्प्रकाशः॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (१६)

इस पद्यमें आदिजिनको सर्वोत्कृष्ट विचित्र दीपक कहकर कविने अतिशयोक्ति अलंकारका समावेश किया है। अतिशयोक्ति अलंकारके उदाहरण इस स्तोत्रमें और भी कई आये हैं। पर १७वें पद्यकी अतिशयोक्ति बहुत ही सुन्दर है। कवि कहता है कि हे भगवन्! आपकी महिमा सूर्यसे भी बढ़कर है क्योंकि आप कभी भी अस्त नहीं होते, न राहुगम्य हैं, न आपका महान् प्रभाव मेघोंसे अवरुद्ध होता है एवं आप समस्त लोकोंके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे अवगत करते हैं। यथा—

नास्तं कदाचिदुपयासि न राहुगम्यः
स्पष्टीकरोषि सहसा युगपज्जगान्ति।
नाम्भोधरोदरनिरुद्धमहाप्रभावः,
सूर्यातिशायिमहिमासि मुनीन्द्र लोके॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (१७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ भगवान्‌को अद्‌भुत सूर्यके रूपमें वर्णितकर अतिशयोक्तिका चमत्कार दिखलाया गया है।

कवि आदिजिनको बुद्ध, शंकर, धाता और पुरुषोत्तम सिद्ध करता हुआ कहता है—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्
व्यक्तं त्वमेव भगवन्! पुरुषोत्तमोऽसि॥

—भक्तामरस्तोत्र पद्य (३५)

इसप्रकार मानतुंगमें काव्य-प्रतिभा और उनके इस स्तोत्र-काव्यमें सभी काव्य गुण समवेत हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन संस्कृत काव्य : समीक्षात्मक अध्ययन

प्रास्ताविक

जैनाचार्य और जैन मनीषी आरम्भमें प्राकृत भाषामें ही ग्रन्थ प्रणयन करते थे। यतः प्राकृत जनसामान्यकी भाषा थी। अतएव लोकपरक सुधारवादी रचनाओंका प्रणयन जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत भाषामें ही होता रहा। पर जब ई० सन् की आरम्भिक शताब्दियोंमें संस्कृत भाषा तार्किकोंके तीक्ष्ण तर्क बाणोंके लिये तूणीर बन गयी तब जैन कवि और दार्शनिक भी इस दौड़में पीछे न रहे। उन्होंने भी प्राकृतके समान ही संस्कृतपर अपना अधिकार कर लिया और काव्य तथा दर्शनके क्षेत्रको अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओंके द्वारा समृद्ध बनाया। फलतः संस्कृत भाषामें जैन कवियोंने अनेक सरस काव्य लिखे।

संस्कृत भाषामें काव्योंका प्रादुर्भाव स्तुतियोंसे माना जाता है और ऋग्वेद सबसे पहला स्तोत्र काव्य है। यों तो प्रबन्धात्मक काव्य रचनाओंका आरम्भ आदिकवि वाल्मीकि की रचनाओंसे होता है, पर वैदिक मन्त्रोंको वैदिक युगका स्तवन काव्य माना गया है। जैन काव्योंका प्रारम्भ भी समन्तभद्र और सिद्धसेनके स्तोत्रोंसे माना जा सकता है। अतएव संस्कृत भाषामें जैन काव्यकी परम्परा दूसरी-तीसरी शतीसे आरम्भ होकर अठारहवीं शती तक अविराम रूपसे चलती रही है। निःसन्देह संस्कृत जैन काव्य ग्रन्थोंमें संस्कृतके विकास और ह्रासोन्मुख काव्य युगकी समस्त प्रवृत्तियोंका समवाय पाया जाता है।

संस्कृत जैन काव्य स्मृत्यनुमोदित वर्णाश्रम धर्मके पोषक नहीं हैं। इनमें जातिवादके प्रति क्रान्ति प्रदर्शित की गयी है। आश्रम व्यवस्था भी मान्य नहीं है। समाज सागार—श्रावक और अनगार—मुनि या श्रमण इन दो वर्गोंमें विभक्त है। चतुर्विध संघ—मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाको ही समाज माना गया है। यह समाज श्रावक और मुनिके पारस्परिक सहयोगसे विकसित होता है। तप, त्याग, संयम एवं अहिंसा की साधनाके द्वारा मानव मात्र समान रूपसे आत्मोत्थान करनेका अधिकारी है। आत्मोत्थानके लिये किसी परोक्ष शक्ति की सहायता अपेक्षित[1] नहीं है। अपने पुरुषार्थ द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास कर सकता है। इस सन्देशको संस्कृतके जैनकवियोंने काव्य की मधुर और कल्पनात्मक शब्दावली द्वारा तरंगित एवं प्रेषित किया है। अतएव स्थापत्य और रचनातन्त्र की दृष्टिसे संस्कृत जैनकाव्य अन्य श्रेण्य संस्कृत काव्योंके समान होते हुए भी अन्तरंग दृष्टिसे भिन्न हैं।

कालिदास, भारवि, माघ प्रभृति कवियोंके काव्य वैदिक साहित्यके दाय भागको लेकर उपस्थित होते हैं, पर संस्कृतके जैन काव्य श्रमण संस्कृतिके प्रमुख आदर्श स्याद्वाद विचार समन्वय एवं अहिंसाके पाथेयको अपना संबल बनाते हैं। इन कार्योंका अन्तिम लक्ष्य लौकिक अभ्युदयके स्थानपर निर्वाण प्राप्ति है। इसी कारण संस्कृत जैन काव्योंमें आत्मोत्थान और चरित्र विकास की विभिन्न भूमिकाएँ परिलक्षित होती हैं।

१. अमितगति द्वात्रिंशतिका, श्लोक २६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह पूर्वमें लिखा जा चुका है कि संस्कृत भाषामें जैन काव्योंका आरम्भ स्तवनोंसे हुआ है। पुराण, दर्शन, आचार और धार्मिक मान्यताओंके विकसित होनेपर धर्म प्रचारका सुलभ साधन काव्य ग्रन्थ ही होते हैं। पुराण पुरुषोंके चरित्रोंके साथ जीवन मूल्योंको बुद्धि-जीवियों तक पहुँचानेमें काव्य ग्रन्थ उपयोगी साधन हैं। यही कारण है कि संगीत, चरित, आख्यान, रोमांस, प्रेम, कामतत्त्व, दर्शनतत्त्वके निरूपणके साथ जीवन की प्राणवंत समस्याएँ भी काव्योंमें समाविष्ट रहती हैं। प्रबन्धकाव्य जातीय जीवनका प्रतिनिधित्व करते हैं। फलतः जैन कवियोंने आगमोंसे दर्शन और आचारतत्त्व, पुराणोंसे चरित, लोकसे प्रेम और काव्य तत्त्व, नीति ग्रन्थोंसे राजनीति, विश्वास और सांस्कृतिक परम्पराएँ एवं स्तोत्रोंसे भावात्मक अभिव्यञ्जनाएँ ग्रहणकर प्रबन्ध काव्यों की रचना की।

सुविधा की दृष्टिसे विवेचन करनेके लिये जैन काव्योंको निम्नलिखित विधाओंमें विभक्त किया जा सकता है—

(१) महाकाव्य
(२) ऐतिहासिक महाकाव्य
(३) सन्धान महाकाव्य
(४) एकार्थक काव्य
(५) सन्देश या दूत काव्य
(६) लघुकाव्य या खण्डकाव्य
(७) सूक्ति काव्य
(८) गीतिकाव्य
(९) गद्यकाव्य
(१०) चम्पूकाव्य
(११) नाटक

महाकाव्य

संस्कृत जैन महाकाव्योंमें सबसे पहला महाकाव्य जटासिंहनन्दिका 'वराङ्गचरित' है।[1] यों तो इसके पूर्व रविषेणका पद्मचरित भी उपलब्ध है, पर वह काव्य नहीं, पुराण है। कथावस्तुमें बहुनायकत्व विद्यमान है। वराङ्ग चरितको कविने चतुर्वर्ग समन्वित, सरल-शब्दार्थ गुम्फित धर्मकथा काव्य[2] कहा है। इस काव्यमें २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ तथा श्रीकृष्णके समकालिक वराङ्गनामक पुण्य पुरुषकी कथा अङ्कित है। नायकमें धीरोदात्तके सभी गुण समवेत हैं। नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीडा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, जन्म, राज्याभिषेक, युद्ध, विजय आदिका वर्णन महाकाव्य की शैलीमें किया गया है। ३१ सर्ग हैं, पर लक्षण ग्रन्थोंके अनुसार महाकाव्यमें ३० से अधिक सर्ग नहीं होने चाहिए।

---

१. यह ग्रन्थ माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई द्वारा, सन् १९३८ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इसका सम्पादन डॉ० ए० एन० उपाध्येने किया है।

२. काव्यके प्रत्येक सर्गकी पुष्पिकामें—"इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्गसमन्विते। स्फुटशब्दार्थ संदर्भे वराङ्गचरिताश्रिते" लिखा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तुत महाकाव्य की कथावस्तुमें चतुर्थ सर्गसे दशम सर्ग पर्यन्त तथा २६वें और २७वें सर्ग की कथावस्तुका मुख्य कथासे कोई सम्बन्ध नहीं है। इन सर्गों की कथावस्तुके हटा देनेपर भी काव्यमें कोई कमी नही आती। तत्त्व निरूपण और जैन सिद्धान्तके विभिन्न विषयोंका प्रतिपादन इतना अधिक किया गया है जिससे पाठकका मन ऊब जाता है। रम्य सन्दर्भ भी इस काव्यमें कम नहीं हैं। काव्य चमत्कार, वस्तु वर्णन और धार्मिक तथ्योंके रहनेपर भी कविने रसाभिव्यक्तिमें न्यूनता नहीं आने दी है। वराङ्ग और उसकी नवोढ़ा पत्नियोंकी केलि-क्रीड़ाके चित्रणमें संयोग श्रृंगारका सजीव रूप प्रस्तुत किया गया[1] है। कविने त्रयोदश सर्गमें वीभत्स रसका और चतुर्दश सर्गमें वीर रसका अद्भुत चित्रण किया है।

इस काव्यमें वसन्ततिलका, उपजाति, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मालिनी, भुजङ्गप्रयात, वंशस्थ, अनुष्टुप्, मालभारिणी और द्रुतविलम्बित छन्दोंका प्रयोग किया गया है। कविको उपजाति छन्द वहुत प्रिय है। आरम्भके तीन सर्ग काव्यत्वकी दृष्टिसे उच्चकोटिके हैं।

इस काव्यके रचयिता जटासिंहनन्दिका समय आठवीं शतीका पूर्वार्ध है। उद्योतन सूरिने अपनी कुवलयमालामें[2] वराङ्गचरित और उसके रचयिता जटिल या जटासिंहनन्दिका उल्लेख किया है। उद्योतनका समय ई० सन् ७७८ है। अतः जटासिंहनन्दि ई० सन् ७७८ के पूर्ववर्ती हैं। इस महाकाव्यका स्थान संस्कृत काव्योंमें अश्वघोषके बुद्धचरितके समकक्ष है।

वीरनन्दि कविका 'चन्द्रप्रभचरितम्' उच्चकोटिका महाकाव्य है। इस काव्यमें कविने जनसाधारणके मनोभावों, हृदयकी विभिन्न वृत्तियों एवं विभिन्न अवस्थाओंमें उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारोंका सजीव चित्रण किया है। यह पौराणिक काव्य रोमाण्टिक सुरभिसे सुरभित है। इसमें १८ सर्ग हैं और अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभका चरित अंकित है। तीर्थंकर चन्द्रप्रभका जीव कई जन्मोंमें आध्यात्मिक विकास करता है। अजितसेन चक्रवर्तीके जन्म सम्बन्धी आख्यानमें घटना संघर्ष, तीव्र घात-प्रतिघात एवं नाटकीय रोचकता पायी जाती है। पूर्व जन्मोंकी कथाओंके बीचसे ही कमल नालके तन्तुके समान मूल कथाका विकास होता है। तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभके वर्तमान जीवनमें विभिन्न प्रकारके कार्य व्यापारोंका अभाव है, पर श्रीवर्माके जीवनमें नाना प्रकारके काव्योचित व्यापारोंका समावेश हुआ है। संक्षेपमें काव्यका इतिवृत्त न विरल है और न विश्रृंखलित ही। एकान्विति इतिवृत्तमें निहित है।

वस्तु व्यापारमें कविने अटवी[3], वसन्त[4], उपवन[5]-यात्रा, उपवन-विहार[6], जल-केलि[7], सन्ध्या, अन्धकार[8], चन्द्रोदय[10]; रात्रि-क्रीड़ा[11], निशावसान[12], गज-क्रीड़ा[13], गिरि[14], सेना-

---

१. वराङ्गचरित २।८९-९४

२. कुवलयमाला, पृ० ४, पद्य १, सिंधी ग्रन्थ सिरीज, १९५९ ई०

३. चन्द्रप्रभचरित, ६/६-७-८-९-१०, काव्यमालांक ३०, निर्णय सागर प्रेस बम्बई १९१२ ई०

४. वही, अष्टम सर्ग, २-४

५-८. वही, नवम सर्ग

८-१२. वही, दशम सर्ग

१३. वही, एकादश सर्ग

१४. वही, चतुर्दश सर्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्निवेश, संग्राम[२], देश[३], ग्राम[४], नगर[५], बाल-क्रीडा[६], दिग्विजय[७] और नदी[८]-सरोवर प्रभृतिका ब्योरेवार चित्रण किया है।

इस महाकाव्यमें महच्चरित्रका अङ्कन हुआ है। कविने राजा श्रीवर्माके भवसे ही चारित्रिक विकास एवं कर्मावरणको तोड़नेका अथक श्रम चित्रित किया है। प्रत्येक आख्यानमें संस्कारोंकी दृढ़ता वर्णित है। पद्मनाभमें उत्पन्न हुआ वैराग्य पितृ-परम्पराके पूर्व बीजका ही अङ्कुर है। समस्त काव्यपर वंशरेतस् (Heredity) का अमोघ प्रभाव छाया हुआ है। श्रीकान्ता का नारी-चरित्र भी सभी दृष्टियोंसे उदात्त है। इस काव्यके पात्रोंका शील दो सीमान्तोंके बीच आबद्ध है। एक ओर साम्राज्यवादके विस्तारकी लिप्सा लिए हुए युगानुरूप पात्र मिलते हैं तो दूसरी ओर पुंजीभूत आध्यात्मिक प्रकाशकी पावन किरणोंका स्पर्श प्राप्तकर वैराग्यमे विश्रांति पाने वाले हैं। पात्रोंके जीवनके विविध पक्षोंका उद्घाटन एवं विभिन्न जीवन मूल्योंकी स्थापना विशद रूपमें की गयी है।

श्रृंगार रस (६।६२, ६।६६); वीर रस (६।२५,६।२६); भयानक रस (१३।३०); वीभत्स रस (१५।५३) तथा शान्त रस (१।६९) का चित्रण हुआ है। अलंकार योजनाकी दृष्टिसे यह काव्य सफल है। उपमा (८।५२), उत्प्रेक्षा (१।१३), रूपक (५।६९), अतिशयोक्ति (३।७); अर्थान्तरन्यास (१०।४०), दृष्टान्त (१०।१४), दीपक (५।२८), भ्रान्तिमान् (१४।३२), अपह्नुति (१४।६४), संशय (५।५५), आक्षेप (४।१९), अनुमान (६।६३), यथासंख्या (३।४) परिसंख्या (१।३२), एकावली (५।११), पर्यायोक्ति (९।२१), सहोक्ति (१५।७२) और स्वभावोक्ति (४।६) आयोजित हैं। शब्दालंकारोंमें अनुप्रास (१।२१), यमक (८।१) और श्लेष (७।३२) उपलब्ध हैं।

छन्दोंमें वंशस्थ, ललिता, मालिनी, पृथ्वी, पुष्पिताग्रा, हरिणी; प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, अनुष्टुप्, उपजाति, शार्दूल विक्रीडित, प्रमिताक्षरा, शिखरिणी, अपरान्तिका, शालिनी, स्वागता, कूटक, मन्दाक्रान्ता, द्रुतविलम्बित, अतिजगति और स्रग्धरा पाये जाते हैं।

इस काव्यके रचयिता आचार्य वीरनन्दि हैं। ये नन्दिसंघ देशीयगणके आचार्य हैं। चन्द्रप्रभ काव्यमें जो प्रशस्ति आर्या है, उससे ज्ञात होता है कि ये आचार्य अभयनन्दिके शिष्य थे। अभयनन्दिके गुरुका नाम गुणनन्दि था। श्रवणबेलगोलके ४७वें अभिलेखमें बताया गया है कि गुणनन्दि आचार्यके ३०० शिष्य थे। इनमें ७२ सिद्धान्त शास्त्रके मर्मज्ञ थे और देवेन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य कलधौतनन्दि या कनकनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती थे। कनकनन्दिने इन्द्रनन्दि गुरुके पास सिद्धान्त शास्त्रका अध्ययन किया था।

१-२. वही, चतुर्दश सर्ग

३-५. वही, प्रथम एवं तृतीय सर्ग

६. वही, सप्तदश सर्ग

७. वही, चतुर्थ सर्ग

८. वही, त्रयोदश सर्ग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने अपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें अभयनन्दि, इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि–इन तीन आचार्योंको नमस्कार[1] किया है। उनके गोम्मटसार कर्मकाण्डकी एक गाथासे यह भी अवगत होता है कि इन्द्रनन्दि इनके गुरु थे। कनकनन्दि भी गुरुके समकक्ष ही रहे होंगे। यतः उन्हें भी गुरु कहा[2] है। एक अन्य गाथामें बताया गया है कि जिनके चरण प्रसादसे वीरनन्दि और इन्द्रनन्दि शिष्य अनन्त संसारसे पार हुए हैं उन अभयनन्दि गुरुको नमस्कार[3] है। अतएव उक्त सन्दर्भोंसे सिद्ध है कि वीरनन्दिके गुरु अभयनन्दि, दादागुरु गुणनन्दि और सहाध्यायी इन्द्रनन्दि थे। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती भी इनके लघु गुरु भाई प्रतीत होते हैं।

वीरनन्दिका उल्लेख वादिराज (ई० सन् १०२५) ने पार्श्वनाथ चरितमें किया है—

चन्द्रप्रभाभिसम्बद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम्।
कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनन्दिनः[4]॥

इस पद्यसे स्पष्ट है कि सन् १०२५ से पूर्व चन्द्रप्रभचरितम्की रचना हो चुकी थी; तभी तो वादिराजने उनका उल्लेख किया है।

अब विचार यह करना है कि पार्श्वनाथ चरितसे कितने वर्ष पूर्व इस काव्यकी रचना हुई होगी। आचार्य नेमिचन्द्रने इन्द्रनन्दिको अपना गुरु लिखा है। वीरनन्दि इन्हीं इन्द्रनन्दिके सहाध्यायी हैं और नेमिचन्द्रके लिखनेके क्रमसे भी यह प्रतीत होता है कि इन्द्रनन्दि और वीरनन्दि इनके समकालीन हैं। आचार्य नेमिचन्द्रने अपने गोम्मटसारकी रचना गंगवंशीय राजा राचमलके प्रधान मन्त्री और सेनापति चामुण्डरायकी प्रेरणासे की है। राचमलके भाई रक्कस गंगराजने शक संवत् ९०६-२१ (सन् ९८४-९९९) तक राज्य किया है। कन्नड़के महाकवि रन्नने शक संवत् ९१५ (सन् ९९३)में 'पुराणतिलक' नामक ग्रन्थकी रचना की है और उसने स्वयं अपनेको रक्कस गंगराजका आश्रित लिखा है। चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोलकी प्रसिद्ध गोम्मट स्वामीकी मूर्त्ति १३ मार्च सन् ९८१ ई० में प्रतिष्ठित हुई है। अतः इन समस्त तथ्योंके प्रकाशमें वीरनन्दिका समय सन् ९५०-९९९ आता है। इनका चन्द्रप्रभ काव्य अनुमानतः सन् ९७०-९७५ में लिखा गया होगा।

'वर्धमान चरित' उच्चकोटिका संस्कृत महाकाव्य है। इस काव्यमें अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान (महावीर) का जीवन अंकित है। काव्य १८ सर्गोंमें समाप्त हुआ है। इसमें मारीच, विश्वनन्दि, अश्वग्रीव, त्रिपृष्ठ, सिंह, कपिष्ठ, हरिषेण और सूर्यप्रभ आदिके इतिवृत्त तीर्थङ्कर महावीरके पूर्व जन्मोंकी कथाके रूपमें वर्णित हैं। कविने घटनाओंका पूर्वापर क्रम निर्धारण, उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापन एवं उपाख्यानोंका यथास्थान संयोजन मौलिक रूपमें घटित किया

---

१. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-७८५ द्वितीय संस्करण बम्बई, वि० सं० १९८५,
२. गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ३९६
३. वही, गाथा ४३६
४. पार्श्वनाथ चरित, १।२० माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला
५. जैन सिद्धान्त भास्कर आरा, भाग ६, किरण ४, श्रवणबेलगोल एवं वहाँकी गोम्मट मूर्ति पृ० २०५ तथा इसी अंकमें गोम्मट मूर्तिकी प्रतिष्ठाकालीन कुण्डलीका फल।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। प्रसंगोंका व्यर्थ वर्णन-विस्तार नहीं किया गया है। मार्मिक प्रसंगोंके नियोजनके हेतु विश्वनन्दि और नन्दनके जीवनमें लोक व्यापक नाना सम्बन्धोंके कल्याणकारी सौन्दर्यकी अभिव्यंजना की गयी है। पिता-पुत्रका स्नेह नन्दिवर्धन और नन्दनके जीवनमें, भाईका स्नेह विश्वभूति और विशाखभूतिके जीवनमें, पति-पत्नीका स्नेह त्रिपृष्ठ और स्वयंप्रभाके जीवनमें, विविध भोग-विलास हरिषेणके जीवनमें एवं वीरता और चमत्कारोंका वर्णन त्रिपृष्ठके जीवनमें अंकित कर जीवनकी व्याख्या प्रस्तुत की गयी हैं। कथा-नियोजनमें योग्यता, अवसर, सत्कार्यता और रूपाकृतिका पूरा ध्यान रखा गया है।

प्रबन्धको अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिकी ओर मोड़ना योग्यताके अन्तर्गत है। अष्टम, नवम और दशम सर्गमें किया गया कथानक नियोजन योग्यता तत्त्व है। रस पुष्टिके हेतु यथासमय प्रसंग या सन्दर्भका प्रस्तुतीकरण कथानक नियोजनमें अवसर तत्त्व है। वर्धमान-चरितमें प्रजाके कष्ट निवारणके लिए त्रिपृष्ठ द्वारा सिंहका बध दिखलाना और सिंहोद्बोधनके लिए चारण ऋद्धिधारी मुनियोंका उपस्थित होना, इस प्रकारकी घटनाएँ हैं जिनकी उपयोगिता रस पुष्टिकी दृष्टिसे सर्वाधिक है।

सत्कार्यतासे तात्पर्य इस प्रकारके संदर्भोंके संयोजनसे है जो स्वतन्त्ररूपमें अपना अस्तित्व रखकर प्रसंग गर्भत्वको प्राप्त हो। अथवा प्रत्येक प्रसंग पूर्व वीजारोपित हो और किसी कार्य-विशेषकी अभिव्यंजना करता हो। वर्धमान चरितमें नन्दनका मुनिराजसे अपनी पूर्व भवावली पूछना और मुनिराज द्वारा पुरूरवा भीलका आख्यान कहा जाना इस प्रकारका सन्दर्भ है जो एक प्रकारसे स्वतन्त्र है, पर सम्बन्ध निर्वाहके लिए उसकी योजना आवश्यक है। यह वर्धमानके कई जन्मोंकी परम्पराकी कड़ीको जोड़ता है। अतः उक्त आख्यान स्वतन्त्र रहते हुए भी सापेक्ष रहने से सत्कार्यताके अन्तर्गत है।

कथावस्तुमें इतिवृत्तका वस्तु व्यापारोंके साथ उचित और सन्तुलित रूपमें नियोजन द्वारा रूपाकृति-प्रवन्धात्मकताकी श्रृंखलाको उपस्थित किया गया है। अवान्तर कथाओंका प्रक्षेपण पूर्व भवावलीके रूपमें आया है। इस काव्यका नायक वर्धमान या महावीर है और प्रतिनायक विशाखनन्दि है जिसके साथ कई जन्मों तक विरोध चलता है। कवि असगने संगठित कथानकके कलेवरमें जीवनके विविध पक्षोंका उद्घाटनकर महच्चरित्रकी प्रतिष्ठा की है। नायक प्रतिनायकके संघर्ष द्वारा कथावस्तुका विकास जातीय गुणोंकी उद्भावनाके हेतु हुआ है। काव्यकी गरिमामयी उदात्तशैली पाठकको सहज ही अपनी ओर आकृष्ट करती है।

सन्ध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, वन, सूर्य, नदी, पर्वत, समुद्र, द्वीप आदि वस्तु-वर्णन सांगोपांग हैं। जीवनके विभिन्न व्यापार और परिस्थितियोंमें प्रेम, विवाह, मिलन, स्वयंवर, सैनिक अभियान, युद्ध, दीक्षा, नगरावरोध, विजय, उपदेश-सभा, दूत सम्प्रेषण एवं जन्मोत्सवका चित्रण समवेत हैं।

नवरसोंमें श्रृंगार (दशम सर्ग), वीर (९।८), भयानक रस (४।७७, ७।८७, ७।८८) रौद्र रस (६।३४), शान्त रस (४।१७, ४।१८, ४।२०, १५।९५) आदिके अनेक उदाहरण आये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अलंकारोंमें अनुप्रास (२।४५), यमक (२।२७), श्लेष (१।६, ५।३५, ६।३४, १२।१६, १८।६), उपमा (१।४०), उत्प्रेक्षा (४।१०), रूपक (१३।५८), भ्रान्तिमान् (५।२४), अपह्नुति (५।११), अतिशयोक्ति (१।४२), दृष्टान्त (१।४६), विभावना (१३।४६), अर्थान्तरन्यास (२।८), सन्देह (५।७०), व्यतिकर (५।२०), विरोधाभास (३।९), परिसंख्या (५। १३), एकावली (१३।४), स्वभावोक्ति (५।५४), सहोक्ति (५।५५), विनोक्ति (७।२१) और विशेषोक्ति (१।६४) प्रमुख रूपसे प्रयुक्त हैं।

छन्दोंमें उपजाति, वसन्ततिलका, शिखरिणी, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, अनुष्टुप्, मालिनी, मालभारिणी, मन्दाक्रान्ता, स्रग्धरा, आख्यानकी, शालिनी, हरिणी, ललिता, स्वागता, प्रहर्षिणी आदि प्रयुक्त हैं।

काव्य मूल्यांकनकी दृष्टिसे इसे 'किरातार्जुनीयम्' के समकक्ष माना जा सकता है। ओज, प्रसाद और माधुर्य इन तीनों गुणोंका समावेश हुआ है।

कवि असगका दूसरा महाकाव्य शान्तिनाथ चरित हैं। शान्तिनाथ चरितमें १६ वें तीर्थंकर शान्तिनाथका जीवनवृत्त अंकित है। वस्तु वर्णनोंमें सूर्योदय, चन्द्रोदय, सन्ध्या, ऊषा ऋतु, नदी, सरोवर, वन आदिका सजीव चित्रण किया है। दार्शनिक और धार्मिक भावनाएँ इस काव्यमें इतनी सघन हैं, जिससे काव्यरस दब सा गया है। अलंकारोंमें सभी प्रमुख शब्दालंकार और अर्थालंकार नियोजित हैं। छन्दोयोजनाकी दृष्टिसे यह काव्य पूर्ण सफल है।

वर्द्धमानचरित[1] और शान्तिनाथचरितके[2] रचयिता महाकवि असगके सम्बन्धमें शान्तिनाथ चरितकी प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि कविके पिताका नाम पटुमति और माताका नाम वैरेति था। माता-पिता धर्मात्मा मुनिभक्त थे। इन्हें शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त था। असगके मित्र का नाम जिनाप था। यह भी जैन धर्ममें अनुरक्त, शूरवीर; परलोकभीरु और पक्षपात शून्य था। इस पुण्यात्माकी व्याख्यानशीलता एवं पुराणकी श्रद्धाको देखकर कवित्व शक्तिसे हीन होने पर भी गुरुके आग्रहसे शान्तिनाथचरित लिखा गया है। प्रशस्तिमें कविने अपने गुरुका नाम नागनन्दि आचार्य लिखा है।

महाकवि असगने श्रीनाथके राज्यकालमें चोल राज्यकी विभिन्न नगरियोंमें आठ ग्रन्थोंकी रचना की है। वर्द्धमान चरितकी प्रशस्तिके अनुसार इस काव्यका रचनाकाल शक सं० ९१० (ई० सन् ९८८) है। श्रवणबेलगोल १०८वें अभिलेखसे ज्ञात होता है कि नागनन्दि नन्दि संघके आचार्य थे। पर नन्दिसंघकी पट्टावलीसे नागनन्दिके सम्बन्धमें कुछ विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। वर्द्धमानचरितकी प्रशस्तिके आधारपर कविका समय दशम शताब्दी निश्चित है।

प्रद्युम्नचरितके[3] रचयिता महासेन हैं। इस काव्यमें १४ सर्ग हैं और श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नका चरित वर्णित हैं। पुण्य पुरुष प्रद्युम्नका चरित इतना लोकप्रिय रहा है, जिससे इस

---

१. इस ग्रन्थका सम्पादन मराठी अनुवाद सहित जिनदास पार्श्वनाथ फडकुलेने किया है और प्रकाशन रावजी सखाराम दोशी सोलापुरने सन् १९३१ में किया है।

२. यह ग्रन्थ भी मराठी अनुवाद सहित रावजी सखाराम दोशी सोलापुर द्वारा प्रकाशित है।

३. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७३ में प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरितका अवलम्बन लेकर संस्कृतके साथ अपभ्रंश और हिन्दीमें भी काव्य ग्रन्थ लिखे गये। प्रस्तुत प्रद्युम्न चरितमें कथानकका उद्घाटन सत्यभामा द्वारा नारदको असंतुष्ट करने और ईर्ष्यावश नारदका सुन्दरीकी तलाशमें जाने एवं रुक्मिणीके हृदयमें कृष्णके प्रति अनुराग उत्पन्न करनेसे होता है। कथा वस्तुकी पंखुरियां सहजमें खुलती हुई अपना पराग और सौरभ विकीर्ण कर मुग्ध करती हैं। सत्यभामा और रुक्मिणीमें सपत्नी विद्वेषका उदय, द्वन्द्व और शमन कई बार होता दिखलायी पड़ता है। इस प्रकार कविने कथानकोंकी योजना शृंखलाबद्ध कर काव्यत्वका निर्वाह किया है। कथाप्रवाहको स्थिर एवं प्रभावोत्पादक बनाये रखनेके लिये अवान्तर कथाएँ भी गुम्फित हैं।

इस चरित ग्रन्थमें महाकाव्यके समस्त लक्षण पाये जाते हैं। पुराण प्रसिद्ध कथावस्तु है। करुण, वीर और शृंगार अंग रूपमें, और शान्तरस अंगी रूपमें आया है। वस्तु व्यापारोंमें नगर, समुद्र, पर्वत, सन्ध्या, प्रातः, संग्राम, यात्रा एवं ऋतुओंका वर्णन पाया जाता है। कथा-वस्तुकी दीर्घताके साथ महाकाव्योचित भावोंकी बहुलता एवं गम्भीरता भी समाविष्ट है। काव्यका नायक प्रद्युम्न है। इसकी गणना कामदेवोंमें की गयी है। इस महाकाव्यमें प्रति नायक-का अभाव है। यद्यपि नायकका संघर्ष कालसंवर और श्रीकृष्णके साथ होता है, पर वे खल-नायक या प्रतिनायक नहीं हैं। खलनायक या प्रतिनायकका कार्य सदा ही नायकको परेशान करना होता है। कालसंवरके पुत्र युवराज होनेके पश्चात् उससे ईर्ष्या करते हैं, पर उनका कोई प्रबल विरोध दिखलायी नहीं पड़ता है। सत्यभामा और उसके पुत्र भानुकुमारके साथ भी प्रद्युम्नका सीधा वैर-विरोध नहीं है। वह अपनी माता रुक्मिणीके विरोधके कारण सत्यभामा-को तंग करता है तथा उसके पुत्र भानुकुमारका विवाह उदधिकुमारीसे नहीं होने देता है।

रस भाव योजनाकी दृष्टिसे शृङ्गार (३।४५), करुणरस (५।५, ५।६), वीररस (३।२०। ३।२१), भयानक (१०।१६), रौद्ररस (४।४०), अद्भुतरस (९।२१५-२१६), और शान्तरस (१२।५९-६१) का परिपाक पाया जाता है। अलङ्कारोंमें अनुप्रास (८।११७), यमक (८।११६) पुनरुक्ति (८।१६७), वीप्सा (५।१३), श्लेष (१।९), उपमा (२।२६), उत्प्रेक्षा (१।२७), रूपक (६।५), भ्रान्तिमान् (१।१३), सन्देह (२।५१), अपह्नुति (७।१५), अतिशयोक्ति (१।१९), निदर्शना (२।६५), व्यतिरेक (१।४७), अर्थान्तरन्यास (४।३०), परिसंख्या (१।१७) विभावना (१।६२), असंगति (३।३०), विरोधाभास (६।१४), स्वभावोक्ति (४।१४), और उदाहरण (७।३७) प्रमुख रूपसे आये हैं। छन्दोंमें उपजाति, शार्दूलविक्रीड़ित, वसन्ततिलका, वंशस्थ, रथोद्धता, प्रहर्षिणी, द्रुतविलम्बित, पृथ्वी, अनुष्टुप्, उपेन्द्रवज्रा, हरिणी, स्वागता, प्रमिता, मालिनी, ललिता, मत्तमयूर, वंशोन्नत, शालिनी और स्रग्धराके प्रयोग पाये जाते हैं। शैलीकी दृष्टिसे सरलता, स्वाभाविकता और प्रसादमयता ये तीनों गुण इस काव्यमें समा-विष्ट हैं। क्लिष्ट एवं चित्रमय प्रयोग प्रायः नहीं हैं। शास्त्रीय पाण्डित्य एवं विषयगत दुरू-हताका भी अभाव है। सरलता, असमस्यान्त प्रयोग और स्वच्छता सर्वत्र पायी जाती है। पद-लालित्य और माधुर्य सहसा पाठकोंको अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

इस काव्यके रचयिता महासेन लाट-वर्गट या लाड़-वागड़ संघके आचार्य थे। प्रद्युम्न-चरितकी रञ्जाभण्डारकी प्रतिमें जो प्रशस्ति दी हुई है, उससे ज्ञात होता है कि लाट-वर्गट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संघमें सिद्धान्तोंके पारगामी जयसेन मुनि हुए और उनके शिष्य गुणाकरसेन। इन गुणाकरसेनके शिष्य महासेनसूरि हुए, जो राजा मुञ्ज द्वारा पूजित थे और सिन्धुराज या सिन्धुलके महामात्य पर्पटने उनके चरण कमलोंकी पूजा की थी। इन्हीं महासेनने प्रद्युम्न चरितकी रचना की है।

प्रद्युम्न चरितके प्रत्येक सर्गके अन्तमें आनेवाली पुष्पिकामें श्रीसिन्धुराजसत्कमहामहत्त-श्रीपप्पटगुरोः पण्डितश्रीमहासेनाचार्यस्य कृते' लिखा मिलता है, जिससे यह ध्वनित होता है कि सिन्धुलके महामात्य पर्पटकी प्रेरणासे ही प्रस्तुत काव्य निर्मित हुआ है।

लाट-वर्गट संघ माथुर संघके ही समान काष्ठासंघकी शाखा है। यह संघ गुजरात और राजपूतानेमें विशेषरूप रूपसे निवास करता था। आचार्य महासेन पर्पटके गुरु थे।

प्रद्युम्न चरितकी प्रशस्तिमें काव्यके रचनाकालका निर्देश नहीं किया गया है, पर मुञ्ज और सिन्धुलका उल्लेख रहनेसे अभिलेख और इतिहासके साक्ष्य द्वारा समय निर्णय करनेकी सुविधा प्राप्त है। इतिहासमें बताया गया है कि मुञ्ज वि० सं० १०३१ (ई० सन् ९७४) में 'परमारों'की गद्दीपर आसीन हुआ था। उदयपुरके अभिलेखसे विदित होता है कि उसने लाटों, कर्नाटकों, चोलों और केरलोंको अपने पराक्रमसे त्रस्त कर दिया था। मुञ्जके दो दानपत्र वि० सं० १०३१ (ई० सन् ९७४) और वि० सं० १०३६ (ई० सन् ९७९) के उपलब्ध हुए हैं। कहा जाता है कि ई० ई० सन् ९९३-९९८ के बीच किसी समय तैलप देवने उनका बध किया था। इन्हीं मुञ्जके समयमें वि० सं० १०५० (ई० सन् ९९३) में अमितगतिने सुभाषित-रत्नसंदोह' समाप्त किया था।[1]

मुञ्ज या वाक्पतिका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिन्धुल हुआ। इसका दूसरा नाम नवसाहसांक या सिन्धुराज है। इसके यशस्वी कृत्योंका वर्णन पद्मगुप्तने नवसाहसांक चरितमें किया है। इसी सिन्धुलका पुत्र भोज था, जिसका मेरुतुङ्गकी 'प्रबन्धचिन्तामणि'में वर्णन[2] आया है। अतएव प्रद्युम्नचरितकी रचना ई० सन् ९७४ के आस-पास हुई है।

२३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथका जीवनवृत्त संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके कवियोंको विशेष प्रिय रहा है। १०वीं और ११वीं शताब्दीमें पार्श्वनाथ चरितपर अनेक महाकाव्य लिखे गये हैं। वादिराजसूरिने ११वीं शताब्दीमें पार्श्वनाथचरित नामका महाकाव्य लिखा है। यह महाकाव्य १२ सर्गोंमें विभक्त है और संस्कृत भाषामें लिखा गया पार्श्वनाथ चरितपर प्रथम महाकाव्य है[3]। कथावस्तुका स्रोत गुणभद्रका उत्तरपुराण है। कविने महाकाव्योचित कथावस्तुका गठन किया है। शृङ्गारिक वर्णन कथावस्तुको सरस बनानेमें सहयोग देते हैं। पूर्वभवोंकी योजना शृंखलारूपमें की गयी है। कविका मन मरुभूतिके पश्चात् वज्रनाभ चक्रवर्तीके जन्मकी घटनाओंके वर्णनमें अधिक रमा है। सभी घटनाएँ सुगठित हैं। अनेक जन्मोंके आख्यानोंको एक सूत्रमें आबद्ध करनेका सफल प्रयास किया है। यों तो अनेक जन्मोंके आख्यान वर्णनसे

१. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रा० भा० ई० बनारस, १९५६ ई०, पृ० २८३

२. प्रबन्ध चिन्तामणि, सिन्धी सिरीज, १९३३ ई०, भोजभीम प्रबन्ध, पृ० २५

३. सम्पादक पण्डित मनोहरलाल शास्त्री, प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि० सं० १९७३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाठकका मन ऊब जाता है और उसे अगले जन्मसे सम्बन्ध जोड़नेके लिये भवावलिको स्मरण रखना पड़ता है, तो भी कथामें प्रवाहकी कमी नहीं है। समस्त कथानक एक ही केन्द्रके चारों ओर चक्कर लगाते हैं।

मङ्गल स्तवन पूर्वक काव्यका आरम्भ हुआ है। नगर, वन, पर्वत, नदियाँ, समुद्र, उषा, सन्ध्या, रजनी, प्रभात आदि प्राकृतिक दृश्योंके वर्णन, जन्म, विवाह, स्कन्धावार, सैनिक-अभियान, युद्ध, सामाजिक-उत्सव, शृङ्गार, करुण आदि रस, हाव-भाव, विलास एवं सम्पत्ति-विपत्तिमें व्यक्तिके सुख-दुःखोंके उतार-चढ़ावका कलात्मक वर्णन पाया जाता है। तीर्थंकरके चरित्रके अतिरिक्त राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार, किरात-भील, चाण्डाल आदिके चरित्र-चित्रण के साथ पशु-पक्षियोंके चरित्र भी प्रस्तुत किये गये हैं।

महाकाव्यके नायक पार्श्वनाथ हैं और प्रतिनायक कमठ। नायक सदा प्रतिनायकके प्रति सहानुभूति रखता है। मरुभूतिके भवमें वह कमठको कितना प्यार करता है। कमठ उसकी पत्नी वसुन्धराके साथ दुराचार करता है और राजाके द्वारा निर्वासित किये जानेपर भी वह कमठके पास जानेके लिए बेचैन है। भ्रातृवात्सल्यका इतना उज्ज्वल उदाहरण सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिल सकेगा। पार्श्वनाथने नौ भवोंमें तीर्थंकर पद पानेको साधना की है। मरुभूति मन्त्रीके भवमें पार्श्वनाथका जीव कमठ द्वारा सताया जाता है, कमठ उसके ऊपर चट्टान गिरा देता है। मरुभूतिका जीव मरणकर हाथी पर्यायको प्राप्त करता है। इस हाथीके जन्ममें वह नाना प्रकारके उपद्रव करता है। जब मुनि अरविन्दका धर्मसंघ उस वनमें पहुँचता है, तो वह गज कोलाहल सुनकर संघको रौंदना-कुचलना आरम्भ कर देता है। मुनिराज अवधिज्ञानसे उसके पूर्व जन्मको जानकर भवावलि बतलाते हैं, जिससे उसे विरक्ति हो जाती है। वह शान्त होकर साधना करता है। मृत्यु प्राप्त होनेपर सहस्रार स्वर्ग में जन्म ग्रहण करता है। पश्चात् विद्याधर और अच्युत स्वर्गवासी देव होता है। स्वर्गसे च्युत होकर वज्रनाभि चक्रवर्तीका जन्म ग्रहण करता है। यहाँ काम और अर्थ पुरुषार्थके साथ धर्मका सेवन करता है। पश्चात् मोक्ष पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये मुनि वन जाता है। इस भवकी साधनासे उसे मध्यमग्रैवेयकमें अहमिन्द्र पद मिलता है। पश्चात् नृपति पर्याय प्राप्तकर भोग भोगता हुआ साधनाकी ओर अग्रसर होता है। उसका अकारण शत्रु कमठ उसे बराबर बाधा देता है। साधनाके फलसे वह आनत स्वर्गवासी देव होता है और अनन्तर पार्श्वनाथका जन्म धारण करता है। इस प्रकार कविने पार्श्वनाथके दिव्य चरितको अंकितकर निर्वाण प्राप्तिका लक्ष्य प्रस्तुत किया है।

अलंकार विधानकी दृष्टिसे यह महाकाव्य पर्याप्त सफल है। उपमा (४।९५), उत्प्रेक्षा (२।१०७), रूपक (२।४१), अर्थान्तरन्यास (११।५), अतिशयोक्ति (८।९८), उदाहरण (९।७), दृष्टान्त (१।१३), विभावना (१।२५), तुल्ययोगिता (१।५४), असंगति (२।८), सन्देह (६।१०५), भ्रान्तिमान् (३।७३), समासोक्ति (२।११४), काव्यलिंग (३।२४), विशेषोक्ति (१०।५), श्लेष (३।२६), अनुप्रास (४।५२) और यमक (३।२७) अलंकारोंकी योचना की गयी है। वर्ण योजना, शब्द-गठन, अलंकार प्रयोग, भावसम्पत्ति एवं उक्ति वैचित्र्यकी दृष्टिसे भी यह काव्य उपादेय है।

इस काव्यमें गृद्धपिच्छ (१।१६), समन्तभद्र (१।१७-१९), अकलंक (१।२०), वादिसिंह (१।२१), सन्मति (१।२२), जिनसेन (१।२३), अनन्तकीर्ति (१।२४), पाल्यकीर्ति (१।२५),

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धनञ्जय (१।२६), अनन्तवीर्य (१।२७), विद्यानन्द (१।२८), विशेषवादि (१।२९) और वीरनन्दि (१।३०) का स्मरण किया है।

इस काव्यके रचयिता वादिराज, प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रके रचयिता प्रभाचन्द्रके समकालीन हैं। कहा जाता है कि चालुक्य नरेश जयसिंहकी राजसभामें इनका बड़ा सम्मान था और ये प्रख्यातवादी गिने जाते थे। जयसिंह (प्रथम) दक्षिणके सोलंकी वंशके प्रसिद्ध महाराज थे। इनके राज्यकालके ३० से अधिक दानपत्र और अभिलेख प्राप्त हो चुके हैं, जिनमें सबसे पहला अभिलेख शक सं० ९३८ (ई० सन् १०१६) का है और अन्तिम शक सं० ९६४ (ई० सन् १०४२) का है। अतएव इनका राज्यकाल ई० सन् १०१६-१०४२ ई० तक है।

वादिराजने अपना पार्श्वनाथ चरित सिंह चक्रेश्वर या चालुक्य चक्रवर्ती जयसिंह देवकी राजधानीमें निवास करते हुए शक संवत् ९४७ (ई० सन् १०२५) में कार्तिक शुक्ला तृतीयाको पूर्ण किया था[1]। कविकी अन्य रचना यशोधर चरितके तृतीय सर्गके अन्तिम पद्य और चतुर्थ सर्गके उपान्त पद्यमें जयसिंह देवका उल्लेख आया है। इससे स्पष्ट है कि यशोधर चरितकी रचना भी कविने जयसिंहके समयमें की है। अतएव संक्षेपमें वादिराजका समय ई० सन् १०२५ है।

१२वीं शताब्दीके महाकाव्य लेखकोंमें आचार्य हेमचन्द्रका[2] 'कुमारपालचरित' द्वयाश्रय महाकाव्य है। इस नामके दो कारण हो सकते हैं। प्रथम कारण तो यह है कि यह संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओंमें लिखा गया है। द्वितीय कारण यह भी सम्भव है कि इस कृतिका उद्देश्य अपने समयके राजा कुमारपालके चरितका वर्णन करना है और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अपने संस्कृत और प्राकृत व्याकरणके सूत्र क्रमानुसार ही नियमोंके उदाहरण प्रस्तुत करना है। यह कितना कठिन कार्य है इसे सहृदय काव्यरसिक ही जान सकते हैं।

इस महाकाव्यमें २० सर्ग हैं और चालुक्य राजवंशका चित्रण किया है। प्रथम सर्गमें चालुक्यवंश के आशीर्वचनके अनन्तर अणहिलपाटन एवं मूलराजका वर्णन है। द्वितीय सर्गमें मूलराजको स्वप्नमें शंभुकृतोपदेश, वन्दियों द्वारा प्रभात एवं ग्राहरिपुको नष्ट करनेके लिये मूलराजको मन्त्रियों द्वारा प्रोत्साहन दिये जानेका वर्णन है। तृतीय सर्गमें शरद्कालके निरूपणके अनन्तर मूलराजका यात्रोपकरण एवं जम्बूमालीमें स्कन्धावार सन्निवेशका चित्रण किया गया है। चतुर्थ एवं पञ्चम सर्गोंमें ग्राहरिपुके साथ वार्तालाप, युद्ध एवं ग्राहका बन्दी होना वर्णित

---

१. शाकाब्दे नगवार्धिरंध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनीकथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥
श्री पार्श्वनाथ चरित, ग्रन्थकर्त्ताकी प्रशस्ति श्लोक ५।

२. अभयतिलकगणि विरचित, सं० टी० सहित, बम्बई संस्कृत एवं प्राकृत सिरीज द्वारा सन् १९१५ एवं १९२१ में दो भागोंमें प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। षष्ठ सर्गमें मूलराजको चामुण्डराज नामक पुत्र प्राप्त होता है। चामुण्डराज युवक होनेपर अपने पिताके साथ लाटराजपर आक्रमण करता है। युद्धमें लाटराज मारा जाता है। इसी सर्गमें चामुण्डराजके राज्याभिषेकके अनन्तर मूलराजके स्वर्गवासका भी वर्णन है। सप्तम सर्गमें चामुण्डराजके बल्लभराज, नागराज और दुर्लभराज इन तीन पुत्रोंकी उत्पत्तिका कथन आया है। चामुण्डराज दुर्लभराजका राज्याभिषेककर नर्मदाके तीर तपस्या करने चला जाता है। दुर्लभराजका विवाह महेन्द्रकी बहन दुर्लभदेवीके साथ और नागराजका महेन्द्रकी दूसरी बहन लक्ष्मी देवीके साथ सम्पन्न होता है। अष्टम और नवम सर्गमें बताया गया है कि नागराजको भीमराज नामक पुत्र उत्पन्न होता है। भीमराज उत्तराधिकार प्राप्तकर अनेक राजाओंको पराजित करता है। भीमके स्वर्गवासके पश्चात् उसका पुत्र कर्णराज उत्तराधिकारी बनता है। दशम सर्गमें बताया गया है कि सन्तान प्राप्ति न होनेसे कर्णराज दुःखी होता है और लक्ष्मीदेवीके मन्दिरमें जाकर उपासना करता है। परीक्षा लेनेके उपरान्त देवी प्रसन्न होती हैं और पुत्र प्राप्तिका वरदान देती हैं। ११वें सर्गसे लेकर १५वें सर्ग तक कर्णराजके पुत्र जयसिंहका वृत्तान्त आया है और जयसिंहके वीरतापूर्ण कार्योंका चित्रण किया गया है। षोडश सर्गमें कुमारपालके राज्याभिषेकका निरूपण है। सप्तदश सर्गसे २०वें सर्ग पर्यन्त कुमारपालके कार्योंका चित्रण किया गया है।

इस महाकाव्यमें अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकारोंकी योजना प्राप्त होती है। वस्तु वर्णनोंमें ऋतु, जलक्रीड़ा, युद्ध, रजनी आदिका चित्रण पाया जाता है। कथानकमें मधुरता, रोचकता और काव्योचित भावप्रवणता पायी जाती है। यह काव्य भट्टिमहाकाव्यके समान व्याकरणके उदाहरणोंसे अलंकृत है।

इस काव्यके रचयिता आचार्य हेमचन्द्र हैं। इनके पिता मोढवंशोत्पन्न चाचिग थे। और माताका नाम पाहिणीदेवी था। आचार्य श्री देवचन्द्रने हेमचन्द्रको प्राप्त कर इनकी शिक्षा-दीक्षाका प्रबन्ध किया था। इनका दीक्षित नाम सोमचन्द्र था, पर सूरि पद प्राप्त होनेके अनन्तर इनका नाम हेमचन्द्राचार्य रख दिया गया। हेमचन्द्रका सिद्धराज जयसिंह और कुमारपालके साथ सम्बन्ध हुआ और इन दोनों सम्राटोंको उन्होंने प्रभावित किया। हेमचन्द्रका व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे एक महान् संत शास्त्रीय विद्वान्, वैयाकरण, दार्शनिक, काव्यकार, योग्य लेखक और लोक चरित्रके अमर सुधारक थे। इनका जन्म धुन्धुका नगरमें वि० सं० ११४५ में कार्त्तिकी पूर्णिमाकी रात्रिमें हुआ था और मृत्यु ई० सन् ११७४ में हुई थी। हेमचन्द्रने त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित, कुमारपाल चरित, शब्दानुशासन, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, देशीनाममाला, काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन, प्रमाणमीमांसा, योगशास्त्र और द्वात्रिंशिकाएँ आदि रचनाएँ लिखी हैं।

महाकवि हरिचन्दने 'धर्मशर्माभ्युदय'[1] नामक महाकाव्यमें १५वें तीर्थंकर धर्मनाथका चरित निबद्ध किया है। इस काव्यकी कथावस्तु २१ सर्गोंमें विभाजित है। धर्म और शान्तिके

---

1. श्री पं० पन्नालाल 'वसन्त' साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्युदय-वर्णनका लक्ष्य होनेसे कविने प्रस्तुत महाकाव्यका यह नामकरण किया है। यह शास्त्रीय महाकाव्य है। चरित्रकी महनीयताके साथ वर्णन-चमत्कारोंका भी पूर्णतया समावेश हुआ है। मङ्गल स्तवनके अनन्तर सज्जन-दुर्जन (१।२८-३१), जम्बू द्वीप, (१।३२) सुमेरु (१।३८), भारतवर्ष (१।४१), आर्यावर्त (१।४३-५०), रत्नपुर नगर (१।८०-८६), राजा (२।१-३४) मुनि (३।४२-४३), दाम्पत्य सुख (पंचम सर्ग), पुत्र प्राप्ति (षष्ठ सर्ग), बाल्ययौवन (नवम सर्ग), पर्वत (दशम सर्ग), षड्ऋतु (एकादश सर्ग), पुष्पावचय (द्वादश सर्ग) जलक्रीड़ा (त्रयोदश सर्ग), सन्ध्या (चतुर्दश सर्ग), चन्द्रोदय (चतुर्दश सर्ग), पानगोष्ठी (पञ्चदश सर्ग), प्रभात (षोडश सर्ग), स्वयंवर (सप्तदश सर्ग) विवाह (अष्टदश सर्ग) युद्ध (एकोनविंश सर्ग) एवं वैराग्य (विंश सर्ग) प्रभृतिका विभिन्न उत्प्रेक्षाओं और उपमानों द्वारा वर्णन किया है। रसभाव और अप्रस्तुत योजनाकी दृष्टिसे यह काव्य विशेष समृद्ध है। इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, असंगति, उल्लेख, तद्गुण, भ्रान्तिमान्, व्यतिरेक, विरोधाभास और परिसंख्याकी योजना पायी जाती है। छन्दोंमें उपजाति, मालिनी, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, शालिनी, अनुष्टुप्, शिखरिणी, उपेन्द्रवज्रा, पृथ्वी, रथोद्धता, मन्दाक्रान्ता, इन्द्रवंशा, भुजंगप्रयात, दोधक, प्रमिताक्षरा, पुष्पिताग्रा, स्वागता, प्रहर्षिणी, तोटक, और स्रग्विणी छन्द आये हैं।

कवि हरिचन्दके पिताका नाम आर्द्रदेव और माताका नाम रथ्यादेवी है। इनकी जाति कायस्थ थी, पर ये जैन धर्मावलम्बी थे। इनका लक्ष्मण नामका भाई था।

स्व० श्री नाथूराम प्रेमीने धर्मशर्माभ्युदयकी पाटनकी एक पाण्डुलिपिका[2] उल्लेख किया है। जिसका प्रतिलिपि काल वि० सं० १२८७ (ई० सन् १२३०) है। अतः इतना स्पष्ट है कि ई० सन् १२३० के पहले हो महाकवि हरिचन्दका धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य लिखा जा चुका था।

श्री पण्डित कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीने वि० सं० १२०० के लगभग हरिचन्दका समय माना[3] है। श्री० के० के० हिण्डिकीने हरिचन्दको वादीभसिंहके पश्चात् (ई० सन् १०७५-११७५) का कवि माना है। डा० पं० दरबारीलाल कोठिया वादीभसिंहका समय नवम शती मानते हैं। अतः हरिचन्दका समय नवम शतीके पश्चात् सिद्ध होता है। हमारी दृष्टिमें नैषधचरितसे पूर्व इस काव्यकी रचना होनी चाहिये। यतः धर्मशर्माभ्युदयके अनेक पद्योंका प्रभाव नैषधचरित पर दिखलायी पड़ता है।

हरिचन्द कविका नाम "शब्दार्णवकी टीका शब्दार्णव चन्द्रिका पुष्पिका"में आता है। इसके रचयिता सोमदेव मुनि हैं। ये शिलाहार वंशीय राजा भोजदेवके समयमें हुए। इस

---

१. संस्कृत काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, सन् १९७१, पृ० २५२ से २६८ तक

२. पाटणके संघवी पाड़ाके पुस्तक भण्डारकी सूची, गायकवाड़ सिरीजसे प्रकाशित। बड़ौदा, १९३७ ई०

३. अनेकान्त, वर्ष ८, किरण १०-११, पृ० ३७६-३८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भोजदेवका समय ११वीं शताब्दी है। सोमदेवने वादीभवज्राकुंश विशालकीर्तिके वैयावृत्तसे इस ग्रन्थकी रचना शक संवत् ११२७ (वि० सं० १२६२) में कोल्हापुर राज्यमें की है। अतः संघवीपाडा पुस्तक भण्डारकी धर्मशर्माभ्युदकी हस्तलिखित प्रतिके विशालकीर्ति और शब्दार्णव चन्द्रिकामें आये हुए विशालकीर्तिको एक मान लिया जाये, तो हरिचन्दका समय वि० सं० की १२वीं शताब्दी आता है।

नेमिनिर्वाण महाकाव्यकी रचना वाग्भट्ट कविने की है। इस महाकाव्यमें १५ सर्गोंके अन्तर्गत तीर्थंकर नेमिनाथका जीवनवृत्त अंकित है। कथावस्तुके गठनमें आयाम कम है। कविने नेमिनाथके गर्भ, जन्म, तपस्या, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोंका निरूपण सीधे और सरल रूपमें किया है। प्रासंगिक कथाओंका नियोजन पूर्वभवावलिके रूपमें त्रयोदश सर्गमें किया गया है। तीर्थंकर नेमिनाथके जीवनकी दो मर्मस्पर्शी घटनाएँ इस काव्यमें अंकित हैं। प्रथम घटना राजुल और नेमिका रैवतक पर पारस्परिक दर्शन और दर्शनके फलस्वरूप दोनोंके हृदयमें प्रेमाकर्षणकी उत्पत्तिके रूपमें है और दूसरी घटना पशुओंका करुण क्रन्दन सुन विलखती राजुल तथा आर्द्रनेत्र हाथ जोड़े उग्रसेनको छोड़ मानवताकी प्रतिष्ठाके लिये वनमें तपश्चरणके हेतु जाना है। इन दोनों घटनाओंने कथावस्तुको पर्याप्त सरस और मार्मिक बनाया है। कविने वसन्त वर्णन, रैवतक वर्णन, जलक्रीड़ा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सुरत, मदिरापान प्रभृति काव्य विषयोंका समावेश कथाको सरस वनानेके लिये किया है। कथावस्तुके गठनमें एकान्वितिका सफल निर्वाह नहीं हो सका है। यह सत्य है कि कविने अलंकृत काव्य शैलीका अनुकरणकर इस महाकाव्यकी रचना की है। इसमें सभी प्रसिद्ध अलंकार भी नियोजित हैं। छन्दोंमें अनेक अप्रचलित छन्दोंका व्यवहार किया गया है। शशिवदना, बन्धूक, माद्यद्भृङ्ग, प्रमाणिका, हंसरुत, रुक्मवती, मत्ता, मणिरङ्ग, चन्द्रिका, शरमाला, अच्युत, शशिकला, नन्दिनी, सोमराजी, चण्डवृष्टि आदि अप्रसिद्ध छन्द सप्तम सर्गमें प्रयुक्त हैं। छन्द वैविध्यकी दृष्टिसे इस काव्यका सप्तम सर्ग बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस काव्यकी शैली किरातार्जुनीयम्की शैलीसे समता रखती है और चित्रमत्ता भी भारविके तुल्य है। इस काव्यका षष्ठ सर्ग कालिदासकी शैलीसे प्रभावित है। यदुवंशियोंके विलासी जीवनका रमणीय चित्रण काव्य रसिकोंको विशेष आह्लादक है।

इस काव्यका रचयिता वाग्भट प्रथम है। वाग्भटालंकारके रचयिता वाग्भट द्वितीयने अपने लक्षण ग्रन्थमें नेमि निर्वाणके छट्ठे सर्गके "कान्तारभूमौ" (६।४६) 'जुडुर्वसन्ते' (६।४७) और 'नेमिर्विशालनयनयोः' (६।५१) पद्य ४।३५, ४।३९ और ४।३२ में उद्धृत किये हैं। अतः स्पष्ट है कि वाग्भटालंकारके पूर्व 'नेमिनिर्वाण' काव्यकी रचना हुई है। प्रो० व्यूल्हरने अनहिलवाड़के चालुक्य राजवंशकी जो वंशावली अंकित की है, उसके अनुसार जयसिंह देवका राज्यकाल ई० सन् १०९३-११४३ सिद्ध होता[1] है। आचार्य हेमचन्द्रके द्व्याश्रय[2] काव्यसे सिद्ध होता है कि वाग्भट द्वितीय चालुक्यवंशीय कर्णदेवके पुत्र जयसिंहके अमात्य थे। अतएव नेमिनिर्वाणकी रचना वि० सं० ११७९ के पूर्व होनी चाहिये।

१. The lite of Hemchandra charya Singhi Jaina Gyana Pitha, Shanti Niketan 1936 A. D., Hoge 12.

२, द्व्याश्रय काव्य, बम्बई, १९१४-२१ ई०, २०।९१-९२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२वीं शताब्दीमें गुणभद्र द्वितीयने 'धन्यकुमार चरित' नामक काव्यकी रचना की। हमें दिगम्बर परम्परामें गुणभद्र नामके अठारह मुनियोंका पता चलता है, पर संस्कृत काव्य-निर्माताके रूपमें दो गुणभद्र ही ज्ञात हैं। गुणभद्र प्रथम उत्तरपुराण एवं जिनदत्त चरितके प्रणेताके रूपमें प्रसिद्ध हैं। ये सुप्रसिद्ध आचार्य जिनसेनके शिष्य थे। गुणभद्र द्वितीय माणिक्य-सेनके प्रशिष्य और नेमिसेनके शिष्य हैं। इन्होंने धन्यकुमार चरितकी रचना राजा परमार्दिन्के राज्यमें विलासपुरके जिनालयमें सम्पन्न की है और इस काव्य रचनाके प्रेरक लम्बकंचुक गोत्रमें उत्पन्न धर्मवत्सल श्रावक-साधु शुभचन्द्रके दानी एवं परोपकारी पुत्र विल्हण हैं। कविके समयके सम्बन्धमें डा० ज्योतिप्रसाद जैनने विस्तारपूर्वक विचारकर बारहवीं शतीका अन्तिम चरण निर्धारित किया है।

धन्यकुमार चरितकी कथावस्तुका आधार उत्तरपुराण है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरमें है और दूसरी दिगम्बर जैन मन्दिर दिल्ली में है।

१३वीं शताब्दीमें कई महाकाव्योंका प्रणयन हुआ है। इनमें धर्मकुमारका शालिभद्र चरित, जिनपाल उपाध्यायका सनत्कुमार चरित, मलधारीदेवप्रभका पाण्डव चरित एवं मृगावती चरित, माणिक्यचन्द सूरिका पार्श्वचरित एवं शान्तिनाथ चरित, सर्वानन्द प्रथमका चन्द्रप्रभ चरित और पार्श्वनाथचरित, विनयचन्द्रका मल्लिनाथ चरित, पार्श्वनाथ चरित और मुनि सुव्रतनाथ चरित, अभयदेव सूरिका जयन्तविजय, वस्तुपालका नरनारायणानन्द एवं अमरचन्द सूरिके पद्मानन्द और बालभारत प्रसिद्ध महाकाव्य हैं।

जिनपाल उपाध्यायने सनत्कुमार चक्रवर्तीके जीवन-वृत्तका आधार लेकर सनत्कुमार महाकाव्यकी रचना २४ सर्ग प्रमाणमें की है। यह अभीतक अप्रकाशित है और इसकी प्रति श्री अगरचन्द नाहटा बीकानेरके पास सुरक्षित है। कवि चित्रालङ्कारोंकी योजना एवं वस्तु व्यापार वर्णनमें पटु प्रतीत होता है। उत्प्रेक्षाके क्षेत्रमें कविकी दौड़ बहुत दूर तक है। वह सनत्कुमारकी सरसोन्नत नासिकाको जगद्विजयके लिये प्रस्थित कामदेवकी पताकायष्टि बताता है—

नासा तदीया सरसोन्नता च विस्तीर्णनेत्रोपगता सदा स्यात्।
जगज्जयप्रस्थितमन्मथस्योल्ससत्पताकध्वनियष्टिलक्ष्मीम्॥८।१५

वि० संवत् १२७६ में माणिक्यचन्द्र सूरिने पार्श्वनाथ चरितकी रचना की है। अभी तक यह अमुद्रित है। यह काव्य ग्रन्थ शान्तिनाथ भण्डार खम्भातमें सुरक्षित है। इस महाकाव्यमें दश सर्ग हैं और ६७७० पद्य। काव्यके नायक लोकप्रसिद्ध पार्श्वनाथ हैं। अंगी रस शान्त है, गौणरूपमें शृङ्गार, करुण और वीररस भी आये हैं। सर्गोंके नामकरण वर्णित घटनाओंके आधारपर किये गये हैं। मुख्य कथाके अतिरिक्त अवान्तर कथाओंमें कलावती, कमला देवी, ललितांग, नल-दमयन्ती, रतनसार एवं परशुरामकी कथाएँ आयी हैं। नल-दमयन्ती कथामें बताया है कि नल कौंच निशाचरसे युद्ध करता है। करकोटक नाग नलकी सहायता करता है।

१. जैन संदेश, शोधांक ८, २८ जुलाई १९६० ई०, पृ० २७६ तथा जैन संदेश शोधांक १७, १० अक्टूबर १९६३ ई०

३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेह नाग और हंस मानवीय भाषामें वार्तालाप करते हैं। नलका सुन्दर रूप कुरूप कुब्जेके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार अनेक पौराणिक सन्दर्भ इस काव्यमें निबद्ध किये गये हैं।

इसी १३वीं शताब्दीमें विनयचन्द सूरिने[1] मल्लिनाथ चरित नामक महाकाव्यकी रचना ८ सर्गोंमें की है। इस काव्यके सर्गोंका नामकरण वर्ण्य विषयके आधारपर हुआ है। नगर, समुद्र, पर्वत, षड्ऋतु, सूर्योदय, सूर्यास्त, उद्यानक्रीड़ा, संयोग-वियोग, कुमार जन्म, सेनाप्रयाण आदिका समावेश इस काव्यमें है। मूल कथाके साथ सत्यहरिश्चन्द्र, रत्नचन्द्र, श्रीबल, सुदत्त, सुबन्धु, भीमसेन आदिकी उपकथाएँ भी निबद्ध हैं। रत्नचन्द्र उपकथामें बताया है कि एक देव मृत राजा रत्नचन्द्रको जीवित कर देता है। हरिश्चन्द्र कथामें मुनि हरिश्चन्द्र नृपके मन्त्री कुन्तलको जम्बुक बना देता है। इसी आख्यानमें बताया है कि एक मान्त्रिक मृत अनंगमञ्जरीको जीवित कर देता है और सुतारा दासीको राक्षसी बना देता है। जिनदत्त कथामें आया है कि एक तृषार्त सर्प कुमार पद्मशंकरसे मनुष्यवाणीमें पानी माँगता है। आगे चलकर यही सर्प इसका दंशन करता है और उसे वामन बना देता है। इसी आख्यानमें भद्रदेवी कुमारको ऐसा रत्न देती है, जिससे उस रत्नके धनुषदण्डपर बांधनेसे शत्रु सेना मूर्च्छित हो जाती है। इस काव्यकी भाषा व्यावहारिक है। अनुष्टुप् छन्दमें प्रायः समस्त महाकाव्य लिखा गया है। उपमा, अर्थान्तरन्यास, रूपक, समासोक्ति, परिसंख्या आदि अलंकारोंकी योजना भी पायी जाती है।

इस शताब्दीमें लिखा गया अभयदेव सूरिका जयन्तविजय[2] महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध है। इसमें १९ सर्ग हैं और २२०० पद्य हैं। रुचिरवर्ण और पदोंसे युक्त इस काव्यकी शैली सहृदयोंके हृदयको आकृष्ट करती है। काव्यका नामकरण नायक जयन्तविजयके नामपर किया गया है। इसकी कथावस्तु न तो पौराणिक है और न ऐतिहासिक ही। कविने अपने समयकी लोककथाको ही महाकाव्यका रूप दिया है। समकालीन परम्पराओं और मान्यताओंको भी स्थान प्राप्त है। कथावस्तुमें महाराज कुमार जयन्तविजयके पराक्रम और राजविस्तारका वर्णन आया है।

इस महाकाव्यमें शास्त्रीय दृष्टिसे महाकाव्यके समस्त लक्षण घटित हैं। सर्गबद्धता महत्तचरित, ग्राम्य शब्दोंसे रहित, अर्थ सौष्ठव सम्पन्नता, अलंकार मुक्तता, युद्ध मन्त्रणादिके वर्णन, नाटकीय पञ्चसन्धि समन्वित, ऋद्धिपूर्ण, चतुर्वर्गफल समन्वित, लोक स्वभावसे समन्वित, असंकीर्ण रूपमें रसोंका सद्भाव एवं महद् उद्देश्य प्रभृति गुण पाये जाते हैं। पात्रोंमें विक्रमसिंह सुबुद्धि, सिंघल भूपति, पवनगति, सुस्थिताचार्य, वैरसिंह, हरिराज, अघोरघंट योगी, एवं मत्सरी ब्राह्मण पुरुष पात्र और प्रीतिमती, कनकवती एवं रति सुन्दरी नारी पात्र हैं। काव्यका नायक जयन्त है और प्रतिनायक महेन्द्र विद्याधर। कविने अप्रस्तुत योजना द्वारा

१. पण्डित हरगोविन्ददास एवं बेचरदास द्वारा सम्पादित तथा धर्माभ्युदय प्रेस बनारस (वीर निर्वाण सं० २४३८) द्वारा प्रकाशित
२. पण्डित भवदत्त शास्त्री द्वारा संशोधित होकर निर्णय सागर प्रेस बम्बई द्वारा १९०२ ई० में प्रकाशित। काव्यमाला ग्रन्थांक ७५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने काव्यको पूर्ण सफल बनानेका प्रयास किया है। उपमा (१३।४), रूपक (१६।६१), उल्लेख (१।६०), अनुज्ञा (१४।३५), अर्थावृत्ति (२।४१), अन्योक्ति (५।१), विशेषक (१।५४), सहोक्ति (२।३४), परिसंख्या (१।५०), तिरस्कार (१९।२४), विरोधाभास (१४।९९), उत्प्रेक्षा (६।६७), एकावलि (१।३०), उदाहरण (७।४९), निदर्शना (१।२१) आदि अलंकारोंकी योजना की गयी है। उपजाति, शार्दूलविक्रीड़ित, वंशस्थ, हरिणी, अनुष्टुप्, मन्दाक्रान्ता, प्रमाणिका, उपेन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, शिखरिणी, स्रग्धरा, पुष्पिताग्रा, मालिनी, पृथ्वी, स्वागता आदि छन्द प्रयुक्त हैं।

इस काव्यकी भाषा सरल है। कविने समस्यन्त पदोंका प्रयोग किया है, पर अधिक लम्बे समास नहीं हैं। प्रायः वैदर्भी शैली प्रयुक्त है। कुछ सर्गोंमें गौडीके उदाहरण भी पाये जाते हैं। इस काव्यके रचयिता अभयदेव सूरि चन्द्र गच्छके आचार्य हैं। इस गच्छमें वर्द्धमान सूरि हुए। उनके दो शिष्य थे—जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर सूरि। जिनेश्वर सूरिके शिष्य नवांग वृत्तिकार अभयदेव सूरि हुए। अभयदेव सूरिके जिनवल्लभ सूरि शिष्य हुए और उनके शिष्य राजशेखर। राजशेखरके शिष्य पद्मेन्दु ही अभयदेवके गुरु थे। महाकवि अभयदेवने अपने जन्म और तपश्चरणसे किस स्थानको गौरवान्वित किया था, इसकी जानकारी प्राप्त नहीं होती। जयन्तविजय काव्यके अन्तमें जो[1] प्रशस्ति दी गयी है, उससे इसका रचना काव्य वि० सं० १२७८ (ई० सन् १२२१) आता है।

वस्तुपाल कविका नर-नारायणानन्द[2] महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध है। इस महाकाव्यमें श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मैत्री, रैवतक पर्वतपर उनका विहार, अर्जुन द्वारा सुभद्राका हरण, बलदेवका युद्ध, श्रीकृष्णके प्रयाससे सन्धि एवं सुभद्राके साथ अर्जुनका विवाह आदि घटनाएँ महाभारतपर आधारित हैं। इस महाकाव्यमें १६ सर्ग हैं। काव्यका आरम्भ द्वारावती वर्णनसे हुआ है। सन्ध्या, रात्रि, सूर्योदय, सुरापान, सुरतक्रीड़ा, दोलान्दोलन, वन, पर्वत, सैन्य-प्रयाग आदिका विस्तृत वर्णन है। कलापक्षकी दृष्टिसे इसमें चित्रमत्ता, प्रहेलिका, गोमूत्रिकादि बन्ध आये हैं। कथावस्तु चरित्र, विचार तत्त्व और पदावली ये चारों महाकाव्यके तत्त्व इसमें समवेत हैं। कथानकमें विविधता और व्यापकता पायी जाती है। संक्षिप्त कथानकको कविने काव्योचित वस्तु व्यापारोंके द्वारा विस्तृत किया है।

कवि वस्तुपालने महाभारतके कथानकमें किसी भी प्रकारका परिवर्तन नहीं किया है। उसने वस्तु व्यापार और प्रकृतके रम्य रूपोंका मिश्रणकर काव्य रसायन बनानेकी चेष्टा की है। पात्रोंमें श्रीकृष्ण, अर्जुन, सुभद्रा, बलराम, सात्यकि और दूत—वनपाल पात्र हैं। इन पात्रोंमें अर्जुन और श्रीकृष्णके चरित्रका विकास ही परिलक्षित होता है। अर्जुन नायक हैं और बल-रामको प्रतिनायक कहा जा सकता है। अर्जुनके चरित्रमें सौन्दर्य, शील और शक्तिका समन्वय

---

१. दिक्करिकुलगिरिदिनकरपरिमितविक्रमनरेश्वरसभायाम्। जयन्तविजय प्रशस्ति १० पद्य
२. सम्पादक सी० डी० दयाल और आर० अनन्तकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक सेंट्रल लाइब्रेरी बड़ौदा सन् १९१६ ई०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वे सुन्दर, प्रकृति-प्रेमी, सहृदय और पराक्रमी हैं। सुभद्राके सौन्दर्यको देखकर अर्जुन विह्वल हो जाते हैं। उसके बिना उन्हें जीवन नीरस प्रतीत होने लगता है। अपने मित्र श्रीकृष्णके परामर्शसे वे सुभद्राका अपहरण करते हैं। सात्यकिकी सेनाके साथ वे पराक्रम पूर्वक युद्ध करते हैं। कविने अर्जुनको सच्चा प्रेमी और सहयोगी चित्रित किया है। श्रीकृष्णके चरित्रमें देवत्वकी अपेक्षा मनुष्यत्व की प्रधानता है। अर्जुनके प्रति उनका अगाध प्रेम है। मित्रको सुखी बनानेके लिए वे लोकापवादकी भी चिन्ता नहीं करते। ज्येष्ठ भ्राता बलरामके व्यंग्य बाणोंका उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अर्जुनके साथ सुभद्राका विवाह करानेके लिए वे सभी सम्भव प्रयत्नोंको सम्पन्न करते हैं।

रस-भाव योजनाकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल है। इसमें शृंगार अंगी रस है और अंग रूपमें वीर, रौद्र, भयानक एवं वीभत्स रस आये हैं।

अलंकारोंमें उपमा (१२।२०, ८।१३, १०।४५, ७।३६, ९।१४, ९।२, ४।६, ७।३२, १५।२१, १०।८६ आदि), उत्प्रेक्षा (५।१५, ३।२८, १०।४९), अनन्वय (१२।७९), विरोधाभास (१।४२, १३।२६), अतिशयोक्ति (१।२३), अर्थान्तिरन्यास (११।१८), स्मरण (११।७), भ्रातिमान् (१।१९), ललित (१२।५४), रूपक (७।३०) आदि पाये जाते हैं।

इन्द्रवज्रा, उपजाति, मन्दाक्रान्ता, रथोद्धता, वसन्ततिलका, पुष्पिताग्रा, शार्दूल-विक्रीडित, प्रमिताक्षरा, द्रुतविलम्बित, शालिनी, स्वागता, ललिता, शिखरिणी, आर्या, अनुष्टुप्, हरिणी, मालिनी, स्रग्धरा छन्दोंका प्रयोग कविने किया है।

इस महाकाव्यकी शैली उदात्त है। समस्यन्त पदावलियोंके कारण इसे गौडी शैलीका काव्य माना जा सकता है। प्रसंगके अनुरूप भाषामें रूप परिवर्तनकी क्षमता पायी जाती है। भाव और परिस्थितिके अनुसार भाषा कहीं कोमल, कहीं मधुर और कहीं ओजस्विनी दिखलायी पड़ती है। नाद सौन्दर्यके साथ चित्रात्मकता भी पायी जाती है।

इस काव्यका रचयिता वस्तुपाल कुशल शासक होनेके साथ महाकवि भी था। यह गुजरातके राजा वीरधवल तथा उसके पुत्र बीसलदेवका महामात्य था। कीर्तिकौमुदीमें इसे 'वाग्देवतासुत' कहा है। राजशेखरने वस्तुपालको सरस्वतीकण्ठाभरण कहा है। आबूमन्दिर-की[2] प्रशस्तिमें सोमेश्वरने उसे सर्वश्रेष्ठ कवि कहकर स्वीकार किया है। स्वयं कवि होनेके साथ वस्तुपाल कवियोंका आश्रयदाता था। उसका एक विद्यामण्डल था, जिसमें राजपुरोहित

---

१. प्रबन्धकोशके अन्तर्गत वस्तुपाल प्रबन्ध सम्पादक मुनि जिनविजय, अहमदाबाद सन् १९३५ ई० तथा प्रबन्ध चिन्तामणि, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन बम्बई सन् १९३३, पृ० १००।

२. प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग–२, सम्पादक मुनि जिनविजय, भावनगर, सन् १९२१ ई०, लेख संख्या–६५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सोमेश्वर, हरिहर, नानक पण्डित, मदन, सुभट, मन्त्री यशोवीर और अरिसिंह थे[1]। वस्तुपालके अति सम्पर्कमें आये हुए कवि और पंडितोंमें अमरचन्द सूरि, विजयसेन सूरि, उदयप्रभ सूरि, नरचन्द्र सूरि, नरेन्द्रप्रभ सूरि, बालचन्द्र सूरि, जयसिंह सूरि और माणिकचन्द सूरि आदि प्रमुख हैं। वस्तुपालकी प्रशंसामें कीर्ति कौमुदी[2] और सुकृत संकीर्तन[3] काव्य लिखे गये हैं। वस्तुपालका उपनाम वसन्तपाल भी था। इनका जन्म अणहिलवाड़ाके शिक्षित परिवारमें हुआ था। इनके प्रपितामह चण्डप गुर्जरेशकी राजसभाको अलंकृत करते थे। इनके पिताका नाम आशाराज या अश्वराज और माताका नाम कुमारदेवी था। कविके गुरुका नाम विजयसेन सूरि हैं[4]।

वस्तुपालने मन्त्री बननेके पश्चात् शत्रुंजय और गिरनारके लिए यात्रा संघ निकाले एवं सन् १२२१, १२३४, १२३५, १२३६ और १२३७ ई० में यात्राएँ कीं[5]। शत्रुंजयकी अंतिम यात्राके लिए वह ई० सन् १२४० में रवाना हुआ था, पर मार्गमें ही निधन हो जानेसे यात्रा अधूरी रह गयी। इस अन्तिम यात्राका वर्णन महाकवि बालचन्द्रने वसन्त विलासमें किया है।

वस्तुपालने सन् १२३२ ई० में गिरनारमें मन्दिरोंका निर्माण कराया था। नरनारायणानन्द महाकाव्यकी रचना वस्तुपालने सन् १२२१ ई० के पश्चात् की है। इस महाकाव्यके १६वें सर्गकी प्रशस्तिमें आबू और गिरनारके मन्दिरोंका उल्लेख नहीं है। अतः यह अनुमान करना सहज है कि इस काव्यकी रचना ई० सन् १२३०-३१ में हुई होगी। वस्तुपालका निधन वि० सं० १२९६ माघकृष्णा पंचमी (ई० सन् १२३९) को हुआ है[6]।

१३वीं शताब्दीके अंतिम पाद या १४वीं शताब्दीके प्रथम पादमें वसन्त विलास नामक महाकाव्यकी रचना महाकवि बालचन्द्रने की है। इस महाकाव्यमें १४ सर्ग हैं। काव्य प्रशंसाके अनन्तर अणहिल पत्तनके दिव्य भवन, दुर्ग, परिखा एवं दुर्लभराज द्वारा निर्मित सरोवरोंका वर्णन किया है। श्रीकर्ण पदलाभ सर्गमें मूलराजसे लेकर भीमदेव द्वितीय तकके गुजरातके राजाओंके पराक्रम वर्णित हैं। इसी प्रसंगमें बताया है कि स्वप्नमें गुर्जर राजलक्ष्मीके निर्देशसे वीरधवल तथा उसके पूर्वजों द्वारा वस्तुपाल तेजपालकी मन्त्रिपदपर नियुक्ति हुई। वीरधवल वस्तुपालके गुणोंपर मुग्ध हो गया और उसे खम्भातका शासक नियुक्त किया। लूँण साकन पतिके साथ मारवाड़ नरेशके युद्ध छिड़नेपर वीरधवल ससैन्य सम्मिलित होता है। वीरधवलकी

---

१. वस्तुपालका विद्यामण्डल, लेखक—भोगीलाल साण्डेसरा, प्रकाशक—जैन कल्चरल रिसर्च सोसाइटी बनारस, हिन्दू युनीवर्सिटी पत्रिका नं० १६, पृ० ३।

२-३. सिंधी सिरीजमें भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित, वि० सं० २०१७।

४. नरनारायणानन्द महाकाव्य १६/३२।

५. वस्तुपाल चरित—जिनहर्ष, अहमदाबाद, १९४१ ई० पृ० ८ और पुरातन प्रबन्ध संग्रह, सम्पादक जिनविजय कलकत्ता १९३६ ई० पृ० ५९ एवं जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास, मोहनलाल दलीचन्द देसाई बम्बई १९३३ ई०, पैराग्राफ ४३१-३२।

६. वसन्त विलास बड़ौदा, १९१७ ई० १४/३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुपस्थितिसे लाभ उठाकर लाटनरेश शंख वीरधवलकी राजधानीपर आक्रमण कर देता है। मन्त्री वस्तुपाल इस आक्रमणका प्रतिरोध करता है और लाटनरेश पराजित होकर भाग जाता है।

कवि परम्परा प्राप्त ऋतुओंका वर्णन करता है। पुष्पावचय, दोलान्दोलन, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, संध्या प्रभृतिका मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। कविने आगे लिखा है कि स्वप्न दर्शनसे प्रभावित होकर वस्तुपाल यात्रासंघ निकालता है।

इस काव्यकी[1] कथावस्तु बहुत ही सीमित है, पर कविने महाकाव्योचित रूप प्रदान करनेकी चेष्टा की है। आरम्भके चार सर्ग कथानककी भूमिका मात्र हैं। पाँचवें सर्गसे कथानक में गति आती है। छठेसे आठवें सर्ग तक महाकाव्यकी परम्पराका निर्वाह करनेके लिए ऋतु, जलक्रीड़ा, चन्द्रोदय, सूर्योदय आदिका सजीव चित्रण किया गया है। नवम सर्गसे कथानकका टूटा हुआ सूत्र पुनः जुड़ता है और कथावस्तु धारावाहिकता पूर्वक आगे बढ़ती है। स्वप्नकी कल्पना कविकी अपनी है। इस सन्दर्भने कथावस्तुको रोचक बनाया है। इस काव्यको अर्ध ऐतिहासिक काव्य कहा जा सकता है।

१३वीं शताब्दीमें महाकवि अर्हदासने मुनिसुव्रत[2] नामक महाकाव्यकी रचना की है। इस महाकाव्यमें १० सर्ग हैं। इसमें २०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रतकी कथा वर्णित है। कथाका मूल स्रोत उत्तरपुराण है। कविने कथानकके मूलरूपमें प्रासंगिक और अवान्तर कथाओंकी योजनाकर कथावस्तुको महाकाव्योचित बनाया है। मगध देश, राजगृह नगरी, ऋतु, वन, पर्वत आदिका चित्रणकर इतिवृत्तको सरसता प्रदान की है।

काव्यके रचयिता महाकवि अर्हदासके गुरु आचार्यकल्प पण्डितप्रवर आशाधर थे। कविने कल्पनाओं और उत्प्रेक्षाओं द्वारा सन्दर्भांशोंको चमत्कारपूर्ण और सरस बनाया है।

श्रीहर्षके समान प्रतिभाशाली महाकवि अमरचन्द्रने बालभारत[3] और पद्मानन्द[4] नामक महाकाव्योंकी रचना की है। बालभारतमें ४४ सर्ग हैं और ग्रन्थ ६९५० अनुष्टुप् छन्द प्रमाण है। बालभारतमें पाण्डवोंकी मुख्य कथाके साथ अनेक प्रासंगिक कथाएँ भी निबद्ध हैं, जिन्होंने मुख्य कथाके प्रवाहको अवरुद्ध कर दिया है। काव्यकी कथावस्तुका आरम्भ आदि पर्वके पाँचवें सर्गमें द्रोणाचार्यकी परीक्षामें अर्जुनके सफल होने एवं उनके प्रतिस्पर्धी कर्णको दुर्योधन द्वारा चम्पाका राज्य दिये जानेके प्रसंगमें कौरवों एवं पाण्डवोंके विद्वेषसे होता है, जो शनैः-शनैः वृद्धिगत होता हुआ महाभारतके युद्धका रूप धारण कर लेता है। कथावस्तुका अन्त कौरवोंके विनाश और पाण्डवोंकी राज्य प्राप्तिसे होता है। यद्यपि कथानक यहीं समाप्त हो जाता है, तो भी इसे शान्तरस पर्यवसायी बनानेके लिए महाभारतके समान पाण्डवोंका हिमालयपर जाकर

---

१. वसन्त विलास महाकाव्यम्, सम्पादक सी० डी० दलाल, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज बड़ौदा, ग्रन्थांक ७ सन् १९१७ ई०

२. जैन सिद्धान्त भवन आरा सन् १९२९ ई०

३. काव्यमाला सीरीज, ग्रन्थांक-४५, निर्णय सागर प्रेस बम्बई।

४. सम्पादक एच० आर० कापड़िया, प्रकाशक-ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, बड़ौदा सन् १९३२ ई०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वर्ग प्राप्तिके लिए प्रयास करना वर्णित है। यह पौराणिक शैलीका महाकाव्य है। इसमें जातीय आदर्श और विचार, समाजकी विविध परिस्थितियाँ एवं जीवनकी विविध समस्याएँ विद्यमान हैं। वस्तु-व्यापार वर्णन इस काव्यमें शास्त्रीय महाकाव्योंके समान निबद्ध है।

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति, काव्यलिङ्ग, विरोधाभास, अतिशयोक्ति, उदाहरण, अनन्वय आदि प्रसिद्ध अलंकारोंके साथ उपजाति, वंशस्थ, मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित आदि प्रसिद्ध छन्दोंका प्रयोग भी पाया जाता है। कवि-रूढ़ियों और कवि प्रौढ़ोक्तियोंका प्रयोग भी विद्यमान है।

पद्मानन्दमें १९ सर्ग हैं। इसमें भगवान् ऋषभदेवका जीवनवृत्त वर्णित है। इस काव्य का दूसरा नाम जिनेन्द्रचरित भी है। इस काव्यमें तीर्थंकर ऋषभदेवके १२ भवोंका कथानक निबद्ध किया गया है। जिनसेनने आदिपुराणमें ऋषभदेवके पूर्वभव महाबलकी कथासे आरम्भ किये हैं और दशभवोंका ही कथानक निबद्ध किया है। प्रस्तुत काव्यमें ललितांग, वज्रजंघ और भोगभूमि जन्म ये तीन भव आदिपुराणके समान ही वर्णित हैं। अन्यभवोंकी कथावस्तु श्वेताम्बर मान्यताके आधारपर ग्रहण की गयी है। कथावस्तु में नवीन उद्भावनाओंका समावेश नहीं हो पाया है। यद्यपि कविने बाललीला, राज्यव्यवस्था, षड्ऋतुविलास, वसन्तक्रीड़ा, भरतका दिग्विजय, बाहुबलिकी विरक्ति आदि घटनाओंका विस्तृत वर्णन कर जीवनका वैविध्य प्रदर्शित किया है। पर वर्ण्य विषयोंमें आवश्यक विस्तारका अभाव होनेसे शिथिलता आ गयी है।

काव्यके नायक ऋषभदेव हैं। इनका चरित द्वादशभावोंमें प्रस्फुटित हुआ है। इतिवृत्त के साथ वस्तु व्यापारों और संवादकी योजना भी समुचित रूपमें की गयी है। इस महाकाव्यमें शान्त अंगी रस है और सहायक रूपमें वीर, श्रृंगार एवं भयानक रसका परिपाक हुआ है। स्वयंप्रभा और ललितांगके संयोग वर्णन प्रसंगमें श्रृंगाररसका सुन्दर समावेश हुआ है। शब्दालंकारोंमें अनुप्रास (२।१७, २३, ४५, ९०, २८६ ।१२८३, ८।६५, ११।४, १७।१४२); यमक (१०।४७, १४।६६, १७।३९३) एवं छेकानुप्रास (२।२८, ३।४२, ४५, ४६, ६।१०, ७।३६, १५।१३८) आये हैं। अर्थालंकारोंमें उपमा (५।१५), उत्प्रेक्षा (२।७०, ८७, ८८, ३।५१, ४।५३, ९।९०, १७।३९०); अर्थान्तरन्यास (२।८५, ३।८३, ४।३५, ५।१३८; ६।३७, ७।२२, ८।१५८, १०।५८, १४।२४९, १५।१३), अतिशयोक्ति (३।१०, १६।२०), अपह्नुति (८।९३, ११।५६); अप्रस्तुतप्रशंसा (४।१०५), एकावली (४।१८५), काव्यलिंग (७।२१), तुल्ययोगिता (१४।२००), दीपक (२।२४), दृष्टान्त (२।५९), निदर्शना (३।३९), विरोधाभास (१७।३४९) एवं व्यतिरेक (६।१८८) प्रयुक्त हैं। छन्दोंमें अनुष्टुप्, आर्या, इन्द्रवंशा, इन्द्रवज्रा, उपजाति, उद्गीति, उपेन्द्रवज्रा, कुटजा, गीति, चन्द्रिणी, ज्योत्स्ना, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, प्रबोधिता, प्रमिताक्षरा, प्रहर्षिणी, मंजुभाषिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, मेघविस्फूर्जिता, रथोद्धता, लक्ष्मी, ललिता, वंशस्थ, वसन्ततिलका, वैतालीय, शार्दूलविक्रीड़ित, शालिनी, शिखरिणी, सुन्दरी, स्रग्धरा, स्वागता एवं हरिणी प्रयुक्त हैं।

इस काव्यकी भाषा सरल और प्रसाद गुण युक्त है। समस्त काव्यमें वैदर्भी शैलीको अपनाया गया है। घटनाओं और कथानकको धाराका समावेश समासबहुला भाषामें हुआ है। काव्यके रचयिता अमरचन्द्र बायड़गच्छके परकाय प्रवेश विद्यासम्पन्न जीवदेवसूरिके शिष्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनदत्तसूरि[1] थे और इन्हीं जिनदत्तके प्रतिभाशाली अमरचन्द्र शिष्य हुए। कविराज अरिसिंह से इन्हें सिद्ध सारस्वत मन्त्र मिला था। जिसकी आराधना इन्होंने की थी और सरस्वती देवी को प्रसन्न किया[2] था। अमरचन्द्र आशुकवि थे और समस्यापूर्ति करनेमें अत्यन्त पटु थे। इनकी 'वेणीकृपाण' उपाधि थी। बालभारतमें प्रभातका वर्णन करते हुए बताया है कि महादेव जीने कामदेवको भस्म कर दिया है, पर दही मथती हुई स्त्रियोंकी वेणीको इधर-उधर घूमती हुई देखकर प्रतीत होता है कि मदन पुनः अपना प्रभाव विस्तार करता हुआ मानों तलवार चला रहा है। 'वेणीकृपाण' की इस अनुपम उपमाके कारण ही कवि अमरचन्द्रकी उपाधि 'वेणीकृपाण' प्रसिद्ध[3] हुई है।

अमरचन्द्र वीसलदेवका सभाकवि था और इस राजाका समय वि० सं० १३००-१३२० तक माना गया है। डा० रामकृष्णगोपाल भण्डारकरने वीसलदेवका राज्यकाल वि० सं० १३०२-१३२० माना[4] है। पाटनके टाँगडियाबाड़ाके जैन मन्दिरमें इनकी एक मूर्ति अभी भी विद्यमान है। इस मूर्तिपर निम्नलिखित लेख पाया जाता है—

"संवत् १३४९ चैत्रवदी ६ शनि वायटोयगच्छे श्री जिनदत्तसूरि शिष्य पण्डित श्री अमरचन्द्रमूर्तिः पण्डित महेन्द्र शिष्य मदनचन्द्राख्येन कारिता शिवमस्तु[5] ॥"

प्रस्तुत मूर्तिसे कविका स्वर्गवास वि० सं० १३४९ (सन् १२९२) के पूर्व ही सिद्ध होता है। यतः मूर्ति उनकी मृत्युके उपरान्त ही स्थापित की गयी होगी। इस प्रकार वीसलदेवकी समकालीनता, वस्तुपालका सम्बन्ध और टाँगडियाबाड़ाकी मूर्ति इन तीनों प्रमाणोंसे कविका समय सन् १३वीं शताब्दी आता है।

विक्रमकी १४वीं शताब्दीमें अनेक महाकाव्य लिखे गये हैं। मलधारि हेमचन्द्रने 'नेमिनाथ चरित', वर्द्धमानभट्टारकने 'वरांगचरित', जिनप्रभने 'श्रेणिकचरित', मानतुंगने 'श्रेयांसचरित', कमलप्रभने 'पुण्डरीकचरित', भावदेवसूरिने 'पार्श्वनाथचरित', मुनिभद्रने 'शान्तिनाथचरित' एवं चन्द्रतिलकने 'अभयकुमारचरित' की रचना की है। इन महाकाव्योंमें चन्द्रतिलकका 'अभयकुमारचरित', जिनप्रभसूरिका 'श्रेणिकचरित', भावदेवसूरिका 'पार्श्वनाथचरित', मुनिभद्रका 'शान्तिनाथचरित', एवं वर्द्धमान भट्टारकका 'वरांगचरित' शास्त्रीय महाकाव्य हैं।

अभयकुमार[6]चरितमें १२ सर्ग हैं। यह पौराणिक शैलीमें लिखा गया है। राजगृहके राजा प्रसेनजित अपने पुत्रोंकी चातुर्य-परीक्षा अनेक प्रकारसे करते हैं। जिनमें केवल श्रेणिक ही उत्तीर्ण होते हैं। प्रसेनजितके उचित आदर न करनेपर श्रेणिक विदेश चला जाता है और

---

१. प्रभावक चरित सिंघी जैन ग्रन्थमाला १९४० ई०, जीवदेवसूरि चरितम्, पद्य २००, पृ० ५३।

२. प्रबन्धकोष—तृतीय प्रबन्ध, पृ० १३-१७।

३. बालभारत, आदि पर्व, ११।६।

४. भाण्डारकर ई० सन् ११८३-८४ वर्षकी रिपोर्ट, पृ० ३१८ एवं ४५७।

५. प्राचीन लेखसंग्रह द्वितीय भाग, लेखांक ५२३।

६. जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, सन् १९१७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेष्ठिपुत्री नन्दासे विवाह करता है। कुछ समय अनन्तर श्रेणिक राजगृहमें लौट आता है और नन्दाके गर्भसे अभयकुमारका जन्म होता है। वयस्क होनेपर अपने चातुर्यके कारण अभयकुमार श्रेणिकका मन्त्री बनता है। श्रेणिकका विवाह चेटक नरेशकी पुत्री चेलनाके साथ होता है। जिसके गर्भसे कुणिक, हल्ल, विहल्ल नामक पुत्र उत्पन्न होते हैं। अभयकुमार अपने बुद्धिबलसे मालवराज और चण्डप्रद्योतको बन्दी बना लाता है। कृतपुण्यकी पत्नियों एवं पुत्रोंको उससे मिला देता है। भगवान् महावीरके वचनसे प्रभावित हो वह मुनि-दीक्षा ग्रहण कर लेता है और तपश्चरणकर सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न होता है।

रसभाव योजना, अलंकार योजना, छन्दोयोजना, वस्तुव्यापार वर्णन आदि दृष्टियोंसे यह काव्य सफल है। इसकी रचना वि० सं० १३१२ में[1] हुई है।

भावदेवसूरिने 'पार्श्वनाथ[2] चरित' नामक महाकाव्य लिखा है। इस काव्यमें आठ सर्ग हैं। कथानक परम्परा प्राप्त है। कविने कथावस्तुमें कहीं कुछ भी परिवर्तन नहीं किया है। प्रथम सर्गमें भगवान् पार्श्वनाथके प्रथम-द्वितीय एवं तृतीय भवका; द्वितीय सर्गमें चतुर्थ एवं पञ्चम भवका, तृतीय सर्गमें षष्ठ और सप्तम भवका, चतुर्थमें अष्टम और नवमभवका वर्णन किया है। पञ्चम-षष्ठ सर्गमें पार्श्वनाथके गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान, समवशरण एवं देशनाका वर्णन है। सप्तम सर्गमें जिन गणधर देशना और अष्टम सर्गमें विहार एवं निर्वाणका वर्णन आया है।

इस काव्यमें पार्श्वनाथके नौ भवोंमें उनके धार्मिक जीवनका उत्तरोत्तर विकास दिखलाया गया है। समस्त काव्य अनुष्टुप् छन्दोंमें लिखित है। केवल सर्गान्तमें ही छन्द परिवर्तन पाया जाता है। सर्गोंके बीचमें क्वचित् कदाचित् ही छन्दोंमें परिवर्तन हुआ है। कविता साधारण कोटिकी है। वर्णनोंमें चमत्कार यत्र-तत्र ही दृष्टिगोचर होता है। इस काव्यकी रचना वि० सं० १३१२ में सम्पन्न हुई है।

जिनप्रभ सूरिने 'श्रेणिकचरित' नामक महाकाव्यकी रचना की है। इस काव्यका दूसरा नाम 'दुर्गवृत्ति द्व्याश्रय महाकाव्य' भी है। इसमें अठारह सर्ग हैं। भगवान् महावीरके समकालीन महाराज श्रेणिकका चरित वर्णित है। प्रस्तुत काव्यके सात सर्ग जैन धर्म विद्या प्रकाशक पालीतानासे पुस्तकाकार प्रकाशित हैं। अवशिष्ट ग्यारह सर्ग अभी तक अमुद्रित हैं। इस महाकाव्यकी हस्तलिखित प्रति खम्भातके जैन शास्त्र भण्डारमें सुरक्षित है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि हेमचन्द्रके द्व्याश्रयके समान कातन्त्र व्याकरणके प्रयोगोंका व्यावहारिकरूप प्रस्तुत किया गया है। प्रथम सर्गमें सन्धिरूपोंका प्रदर्शन करते हुए लिखा है—

ये गुणास्तेऽत्र सर्वेऽपि यजन्तेऽत्र जिनं जनाः।
कस्को नाम न भूम्नात्र वैयाकरण उच्चकैः॥

ते + अत्र, सर्वे + अपि, यजन्ते + अत्र, कः + कः, भूम्ना + अत्र।

---

१. अभयकुमार चरित, अन्तिम प्रशस्ति पद्य।

२. पण्डित हरिगोविन्ददास बेचरदास द्वारा सम्पादित एवं धर्माभ्युदय प्रेस बनारस (वीर निर्वाण सं० २४३८) द्वारा प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अत्र प्रियहलीषानां लांगलीषे चतुष्टये ।
पुण्यसाधनसामग्री मनीषाशालिनां भवेत् ॥

हल + ईषा, लांगल + ईषा, मनस् + ईषा ।

द्वितीय सर्गमें ऋकारान्त शब्द, तृतीयमें युष्मद्, अस्मद्, आदि शब्द तथा कारकोंके प्रयोग, चतुर्थ सर्गमें समासोंके प्रयोग, पंचममें तद्धितान्त प्रयोग, षष्ठसे एकादश तक आख्यात प्रयोग एवं द्वादशसे अष्टादश सर्ग तक कृत् प्रत्ययोंके उदाहरणोंका प्रदर्शन किया गया है । भट्टि काव्यके समान व्याकरण प्रयोगोंमें उलझ जानेसे कवि विविध रसोंका निर्वाह नहीं कर सका है । इस काव्यकी रचना वि० स० १३५६ में हुई है ।[1]

भट्टारक युगके प्रतिनिधि कवि वर्धमानने वरांगचरितकी रचना की है । इस काव्यमें १३ सर्ग हैं । सर्गोंका नामकरण कथावस्तुके आधार पर किया गया है । वराङ्ग २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ और कृष्णके समकालीन धीरोदात्त नायक हैं । कथाका मूल स्रोत जटासिहनन्दिका वरांगचरित है । कविने कथानकमेंसे वर्णन और धर्मोपदेशोंको कम कर इस महाकाव्यकी रचना की है । रस और अलंकार योजनाकी दृष्टिसे यह महाकाव्य बहुत ही सफल है ।

रचयिता वर्धमान कवि बलात्कारगणके आचार्य श्रीचन्द्रकी २६वीं पीढ़ीमें हुए हैं । कविने काव्यकी प्रशस्तिमें अपना परिचय लिखा है । इस काव्यकी रचना ई० सन् १४वीं शताब्दीमें हुई है ।[2] यह काव्यग्रंथ १९२७ ई० में शोलापुरसे प्रकाशित है ।

१४वीं शताब्दीमें ही मुनिभद्रने शान्तिनाथ[3] चरित नामक महाकाव्यकी रचना की है । इस काव्यमें १९ सर्ग हैं । काव्यका अधिकांश कथानक नायकके जन्म-जन्मान्तरोंके साथ सम्बद्ध है । तीर्थंकर शान्तिनाथका चरित १४वें सर्गसे १९वें सर्ग तक—छः सर्गोंमें वर्णित है । इस काव्यकी कथावस्तुका स्रोत मुनिदेव सूरि कृत शान्तिनाथ चरित है । काव्यकी अभिव्यंजना सशक्त और भाषा शैली प्रौढ़ है । कविको काव्यके मर्मस्थलोंकी पहचान है । कपिल और सत्यभामा, विजय-सुतारा, अशनिघोष आदिके कथानक हृदयस्पर्शी हैं । मेघरथकी धार्मिक परीक्षा स्वयं एक काव्य है । बाज और कपोतके पुरातन आख्यानको निबद्ध कर करुणा और मानवताका अपूर्व संगमस्थल उपस्थित किया है । वस्तु व्यापार वर्णनोंमें सन्ध्या, सूर्य, रजनी, प्रातः, मध्याह्न, मृगया, ऋतु, वन, पर्वत, समुद्र, युद्ध-प्रयाण, जन्मोत्सव आदि प्रधान हैं । कविने जीवनके विविध पक्षों और मूल्योंको निबद्ध किया है । रचयिता मुनिभद्र बृहद्गच्छके विद्वान् हैं । इस काव्यकी प्रशस्तिमें इसका रचना काल वि० सं० १४१० (ई० सन् १३५३) है । कवि फिरोजशाह तुगलकके द्वारा सम्मानित था । कविका जन्म ई० सन् १३१३ आता है । इस प्रकार संस्कृतमें महाकाव्योंकी रचना होती रही है ।

---

१. श्रेणिक चरित, प्रशस्ति श्लोक संख्या—२

२. देखें, संस्कृत काव्यके विकासमें जैन कवियोंका योगदान । भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन १९७१, पृ० १९८

३. पं० हरगोविन्ददास बेचरदास द्वारा संशोधित और यशोविजय ग्रन्थमाला वाराणसी द्वारा वीर निर्वाण सं० २४३७ में प्रकाशित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐतिहासिक जैन काव्य

जैन काव्योंके प्रेरक धार्मिक राजा, राजमंत्री, गुरु या श्रद्धालु श्रावक हैं। अमरचन्द्र, बालचन्द्र, उदयप्रभ, माणिक्यचन्द्र और नयचन्द्र आदि कवियोंकी राजदरबारमें पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। हेमचन्द्र सूरिकी जयसिंह कुमारपालकी राजसभामें अच्छी प्रतिष्ठा थी। इन्होंने अपने कुमारपाल चरितमें तत्कालीन गुजरातका राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास प्रामाणिक रूपसे निबद्ध किया है। नयचन्द्र सूरि ग्वालियर नरेश वीरमदेव तथा कवि गुर्जरेश्वर वीर-धवलके महामात्य वस्तुपालके विद्वन्मंडलमें सम्मिलित थे।

हेमचन्द्रके पश्चात् ऐतिहासिक काव्योंमें सर्वानन्दका 'जगडूचरित'[1] प्रसिद्ध है। जगडू-शाहने वि० सं० १३१२-१५ के भीषण दुर्भिक्षमें भूखसे मरते हुए प्राणियोंको बचाया था। इस दुर्भिक्षमें बीसलदेव जैसे राजाओंके पास भी अन्न नहीं था। यह काव्य सात सर्गोंमें विभक्त है। इस काव्यमें निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य समाहित हैं।

(१) विक्रम संवत् १३१२-१३१५ में गुजरातमें भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिसमें प्रजा भूखसे पीड़ित थी। जगडूशाहने अन्न द्वारा प्रजाकी रक्षा की थी। इसने अणहिलपुरके शासक लवण प्रसादसे सैनिक सहायता प्राप्तकर दुर्गका निर्माण कराया था और इस दुर्गको देश-विदेशसे धान्य संग्रह कर भर दिया था। दुर्भिक्षके समय, गुजरात, मालवा, सिन्ध, दिल्ली और काशीके नरेशोंको प्रजा पालनके लिये अन्न दिया था।

(२) जगडूशाहके समयमें गुजरातमें बीसलदेव, मालवामें मदनवर्मा और काशीमें प्रताप सिंहका शासन था।

(३) उन दिनों गुजरातमें समुद्री व्यापार उन्नत था। भारतीय जलयान समुद्र पार देशोंमें जाते थे। बीसलदेवके दरबारमें सोमेश्वर आदि कवि रहते थे।

वि० सं० १४२२ के लगभग जयसिंह सूरिने 'कुमारभूपालचरित'[2] नामक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखा है। इस काव्यमें निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं—

(१) कुमारपालकी वंश परम्परा एवं हेमचन्द्रसूरिकी गुरु परम्परा

(२) मूलराजसे लेकर अजयपाल तक गुजरातके राजाओंका क्रमिक विवरण

(३) सिद्धराज जयसिंहका निस्संतानत्व तथा अनेक विरोधके पश्चात् भी कुमारपाल का गुर्जरेश्वर होना। आरम्भमें कुमारपाल शैव धर्मानुयायी था। पश्चात् उसका जैन होना वर्णित है।

(४) उदयन और वाग्भट क्रमशः कुमारपालके महामात्य और अमात्य थे।

(५) जाबालपुर, अजमेर, कुरु और मालवोंका कुमारपाल द्वारा प्रभावित होना एवं आभीर, सौराष्ट्र, कच्छ, पंचनद और मूलस्थानके राजाओंको पराजित करना। अजमेरके शासक अर्णराजका युद्धमें पराजित होना। मेढ़तापर आक्रमण एवं पल्लीकोटको जीतना।

(६) सोमेश्वरका जीर्णोद्धार कराना, सोमनाथकी यात्रा और साथमें हेमचन्द्राचार्यका रहना। वाग्भट द्वारा शत्रुञ्जय तीर्थका पुनरुद्धार करना।

---

१. आत्मानन्द जैन सभा, अम्बाला सिटी, द्वारा सन् १९२५ ई०में प्रकाशित

२. क्षान्तिविजयगणि, बम्बई २६, तिथि अनंकित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(७) वि० सं० १२२९ में हेमचन्द्रकी मृत्यु, अनन्तर एक वर्षके बाद वि० सं० १२३० में कुमारपालकी मृत्युका होना और अजयपालका उत्तराधिकारी होना।

वि० सं० १४५० के लगभग नयचन्द्रसूरिने 'हम्मीर'[1] महाकाव्यकी रचना की है। ऐतिहासिक तथ्योंके साथ काव्य कलाकी दृष्टिसे भी यह उत्तम काव्य है। वि० सं० १३५७ के श्रावणमासमें रणस्तम्भपुरका युद्ध अलाउद्दीन खिलजीने जीता था और शरणागत वत्सल हम्मीरदेव उसमें वीरता पूर्वक लड़ते-लड़ते काम आया था। इसी ऐतिहासिक घटनाको लेकर इस महाकाव्यकी रचना १४ सर्गोंमें हुई है। इस काव्यमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य निहित हैं—

(१) चौहान वंशावली—यह वंशावली हम्मीर महाकाव्यके अतिरिक्त (१) प्रवन्ध चतुर्विंशति (२) कर्नल टॉड द्वारा संग्रहीत (३) प्राचीन राजवंश भाग १ में प्रकाशित और (४) पृथ्वीराजविजयमें भी उपलब्ध है। 'हम्मीर' काव्यमें चाहमानको इस वंशका आदि पुरुष माना है और इसे सूर्य पुरुष कहा है। अतः नयचन्द्र सूरिके अनुसार चाहमान सूर्यवंशकी शाखासे ही सम्बद्ध है। यह नाम सभी वंशावलियोंमें पाया जाता है।

(२) पृथ्वीराज विजयसे ज्ञात होता है कि वासुदेव अहिच्छत्रसे शाकम्भरी (साँभर) में चौहान वंशकी राजधानी लाये थे और शाकम्भरीके नामसे ही चौहान शाकम्भरी सूर कहलाये। प्रबन्ध चतुर्विंशतिमें भी यह नाम मिलता है। महाकाव्यमें आये हुए नरदेव नामकी पुष्टि किसी भी अन्य प्रमाणसे नहीं होती है। सामन्त सिंह, जयपाल या अजयपाल, गूयक, नन्दन और वप्रराज नाम पृथ्वीराज विजयसे भी पुष्ट होते हैं। जयपाल या अजयपाल चक्रीने अजमेर वसाया था। यह वृद्धावस्थामें वानप्रस्थी होकर अजमेरके पासकी तराईमें रहता था। इस महाकाव्यमें वर्णित हम्मीर वंशावली ऐतिहासिक मान्यओंसे पुष्ट होती है।

(३) हम्मीर महाकाव्यमें शाहबुद्दीन गोरी और पृथ्वीराजके साथ युद्धोंका वर्णन आया है। सन् ११८६ से ११९२ ई० के बीच गोरीकी सेनाको पृथ्वीराजने सात बार भगाया था। हम्मीर महाकाव्यके अनुसार पृथ्वीराज और शाहबुद्दीनका प्रथम युद्ध तब हुआ था, जब वह मुलतानको अपनी राजधानी बना चुका था। अतः यह घटना हिज़री सन् ५७२ (ई० सन् ११७६-७७ ई०) की या उससे कुछ पीछेकी है। फिरिश्ताके अनुसार ५८७ हिज़री सन् (११९१ ई०) में भारत विजयकी आकांक्षासे शाहबुद्दीनका पृथ्वीराजपर आक्रमण करनेका उल्लेख आया है। यह लड़ाई सरस्वतीके मैदानमें हुई थी, जिसमें शाहनुद्दीन एक घातक चोट खाकर लड़ाईके मैदानसे भागा था। फिरिश्ताके अनुसार उसने पृथ्वीराजपर दूसरा आक्रमण किया था।

हम्मीरकी दिग्विजयका विषय ऐतिहासिक दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। भौगोलिक नामोंमें सबसे प्रथम भीमरसपुरका[2] नाम आता है। यह नगर अर्जुन भूपतिकी राजधानी था। इतिहासके अनुसार यह अर्जुन बघेलावंशका अर्जुन हो सकता है। इसका एक अभिलेख संवत्

---

१. नीलकण्ठ जनार्दन कीर्तन द्वारा सम्पादित और एजुकेशन सोसाइटी प्रेस, बम्बई द्वारा १८७९ ई० में प्रकाशित।

२. हम्मीर महाकाव्य, ९।१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३२० (ई० सन् १२६३) का प्रकाशित हो चुका[1] है। इससे अनुमान होता है कि अर्जुनदेवने इसी समय तक राज्य किया होगा। हम्मीरदेवका राज्याभिषेक वि० सं० १३३९ में हुआ और उसने वि० सं० १३४३ के आस-पास दिग्विजय-यात्रा आरम्भ की थी। इस काव्यके अनुसार अर्जुनदेवने भीमरसपुरमें आश्रय लिया था। हम्मीरदेवने उसे वहाँ परास्त किया एवं माण्डलगढ़से कर लेकर आगे बढ़ा। यहाँ यह अनुमान भी लगाया जा सकता है कि अर्जुनदेवकी वास्तविक राजधानी माण्डलगढ़ थी। माण्डलगढ़से चलकर हम्मीरदेवने प्रसिद्ध धारा नगरीपर आक्रमण किया। वहाँ इस समय भोज (द्वितीय) शासन कर रहा था। इस मालवा विजयके प्रसंगमें अवन्ति, शिप्रा और रेवा नदियोंका नामोल्लेख पाया जाता है। इस दिग्वजयके चित्रकूट (चित्तौड़), बर्धनपुर (वधनौर या बेदनौर), महाराष्ट्र, खण्डिल (खण्डोला) और ककराल (काँकरौली) ऐसे स्थान हैं, जो राजनीतिक भूगोलकी दृष्टिसे मेवाड़ राज्यमें ही गिने जाते रहे हैं। मेवाड़से चलकर अर्बुदेश्वर अथवा आबूपतिसे हम्मीरदेवका युद्ध हुआ। इस समय आबूका परमार राज्य निर्बल होता जा रहा था। चंगा और चम्पा दो स्थान और हैं जिनपर हम्मीरदेवने दिग्विजयके प्रसंगमें आक्रमण किया था। प्रथम वर्धनपुर (बघनौर या बेदनौर) से अजमेर और पुष्कर के मध्यमें और दूसरा खण्डेलासे काँकरौलको जाते समय मार्गमें पड़ा था।

हम्मीरदेवके स्वतन्त्र सत्ताधीश हो जानेका उल्लेख फारसी इतिहासोंमें भी पाया जाता है। जियाउद्दीन बरनीने अपने इतिहासमें लिखा—रुकिमा रणथंभौर भी जो राजधानी दिल्लीके निकट है, इस समय (सन् हिजरी ६९८) राय पिथौरा (पृथ्वीराज) के नवासे हम्मीरदेवने ले लिया था और वह वहाँका मुकद्दम बन बैठा[2] था।

महाकाव्यके अनुसार रणथंभौरका युद्ध सं० १६५८ श्रावण शुक्ला सप्तमी रविवारको समाप्त हुआ[3] था। इस युद्धमें निम्नांकित लड़ाइयाँ हुईं।

(१) उल्लू खाँ (उलग खाँ) की सर्वप्रथम चढ़ाई, जिसमें अद्रिघट्टिकामें भीम सिंह मारा गया।[4]

(२) उल्लू खाँ की दूसरी चढ़ाई, जिसमें भोजदेवकी सन्मतिसे अलाउद्दीनने उसे एक लाख सवार देकर भेजा था।[5] यह लड़ाई हिन्दौनकी घाटीमें हुई और उल्लू खाँ फिर हारकर भागा।

(३) भोजको भड़काने और उल्लू खाँके हारकर दिल्ली पहुँचनेपर नुसरत खाँ और उल्लू खाँको संयुक्त सेना सहित अलाउद्दीनने बड़ी तैयारीसे भेजा। तीन मासके युद्धमें[6] नुसरत खाँ मारा गया।

---

१. Indian Anti. Vol. XI P. 343 तथा Bhavanagar Inseription P. 224.
२. हम्मीर महाकाव्य शीर्षक निबन्ध—ना० प्र० प० काशी, भाग १३, अंक ३, पृ० ३१९।
३. हम्मीर काव्य १३।१९६
४. हम्मीर महाकाव्य ९ सर्ग
५. वही, १०।३१
६. वही ११।१००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(४) अलाउद्दीन स्वयं रणस्तम्भपुर पहुँचा। दो दिनके धनघोर युद्धमें ८५ सहस्र यवन मारे गये। वर्षाऋतु आनेके कारण युद्ध बन्द रहा। इसी बीच रतिपाल और रणमल्लको उसने विश्वासघातके लिये तत्पर कर लिया और अन्तिम युद्ध होनेपर हम्मीरदेव मारा गया।[1]

इस प्रकार हम्मीर महाकाव्यसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य निःसृत होते हैं। १३वीं शताब्दीमें एक अर्द्ध ऐतिहासिक काव्य उदयप्रभ सूरिकृत धर्माभ्युदय[2] काव्य है। इस काव्यमें १५ सर्ग हैं। ऐतिहासिकताकी अपेक्षा पौराणिकता ही अधिक मुखरित हुई है। वस्तुपाल महामात्य द्वारा की गयी ऐतिहासिक संघ यात्राका वर्णन इस काव्यमें किया गया है। इतिहासकी दृष्टिसे प्रथम और अन्तिम सर्ग ही महत्त्वपूर्ण हैं।

सन्धान काव्य

संस्कृत भाषामें एक ही वस्तुके अनेक पर्यायवाची शब्द और एक ही शब्दके अनेक अर्थ पाये जाते हैं। इस विशिष्टताके कारण संस्कृतके जैन कवियोंने द्विसन्धान, चतुःसन्धान, पञ्चसन्धान, एवं चतुर्विंशति सन्धान काव्य रचे हैं। जैन काव्य ज़गत्में अनेकार्थ काव्योंका प्रवेश ईसाकी ५वीं ६वीं शतीसे हुआ है। वसुदेव हिण्डीकी 'चत्तारीअट्ठ गाथा'के चौदह अर्थ किये गये हैं। ८वीं शताब्दीमें महाकवि धनञ्जयका 'द्विसन्धान[3] महाकाव्य' सन्धानविधाका उपलब्ध सर्वप्रथम जैन महाकाव्य है। यह काव्य १८ सर्गोंमें विभक्त है। इसका दूसरा नाम 'राघवपाण्डवीय' भी है। एक साथ रामायण और महाभारतकी कथा कुशलतापूर्वक निबद्ध की गयी है। प्रत्येक श्लोकके दो-दो अर्थ हैं। प्रथम अर्थसे 'रामचरित' निकलता है और दूसरे अर्थसे कृष्णचरित। कविने सन्धान विधामें भी काव्य तत्त्वोंका समावेश आवश्यक माना है। उनका अभिमत है कि नवरस युक्त शब्दालंकार और अर्थालंकारसे मण्डित नवीन प्रयोगोंसे विभूषित एवं उपजाति आदि वृत्तोंसे रचित काव्य पुरातन इतिवृत्तके रहनेपर भी सहृदयोंका कण्ठहार[4] होता है।

इस काव्यमें शाब्दी क्रीड़ाके रहनेपर भी रसका वैशिष्ट्य वर्त्तमान है। महत्कार्य और महत् उद्देश्यका निर्वाह भी किया गया है। कविने किसी भी अस्वभाविक घटनाको स्थान नहीं दिया है। विवाह, कुमार क्रीड़ा, युवराज्यावस्था, पारिवारिक कलह, दासियोंकी वाचालता आदिका चित्रण किया है। रस भाव एवं अलंकार योजनाकी दृष्टिसे भी यह काव्य सफल है।

धनञ्जयके पश्चात् सान्ध्यकर नन्दीका 'रामचरितम्'[5] काव्य आता है। इस काव्यकी रचना ई० सन् १०८४–११३० ई० के मध्य हुई है। इस काव्यमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र

---

१. हम्मीर महाकाव्य १३वाँ सर्ग
२. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ४ बम्बई १९४९
३. पण्डित शिवदत्त शर्मा द्वारा सम्पादित काव्यमाला, ग्रन्थांक ९४, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १८५५ ई०
४. द्विसन्धान काव्य १।३-५
५. हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित कलकत्ता १९१० ई०, इसका नवीन संस्करण डा० रमेशचन्द्र मजुमदारके सम्पादकत्वमें वारेन्द्र रिसर्च सोसाइटीसे १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पालवंशी नरेश रामपालका वर्णन श्लेष द्वारा बड़ी मार्मिकताके साथ किया गया है। काव्यत्वकी दृष्टिसे भी यह सफल काव्य है।

वि० सं० १०८० में सुराचार्यने 'नाभेयनेमिद्विसन्धान' नामक काव्यकी रचना की है। इस काव्यमें तीर्थंकर ऋषभदेव और नेमिनाथका श्लेषमय जीवनचरित वर्णित है। बृहद्गच्छिय हेमचन्द्र सूरिका 'नाभेयनेमिद्विसन्धान' नामक काव्य भी प्राप्त है। कहा जाता है कि इसका संशोधन कवि चक्रवर्ती श्रीपालने किया है। इस काव्यमें भी नेमि और ऋषभकी कथाएँ समानान्तर रूपसे वर्णित हैं। काव्यकी पाण्डुलिपियाँ बड़ौदा और पाटन भण्डारमें सुरक्षित हैं।

११वीं शतीमें शान्तिराज कविने पञ्चसन्धान नामक महाकाव्यकी रचना की है। इस काव्यमें पाँच तीर्थङ्करोंकी कथा एक साथ चलती है। रसभाव योजना और अलंकार योजनाकी दृष्टिसे भी यह काव्य ग्राह्य है। इसकी कन्नड़ लिपिमें लिखित एक पाण्डुलिपि जैन सिद्धान्त भवन आरामें है।

सन्धान विषयक काव्योंमें सप्तसंधान महाकाव्य कलाकी दृष्टिसे सहृदय पाठकोंका ध्यान सहजमें ही अपनी ओर आकर्षित करता है। इस महाकाव्यमें ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर, रामचन्द्र और श्रीकृष्ण इन सात महापुरुषोंके चरित एक साथ निबद्ध हैं। कथावस्तु नव सर्गोंमें विभक्त है। कविने दृश्य चित्रण और वस्तु व्यापार वर्णनमें काव्य कलाका परिचय दिया है। रचयिता कवि मेघविजय उपाध्याय काव्य, व्याकरण और ज्योतिष और तर्कशास्त्रके पण्डित थे। मेघविजय तपागच्छके आचार्य थे। इनके गुरुका नाम कृपाविजय था। इनकी गुरु परम्परामें हरिविजय सूरि, कनकविजय, शीलविजय, कमलविजय, सिद्धिविजय और कृपाविजयके नाम मिलते हैं। कविका समय १८वीं शताब्दीका प्रारम्भिक अंश है।

इसी शताब्दीमें हरिदत्त सूरिने 'राघवनैषधीय'[1] नामक काव्य दो सर्गोंका लिखा है। दिगम्बर जैन ग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थसे सूचना प्राप्त होती है कि मनोहर और शोभनने चतुस्संधान काव्य लिखे हैं। इसी ग्रन्थसे जगन्नाथ रचित सप्त सन्धान काव्यकी सूचना भी प्राप्त होती है। जगन्नाथ कविका चतुर्विंशति सन्धान काव्य भी प्राप्त है। इस काव्यमें एक ही श्लोकके २४ अर्थ किये गये हैं।

इन काव्योंके अतिरिक्तसन्धान विषयक कतिपय स्तोत्र भी प्राप्त हैं। श्री अगरचन्द नाहटाने[2] अनेकार्थविषयक स्तोत्रोंमें ज्ञानसागर सूरि रचित 'नवखण्ड., 'पार्श्वस्तव', सोमतिलक सूरि रचित विविधार्थमय सर्वज्ञ स्तोत्र, रत्नशेखर सूरि रचित नवग्रह गर्भित पार्श्वस्तवन, मेघ विजय रचित पञ्चतीर्थीस्तुति एवं समयसुन्दर रचित द्वयर्थकर्णपार्श्वस्तव आदिका नामोल्लेख किया है।

एकार्थक काव्य

जैन कवियोंने एकार्थक काव्योंकी रचनाकर संस्कृत काव्यको समृद्ध किया है। एकार्थक काव्योंमें पूर्ण जीवन वृत्त तो अंकित रहता है, कथा भी सानुबन्ध होती है, सर्गोंका विभाजन

---

१. काव्यमाला ग्रन्थांक ५७, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सन् १९२६

२. जैनसिद्धान्त भास्कर आरा, भाग ८ किरण १, पृ० २४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी रहता है, पर वस्तु व्यापारोंकी योजना महाकाव्यके समान नहीं हो पाती। काव्यके मूलतः दो तत्त्व होते हैं—(१) वस्तुवर्णनोंकी सम्पूर्णता और (२) कथावस्तुका विस्तार। महाकाव्यमें कथाप्रवाह विविध भंगिमाओंके साथ मोड़ लेता आगे बढ़ता है, पर एकार्थ काव्यमें कथा प्रवाहमें मोड़ कम होते हैं, वर्णन भी चमत्कार पूर्ण नहीं बन पाते हैं। सन्ध्या, ऊषा, सूर्योदय, चन्द्रोदय, वन, पर्वत, समुद्र, नदी, नगर, ऋतुवर्णन, जलक्रीड़ा, दोलाक्रीड़ा, पुष्पावचय आदि नाम मात्रको ही आते हैं। कवि कथाका विस्तार करता जाता है, पर उसमें किसी भी प्रकारकी विविधता उत्पन्न नहीं हो पाती है। मर्मस्पर्शी स्थलोंका भी प्रायः अभाव रहता है। एकाध घटना ही रससिक्त कर पाती है। अधिकांश कथानक केवल कथाका ही स्वाद देकर समाप्त हो जाते हैं। मस्तिष्कके लिए चिन्तनकी सामग्री नहीं छोड़ते हैं। एकार्थ काव्योंमें वादीभसिंहका 'छत्रचूड़ामणि'[1] काव्य पहला काव्य है। इस काव्यमें जीवक या जीवन्धरकी कथा अंकित है। कथावस्तु ग्यारह लम्ब या लम्भोंमें विभक्त है। लम्भशब्दका अर्थ उपलब्धि या प्राप्ति है। एक प्राप्ति या उपलब्धिको एक लम्भ—लम्बमें निबद्ध किया जाता है। लम्बका अर्थ लटकाना भी है। कथावस्तुके जितने खण्डका जीवनके एक अंशके साथ सम्बन्ध रहता है, वह एक लम्भ या लम्ब है। वस्तुतः लम्ब शब्द सर्गका ही पर्यायवाची है।

छत्रचूड़ामणिमें कथावस्तुकी जितनी रमणीयता और व्यापकता है उतने ही अनुपातमें काव्य गुण भी इस काव्यमें निहित हैं। जीवकके मर्मोंका उद्‌घाटन अनेक स्थलोंपर हुआ है। जीवन्धरको जब हेमाभा नगरीमें अपनी माताके जीवित रहनेका समाचार प्राप्त होता है, तो वह प्रसन्नतासे भर जाता है। कविने इस सन्दर्भमें मातृ-पुत्र वात्सल्यका सुन्दर चित्रण किया है।[2] कविका समय विभिन्न विचारधाराओंके मन्थनसे नवम शती आता है।

धनेश्वर सूरिने पन्द्रह सर्गोंमें 'शत्रुञ्जय[3] माहात्म्य' नामक काव्य लिखा है। यह काव्य वैदिक परम्पराकी पुराण शैलीपर लिखा गया है और घटनाओंका वर्णन भविष्यत कालके रूपमें किया गया है। इस काव्यका नायक कोई व्यक्ति नहीं है। कविने शत्रुञ्जयकी महत्ता प्रकट करनेके लिये तीर्थोद्धारकका चरित अंकित किया है। उक्त तीर्थका उद्धार करने वाले १८ राजाओंका वर्णन आया है। तीर्थ शत्रुञ्जयका विकास, पुनरुद्धार और समय-समयपर भक्तों द्वारा किये गये कार्योंका चित्रण काव्यके परिप्रेक्ष्यमें इस प्रकार किया गया है, जिससे शत्रुञ्जयमें एकार्थ काव्यके गुण घटित हो जाते हैं। समस्त काव्यमें प्रायः अनुष्टुप् छन्द प्रयुक्त है। सर्गान्तिमें छन्द परिवर्तन भी हुआ है तथा उपजाति, वंशस्थ शार्दूलविक्रीड़ित जैसे छन्द प्रयुक्त हैं। कथावस्तुको सरस बनानेके लिये बीच-बीचमें नीति श्लोक भी प्रयुक्त हैं।

इस काव्यके रचयिता धनेश्वरसूरि चन्द्रगच्छके आचार्य हैं। ये बड़े तपस्वी और लब्धियोंसे युक्त थे। इन्होंने बलभीपुरके शिलादित्यको सम्बोधित किया था। इस शिलादित्य ने

---

१. सम्पादक टी० एस० कुक्कूस्वामी शास्त्री, प्रकाशक सरस्वती विलास सिरीज, सन् १९०३ ई०

२. छत्रचूड़ामणि ८।४८-५०

३. शोहोर निवासी, प्रभुदासात्मज, पोपट लाल द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, वि० सं १९९५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपने राज्यसे बौद्धोंको निर्वासितकर जैन चैत्यालयोंकी स्थापना की थी। कविने इन्हें यदुवंशका भूषण कहा है। इस काव्यकी प्रशस्तिसे अवगत होता है कि वि० सं० ४७७ में कविने शत्रुञ्जय माहात्म्यको शिलादित्य नरेशको सुनाया[२] है। इस काव्यमें तीर्थोद्धारकके रूपमें अनेक प्राचीन राजाओंके साथ भविष्यरूपमें कुमारपाल, वाहड, वस्तुपाल और समरसिंहका भी उल्लेख आया[३] है। श्री कनकसूरिने वि० सं० १३९३ में नाभिनन्दन जिनोद्धार प्रबन्धकी रचना की है। उसमें मुख्यरूपसे समरसिंह द्वारा शत्रुञ्जयके उद्धार करनेका वर्णन है। इस प्रबन्धमें यह भी बताया गया है कि भरत, सगर, पाण्डव, जावड और वाहड द्वारा शत्रुञ्जयके ऊपर मन्दिरोंका जीर्णोद्धार कराया गया है। प्रभावकचरितमें भी इस घटनाका उल्लेख है। समरसिंहने इस क्षेत्रका जीर्णोद्धार कराकर आदि जिनकी वि० सं० १३७१ में माघ शुक्ला चतुर्दशीको उकेश-गच्छीय सिद्धसेनसूरि द्वारा प्रतिष्ठा करायी थी। अतएव शत्रुञ्जय माहात्म्यके रचयिता धनेश्वरसूरिका समय कुमारपाल, वाहड़, वस्तुपाल और समरसिंहके पश्चात् होना चाहिए। चन्द्र-गच्छमें चन्द्रप्रभसूरिके शिष्य धनेश्वरका वि० सं० १२वीं शतीके अन्त और १३वीं शतीके मध्यमें उल्लेख आता है। अतः धनेश्वरसूरिका समय वि० सं० की १३वीं शताब्दी है। ई० सन्‌की १४वीं शताब्दीमें भट्टारक सकलकीर्तिने आठ सर्गोंमें सुदर्शन चरित नामक काव्यकी रचना की। इसके द्वारा रचित अन्य एकार्थ काव्योंमें शान्तिनाथ चरित, मल्लिनाथ चरित, यशोधर चरित, धन्यकुमार चरित, सुकुमाल चरित, जम्बूस्वामी चरित और श्रीपाल चरित भी अच्छे काव्य हैं। इस काव्यमें वीर, शान्त और श्रृंगार इन तीनों रसोंकी त्रिवेणी उपलब्ध होती है।

कवि जयशेखर सूरिने महाकवि कालिदास द्वारा विरचित कुमारसम्भव काव्यसे प्रेरणा ग्रहणकर जैन 'कुमारसम्भवं'[४] काव्यकी रचना की। इस काव्यमें ११ सर्ग हैं और कुमार भरत की उत्पत्तिकी कथा वर्णित है। इसी कारण इसका नाम कुमारसम्भव रखा गया है। काव्यकी भाषा प्रौढ़ है और शैली परिमार्जित है। देश, नगर, वन, पर्वत, ऋतु, सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदयका वर्णन, उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक अलंकारकी भूमिकामें सम्पन्न हुआ है। कथा-नकपर पौराणिकताका बोझ है। कविने ऋषभदेवके समस्त कृत्य इन्द्रदेव और देवियों द्वारा ही सम्पन्न कराये हैं। जिन स्थानोंपर मानवताका विकास दिखलाना आवश्यक था, उन स्थानों पर देवत्वका आरोप हो जानेसे बौद्धिक भोज्य नहीं मिल पाता है। कविता निस्सन्देह मनो-हारिणी और पाण्डित्यपूर्ण है। रचयिता कवि चन्द्रशेखर अंचल गच्छीय महेन्द्र सूरिके शिष्य थे। इस गच्छके संस्थापक आर्यरक्षित सूर्य थे। इनकी १०वीं पीढ़ीमें महेन्द्रप्रभ सूरि हुए। इनके तीन शिष्य थे—मुनिशेखरसूरि, जयशेखरसूरि और मेरुतुङ्गसूरि। जैन कुमारसम्भवकी प्रशस्तिमें उसका रचनाकाल वि० सं० १४८३ दिया गया है। अतएव कविका समय वि० की १५वीं शताब्दी है।

---

१. शत्रुञ्जय माहात्म्य, १५।१८४-१८५।

२. वही १५।१८७।

३. वही १५।१८८।

४. जैन पुस्तकोद्धार संस्था, गोपीपुरा सूरत, सन् १९४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकार्थ काव्योंके विकासमें १५वीं, १६वीं और १७वीं शताब्दीका महत्त्वपूर्ण स्थान है। १५वीं शताब्दीमें सकलकीर्तिके समान ही ब्रह्म जिनदासने रामचरित और हनुमतचरितकी रचना की है। १६वीं शतीमें ब्रह्म नेमिदत्तने सुदर्शन चरित, श्रीपाल चरित, धन्यकुमार चरित और प्रीतिंकर महामुनि चरितका प्रणयन किया है। इस शताब्दीमें शुभचन्द्र द्वितीय द्वारा चन्द्रप्रभ चरित, पद्मनाभ चरित, जीवन्धर चरित, श्रेणिक चरित और करकण्डु चरितकी रचना सम्पन्न हुई है। शुभचन्द्र द्वितीय मूलसंघ बलात्कारगणकी ईडर शाखाके भट्टारक थे। ये विजयकीर्तिके शिष्य और ज्ञानभूषणके प्रशिष्य थे।

ई० सन् की १७वीं शतीमें मेघविजय उपाध्यायने 'शान्तिनाथचरित', 'देवानन्द' और 'दिग्विजय' नामक काव्यकी रचना की है। शान्तिनाथ[1] चरित नैषध महाकाव्यके प्रथम सर्गके सम्पूर्ण श्लोकोंकी समस्या पूर्तिके रूपमें लिखा गया है। इस काव्यके प्रथम चरणमें नैषधके प्रथम चरणको, द्वितीयमें द्वितीय चरणको, तृतीयमें तृतीय चरणको और चतुर्थमें चतुर्थ पादको नियोजितकर प्रथम सर्गको पूर्ण समाविष्ट कर दिया है। इसमें छः सर्ग हैं। मेरुविजय शिष्यकी प्रेरणासे इसका सृजन किया गया है।

देवानन्दमें[2] माघ काव्यके प्रत्येक श्लोकका अन्तिम चरण लेकर और तीन पाद स्वयं नये रचकर विजयदेव सूरिके चरितको निबद्ध किया है। इस काव्यमें ७ सर्ग हैं। देवानन्दमें कहीं-कहीं माघके प्रथम, द्वितीय और तृतीय चरण भी उपयोगमे लाये गये हैं। इस काव्यमें विजयदेव सूरिको नायक मानकर उनका जीवन चरित लिखा गया है। इन्होंने गुजरात और मारवाड़में विहार किया तथा रैवतक तीर्थका दर्शन किया। तीर्थोंकी वन्दना करनेके उपरान्त वि० सं० १७१३, आषाढ़ शुक्ला एकादशीको इनका स्वर्गवास हो गया। समस्या-पूर्त्यात्मक होने पर भी इस काव्यमें रस-भावादिकका पूर्णतया समावेश हुआ है।

दिग्विजय[3] काव्यमें विजयप्रभ सूरिका जीवन चरित निबद्ध है। इसमें १३ सर्ग हैं। विजयप्रभ सूरिने मारवाड़, सौराष्ट्र, गुजरात, मेवाड़ आदि देशोंमें विहारकर धर्मोपदेश दिया था, जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठाएँ करायी थीं। प्रसंगवश देवसूरिका भी चरित आया है। शत्रुञ्जय तीर्थकी यात्रा भी की थी। इस काव्यमें कथावस्तुमें विस्तार और गाम्भीर्यका अभाव है और पौराणिक और धार्मिक मान्यताओंका सुन्दर विश्लेषण हुआ है। अलंकृत और प्रौढ़ कवित्वके रहनेपर भी कथावस्तुमें प्रवाहका न रहना खटकता है। इस प्रकार एकार्थ काव्योंकी परम्परा चलती रही है।

सन्देश या दूत काव्य

सन्देश काव्योंको दूत काव्य भी कहा गया है। विप्रलम्भ शृंगार तथा विरहकी भूमिको लेकर इस कोटिके काव्य लिखे गये हैं। जैन कवियोंने सन्देश काव्योंमें शृंगार रसके वातावरणको शान्तरसकी ओर मोड़कर नयी काव्य परम्पराको नयी दिशा प्रदान की है। त्याग

१. जैन विविध साहित्य शास्त्र माला द्वारा प्रकाशित।

२. सिंघी जैन ग्रन्थमाला अहमदाबाद–कलकत्ता, सन् १९३७ में प्रकाशित।

३. भारतीय विद्याभवन बम्बई सन् १९४५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और संयमको जीवनका पाथेय समझनेवाले कवियोंने प्रेम और श्रृंगार प्रधान काव्य विधामें संस्कृतिके उच्च तत्त्वोंका समावेश किया है। सन्देश प्रधान काव्योंमें पार्श्वनाथ और नेमिनाथ जैसे महापुरुषोंके जीवन-वृत्तोंका अंकन किया गया है। कतिपय जैन कवियोंने मेघदूतके छन्दोंके अन्तिम या प्रथम पदको लेकर समस्या पूर्ति की है। जैन कवियों द्वारा पार्श्वाभ्युदयसे सन्देश काव्योंकी परम्पराका आरम्भ माना जा सकता है। जैन सन्देश काव्योंमें साहित्यिक सौन्दर्यके साथ दार्शनिक सिद्धान्त भी उपलब्ध होते हैं। विषयके अनुसार मन और शीलको दूत नियुक्त करना और शीतलता तथा शान्तिका वातावरण उत्पन्न कर देना सर्वथा नवीन प्रयोग है।

नवमी शताब्दीमें जिनसेन द्वितीयने पार्श्वभ्युदय काव्यकी रचना की। इस काव्यमें चार सर्ग हैं। भाषा प्रौढ़ है और मेघदूतके समान ही मन्दाक्रान्ता छन्दका प्रयोग किया गया है। काव्य शैलीकी जटिलताके कारण कथावस्तु सहसा पाठकोंके समक्ष नहीं आ पाती है। इस काव्यमें पार्श्वनाथका जीवन-वृत्त अंकित है। समस्या पूर्त्यात्मक होनेपर भी मौलिकताकी कमी नहीं है। कालिदासके मूल भावोंको पल्लवित तो किया ही है, साथ ही प्रसंगवश सुन्दर सूक्तियोंकी योजनाकर रमणीयता उत्पन्न की है।

कवि विक्रमने मेघदूतके चतुर्थ सर्गकी समस्या पूर्तिके रूपमें नेमिदूत काव्यकी रचना की है। इस काव्यमें कुल १२६ पद्य हैं और तीर्थंकर नेमिनाथका चरित वर्णित है। इस काव्यमें केवल नायिकाकी विरहावस्थाका चित्रण पाया जाता है और वह संसारसे विरक्त नायकको अपनी ओर अनुरक्त करनेका पूरा प्रयास करती है। काव्यमें वृद्ध ब्राह्मण अवश्य दूतके रूपमें आता है, पर कवि ने उससे दूतका कोई भी कार्य नहीं लिया है। राजीमती स्वयं अनुनय-विनय करती है और उसकी सखी राजीमतीकी विरह-वेदना एवं मानसिक अवस्थाका निवेदन करती है। इस प्रकार कविने नायिकाके शील और लज्जाका सुन्दर ढंगसे निर्वाह किया है। इसमें विप्रलम्भ श्रृंगार और शान्तरसका अपूर्व गंगा-यमुनी संगम हुआ है। काव्यका आरम्भ विरहसे होता है पर उसकी समाप्ति शान्तरसमें होती है।

कवि मेरुतुङ्गने महाकवि कालिदासके मेघदूतके अनुकरणपर जैन मेघदूत[2] काव्यकी रचना की है। यह स्वतन्त्र रचना है, समस्या-पूर्त्यात्मक नहीं है। काव्य चार सर्गोंमें विभक्त है और १९६ पद्य हैं। इस काव्यमें तीर्थंकर नेमिनाथका चरित अंकित हैं। आषाढ़में मेघको दिखते ही वियोग-व्यथासे पीड़ित राजीमती अत्यन्त खिन्न हो जाती है और वह अपनी विरह-व्यथाको मेघ द्वारा अपने प्रियके पास प्रेषित करती है।

काव्यके रचयिता मेरुतुङ्ग अंचलगच्छीय महेन्द्रप्रभ सूरिके शिष्य हैं। इनका जन्म वि० सं० १४०३ में हुआ था। इनका जन्म-नाम वस्तिक या वस्तुपाल था। दीक्षाके पश्चात् मेरुतुंग नाम रखा गया। वि० सं० १४२६ में इन्हें सूरि पद और वि० सं० १४४५ फाल्गुन कृष्णा एकादशीको इन्हें गच्छ नायकका पद प्राप्त हुआ।

---

१. कोटा प्रकाशन, वि० सं० २००५।
२. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर सन् १९२४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्र सुन्दर गणिने मेघदूतके पद्योंके अन्तिम चरणोंको लेकर समस्या पूर्त्तिके रूपमें शीलदूत[1]की रचना की है। यह काव्य वि० सं० १४८७ में लिखा गया है। शील जैसे भावको दूत बनाना कविकी मौलिक प्रतिभाका परिचायक है। इस काव्यमें १३१ पद्य हैं। नायक स्थूलभद्र अपनी प्रेयमी कोषाको अपने शीलके प्रभावसे प्रभावितकर उसे जैन धर्मभें दीक्षित करता है। इसी आधारपर इस काव्यका नाम शीलदूत रखा गया है। विप्रलम्भ शृंगारकी प्रधानता रहनेपर भो शान्तरस ही है। नायिका अपनी विरह अवस्थाका निवेदन नायकसे करती है, पर नायक अपने त्याग, संयम और शीलके प्रभावसे उसे सांसारिक भोगोंसे विरक्त कर त्याग मार्गपर ले आता है।

वादिचन्द्र सूरिने १७वीं शतीमें पवन[2]दूत काव्यकी रचना की। इस काव्यमें १०१ पद्य हैं तथा यह मन्दाक्रान्ता छन्दमें लिखा गया है। भाषा सरल, सरस और प्रसाद गुण युक्त है। कथावस्तुमें बतलाया है कि उज्जयिनीमें विजय नरेश नामक राजा रहता था। इसकी रानीका नाम तारा था। राजा अपनी रानीसे बहुत प्रेम करता था। एक दिन अशनिवेग नामक एक विद्याधर ताराको हर ले गया। रानीके वियोगसे राजा दुःखी रहने लगा। विरहावस्थामें वह पवनको दूत बनाकर रानीके पास भेजनेका निश्चय करता है। पवन राजाका सन्देश लेकर अशनिवेगके नगरमें पहुँचता है और अशनिवेगके महलमें जाकर ताराको उसके प्रियका संदेश सुनाता है। इस प्रकार काव्यमें पवनको दूत बनाकर प्रेषित किया गया है।

उपर्युक्त सन्देश-काव्योंके अतिरिक्त चेतोदूत[3], जम्बूकवि-कृत, चन्द्रदूत, मेघदूत, समस्या[4]लेख और इन्दुदूत[5] भी संस्कृत भाषामें निबद्ध जैन सन्देश काव्य हैं। चेतोदूतके कर्त्ताका नाम अज्ञात है। इसमें मेघदूतकी समस्यापूर्ति की गयी है। १२९ पद्य हैं। एक शिष्य अपने गुरुके श्रीचरणोंकी कृपाको प्रेयसीके रूपमें मानकर उसके पास चित्तको दूत बनाकर भेजता है। काव्यमें गुरुके यश, विवेक और वैराग्यका यथास्थान वर्णन किया गया है।

इन्दुदूतके रचयिता विनय-विजयगणि हैं। इसमें १३१ पद्य हैं और मन्दाक्रान्ता छन्दका प्रयोग हुआ है। जोधपुरमें चातुर्मास करने वाले विजयगणि अपने गुरु विजय प्रभसूरिके पास चन्द्रमाको दूत बनाकर भेजते हैं।

मेघदूत समस्यालेखके रचयिता मेघविजय हैं। अकबरसे इन्हें जगद्गुरुकी उपाधि प्राप्त हुई थी। इस काव्यमें १३१ पद्य हैं। मेघदूतकी समस्या पूर्ति की गयी है। कविने इस सन्देश काव्यमें अपने गुरु विजयप्रभसूरिके पास मेघ द्वारा कुशल वार्त्ताका सन्देश भेजा है।

लघु काव्य या खण्ड काव्य

लघु काव्य या खण्ड काव्यके अन्तर्गत ऐसे काव्य परिगणित हैं जिनमें कथाका विस्तार छः सर्गोंसे कम है। यद्यपि कवियोंने इस श्रेणीके काव्योंमें भी जन्म-जन्मान्तरके उपाख्यान

---

१. यशोविजय जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, वीर निर्वाण सं० २४३९।
२. हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई, सन् १९१४।
३. जैन आत्मानन्द सभा भावनगर, वि० सं० १९७०।
४. वही।
५. जैन साहित्य वर्धक सभा सिरपुर (पश्चिम खानदेश) सन् १९४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवद्ध किये हैं, पर कथावस्तुमें पूर्ण विस्तार नहीं है। खण्ड काव्य जैसी संक्षिप्त कथावस्तु ही पायी जाती है। इस प्रकारके काव्य जैन कवियों द्वारा अनेक लिखे गये हैं। ११वीं शतीमें वादिराज कविने चार सर्गोंमें यशोधर[1]चरितकी रचना की है। इस काव्यके प्रथम सर्गमें ६२ पद्य, द्वितीयमें ७५, तृतीयमें ८३ और चतुर्थ सर्गमें ७४ पद्य हैं। काव्य-गुणोंकी दृष्टिसे भी यह समृद्ध है। रस-अलंकार एवं उक्ति-वैचित्र्यका भी समावेश है। कथा वस्तुमें मर्मस्पर्शी स्थलोंकी भी योजना है। इसमें खण्ड काव्यसे अधिक लघु काव्यके लक्षण घटित होते हैं।

१५वीं शतीमें चारित्रभूषण या चारित्रसुन्दरगणिने महीपाल चरित नामक पंच सर्गात्मक काव्यकी रचना की है। कथावस्तुका सुन्दर गठन हुआ है और आरम्भसे अन्ततक अन्विति पायी जाती है। कविने महीपाल नामक उज्जैनके राजा नृसिंहके सेवकका जीवन वृत्त अंकित किया है। इस काव्यमें महीपालके जीवनका सुन्दर चित्रण हुआ है। कथावस्तुमें रोमांसके साथ साहस तत्त्वका समावेश किया है। बुद्धि और कलाके द्वारा कोई भी व्यक्ति अपना विकास कर सकता है—यह इस काव्यसे स्पष्ट है। काव्यका नायक महीपाल है और प्रतिनायक अथर्वण है। अन्य लघु काव्योंमें मल्लिषेणका नागकुमार काव्य, जयतिलकका मलयसुन्दरी चरित (१५वीं शती) पद्मसुन्दरका रायमल्लाभ्युदय (१७वीं शती) एवं जगन्नाथ कविका सुषेण चरित (१७वीं शती), इसी श्रेणीके काव्य हैं। इन काव्योंमें सर्गबद्धता, सर्गान्तमें छन्द परिवर्तन, रस निरूपण आदि भी पाये जाते हैं।

सूक्ति काव्य

उपदेश, प्रेम और नीति सम्बन्धी काव्योंको सूक्ति या सुभाषित काव्य कहा जाता है। लोकव्रत अथवा नैतिक शिक्षाका निरूपण काव्यकी अनुरंजनकारिणी भाषामें सम्पन्न होनेसे यह काव्य-विधा भी रसिकोंको अपनी ओर आकृष्ट करती है। शर्करा मिश्रित औषधिके समान काव्य-चमत्कार उत्पन्न करते हुए सदुपदेश देना या किसी विशेष भावको उत्पन्न करना सूक्ति काव्यका लक्ष्य होता है। इन काव्योंमें रसकी समस्त विशेषताएँ और चमत्कृतिके सारे उपकरण समाहित रहते हैं। शब्द-चमत्कार और अर्थ-चमत्कारका जो समवाय सूक्तियोंमें पाया जाता है, वह प्रबन्धमें नहीं। अतिशोभन, मोक्ष-प्रापण, आनन्दानुभवन और कौतूहल-शमन एक साथ सूक्ति काव्य द्वारा सम्पन्न होते हैं। कथा-प्रसंग या सन्दर्भांशोंके नहीं रहने पर भी आनन्दानुभूतिमें कमी नहीं आती है। रसोपनिबन्ध और चमत्कृति-सम्पादन करनेके लिए सूक्ति काव्योंके प्रणयनमें कविको पर्याप्त सतर्क रहना पड़ता है। इन काव्योंमें कल्पनाकी उड़ान, ऊहोक्ति, वर्णन-वैचित्र्य या शब्दार्थ-वैचित्र्य प्रधान तत्त्व होते हैं।

गुणभद्रका आत्मानुशासन[2] (९वीं शती) और शुभचन्द्र प्रथमका ज्ञानार्णव[3] (१२वीं शती) एक प्रकारके धार्मिक सूक्ति काव्य हैं। अमितगतिका सुभाषित-[4]रत्न-सन्दोह एक सुन्दर

---

१. लक्ष्मण कृत संस्कृत व्याख्या सहित, कर्णाटक विश्वविद्यालय धारवाड़ द्वारा सन् १९६३ ई० में प्रकाशित।

२. जीवराज जैन ग्रंथमाला, ग्रंथांक—११, शोलापुर १९६१ ई०

३. रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला आगास १९६१ ई०

४. काव्यमाला ग्रंथांक- ८२, निर्णय सागर प्रेस बम्बई सन् १९०९ ई०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सूक्ति काव्य है। इसमें ९२२ पद्य हैं। कविने सांसारिक-विषय-निराकरण, माया-अहंकार-निराकरण, इंद्रिय-निग्रहोपदेश, स्त्री-गुण-दोष, कोप-लोभ-निराकरण, सद्-असत्-स्वरूप निरूपण, ज्ञान निरूपण, चारित्र-निरूपण, जाति-निरूपण आदि ३२ विषयोंका प्रतिपादन किया है। सुभाषितोंका उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

जनयति मुदमन्तर्भव्यपाथोरुहाणां, हरति तिमिरराशिं या प्रभा भानवीव।
कृतनिखिलपदार्थद्योतना भारतोद्धा, वितरतु धुतबोषा संहिता भारती वः॥

अर्थात् जिस प्रकार सूर्यकी किरणें अन्धकारका विनाशकर समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करती हैं और कमलोंको विकसित करती हैं उसी प्रकार ये सुभाषित चेतन-अचेतन विषयक अज्ञानको दूर कर भव्योंके—सहृदयोंके चित्तको प्रसन्न करते हैं।

इस काव्यके रचयिता अमितगति माथुर संघके आचार्य हैं। इनका समय वि० सं० की ११वीं शती निश्चित है।

सोमप्रभने सूक्ति-मुक्तावली[1] नामक काव्यकी रचना वि० सं० १२५० में की है। इस काव्यमें ९९-१०० पद्य हैं। इसका पद्यबद्ध हिन्दी अनुवाद महाकवि बनारसीदासने वि० सं० १६९२ में किया है। मंगलाचरणके अनन्तर अष्टम पद्यमें भक्ति, गुरु प्रक्रम, जिनमत प्रक्रम, संघ प्रक्रम, अहिंसा प्रक्रम, अस्तेय प्रक्रम, सत्य प्रक्रम, शील प्रक्रम, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, सुजन, गुणी-संग, इन्द्रिय, लक्ष्मी स्वभाव; दान-तप-भावना और वैराग्य प्रक्रम—इस प्रकार २१ प्रक्रमोंमें विषयोंका निरूपण किया गया है। लोक धर्म के अन्तर्गत दान, धर्म, तप और भावनाकी प्रधानता है। कोई भी व्यक्ति उक्त चारों प्रकारके लोक-धर्मानुष्ठान करनेसे अपना जीवन सुख-शान्तिमय बना सकता है।

गीति-काव्य

गीति-काव्यके अन्तर्गत स्तोत्र-काव्य और शृंगारिक गीति-काव्य आते हैं। संस्कृत भाषामें लगभग एक सहस्र स्तोत्र उपलब्ध होते हैं, पर वे सब काव्य-कला और भक्ति-भावनाकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उपास्यकी महत्ता, आत्मनिवेदन, आध्यात्मिकता, दार्शनिक विचार एवं आराध्यके अलौकिक और चमत्कारपूर्ण कार्योंका विवेचन करनेके लिए स्तोत्र काव्य लिखे गये। आचार्य समन्तभद्रने स्वयम्भू स्तोत्र, देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन और जिन शतकालंकार ये चार स्तोत्र ग्रन्थ लिखे हैं। स्वयम्भू स्तोत्र में २४ तीर्थङ्करोंकी स्तुतियाँ की गयी हैं। स्तोत्रका पहला शब्द स्वयम्भू होनेसे इसका नाम स्वयम्भू स्तोत्र पड़ा है। कुल १४३ पद्य हैं। इस स्तोत्रके भक्ति रसमें गम्भीर अनुभूतिका तारल्य विद्यमान है। अतः इसे सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहार-भूमि कहा जा सकता है।

जिनशतकालंकार या स्तुति-विद्यामें चित्रालंकारका अपूर्व प्रयोग किया गया है। भाव पक्ष एवं कला पक्ष दोनों धार्मिक एवं नैतिक उपदेशके उपस्कारक बनकर आये हैं। मुरजादि चक्रबन्धकी रचनाके कारण चित्र-काव्यका उत्कर्ष इस स्तोत्र काव्यमें पूर्णतया वर्तमान है।

---

१. काव्यमाला सप्तम गुच्छक निर्णय सागर प्रेस बम्बई सन् १९२६ ई० पृ० ३५-५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवागम स्तोत्रमें तर्क और आगम परम्पराकी कसौटीपर आप्त-सर्वज्ञदेवकी मीमांसा की गयी है। समन्तभद्र अन्धश्रद्धालु नहीं हैं। वे श्रद्धाको तर्ककी कसौटीपर कसकर युक्त्यागम द्वारा आप्तकी विवेचना करते हैं। इस स्तोत्रमें ११५ पद्य हैं।

वीरके सर्वोदय तीर्थका महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए उनकी स्तुतिके रूपमें युक्त्यनुशासन लिखा गया है। इसमें अर्थगौरव पूर्णतया समाविष्ट है, जिससे गागरमें सागरको भर देनेकी कहावत चरितार्थ होती है। ६४ पद्योंमें ही कविने समस्त जिन शासनको समाविष्ट कर दिया है। महावीरके तीर्थको कविने सर्वोदय तीर्थ कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥[1]

सिद्धसेन दिवाकरने द्वात्रिंशिकाओंकी रचना की है। ३२-३२ पद्योंकी ३२ रचनाएँ द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका कही जाती हैं, पर वर्त्तमानमें २१ द्वात्रिंशिकाएँ ही उपलब्ध हैं। इनमेंसे छः भगवद्भक्ति विषयक हैं। काव्य, भक्ति और दर्शनकी दृष्टिसे सिद्धसेनके स्तोत्र काव्य उपादेय हैं। इनमें उपजाति, शिखरिणी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, वंशस्थ और शार्दूलविक्रीडित छन्दोंका व्यवहार पाया जाता है।

विक्रमकी छठी शतीमें देवनंदि पूज्यपादने सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र-भक्ति, योग-भक्ति, निर्वाण-भक्ति, पंचगुरु भक्ति, तीर्थङ्कर भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति और चैत्य-भक्तिकी रचना की है। ये १२ भक्तियां १२ स्तोत्र हैं।

ई० सन् की छठी शतीमें पात्रकेशरीने जिनेन्द्र गुण संस्तुति या पात्रकेशरी नामक स्तोत्रकी रचना की है। इस स्तोत्रमें ५० पद्य हैं। विक्रमकी सातवीं शतीमें मानतुङ्गाचार्यने भक्तामर स्तोत्रकी रचना की है। इस स्तोत्रमें ४८ पद्य हैं और प्रत्येक पद्यमें काव्यत्व रहनेके कारण उक्त पद्य ४८ काव्य कहे जाते हैं। इस स्तोत्रमें भगवान् आदिनाथकी स्तुति वर्णित है। बप्पभट्टि (सन् ७४३-८३८ ई०) ने सरस्वती स्तोत्र, वीर स्तव, शान्ति स्तोत्र और चतुर्विंशति जिन स्तुतिकी रचना की है। चतुर्विंशतिकामें ९६ पद्य हैं और यमकालंकारमें स्तोत्रका गुम्फन किया है। सरस्वती स्तोत्रमें १३ पद्य और वीर स्तवमें ११ पद्य हैं।

ई० सन् की नवम शती (सन् ७८३-८४१ ई०) में आचार्य विद्यानन्दने पार्श्वनाथ स्तोत्रकी रचना की है। इसमें ३० पद्य हैं। स्रग्धरा, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी और मन्दाक्रान्ता छन्दोंका प्रयोग किया गया है। ई० सन् की ८वीं शतीमें महाकवि धनञ्जयने विषापहार स्तोत्रका प्रणयन किया है। इस स्तोत्रमें ४० इन्द्रवज्रा पद्य हैं। अन्तिम पद्यका छन्द भिन्न है और उसमें कर्त्ताने अपना नाम सूचित किया है। ११वीं शतीमें धनपाल कविके अनुज बन्धु शोभन बन्धुने चतुर्विंशति जिन स्तुति की रचना की है। इसी शताब्दीमें वादिराज सूरिने ज्ञानलोचन स्तोत्र और एकीभाव स्तोत्रकी रचना की है। भूपाल कवि कृत जिनचतुर्विंशतिका भी एक प्रसिद्ध स्तोत्र है। १२वीं शताब्दीमें आचार्य हेमचन्द्रने वीतराग स्तोत्र, महादेव स्तोत्र और महावीर स्तोत्रोंकी रचना की है। १३वीं शतीमें पण्डित आशाधरने सिद्धगुणस्तोत्र लिखा

---

१. युक्त्यनुशासन, पद्य–६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। रामचन्द्र कृत (११०९-११७६ ई०) आदिदेव स्तव, मुनिसुव्रत देवस्तव, नेमिस्तव और जिनस्तोत्र, जिनवल्लभ सूरि (१२वीं शती) के भवादिवारण अजित शान्तिस्तव, पञ्च-कल्याण स्तव, पार्श्वनाथ स्तोत्र, सरस्वती स्तोत्र, सर्वजिन स्तोत्र, वृषभ जिन स्तुति; जिन-प्रभसूरिके (१२५०-१३२५ ई०) सिद्धांतागमस्तव, पार्श्वस्तव, गौतम स्तोत्र, वीर स्तव, ऋषभ-जिन स्तवन, अजित जिन स्तवन; कुमुदचन्द्रका कल्याण मन्दिर, पद्मनन्दि भट्टारकके वीतराग स्तोत्र, शान्तिजिन स्तोत्र, रावण पार्श्वनाथ स्तोत्र एवं मुनिसुन्दर (१४वीं शती) का स्तोत्र रत्नकोश प्रसिद्ध हैं। सोमतिलक, वस्तुपाल, धर्मशेखर एवं जयतिलकके भी कई स्तोत्र उप-लब्ध हैं।

विशुद्ध गीति काव्यके रूपमें अभिनव पण्डिताचार्य चारुकीर्तिका गीत-वीतराग विशेष प्रसिद्ध हैं। इस ग्रन्थकी रचना ई० सन् १४०० के पश्चात् और १७५८ के पूर्व हुई है। यह प्रबन्धात्मक गीति काव्य है। इनमें २४ प्रबन्ध हैं और ऋषभदेवके १० भवोंकी कथा वर्णित है। जयदेवके गीत गोविन्दके आधार पर ही इस काव्यकी रचना हुई है। इसमें गुर्जरी राग, देशी राग, बसन्त राग, राग क्रिया, माड़व गौड़ी राग, कन्नड़ राग, आशावली राग, देशव रालि राग, गुण्डप्रिया राग, पञ्चम राग और सौराष्ट्र राग आदिका प्रयोग हुआ है। रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांगका भी प्रयोग पाया जाता है। उदाहरणार्थ इस गीति काव्यकी कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

> चन्दनलिप्तसुवर्णशरीरसुधौतवसनवरधीरम्,
> मन्दरशिखरनिभामलमणियुतसन्नुतमुकुटमुदारम् ।
> कथमिह लप्स्ये दिविजवरं मानिनिमन्मथकेलिपरम् ॥
> इन्दुरविद्वयनिभमणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगेशम्;
> चन्दिरवलसननिटिलविराजितसुन्दरतिलकसुकेशम् ॥

गद्यकाव्य

जैन कवियों द्वारा संस्कृतमें गद्य काव्य भी लिखे गये हैं। विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परख वस्तुतः गद्य द्वारा ही होती है। कवितामें छन्दकी परतन्त्रता कविकी रक्षाके लिए उन्नत प्राचीरका काम देती है, पर गद्य-लेखककी रक्षाके लिए कोई प्राचीर नहीं रहती। उसे तो खुले मैदानमें उतरना पड़ता है। यही कारण है कि पद्यकी अपेक्षा गद्य रचनाएँ बहुत कम लिखी गयी हैं। जैन गद्यकारोंमें दो ही गद्य लेखक प्रसिद्ध हैं—वादीभसिंह और धनपाल। वादीभसिंहने वि० सं० की ९वीं शतीमें 'गद्यचिन्तामणि'[1] नामक गद्य काव्यकी रचना की। वादीभसिंहको ओडेयदेव वादीभसिंह कहा गया है। ये ओडेय जातिके सरदार थे, इसी कारण इनका नाम ओडेयदेव प्रसिद्ध हुआ है।

जीवन्धर स्वामीके जीवनवृत्तको ११ लम्बोंमें विभक्तकर इस गद्य काव्यका प्रणयन हुआ है। कथा-वस्तुमें रमणीयताके साथ व्यापकता भी है। कथाका आयाम विस्तृत होनेपर भी घटनाओं और कथानकोंमें अन्विति पायी जाती है। कथानकके समस्त अंग समानरूपसे विक-सित हैं। कथाका आरम्भ विलास, वैभवसे होता है और समाप्ति वैराग्यमें। राजकुमारका

---

१. पण्डित पन्नालाल द्वारा सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन द्वारा प्रकाशित, सन् १९६८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्मशान भूमिमें जन्म ग्रहण करना गन्धोत्कटको मृत पुत्रके संस्कारके समय जीवन्धर कुमारका प्राप्त होना, आर्यनन्दिके सम्पर्कसे वास्तविक स्थितिका परिज्ञान प्राप्त करना, नन्द गोपकी गायोंको भीलोंसे छुड़ाकर लाना, घोषवती वीणा बजाकर गन्धर्वदत्ताको परास्त करना, श्वान को णमोकार मन्त्र सुनाना तथा उसके प्रभावसे यक्ष योनिको प्राप्त करना, सुरमंजरीका रूठ जाना, दण्डकारण्यमें महारानी विजयासे मिलना, वनक्रीड़ाके समय-वानर-वानरीके प्रेम कलहका दर्शन करना प्रभृति कथानक मर्मस्पर्शी हैं। कथावस्तुमें रोचकता और गत्यात्मकता पायी जाती है। इस कथा काव्यमें घटी हुई घटनाएँ एक दूसरीका सहज परिणाम हैं। इतना सत्य है कि वर्णन चमत्कारोंको कथा गठनमें सुदृढ़ता प्राप्त नहीं हुई है। अलंकृतियोंकी बहुलताके कारण कार्य व्यापार कथानककी धुरी नहीं बन पाये हैं। काष्ठांगारका राज्य विद्रोह नाटकीय है। बहुत समय तक उसके अन्तस्‌में द्वंद्व चलता है, पश्चात् तर्कका आधार ग्रहणकर वह अपने आप असत् कार्यको सम्पादित करता है।

कथावस्तुमें मृत पुत्रके स्थानपर कुमार जीवन्धरकी प्राप्ति सबसे बड़ी नाटकीयता है। यह एक प्रकारसे विधिका विचित्र व्यंग्य है कि गन्धोत्कटकी पत्नी सुनन्दा अपने मृत पुत्रको जीवित समझ लेती है और कुमार जीवन्धरका लालन-पालन करती है। इस धर्म कथामें कविने प्रेमका अभिन्न पुट, स्वस्थ श्रृंगारिकता, मूल प्रवृत्तियोंका निरन्तर साहचर्य, धर्मश्रद्धा, कुतूहल और मनोरंजन आदि लोक कथाके तत्त्व भी पाये जाते हैं।

कथा तत्त्वोंके अतिरिक्त अपार शब्द भाण्डार, अलंकार और कल्पनाओंकी अपूर्व योजना, वर्णनकी तीव्र पर्यवेक्षण शक्ति, संगीतात्मक भाषा एवं भावपक्षकी तरलता आदि काव्य गुण भी समवेत हैं। बाण जैसी कलाबाजी भले ही न हो, पर उत्कृष्ट कवित्वके समस्त गुण गद्यचिन्तामणिमें निहित हैं। अनेक स्थलोंपर तो दीर्घकाय समास विशिष्ट एवं श्लिष्ट पदावली तथा चित्रमयता दृष्टिगोचर होती है। श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या, विरोधाभास तथा उल्लेख आदि अलंकारोंकी पुटने गद्यकी शोभामें चार चाँद लगा दिये हैं। रस परिपाककी दृष्टिसे भी यह गद्य काव्य अत्यन्त सफल है। कथानायक जीवन्धर कुमारकी गन्धर्वदत्ता आदि आठ नयी नवेली वधुएँ हैं। उनके साथ पाणिग्रहणके बाद श्रृङ्गारका अच्छा वर्णन हुआ है, पर खास बात यह है कि कविने उस श्रृंगार वर्णनमें कहीं भी अश्लीलता नहीं आने दी है। नवम लम्बमें जीवन्धर कुमार एक जर्जरकाय वृद्धका रूप बनाकर जब सुरमंजरीके घर पहुँचता है और कहता है कि मैं कुमारी तीर्थकी प्राप्तिके लिए घूम रहा हूँ, तो हास्यका झरना ही फूट पड़ता है। काष्ठांगारकी क्रूरताके चित्रणमें रौद्ररसका समावेश किया है। चतुर्थ लम्बमें वन-क्रीड़ासे लौटते समय काष्ठांगारका अशनिघोष हाथी रुष्ठ होकर गुणमालाके प्रति झपटा चला आ रहा है। भयसे भीत हो उसके सखा साथी तथा शिविकाके वाहक भी भाग जाते हैं और भयसे काँपती हुई गुणमाला एक वृद्धा धायके पीछे खड़ी-खड़ी अनाशंसित मृत्युकी प्रतीक्षा करती है। यह भयानकरसका सुन्दर उदाहरण है। श्मशानमें जलती हुई चिताओं और उनकी लपटोंमें जलते हुए नर शवोंका वर्णन वीभत्सरसका दृश्य उपस्थित करता है। इस तरह गद्य चिन्तामणि काव्य सभी दृष्टियोंसे ग्राह्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विक्रमकी ११वीं शतीमें महाकवि धनपालने 'तिलकमंजरी' नामक गद्य काव्य लिखा है। इस गद्य काव्यमें विद्याधरी तिलकमंजरी और समरकेतुकी प्रणय गाथा चित्रित की गयी है। इस ग्रंथकी रचनाका उद्देश्य कविने स्वयं ही बतलाया है—"समस्त वाङ्मयके ज्ञाता होने पर भी जिनागममें कही गयी कथाओंके जाननेके उत्सुक निर्दोष चरित्र वाले सम्राट् भोजराजके विनोदके लिए मैंने इस चमत्कारसे परिपूर्ण रसों वाली कथाकी रचना[2] की।"

कहा जाता है कि 'तिलकमंजरी' की समाप्तिके पश्चात् भोजदेवने स्वयं इस ग्रंथको आद्योपान्त पढ़ा। कथा गद्यमें लिखे जानेपर भी प्रारम्भमें ५३ पद्य हैं। इनमें मंगलाचरण, सज्जन स्तुति एवं दुर्जन निन्दा, कवि वंश परिचय आदि बातोंका वर्णन आया है। बाणकी गद्य शैलीकी परम्पराका निर्वाह करते हुए भी इस गद्य काव्यको सरल, सरस और हृदय ग्राह्य बनानेका पूर्ण प्रयास किया है। तिलकमंजरीमें वस्तु व्यापारोंका वर्णन भी 'कादम्बरी' के समान ही हुआ है। इस गद्य काव्यमें लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रकारके पात्रोंका संयोजन किया है। विद्याधरी, तिलकमंजरी, ज्वलनप्रभ नामका वैमानिक, नन्दीश्वर नामका द्वीप, उसमें रतिविशाला नामकी नगरी, सुमाली नामका देव तथा स्वयंप्रभा नामकी उसकी देवी, क्षीरसागरसे निकला चन्द्रातप नामका हार, प्रियंगु सुन्दरी नामकी देवी, वेताल आदि, तिलकमंजरी में अलौकिकताका प्रतिनिधित्व करते हैं।

उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, श्लेष, परिसंख्या, विरोधाभास आदि सभी प्रमुख अलंकारोंका प्रयोग किया है। कविकी वर्णन-प्रतिभा बाणसे तनिक भी कम नहीं है। जिस वस्तुका चित्रण कवि करता है उसका सांगोपांग ब्योरा उपस्थित कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

संक्षेपमें तिलकमंजरीमें शब्दसौन्दर्य, अर्थगाम्भीर्य, अलंकारनैपुण्य, वर्णनवैचित्र्य, रसरमणीयता और भावप्रवणता भी पायी जाती है। इसी सफलताके कारण कवि धनपालको सिद्ध[3] सारस्वतकी उपाधिसे अभिहित किया गया है। धनपालकी तिलकमंजरीके सम्बन्धमें लिखा है—

तिलकमञ्जरीमञ्जरिसञ्जरिलोलद्विपश्चिवलिजालः।
जैनारण्येऽसालः कोऽपि रसालः पपाल धनपालः[4]॥

स्पष्ट है कि जिन कथानक रूढ़ियोंको कादम्बरीमें स्थान प्राप्त हुआ है, प्रायः वे ही कथानक रूढ़ियाँ तिलकमंजरीमें भी प्राप्त हैं। 'तिलकमंजरी' में अयोध्याके राजा मेघवाहन और उनकी पत्नी मदिरावती अनपत्यताके कारण दुःखी हैं। इस कथानक रूढ़िका निर्वाह बाण की कादम्बरीमें उज्जयिनीके राजा तारापीड और उनकी पत्नी विलासवतीकी अनपत्यताके रूपमें पाया जाता है। पुत्रोत्पत्तिके निमित्त दोनों ही कथाओंमें समान रूपसे देव पूजा ऋषि मुनि भक्ति आदिका विधान पाया जाता है। इस प्रकार अनेक दृष्टियोंसे कादम्बरी और तिलकमंजरीमें समानता उपलब्ध है।

---

१. लावण्यविजय सूरीश्वर, ज्ञानमन्दिर, बोहाद, सौराष्ट्र।
२. तिलकमंजरी, पद्य ५०।
३. समस्यामर्पयामास सिद्धसारस्वतः कविः—प्रभावक चरित, सिंघी जैन ग्रन्थमाला ई० सन् १९४०।
४. तिलकमंजरी पराग०, प्रस्तावना—पृ० १६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चम्पू काव्य

संस्कृतके जैन कवियोंने चम्पू काव्य विधाका भी प्रणयन किया है। चम्पूकाव्यकी मनोरमापर प्रकाश डालते हुए हरिचन्दने जीवन्धर चम्पूमें लिखा है—

गद्यावली पद्यपरम्परा च प्रत्येकमप्यावहति प्रमोदम्।
हर्ष-प्रकर्षं तनुते मिलित्वा द्राक्बाल्यताराण्यवतीव कन्या ॥

—जीवन्धर चम्पू १।९

जैन चम्पू काव्योंमें सोमदेव कविका यशस्तिलकचम्पू[1] सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है। राष्ट्रकूटके राजा कृष्णराजदेवके समकालिक होनेके कारण सोमदेवने इस चम्पू काव्यकी रचना लगभग ९५९ ई० के आसपास की। इसमें अवन्तीके राजा यशोधरका चरित वर्णित है। कथाका मूलाधार पुनर्जन्म और अहिंसा सिद्धान्त है। समस्त कथावस्तु आठ आश्वासोंमें विभक्त है। प्रथम पाँच आश्वासोंमें कथा अविच्छिन्न गतिसे आगे बढ़ती है, पर अन्तिम तीन आश्वासोंमें 'उपासकाध्ययन' का वर्णन आया है। इस कृतिसे सोमदेवके गहन-अध्ययन, प्रगाढ़ पाण्डित्य, भाषापर स्वच्छन्द प्रभुत्व एवं काव्य क्षेत्रमें किये गये नये-नये प्रयोगोंका परिचय प्राप्त होता है। इस चम्पू काव्यपर श्रुतसागर सूरिकी सुन्दर व्याख्या है।

धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्यके रचयिता हरिचन्दने जीवन्धर चम्पूकी[2] रचना की है। इस काव्यमें राजा सत्यन्धर और विजयाके पुत्र जीवन्धरका जीवनवृत्त निबद्ध है। इसमें ग्यारह लम्भ हैं—१. सरस्वती लम्भ, २. गोविन्दा लम्भ, ३. गन्धर्वदत्ता लम्भ, ४. गुणमाला लम्भ, ५. पद्मा लम्भ, ६. क्षेमश्री लम्भ, ७. कनकमाला लम्भ, ८. विमला लम्भ, ९. सुरमञ्जरी लम्भ, १०. लक्ष्मणा लम्भ, ११. मुक्ति लम्भ।

रस, गुण और अलंकार संयोजनकी दृष्टिसे भी यह काव्य अपने ढंगका रमणीय है।

पण्डितप्रवर आशाधरके शिष्य अर्हद्दासने आदितीर्थंकर ऋषभदेवके जीवनवृत्तको ग्रहणकर पुरुदेव चम्पूका[3] प्रणयन तेरहवीं शतीके उत्तरार्द्ध किया है। इस चम्पू काव्यमें दस स्तवक हैं। कविने मंगल पद्योंमें ही इस काव्यका सौष्ठव और वैशिष्टय बतलाते हुए लिखा है कि भगवान्के भक्तिबीजके कारण मेरे मनमें कविता लिखनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। श्रेष्ठ कविता वही है, जिसमें चारु शब्दोंका चयन, श्रेष्ठवृत्त—छन्द, समुचित अलंकारोंका संयोजन एवं सहृदयोंके हृदयको विगलित करनेकी रसमयी क्षमता पायी जाय।

श्लेषालंकारका प्रयोग गद्यमें अधिक हुआ है। भावात्मक सन्दर्भोंको पद्यमें निबद्ध किया गया है। कविकी गद्य शैली सुबन्धुकी वासवदत्ताकी शैलीके तुल्य है। समासान्त पदावली और सघनश्लेष सहज ही पाठकोंका ध्यान आकृष्ट कर लेता है।

एक अज्ञात कविके 'जैनाचार्य विजय' नामक चम्पू काव्यका निर्देश मिलता है। यह रचना अभी तक अप्रकाशित है।[4]

---

१. सन् १९१६ ई० में निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे पूर्व और उत्तर दो खण्डोंमें प्रकाशित।
२. पण्डित श्री पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित।
३. माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रंथमाला द्वारा प्रकाशित।
४. चम्पूकाव्यका आलोचनात्मक एवं ऐ० अ० पृ० २५४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत नाटक

काव्य विधाके अन्तर्गत संस्कृत नाटक भी समाविष्ट हैं। उपलब्ध जैन संस्कृत नाटकोंमें सबसे पहला नाटक विबुधानन्द[1] नामका है। इस नाटकके रचयिता शीलाचार्य या शीलांकाचार्य हैं। ये निर्वृत्त कुलीन मानदेव सूरिके शिष्य थे। इनका विबुधानन्द नाटक एकांकी है। इस नाटकमें राजा राजशेखरकी पुत्री बन्धुमती और कुमार लक्ष्मीधरका विवाह वर्णित है। आरम्भ में अन्यमनस्क नटीको देखकर सूत्रधार उसे समझाता हुआ कहता है कि तुम्हें कुटुम्बनाशसे उद्विग्न नहीं होना चाहिए, क्योंकि संसारकी गति विधि इसी प्रकार की है। विधि संयोगको वियोग रूपमें, सम्पत्तिको विपत्ति रूपमें और पाण्डित्यको मूर्खताके रूपमें परिणत कर देता है, जो कर्मफल विपाकका अध्ययन करते हैं, उनके समक्ष शोक नहीं आ पाता।

नाटककारने बड़ी कुशलतासे इस एकांकीमें नाटकके चित्रका दूसरा पहलू भी उद्घाटित किया है। घटना चक्र एकाएक विवाहसे हटकर दुर्भाग्यकी ओर परिवर्तित हो जाता है। बन्धुमतीका विवाह कुमार लक्ष्मीधरके साथ सम्पन्न हो रहा था, पर दुर्भाग्यवश एक कृष्ण सर्प कुमारको डँस गया, जिससे वह पंचत्वको प्राप्त हो गया। सारा शृंगार एकाएक करुणारसमें परिवर्तित हो गया। नाटककी ये सभी घटनाएँ घटित नहीं हुई हैं, प्रत्युत् राजाके विलाप द्वारा समस्त घटनाओंको सूक्ष्म रूपमें प्रस्तुत किया गया है। नाटक दुःखान्त नहीं है। मोक्षकी ओर प्रयत्नशील होनेसे सुखान्त है। बन्धुमती रो-रो कर जीवन व्यतीत नहीं करती, अपितु वह आत्मकल्याणके लिए दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करती है।

कविका समय पण्डित अमृतलाल मोहनलाल भोजकने सन् ८३८ ई० निर्धारित किया है।

नाटक रचयिताओंमें महाकवि रामचन्द्रका महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हें बाल्यकालमें ही गुर्जरेश्वर चालुक्यवंशी सिद्धराज जयसिंहने आशुकवित्वके कारण 'कवि कटारमल्ल' का विरुद प्रदान किया[2] था। एक अन्य प्रमाणसे यह भी ज्ञात होता है कि हेमचन्द्रके स्वर्गवासी होनेपर महाराज कुमारपालको सांत्वना देनेके लिए रामचन्द्र गये थे। अतः रामचन्द्रका सम्बन्ध कुमारपालके साथ भी रहा है। ये आचार्य हेमचन्द्रके शिष्य थे। हेमचन्द्रने इन्हें पट्ट शिष्यके पद पर प्रतिष्ठित किया था। विद्वानोंने इनके समयकी पूर्वावधि ई० सन् ११०९ और उत्तरावधि ई० सन् ११७६ प्रतिष्ठित की है। रामचन्द्र कविके निम्नलिखित नाटक उपलब्ध हैं—

१. नलविलास
२. सत्यहरिश्चन्द्र
३. कौमुदीमित्रानन्द
४. मल्लिका मकरन्द
५. रोहिणी मृगांक
६. यादवाभ्युदय
७. रघुविलास
८. वनमालानाटिका

---

१. चउपनमहापुरिसचरियंके अन्तर्गत विबुधानन्द नाम नाटकम्, प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी सन् १९६१, पृ० १७।

२. नलविलास नाटककी प्रस्तावना पृ० २७, रत्नमन्दिर गणिके भोज प्रबन्धका उद्धरण।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(९) निर्भयभीम व्यायोग

इस प्रकार महाकवि रामचन्द्र नाटक, नाटिका, प्रकरण और व्यायोगके रचयिता हैं। सत्य हरिश्चन्द्र[1] छह अंकोंका नाटक है। इस नाटककी कथावस्तु पौराणिक है। इसका प्रथम अंक बहुत ही मार्मिक और नाट्य गतिविधिसे परिपूर्ण है। राजा हरिश्चन्द्र कुन्तल और कपिञ्जलके साथ आखेटके लिये वनमें जाता है, वहाँ एक उपद्रवकारी वराहका वह वध करता है। संयोगसे उसके बाणसे एक गर्भिणी मृगी भी आहत हो जाती है। राजा हरिश्चन्द्र कुन्तल और कपिञ्जलके साथ वराहका अन्वेषण करता हुआ तापस आश्रममें पहुँचता है। कुलपति उस समय षड्यन्त्रकारी देवताओंपर क्रुद्ध हो रहे थे और वे उनसे कह रहे थे कि सत्यव्रती राजा हरिश्चन्द्रको कष्ट पहुँचाना उचित नहीं है। राजा और कुलपतिका परस्परमें वार्तालाप होता है। इसी समय घटनाचक्र चलचित्रके परदेके समान एकाएक परिवर्तित हो जाता है। कुलपतिकी पुत्री वञ्चना रोती हुई आती है और कुलपतिसे निवेदन, करती है—"तात! मेरे द्वारा बचपनसे पालित और अनुराग पूर्वक संवर्द्धित मेरी गर्भिणी मृगीको किसी दुष्टने घायल कर दिया है। यदि कदाचित् उसका प्राणान्त हो जायगा, तो मैं भी अनशन द्वारा अपने प्राणोंका त्याग कर दूँगी। मैं अपनी प्यारी मृगीके अभावमें एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकूँगी। पुत्री वञ्चनाके आर्त क्रन्दनको सुनकर कुलपतिकी पत्नी निकृति साक्षात् भैरवीका रूप धारण किये हुए प्रविष्ट होती है। कहती है कि प्यारी वञ्चनाके विना मैं कैसे जीवित रह सकती हूँ? अतः मुझे भी अनशन द्वारा अपने प्राणोंका विसर्जन करना होगा। परिवारकी इस करुण अवस्थाको देखकर कुलपति उत्तेजित हो जाते हैं और हरिश्चन्द्रको खूब खरी-खोटी सुनाते हैं। राजा हरिश्चन्द्र बार-बार क्षमा याचना करता है, पर कुलपति उसकी प्रार्थनापर कुछ भी ध्यान नहीं देता है। इसी बीच अंगारक और वैखानस भी प्रविष्ट होते हैं और वे राजाको अभिशाप देनेकी धमकी देते हैं। राजा हरिचन्द्र क्षमायाचना करता हुआ भ्रूण हत्याके पापसे मुक्त होनेके लिये उपाय पूछता है। कुलपति उत्तर देता है—"समग्र पृथ्वी और राज्य वैभवका त्याग ही इस महान् पापसे छुटकारा प्राप्त करनेका मार्ग है।" राजा अन्य ऋषियोंकी साक्षी पूर्वक अपने समस्त राज्य और पृथ्वीका दान कर देता है। इसी बीच वञ्चना पुकार फाड़कर रोने लगती है—तात! मेरी प्यारी मृगी तो स्वर्ग चली गयी। अब मैं कैसे जीवित रहूँगी। राजा सान्त्वना देता हुआ दण्डस्वरूप एक लक्ष स्वर्णमुद्राएँ दानमें देनेका बचन देता है। राजा अयोध्यामें लौट आता है और पुनः शासन करने लगता है।

द्वितीय अंकमें क्रोधाभिभूत कुलपति अयोध्यामें प्रवेश करते हैं और हरिश्चद्रको डाँटते हुए कहते हैं कि तुमने अभी तक मुझे न अपना राज्य ही दिया और न वञ्चनाकी स्वर्ण मुद्राएँ ही दी हैं। राजा स्वर्णकोषाधिपतिको स्वर्णमुद्राएँ दिलानेका आदेश देता है, पर कुलपति उसे बीचमें ही रोककर पूछते हैं कि स्वर्ण कोष पृथ्वीके अन्तर्गत है या बाहर? पृथ्वीके अन्तर्गत है, तो पृथ्वीपर अधिकार होते ही वह मेरा हो गया और यदि पृथ्वीके बाहर है, तो उसपर तुम्हारा क्या अधिकार? अन्तमें हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सुतारा और

---

१. सम्पादक भास्कर रामचन्द्र आरते एम० ए० तथा शंकर विष्णु पौराणिक बी० ए०, प्रकाशक निर्णयसार प्रेस, बम्बई, सन् १९२३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोहिताश्वके साथ वाराणसी पहुँचता है और वहाँ महारानी सुतारा और रोहिताश्वको वज्र हृदय ब्राह्मणको बेच देता है और स्वयं कालदण्ड नामक निषादपतिके हाथ बिक जाता है। पुष्प तोड़नेके लिये जाते हुए रोहिताश्वको सर्प डँस लेता है, जिससे वह पञ्चत्वको प्राप्त होता है। रानी सुतारा उसे श्मशानमें ले जाती है और वस्त्र कर माँगे जानेपर वह फूट पड़ती है। आश्चर्यकी बात तो यह कि कालदण्ड द्वारा आदिष्ट हरिश्चन्द्र ही कर वसूल करने वाला है। सुताराका विलाप एवं हरिश्चन्द्रका पितृ वात्सल्य इस सन्दर्भमें दर्शनीय है।

करके लिये दुराग्रह करनेपर महारानी सुतारा अपना जीर्ण कंथा फाड़ कर देने लगती है, तो इन्द्रका हृदय भी परिवर्तित हो जाता है। वह राजाके सत्यव्रत, धैर्य और कष्टसहिष्णुतासे अत्यधिक प्रभावित होता है तथा समस्त षड्यन्त्रको प्रत्यक्ष होकर प्रकट करता है। नाटक सुखान्तमें परिवर्तित हो जाता है। राजा-रानी और पुत्र सभी मिलकर भरत गान करते हैं। नाट्य कलाकी दृष्टिसे यह नाटक बहुत ही श्रेष्ठ है। प्रथम अंककी घटनाओंने समस्त नाटकको गतिशील बनाया है।

रामचन्द्र सूरिका दूसरा प्रकाशित नाटक 'नलविलास'[1] है। इसमें सात अंक हैं। नल और दमयन्तीकी कथा वर्णित है। कथाका स्रोत जैन पुराण नहीं है, अपितु महाभारतका नलोपाख्यान है। यह शास्त्रीय नाटक है। इसमें पाँचों सन्धियाँ और पाँचों अर्थ प्रभृतियाँ समाविष्ट हैं। नाट्यकला की दृष्टिसे यह सफल है।

'प्रबुद्ध[2]रौहणेय' भी महाकवि रामभद्र द्वारा लिखित है। इस नाटकमें छह अंक हैं और रौहणेय चोरके उद्धार की कथा वर्णित है। नाटककारने प्रसिद्ध कथावस्तुको नाटकीय बनानेके लिये अपनी कलाका पूरा उपयोग किया है। नाट्यकला की दृष्टिसे भी इस नाटकमें सभी शास्त्रीय तत्त्व पाये जाते हैं।

'निर्भयभीमव्यायोग[3]' एकांकी नाटक हैं। नान्दी पाठसे व्यायोगका प्रारम्भ होता है, तत्पश्चात् सूत्रधार सामने आता है और वह अपनी कलापूर्ण गीतियों द्वारा नाटककारका परिचय प्रस्तुत करता है। नाटक की कथाका मूल स्रोत महाभारत है। पाण्डव अज्ञातवास करते हुए जब वे रात्रिमें कुन्तीके साथ एक ब्राह्मणके घरमें निवास करते हैं, तो वह वृद्धा ब्राह्मणी अगले दिन अपने पुत्रका मरण-क्रम जानकर करुण क्रन्दन करती है। भीम उस राक्षससे ब्राह्मण पुत्रका उद्धार करते हैं और उसे अपने वशमें कर लेते हैं। नाट्यकला की दृष्टिसे भी यह नाटक उत्तम है।

रामचन्द्रके समान ही हस्तिमल्ल भी एक श्रेष्ठ नाटककार हैं। हस्तिमल्ल वत्सगोत्रीय ब्राह्मण थे और इनके पिताका नाम गोविन्दभट्ट था। ये दक्षिण भारतके निवासी थे। हस्तिमल्लका समय अनेक प्रमाणोंके आधारपर ई० सन् १२५० के आस-पास माना जाता है। इनके नाटक निम्नलिखित हैं—

---

१. सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, सन् १९२६
२. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
३. यशोविजय ग्रन्थमाला वाराणसी, वीर निर्वाण सं० २४३७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(१) विक्रान्त कौरव
(२) मैथिली कल्याण
(३) अञ्जना पवनञ्जय
(४) सुभद्रा नाटिका

विक्रान्त[1] कौरवमें छह अंक हैं। महाराज सोमप्रभके पुत्र कौरवेश्वरका काशीनरेश अकम्पन की पुत्री सुलोचनाके साथ स्वयंवर विधिसे विवाह होनेका वर्णन है। कविने सुलोचना और कौरवेश्वरके प्रेमाकर्षणका सुन्दर चित्रण किया है। नाटककारने कथावस्तुका संगठन नाटकीय सिद्धान्तोंके आधारपर निबद्ध किया है। इसमें प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक पाँचों अवस्थाएँ घटित हुई हैं। कथावस्तुका क्रमनियोजन सरल रेखाके रूपमें सम्पन्न न होकर वक्र रेखाके रूपमें गतिशील हुआ है। नायक धीरोदात्त है और प्रतिनायक धीरोद्धत। कविने सौन्दर्यानुभूतिमें सहायक मानवीय व्यापारों और उनके परस्पर सम्मिलन संघर्षोंका वर्णन किया है। कथावस्तुका अन्तिम लक्ष्य ऐहिक सिद्धि है। कविने भरत वाक्यमें काम और धर्म दोनों पुरुषार्थों की प्राप्ति की कामना की है। वह ऐहिक जीवनके अभ्युदयके हेतु सन्तानोत्पादनको महत्त्व देता है, तो निःश्रेयस प्राप्तिके लिये धर्मको—

'मैथिलीकल्याण'[2] में भी पाँच अंक हैं। इसमें बताया गया है कि वसंतोत्सवके अवसर-पर सीता उपवनमें कामदेवके मन्दिरके निकट झूला झूलते समय रामके अपूर्व सौन्दर्यका दर्शनकर अभिभूत हो जाती हैं। एवं राम भी सीताके दर्शनसे प्रेमविह्वल होते हैं। माधवी वनमें पुनः सीता और रामका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार कविने स्वयंवरके पूर्व राम और सीताके मिलनाकर्षणका सुन्दर चित्रण किया है। स्वयंवरमें वज्रावर्त धनुषको तोड़नेकी शर्त रक्खी जाती है। अनेक राजा धनुषको तोड़नेका प्रयास करते हैं, पर उनका प्रयत्न विफल होता है। राम सहज भावसे जाकर धनुषकी प्रत्यञ्चाको चढ़ाते हैं और धनुष टूट जाता है। जनक रामके साथ सीताका विवाह कर देते हैं। इस नाटकमें शास्त्रीय दृष्टिसे नाटकके सभी तत्त्व पाये जाते हैं।

'अञ्जना[3] पवनञ्जय' में सात अंक हैं। इसमें विद्याधर राजा प्रह्लादके पुत्र पवनञ्जय एवं विद्याधर कुमारी अञ्जनाका जीवन वृत्त अंकित है। महेन्द्रपुरके राजमहलमें अंजना अपनी सखी वसन्तमाला एवं मधुलिका तथा मालती नामकी परिचारिकाओंके साथ प्रवेश करती है। उनकी चर्चाका विषय है निकट भविष्यमें सम्पन्न होने वाला स्वयंवर तथा उसका परिणाम। पवनञ्जय छिपकर अपने मित्र विदूषकके साथ राजमहलमें सखियोंके वार्तालापको सुनता है एवं उसे यह मिथ्या विश्वास हो जाता है कि अंजना उससे वास्तविक प्रेम नहीं करती। अतः विवाहके बाद अंजनाका परित्याग कर देता है। घटना क्रमसे बहुत समयके पश्चात् अंजना और पवनञ्जयका मिलन होता है।

---

१. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १९७२
२. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १९७३।
३. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, वि० सं० १९७३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाटकमें सन्धि सन्ध्यंग दोनोंका समावेश हुआ है।

'सुभद्रानाटिका[1]' में चार अंक हैं। महारानी बेलाती महाराजा भरत और सुभद्राके प्रेममें विघ्न बनती है। सुभद्रा और भरतका प्रेमाकर्षण अहर्निश वृद्धिगत होता जाता है। अन्तमें नमि अपनी बहन सुभद्राका विवाह महाराज भरतके साथ यह कहकर सम्पन्न करते हैं कि ज्योतिषियोंने यह भविष्यवाणी की है कि सुभद्राका विवाह जिसके साथ सम्पन्न होगा, वह चक्रवर्ती बनेगा। महारानी बेलाती पतिके अभ्युदयको सुनकर प्रस्तावसे सहमत हो जाती है और सुभद्राका विवाह भरतके साथ सम्पन्न हो जाता है। इस नाटिकाका कथानक रत्नावली नाटिकाके समान है। घटनाओं एवं प्रेमव्यापारका क्रम दोनोंमें प्रायः एक है। नाटिकाकी सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे यह रचना सफल है।

उल्लिखित चार नाटकोंके अतिरिक्त—(१) उदयनराज (२) भरतराज (३) अर्जुनराज और (४) मेघेश्वर ये चार नाटक इनके द्वारा विरचित और माने जाते हैं। भरतराज सम्भवतः सुभद्रानाटिका और मेघेश्वर विक्रान्तकौरवका ही अपर नाम है। उदयनराज और अर्जुनराज इन दो नाटकोंके सम्बन्धमें अभी तक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

ई० सन् की १२वीं शताब्दीमें यशपाल कविने मोह पराजय नामक नाटक लिखा है। यशपालके पिताका नाम धनदेव और माताका नाम रुक्मिणी देवी था। वयस्क होनेपर यशपाल कुमारपालके उत्तराधिकारी अजयपालका मन्त्री नियुक्त हुआ।

इस नाटकमें पाँच अंक हैं और इसका नायक कुमारपाल है। कुमारपाल उनके गुरु हेमचन्द्र और विदूषक—इन तीन पात्रोंके अतिरिक्त समस्त पात्र प्रतीकात्मक हैं। तीर्थङ्कर ऋषभ, पार्श्व और महावीरके वन्दनारूप नान्दी तथा सूत्रधार और नटीके बीच वार्त्तालापके पश्चात् राजा कुमारपाल और विदूषक रंगमंचपर उपस्थित होते हैं। ज्ञानदर्पण गुप्तचर आकर उन्हें सूचित करता है कि मोहराजने मनोनगरपर आक्रमण कर वहांके राजा विवेकचन्द्रको उनकी पत्नी शान्ति और कुमारी कृपासुन्दरी सहित वहांसे मार भगाया है। गुप्तचरने यह भी सूचना दी कि वह सम्यक् चारित्र और नीतिकी पुत्री कीर्तिमञ्जरीसे भी मिल चुका है। कीर्तिमंजरीका विवाह कुमारपालसे हो चुका है, पर उसकी शिकायत है कि महाराज एक जैन मुनिके प्रभावमें आकर उससे तथा उसके भ्रातासे विमुख हो रहे हैं। इस कारण कीर्तिमंजरीने मोहकी सहायता माँगी है एवं मोहराज कुमारपर आक्रमणकी तैयारी कर चुका है। गुप्तचरने कीर्तिमञ्जरीको सचेत कर दिया है कि युद्धमें मोहका ही पराजय होगा। इस बातसे कीर्तिमंजरीको कुछ नैराश्य हुआ। कुमारपालने मोहराजको परास्त करनेका निश्चय कर लिया। मोहराज रणभूमिमें कुमारपाल द्वारा परास्त होता है। विवेकचन्द्रको पुनः मनोनगरका राज्य मिलता है। भरतवाक्यके साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

प्रतीकात्मक शैलीमें लिखा गया यह शान्तरस प्रधान नाटक है। इसमें अमूर्त भावोंको पात्रोंका रूप दिया गया है।

कवि बालचन्द्रने ई० सन् की १३वीं शताब्दीमें करुणावज्रायुध नामक नाटककी रचना की है। इस एकांकी नाटकमें शिवि और कपोतकी कथाका जैन दृष्टिसे वर्णन किया गया है।

---

१. माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्व भवमें तीर्थङ्कर शान्तिनाथका जीव वज्रायुध नामका राजा था। यही इस कथाका नायक है। नाटकके पूर्ववचनमें सूत्रधार, वस्तुपाल तथा उसके पूर्वज कवि तथा उसके गुरुका विस्तारसे विवेचन आया है। कथावस्तुमें बताया है कि राजा वज्रायुध विश्वविजय करके लौटते हैं। बाज पक्षी द्वारा अनुधावित एक भयभीत कबूतर प्रवेश करता है। कबूतर राजासे संरक्षण प्रदान करनेकी याचना करता है। बाज भूखसे अत्यन्त पीड़ित है। अतः वह राजासे अपना भक्ष्य कबूतर माँगता है। भूखसे व्याकुल बाज पक्षी मूर्च्छित हो जाता है। राजा उसे मिष्टान्न खानेको देता है, पर मांसाहारी बाज उसे स्वीकार नहीं करता। अतः राजा कबूतरके बराबर अपना मांस बाजको देनेके लिए तैयार हो जाता है। कबूतर इतना भारी हो जाता है कि समस्त शरीर देनेपर ही उसकी बराबरी हो पाती है। राजाकी इस धर्मनिष्ठताको देखकर दोनों ही— बाज और कबूतर अपना वास्तविक रूप प्रकट कर देते हैं।

ई० सन् की १३वीं शताब्दीमें कवि जयसिंह सूरिने हम्मीर[1] मद मर्दन नामक नाटककी रचना की है। जयसिंह सूरि वीर सूरिके शिष्य थे और भृगुकच्छके मुनिसुव्रत चैत्यके अधिष्ठाता थे। इस नाटकका अभिनय स्तम्भ तीर्थके राज्यपालके पुत्र जयन्त सिंह या जैत्र सिंहके आदेशसे सम्पन्न हुआ था।

इस नाटकमें पाँच अंक हैं। इसकी प्रमुख विशेषता नवरसोंके समवाय की है। कविने शृंगारको जिस प्रतिभाके साथ निबद्ध किया है, उसी प्रतिभाके साथ भयानक और रौद्र रसोंको भी।

यद्यपि इस नाटकका एकमात्र लक्ष्य वस्तुपाल, तेजपाल और राजा वीरधवलकी प्रशंसा करना है तो भी समकालिक कई ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। मुस्लिम कालकी गुप्तचर व्यवस्थाके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण जानकारी उपलब्ध है। अलंकारोंकी योजना तो कविने प्रत्येक पद्यमें की है। चुनी हुई उपमाओं द्वारा भावोंकी अभिव्यञ्जना सरल रूपमें की गयी है। वायुयात्राका वर्णन कविने कलापूर्ण किया है। संवाद ओजस्वी हैं। नाटकीयताके साथ काव्यत्वका भी नियोजन हुआ है। कमलक प्राकृत भाषामें अपना वक्तव्य प्रस्तुत करता है और तेजपाल संस्कृतमें। वीरधवलकी उक्तियाँ बड़ी ही तर्कपूर्ण हैं। संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि यह नाटक नाटकीय गुणोंसे परिपूर्ण है। १२वीं शतीके अन्तिम चरणमें विजयपाल कविने द्रौपदी स्वयंवरकी रचना की है। यह दो अंकोंका नाटक है। इस नाटककी प्रस्तावनासे स्पष्ट है कि गुजरातके चालुक्य नृपति अभिनव सिद्धराज विरुदधारी महाराज भीमदेवकी आज्ञासे त्रिपुरुष देवके सामने वसन्तोत्सवके समय अणहिलपुरमें इस नाटकका अभिनय किया गया था।

नाटकका कथानक महाभारत से गृहीत है। द्रौपदी स्वयंवरका इसमें वर्णन है। महाराज द्रुपद राधावेधकी प्रतिज्ञा प्रस्तुत करते हैं। राधावेध करनेमें जब अनेक राजकुमार और सामन्तकुमार असमर्थ हो जाते हैं तो कृष्णको ललकारता हुआ शिशुपाल राधा-वेध करनेका दम्भ करता है, पर वह इस प्रयत्नमें असफल रहता है। अर्जुन सहज रूपसे राधा-वेधकर द्रौपदीके साथ विवाह सम्पन्न करते हैं।

---

१. सी० डी० दलाल द्वारा सम्पादित और गायकवाड़ सीरीज बड़ौदा द्वारा सन् १९२० में प्रकाशित।

३४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसमें वीर, अद्‌भुत और रौद्र रसोंका सुन्दर चित्रण हुआ है। लघुकाय नाटक होनेपर भी पात्रोंके व्यक्तित्वकी झाँकी सुन्दर रूपमें प्रस्तुत की गयी है।

ई० सन् की १६वीं शताब्दीमें भट्टारक वादिचन्द्रने ज्ञान सूर्योदय नामक नाटककी रचना की है। इस नाटकके पात्र भावात्मक हैं। सूत्रधार और नटीके बीच सम्पन्न हुए वार्त्तालापमें कहा गया है कि लोक स्वभावतः उपशान्त हैं। किसी कर्मके प्रभावसे वे भ्रान्त होते हैं और पुनः शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। चैतन्य आत्माकी सुमति और कुमति नामक दो पत्नियोंसे पृथक्-पृथक् दो वंश प्रतिष्ठित हुए। सुमतिके पुत्र विवेक, प्रबोध, सन्तोष और शील थे तथा कुमतिके मोह, मान, क्रोध, मार और लोभ थे। कुमतिकी प्रेरणासे आत्माने मोह और कामनामक पुत्रोंको राज्य दे दिया। विवेकको यह अच्छा न लगा। अतएव वह ध्यान आदिकी सहायतासे मोह और कामको वश करता है तथा मुक्ति-लाभ करता है।

यह प्रतीकात्मक नाटक रस, अलंकार आदिके साथ अभिनय गुणोंसे भी युक्त है।

उपर्युक्त नाटकोंके अतिरिक्त यशश्चन्द्रका मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रकरण भी उल्लेख्य है। मेघप्रभाचार्यका धर्माभ्युदय[1] नाटक भी उपलब्ध है। इस एकांकीमें कुल ४२ पद्य हैं और आदर्श चरित्रवती चन्दनाका चरित्र निबद्ध है। इस एकांकीमें दशार्णव, सुमति नाम मन्त्री, प्रतीहार भद्रमुख नामक सेवक, शुभंकरनन्दन, इन्द्र-शची एवं अन्य देव प्रमुख पात्र हैं। कविने रीति-प्रीति जैसे अमूर्त्त पात्रोंकी भी कल्पना की है। नाटकका प्रधान वर्ण्य विषय सांसारिक विषय कषायोंसे विरक्त हो वीतरागताकी प्राप्ति करना है। प्रायः सर्वत्र ही समता, शान्ति और कषाय शमनकी चर्चा की गयी है। आत्मोत्थानकी चर्चा करनेपर भी नाटकीयतामें कोई कमी नहीं आने पायी है।

समामृत नामक एक छाया नाटक भी उपलब्ध है। इसके कर्त्ताके सम्बन्धमें कोई जानकारी नहीं है। इस नाटककी कथावस्तु तीर्थंकर नेमिनाथकी कथावस्तुसे सम्बद्ध है। आरम्भमें नायक-नायिकाके प्रेमाकर्षणका चित्रण है, पर विवाहके अवसरपर पशुओंके करुण-क्रन्दनको सुन वे विरक्त हो जाते हैं और नाटककी कथा शृंगारसे शान्त रसकी ओर मुड़ जाती है।

इस प्रकार रामचन्द्र, हस्तिमल, बालचन्द्र, वादिचन्द्र, माणिक्यदेव, यशश्चन्द्र, विजयपाल, जयसिंह सूरि आदिने संस्कृत-जैन-साहित्यको समृद्ध किया है।

■

---

१. सम्पादक मुनि पुण्यविजय, प्रकाशक आत्मानन्द सभा भाव नगर सन् १९१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृतके सांकेतिक अंक

शून्य—गगन, ख, अभ्र, व्योमन्, वियत्, अम्बर, नभस्, आकाश, अनन्त, अन्तरीक्ष, विष्णुपद, पुष्कर, सुरवर्त्मन् ।

एक—सुधांशु, निशापति, पृथ्वी, द्विजराज, शशधर, नक्षत्रेश, क्षपाकर, धात्री, क्षमा, सोम, प्रालेयांशु, रजनीकर, हिमगु, मृगाङ्क, कलाधर, रूप, शशि, इन्दु, कु, भूमि, भू, चन्द्र, अब्ज, विधु, इला, उर्वी, निशाकर, प्रभव ।

दो—युग्म, दस्र, यम, अश्विन, लोचन, द्वि, द्वय, कर, अश्वि, कृति, अक्षि, नयन, पक्ष, नेत्र, यमल, विभव, दृग्, द्वे, द्वौ, उभौ, युगल, दृष्टि, चक्षुस्, ईक्षण, हस्त, मिथुन युतक, द्वैत ।

तीन—त्रय, गुण, क्रम, अग्नि, राम, दहन, हुताशन, पावक, त्रि, विश्व, अनल, शिखि, वह्नि, शुक्ल, हरनेत्र, पुर, लोक, त्रै, रत्न, भुवन, ज्वलन, वैश्वानर, तनूनपात्, वर्हि, कृशानु, रोहिताश्व, वायुसख, हिरण्यरेतस्, हव्यवाहन, सप्तार्चिस्; चित्रभानु, वड़वानल, वाडव ।

चार—चतुर्, सागर, युग, अब्धि, वेद, सिन्धु, कृत, वारिधि, जलधि, उदधि, पयोधि, अम्बुधि, विषधि, गति, कषाय, सलिलाकर, कूपार, पारावार, सरित्पति, अर्णव, जलनिधि, यादःपति, अपांपति ।

पाँच—इन्द्रिय, विषय, बाण, शर, इषु, नाराच, पञ्च, अक्ष, सायक, अशु, भूत, मरुत्, अर्थ, प्रजापति, शस्त्र, व्रत, विषय, तन्तुसायक ।

छह—रस, ऋतु, अंग, षट्, अरि, अङ्गिरस्, तर्क, जीव, लेश्या, द्रव्य, काय, खर, कुमारवदन, पद, रिपु, द्विष, द्वेषण, दुर्हृद्, सपत्नारी ।

सात—भय, अचल, मुनि, गिरि, पन्नग, द्वीप, धातु, व्यसन, तत्त्व, सप्त, नग, भूभृत, क्ष्माधर, अद्रि, शैल, क्ष्माभृत्, अग, अश्व, घोटक, भूधर, गोत्र, चक्रवाल, त्रिकूट, शिलोच्चय, नरक, श्रीमुख ।

आठ—अष्टन्, नाग, व्याल, गज, सिन्धुर, भुजङ्ग, द्विप, कुञ्जर, इभ, अहि, दन्तिन्, करिन्; वसु, हय, भर्वि, फणिन्, तनु, कर्मन्, वारण, द्विरद, अनीक, स्तम्बेरम, यूथप, पक्षी, यूथनाथ, मदकल, कलभ, करिशावक, स्पर्श ।

नौ—नवन्, पदार्थ, केशव, नारायण, प्रतिनारायण, निधि, ग्रह, दुर्ग, गो, अङ्क, खग, खेचर, रन्ध्र, युवा ।

दश—आशा, दिक्, ककुभ्, धाता, काष्ठा, हरित्, खशशि, खेन्दु, खभू, खिला, खाब्ज, खचन्द्र, खरूप ।

ग्यारह—एकादशन्, भव, रुद्र, शिव, ईश्वर, ईश, शूलिन्, क्षितिभू, भुवाब्ज, चन्द्राब्ज, इलाब्ज, चन्द्ररूप, भुवेन्दु, भूरूप, विधुरूप, धूर्जटि, भूतेश, शंभु, पशुपति, शूलिन्, महेश्वर, शंकर, शर्व, चन्द्रशेखर, सोमेन्दु, सोमरूप, इलारूप, गिरीश, पिनाकिन्, कपर्दिन्, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, कपालभृत्, वामदेव, धात्रीभू, हर, भर्ग, त्र्यम्बक, भीम, स्थाणु ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारह—द्वादशन्, सूर्य, अर्क, चक्रवर्तिन्, दिवाकर, भानु, कामदेव, बहुधान्य, इन, तपन, रवि, नयनभू, नयनेन्दु, दस्राब्ज, दस्ररूप दस्रेन्दु, युग्मेन्दु, युग्मरूप, कराब्ज, करेन्दु, हस्तेन्दु, हस्तभू, अक्षिसोम, पक्षकु, पक्षभू, कर्मसाक्षिन्, जगच्चक्षुस्, लोकबन्धु, दिनमणि, धामनिधि, अंशुमालिन्, अब्जिनीपति, राशि, आदित्य, भास्कर, हरिदश्व, उष्णरश्मि, मार्तण्ड, यमरूप, यमकू, अर्यमन्, अहस्कर, कृतिरूप, दृगभू, हस्तरूप, करभू, लोचनाब्ज, लोचन-रूप, ईक्षणेन्दु, ईक्षणरूप, विभवरूप, प्रभाकर, विभाकर, विकर्तन, द्वैताब्ज ।

तेरह—त्रयोदशन्, गुणभू, रामभू, दहनकू, प्रमाथिन्, गुणाब्ज, गुणरूप, अग्निरूप, क्रमरूप, क्रमाब्ज, गुणेन्दु, क्रमेन्दु, रत्नरूप, रत्नभू, रत्नेन्दु, पुरेन्दु, पुररूप, भुवनेन्दु, भुवनरूप, भुवनाब्ज, भुवनसोम, लोकेन्दु, लोकरूप, लोकाब्ज, ज्वलनरूप ज्वलनाब्ज, ज्वलनशशिन्, ज्वलनकू, वह्निभू, रत्नचन्द्र, रत्नसोम, शिखिरूप, शिखिकू, शिखिभू, वह्नीला, वह्निभू वह्निकू, शुक्लरूप, शुक्लाब्ज, शुक्लभू, शुक्लकू, शुक्लचन्द्र, कृशानुरूप, कृशानुकू, कृशानुभू, दहनकू, दहनभू, दहनसोम, दहनेला, दहनक्ष्मा ।

चौदह—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, गुणस्थान, मनु, वज्रिण, मघवन, चतुर्दशन्, वेदभू, विक्रम, वेदकू, वेदेन्दु, युगेन्दु, युगरूप, युगशशिन्, युगचन्द्र चतुर्‌रूप, चतुर्भू, चतुष्कू, कृतरूप, कृतकू, कृतभू, कृताब्ज, कृतशशिन्, कृतचन्द्र, वारिधिरूप, वारिधिभू, वारिधिचन्द्र, वारिधिसोम, जलधिरूप, जलधिकू, जलधिभू, जलधीला, पयोधीला, वेदेला, अम्बुधीला, उदधीला, मार्गणा, कषायाब्ज, गतीला, वार्धीला, विषधीला अर्णवभू, अर्णवकू, अर्णवरूप, आश्रमभू, आश्रमकू, आश्रमसोम, विडौजस्, पाकशासन, शुनासीर, शतमन्यु, वासव, सुत्रामन् ।

पन्द्रह—पंचदशन्, तिथि, अक्षभू, इषुक्षिति, वृष, बाणेन्दु, बाणरूप, शराब्ज, शरेन्दु, अक्षकू, अक्षसोम, भूतरूप, भूताब्ज, शस्त्ररूप, शस्त्राब्ज, शस्त्रभू, शस्त्रकू, बाणभू, व्रतरूप, व्रतभू, व्रतकू, व्रतक्ष्मा, व्रतेन्दु, व्रतेला, इन्द्रियेला, विषयेला, बाणेला, शरेला, नाराचेला, अक्षीला, अर्थरूप, अर्थभू, अर्थकू, अर्थेला, अर्थसोम, अर्थशशिन्, अर्थचन्द्र, भूतेन्दु, अर्थेन्दु, वर्णरूप, वर्णेन्दु, वर्णकू, वर्णेला, वर्णसोम, अशुरूप, अशुकू, अशुभू, मरुद्भू मरुद्रूप, मरुत्कू, मरुदिला, मरुत्सोम ।

सोलह—षोडशन्, नृप, रसभू, अङ्गभू, अङ्गकू, रसकू, रससोम, रसेला, रसेन्दु, अंगेदु, अंगेला, राजा, भूपति, इलापति, नृपति, पृथ्वीपति, चित्रभानु, मेदिनीपति, अष्टि, रसाब्ज, रसरूप, जीवरूप, जीवेन्दु, जीवचन्द्र, तर्करूप, तर्केन्दु, तर्कभू, तर्कशशिन्, अरिरूप, अरीला, अरिभू, अरिकू, तर्ककू, द्रव्यरूप, द्रव्यभू, द्रव्यकू, द्रव्येन्दु, कायरूप, कायभू, कायकू, कायेन्दु ,खरेन्दु, खरेला, खररूप, खरभू, पदरूप, पदेन्दु, पदकू, पदभू, पदसोम, पदेला, पदक्ष्मा, पदधात्री, रिपुरूप, रिपुभू, रिपुकू, द्विषरूप, द्विषेला, द्विषभू, द्विषकू, लेश्याभू, लेश्यारूप ।

सत्रह—सप्तदशन्, अत्यष्टि, अश्वभू, नगभू, अगभू, अचलभू, भयरूप, भयभू, मुनिभू, गिरिभू, द्वीपभू, धातुभू, व्यसनभू, तत्त्वभू, अद्रिभू, नरकभू, नरकरूप, नरककू, अश्वकू, नगकू, अगकू, अगेन्द्र, अगरूप, अगसोम, अचलसोम, भयसोम, भयेन्दु, भयकू, गिरिरूप, गिरिकू, गिरिभू, गोत्ररूप, गोत्रभू, वाजिरूप, वाजिभू, वाजिकू, चक्रवालेन्दु, अद्रिकू, तत्त्वेन्दु,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्वभू, तत्त्वसोम, तत्त्वकू, सप्तेन्दु, सप्तरूप, सप्तभू, सप्तकू, श्रीमुखेन्दु, श्रीमुखसोम, श्रीमुखरूप।

अठारह—अष्टादशन्, धृति, नागाब्ज, व्यालेन्दु, भुजङ्गरूप; वसुभू, हयेन्दु, हयरूप, इभेन्दु, अष्टेन्दु, अष्टरूप, हयभू, अष्टभू, व्यालाब्ज, व्यालरूप, वस्विला, तारण, द्विपाब्ज, द्वीपरूप, द्विपेन्दु, गजेन्द्र, गजरूप, गजैक, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, गजेन्दु, गजरूप, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, कर्मभू, वारणरूप, वारणेन्दु, वारणहिमगु, वारणाब्ज, अहिरूप ,अहिभू, अहिकू, कलभेन्दु, कलभैक, कलभरूप, यूथपेन्दु, यूथपरूप, यूथपभू, स्पर्शरूप, स्पर्शेन्दु, स्पशकू, स्पर्शभू, स्पर्शहिमगु, द्विरदेन्दु, द्विरदरूप, द्विरदकू, अनीकरूप, अनीकेन्दु, अनीकभू, दन्तिरूप, दन्तिभू, दन्तिकू, दन्तीला, करीला, भर्वीला, फणीला, फणिरूप, पद्मिनीला, जट, दट, दक।

उन्नीस—पार्थिव, गोऽब्ज, अंकेन्दु, अङ्करूप, अङ्काब्ज, खगेन्दु, अङ्कभू, खगाब्ज, रन्ध्राब्ज, रन्ध्रूरूप, गोरूप, एकोनविंशति, झक, धक, झट, घट, झप, धप, वक, वप, खेचरेन्दु, खेचररूप, पदार्थरूप, पदार्थेन्दु, केशवरूप, केशवभू, नारायणरूप, नारायणसोम, ग्रहरूप, ग्रहभू।

बीस—विंशति, खाश्वि, अभ्रलोचन, खनेत्र, गगनलोचन, व्योमपक्ष, खदस्र, खपक्ष, अभ्रकृति, नख, व्यय, अख, इठ, उठ, ओफ, नफ, नठ, ञख, ङठ, ञर, नभाश्वि, नभकर, नर, नभकृति, नभपक्ष, खकृति, खपक्ष, खविभव, पुष्करद्वे, अनन्तचक्षुस्, आकाशदस्र, अर।

इक्कीस—एकविंशति, स्वर्ग, इन्दुनेत्र, चन्द्रनयन, चन्द्रपक्ष, सर्वजित्, भूदस्र, भूयम, भूपक्ष, कुदस्र, अब्जनयन, रूपनयन, रूपनेत्र, रूपयम, कठ, टख, पख, पठ, कफ, स्वर्, नाक, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यो, दिव, भूहस्त, विबुधालय, अमरलोक, अमरालय, सुरालय, देवलोक, देवालय, निर्जरलोक।

बाईस—द्वाविंशति, नेत्रदस्र, नयनयम, खठ, फख, आश्वियमल, नयनाकृति, पक्षाकृति, नेत्रपक्ष, अश्विपक्ष, करयम, यमपक्ष, नेत्रविभव, द्विकर, नयनकर, हस्तपक्ष, यमपक्ष, यमलकृति, यमलपक्ष, रठ, ठख, खर, द्वियम, यमलनेत्र।

तेईस—त्रयोविंशति, क्रमयम, गुणयम, रामपक्ष, रामयम, लोकयम, लोकनेत्र, लोकदृग्, लोककृति, रामकृति, क्रमपक्ष, विश्वनेत्र, पुरनेत्र, पुरनयन, पुरपक्ष, गुणपक्ष, रत्नयम, भुवनद्वय, गठ, डख, गर, बर, बठ, बख, गफ, ज्वलनदस्र, ज्वलनपक्ष, दहनकृति, अनलपक्ष।

चौबीस—जिन, सिद्ध, अवतार, वेदपक्ष, युगनेत्र, सागराक्षि, कृतपक्ष, वेदनयन, गतिपक्ष, गतिनयन, कषायनयन, युगदस्र, सागरदस्र, अर्णवपक्ष, अर्णवकृति, कृतकृति, घठ, ढर, भख, घफ, सिन्धुदस्र, सिन्धुनेत्र, कषायदस्र।

पच्चीस—पंचविंशति, बाणनेत्र, बाणपक्ष, बाणाकृति, शराकृति, शरपक्ष, शरनेत्र, भूतपक्ष, भूतनेत्र, भूताकृति, भूतदस्र, अक्षपक्ष, सायकाकृति, नाराचनयन, नाराचदस्र, अर्थाकृति, अर्थनेत्र, अर्थनयन, व्रतपक्ष, व्रतकृति, शख, शठ, शर।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छब्बीस—षड्‌विंशति, रसनेत्र, रसदस्र, रसयम, अंगकृति, अंगयुगल, ऋतुयम, ऋतुनेत्र, ऋतुपक्ष, ऋतुदस्र, चर, तठ, बख, षफ, अरिदस्र, अरिपक्ष, रिपुपक्ष, रिपुकृति, रिपुनेत्र, कायदस्र, कायनेत्र, काययम, काययुगल, खरपक्ष, खरकृति, खरदस्र ।

सत्ताईस—सप्तविंशति, भ, नक्षत्र, ऋक्ष, छठ, सख, थर, अश्वनेत्र, अश्वयम घोटकदस्र, घोटकयम, मुनिनेत्र, मुनिकृति, भयनेत्र, भयपक्ष, भयदस्र, सप्तयम, सप्तनेत्र, भूधरयम, भूभृन्नेत्र, शैलयम, गोत्रयम, नरकयम, नरकदस्र, श्रीमुखनयन, अंगपक्ष, अंगकृति, नगपक्ष, नगदस्र, नगयुगल, पर्वतद्वय ।

अट्ठाईस—अष्टाविंशति, सिन्धुरनेत्र, इभनेत्र, इभपक्ष, इभाक्षि, इभाकृति, तनुयम, कर्मदस्र, वारणयम, वारणनेत्र, अनीकयुगल, हयद्वन्द्व, वसुपक्ष, तनुपक्ष, फणियम, व्यालनेत्र, नागयम ।

उनतीस—एकोनत्रिंशत्, गोयम, अंकपक्ष, खेचरयम, गोयुगल, खगनेत्र, खगदस्र, खेचरकृति, रन्ध्रयम, रन्ध्रनेत्र, झर, झठ, ढफ, ग्रहयुगल, ग्रहयम, निधिनेत्र, निधियम, दुर्गनेत्र, दुर्गकृति ।

तीस—त्रिंशत्, खरदहन, खगुण, खक्रम, अभ्रगुण, खराम, आकाशाग्नि, आकाशगुण, व्योमगुण ।

इकतीस—एकदहन, इन्द्रगुण, चन्द्रगुण, चन्द्रराम, टग, कड, पड, कब, कल, टल, कुगुण, कुदहन, भूराम, भूगुण, अब्जगुण, अब्जराम, इलागुण, कुरत्न, भूलोक, पृथ्वीलोक, इलालोक, चन्द्रलोक, शशिलोक, इन्दुलोक, चन्द्रभुवन, शशिभुवन, भूज्वलन, रूपगुण, रूपरत्न, रूपविश्व, रूपानल, क्षमालोक, एकत्रिंशत् ।

बत्तीस—द्वात्रिंशत्, रदन, दशन, दन्त, यमगुण, दस्रत्रय, युगलगुण, यमदहन, यमाग्नि, यमलोक, यमभुवन, कराग्नि, करवह्नि; नेत्ररत्न, नयनरत्न, नेत्रलोक, अग्निरत्न, करगुण, कररत्न, करराम, हस्तगुण ।

तेंत्तीस—अमर, निर्जर, देव, त्रिदश, विबुध, सुर, दिवौकस्, त्रिलोक, रामगुण, रत्नलोक, भुवनत्रय, लोकत्रय, त्रयस्त्रिंशत्, दहनाग्नि, क्रमरत्न; क्रमपुर, दहनत्रय, गड, बड, बग, लब, बल ।

इन संख्या-सम्बन्ध सांकेतिक अंकोंका संग्रह गणित-सार-संग्रह, सिद्धान्त-शिरोमणि (गणिताध्याय), ग्रहलाघव, सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक, लीलावती, बीजगणित, विश्वलोचन, अमरकोश और गोलप्रकाश इन ग्रन्थोंसे किया है । विशेषता यह है कि अजैन ग्रन्थोंमें तत्त्व शब्दसे २५ लिया गया है किन्तु, गणितसार-संग्रहमें तत्त्व शब्दसे ७ ही लिया गया है ।

दूसरा तरीका संख्या निकालनेका यह भी है—

कटपयपुरस्थवर्णैः नवनवपञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः । स्वरनञशून्यं संख्यामात्रापरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्रम से क से झ तक और ट से ध तक इन नौ-नौ अक्षरोंको एकादिसंख्याबोधक जानना चाहिये। इसी प्रकार प से म तक पाँच और य से ह तक आठ अक्षरोंकी संख्या भी। स्वर न ञ ये सब शून्यके द्योतक जानना। इस प्रकार शब्दोंसे संख्याकी निष्पत्ति होती है।

ज्योतिषीजीका यह संग्रह अधूरा है, फिर भी इससे अन्वेषक विद्यार्थियोंको कुछ न कुछ लाभ होगा ही। इस विषय पर एक गवेषणा-पूर्ण बृहत् लेख प्रकाशमें आनेकी आवश्यकता है।

—के० बी० शास्त्री

*

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृत-कोषसाहित्यको आचार्य हेमकी अपूर्व देन

संस्कृत-कोशसाहित्यकी परम्परा :—संस्कृत भाषामें कोष-ग्रंथ लिखनेकी परम्परा वैदिक युगसे चली आ रही है, निघण्टवः—निघण्टुओंकी महत्त्वपूर्ण शब्दावली यास्कके निरुक्तके साथ उपलब्ध है, विलुप्त कोष-ग्रन्थोंमें भागुरिकृत कोशका नाम सर्वप्रथम आता है[1]। अमरकोष-की टीकामें भागुरिके प्राचीन उद्धरण उपलब्ध होते हैं। भानुजि दीक्षित ने अपनी अमरकोश-टीकामें आचार्य आपिशलका एक वचन उद्धृत किया है।[2] जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने भी कोई कोषग्रन्थ लिखा है। उणादिसूत्रके वृत्तिकार उज्ज्वलदत्त द्वारा उद्धृत एक वचनसे भी उक्त तथ्यकी पुष्टि होती है। आपिशल वैयाकरण थे, इनका स्थिति काल पाणिनिसे पूर्व है।

केशवने नानार्थार्णव संक्षेपमें शाकटायनके कोशविषयक वचन उद्धृत किये हैं, जिनसे इनके कोशकार होनेकी सम्भावना है।[3] अभिधान चिन्तामणि आदि कोशग्रन्थोंकी विभिन्न टीकाओंमें व्याडिकृत किसी विलुप्त कोशके उद्धरण मिलते हैं।[4] कीथने अपने संस्कृत साहित्यके इतिहासमें नाममालाके कर्त्ता कात्यायन, शब्दार्णवके रचयिता वाचस्पति और संसारावर्तके लेखक विक्रमादित्यका उल्लेख किया है।[5]

उपलब्ध कोशग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन और ख्यातिप्राप्त अमरसिंहका अमरकोश है। डॉ० हार्नलेने इसका रचनाकाल ६२५-६४० ई० के बीच माना है। यह समानार्थ शब्दोंका संग्रह है और विषयकी दृष्टिसे इसका विन्यास तीन काण्डोंमें किया गया है। इसकी अनेक टीकाओंमें ग्यारहवीं शताब्दीमें लिखी गयी क्षीरस्वामीकी टीका बहुत प्रसिद्ध है। इसके परिशिष्टके रूपमें संकलित पुरुषोत्तमदेवका त्रिकाण्डशेष है, जिसमें उन्होंने विरल शब्दोंका संकलन किया है। कवि और वैयाकरणके रूपमें ख्यातिप्राप्त हलायुधने अभिधानरत्नमाला नामक कोशग्रंथ ई० सन् ९५० के लगभग लिखा है। इसमें पर्यायवाची समानार्थक शब्दोंका संकलन है। दाक्षिणात्य आचार्य यादवने वैज्ञानिक पद्धति पर वैजयन्ती कोश लिखा है। नवीं शतीके विद्वान् धनञ्जयने नाममाला, अनेकार्थनाममाला और अनेकार्थनिघण्टु ये तीन कोशग्रन्थ लिखे हैं, ये तीनों कोश छात्रोपयोगी, सरल और सुन्दर शैलीमें लिखे गये हैं।

कोश साहित्यकी समृद्धिकी दृष्टिसे बारहवीं शताब्दी महत्त्वपूर्ण है। इस शतीमें केशव-स्वामीने नानार्थार्णवसंक्षेप एवं शब्दकल्पद्रुम, महेश्वरने विश्वप्रकाश, अभयपालने नानार्थरत्न-माला और भैरव कविने अनेकार्थकोषकी रचना की है। इसी शताब्दीके महाविद्वान् आचार्य हेमचन्द्रने अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह एवं निघण्टुशेषकी रचना की है। चौदहवीं

१. सर्वानन्दविरचित टीकासर्वस्व भाग १ पृ० १९३।
२. अमरटीका १।१।६६ पृ० ६८।
३. अभिधानचिन्तामणि—चौखम्बा संस्करण प्रस्तावना पृ० ९।
४. अभिधानचिन्तामणि १।५, ३४।२२ और २५।
५. कीथ—संस्कृत साहित्यका इतिहास, पृ० ४८९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शताब्दीमें मेदिनीकरने अनेकार्थशब्दकोश, हरिहरके मन्त्री इरुपद दण्डाधिनाथने नानार्थ-रत्नमाला और श्रीधरसेनने विश्वलोचन कोश लिखा है, सत्रहवीं शतीमें केशव दैवज्ञने कल्पद्रुम और अप्पय दीक्षितने नामसंग्रहमाला एवं वेदांगरायने पारसीप्रकाश कोशकी रचना की है। इनके अतिरिक्त महिपका अनेकार्थतिलक, श्रीमल्लभट्टका आख्यातचन्द्रिका, महादेव वेदान्तीका अनादिकोश, सौरभीका एकार्थनाममाला—द्व्यक्षरनाममाला कोश, राघव कविका कोशावतंस, भोजका नाममाला कोश, शाहजीका शब्दरत्नसमुच्चय, कर्णपूरका संस्कृत-पारसीकप्रकाश एवं शिवदत्तका विश्वकोश उपयोगी संस्कृत कोशग्रंथ हैं।

आचार्य हेमका महत्त्व और उनकी ऐतिहासिक सामग्री—हेमचन्द्रके संस्कृतकोशग्रंथ साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इनके ग्रन्थोंमें भाषा, इतिहास, संस्कृति एवं साहित्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित हैं। अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञवृत्तिमें इन्होंने अपने पूर्वकर्मी ५६ ग्रंथकारों और ३१ ग्रंथोंका उल्लेख किया है। यथा :

अमर [५५-१७ तथा २१][1], अमरादि [२७६-२१,२९९-१४], अलंकारकृत् [११२-१३], आगमविद् [७०-१४], उत्पल [७४-१४] कात्य [५६-१०,६२-८] कामन्दकि [५५०।४], कालिदास [४१३-२,४४०-१६], कौटिल्य [१७०-४,२९६-२], कौशिक [१६६-१३,१७०-२८] क्षीरस्वामी [३५०-९,४६१-१७], गौड [३६-२९,५३-३], चाणक्य [३९४-५] चान्द्र [५२८-२५] दन्तिल [१२१-१२२,५६३-३], दुर्ग [५७-२८, १७४-२७], द्रमिल [१५१-७, २०९-२७], धनपाल [१-५,७६-२१], धन्वन्तरि [१६६-२८,२५९-७], नन्दी [५२-५३], नारद [३५७-१८, नैरुक्त [१६४-१८, १८६-६], पदार्थविद् [२०८-२२], पालकाप्य [४९५-२७], पौराणिक [३७३-६] प्राच्य [२८-२६], बुद्धिसागर [२४५-२५], बौद्ध [१०१-१७] भट्टतौत [२४-१७], भट्टि [५९३-२३], भरत [११७-९] भागुरि [६६-१४], भाष्कार [६६-२३], भोज [१५७-१७], मनु [६३-११], माघ [९२-१७], मुनि [१७१-१८], याज्ञवल्क्य [३३६-२], याज्ञिक [१०३-९], लौकिक [३७८-२३], वाग्भट्ट [१६७-१], वाचस्पति [१-६], वासुकि [१-५], विश्वदत्त [४९-८], वैजयन्तीकार [१३१-२३], वैद्य [१६६-२८], व्याडि [१-५] शाब्दिक [४३-७], शाश्वत [६४-७], श्रीहर्ष [११८-७], श्रुतिज्ञ [३३२-२७], सभ्य [१३४-१], स्मार्त [२०९-२१०], हलायुध [१४४-१५] एवं हृद्य [४५३-२७]।

इन ग्रंथकारोंके अतिरिक्त अमरकोश [८-५], अमरटीका [४५-१३], अमरमाला [४४०-३२], अमरशेष [१५३-२०], अर्थशास्त्र [२९७-२५] धातुपारायण [१-११], भारत [३३८-१३], महाभारत [८१-२३], वामनपुराण [४६-२९], विष्णुपुराण [६९-१९], शाकटायन [२-१], एवं स्मृति [३५-२७] आदि ३१ ग्रंथोंका भी उल्लेख किया है।

जहाँ शब्दोंके अर्थमें मतभेद उपस्थित होता है, वहाँ आचार्य हेम अन्य ग्रंथ तथा ग्रंथकारोंके वचन उद्धृत कर उस मतभेदका स्पष्टीकरण करते हैं। फलतः प्रसंगवश अनेक ग्रंथ और ग्रंथकारोंके सम्बन्धमें पर्याप्त जानकारी की सामग्री वर्तमान है। विलुप्त कोशकार भागुरि और व्याडिके सम्बन्धमें अभिधान-चिन्तामणिसे ही तथ्योंकी जानकारी प्राप्त होती है।

---

1. अभिधानचिन्तामणिके भावनगर संस्करणके पृष्ठ और पंक्ति निर्दिष्ट हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नवीन शब्दोंका संकलन—अभिधानचिन्तामणिमें इस प्रकारके शब्द प्रचुर परिमाणमें आये हैं, जो अन्य कोशग्रंथोंमें नहीं मिलते। अमरकोशमें सुन्दरके पर्यायवाची—सुन्दरम्, रुचिरम्, चारुः, सुषमम्, साधुः, शोभनम्, कान्तम्, मनोरमम्, रुच्यम्, मंजुः और मंजुलम् ये वारह शब्द आये हैं। हेमने इसी सुन्दरम्के पर्यायवाची चारुः, हारि, रुचिरम्, मनोहरम्। वल्गु, कान्तम् अभिरामम्, बन्धुरम्, वामम्, रुच्यम्, सुषमम्, शोभनम्; मंजुलम्, मंजुः, मनोरमम्, साधुः, रम्यम्, मनोरमम्, पेशलम्, हृद्यम्, काम्यम्, कमनीयम्, सौम्यम्, मधुरम् और प्रियम्, ये २६ शब्द बतलाये हैं। इतना ही नहीं हेमने अपनी वृत्तिमें 'लडह' देशी शब्दको भी सौन्दर्यवाची ग्रहण किया है। अमरकोशके साथ तुलना करते हुए कुछ शब्दोंके पर्यायोंका निर्देश किया जाता है।

नाम	अमरकोशकी पर्यायसंख्या	अभिधानचिन्तामणिकी पर्यायसंख्या
सूर्य	३७	७२
किरण	११	३९
चन्द्र	२०	३२
शिव	४८	७७
गौरी	१७	३२
ब्रह्मा	२०	४०
विष्णु	३९	७५
अग्नि	३४	५१

पर्यायवाची शब्दोंकी संख्याधिक्यके अतिरिक्त ऐसे नवीन शब्द भी समाविष्ट हैं, जो संस्कृति और साहित्यके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इस कोशमें जिसके वर्ण या पद लुप्त हों—पूरा-पूरा उच्चारण नहीं किया गया हो उस वचनका नाम 'ग्रस्तम्' और थूकसहित वचनका नाम 'अम्बूकृतम्' आया है। शुभवाणी-कल्याणप्रद वचनका नाम 'कल्या' हर्ष-क्रीडासे युक्त वचनके नाम 'चर्चरी' और 'चर्मरी' एवं निन्दापूर्वक उपालम्भयुक्त वचनका नाम 'परिभाषण' आया है। जले हुए भातके लिए मिस्सटा [३-६०] और दग्धिका नाम आये हैं। गेहूँके आटेके लिए समिता [३-६६] और जौके आटेके लिए चिक्कस [३-६६] नाम आए हैं। नाककी विभिन्न बनावट वाले व्यक्तियोंके विभिन्न नामोंका उल्लेख भी इस बातका सूचक है कि आचार्य हेमको मानवशास्त्रकी कितनी अधिक जानकारी थी। इन्होंने चिपटी नाकवालेको नतनासिक, अवनाट, और अवभ्रट, नुकीली नाकवालेको खरणास, छोटी नाकवालेको नःक्षुद्र और क्षुद्रनासिक, खुरके समान बड़ी नाकवालेको खुरणस एवं ऊँची नाकवालेको उन्नस और उग्रनासिक कहा है।[1] नृतत्त्वविज्ञानका अध्ययन करनेवाले शरीरके अन्य अंगोपांगोंके साथ नाक एवं केशरचनाको विशेष महत्त्व देते हैं। यों तो मानवसमूहोंके प्रजातीय वर्गीकरणके लिए शरीरके विभिन्न अंगोंकी नापजोख, रक्तसमूहविश्लेषण, मांसपेशियोंका गठन, त्वचा, आँख और केशके रंग एवं केश-रचनाका उपयोग करते हैं, पर नाक और आँखकी बनावट प्रमुख स्थान रखती है। हेमने इस दृष्टिसे मंगोलॉयड, काकेसायड, अफ्रीकी नीग्रॉयड, मेलानेशियन

१. अभिधानचिन्तामणि ३।११५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और पालीनेशियन प्रजातियोंके मानवोंका चित्र उपस्थित कर दिया है। अंगोपांगोंके विभिन्न नामोंके विवेचनसे यह सहजमें अवगत किया जा सकता है कि हेमको नृतत्त्वज्ञान की गहरी जानकारी थी।

पति-पुत्रसे हीन स्त्रीके लिए निर्वीरा [३-१९४], जिस स्त्रीको दाढ़ी या मूँछके बाल हों, उसको नरमालिनी [३-१९५], बड़ी शालीके लिए कुली [३-२१८] और छोटी शालीके लिए हाली, यन्त्रणी और केलिकुंचिका [३-२१९] नाम आये हैं। छोटी शालीके इन नामोंको देखनेसे अवगत होता है कि उस समयमें छोटी शालीके साथ हँसी-मजाक करनेकी प्रथा थी। साथ ही पत्नीकी मृत्युके पश्चात् छोटी शालीसे विवाह भी किया जाता था। इसी कारण इसे केलिकुंचिका कहा गया है।

दाहिनी और बायीं आँखोंके लिए पृथक्-पृथक् शब्द इसी कोशमें आये हैं, दाहिनी आँखका नाम मानवीय और बायीं आँखका नाम सौम्य [३-२४०] कहा गया है, इसी प्रकार जीभके मैलको कुलुकम् और दाँतके मैलको पिप्पिका [३-२९६] कहा गया है। मृगचर्मके पंखेका नाम धवित्रम्, कपड़ेके पंखेका नाम आलावर्तम् एवं ताड़के पंखेका नाम व्यजनम् [३-३५१-५२] आया है। नावके बीचवाले डण्डोंका नाम पोलिंदा, ऊपरवाले भागका नाम मंग एवं नावके भीतर जमे हुए पानीको बाहर फेंकनेवाले चमड़ेके पात्रका नाम सेकपात्र या सेचन [३-५४२] बताया है। ये शब्द अपने भीतर सांस्कृतिक इतिहास भी समेटे हुए हैं। छप्पर छानेके लिए लगायी गई लकड़ीका नाम गोपानसी [४-७५], जिसमें बाँधकर मथानी घुमायी जाती है, उस खम्भेका नाम विष्कम्भ [४-८९], सिक्का आदि रूपमें परिणत सोना-चांदी, तांबा आदि सब धातुओंका नाम रूप्यम्, मिश्रित सोना-चांदीका नाम घनगोलक [४-११२-११३], कूंआके ऊपर रस्सी बांधनेके लिए काष्ठ आदिकी बनी हुई चरखीका नाम तंत्रिका [४-१५७], घरके पास वाले बगीचेका नाम निष्कुट, गांव या नगरके बाहरवाले बगीचेका नाम पौरक [४-१७८], क्रीड़ाके लिए बनाये गये बगीचेका नाम आक्रीड या उद्यान [४-१७८], राजाओंके अन्तःपुरके योग्य घिरे हुए बगीचेका नाम प्रमदवन [४-१७९], धनिकोंके बगीचेका नाम पुष्पवाटी या वृक्षवाटी [४-१६९] एवं छोटे बगीचेका नाम क्षुद्राराम या प्रसीदिका [४-०१७९] आया है।

प्रसाधनसामग्री सूचक शब्दावलि—अभिधानचिन्तामणिका जहाँ अनेक दृष्टियोंसे महत्त्व है, वहां प्राचीन भारतमें प्रयुक्त होनेवाली विभिन्न प्रकारकी प्रसाधनसामग्रीकी दृष्टि से भी। इस कोषमें शरीरको संस्कृत करनेको परिकर्म (३।२९९), उबटन लगानेको उत्सादन (३।२९९), कस्तूरी-कुंकुमका लेप लगानेको अंगराग; चन्दन, अगर, कस्तूरी और कुंकुमके मिश्रणको चतुःसमम्; कर्पूर, अगर; कंकोल, कस्तूरी और चन्दनद्रवको मिश्रितकर बनाये गये लेपविशेषको यक्षकर्दम एवं शरीरसंस्कारार्थ लगाये जानेवाले लेपका नाम वर्ति या गात्रानुलेपनी कहा गया है। मस्तकपर धारण की जाने वाली फूलकी मालाका नाम माल्यम्, बालोंके बीचमें स्थापित फूलकी मालाका नाम गर्भ, चोटीमें लटकनेवाली फूलोंकी मालाका नाम प्रभ्रष्टकम्, सामने लटकती हुई पुष्पमालाका नाम ललामकम्, छातीपर तिर्छी लटकती हुई पुष्पमालाका नाम वैकक्षम्, कंठसे छातीपर सीधे लटकती हुई फूलोंकी मालाका नाम प्रालम्बम्, शिरपर लपेटी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हुई मालाका नाम आपीड, कानपर लटकती हुई मालाका नाम अवतंस एवं स्त्रियोंके जूड़ेमें लगी हुई मालाका नाम बालपाश्या आया है।[1]

इसी प्रकार, कान, कंठ, गर्दन, हाथ, पैर, कमर आदि विभिन्न अंगोंमें धारण किये जाने-वाले आभूषणोंके अनेक नाम आये हैं।[2] इन नामोंसे अवगत होता है कि शरीरको सजानेकी प्रथा किस-किस रूपमें प्रचलित थी। प्रसाधनसामग्रीमें विभिन्न प्रकारके वस्त्राभूषणोंके साथ नाना प्रकारके सुगन्धित पदार्थ भी परिगणित थे। रेशमी, सूती और ऊनी वस्त्रोंके उपयोग करनेके विभिन्न तरीके ज्ञात थे। वस्त्र त्वक्—तीसी, सन आदिकी छाल, फल—कपास, क्रिमि—रेशमके कीड़े आदि एवं रोम—भेड़ोंकी ऊन या ऊंटोंकी ऊनसे तैयार किये जाते थे।[3] मृग—हिरणके रोमसे भी वस्त्र तैयार किये जाते थे। इस प्रकारके वस्त्रोंको रांकवम्[4] कहा है। साड़ीके नीचे स्त्रियां साया—पेटीकोट भी पहनती थीं, आचार्य हेमने इस कोषमें धनिक और उत्तमकुलकी महिलाओंके द्वारा साड़ीके नीचे धारण किये जाने वाले पेटीकोटके चण्डातकम् और चलनक ये दो नाम लिखे हैं।[5] सामान्य परिवारकी स्त्रियां जिस पेटीकोटको पहनती थीं, उसका नाम चलनी कहा है।[6] ब्लाउज भी अनेक प्रकारके उपयोगमें लाये जाते थे तथा इनके सीने के भी अनेक तरीके प्रचलित थे। उनके चोल, कञ्चुलिका, कूर्पासक, अंगिका एवं कञ्चुक[7] नाम वस्त्रोंकी विविधताके साथ सीनेके प्रकारोंपर भी प्रकाश डालते हैं। पलंगपोशका रिवाज भी समाज में था, सूती पलंगपोश, जो कि गद्देके ऊपर बिछाया जाता था, निचोल कहलाता (३।३४०) था। साधारणतः बिछानेके काममें आनेवाली चादर प्रच्छदपट (३।३४०) कही जाती थी। निचुल (३।३४०) उस पलंगपोशका नाम है जो धनिक और सम्पन्न व्यक्तियोंके यहाँ उपयोग में लाया जाता था। यह रेशमी होता था। इसके ऊपर कारीगरी भी की जाती थी, साधारण और मध्यमकोटिके व्यक्ति जिस चादरका उपयोग करते थे, उसे उत्तरच्छद (३।३४०) कहा है।

पाजामा, अंगरखा या बुर्काका नाम आप्रपदीन (३।३४२) आया है। इससे स्पष्ट है कि प्रसाधनसामग्रीमें पजामा भी आ चुका था। जालीदार कपड़े भी काममें लाये जाते थे, इन्हें शाणी और गोणी (३।३४३) कहा है। पैरोंको मोजा या पैताबा पहनकर सजाया जाता था। अतः मौजाका नाम अनुपदीना (३।५७९) आया है। पुष्पोंसे भी शरीरका प्रसाधन किया जाता था, इस प्रसाधनके भी अनेक नाम आये हैं। गुलदस्ते भी उपयोगमें लाये जाते थे। हेमके गुच्छोंके नामोंमें आया हुआ गुलुञ्छ (४।१९२) शब्द गुलदस्तेका ही वाचक है।

---

१. देखें—काण्ड ३ श्लोक ३१४-३२१
२. देखें—काण्ड ३ श्लोक ३२०-३२१
३. त्वक्फलक्रिमिरोमभ्यः संभवाच्चतुर्विधम्—३।३३२
४. अभिधान चिन्तामणि ३।३३३
५. वही, ३।३३८
६. वही, ३।३३८
७. वही, ३।३३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भाषाविज्ञानसम्बन्धी सामग्री—भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे यह कोश बड़ा मूल्यवान् है। आचार्य हेमने इसमें जिन शब्दोंका संकलन किया है, उनपर प्राकृत, अपभ्रंश एवं अन्य देशी भाषाओंके शब्दोंका पूर्णतः प्रभाव लक्षित होता है। उसके अनेक शब्द तो आधुनिक भारतीय भाषाओंमें दिखलायी पड़ते हैं। कुछ ऐसे शब्द हैं, जो भाषाविज्ञानके समीकरण, विषमीकरण आदि सिद्धान्तोंसे प्रभावित हैं। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ शब्द उद्धृत किये जाते हैं—

१. पोलिका [३।६२]—गुजरातीमें पोणी, व्रजभाषामें पोनी, और भोजपुरीमें पिउनी तथा हिन्दीमें पिउनी।

२. मोदको लड्डुकश्च [शेष ३।६४]—हिन्दीमें लड्डू, गुजरातीमें लाडु, और राजस्थानीमें लाडू।

३. चोटी [३।३३९]—हिन्दीमें चोटी, गुजरातीमें चोणी, राजस्थानीमें चोड़ी या चुणिका और भोजपुरीमें चुटिया।

४. समौ कन्दुकगेन्दुकौ [३।३५३]—हिन्दीमें गेंद, व्रजभाषामें गिन्द या गिंद, और भोजपुरीमें गिंद या गेंद।

५. हेरिको गूढपुरुषः [३।३९७]—व्रजभाषामें हेर या हेरना-देखना, गुजरातीमें हेर।

६. तरवारि [३।४४६]—व्रजभाषामें तरवार, राजस्थानी और पूर्वी बोलियोंमें तलवार तथा गुजरातीमें तरवार।

७. जंगलो निर्जलः [४।१९]—व्रजभाषा, हिन्दी और सभी देशी बोलियोंमें जंगल।

८. सुरुंगा तु सन्धिला स्याद् गूढमार्गो भुवोऽन्तरे [४।५१]—व्रजभाषा, हिन्दी, गुजराती और सभी पूर्वी बोलियोंमें सुरंग।

९. निश्रेणी त्वधिरोहिणी [४।७९]—व्रजभाषामें नसेनी, गुजरातीमें नीटरणी, भोजपुरीमें सीढ़ी, मगहीमें निसेनी तथा पालीमें भी निसेनी रूप आया है।

१०. चालनी तितउ [४।८४]—व्रजभाषा, राजस्थानी और गुजरातीमें चालनी, हिन्दीमें चलनी या छलनी।

११. पेटा स्यान्मञ्जूषा [४।८१]—राजस्थानीमें पेटी, गुजरातीमें पेटी या पेटो और व्रजभाषामें पिटारी, पेटी।

१२. परिवारः परिग्रहः [३।३७९]—हिन्दीमें परिवार, पूर्वी बोलियोंमें परिवार और राजस्थानीमें पडिवार या परिवाड।

व्युत्पत्तिमूलक विशेषताएं—१. मंक्यते मण्ड्यते वपुरनेन मुकुरः, आत्मा दृश्यतेऽनेनात्मदर्शः, आदृश्यते रूपमस्मिन्नादर्शः, दृप्यन्त्येऽनेन सुवेषा इति दर्पणः [३।३४८]—जिसके द्वारा शरीरको सुशोभित किया जाय अर्थात् जिसमें अपनी प्रतिकृतिका अवलोकनकर मण्डन—प्रसाधन किया जाय उसे मुकुर, जिसमें अपना स्वरूप देखा जाय उसे आत्मदर्श, पूर्णरूपसे अच्छी तरह जिसमें अपना रूप देखा जाय उसे आदर्श और जिसमें अपनी प्रतिकृति देखकर अपने वेषको सुसज्जित किया जाय तथा आकर्षक बनाया जाय उसे दर्पण कहते हैं। दर्पणमें अपनी वेष-भूषा देखकर गौरवजन्य आनन्दानुभूति होती है, यह दर्पण शब्दकी व्युत्पत्तिसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पष्ट है। मुकुर, आत्मदर्श, आदर्श और दर्पण ये चारों दर्पणके पर्यायवाची शब्द हैं, किन्तु व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे इन शब्दोंके अर्थमें मौलिक अन्तर हैं।

२. नक्षति गच्छति व्योमनीति नक्षत्रं, न क्षदति प्रभामिति नक्षत्रम्। तरतीति तारका, तरन्त्यनया तारा; द्योतते ज्योतिः; भाति भं, भा विद्यतेऽस्येति वा; इर्यति खमिति उडुः, गृह्यते इति ग्रहः, धृष्णोति प्रगल्भते निशीति धिष्ण्यम्। अर्जते गच्छति ऋक्षं, ऋक्ष्णोति तम इति वा (२।२१)

नक्षत्रके नौ नामोंका निरूपण करते हुए उनकी व्युत्पत्तियाँ देकर अर्थ सम्बन्धी सूक्ष्मताओंपर बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। जो आकाशमें गमन करे अथवा जिनकी प्रभा—कांतिका संवरण कभी न हो वह नक्षत्र है। जो आकाशमें तैरता है, वह तारका नक्षत्र है। जिसके द्वारा आकाशका अतिक्रमण किया जाता है वह तारा है। जिसमें प्रकाश विद्यमान है वह ज्योति, जिसमें क्रांति हो अथवा जो चमकता या टिमटिमाता हो वह भ है। आकाशमें उड़नेके कारण उडु, ग्रहण होनेके कारण ग्रह, रात्रिमें प्रकाशित होनेके करण धिष्ण्य और सीधा गमन करनेके कारण ऋक्ष अथवा अंधकारका ध्वंस करनेसे ऋक्ष कहा जाता है। नक्षत्रके नामोंकी व्युत्पत्तियाँ अमरकोषकी टीकाओंमें भी आयी हैं, किन्तु आचार्य हेमने ऋक्ष, नक्षत्र और भ की व्युत्पत्तिमें अपना एक नया दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

३. वेवेष्टि व्याप्नोति विश्वं विष्णुः, हरति पापं हरिः, हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशो वशिता हृषीकेशः, प्रशस्ताः केशाः सन्त्यस्य केशवः, इन्द्रमुपगतोऽनुजत्वाद् उपेन्द्रः विष्वक् सर्वव्यापिनी विषूची वा सेनाऽस्य विष्वक्सेनः, नरा आपो भूतानि वा तान्ययते नारायणः, नरस्य अपत्यं नारायणः, अधः कृत्वाऽक्षाणीन्द्रियाणि जातोऽधोक्षजः अधोऽक्षाणां जितेन्द्रियाणां जायते प्रत्यक्षोभवति वा, अक्षजं ज्ञानमधोऽस्येति वा, गां भुवं विन्दति गोविन्दः, मुञ्चति पापिनो मुकुन्दः, माया लक्ष्म्या धवो भर्ता माधवः मधोरपत्यं वा; विश्वं विभर्ति विश्वंभरः, जयति दैत्यान् जिनः, त्रयो विशिष्टाः क्रमाः सृष्टिस्थितिप्रलयलक्षणाः शक्तयोऽस्य त्रिविक्रमः, त्रिषु लोकेषु विक्रमः पादविन्यासोऽस्येति वा, जहाति मुञ्चति पादांगुष्ठाद् गंगामिति जह्नुः, वनमालाऽस्त्यस्य वनमाली, पुण्डरीके इव अक्षिणी अस्य पुण्डरीकाक्षः (२।१३२)

आचार्य हेमने विष्णुके ७५ नाम बतलाये हैं और स्वोपज्ञवृत्तिमें सभी नामोंकी व्युत्पत्तियाँ अंकित की गई हैं। उपर्युक्त सन्दर्भमें कुछ ही नामोंकी व्युत्पत्तियाँ दी जा रही हैं। इन व्युत्पत्तियोंके अनुसार जो संसारको व्याप्त करता है, वह विष्णु है। पापको नष्ट करनेके कारण हरि, इन्द्रियोंका विजयी होनेके कारण हृषीकेश, प्रशस्त केशवाला होनेसे केशव, इन्द्रका अनुज होनेसे उपेन्द्र; विश्व-व्यापिनी सेना रखनेके कारण विष्वक्सेन, जलमें रहनेसे नारायण, नरका पुत्र होनेसे नारायण, इन्द्रियज्ञानको तिरस्कृत कर अतींद्रिय ज्ञानका धारी होनेसे अधोक्षज, पृथ्वीकी रक्षा करनेके कारण गोविंद, पापको छुड़ानेसे मुकुन्द, लक्ष्मीका पति होनेसे माधव, विश्व—संसारका भरण करनेवाला होनेसे विश्वम्भर, दैत्योंको जीतनेके कारण जिन, सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप तीनों शक्तियोंसे युक्त होनेसे त्रिविक्रम अथवा तीनों लोकोंमें पादन्यास करनेसे त्रिविक्रम, पैरके अंगूठेसे गंगा नदीको प्रवाहित करनेके कारण जह्नुः, वनमाला गलेमें रहनेसे वनमाली और पुण्डरीकके समान नेत्र होनेसे पुण्डरीकाक्ष विष्णुको कहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। विष्णुके नामोंकी इन व्युत्पत्तियोंमें इतिहास और संस्कृतिकी दृष्टिसे अनेक नयी बातोंका समावेश हुआ है।

४. शिक्ष्यते वर्णविवेकोऽनया शिक्षा। कर्मणां सिद्धरूपः प्रयोगः कल्प्यतेऽवगम्यतेऽनेन कल्पः। व्याक्रियन्तेऽन्वाख्यायन्ते शब्दा अनेन व्याकरणम्। छाद्यतेऽनेन प्रस्ताराद् भूरितिच्छन्दः। ज्योतिषां ग्रहाणां गतिज्ञानहेतुर्ग्रन्थो ज्योतिः ज्योतिषम्। वर्णागमादिभिर्निर्वचनं निरुक्तिः निरुक्तम् (२।१६४)।

षडंगकी व्युत्पत्तियां प्रस्तुत करते हुए आचार्य हेमने षडंगका स्वरूप कितने स्पष्ट और विस्तृत रूपसे उपस्थित किया है, यह सहजमें जाना जा सकता है। जिसके द्वारा वर्णविवेक—वर्णोच्चारण, वर्णोंका स्थान, प्रयत्न आदि अवगत हो, उसे शिक्षा कहते हैं। कर्मोंका सिद्धस्वरूप जिनके द्वारा ज्ञात किया जाय वे कल्प हैं। इससे स्पष्ट है कि कल्पसूत्रोंकी आधारशिला कर्मकाण्ड है तथा हिन्दूधर्मके समस्त कर्म, संस्कार, निखिल अनुष्ठान और समस्त संस्कृति एवं अशेष क्रियाकाण्डको समझनेके लिये एकमात्र आधार ये कल्पग्रंथ ही हैं। प्रकृति और प्रत्ययके विभाग द्वारा शब्दोंकी व्याख्या करनेको व्याकरण कहते हैं। धातु और प्रत्ययके संश्लेषण एवं विश्लेषण द्वारा भाषाके आन्तरिक गठनके विचारको भी इस व्युत्पत्तिमें समेट लिया गया है। शब्दोंकी व्युत्पत्ति एवं उनकी प्राणवन्त प्रक्रियाके रहस्यका उद्घाटन भी उक्त व्युत्पत्तिमें शामिल है। जिसके प्रस्तारसे पृथ्वीको आच्छादित किया जा सके, उसे छन्द कहते हैं। इस व्युत्पत्तिमें पिंगलाचार्यकी समस्त भूमण्डलको व्याप्त करनेवाली कथा भी आ गई है। जिस ग्रंन्थसे ग्रहोंकी गति और स्थितिका ज्ञान प्राप्त किया जाय, उसे ज्योतिष कहते हैं। वर्णागम, वर्णलोप, वर्ण-विकार आदिके द्वारा जिसका निर्वचन उपस्थित किया जाय उसे निरुक्ति कहते हैं।

५. प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्य पश्चादीक्षणं अन्वीक्षा सा प्रयोजनमस्यामान्वीक्षिकी। पुरापि न नवं पुराणम् (२।१६५-१६६)। टीकयति गमयत्यर्थान् टीका सुषमाणां विषमाणां च निरन्तरं व्याख्या यस्यां सा तथा। पञ्च्यन्ते व्यक्तीक्रियन्ते पदार्था अनया पञ्चिका, पृषोदरादित्वाद् जत्वे पञ्जिका अर्थात् विषमाण्येव पदानि भनक्ति पदभञ्जिका (२।१७०)। निबध्यते विशेषोऽस्मिन् निबन्धः (२।१७१)। प्रहेलयति अभिप्रायं सूचयति प्रहेलिका (२।१७३)।

प्रत्यक्ष और आगमके द्वारा अवगत कर लेनेके पश्चात् तर्क आदिके द्वारा विषयको जानना अन्वीक्षा है और यह अन्वीक्षा जिसका प्रयोजन है उसे आन्वीक्षिकी विद्या कहा जाता है। पुराण सदा ही पुरातन रहते हैं, जिनका विषय प्राचीन समयमें भी नया न रहे, उसे पुराण कहते हैं। किसी ग्रंथके साधारण या असाधारण प्रत्येक शब्दकी निरन्तर व्याख्याको टीका कहते हैं। विषमपदोंको स्पष्ट करने वाली व्याख्याका नाम पञ्जिका है। जिसमें विशेष विषयको निबद्ध किया जाय, उसे निबन्ध कहते हैं। जिस पद्यका अर्थ पूर्वापर विरुद्ध प्रतीत होता हो, परन्तु विशेष अनुसन्धान करनेसे अविरुद्ध अर्थ निकले, उसे प्रहेलिका या पहेली कहते हैं।

६. बध्नाति स्नेहं बन्धुः (३।२२४)। विगृह्यते रोगादिभिरिति विग्रहः (२।२२७) ऊर्ध्वं मिलति धम्मिल्लः (३।२३४)। केशानां वेषे रचनायां कूयते कवरी (२।२३४)। पलति याति श्वेतत्वं पाकात् पलितं (३।२३५)। भाल्यते परिभाष्यते शुभाशुभमत्र भालम् (३।२३७)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्नेहके कारण जो बन्धन उत्पन्न करे उसे बन्धु कहते हैं। बन्धुका व्युत्पत्तिमूलक यही अर्थ है कि जो स्नेहबन्धका कारण है, वही बन्धु है। जो स्नेह उत्पन्न नहीं करता है, वह बन्धु नहीं कहा जा सकता। रोग आदिके द्वारा जो विकृत किया जाता है, वह विग्रह अर्थात् शरीर कहलाता है। शरीरको रोग आदि नित्य जीर्ण करते रहते हैं।

७. धम्मिल्ल उस केशरचनाका नाम है, जो जटाजूटकी तरह ऊपरकी ओर मिलती है अर्थात् बालोंको ऊपरकी ओर एकत्रकर बांधना धम्मिल है। यह केशरचना अत्यन्त सावधानी पूर्वक की जाती है। केशोंको सजाकर वेणीके रूपमें बांधना कवरी है। कवरी और धम्मिल्ल ये दोनों ही प्रकार केशरचनाके हैं। महिलाएँ इन दोनों प्रकारकी केश रचनाएँ करती थीं।

८. पककर श्वेत हुए बालोंको पलित केश कहा गया है। जिस प्रकार धानकी फसल पककर समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार समयके प्रभावसे केश भी श्वेत हो जाते हैं।

९. भाल-मस्तक-ललाट उसे कहते हैं, जिसके अध्ययनसे शुभाशुभको कहा जा सके। हाथ, पैर और ललाटके अध्ययनसे शुभाशुभके फलप्रतिपादनकी प्रणाली प्राचीन कालसे भारतमें प्रचलित है। अतः भाल-ललाटकी व्युत्पत्ति आचार्यने यह की है—यों तो **'ललतेऽत्रालंकारो ललाटम्'** अर्थात् जहाँ अलंकार सुशोभित हो, उसे ललाट कहते हैं।

१०. ओष्ठकी व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—**"उष्यते तीक्ष्णाहारेण ओष्ठः"** अर्थात्-तीक्ष्ण आहारसे जो अवगत हो और उसकी अनुभूति जिसे निरन्तर होती रहे, उसे ओष्ठ कहते हैं।

११. **भाष्यते भाषा** २।११५—भाषण या कथनको भाषा कहते हैं। **सुष्ठु आ समन्तात् अधीयते स्वाध्यायः** २।१६३—अच्छी तरह अध्ययन करनेको स्वाध्याय कहते हैं।

१२. **अवति विघ्नाद् ओम् अव्ययम्** २।१५४—विघ्नोंसे रक्षा करने वाला 'ओम्' होता है। यह ओम् अव्यय है।

१३. **न श्रियं लाति—अश्लीलम्—न श्रीरस्यास्तीति वा** २।१८०—जिसके आचरणसे कल्याण उत्पन्न न हो, उसे अश्लील कहते हैं।

१४. **नियतं द्रान्तीन्द्रियाणि अस्यां निद्रा** २।२२७—जिसमें निश्चित रूपसे इन्द्रियोंको श्रान्ति—विश्राम मिले, वह निद्रा है।

१५. **पण्डते जानाति इति पण्डितः, पण्डा बुद्धिः संजाता अस्येति** ३।५—जो हिताहित-को जानता है अथवा जिसमें विवेक-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है, वह पण्डित है।

१६. **छ्यति छिनत्ति मूर्खदुष्टचित्तानि इति छेकः। मूर्खचित्तं द्रहति इति।**

१७. **विदग्धः** ३।७—जो मूर्खकी मूर्खताको दूर करता है, वह छेक है और जो विशेष-रूपसे मूर्खताको जलाता है, नष्ट करता है, वह विदग्ध है।

१८. **वाति गच्छति नरं वामा यद्वा विपरीतलक्षणया श्रृंगारिखेदनाद्वा** ३।१६८ जो नर—पुरुषको प्राप्त हो अथवा विपरीत लक्षणाके द्वारा जो श्रृंगार द्वारा खेदको प्राप्त करे अर्थात् जो काम-संभोगादिमें प्रवीण हो, उसे वामा कहते हैं।

१९. **विगतो धवो भर्ता अस्याः विधवा** ३।१९४—जिसके पतिका स्वर्गवास हो गया है अथवा जिसके सुख-काम-भोगके दिन व्यतीत हो गये हों, वह विधवा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२०. **दधते बलिष्ठतां दधि ३।७०**—जो बल उत्पन्न करता है अथवा जिसके सेवनसे बल प्राप्त होता है, वह दधि है।

२१. **वेष्ठ्यते तृणपर्णादिभिरित्युटजः ४।६०**—तिनके और पत्तोंसे जिसे छाया जाय, वह उटज है।

२२. **वेश्याऽऽचार्यः पीठमर्दः—वेश्याऽऽचार्यो वेश्यानां नृत्तोपाध्यायः २।२४४**—वेश्याको नृत्त सिखलाने वाला पोठमर्द है। नृत्त उस नाचको कहते हैं, जिसमें नर्तक न गाता है और न बजाता है, केवल मुद्रा-भाव-भंगिमाओंके द्वारा नृत्य प्रस्तुत करता है।

अनेक पर्यायवाची शब्दोंके बनानेका विधान—आचार्य हेमने भी धनञ्जयके समान शब्दयोगसे अनेक पर्यायवाची शब्दोंके बनानेका विधान किया है, किन्तु इस विधानमें उन्हीं शब्दोंको ग्रहण किया है, जो कविसम्प्रदाय द्वारा प्रचलित और प्रयुक्त हैं। जैसे पतिवाचक शब्दोंमें कान्ता, प्रियतमा, वधू, प्रणयिनी एवं निभा शब्दोंको या इनके समान अन्य शब्दोंको जोड़ देनेसे पत्नीके नाम और कलत्रवाचक शब्दोंमें वर, रमण, प्रणयी एवं प्रिय शब्दोंको या इनके समान अन्य शब्दोंको जोड़ देनेसे पतिवाचक शब्द बन जाते हैं, गौरीके पर्यायवाची बनानेके लिए शिव शब्दमें उक्त शब्द जोड़नेपर शिवकान्ता, शिवप्रियतमा, शिववधू एवं शिवप्रणयिनी आदि शब्द बनते हैं। निभाका समानार्थक परिग्रह भी है, किन्तु जिस प्रकार शिवकान्ता शब्द ग्रहण किया जाता है, उस प्रकार शिवपरिग्रह नहीं। यतः कविसम्प्रदायमें यह शब्द ग्रहण नहीं किया गया है।

कलत्रवाची गौरी शब्दमें वर, रमण, प्रभृति शब्द जोड़नेसे गौरीवर, गौरीरमण, गौरीश आदि शिवावाचक शब्द बनते हैं जिस प्रकार गौरीवर शब्द शिवका वाचक है, उसी प्रकार गंगाधर शब्द नहीं। यद्यपि कान्तावाची गंगा शब्दमें वर शब्द जोड़कर पतिवाची शब्द बन सकता है, तो भी कविसम्प्रदायमें इस शब्दकी प्रसिद्धि न होनेसे यह शिवके अर्थमें ग्राह्य नहीं है। आचार्य हेमने अपनी स्वोपज्ञवृत्तिमें इन समस्त विशेषताओंको बतलाया है। अतः स्पष्ट है कि "कविरूढ्यासेयोदाहरणावलि" सिद्धान्तवाक्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके कई सुन्दर निष्कर्ष निकलते हैं, कविसम्प्रदायको परिगणित करनेसे अनेक दोषोंसे रक्षा हो गयी है, अतएव शिवके पर्याय कपालीके समानार्थक कपालपाल, कपालधन, कपालभुक् कपालनेता एवं कपालपति जैसे अप्रयुक्त और अमान्य शब्दोंके ग्रहणसे भी रक्षा हो जाती है। यद्यपि व्याकरण द्वारा शब्दोंकी सिद्धि सर्वथा संभव है, पर कवियोंकी मान्यताके विपरीत होनेसे उक्त शब्दोंको कपालीके स्थान पर ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

जैन संस्कृति और अभिधानचिन्तामणि—अभिधानचिन्तामणि और धनञ्जयनाममाला ऐसे कोष हैं जिनमें संस्कृतिके तत्त्व वर्तमान हैं। अभिधानचिन्तामणिमें उत्सर्पण और अवसर्पण कालके साथ तीर्थंकरोंके वंश, माता-पिताके नाम, शासनदेवता, उपासकके नाम एवं वर्ण बतलाये गये हैं। कामदेवके पर्यायवाची, द्वादश चक्रवर्तियोंके पर्यायवाची, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायणोंके पर्यायवाची शब्द संकलित हैं। श्रेणिक और कुमारपालके पर्यायवाची शब्द भी आये हैं। चालुक्य, राजर्षि, परमार्हत, मृतस्य भोक्ता, धर्मात्मा, मारिवारक, व्यसनवारक और कुमारपाल ये आठ नाम कुमारपालके हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और वनस्पतिकायिक जीवोंके भेद-प्रभेद एवं उनके पर्याय संकलित हैं। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंके भेदों और पर्यायोंका संकलन जैनागमानुसार किया है। रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा धूमप्रभा, तमःप्रभा, और महातमःप्रभा इन सात नरकोंमें होनेवाली वेदना, एवं इन नरकोंके विलोंका वर्णन जैन सिद्धान्तानुसार किया गया हैं। घनोदधिवातवलय, घनवातवलय एवं तनुवातवलयका विवेचन भी इस कोषके नरककाण्डमें विद्यमान है।

प्रथम देवाधिदेव काण्डमें तीर्थंकरोंके विभिन्न अतिशय, आचार्य, उपाध्याय और मुनिके नामोंके विवेचनके अनन्तर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा एवं समाधिका विवेचन किया है। योगके उक्त अष्टांगोंकी परिभाषाएँ जैनागमानुसार अंकित की गयी हैं।

देवकाण्डमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवोंके भेद-प्रभेद और उनके पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं। भवनवासी देवोंके अन्तमें जुड़े हुए कुमार शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है—"**कुमारवदेते कान्तदर्शनाः सुकुमाराः मृदुमधुरललितगतयः शृंगाराभिजातरूपविक्रियाः कुमारवच्चोद्धतवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्चेत्यतः कुमार इत्युच्यन्ते**"। अर्थात्—ये देव कुमारके समान देखनेमें सुन्दर, मृदु, मधुर एवं ललित गतिवाले, शृंगार-सुन्दर रूप एवं विकार वाले और कुमारके समान ही उद्धत वेष, भाषा, भूषण, शस्त्र, आभरण, यान तथा वाहन वाले एवं क्रीडापरायण होते हैं। अतएव ये कुमार कहे जाते हैं। देवोंके निवासका वर्णन करते हुए कहा है—"भवनपतयोऽशीतिसहस्राधिकयोजनलक्षपिंडायां रत्नप्रभायामूर्ध्वमधश्च योजनसहस्रैकैकमपहाय जन्माऽऽसादयंति। व्यन्तरास्तस्या एवोपरि यत्परित्यक्तं योजनसहस्रं तस्याध ऊर्ध्वञ्च योजनशतमेकैकमपहाय मध्येऽष्टसु योजनशतेषु जन्म प्रतिलभन्ते। ज्योतिष्कास्तु समतलाद् भूभागात् सप्त शतानि नवत्यधिकानि योजनानामारुह्य दशोत्तरयोजनशतपिण्डे नभोदेशे लोकान्तात् किंचिन्न्यूने जन्म गृह्णन्ति। वैमानिका रज्जुमध्यर्द्धामधिरुह्याऽतः सौधर्मादिषु कल्पेषु सर्वार्थसिद्धिविमानपर्यवसानेषूत्पद्यन्ते"।

प्रथम भवनवासी देव एक लाख अस्सी हजार योजन परिमित रत्नप्रभामें एक-एक हजार योजन छोड़कर जन्म ग्रहण करते हैं, व्यन्तरदेव उस रत्नप्रभाके ऊपर छोड़े गये एक हजार योजनके ऊपर तथा नीचे एक-एक सौ योजन छोड़कर बीचवाले आठसौ योजनमें जन्म ग्रहण करते हैं। ज्योतिष्क देव समतल भूभागसे सात सौ नब्बे योजन पिण्डवाले तथा लोकान्तसे कुछ कम आकाश प्रदेशमें जन्म ग्रहण करते हैं और वैमानिक देव डेढ़ रज्जु चढ़कर सर्वार्थसिद्धि विमानके अन्त तक सौधर्मादि कल्पोंमें जन्म ग्रहण करते हैं। अपने-अपने नियत स्थानोंमें उत्पन्न भवनवासी आदि देव लवण समुद्र, मन्दिर, पर्वत, वर्षधर एवं जंगलोंमें निवास तो करते हैं पर उनकी उत्पत्ति पूर्वोक्त नियत स्थानोंके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें नहीं होती है। अतएव निकाय शब्दका निवासार्थ या सहार्थमें प्रयोग किया गया है।

आचार्य हेमने जैन आचार-व्यवहारकी शब्दावलिको प्रमुखता दी है। अणुव्रत, महाव्रत, दशधर्म, ध्यान एवं समिति गुप्ति आदिका भी विवेचन किया है। इन्होंने पानी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छाननेके छननेके दो नाम लिखे हैं—नक्तक और कर्पट। स्वोपज्ञवृत्तिमे नह्यते शिरसि नक्तकः "कीचक" (उणा ३३) इत्यके निपात्यते नक्तं भव इति वा, द्रवद्रव्यं येन पूयते तत्र रूढोऽयं तत्तुल्येऽपि वस्त्रे प्रतीतो वर्तते। कल्पते कर्पटः पुंक्लीवलिंगः "दिव्यवि" (उणा० १४२) इत्यटः। अतएव स्पष्ट है कि आचार्य हेमने जैन संस्कृतिकी शब्दावलिको बड़े सुन्दर और सुव्यवस्थित ढंगसे इस कोषमें अंकित किया है।

उपसंहार :—आचार्य हेमचन्द्रने अभिधानचिन्तामणि कोष द्वारा संस्कृत कोषसाहित्यको अपूर्व रत्न प्रदान किया है। इस कोशका संस्कृति, साहित्य, भाषाविज्ञान एवं नवीन शब्दराशिकी दृष्टिसे अद्वितीय स्थान है। संस्कृतके अन्य कोषोंमें न तो इतने अधिक शब्द ही मिलते हैं और न सांस्कृतिक शब्दावलिकी इतनी स्पष्ट व्याख्याएँ ही की गयी हैं। यह कोष अपार शब्दराशिका प्रयोग करनेकी दिशाकी ओर संकेत करता है। हेमने अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा इस कोषको इतना सम्पन्न और समृद्ध बनाया है, जिससे अकेले इस कोषको अपने पास रख लेनेसे शब्दविषयक सांगोपांग जानकारी प्राप्त की जा सकती है। अन्वेषक प्रतिभाओंको इस कोषमें इतनी सामग्री उपलब्ध होगी, जिससे दो-तीन शोध-प्रबन्धोंका निर्माण विभिन्न दृष्टियोंसे सहजमें किया जा सकता है। वास्तवमें आचार्य हेमकी, संस्कृत कोषसाहित्यको यह अपूर्व देन है। आचार्यका गहन तत्त्वस्पर्शी पाण्डित्य एवं बहुज्ञता इस कोषके द्वारा सहजमें जानी जा सकती है। धन्य हैं आचार्य हेम और धन्य हैं उनकी कोषविषयक अपूर्व विद्वत्ता!

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्कृतके ऐतिहासिक नाटकों का अनुशीलन

प्रास्ताविक

ऐतिहासिक नाट्य साहित्य : कथा-स्रोत, कथानक और उनकी ऐतिहासिकता— संस्कृत ऐतिहासिक नाट्य-साहित्यका एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। प्रत्येक नाटककार राष्ट्रीयता-के साथ सांस्कृतिक इतिहासको नाटकोंमें प्रस्तुत कर सामाजिकोंके मानसको आन्दोलित करता है। नाटककार न तो सुधारवादी उपदेशक होता है और न वह जननायक बन राष्ट्रका नेतृत्व करता है। वर्तमानके संघर्षोंसे भी वह ऊबता नहीं है और न पलायनवादी प्रवृत्तिको ही अपनाता है। वह अतीतके पर्दे पर स्वतन्त्र और सुगठित राष्ट्र एवं समाजकी रूपरेखा अङ्कित करता है। नाटकीयताके साथ ऐतिहासिक अतीतकी झांकी प्रस्तुतकर वर्तमानके प्रति ममता जागृत करनेका कार्य भी ऐतिहासिक नाटककारका होता है। संस्कृत नाट्य-साहित्यके निर्माताओंने ख्यात व्यक्तियों, ख्यात घटनाओं एवं ख्यात युगोंको अपने नाटकोंमें स्थान देकर जन जागरणका कार्य किया है।

संस्कृत ऐतिहासिक नाटकोंमें प्राचीन जीवन, प्राचीन संस्कृति और प्राचीन समाजका चित्रण रहनेपर भी शाश्वतिक तथ्यों, संदेशों और प्रेरणाओंकी भी कमी नहीं है। कई नाटक-कारोंने बड़ी सावधानीसे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक तत्त्वोंका चित्रण किया है। विभिन्न धर्म और संस्कृतियोंका संघर्ष केवल आवेगोंको ही झंकृत नहीं करता अपितु जनमानसमें प्रबल दायित्वकी भावना प्रस्फुटित करता है।

संस्कृत नाटकोंकी कथावस्तुका क्षेत्र प्रागैतिहासिक और इतिहासकाल खण्डमें गुप्त-काल, गुप्तोत्तर हिन्दू राज्य-काल, एवं मुगल-काल तक व्याप्त है। इसका प्रधान कारण यही है कि संस्कृतके नाटककार विजय, अभ्युदय एवं समृद्धिपूर्ण वातावरणका चित्रण करना तो चाहते ही थे, पर भारतके पतन या ह्रासकी कथावस्तुको भी प्रस्तुतकर भारतीयोंको बीते हुए गौरवकी ओर ले जाना चाहते थे। इतिहासके जिन पृष्ठोंमें वीरता, समृद्धि, वैभव, आदि अङ्कित हैं, उन पृष्ठोंका उपयोग संस्कृत नाटककारोंने विशेषरूपमें किया है। उदयन, चन्द्रगुप्त-मौर्य, अग्निमित्र, पुष्यमित्र, अजातशत्रु, महाराणा प्रताप, आदिके कथानक, संस्कृत नाटककारों-को विशेष प्रिय रहे हैं। उन्होंने इतिहासके उन सन्दर्भोंको ही ग्रहण किया है, जिन सन्दर्भोंमें सांस्कृतिक महत्ताके साथ रोमांटिकता भी सम्मिलित है। उदयनका आख्यान संस्कृत कवियोंको विशेष रुचिकर रहा है। एक ही कथावस्तुको नाटककारोंने ग्रहण कर अपने-अपने युगानुसार सांस्कृतिक और राष्ट्रीय चेतनाका जागरण प्रस्तुत किया है। भास और हर्ष इन दोनों नाटक-कारोंने उदयनके आख्यानको ग्रहण किया है, पर दोनोंके दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं तथा दोनोंके युग-सन्देश भी एक दूसरेसे पृथक् हैं।

प्रागैतिहासिक कालमें सांस्कृतिक मान्यताएँ प्रतिष्ठित हो चुकी थीं। राजनीति और अर्थकी दृष्टिसे भी समाजमें स्थिरता आ चुकी थी। अतः संस्कृतके अनेक नाटककारोंने इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्युदयपूर्ण कालको ग्रहण कर जीवन-मूल्योंकी प्रतिष्ठा की है। मौर्ययुगमें राजनीतिक व्यवस्था पुष्ट हो गई थी। व्यापार, कृषि एवं उद्योग-धन्धोंका विकास हो चुका था। अतः सीमित जन-संख्याके कारण समाजमें पूर्णतया शान्ति और सुख वर्तमान था।

इतिहास बतलाता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य भारतका एकछत्र शासक और प्रबल सेनानायक था। उसने अपने मन्त्री चाणक्यके परामर्शसे पूर्ववर्ती सोलह जनपदोंको एक बृहत्तर साम्राज्यके रूपमें परिवर्तित कर दिया था। तमिल अनुश्रुतियोंके अनुसार 'बिम्ब-मोरिया' अथवा नवोत्थित मौर्योंकी सेनाएँ कोंकणसे कर्नाटक तटके साथ-साथ उसके दक्षिणी अंशोंसे होती हुई दक्षिणपूर्व कोयम्बटूरकी ओर बढ़ीं। और वहींसे उनका एक अंश चोल देशकी ओर मुड़ा और दूसरा पाण्ड्यदेशकी ओर। इस प्रकार दक्षिण और उत्तर भारतमें एक अखण्ड साम्राज्यकी स्थापना चन्द्रगुप्त द्वारा हुई।

संस्कृतके उपलब्ध ऐतिहासिक नाटकोंमें मौर्य साम्राज्यकी शान्तिपूर्ण नीतिका परिचय प्राप्त होता है। यद्यपि मौर्य राजाओंको नायक मानकर कम ही नाटक लिखे गये हैं, पर उनकी शान्तिपूर्ण नीतिका परिचय अन्य नाटकोंसे भी प्राप्त हो जाता है।

संस्कृतके नाटककारोंने रामायण और महाभारतको भी ख्यात-वृत्त होनेके कारण अर्द्ध-ऐतिहासिक रूपमें स्वीकार किया है। वे रामकथाको विभिन्न युगों और समयोंमें नाटकका रूप देते रहे हैं तथा युगानुसार कथावस्तुमें परिवर्तन भी करते रहे हैं। रामकथाके पात्रोंमें राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, विभीषण, रावण एवं सुग्रीव विशेष रूपसे नाटककारोंको प्रिय रहे हैं। रामकथाके आधारको ग्रहणकर जितने अधिक नाटक संस्कृतमें निर्मित हुए हैं, उतने महाभारतके आख्यानोंके आधारपर नहीं। महाभारत भी नाटककारोंको कम आकर्षक नहीं रहा है। यही कारण है कि रूपककी अनेक विधाएँ महाभारतके आख्यानके आधारपर निर्मित हुई हैं। यद्यपि हम यह मानते हैं कि रामायण और महाभारत पौराणिक ग्रन्थ हैं और इनके आधारपर रचित नाटक भी पौराणिक ही हैं। पर इस सत्यसे भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि नाटक-रचयिताओंने ऐतिहासिक संस्कृति और समाजका चित्रण भी इन नाटकोंमें किया है। भारतीय वाङ्मयमें रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, कथा-सरित्सागर, वसुदेव-हिण्डी और पौराणिक साहित्य, उपजीव्य आधारके रूपमें रहा है। आदि कवि वाल्मीकिकी पुण्य-सलिला भागीरथीमें अनेक नाटककार स्नान कर पवित्र हो गये। इसी प्रकार महाभारतने भी नाटककारोंको कम प्रेरणा नहीं दी है। भाससे लेकर सोलहवीं शताब्दी तक लिखे गये संस्कृत नाट्य-साहित्यमें महाभारतकी प्रेरणा कम नहीं रही है। कथासरित्सागर, श्रीमद्भागवत, वसुदेव-हिण्डी आदिने भी नाटककारोंको कम प्रभावित नहीं किया है। भारतीय धर्मके विकासमें जितना योगदान श्रीमद्भागवतका है, उतना ही उपनिषद्-साहित्य और मनुस्मृति आदि ग्रन्थोंका भी है। नाटकोंमें जो मधुरिमा, सरसता और हृदयावर्जकता दिखलाई पड़ती है, उसका मूलकारण श्रीमद्भागवत, कथासरित्सागर आदि ग्रन्थ ही हैं। नाटकोंमें आई हुई गीतियाँ 'गाथासप्तशती' और 'वज्जालग्गं' से अनुप्राणित होकर निबद्ध की गई हैं। हमारा अनुमान है कि संस्कृत ऐतिहासिक नाटकोंको अनुप्राणित करनेके लिए ऐसा प्राकृत वाङ्मय भी सहायक रहा है, जिसमें जनजीवनका यथार्थ चित्रण था। नाटक जनताके निकटकी वस्तु हैं और जनतामें लोका-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ख्यान एवं लोकगीत सदासे प्रचलित रहे हैं। अतः कवियोंने लालित्य, रस-निर्भरता एवं ऐतिहासिक सन्दर्भों और परम्पराओंको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए लोकप्रचलित ख्यातवृत्तोंको स्थान दिया है। न्याय-अन्याय, राग-द्वेष, मैत्री-कलह आदिके चित्रण भी उपजीव्य वाङ्मयके आधारपर किये गये हैं। अतएव संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक संस्कृत नाट्य-रचयिताओंने बड़ी ही सतर्कताके साथ ख्यातवृत्तों, घटनाओं एवं देश-कालको ग्रहण किया है। पुराणों और धर्मशास्त्रोंसे जिन तथ्योंको ग्रहण किया गया है, उन्हें भी ऐतिहासिक बनानेमें कमी नहीं की है। वैदिक धर्मदर्शन और आचार-विचारका चित्रण भी इतिहासके परिप्रेक्ष्यमें ही हुआ है।

संस्कृत ऐतिहासिक नाट्य-रचनाका एक उद्देश्य यह भी है कि वर्णाश्रम धर्मके प्रति आस्था और ममता उत्पन्न करना। प्रायः संस्कृतके सभी नाटककार व्यापक रूपसे सांस्कृतिक तथ्योंका अंकन करते रहे हैं। नाटकोंमें तत्कालीन-समाजका चित्रण सर्वाधिक रूपसे हुआ है। 'शाकुन्तल' जैसे पौराणिक नाटकमें गुप्तकालीन समाज, राजनीति, धार्मिक मान्यताएँ, पारिवारिक परिस्थितियाँ, आर्थिक समृद्धि आदिका अंकन हुआ है। दुष्यन्त भले ही पौराणिक हो, पर उसके व्यक्तित्वमें ऐतिहासिकताका समावेश कम नहीं हुआ है। गुप्तकालीन कलावशेषोंमें शाकुन्तल नाटकके कई दृश्य प्राप्त होते हैं। कालिदासने शाकुन्तलमें परिवार और समाजका जैसा चित्रण किया है, वह इतिहासकी कोटिमें भले ही न आये, पर कल्पनामूलक इतिहास तो उसे माना ही जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि संस्कृतके पौराणिक नाटककारोंने भी ऐतिहासिक तथ्योंकी अवहेलना नहीं की है।

यदि ऐतिहासिक नाटकोंकी यही शर्त हो कि ख्यातवृत्त नाटकोंमें अंकित रहे, तो रामायण और महाभारत सम्मत कथा भी ख्यातवृत्तके अन्तर्गत आएँगी। पर हम यहाँ ऐसे ही नाटकोंका विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे, जिनकी कथावस्तु इतिहास सम्मत हो। तथा नायक, घटनाएँ, देश-काल आदि सभी ऐतिहासिक हों। यह सत्य है कि संस्कृतके नाट्य-साहित्य रचयिताओंने विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टिसे 'मालविकाग्निमित्र' और 'मुद्राराक्षस' जैसे कुछ ही नाटक लिखे हैं। शेष नाटकोंको अर्द्ध-ऐतिहासिक, कल्पनासमन्वित ऐतिहासिक एवं पौराणिक कोटिमें ही रखा जा सकता है। 'मुद्राराक्षस' में अपने युगकी समस्याएँ बड़े ही सुन्दर रूपमें प्रस्तुत की गई हैं। हस्तिमल्लका 'विक्रान्तकौरव' आख्यानकी दृष्टिसे पौराणिक है, पर उसमें तेरहवीं शताब्दीकी समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था और अर्थ-व्यवस्थाका इतिहासके अनुरूप ही चित्रण हुआ है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती युगमें लिखे गये संस्कृत नाट्य-साहित्यमें मुगलकालका पूरा चित्रण पाया जाता है। अतएव शुद्ध ऐतिहासिक, अर्द्ध ऐतिहासिक आदि नाटकोंका विवेचन किया जाएगा।

शारिपुत्र प्रकरण और उसकी ऐतिहासिकता

अश्वघोष संस्कृत नाट्य साहित्यके रचयिताओंमें प्रथम माने जाते हैं। उनके "शारिपुत्र प्रकरण" में ऐतिहासिकता भी पायी जाती है। बुद्धके दो युवक शिष्य मौद्गल्यायन और शारिपुत्रके मत परिवर्तनकी कथा वर्णित है। शारिपुत्रने अश्वजितसे साक्षात्कार किया और अपने मित्र विदूषकसे बुद्धके उपदेशक होनेके अधिकारके प्रश्नपर विचार विनिमय किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदूषकने जातिवादका प्रश्न उठाकर शारिपुत्रको बुद्धका उपदेश न सुननेके लिए आग्रह किया, पर शारिपुत्रने अपने तर्कों द्वारा विदूषकको पराजित कर बुद्धका उपदेश सुननेका निश्चय किया। मौद्गल्यायन शारिपुत्रका अभिवादन करता है और उनकी प्रसन्न मुद्राका कारण पूछता है। शारिपुत्रकी युक्तियोंसे मौद्गल्यायन प्रभावित होता है और वे दोनों बुद्धके पास जाते हैं। बुद्ध उनका स्वागत करते हैं और भविष्यवाणी करते हैं कि वे दोनों उनके शिष्योंमें महत्तम ज्ञानी सिद्ध होंगे। शारिपुत्र और बुद्धके बीच दार्शनिक संवाद होता है। बुद्ध दोनों शिष्योंको अपने सम्प्रदायमें दीक्षित करते हैं तथा दोनोंकी प्रशंसा करते हैं।

ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करने पर गौतम बुद्धके शिष्योंमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायन का नाम उपलब्ध होता है। गौतम बुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। वे शाक्यवंशी थे। उनका विशद वर्णन बौद्ध-ग्रन्थोंमें आता है। शाक्य-संघका प्रधान राष्ट्रपति होता था, जिसकी संज्ञा राजा थी। सर्वप्रथम बुद्धके पिता शुद्धोदन उस संघके प्रधान थे। उनके पश्चात् बुद्धके चचेरे भाई भद्दिय और महानाम भी क्रमशः राजा चुने गये। शाक्य जातिके अधिवेशन संस्थागारमें होते थे, जहाँ युवा और वृद्ध, समृद्ध और निर्धन सभी उपस्थित रहते थे। संघकी इस शैलीके आधार पर ही उत्तरकालीन धार्मिक बौद्ध संघका गठन हुआ।

बुद्धके शिष्योंमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायनका नाम आज भी ऐतिहासिक आलेखोंमें उपलब्ध होता है। शारिपुत्र जब उपदेश सुननेके लिए गया, तो बुद्धने दान, शील, सदाचार-प्रशंसा, दुराचार-निन्दा आदिसे सम्बन्धित साधारण प्रवचन दिये।

बताया गया है कि राजगृहमें संजय नामक परिव्राजक निवास करते थे। उपतिष्य और कोलित नामक उनके दो शिष्योंने आपसमें प्रतिज्ञा की कि जिस किसीको पहले ज्ञानकी प्राप्ति हो, वह दूसरेको उसकी सूचना दे। एक दिन त्रिचीवर धारण किये और हाथमें पात्र लिए आयुष्मान् अश्वजित् राजगृहमें भिक्षार्थ घूम रहे थे। उपतिष्य परिव्राजकने उन्हें इस संयमी ढंगसे विचरण करते देखकर सोचा कि इन्हें अवश्य अर्हत् पद प्राप्त हो गया है या उसके अनुयायी हैं। जब अश्वजित् शान्त होकर एक स्थानपर बैठने लगे, तो शारिपुत्रने एक ओर खड़े होकर पूछा—"आयुष्मन् ! आपकी आकृति अत्यन्त शान्त और सुन्दर है। आप किसको अपना गुरु बनाकर प्रव्रजित हुए हैं। आपका शास्ता कौन है ? अश्वजित्‌ने शाक्यपुत्र महाश्रमण गौतमका परिचय दिया और बतलाया कि वही मेरे शास्ता हैं, मैं उन्हींका शिष्य हूँ। यह उपतिष्य परिव्राजक ही शारिपुत्र हैं। शारिपुत्रको जब गौतम बुद्धका परिचय प्राप्त हुआ, तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और अपने मित्र कोलित परिव्राजक-मौद्गल्यायनके पास गया[1]। मौद्गल्यायनने शारिपुत्रसे कहा—"आयुष्मन् ! तेरी आकृति शान्त और सुन्दर दिखलायी पड़ रही है। तूने कहीं अमृत-ज्ञान तो नहीं पा लिया ? शारिपुत्रने अश्वजित् सम्बन्धी समस्त कथा कह सुनायी, जिसे सुनकर मौद्गल्यायनकी भी बुद्धका धर्म सुननेकी इच्छा हुई। वे दोनों बुद्धके पास गये और दीक्षित हो गये। शारिपुत्रने ही आयुष्मान् राहुल कुमारको प्रव्रजित किया।

राध नामका एक ब्राह्मण प्रव्रज्याके लिए अत्यन्त उत्सुक था। उसने भिक्षुओंसे प्रव्रज्या की याचना की। किसी कारणवश भिक्षुओंने उसे प्रव्रजित न किया। अतएव वह चिन्तासे

१. द्रष्टव्य है—महावग्ग।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुर्बल हो गया। एक दिन गौतम बुद्धने भिक्षुओंसे कहा कि यदि तुममें से किसीको इस ब्राह्मणका कोई उपकार स्मरण हो, तो सुनाओ। सभी भिक्षु चुप थे। शारिपुत्रने उस ब्राह्मणके आहार दान वाले उपकारका स्मरण कराया और बुद्धकी आज्ञासे शारिपुत्रने राध ब्राह्मणको प्रव्रजित कर लिया।

शारिपुत्रकी तपश्चर्याके सम्बन्धमें महावग्ग और चुल्लवग्गमें अनेक आख्यान आये हैं। एक आख्यानमें बताया है कि शारिपुत्र और मौद्‌गल्यायन सहित पाँच सौ भिक्षुओंको साथ लेकर गौतम बुद्ध श्रावस्तीसे कीटागिरिकी ओर आ रहे थे। जब अन्य भिक्षुओंको यह समाचार मिला, तो उन्होंने शारिपुत्र और मौद्‌गल्यायनको शय्या और आसन न देनेके लिए व्यवस्था की। गौतम बुद्धने अपने सभी शिष्योंको ऐसा न करनेके लिए कहा। गौतम बुद्ध शारिपुत्रसे अत्यधिक प्रभावित थे। अतः उन्होंने कहा, शारिपुत्र जिस दिशामें तू जाता है, उस दिशामें मेरे जानेकी जरूरत नहीं रह जाती। तेरा उपदेश बुद्धोंके उपदेशके समान है।

जब गौतम बुद्ध श्रावस्तीमें ठहरे हुए थे, तो वार्तालाप क्रममें आनन्दने गौतमसे कहा "—हे प्रभो! शारिपुत्र पण्डित हैं, महा प्रज्ञावान हैं, अल्पेच्छुक हैं, सन्तोषी हैं, निर्लिप्त हैं।"

शारिपुत्र मगधके नालक ग्राम (नालन्दाके समीप बड़ा गाँव) में रोग पीड़ित हो गये और वहीं उनका परिनिर्वाण हो गया।

सन् १८५१ में मैसे और कनिंघमने भिल्सा (साँची, मध्यप्रदेश) के स्तूपकी खुदाई करवायी थी। स्तूप संख्या (३) तीनमें से शारिपुत्र और मौद्‌गल्यायनके धातु मिले हैं। जिन पत्थरकी डिब्बियोंमें ये धातु रखे गये थे, उनके ढक्कनपर आर्य शारिपुत्र और मौद्‌गल्यायनके नाम खुदे हुए हैं। ये धातु आजकल शारिपुत्र और मौद्‌गल्यायनकी जन्मभूमिसे सात हजार मीलकी दूरी पर लन्दनके विक्टोरिया म्यूजियममें रखे हुए हैं। तेरह सितम्बरको बौद्धोंने लन्दनमें शारिपुत्रका परिनिर्वाण दिवस मनाया था। वस्तुतः शारिपुत्र धर्म सेनापति थे। उनके अस्थि-शेष आज भी सुरक्षित हैं। देश-विदेशके सहस्रों बौद्ध धर्मानुयायियोंने शारिपुत्र-मौद्‌गल्यायनके अस्थि-अवशेषोंका उत्सव सम्पन्न किया था।

"शारिपुत्र प्रकरण" से शारिपुत्र और मौद्‌गल्यायनके सम्बन्धमें ऐतिहासिक अनुश्रुतियोंकी प्राप्ति होती है। इस नाटकमें बुद्ध और कौण्डिन्यका निर्देश भी मिलता है। शारिपुत्र जातिसे ब्राह्मण थे, पर वह वर्णाश्रम धर्मकी अपेक्षा चारित्रिक उत्थानको विशेष महत्व देते थे। संवादोंमें आयी हुई दार्शनिकता बौद्ध-दर्शनपर पूर्ण प्रकाश डालती है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम् और स्वप्नवासवदत्तम्‌की ऐतिहासिकता

इन दोनों नाटकोंकी कथावस्तु उदयनसे सम्बद्ध है। संस्कृत नाट्य साहित्यके आलोचकों ने इस कथाको लोक कथा माना है, पर इन दोनों नाटकोंका नायक उदयन लोकनायक रहनेपर भी ख्यात है। भारतीय वाङ्मय और इतिहासमें उसका अस्तित्व पाया जाता है। हम यहाँ सर्वप्रथम उदयन कथाके मूल स्रोतोंपर विचार करेंगे। कथासरित्सागरमें उदयनकी कथा विस्तार-पूर्वक आयी है। उदयनने वासवदत्ताका अपहरण किया था। जब वत्सराज उदयनको छल-कपट द्वारा उज्जयिनीमें चण्डमहासेन द्वारा बन्दी बना लिया गया, तो मन्त्री यौगन्धरायण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अदृश्य रूपमें उदयनके समीप पहुँचा और कहा कि मैं अपने बुद्धिवलसे चण्डमहासेनको नीचा दिखलानेके लिए उसकी कन्या वासवदत्ताका अपहरण करनेकी सलाह देता हूँ। राजा चण्डसेनने कन्या वासवदत्ताको भद्रवती नामकी हस्तिनी दी थी। वह इतनी शीघ्रतासे चलती है कि दूसरे हाथी केवल एक नडागिरिको छोड़कर उसका पीछा नहीं कर सकते। नडागिरि भी उसे देखकर युद्ध नहीं करता। उस भद्रवती हस्तिनीके महावत आषाढकको मन्त्रीने पर्याप्त धन देकर उसे अपने अनुकूल बना लिया था। अतएव उसने राजाको यह सलाह दी कि किसी रातको यहाँसे भद्रवतीपर सवार होकर वत्सदेशको चलना चाहिए।

राजा उदयनने वार्तालापके क्रममें वासवदत्ताको भी यौगन्धरायणकी योजना बतला दी। वासवदत्ताने उसकी योजना स्वीकार करके अपने महावत आषाढकको बुलाकर उसे हस्तिनीपर सवार करा दिया और देवताके प्रसादका बहाना बनाकर प्रधान महावतोंको मद्य पिला दिया गया। वत्सराज उदयन यौगन्धरायण द्वारा दी गयी औषधियोंसे बन्धन मुक्त होकर वीणा और वासवदत्ताके लाये हुए आयुधोंके साथ वसन्तकके सहित वह उस हस्तिनीपर आरूढ़ हुआ। वासवदत्ता भी कञ्चनमालाके साथ उस हस्तिनीपर सवार हुई।

जब उज्जयिनी नरेश चण्डमहासेनको उदयन द्वारा वासवदत्ताके भगा लिये जानेका समाचार मिला, तो उसका पुत्र पालक नडागिरि हाथीपर सवार होकर उदयनका पीछा करने लगा। नडागिरि हाथीने भद्रवतीका पीछा तो किया, पर वह युद्ध न कर सका। पश्चात् चण्ड-महासेनकी आज्ञासे आये हुए राजकुमार गोपालकने पालकको लौटा लिया। उदयन वासवदत्ताको लेकर वत्स देशमें चला आया[1]।

कथासरित्सागर, मेघदूत, पौराणिक साहित्य आदि ग्रंथोंके अतिरिक्त 'उदेनवत्थु' और 'अट्ठकथा' आदि बौद्ध ग्रंथोंमें भी उदयन और वासवदत्ताकी कथा प्राप्त होती है। अतएव महाकवि भासने लोककथाओंमें प्रसिद्ध नृपति उदयनके आख्यानको ग्रहणकर अपने नाटकोंकी रचना की है। यह आख्यान अर्द्ध ऐतिहासिक है।

---

१. अथ वासवदत्ता सा शनैर्वत्सेश्वरं प्रति।
गाढं बबन्ध सद्भावं पितृपक्षपराङ्मुखी ॥
ततो वत्सेशनिकटं पुनर्यौगन्धरायणः।
विवेशादर्शनं कृत्वा सर्वानन्यान्जनान्प्रति ॥
वसन्तकसमक्षं च विजने तं व्यजिज्ञपत्।
राजन्बद्धो भवांश्चण्डमहासेनेन मायया ॥
× ×
ततोऽब्रवीद्रुमण्वन्तमेवं यौगन्धरायणः।
राज्ञा कष्टे नियुक्तौ स्वो लोकचित्तं हि दुर्ग्रहम् ॥
—कथासरित्सागर, द्वितीय लम्बक, पंचम तरंग, १-५३, षष्ठ तरंग, १-३६, तृतीय लम्बक, प्रथम तरंग, १-२९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथानक

प्रतिज्ञा यौगन्धरायणके प्रथम अंकमें मन्त्री यौगन्धरायण सालकके साथ रंगमंच पर दिखलायी पड़ता है। वह बतलाता है कि कल प्रातःकाल वत्सराज उदयन वेणुवनके समीप अवस्थित नागवनके लिए प्रस्थान करेंगे। वहीं महासेन प्रद्योत उन्हें बन्दी बनानेका प्रयास करेगा। वह पत्र एवं रक्षासूत्रके साथ सालकको उनकी सुरक्षाके लिए भेजना चाहता है। वह राजमाताके पाससे रक्षासूत्र माँगकर लाता है। इसी समय उदयनके साथ सदैव रहने वाला अंगरक्षक हंसक वहाँ आता है और उदयनके बन्दी बनाये जानेका वृत्तान्त बताता है। वह निवेदन करता है कि स्वामी बिना किसीको सूचित किये प्रातःकाल ही नागवनको चले गये। उन्हें कुछ दूर पर नीला हाथी दिखायी पड़ा। उसे चक्रवर्ती हाथी समझकर वे उसे पकड़ने चल दिये। अमात्य रुमण्वान्ने उन्हें रोका, पर उसे अपनी शपथ देकर वे चले गये और वहाँ उस कृत्रिम गजके भीतरसे अस्त्रधारी सैनिक निकले। शत्रु सैनिकोंने उनसे युद्ध किया और अन्तमें बांधकर उन्हें वे उज्जयिनी ले गये। यौगन्धरायण इस समाचारको सुनकर उत्तेजित हो जाता है और प्रतिज्ञा करता है कि यदि राहुग्रस्त चन्द्रमाके समान शत्रुओं द्वारा पकड़े गये स्वामी उदयनको मैं मुक्त न कर दूँ तो मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं। इसी समय महर्षि व्यास वहाँ आते हैं और अपना वस्त्र छोड़ जाते हैं तथा राजकुल के अभ्युदय होनेका आशीर्वाद देते हैं। यौगन्धरायण उस वस्त्रको पहनकर अपना वेश परिवर्तित करता है।

द्वितीय अंक महासेन प्रद्योतकी राजधानीसे आरम्भ होता है। प्रद्योतपुत्री वासवदत्ताको मांगनेके लिए अनेक प्रस्ताव आ रहे हैं। महासेन राजमहिषीको बुलाकर कहता है कि मगध, काशी, वङ्ग, मिथिला और शूरसेन देशके अधिपति कन्याग्रहणके इच्छुक हैं, पर कन्या किस नरेशको दी जाय, यह निश्चय नहीं होता। इसी समय कंचुकी महाराजके समक्ष उदयनको प्रस्तुत करता है। जब उदयन राजाके सामनेसे चला जाता हैं, तो राजमहिषी उदयनको ही योग्य वर कहती है। पर राजा उसे उद्दण्ड और अहंकारी कहकर उसके साथ विवाह करनेका निषेध करता है। इसी समय कंचुकी वत्सराज उदयनकी घोषवती वीणा भी राजाके समक्ष प्रस्तुत करता है। राजा इस वीणाको वासवदत्ताको दे देता है। राजा प्रद्योत वत्सराजकी सुखसुविधाका पूरा ध्यान रखता है।

तृतीय अंकके प्रारम्भमें महासेन प्रद्योतकी राजधानीमें वत्सराजका विदूषक दिखायी पड़ता है। उसने अपना वेश परिवर्तित कर दिया है। वत्सराजके चर तथा अमात्य भी वेशपरिवर्तन कर वहाँ पहुँच जाते हैं। यौगन्धरायणने उन्मत्तकका वेश बनाया है और रुमण्वान्ने श्रमणका। विदूषकके लड्डुओंको उन्मत्तक ले लेता है और दोनोंमें सांकेतिक भाषामें वार्तालाप होने लगता है। यौगन्धरायण कहता है कि वत्सराजका वासवदत्तापर अनुरक्त होना उचित नहीं, पर स्वामीकी इच्छाका अनुवर्तन करना हमारा धर्म है। अतः वह पुनः प्रतिज्ञा करता है—"जिस प्रकार गाण्डीवधन्वा अर्जुनने सुभद्राका हरण किया, उसी तरह राजा वासवदत्ताका हरण नहीं कर लेते, तो मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं। घोषवती वीणा, नीलगिरि हाथी, वासवदत्ता तथा राजाको हरकर कौशाम्बी न पहुँचा दूँ तो मेरा नाम यौगन्धरायण नहीं।" इस समय सन्ध्या होनेसे वे लोग इधर-उधर चले जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ अङ्कमें गात्र-सेवकका अन्वेषण करते हुए सैनिक प्रवेश करते हैं। गात्रसेवक वस्तुतः वत्सराजका चर है जो वेश परिवर्तित कर प्रद्योतके यहाँ भद्रवती हस्तिनीका संरक्षक बना है। वह हस्तिनीका पता पाकर उसे ढूँढ़ता है और गात्रसेवक कृत्रिम रूपसे मद्यप होनेका अभिनय करता है। वह सैनिकको बतलाता है कि हस्तिनीके अंकुश घंटा आदि समस्त उपकरण, शौण्डिकको दे दिये हैं। इसी समय कोलाहल बढ़ता है और ज्ञात होता है कि वत्सराज वासवदत्ताको लेकर भाग गया है। गात्रसेवक अपना वास्तविक रूप प्रकट करता है। और कहता है कि हमलोग अमात्य यौगन्धरायणके द्वारा नियुक्त गुप्तचर हैं। वत्सराजके चले जाने पर युद्ध प्रारम्भ होता है और उसमें यौगन्धरायण बन्दी बना लिया जाता है। यौगन्धरायणको शस्त्रागारमें ठहराया जाता है जहाँ उसे प्रद्योतका अमात्य भरतरोहक मिलता है। भरतरोहक वत्सराजके कृत्योंकी निन्दा करता है, पर यौगन्धरायण सभी आक्षेपोंका उत्तर देते हैं। भरतरोहक उसे श्रृङ्गार नामक स्वर्णपात्र पुरस्कारमें देता है। पहले तो यौगन्धरायण लेना नहीं चाहता, पर जब सुनता है कि प्रद्योतने वत्सराज द्वारा वासदत्ताके भगाए जानेका अनुमोदन कर चित्रफलकके द्वारा दोनोंका विवाह कर दिया है, तो इस उपहारको स्वीकार करता है। अन्तमें भरतवाक्यके साथ नाटक समाप्त होता है।

'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक उदयनकी कथाका पूर्वार्ध है। उत्तरार्द्धके रूपमें 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटककी कथा आती है। अतएव ऐतिहासिक तथ्योंके विश्लेषणके पूर्व 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटककी कथावस्तुको अवगत कर लेना भी आवश्यक है। 'स्वप्नवासवदत्तम्' 'भास'का सर्वोत्कृष्ट नाटक है और घटना क्रमसे यह उदयनको पूर्ण अभ्युदय अर्थात् चक्रवर्त्तित्व प्राप्त कराता है। उदयन अपने समयका प्रतापी, वीर, सौन्दर्यप्रिय एवं गन्धर्व-विद्याका वेत्ता है। जिस प्रकार प्रतिज्ञा-यौगन्धरायणके कथासूत्र बृहत्कथामञ्जरी, कथासरित्सागर आदि ग्रंथोंके अतिरिक्त बौद्ध साहित्यमें उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार 'स्वप्नवासवदत्तम्' के भी।

'कथावस्तु'का आरम्भ मगध जनपदमें होता है। अमात्य यौगन्धरायण, परिव्राजकके रूपमें और वासवदत्ता अवन्तिकाके रूपमें तपोवनमें प्रविष्ट होते हैं। मगध नरेश दर्शककी माता तपोवनमें निवास कर रही है। उसीके दर्शनके लिए मगधेश्वरकी बहन पद्मावती आती है। उसके संरक्षक मार्गको खाली करनेके लिए जनताको त्रस्त कर रहे हैं। वे हटो-बचो कहकर जनसमूहको खदेड़ रहे हैं। यौगन्धरायणको शान्त तपोवनमें इस प्रकारका खदेड़ना अच्छा नहीं लगता। अपमानको न सहनेवाली वासवदत्ताको भी इससे क्लेश होता है। यौगन्धरायण उसे सान्त्वना देता हुआ कहता है कि भाग्यदशा परिवर्त्तनशील है। अतः इसमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसी समय मगधराजका कंचुकी आता है और सैनिकोंको इस निस्सरण-क्रियासे विरत करता है। पद्मावती राजमाताका दर्शन कर आशीर्वाद प्राप्त करती है। उसकी इच्छा है कि अभ्यर्थियोंको दान-मानसे सन्तुष्ट किया जाय। उसके आदेशसे कंचुकी आश्रमवासियोंसे पूछता है कि जिसको जो वस्तु अभीष्ट हो, वह माँग ले। वहाँके तपस्वियोंमेंसे कोई भी याचना नहीं करता, पर यौगन्धरायण आगे बढ़कर कहता है—'यह मेरी भगिनी है। इसका आप संरक्षण कीजिए। इसका पति विदेश गया हुआ है।' पद्मावती इस भारको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वहन करनेमें आनाकानी दिखलाती है, पर प्रतिज्ञाका स्मरण दिलाने पर वह उसे अपने संरक्षण में रख लेती है। दैवज्ञोंसे यौगन्धरायणने सुना है कि पद्मावती, उदयनकी पत्नी होगी, अतः वासवदत्ताको उसे सौंपना वह नितान्त उपयोगी समझता है।

इसी समय वत्सदेशके लावाणक ग्रामसे एक ब्रह्मचारी आता है और कहता है—'वहाँ बड़ी दुर्घटना घटित हो गई। उस ग्राममें वत्सराज उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ता तथा अमात्योंके साथ ठहरे हुए थे। एक दिन जब वे मृगयाके लिए गए, तो उनके आवासमें आग लग गई। उदयनकी पत्नी वासवदत्ता उसमें जल गई है तथा उसीके बचानेके प्रयासमें मन्त्री यौगन्धरायण भी जलकर भस्म हो गया। जब राजा आखेटसे लौटा, तो उसे महान् संताप हुआ। वह प्राण-त्याग करनेके लिए तत्पर था, पर अमात्योंने बड़े प्रयत्नोंसे उनकी रक्षा की। पत्नीके विरहसे उनकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई। पर मन्त्री 'रुमण्वान्' उनका सम्यक् रक्षण कर रहा है।' ब्रह्मचारी इस घटनाको सुनाकर चला जाता है और यौगन्धरायण भी आज्ञा लेकर वहाँसे चला जाता है।

द्वितीय अङ्कमें पद्मावती और वासवदत्ता कन्दुक-क्रीड़ा करती हुई दिखलाई पड़ती हैं। वासवदत्ता, पद्मावतीके साथ परिहास भी करती है। पद्मावतीको वह महासेनकी होने वाली वधू कहती है। इसी समय चेटी कहती है कि भर्तृदारिका पद्मावती उसके साथ सम्बन्ध नहीं चाहती। वह वत्सराज उदयनको चाहती है। क्योंकि वह बड़ा दयालु है, इसी समय धात्री आती है और सूचना देती है कि पद्मावती उदयनको दे दी गई। वासवदत्ताको यह सुनकर कष्ट होता है और वह सहसा कह उठती है कि यह तो बहुत बुरा हुआ। यद्यपि मनोवेगके कारण वह बोल जाती है, पर पीछे समाधान करते हुए कहती है कि जो अपनी स्त्रीके लिए इतना उन्मत्त था, वह पुनर्विवाह करनेके लिए कैसे तैयार हो गया। वासवदत्ता यह भी पूछती है—क्या उसने स्वयं पद्मावती का वरण किया ? धात्री बतलाती है कि किसी प्रसंगसे वह यहाँ आया हुआ था, तो हमारे महाराजने उसे स्वयं कन्या दे दी। एक अन्य चेटी आकर सूचित करती है कि आज ही विवाहका मङ्गल मुहूर्त है। अतः शीघ्रता कीजिए। सभी धात्रीके साथ चली जाती हैं।

तृतीय अङ्कके आरम्भमें चिन्ताकुल वासवदत्ता दिखलाई पड़ती है। उसे मार्मिक व्यथा है कि वत्सराज उदयन अब दूसरेके हो गए। तर्क-वितर्क कर ही रही थी कि पुष्पावचयके लिए चेटी पहुँचती है और वासवदत्तासे कहती है कि स्वामिनीने कहा है—'आप महाकुल प्रभूता,' स्निग्धा और निपुणा हैं। अतः आप ही सौभाग्यमालाका ग्रथन कीजिए। वासवदत्ता मानसिक कष्टके साथ सौभाग्यमालाका ग्रथन करती है। चेटी माला लेकर चली जाती है।

चतुर्थ अङ्कके प्रारम्भमें विदूषक रङ्गमंचपर दिखलाई पड़ता है और उदयनके विवाह सम्पन्न हो जानेकी सूचना देता है। वह पद्मावती-परिणयसे प्रसन्नता व्यक्त करता है। उदयन मगधराजके यहाँ आनन्दपूर्वक निवास करते हैं। पद्मावती वासवदत्ताके साथ शेफालिका गुच्छों-का अवलोकन करनेके लिए आती है। उसके साथ चेटी भी है। वासवदत्ता पद्मावतीसे पूछती है कि क्या तुम्हें पति प्रिय है ? पद्मावती उत्तर देती है कि मेरा मन उनके बिना नहीं लगता है। पद्मावती यह भी कह बैठती है कि जितने हमें आर्यपुत्र प्रिय हैं, उतने ही क्या वासवदत्ताको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी प्रिय थे ? वासवदत्ता स्वभावतः कहती है—'इससे भी अधिक प्रिय थे'। पद्मावती पूछती है—'यह तुम्हें कैसे मालूम ?' वासवदत्ता उत्तर देती है—'यदि ऐसा न होता तो वह परिजनोंको क्यों छोड़ती ?' वे आपसमें इस प्रकार वार्तालाप कर ही रही हैं कि उदयन यहाँ विदूषकके साथ आ जाता है। उन्हें देखकर वासवदत्ता और पद्मावती लता-गुल्ममें छिप जाती हैं। इसी समय विदूषक उनसे पूछता है—'वासवदत्ता और पद्मावतीमें से कौन आपको अधिक प्रिय है ! प्रथम तो वत्सराज आनाकानी करता है, पर विदूषकके ज्यादा आग्रह करने पर कहता है कि यद्यपि रूप, गुण तथा दाक्षिण्यमें पद्मावती अधिक है, पर वासवदत्तामें आकृष्ट मेरे मनको वह आकर्षित नहीं कर रही है। इस वार्त्तालापको सुनकर वासवदत्ता एवं पद्मावती दोनों ही प्रसन्न होती हैं। राजा विदूषकसे पूछता है—'तुम बतलाओ तुम्हें उन दोनोंमें कौन अधिक प्रिय है ?' इसपर विदूषक, वसन्तक पद्मावतीकी अधिक प्रशंसा करता है। राजा अनजाने ही कहता है कि वासवदत्तासे तुम्हारी शिकायत करूँगा। विदूषक वसन्त उसे मृत बतलाता है। सहसा प्रबुद्ध होनेपर उदयन रोने लगता है। उपयुक्त अवसर पाते ही वासवदत्ता वहाँसे चली जाती है। पद्मावती उदयनके पास पहुँचती है। उदयन बहाना करते हुए कहता है कि पुष्पोंकी रेणुसे आँखोंमें आँसू आ गए। पद्मावती जलसे उसका मुख-मार्जन कराती है।

पञ्चम अङ्कमें ज्ञात होता है कि पद्मावतीको शिरो-वेदना हो रही है और वह समुद्र-गृहमें निवास कर रही है। मधुरिका वासवदत्ताको यह समाचार सूचित करती है और उसे वहाँ पद्मावतीका मनोविनोद करनेके लिए भेजती है। पद्मनिका दासी उदयनको यही समाचार देने जाती है। उदयन समुद्र-गृहकी ओर आता है। वहाँ पद्मावतीको न पाकर स्वयं ही शय्याके ऊपर विश्राम करनेके लिए लेट जाता है। उसे नींद आ जाती है और प्रावारक लानेके लिए विदूषक वहाँसे चला जाता है। इसी समय वहाँ वासवदत्ता भी आ जाती है। वह उदयनको सोया हुआ देखकर उसे पद्मावती समझती है। और पार्श्वमें लेट जाती है। उदयन स्वप्नमें वासवदत्ताका नाम लेकर बोलने लगता है। जब वासवदत्ताको यह जानकारी होती है कि यह पद्मावती नहीं, उदयन है तो वह उठ बैठती है और कुछ देर तक उदयनके मुख-सौन्दर्यका पान करने लगती है। तथा उदयनकी नीचे लटकती हुई बाँहको ऊपर उठाकर चली जाती है। उसके निकलते ही उदयनकी नींद टूटती है और वह अर्द्धनिद्रित अवस्थामें ही उसका पीछा करता है पर द्वारका धक्का लगनेसे गिर पड़ता है। इसी समय वहाँ विदूषक आ जाता है। उदयन विदूषकसे वासवदत्ताके जीवित होनेका समाचार देता है। पर विदूषक स्वप्न या माया कहता है। उदयन कहता है कि यदि यह स्वप्न है, तो स्वप्न ही सदैव बना रहे। क्यों कि जागरणसे यह अधिक सुखप्रद है। इसी समय मगधराजका कंचुकी आता है और कहता है कि आपका अमात्य रुमण्वान् आरुणिको मारनेके लिए सेनाके साथ सन्नद्ध है और मगधराजकी सेना भी उसका अनुगमन कर रही है। अतः आप तैयार हो जाइये।

षष्ठ अङ्कमें महासेनका कंचुकी रैभ्य और वासवदत्ताकी धात्री वसुन्धरा अवन्तीसे उदयनसे भेंट करनेके लिए आती है। प्रतिहारीसे यह भी ज्ञात होता है कि किसी व्यक्तिने नर्मदा तटीय जङ्गलमें वीणा पाई है, जिसकी ध्वनिको सुनकर महाराजने उसे मँगा लिया है। तथा वासवदत्ताका स्मरण कर विलाप कर रहे हैं। अवन्तीसे आए हुए कंचुकी और धात्री पद्मावतीके साथ उदयनसे भेंट करते हैं और महासेनकी महिषी अङ्गारवतीका सन्देश सुनाते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं। वे एक चित्रफलकको भेंट करते हैं, जिसमें उदयन और पद्मावतीका चित्र अङ्कित है। चित्र-फलकको देखकर पद्मावती कहती है कि ऐसी ही स्त्री एक मेरे यहाँ है जिसे एक ब्राह्मणने प्रोषित-पतिका कहकर न्यासके रूपमें रखा है।

इसी समय न्यास लौटानेके हेतु यौगन्धरायण आ जाता है। वासवदत्ता लाई जाती है और उसे सबलोग पहचान लेते हैं। यौगन्धरायण राजाके पैरोंपर गिर पड़ता है। पद्मावती भी अविनयके लिए वासवदत्तासे क्षमा माँगती है। वत्सराज उदयनके द्वारा इस प्रपंचमय योजनाका रहस्य पूछे जानेपर यौगन्धरायण बताता है कि दैवज्ञोंने आपका पद्मावतीके साथ परिणय बताया था। अतः यह परिणय और मगधराजके सहायसे वत्सभूमिकी प्राप्ति दोनों ही कार्य सिद्ध हो गए। महासेनको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिए पद्मावतीके साथ सभी लोग उज्जयिनी जानेके लिए प्रस्तुत होते हैं और भरतवाक्यके साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

ऐतिहासिकता

ई० पू० छठी-सातवीं शताब्दीमें भारत सोलह जनपदोंमें विभक्त था। इन षोडश महाजनपदोंमें एक जनपद वत्स भी था। यह देश यमुना तटवर्ती था और अवन्तीके उत्तरपूर्वमें था। इसकी राजधानी कौशाम्बी (इलाहाबादसे तीस मील दूर आधुनिक 'कोसम' ग्राम) थी। हस्तिनापुरके विध्वंस होनेके पश्चात् निचक्षुने यहाँ अपनी राजधानी बनाई थी। इसी भरत-कुलमें बुद्धके समकालीन नृपति उदेन (उदयन) के पिता परन्तप हुए। अतः भारतीय इतिहाससे उदयनका ऐतिहासिक नृपति होना सिद्ध है। उदयनका सम्बन्ध वत्स और अवन्ती इन दोनों देशोंसे था। अनुश्रुतियाँ उदयनके प्रणय और युद्धसे भरी पड़ी हैं। 'उदेन-वत्थु' में लिखा है कि उदयनको अवन्तिके प्रद्योतने सम्भवतः युद्धमें वन्दी बना लिया था।[1] उदयन चालाकीसे अपने स्पर्धीकी कन्या वासुलदत्ता अथवा वासवदत्ताको लेकर भागा था। उसने अपनी राज-धानीमें आकर वासवदत्ताके साथ विवाह किया।

एक दूसरी अनुश्रुतिके अनुसार उदयनने दृढ़वर्माकी कन्या और मगधके राजा दर्शककी भगिनी पद्मावतीके साथ विवाह किया था। दृढ़वर्मा अङ्गका राजा था, जिसका राज्य छिन गया था और जो सम्भवतः उदयनके प्रयाससे पुनः राज्य प्राप्त कर सका। 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटकसे भी उदयनके चक्रवर्ती होनेकी ध्वनि निकलती है। उदयनने चक्रवर्ती होनेके लिए दिग्विजय की थी। उसने सुदूर कलिंग विजय करनेके पश्चात् कोशलपर आक्रमण किया था।

ऐतिहासिक विवेचनोंसे स्पष्ट होता है कि उदयन एक शक्तिशाली राजा था। अपने सम-सामयिक राजकुलोंके साथ उसका कुछ संघर्ष चला और अवन्ति मगध तथा अङ्गके राजकुलोंके साथ उसने विवाह सम्बन्ध स्थापित किए। 'बृहत्कथा-मञ्जरी' और 'कथासरित्सागर' से उक्त तथ्योंकी पुष्टि होती है।[2]

पुराणोंके आधारपर भी वत्सराज्यकी स्थिति पूर्वोक्त ही सिद्ध होती है। कैशाम्बी अपने समयकी समृद्ध नगरी थी। इस नगरीका उल्लेख महाभाष्यमें भी आया है। वत्सराज

---

१. हरीतकृष्णदेव : उदयन वत्सराज, कलकत्ता सन् १९२० ई० तथा Carmichel lectures on the Ancient history of India-1919.

२. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारतका इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ० सं० ९०–९१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदयनके सम्बन्धमें बौद्ध साहित्यसे भी तथ्य उपलब्ध होते हैं। इन तथ्योंके आधारपर उदयनको लोककथाका नायक ही नहीं माना जा सकता है, अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति भी स्वीकार किया जा सकता है।

उदयन वासवदत्ताको लेकर उज्जयिनीसे भाग निकला था—यह घटना ऐतिहासिक है। क्योंकि भासके सम-सामयिक प्रस्तराङ्कनों एवं मृण्-पट्टोंमें इसके चित्रण मिलते हैं। अतः सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उदयन और वासवदत्ताकी प्रेमकथा केवल जनश्रुति ही नहीं रह गई थी, अपितु ऐतिहासिक रूपको प्राप्त कर चुकी थी।

उदयन हाथियोंको वशमें लानेकी कलामें प्रवीण था, और वह अपने वीणा-वादन द्वारा मदोन्मत्त हाथियोंको भी वश कर लेता था—इसका निर्देश लोकानुश्रुतिके साथ तत्कालीन साहित्य और पुरातत्त्वमें प्राप्त होता है।

उदयन सम्बन्धी भासके नाटकोंमें यौगन्धरायणकी जिस राजभक्ति और योजना-चातुर्यका चित्रण आया है, वह मौर्योत्तर कालकी राज्य-क्रान्ति एवं राजसत्तासे पूर्ण प्रभावित है। अतः उदयनका कथानक भले ही कल्पनासमन्वित ऐतिहासिक हो पर इन नाटकोंमें ऐतिहासिक देश-काल और वातावरण समाविष्ट है। इन दोनों नाटकोंके अध्ययनसे निम्नलिखित तथ्य प्रस्फुटित होते हैं :—

(१) लोककथाओं और पुराणोंमें प्रचलित पात्रोंका ऐतिहासिकीकरण।

(२) शक और पह्लवोंके राजनीतिक प्रभावके कारण यौगन्धरायण जैसे मन्त्रीकी कल्पना और उसके व्यक्तित्वका नए ढंगमें निर्माण।

(३) सन् की आरम्भिक शताब्दियोंमें प्रचलित मन्त्रिपरिषद्‌का गठन।

(४) रुमण्वान् और यौगन्धरायण जैसे मन्त्रियोंके साथ मौर्यकालीन गुप्तचर व्यवस्थाका विश्लेषण।

(५) कौशाम्बीके मित्रधारी राज्योंका प्रभाव।

(६) कौटिलीय अर्थशास्त्रमें प्रतिपादित राजनीतिका प्रयोगात्मक विश्लेषण।

(७) अहिच्छत्रके राज्यका प्रतीकोंमें निर्देश। यह एक अलग राज्य था, जिसके राजाओंके नाम उनकी मुद्राओंसे ज्ञात होते हैं।

(८) भरहुत और साँचीके कलामण्डलोंमें उपलब्ध कलाका अनुकरण।

(९) सातवाहन और कनिष्क-कालीन समाज-व्यवस्था और राजनीतिका चित्रण।

(१०) सातवाहन युगमें सचिव और अमात्य पृथक्-पृथक् हो चुके थे। भासके नाटकोंमें इन दोनों पदोंका पृथक् रूपमें निर्देश उपलब्ध होता है। अतः सातवाहन-युगकी राजनीतिका अनुकरण सामान्य रूपसे लक्षित होता है।

भासने उक्त दोनों नाटकोंमें जिस समाज और संस्कृतिका चित्रण किया है, वह सातवाहन युगीन है। राजाके मुख्य कर्तव्योंमें प्रजारञ्जन, प्रजापालन, और प्रजारक्षण सम्मिलित थे। राजा सैनिक, न्याय सम्बन्धी और शासन सम्बन्धी कार्य स्वयं करता था। मन्त्रियोंकी सहायतासे वह अलभ्यवस्तुकी प्राप्ति भी कर लेता था। समस्त केन्द्रीय और प्रान्तीय शासन अमात्य द्वारा संचालित होता था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा वीर होनेके साथ कलाविज्ञ और विलासी भी होता था। षोड्श जनपद युगमें संघागारों द्वारा प्रधान (राजा) के निर्वाचनकी प्रथा प्रचलित थी। पर भासके नाटकोंसे इस प्रथाका ज्ञान नहीं होता है। नाटककारने ख्यातवृत्तके रूपमें उदयनके आख्यानको ग्रहण किया है। तथा इस आख्यानमें भद्रवती हस्तिनी, घोषवती वीणा, नलायन गज आदिकी भी कल्पना की गई है। साहित्यमें घोषवती वीणाका वर्णन अत्यधिक आया है। वात्स्यायनके कामसूत्र, चुल्लवग्ग, अंगुत्तर-निकाय आदि ग्रन्थोंमें घोषवती वीणाका निर्देश आता हैं। 'वसुदेव हिण्डी' ग्रन्थमें भद्रवती हस्तिनीका उल्लेख आया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'स्वप्नवासवदत्तम्' और प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटकमें ये लोकाभिप्राय सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दीमें ही प्रयुक्त हुए होंगे। भासने अपने नाटकोंमें नाटकीय रूढ़ियोंका तो पालन किया ही है, साथ ही ऐसे राजनीतिक और सामाजिक तथ्योंको भी ग्रहण किया है जो दूसरी-तीसरी शतीमें समाजमें प्रचलित थे। कोई भी लोकाख्यान साहित्यके पृष्ठोंमें आते ही ऐतिहासिक बन जाता है और वह उत्पाद्यसे प्रख्यात, बन जाता है।

अतः नायक ही केवल ऐतिहासिक नहीं है, अपितु नायकका आख्यान भी इतिहास-सम्मत है। ताप-पीड़ित व्यक्तियोंके लिए जिस धार्मिक शान्तिकी आवश्यकता रहती है, वह शान्ति इस नाटकमें वर्णित है।

'मृच्छकटिक' नाटकके ऐतिहासिक तथ्य—मृच्छकटिक नाटक तत्कालीन सामाजिक संघर्षको अवगत करनेके लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस नाटकमें प्रमुखतः चार प्रकारके संघर्ष निहित हैं—

१. चारुदत्त और वसन्तसेनाका प्रणय-द्वन्द्व

२. वसन्तसेना और शकारका कलह-द्वन्द्व

३. चारुदत्त और शकारका ईर्ष्याद्विन्द्व

४. आर्यक और पालकका राज्य-द्वन्द्व

नाटककारने इन चारों द्वन्द्वोंका ऐसा चित्रण किया है जिससे उस समयका समाज नेत्रोंके समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है। यों तो इस नाटकमें दारिद्रच और ऐश्वर्यका संघर्ष आद्यन्त व्याप्त है, पर इस संघर्षके बीच ऐतिहासिक तथ्योंको भी ज्ञात किया जा सकता है।

शूद्रकके अध्येता श्री चन्द्रबली पाण्डेयने शूद्रकको शर्विलक माना है। उन्होंने लिखा है—'चन्दनकके दाक्षिणात्य' तथा चाण्डालकी सह्यवासिनीके साथ कविके इस 'मनःशिला गुहेव' को मिला कर देखें, तो पता चल जाएगा कि इधरसे भी शर्विलकको शूद्रक माननेमें कोई क्षति नहीं प्रत्युत् प्रसंग तो सर्वथा इसके अनुकूल है। इसको और अधिक बढ़ानेकी आवश्यकता इसलिए भी नहीं रही कि यही विद्वानोंका मत भी है कि शूद्रक दाक्षिणात्य था और यह उसकी रचनासे सिद्ध भी है।'[१]

पाण्डेय जी 'वाशाष्ठीपुत्र' श्री 'पुलुमावि' को राजा शूद्रक मानते हैं। उन्होंने इसके लिए अनेक प्रमाण भी दिए हैं।

---

१. शूद्रक : चन्द्रबली पाण्डेय, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, पृ० ५४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मृच्छकटिक' नाटकमें राजा पालकका उल्लेख आया है। यह पालक कौन है? इसके सम्बन्धमें ऐतिहासिकोंने विचार किया है। एक पालक तो उज्जयिनीके राजाओंमें मिलता है। इसका सम्बन्ध प्रद्योत और उदयनके साथ रहा है। पर मृच्छकटिकमें वर्णित पालक यह नहीं है। इस नाटकमें पालकके वंशका कोई उल्लेख नहीं आया है। नाटकसे इतना ही ज्ञात होता है कि पालकका श्याल 'शकार' था। शकारके वंशके सम्बन्धमें नाटकसे कतिपय तथ्य प्राप्त होते हैं। नाटकमें लिखा है—

'भवतु' लब्धो मयोपायः। दत्ता वृद्धश्रृगालेन शिश्श्चालनसंज्ञा। तदेतं प्रेष्य वसन्तसेनां मारिष्यामि। एवं तावत्। भाव, यत्त्वं मया भणितः तत्कथमेवं वृहत्तरैः मल्लकप्रमाणैः कुलपत्र-र्जातोऽकार्यं करोमि?

किंकुलेनोपदिष्टेन शीलमेवात्र कारणम्।
भवन्ति सुतरां स्फीताः सुक्षेत्रे कंटकिद्रुमाः ॥८।२९॥

एवं वृहति मल्लर्कप्रमाणस्य कुलेऽहंजातः।

—मृच्छकटिक अंक ९ पंक्ति ६

इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि 'शकार', 'मल्लक' या 'मल्लर्क' कुलमें उत्पन्न हुआ था। बहुत सम्भव है कि पालक भी इसी वर्गका राजा रहा हो। वह अपने निर्णयके लिए मनु आदि-को प्रमाण नहीं मानता। वह कहता है—

आचार्य चारुदत्त! निर्णये वयं प्रमाणम्। शेषे तु राजा। तथापि शोधनक विज्ञाप्यतां राजा पालकः—

अयं हि पातकी विप्रो न बध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह ॥९।३९॥

स्पष्ट है कि पालक चारुदत्तको प्राणदण्ड देनेके लिए किसी की बात नहीं सुनता। अत्यन्त नृशंस है। नव-वधूका मस्तक भी मुड़वानेमें आनन्द समझता है। वह भिक्षुओंको पशु समझता है। और उनके साथ वैसा ही व्यवहार और अत्याचार करता है। चारों ओर उसके क्रूर शासनसे त्राहि-त्राहिकी ध्वनि निकल रही है। आर्य चारुदत्त भी पालकके अत्याचारी शासनसे खिन्न हैं। जहाँ हम चारुदत्तमें उदारता और विश्वप्रेमकी झलक पाते हैं वहाँ हमें पालकके चरित्रमें क्रूरताकी मूर्ति दिखलाई पड़ती है। चारुदत्त भी श्वेतकाकीय शासनका अन्त चाहता है। वह कहता है—

ईदृशैः श्वेतकाकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च ॥९।४१॥

श्रीचन्द्रबली पाण्डेय ने पालकको क्षह-रात क्षत्रप नहपान माना है। उसके बहुतसे सिक्कों पर जो गौतमीपुत्र श्री शातकर्णीकी छाप है, उसका भी कारण यही है। नासिकके गुहालेखमें 'क्षहरात वंश निर्वशेषकरः' पद आया है। इससे यह सिद्ध है कि पालक क्षहरात—क्षत्रपनहपान हो सकता है। गौतमीपुत्र शातकर्णीका उदय इसी क्षत्रीय दर्प-मर्दनके लिए हुआ था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाटकमें दुरात्मा पालकके वधकी चर्चा कई स्थानोंपर आई है। शर्विलकने चारुदत्तसे कहा—

त्वद्यानं यः समारुह्य गतस्त्वां शरणं पुरा।
पशुवद्वितते यज्ञे हतस्तेनाद्य पालकः ॥१०५२॥

वस्तुतः शर्विलकने एक अपूर्व क्रान्ति की है। उसने ही दुरात्मा पालककी आर्यक द्वारा यज्ञवाटमें हत्या दिखलाई है। कवि कहता है—

आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानं च रक्षता।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ॥१०५१॥

ऐतिहासिक दृष्टिसे अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके पालक और गोपालक पुत्र थे। गोपालकके पुत्र का नाम आर्यक था। नाटक में यह कहा गया है कि पालकको मार कर आर्यक राजा बना। अतः पौराणिक मान्यताकी दृष्टिसे यह मत सिद्ध हो जाता है। पर जब मृच्छकटिकके निम्नलिखित पद्योंका अध्ययन करते हैं तो उक्त मत भ्रान्त प्रतीत होता है—

अरे रे वीरक-विशल्य-भीमांगद-दंडकालक-दंडशूरप्रमुखाः।

आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत।
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम् ॥६॥
उद्यानेषु सभासु च मार्गे नगर्यामापणे घोषे।
तं तमन्वेषयत त्वरितं शंका वा जायते यत्र ॥७॥
रे रे वीरक किं किं दर्शयसि भणसि तावद्विश्रब्धम्।
भित्त्वा च बन्धनकं कः स गोपालदारकं हरति ॥मृ० ६।८॥

इन पद्योंसे स्पष्ट है कि आर्यकका गोत्र पालकके गोत्रसे भिन्न है। यदि यह बात नहीं होती, तो आर्यकके राजा बननेपर लक्ष्मीका गोत्रान्तरमें जाना नहीं कहा जाता। पालकके कुलका ज्ञान नहीं भी हो, पर आर्यकको गोपालदारक अथवा आभीर वंशका माना जा सकता है। हमारा यह कथन चारुदत्त और आर्यकके वार्त्तालापसे भी सिद्ध होता है। चारुदत्त आर्यकी-प्रशंसा करता हुआ कहता है—

अरे रे वीरक-भीमांगद-दंडकालक-दंडशूरप्रमुखः
करिकरसमबाहुः सिंहपीनोन्नतांसः,
पृथुतरसमवक्षास्ताम्रलोलायताक्षः।
कथमिदमसमानं प्राप्त एवंविधो यो,
वहति निगडमेकं पादलग्नं महात्मा॥

ततः को भवान्?

आर्यकः—शरणागतो गोपालप्रकृतिरार्यकोऽस्मि।

चारुदत्तः—किं घोषादानीय योऽसौ राज्ञा पालकेन बद्धः?

आर्यकः—अथ किं।

चारुदत्तः—विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः,
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणागतम् ॥—मृ० ७।५-६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदित है कि चारुदत्तने इस गोपालदारक आर्यकका कहीं दर्शन नहीं किया। परन्तु वह उसके बन्दी होनेकी कथासे अवश्य अवगत है। ऐसी स्थितिमें आर्यकको उज्जयिनीके राजा गोपालकका पौत्र अथवा पालकका भतीजा कैसे माना जा सकता है? गोपालक 'प्रकृति' शब्दसे भी आर्यकका आभीर वंश सिद्ध होता है तथा 'घोष' जातिका कहनेसे भी उक्त तथ्य स्पष्ट होता है।

नाटकके अध्ययनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि आर्यकका सम्बन्ध पालकसे नहीं है। उसका सम्बन्ध शर्विलकसे प्रतीत होता है। किसी सिद्धके आदेशसे वह दैववश राजा बना तो इसमें उसका क्या अपराध है? शर्विलकने उसे कारागारसे मुक्त किया है। अतः शर्विलकका सम्बन्ध आर्यकके साथ मित्रत्वका है। नाटकमें बताया है—

कथमार्यको गोपालदारकः श्येनवित्रासित इव पत्ररथः शाकुनिकस्य हस्ते नियमितः। (विचिन्त्य) एषोऽनपराधः शरणागत आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमारूढः प्राणदस्य म आर्यशर्विलकस्य मित्रम्—मृ० ६।१९।५०।

इस सन्दर्भमें आर्यकको शर्विलकमित्र कहा गया है और साथ ही चन्दनकका प्राणप्रद भी। यहाँ यह स्मरणीय है कि पालकका परम शत्रु आर्य शर्विलक है, आर्यक नहीं। आर्यक तो निमित्त भर है। चन्दनक राजा पालकका बलपति है, अवश्य, परंतु मूलतः उज्जयिनीका निवासी नहीं है। वह तो दाक्षिणात्य प्रतीत होता है और अनेक दक्षिणी भाषाओंका ज्ञाता है। वह कहता है—

कथं राज्ञा पालकेन प्रियसुहृत् आर्यको बद्धः कलत्रवाश्चास्मि संवृत्तः। आः कष्ठम्

अथवा—

द्वयमिदमतीव लोके प्रियं नराणां सुहृच्च वनिता च।
सम्प्रति तु सुन्दरीणां शतादपि सुहृद्विशिष्टतमः॥—मृ० ४।२५

नाटकके अन्य अवतरणोंसे यह भी ज्ञात होता है कि शर्विलक उज्जयिनीका निवासी नहीं है। वह किसी कार्यवश उज्जयिनी आया है। जब उसे यह सूचना मिलती है कि उसका प्रिय मित्र आर्यक कारागारमें बद्ध है, तो वह उसे मुक्त करनेकी चिन्तासे आकुलित हो जाता है। और पालकका बध करनेके लिए वह षड्यन्त्र करता है। शर्विलक ही इस षड्यन्त्रका सूत्रधार है। इस प्रकार पालकका अन्त शर्विलकके हाथ होता है और विक्रम संवत्की पहली दूसरी शतीमें हुई राज्य-क्रान्तिकी ऐतिहासिकता सिद्ध हो जाती है।

इस नाटकसे तत्कालीन सभ्यता, संस्कृति, राज्य-व्यवस्था आदिका परिज्ञान हो जाता है। नाटकके युगमें घरोंको अलङ्कृत किया जाता था। तथा पाकशाला घरके ऐसे प्रकोष्ठमें स्थित रहती थी जहांसे धूमका निकलना सहज रहता था। भवनोंमें शृङ्गारशाला, पक्षिशाला और वृक्षवाटिकाएं रहती थीं। शृङ्गारशालाका वर्णन करते हुए लिखा है—

आश्चर्यं भोः इहापि षष्ठे प्रकोष्ठेऽमूनि तावत्सुवर्णरत्नानां कर्मतोरणानि नीलरत्नविनिक्षिप्तानीन्द्रायुधस्थानमिव दर्शयन्ति। वैडूर्यमौक्तिकप्रवालकपुष्परागेन्द्रनीलकर्केतरकपद्मरागमरकतप्रभृतीन्रत्नविशेषानान्योन्यं विचारयन्ति शिल्पिनः.........
इमे अपरेऽवधोरितपुत्रदारवित्ता मनुष्या आसवकरका पीतमदिरैर्गणिकाजनैर्ये मुक्तास्ते पिबन्ति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पक्षिशालाके वर्णनमें विभिन्न प्रकार के पक्षियोंके नाम, उनके पिंजड़े एवं उनकी क्रीड़ाओं का चित्रण आया है।

शासनव्यवस्था उस समय अत्यन्त शिथिल थी। राजाके अधिकारी मनमाना अत्याचार करते थे और राजकुलकी दुहाई देकर अपने अत्याचारोंकी पुष्टि करते। अधिकरणकी दशा चिन्तनीय थी। न्यायमें मन्त्री, दूत, चार, हिंस्र, वासक और कायस्थ भाग लेते थे। कायस्थ श्रेष्ठि कायस्थके रूपमें प्रयुक्त है। दूतको शोधक कहा गया है। वासकके रूपमें शकारका प्रयोग आता है। चार गुप्तचर हैं। इसकी सुव्यवस्थासे ही राज्यकी सुव्यवस्था सम्भव हो सकती है। राजाको चारेक्षण कहा गया है। अमात्य मन्त्रीके तुल्य कार्य करता है। जब कोई भी नृपति अमात्यकी अवहेलना करने लगता है तो शासन बिगड़ जाता है। पुलिसकी अव्यवस्थाका चित्रण भी इस नाटकमें समाहित है। गोवध, श्रमण और ब्राह्मणके प्रति उस समयकी भावना अच्छी प्रतीत नहीं होती। राजा पालकके राज्यमें समाजकी शृङ्खला टूट चुकी थी और उसकी दृष्टिमें लोक-जीवनका महत्त्व नहीं रह गया था। यही कारण है कि उसके शासनके प्रति सभी बगावत करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। नाटकसे यह स्पष्ट है कि जो राजा स्वयं अपने शासनकी देखभाल नहीं करता और इसका भार अन्य लोगोंको सौंप देता है, वह अधिक दिनों तक शान्ति और सन्तोषपूर्वक राज्य नहीं कर सकता है। पालकका अन्त उसके श्यालके अत्याचारोंके कारण ही हुआ है।

नाटकपर श्रमण संस्कृतिका भी प्रभाव है। इसमें श्रमको ही सुखका कारण माना गया है। जीवनकी व्यस्तता एवं कार्योंकी सुव्यवस्था ही उन्नतिका साधन है। विलास और लिप्सा की भावनासे जीवन सुखी नहीं रह सकता। द्यूत-क्रीड़ा, मदिरा-पान एवं जीवनकी अन्य उच्छृ-ङ्खलताएँ शान्ति और उन्नतिके अवरोधक हैं। स्थावरक कहता है—

आज्ञप्तोऽस्मि राजश्यालकसंस्थानेन--स्थावरक प्रवहणं गृहीत्वा पुष्पकरंडकं जीर्णोद्यानं त्वरितमागच्छ इति। भवतु·········एतत्प्रवहणमार्यचारुदत्तस्य वृक्षवाटिकायाः पक्षद्वारके स्थापयामि। (इति प्रवहणं संस्थाप्य) एषोऽस्म्यागतः—मृ० अङ्क० ६।१। पू०

सिद्ध है कि इस नाटकमें तत्कालीन समाजका जीता-जागता चित्र है। नाटककी ऐतिहासिक घटनाओंकी पुष्टि तमिल ग्रन्थ 'शिलप्पदिकारम्' से भी होती है। इस नाटककी अधिकांश घटनाएँ और प्रसङ्ग शिलप्पदिकारम् से मिलते हैं। इसके अनुसार चन्दनक, दुर्दुरूक और कहलें सह्यक द्रविड़ देशवासी हैं। शर्विलक के साथ इन्ही लोगों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सातवाहन राजाके साथ अनेक घटनाओंकी सङ्गति बैठती है। 'शिलप्पदिकारम्'का कथानक मृच्छकटिकके कथानकके समान है। अतः मृच्छकटिक नाटकमें उसी राजनीतिक क्रान्ति एवं समाज-व्यवस्थाका चित्रण आया है जो 'शिलप्पदिकारम्' में निहित है। अतएव संक्षेप में मृच्छकटिक नाटकमें आये हुए तथ्योंको ऐतिहासिक माननेमें कोई कठिनाई नहीं है।

मालविकाग्निमित्र : कथास्रोत, कथानक और उसकी ऐतिहासिकता

महाकवि कालिदासका "मालविकाग्निमित्रम्" ऐतिहासिक नाटक है। इस नाटकमें महाकवि कालिदासने शुङ्ग-वंशी अग्निमित्रको नायक बनाया है। यह अग्निमित्र पुष्यमित्रका उत्तराधिकारी था। इतिहासकारोंका अभिमत है कि पुष्यमित्र शुङ्गने १८४ ई० पूर्वके लगभग मौर्य वंशका अन्त कर मगधका सिंहासन स्वायत्त किया। हर्षचरितमें बृहद्रथकी हत्याका वृत्तान्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिलता[1] है। उसमें लिखा है कि सेनाका निरीक्षण करते समय राजाका वध सेनानीने कर डाला। सम्भवतः बृहद्रथ अत्यन्त दुर्बल राजा था और पुष्यमित्रको समस्त सेनाकी सहायता प्राप्त थी; अन्यथा वह सेनाके सामने ही खुले मैदानमें अपने स्वामीका वध नहीं कर सकता था।

शुङ्ग वर्णसे ब्राह्मण जान पड़ते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि उनका सम्बन्ध भारद्वाज गोत्रसे स्थापित करते हैं और आश्वलायन श्रौतसूत्रमें उनको आचार्य कहा है। तारानाथ भी पुष्यमित्रको ब्राह्मण और किसी राजाका पुरोहित मानते हैं। एक स्थानपर तो उसने उन्हें ब्राह्मण राजा तक कहा है। अतः महाकवि कालिदासने इस नाटककी कथावस्तु इतिहासके प्रसिद्ध खण्ड शुङ्ग कालसे ग्रहण किये हैं।

कथानक

नान्दी पाठमें शिवकी वन्दनाके पश्चात् नाटकका आरम्भ होता है। प्रस्तावनामें सूत्रधार कहता है कि आज कालिदास रचित मालविकाग्निमित्रका अभिनय किया जायगा। सर्वप्रथम महादेवी धारिणीकी दो दासियाँ वकुलावलिका तथा कौमुदिका आकर इस बातकी सूचना देती हैं कि महादेवी धारिणी मालविकाको राजाकी दृष्टिसे छिपाना चाहती हैं। उन्हें यह आशङ्का है कि कहीं अग्निमित्र मालविकापर अनुरक्त न हो जाय। एक दिन राजा महादेवीके अलबम (चित्र-संग्रह-पुस्तिका) में मालविकाका चित्र देखता है और उसे देखते ही मुग्ध हो जाता है। राजा मालविकाके सम्बन्धमें जानकारी प्राप्त करना चाहता है। यहीं एक तीसरा पात्र प्रवेश करता है—गणदास। राजाको ज्ञात होता है कि महारानी धारिणीने मालविकाको विश्वासपात्र नाट्याचार्य—गणदासके पास सङ्गीत और नृत्यकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए रख दिया है। मालविका कुछ ही दिनोंमें नृत्य और सङ्गीतकी विदुषी बन जाती है। इधर महाराज अग्निमित्र मालविकाकी प्राप्तिके लिए चिन्तित रहने लगते हैं। इसी समय उनका विदूषक उपस्थित होता है और राजासे निवेदन करता है कि वह किसी भी प्रकार मालविकाको राजासे मिला देगा। उसने एक युक्ति सोची और नाट्याचार्य गणदास एवं हरदत्तके बीच कलह उत्पन्न कर दिया। दोनों ही नाट्याचार्य परस्पर विवाद करने लगे और एक दूसरेसे अपनेको श्रेष्ठ बतलाने लगे। दोनोंका विवाद महाराज अग्निमित्रके समक्ष पहुँचा। निर्णय हेतु महारानी धारिणी तथा भगवती कौशिकी भी उपस्थित हो गयीं। हरदत्त राजाका विश्वासपात्र है और गणदास महारानी धारिणीका। न्यायाधीशका पद भगवती कौशिकीको दिया जाता है। भगवती कौशिकी यह प्रस्ताव करती हैं कि दोनों नाट्याचार्य अपनी शिष्याओंका प्रायोगिक प्रदर्शन करें। महारानी धारिणी भयभीत होने लगती हैं और उन्हें यह आशङ्का हो जाती है कि अब मालविकाको राजाकी दृष्टिसे बचाये रखना असम्भव है। अतः वह उस विवादको टालना चाहती हैं। सामाजिकोंको यह आशङ्का होने लगती है कि भगवती कौशिकी विदूषकसे मिली हुई हैं।

---

१. पुष्यमित्रस्तु सेनानीः समुद्धृत्य बृहद्रथम्............।

हर्षचरित—प्रज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्य बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्रः स्वामिनम् ॥ (कावेल और टामसका अनुवाद, पृ० १९३, हर्षचरित ६, पृ० १९९, बम्बई सं०, १९२५)।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे अङ्कमें राजा, धारिणी, भगवती कौशिकी तथा विदूषक रङ्गशालामें मालविकाके नृत्य प्रदर्शनको देखते हैं। न्यायाधीश कौशिकीका निर्णय नृत्यकी उत्कृष्टताके कारण गणदासके पक्षमें होता है। प्रदर्शनके बाद महारानी उतावली हो उठती हैं और वे मालविकाको राजाके समक्ष अधिक समय तक उपस्थित रहने देना नहीं चाहतीं। यही कारण है कि महाराज और मालविका दोनोंका पूर्वानुराग दृष्टिगोचर होता है। तीसरे अङ्कके प्रारम्भमें प्रवेशकके द्वारा मधुकरिका और समाहितिका इस बातका संकेत देती हैं कि आजकल मालविका कुछ कृश हो रही है तथा राजा भी उसके प्रति आकृष्ट हैं। इसी अङ्कमें राजा और विदूषक छोटी रानी इरावतीकी प्रतीक्षा करते हुए प्रमदवनमें प्रविष्ट होते हैं। विदूषकके कथनसे ज्ञात होता है कि बकुलावलिका मालविकाको राजासे मिलानेके लिए प्रयत्नशील है। यद्यपि महारानी धारिणीकी कठोर दृष्टि उसके ऊपर है पर होता वही है जो दैवको स्वीकार है। महारानी धारिणीके पैरमें चोट लग जानेके कारण वे स्वयं अशोकका दोहद पूर्ण करनेके लिए नहीं जा पातीं। मालविकाको इसके लिए भेजती हैं। मालविका और राजाको मिलनेका अवसर मिलता है, पर इरावती इसमें विघ्न डालती है।

चतुर्थ अङ्कमें धारिणीको सारा रहस्य ज्ञात हो जाता है और वह मालविका एवं बकुलावलिकाको तहखानेमें कैद कर देती है। विदूषक अपनी कूटनीतिका प्रयोग करता है। वह साँप द्वारा काटे जानेका वहाना बनाकर महारानी धारिणीकी अंगूठी प्राप्त कर लेता है और उसे दिखला कर मालविका एवं बकुलावलिकाको तहखानेसे मुक्त करा लेता है।

पञ्चम अङ्कमें कुछ नये पात्र उपस्थित होते हैं। विदर्भसे भेंटमें भेजी दो सेविकाएँ आती हैं और वे मालविकाको पहचान लेती हैं और बतलाती हैं कि विदर्भराज पुत्र माधवसेनकी मालविका बहिन है। कौशिकीने मालविकाके परिचयको अभी तक गुप्त रखा, इसका कोई विशेष कारण हैं। धारिणी राजासे प्रसन्न हो जाती है और उसकी स्वीकृति प्राप्त कर राजा मालविकाके साथ पाणिग्रहण कर लेता है और भरत वाक्यके साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

ऐतिहासिक तथ्य

१. पुष्यमित्रके राज्यकालकी पहली घटना विदर्भके युद्धकी है। मालविकाग्निमित्रके अनुसार विदर्भ राज्य अभी निकट पूर्वमें ही स्थापित हुआ था। इस नाटकमें वहाँका राजा यज्ञसेन जो मौर्य अमात्यका सम्बन्धी था, शुङ्गोंका स्वाभाविक शत्रु कहा गया है। प्रतीत होता है कि बृहद्रथके बधके बाद जो अराजकता उत्पन्न हुई उसके कारण यज्ञसेन विदर्भमें स्वतन्त्र हो गया, पर पुष्यमित्रने जैसे ही राज्य व्यवस्था प्राप्त की वैसे ही उसने यज्ञसेनसे आत्मसमर्पण करनेको कहा। नाटकके आख्यानके अनुसार इस संघर्षका क्रम स्पष्ट नहीं है, पर जान पड़ता है कि पुष्यमित्रके पुत्र और विदिशाके शासक अग्निमित्रने सफल शक्ति और नीतिके साथ विदर्भ नरेशसे युद्ध किया। यज्ञसेनके चचेरे भाई माधवसेनको उसने अपनी ओर मिला लिया और इस संघर्षके अन्तमें विदर्भका राज्य अपने आधिपत्यमें दोनों भाइयोंके बीच बाँट दिया। मालविका माधवसेनकी बहन थी। अग्निमित्रका इसीके कारण परिणय हुआ है। नाटककारने ऐतिहासिक तथ्यको प्रणयकथाका रूप दिया[1]।

---

१. प्राचीन भारतका इतिहास, प्रथम संस्करण, पृष्ठ—१४१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. यवन आक्रमण—मालविकाग्निमित्रके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र के राज्यकालमें यवनोंका भयङ्कर आक्रमण हुआ था। पतञ्जलिके निर्देशसे सिद्ध होता है कि यवनोंने साकेत (अयोध्या) को घेर लिया था। अनद्यतन भूत क्रियाके उदाहरण देते समय इन्होंने इसका उल्लेख किया है। जो घटना लेखकके कालसे पूर्व घटित हो पर उसकी स्मृति सुरक्षित रहे वहाँ अनद्यतन भूतका प्रयोग होता है। इस तथ्यके उदाहरण स्वरूप—"अरुणद्यवनः साकेतम्। अरुणद्यवनो मध्यमिकाम्[१]"॥ अर्थात् यवनोंने साकेतको घेरा, यवनों ने मध्यमिकाको घेरा। इतना ही नहीं विक्रान्त यवनोंने पाटलिपुत्रको भी घेर लिया। गार्गी संहितासे भी सिद्ध होता है कि यवन ग्रीकोंने मथुरा, पाञ्चाल देश और साकेतको जीत लिया और वे पाटलिपुत्र तक पहुँच गये। मालविकाग्निमित्रमें वसुमित्र द्वारा सिन्धु तटपर यवनों की—सम्भवतः उनकी अग्र सेनाकी पराजय लिखी है। यहाँ यह निश्चित नहीं है कि भारतपर आक्रमण करनेवाला यह यवन सेनापति कौन था। कुछ विद्वान् डेमिट्रियस और अन्य उसे मेनेण्डर मानते हैं। यह सत्य है कि ये दोनों ही महान् विजेता थे और दोनोंने ग्रीक पताका दूर देशों तक फहराई।

३. अश्वमेध यज्ञ—मालविकाग्निमित्रसे पुष्यमित्रके राज्यकालकी एक महत्त्वपूर्ण घटनाका ज्ञान होता है। बताया गया है कि पुष्यमित्रने अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया था और इसके ऋत्विज्का भार स्वयं पतञ्जलिने ग्रहण किया था। महाभाष्यमें लिखा है—"इह पुष्यमित्रं यजामः"। यह उदाहरण भाष्यकारने अपूर्ण घटनाको उद्धृत करनेके लिए वर्त्तमान के सम्बन्धमें दिया है। अयोध्याके एक अभिलेखसे भी विदित होता है कि पुष्यमित्रने एक नहीं दो अश्वमेध यज्ञ किये थे। जायसवालका अनुमान है कि पुष्यमित्रने दूसरा अश्वमेध यज्ञ कलिङ्ग के राजा खारवेलसे पराजित होनेके पश्चात् किया था। कुछ इतिहासकार खारवेल और पुष्यमित्रकी समकालीनतामें आशङ्का करते हैं और दोनोंका समय पृथक्-पृथक् मानते हैं।[२]

४. अग्निमित्रका राज्यपालत्व—अग्निमित्र विदिशाका गोप्ता अथवा राज्यपाल था। पाटलिपुत्र, अयोध्या और विदिशा ये तीनों ही प्रदेश उसके राज्यमें सम्मिलित थे। पुष्यमित्रके आठ पुत्रोंका उल्लेख प्राप्त होता है और ये सभी शासन कार्यमें पुष्यमित्रका सहयोग करते थे। कहा जाता है कि पुष्यमित्रने मगधके समीपवर्त्ती समस्त प्रदेशोंको अपने अधीन किया और अपने साम्राज्यके पश्चिमी प्रदेशोंपर दृढ़ शासन करनेकी इच्छासे उसने प्रमुख नगरी विदिशा को अपनी दूसरी राजधानी घोषित किया। अग्निमित्र प्रतिनिधिके रूपमें विदिशाका शासक नियुक्त था। मालविकाग्निमित्रके अनुसार नर्मदा तकके दक्षिणी राज्य भी उसके राज्यमें सम्मिलित थे। वायु पुराणसे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र स्वयं साम्राज्यपर नियंत्रण रखता था और उसके पुत्र प्रदेशोंपर उसके प्रतिनिधिके रूपमें शासन करते थे।

५. ब्राह्मण धर्मका समर्थक—मालविकाग्निमित्रसे ज्ञात होता है कि अग्निमित्र एवं उसका पिता पुष्यमित्र कट्टर ब्राह्मण धर्मानुयायी थे। 'दिव्यावदान' में उसे बौद्ध धर्मके प्रति

---

१. महाभाष्य, ३।२।१११

२. डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्राचीन भारतका इतिहास, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, बनारस सन् १९५६, पृ० १४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असहिष्णु कहा गया है। पर विदिशाके निकट भरहुतमें उसके दान द्वारा अनेक बौद्ध स्तूपोंके निर्माण करनेका कथन आया है। भरहुतमें एक 'सुगनं राज' शिलालेख में लिखा है कि ये स्तूप शुङ्गोंके राज्यमें थे। यह सत्य है कि अग्निमित्र और पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्मके अनुयायी होनेके कारण यज्ञ-यागादि क्रियाओंमें संलग्न रहते थे। अग्निमित्र भी ब्राह्मण धर्मका बड़ा संरक्षक था।

६. पुष्यमित्रके निधनके पश्चात् अग्निमित्र प्रधान शासकके रूपमें नियुक्त हुआ। वह अवन्तिमें निवास करता था। राज्यतन्त्रमें उसने विशेष दक्षता प्राप्त की थी। मालाविकाग्निमित्रसे यह स्पष्टतः सिद्ध होता है कि राज्य व्यवस्थाके पश्चात् ही अन्तःपुरमें केलि-क्रीड़ाओंमें रत रहता था।

अग्निमित्रने केवल आठ वर्षों तक राज्य किया और इसके पश्चात् उसके ज्येष्ठ भाई ज्येष्ठमित्रने शासनकी बागडोर अपने हाथमें ली। अग्निमित्रके पुत्रका नाम वसुमित्र था। वसुमित्रने अपने पितामहके राजसूय यज्ञके अवसरपर उसके अश्वकी रक्षा की थी और उसके भ्रमणके क्रममें उसने यवनोंको पराजित किया था।

'मालविकाग्निमित्र'के पञ्चम अंकसे कई ऐतिहासिक तथ्य प्रसूत होते हैं। इसमें निम्नाङ्कित प्रधान हैं—

(क) विदर्भके राजकुमारपर विजय।

(ख) अश्वमेध यज्ञकी रक्षा करते समय धारिणी पुत्र वसुमित्र द्वारा सिन्धु तटपर यवनोंका पराजित किया जाना।

(ग) पुत्रकी सफलतासे प्रसन्न होकर धारिणी द्वारा मालविकासे अग्निमित्रका विवाह सम्पन्न होनेकी स्वीकृति देना।

७. मालविकाग्निमित्रसे ज्ञात होता है कि अग्निमित्र प्रतिनिधिके रूपमें अवन्तीका शासक था। और उसके यवन आक्रमणके समय वीरताका परिचय दिया था।

इतिहास बतलाता है कि ३६ वर्ष राज्य करनेके उपरान्त ई० पू० १४८ में पुष्यमित्र का निधन हुआ। इसका पुत्र अग्निमित्र था। अग्निमित्रने विदिशा एवं अवन्तीका शासन कर अनुभव अर्जित किया था। बेसनगरके स्तम्भ लेखसे अवगत होता है कि अग्निमित्र अत्यन्त शक्तिशाली, ओजस्वी, प्रभावक एवं राजनीतिज्ञ था। इसने हिन्दू धर्मकी वृद्धि, प्रसार और संरक्षणके लिए पर्याप्त श्रम किया था। पुष्यमित्र और उनके वंशजोंने ग्रीक लोगोंको पराजित कर दिया था। फलतः ग्रीकोंने स्वयं ही शुङ्गोंके साथ मित्रता स्थापित की थी। विश्वविजयके लिए किया गया अश्वमेधयज्ञ भी उक्त तथ्यकी ओर संकेत करता है। वायु पुराण और मालविकाग्निमित्र नाटकके उल्लेखोंसे शुङ्गोंकी वीरता, साहित्यप्रियता एवं धर्मानुरक्ति स्पष्ट है।

मालविकाग्निमित्रकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें विभिन्न विद्वानोंके मत

मालविकाग्निमित्रमें पुष्यमित्र द्वारा यज्ञके सम्पादनपर प्रकाश डाला गया है और इसकी पुष्टि अभिलेखोंसे भी होती है किन्तु वाल्टर रुबेनने प्रस्तुत नाटकके द्वारा अश्वमेध वाले तथ्य की पुष्टिके सम्बन्धमें आशङ्का अभिव्यक्त की है। उन्होंने लिखा है--

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यह प्रसिद्ध कथा है कि राजा सगरके विदर्भदेशीय राजकुमारी केशिनीसे असमञ्ज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। वह इतना निर्दय था कि नगरके शिशुओंको हँसते-हँसते नदीमें फेंक देता था। इससे क्रुद्ध होकर सगरने उसे राज्यसे निर्वासित कर दिया था। असमञ्जका पुत्र अंशुमान् था जिसने अपने पितामह सगरके अश्वमेधके घोड़ेको बन्धनसे छुड़ाया। यह अंशुमान् दिलीपका पिता बना और दिलीपसे ही रघुवंश महाकाव्यका प्रारम्भ होता है। कालिदासने मालविकाग्निमित्रके पञ्चम अङ्कमें अंशुमान् द्वारा घोड़ेके छुड़ाये जाने तथा उसके उपलक्ष्यमें सगरद्वारा यज्ञ किये जानेका जो संक्षिप्त उल्लेख किया है उसका अभिप्राय यही है कि पाठक इस पुरानी पौराणिक कथा तथा प्रस्तुत नाटककी कथामें साम्य अथवा समानान्तरीयकी कल्पना कर सके। मालविकाके समान केशिनीका भी सम्बन्ध विदर्भसे था। उस प्रसंगमें सगरके अश्वमेधीय घोड़ेका रक्षक उसका प्रपौत्र था। क्योंकि उसका पुत्र असमञ्ज राज्यसे बहिष्कृत हो गया था। प्रस्तुत प्रसंगमें पुष्यमित्रके अश्वमेधवाले घोड़ेको उसके प्रपौत्र वसुमित्रने बचाया है क्योंकि उसका पुत्र अग्निमित्र युद्ध करनेकी अपेक्षा प्रमदवनमें प्रमदाओंके साथ झूला झूलनेमें आनन्द लेता है। असमञ्जका यह प्रच्छन्न संकेत नाटकके सम्बद्ध दृश्यमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अतएव पुष्यमित्रके अश्वमेधयज्ञके सम्पादन पर इस नाटकसे ऐतिहासिक प्रकाश पड़ता है यह नहीं माना जा सकता।[1]"

उपर्युक्त उद्धरणमें वाल्टर रूबेनने पौराणिक तथ्यका संकेत ही माना है। ऐतिहासिक तथ्यका नहीं। पर हमारी दृष्टिमें उनका यह अभिमत निर्दोष नहीं है। मालविकाग्निमित्रके सन्दर्भसे यह ऐतिहासिक तथ्य सहजमें स्पष्ट होता है कि पुष्यमित्रके अश्वमेध यज्ञीय अश्वकी रक्षा उसके पौत्र वसुमित्रने की थी। इस नाटककी कथावस्तुसे यह भी सिद्ध होता है कि विदर्भराजका पराभव, उसके राज्यका विभाजन तथा उसके वंशकी राजकन्याओंका अग्निमित्रके साथ विवाह आदि घटनाएँ ऐतिहासिक ही हैं। यों तो कथासरित्सागर और बृहत्कथा मञ्जरी के अध्ययनसे भी यह स्पष्ट होता है कि नाटककारने ऐतिहासिक तथ्योंकी अभिव्यक्ति इस नाटकमें की है। डा० वासुदेव विष्णु मिराशीने लिखा है—"उज्जयिनीके राजा महासेनने वासवदत्ता नामक अपनी कन्याका विवाह वत्स देशके राजा उदयनसे किया था। वासवदत्ताके भाई पालकने स्वयं जीतकर लायी हुई एक बन्धुमती नामक राजकन्याको अपनी बहनके पास भेंटके रूपमें भेजा। वह रूपवती थी। उसको वासवदत्ताने मञ्जुलिका नाम देकर गुप्त रूपसे रखा। एक दिन उद्यानलता गृहमें वसन्तक नामके अपने प्रिय मित्र विदूषकको साथ ले घूमते हुए उदयनने उसे देखा और उससे गन्धर्व विवाह किया। यह क्रिया छिपी हुई वासवदत्ताने देखी और इससे उसको क्रोध आया और वह वसन्तकको बाँधकर ले गयी। तब राजा उसकी माँ के घरकी सांकृत्यायनी नामकी परिव्राजिका मैत्रिणीके शरणमें गया और उसकी सहायतासे वह वसन्तकको छुड़ाकर लाया। रानीकी अनुमतिसे परिव्राजिकाने बन्धुमतीको अर्पण किया।[2]

उक्त कथावस्तुसे स्पष्ट है कि मालविकाग्निमित्रके कथानकमें कथासरित्सागरके कथानक से घनिष्ठ साम्य है। अतएव कालिदासने कथावस्तुके केन्द्रिय अंशको बृहत्कथाके सूत्रोंसे

---

१. Walter Ruben : Kalidas Page 87.

२. कालिदास, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, हीराबाग, बम्बई, द्वितीय संस्करण सन् १९५६ पृष्ठ १५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्रहण किया हो तो भी उनकी ऐतिहासिकतामें कोई कमी नहीं आती। Dr. A. B. Keith ने अपने संस्कृत नाटकमें लिखा है--"पुष्यमित्र, अग्निमित्र और वसुमित्र स्पष्टतया शुङ्ग राजवंशसे गृहीत पात्र है। यह राजवंश १७८ ई०पू० में अन्तिम मौर्य राजाको सिंहासनच्युत करके प्रतिष्ठित हुआ था। उसके समयमें भवनोंके साथ सम्पर्कका अभिलेख मिलता है। अश्वमेध असन्दिग्ध रूपसे परम्परागत है। परन्तु साथ ही इसमें समुद्रगुप्तके यज्ञका संकेत हो सकता है, जो आरम्भिक गुप्त कालके इतिहासकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना है। क्योंकि उससे इस वंशका साम्राज्य सम्बन्धी प्रभुत्व स्थापित हुआ। रूपकका शेष भाग असामान्य प्रतिमान पर आधारित है[1]।

निस्सन्देह मालविकाग्निमित्रमें भारतकी पुरातन संस्कृतिको जीवन्त रूप दिया गया है सुदूर अतीतके नर-नारियोंका जीवन चित्र, प्रतापी नरपतियोंके उत्थान-पतन, प्रेम और घृणाके घात-प्रतिघातोंको उपस्थित किया गया है। नाटक रचना करते समय इतिहासके साधारण तथ्यों और चरित्रोंकी सामान्य विशेषताओं एवं वातावरणके छोटेसे छोटे स्वरूपोंको भी नहीं भुलाया गया है। अन्य नाटकोंमें पौराणिक तथ्योंके ग्रहण करनेपर भी इस नाटकमें चरित्र, घटना और वातावरणकी मूल ऐतिहासिकताको सुरक्षित रखनेका प्रयास किया गया है। ऐतिहासिक और पौराणिक तथ्योंसे मानव सभ्यताके युगीन और शाश्वत सत्योंको ढूँढ़ निकालनेका प्रयास भी श्लाघनीय है। निश्चयतः कालिदास इतिहासके उन युगोंकी ओर गतिशील हैं जिनमें मानव सभ्यतायें एक दूसरेसे टकरायी हैं और उस संघर्षके परिणामस्वरूप नई सभ्यताओंने अगड़ाई ली है। मौर्य युगमें भारत और यूनानकी सभ्यताओंका संघर्ष हुआ और दोनोंके सम्मिलनसे जो निर्मल स्रोतस्विनी प्रवाहित हुई वह आज भी भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं कलामें अपनी अमिट छाप छोड़ गयी है। मौर्य कालमें बौद्ध धर्म और श्रमण संस्कृतिने नवीन जीवन संदेश दिये और ऐसे जीवन मूल्योंकी स्थापना की जिनका सम्बन्ध क्रान्तिकारी विचारधाराके साथ था।

पुष्यमित्र शुङ्गवंशका ऐसा प्रतापी राजा हुआ जिसने श्रमण-संस्कृतिके ऊपर वैदिक संस्कृति की विजय दिखलायी और लुप्त होती हुई यज्ञ यागादि क्रियाओंको पुनः प्रतिष्ठित किया। ब्राह्मण संस्कृति, साहित्य, कला आदिका पुनर्प्रतिष्ठापन किया।

गुप्तकाल पुनरुत्थानकाल तो था ही अतएव इस काल में कला, साहित्य और सङ्गीतके क्षेत्र में एक नया आलोक प्रस्फुटित हुआ। महाकवि कालिदासको गुप्तकालीन संस्कृतिने ही उत्पन्न किया और उन्होंने नवीन सामाजिक नियम एवं संस्कारोंको अपनाया। विकासशील तत्त्वोंका प्रतिक्रियावादी तत्त्वोंसे चिरन्तन संघर्ष दिखलाकर ब्राह्मण धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा की। उन्होंने ज्ञात इतिहासके दोनों खण्ड ध्रुव और चल एवं दोनों प्रकारकी ऐतिहासिक सामग्रीका उपयोग किया। अत एव महाकवि कालिदासने मालविकाग्निमित्र में राष्ट्र जागरणके साथ वैदिक धर्मके खण्डहरोंको अपनी प्रतिभासे सँजोया सजाया और एक नया रूप दिया है। यही कारण है कि इस नाटक में शुङ्गकालीन घटनाएँ गुप्तकालीन तथ्योंकी ओर सङ्केत करती है।

---

१. संस्कृत नाटक, हिन्दी संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, सन् १९६५ पृष्ठ--१४८-१४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुद्राराक्षस : कथास्रोत, कथानक एवं उसकी ऐतिहासिकता

संस्कृत साहित्य में कवि विशाखदत्तका मुद्राराक्षस नाटक अपनी महत्ता तथा गौरव में अद्वितीय है। संस्कृतके नाटकोंकी कथावस्तु प्रायः प्रणयके ऊपर अवलम्बित रहती है और किसी-किसी नाटक में युद्धका भी अङ्कन रहता है। पर इस नाटककी कथावस्तु पूर्णतया ऐतिहासिक होनेके साथ कूटनीतिके ऊपर आश्रित है। इस नाटककी कथावस्तुको शुद्ध ऐतिहासिक कथावस्तु माना जा सकता है। नाटकके अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि इसके रचयिता विशाखदत्त स्वयं किसी राजवंशमें उत्पन्न हुए थे, इसीलिए राजनीतिसे उनका पूर्ण परिचित होना स्वाभाविक है।

नाटककी प्रस्तावना में रचयिताने जो अपना परिचय दिया है उससे ज्ञात होता है कि इनके पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज किसी देशके सामन्त थे। पिता भास्करदत्त या पृथुने महाराजकी पदवी प्राप्त की थी। राजनीति विशेषतः कौटिल्य अर्थशास्त्र एवं शुक्रनीतिके प्रकाण्ड पण्डित होनेके अतिरिक्त विशाखदत्त दर्शनशास्त्र विशेषतः न्याय और ज्योतिषके भी पूर्ण ज्ञाता थे।[1] मुद्राराक्षस नाटकका रचनाकाल ई० सन् की छट्ठी शताब्दीका उत्तरार्ध माना जाता है।

कथास्रोत—मुद्राराक्षस नाटककी कथावस्तुका प्रधान स्रोत चन्द्रगुप्त मौर्यका ऐतिहासिक कथानक है। कविने इस नाटक में चन्द्रगुप्त मौर्यके शासनको दृढ़ बनानेके हेतु चाणक्य द्वारा किये गये उन प्रयत्नोंका निर्देश किया है जिन प्रयत्नोंने नन्द नरेशके सुयोग्य मन्त्री राक्षसको मौर्य नरेशका प्रधान अमात्य बनाया। इस नाटकका लक्ष्य प्रभुशक्तिको समन्वित करना है। कोई भी साम्राज्य चाहे कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो तब तक स्थिर नहीं रह सकता जब तक उसके सञ्चालन में प्रभुशक्तिके साथ मन्त्रशक्ति समन्वित न हो। शक्तिके एक हाथ में केन्द्रित हो जाने पर उच्छृङ्खलता—उद्दण्डताका हो जाना स्वाभाविक है, और ऐसा होने पर प्रजा-विक्षोभ अथवा प्रजा-विद्रोहको रोका नहीं जा सकता। साम्राज्यवाद तभी फल फूल सकता है जब प्रभुशक्ति पर मन्त्रशक्तिकी सतर्क दृष्टि वनी रहे और मन्त्र शक्ति पर प्रभु शक्ति की आस्था हो। नन्दसाम्राज्य प्रभु शक्तिकी उद्दण्डतासे नष्ट हुआ और मौर्य साम्राज्य मंत्र शक्तिके साथ पैर मिलाकर चलने वाली प्रभुशक्तिके हाथों द्वारा प्रतिष्ठित हुआ। साम्राज्यवाद का भविष्य अनियन्त्रित प्रभुशक्ति पर नहीं अपितु मन्त्रशक्तिके द्वारा प्रभुशक्तिके नियन्त्रण और दोनोंके पारस्परिक सहयोगसे ही सुरक्षित रह सकता है। यही कारण है कि मुद्राराक्षस में इन दोनों शक्तियोंके सन्तुलन पर विशेष जोर दिया गया है।

मुद्राराक्षसकी कथावस्तु जिस प्राचीन ऐतिहासिक वृत्तके आधार पर निबद्ध की गयी है वह आधार नन्द साम्राज्यके अस्त और मौर्य साम्राज्यके उदययुग सन्धि वेलाका है। पुराण और इतिहासमें बताया गया है कि कौटिल्यके द्वारा नन्द वंशका विनाश हुआ और चन्द्रगुप्तके वंशकी प्रतिष्ठा हुई। ई० पू० चौथी शताब्दीके अन्तिम चरणमें उत्तर भारतकी राजनीतिक

---

१. अलमतिप्रसङ्गेन। आज्ञापितोऽस्मि परिषदा, यथा--अद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्।
—मुद्राराक्षस नाटकम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, २४६ द्वितीय संस्करण, सन् १९६१, प्रथम अङ्क, पृष्ठ–७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दशा स्थिर थी। मगधमें घननन्दके बलपूर्वक कर--ग्रहण, उसके असीम लोभी, अत्याचारी और नीच कुलीय होनेके कारण नन्दवंश पतनोन्मुख था और पञ्जाबकी जनता सिकन्दरकी निर्दयता से उत्पीड़ित थी। परिणामतः साहसी, राजनीतिक पण्डितों और महत्त्वाकांक्षी ब्राह्मणोंके लिए असीम क्षेत्र मिल गया और चन्द्रगुप्त जनताके असन्तोषको अपना अस्त्र बनाकर नियतिके मार्गमें आगे बढ़ा। ऐसा प्रतीत होता है कि यह नन्द सेनामें पहलेसे एक सेनापति रहा होगा। परन्तु अपने स्वामीके दुर्व्यवहारके कारण असन्तुष्ट होकर विद्रोहका झण्डा उठाया। इस कार्यमें प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त अथवा चाणक्यसे भी उसे सक्रिय सहयोग मिला। चाणक्य को नन्दराजने अपमानित कर कुपित या क्षुब्ध कर दिया था। फलतः चाणक्य और चन्द्रगुप्तका यह समझौता राज्य प्राप्तिमें सहायक हुआ।

महावंशकी टीकामें एक कथा आयी है जिसमें बताया गया है कि चन्द्रगुप्त अपने अज्ञात वासमें एक वृद्धाकी झोपड़ीमें छिपा हुआ था। तब उसने रोटी खाते हुए बच्चेको उसका हाथ जल जानेके कारण झिड़कते हुए सुना—गर्म फुलकेको खाते समय किनारेसे तोड़ना चाहिए, बीचमें हाथ लगानेसे तो हाथ जलेगा ही। चन्द्रगुप्तने वृद्धाके इस कथनसे यह निष्कर्ष निकाला कि उसे राज्य विध्वंस करनेका उद्योग मगधमें न कर भारतके सीमान्त प्रदेशोंमें करना चाहिए। अतः उसने अपने प्रयत्नोंका तात्कालिक केन्द्र पश्चिमोत्तर प्रदेशमें स्थिर किया। चन्द्रगुप्तने अपने इस कार्यमें सिकन्दरसे भी सहयोग चाहा। पर उसे उसका सहयोग प्राप्त न हो सका। जब सिकन्दर लौट गया तब चन्द्रगुप्तने पञ्जाबकी जातियोंको एकत्र कर अपनी नई शक्ति सङ्गठित की। उसने सिकन्दर द्वारा आक्रान्त प्रदेशों पर आक्रमण किया और शनैः शनैः विजय करता हुआ मगधकी ओर बढ़ा और मगधको अपने अधिकारमें कर लिया। अतएव सिद्ध है कि इस नाटककी कथावस्तुका प्रधान स्रोत इतिहास, किंवदन्तियाँ, कौटिल्य अर्थशास्त्र आदि हैं। नाटकके आरम्भिक कथनसे भी इसके ऐतिहासिक स्रोतों पर प्रकाश पड़ता है। बताया है—"कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु, यथा किल 'नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजेन परिवृत्तो वृषलमभियोक्तुमुद्यत' इति। (विचिन्त्य) अथवा येन मया सर्वलोकप्रकाशं नन्दवंशवधं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञासरित्, सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं न समर्थः किं प्रशमयितुम्? इति।[१]"

चाणक्यकी प्रतिज्ञासे अवगत होता है कि विशाखदत्तने मुद्राराक्षसके नाटककी कथा-वस्तु मौर्य युगके कथानकसे ग्रहण की है। दशरूपककारने इस नाटककी कथावस्तुका आधार गुणाढ्यकी बृहत्कथाको बताया है। बहुत सम्भव है कि विशाखदत्तने बृहत्कथाका अवलोकन किया हो। पर इस नाटककी रचनाका मूल चाणक्य, और राक्षसके सम्बन्धमें प्रचलित किंवदन्तियाँ ही हैं।

इतिवृत्तका मूल स्रोत कुछ भी हो, पर कथाका गठन विशाखदत्तने बड़ी चतुराईके साथ किया है। उसने भारतके महान् राजनीतिज्ञके व्यक्तित्वको पूरी तरह ध्यानमें रखा है। सम्बन्ध

---

१. मुद्राराक्षस नाटकम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण सन् १९६१ पृ०—२२-२३, प्रथम अङ्क।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्वाहमें कविने पूरी सतर्कता अपनायी है। यही कारण है कि मुद्राराक्षस नाटक पूर्णतया ऐतिहासिक और राजनीतिक बन पड़ा है।

कथावस्तु

'मुद्राराक्षस' नाटककी कथावस्तु सात अंकोंमें निबद्ध है। प्रथम अंकके प्रस्तावना संदर्भमें सूत्रधार नटीके साथ चन्द्रग्रहणकी चर्चा करता है। पर्देके पीछेसे चाणक्यका सिंहनाद सुनाई पड़ता है कि उसके रहते चन्द्रगुप्तको कौन ग्रसना चाहता है। चाणक्य रंगमंचपर आकर पूर्वकथा प्रस्तुत करता है। वह नवनन्दोंका नाश कर चुका है। उसने पर्वतककी हत्या कराकर लोकमें यह प्रसिद्ध कर दिया है कि पर्वतककी हत्या राक्षसके विषकन्या प्रयोगसे हुई है। वह अपने गुप्तचर भागुरायण द्वारा पर्वतकके सुपुत्र मलयकेतुको भी यही विश्वास करा देता है। उसने चन्द्रगुप्तकी सुरक्षाके लिए चारों ओर गुप्तचरोंका जाल बिछा रखा है। वह राक्षस और उसके मित्रोंपर कड़ी नजर रखता है। अपने गुप्तचरों द्वारा राक्षसकी मुद्रा प्राप्त कर लेता है और नन्दके लेखाध्यक्ष शकटदाससे एक कूटलेख लिखा कर राक्षसको वशमें करनेका षड्यन्त्र करता है। वह चन्दनदासको राक्षसका परिवार सुपुर्द करनेके लिए कहता है। और इन्कार करनेपर उसे सपरिवार बन्दी बना लेता है। वह शकटदासको राक्षसका पक्ष लेनेके लिए मृत्युदण्ड देता है। और साथ ही सिद्धार्थकको उसकी रक्षा करनेपर नियुक्त करता है। और इस प्रकार उसे राक्षसका विश्वास प्राप्त करनेको कहता है।

प्रथम अंकके कथानकमें गुप्तचर द्वारा राक्षसके नामकी मुद्रिकाका चाणक्यको मिल जाना तथा चन्द्रगुप्तके विरोधियोंका पता लगना एवं राक्षसके मित्र शकटदाससे धोखा देकर जाली पत्र लिखाकर सिद्धार्थकको सौंपना वर्णित है। वह राज्यविरोधी जीवसिद्धिको देश निर्वासनका दण्ड देता है और शकटदासको मृत्युदण्ड। चन्दनदाससे राक्षसके परिवार माँगता है। और मना करनेपर उसे मन्त्री बना लेता है। सिद्धार्थक शकटदासकी मृत्युसे रक्षा करता है और दोनों वहाँसे भाग जाते हैं। चन्द्रगुप्तके सेवक भागुरायण आदि वहाँसे भागकर मलयकेतुकी सेवा करते हैं। इस प्रकार इस अंकमें मुख्य घटनाओंकी योजना की गई है। वस्तुतः मुद्राराक्षसका समस्त युद्ध चाणक्य जैसे कुशल राजनीतिज्ञ और राक्षस जैसे स्वामिभक्तका है। चाणक्य राक्षसको अपने अधीन करना चाहता है। पर राक्षस उसके षड्यन्त्रमें नहीं फँसता। नाना तरहके प्रयत्न करनेपर भी राक्षसको चाणक्यके अधीन होना पड़ता है।

द्वितीय अंकमें राक्षसके ये प्रयत्न ही क्रियाशील दिखाई पड़ते हैं। उसकी राजनीतिज्ञता अभिव्यक्त होती है। राक्षसका गुप्तचर सपेरेके वेशमें पाटलिपुत्रमें आता है और राक्षससे मिलना चाहता है। इसी अंकमें राक्षसके वार्तालापसे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्तको मरवानेकी उसकी समस्त योजनाएँ चाणक्यने विफल कर दी हैं। उसके सारे गुप्तचर जो कि चन्द्रगुप्तको मारनेके लिए नियुक्त किये गये थे स्वयं मृत्युके शिकार बन चुके हैं। अब उसके समक्ष एक ही उपाय है कि वह किसी तरह चन्द्रगुप्त और चाणक्यमें भेद उत्पन्न करा दे। वह चन्द्रगुप्तके वैतालिकोंको, जो उसीके गुप्तचर हैं, चन्द्रगुप्तको उत्तेजित करनेवाले प्रशस्तिपाठ सुनानेको कहला भेजता है। और उसे इस बातका पूरा विश्वास है कि अब वह समय आ गया है जब चन्द्रगुप्त और चाणक्यमें फूट डाली का सकती है। क्योंकि चन्द्रगुप्त राज्यप्राप्तिके कारण सुखी है और चाणक्य अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण होनेके कारण अभिमानमें मस्त है। चाणक्यको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राक्षसके इस षड्यन्त्रका पता लग जाता है और वह उसके प्रतिकारके लिए व्यवस्था कर लेता है। राक्षसको अपनी विजयमें आशंका नहीं रहती पर बात उल्टी घटित होती है।

इस अंकमें शकटदासके प्राण बचानेके साथ प्राणरक्षक सिद्धार्थकको राक्षस मलयकेतुसे प्राप्त सभी आभूषण उसे प्रदान करता है। सिद्धार्थक राक्षसको मुद्रिका देता है। यह मुद्रिका वही है जो चाणक्यको अपने गुप्तचरसे प्राप्त हुई थी। इस अंकमें चाणक्य द्वारा प्रेषित ब्राह्मणोंका राक्षसके हाथ पर्वतकके आभूषण बेचनेकी घटना भी वर्णित है।

तृतीय अंकमें चाणक्य और चन्द्रगुप्तके मिथ्या कलहका वर्णन है। चन्द्रगुप्त कौमुदी महोत्सव करना चाहता है और चाणक्य उसका विरोध करता है। चन्द्रगुप्त और चाणक्यका कृत्रिम कलह और चाणक्य द्वारा मन्त्रिपदका त्याग सभी कुछ कृत्रिम एवं योजनाबद्ध हैं। नाटकमें यहाँसे आगेकी घटनाओंको एक नवीन मोड़ प्राप्त होता है।

चतुर्थ अंकमें राक्षसका पक्षभेदन होने लगता है। भागुरायण जो पुष्पपुरसे भाग कर मलयकेतुके पास आ गया है उसे यह समझा देता है कि राक्षसका सच्चा शत्रु चन्द्रगुप्त नहीं चाणक्य है। यदि चाणक्यका काँटा मार्गसे हटा दिया जाय तो वह चन्द्रगुप्तसे मिल जायेगा। इसी बीच शकटार पुष्पपुरसे आता है और वह राक्षसको चाणक्य एवं चन्द्रगुप्तके मतभेदका समाचार कहता है। राक्षस प्रसन्न हो जाता है और कहता है—'हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति', अर्थात् चन्द्रगुप्त हमारी मुट्ठीमें आ जायगा। मलयकेतु और भागुरायण इस वार्तालापको सुन लेते हैं। मलयकेतुको राक्षसके प्रति संदेह होने लगता है कि कहीं चन्द्रगुप्तसे मिल तो नहीं गया। फिर भी वह राक्षसके साथ चन्द्रगुप्तपर आक्रमण करनेकी योजना बनाता है और क्षपणकसे मुहूर्त्त पूछता है।

पञ्चम अंकके प्रवेशकमें सिद्धार्थकका चाणक्यके द्वारा शकटदाससे लिखाया कूटलेख लेकर पाटलिपुत्र जानेकी तैयारी की जाती है। क्षपणक जीवसिद्धि भागुरायणसे मुद्रिका लेनेके लिए आता है। और वहाँ वह इस प्रवादका कथन करता है कि राक्षसने विषकन्याका प्रयोग करके पर्वतककी हत्या कराई है। इस बातको मलयकेतु सुन लेता है। इसी बीच चाणक्यके द्वारा प्रथम अंकमें लिखाये गये जाली पत्र और राक्षसके द्वारा पारितोषिक रूपमें दिये गये आभूषणोंको लेकर शिविरसे आनेकी चेष्टा करता हुआ सिद्धार्थक पकड़ लिया जाता है। उसे मलयकेतुके सामने लाया जाता है। सच-सच बात बतानेके लिए उसकी मरम्मत होती है और उस नकली पत्रके विषयमें यह कह देता है कि राक्षसका पत्र है जिसे वह चन्द्रगुप्तके पास ले जा रहा है। मलयकेतुके मनमें राक्षसके प्रति विश्वासघातकी भावना प्रविष्ट हो जाती है। राक्षस बुलाया जाता है और मलयकेतु उसे विश्वासघाती समझ कर फटकारता है। राक्षसका रहा-सहा आधार भी समाप्त हो जाता है। अब मलयकेतुको इस बातका भी पूरा विश्वास हो जाता है कि पर्वतेश्वरको राक्षसने ही मरवाया है। क्योंकि राक्षस पर्वतेश्वरका आभूषण पहने हुए पाया जाता है। वस्तुतः इस आभूषणको राक्षसने दूसरे अंकके अन्तमें एक व्यापारीसे खरीदा था। चाणक्यके इस षड्यन्त्रसे मलयकेतु और राक्षसमें परस्पर फ़ूट पड़ जाती है। दोनोंमें परस्पर अविश्वासकी भावना जाग्रत हो जाती है। अन्तमें राक्षस चन्दनदासको चाणक्यके षड्यन्त्रसे बचाना अपना कर्तव्य समझता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छठे अंकमें राक्षस पाटलिपुत्र पहुँच कर जीर्णोद्यानमें एक लम्बी स्वगतोक्तिके द्वारा अपने षड्यन्त्रोंकी असफलता एवं भाग्य विपर्ययपर विचार करता है। इसी बीच चाणक्यका एक गुप्तचर वहाँ आकर गलेमें रस्सी डाल कर मरना चाहता है। राक्षस उसे बचाना चाहता है, पर वह कहता है कि उसके मित्र चन्दनदासके वधसे दुःखी होकर वह ऐसा कर रहा है। राक्षस चन्दनदासको बचानेके लिए दौड़ पड़ता है।

सप्तम अङ्कमें चाणक्य अपने जालको एकत्र करता दिखाई देता है। शिकार उसके जालमें फँस चुका है। चाणक्यके दो गुप्तचर झूठे चाण्डाल बनकर चन्दनदासको शूलीपर चढ़ाने ले जा रहे हैं। चन्दनदासकी पत्नी और पुत्री विलाप करती हैं। वध्य स्थलका राक्षस आकर चाण्डालोंको डराता है। वे भाग खड़े होते हैं। इसी बीच मंच पर चाणक्य और चन्द्रगुप्त आते हैं। चाणक्य अपनी समस्त कूटनीतिको स्पष्ट कर राक्षसको चन्द्रगुप्तका अमात्य बननेके लिए प्रेरणा देता है। लाचार होकर राक्षसको स्वीकार करना पड़ता है। नरेन्द्र चन्द्रगुप्त चाणक्यकी मन्त्रशक्तिके द्वारा तन्त्रावापसे युक्त होकर राक्षसके दर्पोन्मत्त 'नाग' को वशमें कर लेता है। और वह मन्त्र रुद्ध वीर्यको भाँति नतानन हो जाता है। चाणक्यकी विजय सामाजिकको प्रभावित करती है। पर राक्षसका महान् त्याग तपस्विता और नियति अथवा चाणक्यके पुरुषकार द्वारा डाली गयी विषम परिस्थिति दर्शकमें एक साथ राक्षसके प्रति सम्मान और दयाके सम्मिश्रित भावको उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार इस नाटककी कथावस्तु शैली एवं 'टेकनीक' की दृष्टिसे सभी संस्कृत नाटकोंसे भिन्न है। इसमें निजी मौलिकता है जो उसे अन्य सब संस्कृत नाटकोंसे भिन्न करती है। संस्कृत नाटकोंकी रोमानी परम्परा और प्रणय चित्रणको छोड़कर गम्भीर विषयको अपना लक्ष्य बनाना मुद्राराक्षस की प्रमुख विशेषता है।

ऐतिहासिकता

इतिहाससे यह सिद्ध है कि ई० पू० चतुर्थ शतीके मध्यमें शिशुनाग वंशका अन्तकर महापद्मने मगधमें नन्दवंशकी प्रतिष्ठा की। नन्दके मूलके सम्बन्धमें परस्पर भिन्न एवं विरोधी अनुश्रुतियाँ उपलब्ध होती हैं। पुराणोंके अनुसार महापद्म शूद्राके गर्भसे उत्पन्न हुआ था। परन्तु जैन ग्रन्थोंमें उसे नाईका पुत्र और वेश्यासे उत्पन्न कहा गया है। ग्रीक इतिहासकार कर्टियसने लिखा है कि अलेक्जेण्डरका मागध समकालीन नाईका पुत्र था। इस नाईने अपनी सुन्दरतासे रानीको आकर्षित कर लिया था और उसने तत्कालीन राजा कालाशोक अथवा काकवर्णका वध कर दिया था। ''हर्षचरित''में बताया है कि इस राजाका वध उसकी राजधानीके समीप ही उसके गलेमें छुरा भोंक कर कर दिया गया[1]। इन विरोधी ऐतिहासिक तथ्योंके रहने पर भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि महापद्म नीच जातिका था और उसने षड्-यन्त्र द्वारा राज्य प्राप्त किया था। इसी वंशमें अन्तिम राजा धननन्द हुआ। इसके कारण उत्तर भारतकी राजनीतिक अवस्था बिगड़ने लगी। यह अत्यन्त लोभी, अत्याचारी और नीच कुलीन था। जिससे मगधकी जनता असन्तुष्ट थी। चन्द्रगुप्तने इस असन्तोषजन्य परिस्थिति से पूरा लाभ उठाया। चन्द्रगुप्तका जन्म एक साधारण परिवारमें हुआ था। महापरिनिब्बान सुत्तके अनुसार मोरीय लोग खत्तिय अथवा क्षत्रिय कहलाते थे। चन्द्रगुप्तका जन्म शाक्योंकी

१. कावेल और टामस : हर्षचरित पृ० १९२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक शाखा मोरीय जातिसे हुआ था। यह पहले मगध सेनामें सेनापतिके पद पर प्रतिष्ठित था। परन्तु अपने स्वामीके दुर्व्यवहारके कारण असन्तुष्ट होकर उसने विद्रोहका झण्डा उठाया। इस कार्यमें प्रसिद्ध कूटनीतिज्ञ विष्णुगुप्त अथवा चाणक्यसे भी सहायता प्राप्त हुई। उसने नन्दके विरुद्ध षडयन्त्र किया पर वह असफल रहा। अतएव प्राणरक्षाके लिए उसे भागना पड़ा। अज्ञातवासमें उसे अनेक कष्ट सहन करने पड़े[1]।

चन्द्रगुप्तने यह निश्चय किया कि मगधकी राजधाकी पाटलिपुत्रमें संघर्ष करनेकी अपेक्षा पश्चिमोत्तर सीमाके प्रदेशोंमें क्रान्ति करना अधिक उपयुक्त होगा। यतः सिकन्दरके अत्याचारोंसे पंजाबकी जनता त्रस्त थी। सिकन्दरने झेलमके तटपर पोरसके साथ युद्ध किया। इस युद्धमें प्रकृति प्रकोपके कारण पोरसको पराजित होना पड़ा। झेलम पार कर सिकन्दर पंजाब पहुँचा और उसने वहाँ लूट,पाट और खून-खराबी आरम्भ की। इस प्रकार सिकन्दरके अत्याचारोंसे पश्चिमोत्तर प्रदेश त्रस्त था। जब सिकन्दर पंजाबसे लौट गया तो चन्द्रगुप्तने पंजाबकी जो जातियाँ ग्रीक आधिपत्य स्वीकार न कर सकी थी उन्हें सङ्गठित कर लिया। ३१३ ई० पू० के जून मासमें सिकन्दरकी अकाल मृत्युने चन्द्रगुप्तकी महत्त्वाकांक्षाओंको और वृद्धिगत किया। और उसने ग्रीक सेनाओंको भारतसे शीघ्र निकाल बाहर किया। चन्द्रगुप्तने एक वहुत वड़ी सेना सङ्गठित की। उसने अपना सहायक पर्वतकको चुना। यह पर्वतक पोरस होना चाहिए। पुराण, बौद्ध और जैन साहित्य आदिसे सिद्ध है कि चन्द्रगुप्तकी सेनाको परास्त करनेमें पूर्णतः सफल हुआ। विष्णु पुराणमें लिखा है—"ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति। तेषामभावे मौर्याः पृथ्वी भोक्ष्यन्ति। कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेक्षचति[2]"। स्पष्ट है कि नवनन्दोंको कौटिल्य नामक एक ब्राह्मण नष्ट करेगा। उनका अन्त होनेपर मौर्य नृपतिगण पृथ्वीका शासन करेंगे। कौटिल्य ही चन्द्रगुप्तको राज्याभिषिक्त करेगा। इस प्रकार इतिहास और पुराणोंसे चन्द्रगुप्त और चाणक्यका सम्बन्ध सिद्ध होता है।

पञ्जाबको मुक्त करनेके पश्चात् चन्द्रगुप्तने देशके दूसरे भागोंको नन्दराजाओंके अत्याचारसे मुक्त करनेकी ओर ध्यान दिया। चन्द्रगुप्तने सीमान्त प्रदेशोंसे अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया। और मार्गमें पड़नेवाले अनेक राष्ट्रों एवं जनपदोंपर विजय प्राप्त की। अन्तमें उसने अपनी विजयी सेनाके साथ मगधकी सीमामें प्रवेशकर पाटलिपुत्र पर घेरा डाला और धननन्दको परास्त किया। जनता नन्दशासकोंके अत्याचारोंसे ऊब चुकी थी। अतः नन्द के विरुद्ध युद्ध करनेमें चन्द्रगुप्तको विशेष कष्ट नहीं हुआ। मिलिन्द पन्होसे भी इस घटनाकी सिद्धि होती है। चन्द्रगुप्तको चाणक्य जैसे कूटनीतिज्ञकी आवश्यकता थी और चाणक्यको चन्द्रगुप्त जैसे वीर, महत्त्वाकांक्षी और उत्साही सेनापतिकी। दोनोंको अपने-अपने मनके व्यक्ति प्राप्त हुए और दोनोंमें नन्दवंशको नष्ट करने तथा एक सुदृढ़ साम्राज्य स्थापित करने

---

१. रमाशङ्कर त्रिपाठी : प्राचीन भारतका इतिहास, प्रकाशक—नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स,बनारस, सन् १९५६, पृ० ११३

२. श्री श्रीविष्णुपुराण, गीताप्रेस गोरखपुर, सं० १९९०, अध्याय-२४, चतुर्थ अंश, २६-२८ पृ०—३५९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का जो स्वप्न था, वह साकार हुआ। भूमिके गर्भसे प्राप्त कोषसे चाणक्यने चन्द्रगुप्त मौर्यके लिये सेना एकत्र थी।

मुद्राराक्षसमें वर्णित घटनायें भी उक्त इतिहासके प्रकाशमें घटित होती हैं। इस नाटकमें नन्द वंशके उन्मूलन हेतु जो प्रतिज्ञा की है उससे भी उक्त तथ्य निःसृत होता है। बताया है—

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहललोलधूमलताम्।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ? ॥

× ×

उल्लंघयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं
कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः।
सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः
कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ॥[1]

इस प्रतिज्ञासे स्पष्ट है कि नन्दवंशके उच्छेदनमें चाणक्यका बहुत बड़ा हाथ था। चाणक्य अपनी प्रतिज्ञामें सफल हुआ और चन्द्रगुप्तका शासन प्रतिष्ठित हो गया। चाणक्यको यह विश्वास है कि जब तक राक्षस चाणक्यका मन्त्री पद स्वीकार नहीं करेगा तब तक चन्द्रगुप्तका शासन दृढ़ नहीं हो सकेगा। अतः वह अपनी बुद्धि वैभवसे राक्षसको परास्त कर उसे चन्द्रगुप्तका मन्त्री बनानेके लिए प्रयत्नशील है। नन्द वंशके विनाशमें चाणक्यने अपने अभिचारका भी प्रयोग किया बताया है—

"राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे मूर्ध्नि विन्यस्तपादः
स्वैरेवोत्पाद्यमानं किमिति विषहते मौर्य आज्ञाविघातम् ?
कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणज्ञातदुःखः प्रतिज्ञां
दैवात् पूर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिज्यानिभीतः[2]"॥

यह सत्य है कि इतिहासके साथ इस नाटकमें किंवदन्तियोंका भी मिश्रण है जिससे यथार्थ ऐतिहासिक तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करनेमें कठिनाई है। नाटकके अध्ययनसे अवगत होता है कि नाटककारने मौर्य साम्राज्यकी स्थापना और प्रतिष्ठाका सारा श्रेय विष्णुगुप्त चाणक्यको दिया है और कौटिलीय अर्थशास्त्रकी साम्राज्यवादी नीति अध्ययन मननके आधारपर चाणक्य के व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा की है। और इसीके अनुसार घटनाचक्रकी भी कल्पना कर ली गयी है। कौटिलीय अर्थशास्त्रकी राजनीतिका महाप्रयोक्ता तो सर्वप्रथम राक्षस है किन्तु इसके भी प्रतिवादकर्त्ताके रूपमें चाणक्यके चरित्रका चित्रण किया गया है। संस्कृत नाटकोंमें मूलवृत्तका प्रख्यात होना आवश्यक माना गया है। गुणाढ्यको वृहत्कथाके जितने भी रूपान्तर प्राप्त होते हैं उन सबमें चाणक्य और चाणक्यकी विलक्षण बुद्धिसे सम्बद्ध कथाएँ प्राप्य हैं।

युगोंसे भारतीय जनता चाणक्य और चन्द्रगुप्तकी कथाएँ सुनती चली आ रही है। वैदिक, बौद्ध और जैन साहित्यमें शताधिक आख्यान चन्द्रगुप्त और चाणक्यके सम्बन्धमें उप-

१. मुद्राराक्षसनाटकम्, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१, द्वितीय संस्करण, सन् १९६१, पृ० १९-२०, प्रथम अङ्क, ९-१०
वही चतुर्थ अङ्क, पृ० १८७-८८, श्लोक-१२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लब्ध हैं। अतः नाटककार विशाखदत्तने किंवदन्तियोंसे मिश्रित ऐतिहासिक वृत्तको ग्रहण कर अपने इस नाटककी रचना की है। नाटकमें बताया है—महानीतिज्ञ चाणक्यकी सहायतासे चन्द्रगुप्तका अधिकार मगध के सिंहासनपर हो चुका है। अपनी विजयके उपलक्ष्यमें पाटलिपुत्र के नागरिकोंको कौमुदी महोत्सव मनानेकी आज्ञा चन्द्रगुप्तके द्वारा निकाली जा चुकी है। चंद्रगुप्त निःशङ्क निश्चिन्त होकर कौमुदी महोत्सवके आमोद-प्रमोदका स्वप्न देख रहा है। किन्तु चाणक्यका हृदय चिन्ताकुल है। चाणक्य सोच रहा है कि सम्भवतः ऐसे अवसरपर जबकि चन्द्रगुप्त और उसके सैनिक विजयोन्मादमें अपनी सुध-बुध भूल रहे होंगे, कहीं ऐसा न हो कि महामात्य राक्षस और मलयकेतुकी सेनाएँ रङ्गमें भङ्ग डालनेपर उतारू न हो जाँय। यह चिंता इतने विकट रूपमें चाणक्यके हृदयपर आक्रमण करती है कि वह अपने शत्रुओंको अपने सामने खड़े हुए देखने लगता है और क्रोधावेशमें चिल्ला उठता है कि उसके जीते जी जो भी चन्द्रगुप्तपर उँगली उठाएगा उसे ईश्वर भी नहीं बचा सकता। क्रोधावेश शान्त हो जाता है किन्तु चाणक्य की सतर्कता और कर्त्तव्यपरायणता जागृत रहती है। किस प्रकार चन्द्रगुप्तके महान् शत्रु महाराज धननन्दके महाभक्त राक्षसको वशमें किया जाय। इस उधेड़बुनमें वह लग जाता है। चाणक्यको राक्षसकी सांग्रामिक शक्तिका पता है। और साथ ही यह भी ज्ञात है कि राक्षस के विद्रोही बने रहते चन्द्रगुप्तका सिंहासन स्थिर नहीं रह सकता। राक्षसके हृदयपर विजय पाना और उसकी नन्द भक्तिकी छत्र-छायामें चन्द्रगुप्तको सुरक्षित कर देना यही चाणक्यका ध्येय है।

अब उसकी राजनीति अपनी शतरञ्जकी गूढ़ चालें चलने लगती है। उसके गुप्तचर राक्षसके परम स्नेहभाजन बना दिये जाते हैं और मलयकेतुके दाहिने-बायें हाथके रूपमें काम करते हुए चाणक्यकी मन्त्रणाओंको कार्यान्वित करते चल रहे हैं। इधर राक्षस अन्य उपायोंको निष्फल होते देख चाणक्य और चन्द्रगुप्तमें फूट उत्पन्न करानेकी चाल चलता है। किन्तु चाणक्य पहलेसे ही सावधान है और स्वयं चन्द्रगुप्तसे झगड़ जानेका अभिनय करता है। सरल हृदय राक्षस इस चालको नहीं समझ पाता और चाणक्य एवं चन्द्रगुप्तके बीच कौमुदी महोत्सवको लेकर खड़े हो जानेवाले इस कृतक कलहको अपनी दूरदर्शिता मान बैठता है। राक्षस की इस चालको चाणक्य उसीको फँसानेके एक अमोघ अस्त्रके रूपमें बदल देता है और एक कूटलेखका प्रयोग कर डालता है। वह राक्षसकी मुद्राकी छाप लगाकर राक्षसके लेखाध्यक्ष द्वारा लिखाकर पत्र गुप्तचरों द्वारा मलयकेतुके पास पहुँचाता है। पत्र जब मलयकेतुको प्राप्त होता है तो उसे हृदयमें राक्षसके प्रति घोर अविश्वास और अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। पाटलिपुत्र पर आक्रमण तो दूर रहे। इस लेखकी कूटचाल एक ओर तो राक्षसकी महत्त्वाकांक्षाओंका सत्यानाश कर डालती है तो दूसरी ओर समस्त सैन्य शक्तिको छिन्न-भिन्न कर देती है। राक्षस विवश हो जाता है। चाणक्यने उसके आत्मसमर्पणकी चाल पहले ही सोच ली है और वह चाल है राक्षसके परममित्र पाटलिपुत्रके धन कुबेर चन्दनदासको राजविद्रोहके अपराधमें शूलीपर चढ़ाना। राक्षस चन्दनदासको बचानेके लिए आत्मसमर्पण करता है। पर चाणक्य इतनेसे ही उसे छुटकारा नहीं देता। राक्षसके बुद्धि-विक्रम और उसकी राजभक्तिपर चाणक्य रीझा हुआ है। अतः वह राक्षसको तब तक नहीं छोड़ सकता जब तक वह चन्द्रगुप्तको अपना नहीं समझता। विवश होकर राक्षसको मौर्य शक्तिके लिए अमात्य पद स्वीकार करना पड़ता है। चाणक्य जीतता है किन्तु राक्षस हार कर भी महान् बना रह जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार इस नाटकका इतिवृत्त, इतिहास, जैन साहित्य, बौद्ध साहित्य, बृहत्कथा, कल्पना एवं किंवदन्तियोंसे गठित हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे इस कथानकमें निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं।

१. नन्दवंशका उच्छेदन और मौर्य साम्राज्यकी स्थापना।

२. नन्दवंशके उच्छेदन हेतु चन्द्रगुप्तका पर्वतक या पौरससे साहाय्य प्राप्त करना।

३. ग्रीकोंके पोरस और मुद्राराक्षसके पर्वतकका एकत्व।

४. मुद्राराक्षसका राक्षस सम्भवतः विष्णु पुराणके वक्रनासके भ्रातुष्पुत्रके रूपमें मान्य।

५. नन्दशासनकी क्रूरता और उसके अत्याचार।

६. चन्द्रगुप्तका क्षत्रियत्व।

७. नन्द राक्षसके मध्य फूट उत्पन्न करना।

८. चाणक्यकी कूटनीतिका विस्तार।

९. राक्षसकी स्वामिभक्ति एवं उसकी चारित्रिक दृढ़ता।

१०. नन्द द्वारा चाणक्यका अपमान

११. पश्चिमोत्तर प्रदेशमें चन्द्रगुप्त द्वारा क्रान्तिका बीजवपन।

१२. राक्षसकी ऐतिहासिकता।

चाणक्यकी प्रतिज्ञा तथा नन्दवंशके विनाशके लिए उसके द्वारा किया गया प्रयत्न दीपवंश और महावंश द्वारा समर्थित है। पुराणोंसे भी यह सिद्ध होता है कि कौटिल्य समस्त नन्दोंका उन्मूलनकर्त्ता है। कथासरित्सागर और वृहत्कथामञ्जरीमें अनेक दन्तकथाएँ हैं। इन ग्रन्थोंसे भी नन्दवंश और चाणक्यके विरोध प्रकट होता है। 'स्थविरावलिचरित' से भी चन्द्रगुप्तके प्रारम्भिक जीवनका ज्ञान होता है और यह भी ध्वनित होता है कि चाणक्यको नन्दवंशके राजाओंने पाटलिपुत्रसे निर्वासित कर दिया था। तमिललेखक 'मामुलनार, और 'परणार' सुदूर दक्षिण पर मौर्य-आक्रमणका उल्लेख करते हैं। महाबोधिवंशमें कहा गया है-"चन्द्रगुप्त चाणक्य नामक ब्राह्मणकी सहायतासे पाटलिपुत्रका राजा बना।"

स्थविरावलीमें बताया है कि चन्द्रगुप्तने 'राजकीलम्' नामक खेलका आविष्कार कर जन्मजात नेता होनेका परिचय दिया। इस खेलमें वह राजा बनता था और अपने साथियोंको अपना अनुचर बनाता था। वहीं राजसभामें बैठकर वह न्याय करता था। बच्चोंकी ऐसी सभामें चाणक्यने पहली बार चन्द्रगुप्तको देखा था। इस बालककी प्रतिभा देखकर चाणक्यने एक हजार रुपयेमें उसे खरीद लिया। चाणक्य उसे लेकर अपने नगर लौटा और उसे शिक्षित किया। चाणक्यके सम्पर्कने चन्द्रगुप्तकी जीवनधाराको एक नयी दिशामें मोड़ दिया। चाणक्य ज्ञानकी खोजमें पाटलिपुत्रकी ओर आया था। मगधमें उस समय नन्दवंशका शासन था। धनचन्द वहाँका राजा था। उसने अपनी दानशालाका अध्यक्ष चाणक्यको निर्वाचित किया, परन्तु चाणक्यकी कुरूपता और उसका धृष्ट स्वभाव उसे अच्छा नहीं लगा तथा उसने चाणक्यको पदच्युत कर दिया। परिणामतः चाणक्यने उस वंशको निर्मूल करनेका निश्चय किया।

मातृभूमि पर विदेशी आक्रमणने चन्द्रगुप्तके विचारोंमें तूफान कर दिया। कौटिल्यने विदेशी शासनको एक असन्दिग्ध अभिशाप कह कर भर्त्सना की। उसने एक बृहत्सेना संगठित की और हिमालयके पर्वतीय प्रदेशके राजा पर्वतकसे सम्बन्ध स्थापित किया। शक, यवन, पारसीक, किरात, कम्बोज, बह्लीक आदि जातियोंके लोग उसकी सेनामें सम्मिलित थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चन्द्रगुप्तने यूनानियोंको भारतसे निकाल बाहर किया और चाणक्यके सहयोगसे सार्वभौम साम्राज्यकी स्थापना की। यह साम्राज्य नन्दके साम्राज्यसे बड़ा था। मुद्राराक्षससे भी ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्तका साम्राज्य चतुः समुद्रपर्यन्त था। जिस लौहपुरुषने अजेय सिकन्दरके उत्तराधिकारियोंसे पश्चिमी भारतको मुक्त किया, जिसने नन्दवंशका नाश किया और सेल्यूकसके दर्पको पददलित किया, उस पुरुषने निश्चय ही दक्षिणभारत पर विजय प्राप्त की होगी।

जैन अनुश्रुतिके अनुसार चन्द्रगुप्त चौबीस वर्ष राज्य करनेके उपरान्त भद्रबाहुके साथ जैनमुनि बनकर दक्षिणकी ओर चला गया। कुछ विद्वानोंका अनुमान है कि भद्रबाहु यह नाम चाणक्यका ही है। राज्यशासनकालमें चाणक्य राजनीति और अर्थशास्त्रका शिक्षक था। यही चाणक्य अध्यात्म साधनाके समय भद्रबाहु श्रुतकेवलीके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। अतएव चाणक्य और चन्द्रगुप्त दोनों ही आजन्म गुरु-शिष्य रहे।

इस प्रकार मुद्राराक्षसकी कथावस्तु पौराणिक, जैनसाहित्य, बौद्ध साहित्य एवं विभिन्न अनुश्रुतियोंसे सिद्ध होती है।

देवीचन्द्रगुप्तकी ऐतिहासिकता

नाटककार विशाखदत्तका एक अन्य ऐतिहासिक नाटक देवी चन्द्रगुप्त है। इसमें गुप्त वंशीय नरेश रामगुप्तकी दुर्बलता तथा चन्द्रगुप्त द्वितीयके प्रबल पराक्रमका वैभवशाली वर्णन आया है। राजा रामगुप्त प्रबल शकराजके माँगने पर अपनी रानी ध्रुवदेवीको समर्पित कर देना स्वीकार कर लेता है। ध्रुवदेवी अपने सतीत्वकी रक्षाके लिए रामगुप्तसे विनीत प्रार्थना करती है पर निर्वीर्य रामगुप्त उसकी उस प्रार्थनाको स्वीकार नहीं कर पाता। फलतः वह चन्द्रगुप्तसे अपनी रक्षाके लिए याचना करती है। चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवीका वेष धारण कर शत्रुवध के लिए तैयारी करता है। रामगुप्त कुमार चन्द्रगुप्तको लक्ष्यकर कहता है—[1]

---

१. शकस्य ध्रुवदेवी सम्प्रदाने अभ्युपगते राज्ञा रामगुप्तेनारिवधार्थं यियासुः, प्रतिपन्नध्रुवदेवी नेपथ्यः कुमारचन्द्रगुप्तो विज्ञपयन्नुच्यते—

यथा—"राजा—प्रतिष्ठोक्तिषु न खल्वहं त्वां परित्यक्तुमुत्सहे।

प्रत्यग्रयौवनविभूषणमङ्गमेतद्,
रूपश्रियं च तव यौवनयोग्यरूपम्।
शक्ति च मध्यनुपमामनुरुध्यमानो
देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः॥

अन्यस्त्रीशङ्कया ध्रुवदेवी—यदि भत्ति अवेक्खसि तदो मं मंदभाइणिं परिच्चयसि!
[यदि भक्तिमपेक्षसे ततो मां मन्दभागिनीं परित्यजसि]।

राजा—अपि च, त्यजामि देवीं तृणवत् त्वदन्तरे।

ध्रुवदेवी—अहंपि जीविदं परिच्चयंती अज्जउत्तं पढमयरं च्चेव परिच्चइस्सं।
[अहमपि जीवितं परित्यजन्ती आर्यपुत्रं प्रथमतरमेव परित्यक्ष्यामि]।

राजा—त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम्।

ध्रुवदेवी—ममावि संपद निफ्फलो जीवलाओ सुहपरिच्चयणीओ भविस्सदि।

राजा—ऊढेति देवीं प्रति मे दयालुता।

ध्रुवदेवी—इयं अज्जउत्त! ईदिसी दयालुदा, जं अणवरद्धो जणो अणुगदो एवं परिच्चईयादि। . . . .

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"प्रतिष्ठा वचनोंके अवसरपर मैं तुमको भुला नहीं सकता हूँ। यद्यपि मैं देवीका परित्याग करने जा रहा हूँ, किन्तु अभिनव यौवनके अनुरूप रमणीय तुम्हारी यह देह, यौवनके अनुरूप इस रूप सौन्दर्य, और अपने प्रति अनुपम प्रेमको देखकर तुम्हारे प्रति मेरा प्रबल अनुराग है।'

ध्रुवदेवी—(चन्द्रगुप्त को दूसरी स्त्री समझकर) यदि इसके प्रेमकी अपेक्षा है तो मुझ मन्दभागिनीका परित्याग कर रहे हैं।"

राजा—"और तुम्हारे कारण मैं तृणके समान देवीका परित्याग कर रहा हूँ"!

ध्रुवदेवी—(आपके इस परित्यागसे खिन्न होकर) "मैं भी अपने जीवनका परित्याग करके आर्यपुत्रको पहले ही छोड़ दूँगी"।

राजा—(चन्द्रगुप्तके प्रति) "तुम्हारे बिना मेरा यह राज्य व्यर्थ है"।

ध्रुवदेवी—"मेरे लिए भी अब यह जीवलोक निष्कल है। उसे मैं सरलतासे परित्याग कर सकूँगी"

राजा—"किन्तु, देवी मेरी विवाहिता पत्नी हैं। इसलिए उनके प्रति मुझे दया आती है"।

ध्रुवदेवी—"हे आर्यपुत्र! यह आपकी ऐसी दयालुता है कि अपने प्रति अनुरक्त होकर अनपराधी सेविकाको छोड़ रहे हैं।

राजा[1] (चन्द्रगुप्तके प्रति) "किन्तु, तुम्हारे प्रेमके कारण मेरा मन तुममें लगा हुआ है"

ध्रुवदेवी—"इसीलिए मुझ मन्दभागिनीका परित्याग कर रहे हैं।"

राजा—'तुम्हारे ऊपर प्रेम करके तुम्हारे लिए यशके साथ मैंने देवीका परित्याग कर दिया और ये प्रजाजन तो मेरे प्रजाजन ही ठहरे।'

ध्रुवदेवी—"अरे! यही आर्यपुत्रकी करुणा है"।

सूत्रधारी—"देव! चन्द्रमण्डलसे भी उल्कापात हो रहा है। अब इसमें क्या किया जा सकता है"।

राजा—"देवीके वियोगके दुःख से दुःखी हमको अब तुम ही सुखी बनाओगे।"

---

१. राजा—त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः
ध्रुवदेवी—अदोच्चेव मंदभागा परिच्चइयामि
राजा—त्वय्युपारोपितप्रेम्णा त्वदर्थे यशसा सह।
परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे॥
ध्रुवदेवी—हंजे! इयं सा अय्यउत्तस्स करुणदा।
सूत्रधारी—देवि! पडंति चंदमंडलाउ चुडुलीओ, किं एत्थ करीयदि।
राजा—देवीवियोगदुःखार्तांस्त्वमस्मान् रमयिष्यसि।
ध्रुवदेवी—वियोगदुक्खं पि दे अकरुणस्स अत्थिच्चेव?

नाट्यदर्पणम्, कारिका ९८, सूत्र-१४६, द्वितीय विवेक, प्रकाशक-हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण १९६१, पृ० २५४-५६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्रुवदेवी—"करुणारहित आपको वियोग दुःख बना ही है"।

राजा—"तुम्हारे दुःखको दूरकर सकनेमें वह तनिक भी समर्थ नहीं है"।

स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्तको बोधित करनेके लिए कहते हुए ये सब वचन राजा रामगुप्त द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। पाँच अङ्कोंका यह नाटक आज प्राप्त नहीं, पर इसके उद्धरण नाट्य-दर्पणमें प्राप्त होते हैं। इन उद्धरणोंसे रामगुप्त और ध्रुवदेवीके सम्बन्धमें पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो जाती है। भोजके शृंगार प्रकाशमें भी इस नाटकके उद्धरण आये हैं। इन उद्धरणों से कथावस्तुकी जानकारी होती है।

देवीचन्द्रगुप्तम्के अंशोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि ध्रुवस्वामिनीका रामगुप्तसे सहज सम्बन्ध था। रामगुप्तको ध्रुवस्वामिनी पर चन्द्रगुप्त-अनुरक्तिका सन्देह था। इसकी पुष्टि देवी चन्द्रगुप्तके उक्त अंशोंसे भी होती है। यही कारण है कि रामगुप्तने स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त को भेजना अस्वीकार कर ध्रुवदेवीको ही शत्रुके पास भेजने का निर्णय किया।

देवीचन्द्रगुप्तम्से यह भी ध्वनित होता है कि ध्रुवदेवी स्वयं राजाकी अनुगामिनी होना स्वीकार करती है। साथ ही अन्य स्त्रीके प्रति राजाके आकर्षणकी ईर्ष्या और तज्जन्य कटुता उसमें पर्याप्त मात्रामें है। इस प्रकार देवीचन्द्रगुप्तम्में ध्रुवदेवीका राजाके प्रति क्रोध भी अभिव्यक्त हुआ है। रामगुप्त चन्द्रगुप्त और ध्रुवदेवी सम्बन्धी मूल कथानककी सृष्टि अन्य घटनाओंके वातावरणमें प्रस्तुत की गयी है।

ऐतिहासिक दृष्टिसे विचार करनेपर रामगुप्त और ध्रुवदेवीका कथानक पूर्णतः इतिहास सम्मत प्रतीत होता है। समुद्रगुप्तके अनेक पुत्रोंमें रामगुप्तका नाम आया है। कौमुदीमहोत्सवके आधार पर जायसवाल यह सिद्धान्त स्थिर करते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथमने पाटलिपुत्रसे हारकर अयोध्यामें शरण ली। वहींसे उसके पुत्र समुद्रगुप्तने पुनः अपने राज्यकी स्थापना की[1]। समुद्रगुप्त को अपने दिग्विजयमें तीन युद्ध करने पड़े। सर्वप्रथम ई० सन् ३४४के लगभग उत्तरी भारतमें उसे एक सामान्य लड़ाई लड़नी पड़ी। तत्पश्चात् उसने दक्षिण भारत पर आक्रमण किया। यह युद्ध दूसरे ही वर्ष समाप्त हुआ। इसमें बारह शत्रुओंने भाग लिया। समुद्रगुप्तने इन समस्त राजाओं पर विजय प्राप्त की[2]। दक्षिणको विजित कर समुद्रगुप्त उत्तरकी ओर बढ़ा। यह युद्ध एरणके समीप हुआ जिसमें मालवासे लेकर पूर्वी पञ्जाब तकके समस्त राजाओंने भाग लिया। जायसवाल का मत है कि इस युद्धमें समुद्रगुप्तने वाकाटक सीमामें प्रवेश कर उनके शासनकर्त्ता रुद्रसेन प्रथमको मार डाला। इस प्रकार समुद्रगुप्तने समस्त उत्तरी भारतके राजाओंको परास्तकर उनके राज्यको अपने राज्यमें सम्मिलित कर लिया। प्रयाग प्रशस्तिमें आर्यावर्तके राजाओंकी नामावली आयी है। इससे स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त अपने समय का चक्रवर्ती राजा था। इस समुद्रगुप्तके अनेक पुत्रोंमेंसे रामगुप्त भी एक पुत्र है और पिताकी मृत्युके पश्चात् इसी रामगुप्तको उत्तराधिकार प्राप्त हुआ। रामगुप्त कायर था। इसकी पत्नी

---

१. जायसवाल : हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृष्ठ १३२-१४०

२. वासुदेव उपाध्याय : गुप्त साम्राज्यका इतिहास, इण्डियन प्रेस इलाहाबाद, सन् १९३९, पृष्ठ ५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्रुवदेवी अत्यन्त सुन्दरी थी। जिसके रूप गुणकी प्रशंसा सुनकर कोई शकराज मुग्ध हो गया था। इस शकराजने रामगुप्तको सूचित किया। वह अपनी पत्नी ध्रुवदेवी उसे भेंट कर दे। अन्यथा युद्धके लिए तैयार हो जाय। शकराजसे भयभीत होकर रामगुप्तने अपनी रानी ध्रुवदेवीको उसे समर्पित करना स्वीकार कर लिया। परन्तु ध्रुवदेवीके देवर चन्द्रगुप्त द्वितीयको जब यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो वह क्रुद्ध हुआ और उसने शकराजको दण्ड देनेका संकल्प किया।

यह चन्द्रगुप्त द्वितीय ही विक्रमादित्य है। समुद्रगुप्त और दत्तदेवीका पुत्र है। इसने अपने कायर भाई रामगुप्तसे सिंहासन प्राप्त किया था[१]। चन्द्रगुप्त वेष परिवर्तित कर ध्रुवदेवीके रूपमें शकराजके शिविरमें पहुँचा और वहाँ छद्म रूपमें शकराजका वध किया। तदनन्तर इसने रामगुप्तकी भी हत्या की और ध्रुवदेवीके साथ पाटलिपुत्रका सिंहासन भी प्राप्त किया। प्रजाने चन्द्रगुप्तके कार्योंका अनुमोदन किया।

रामगुप्तको ऐतिहासिकताका समर्थन अभी हालमें प्राप्त बहुसंख्यक मुद्राओंसे होता है। पूर्वी मालवाके एरण (जिला सागर), विदिशा तथा अन्य कतिपय स्थानोंसे प्राप्त मुद्राएँ रामगुप्तकी कीर्तिपताकाका संकेत देती हैं। इन मुद्राओंपर गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपिमें संस्कृत भाषामें रामगुप्तका नाम अङ्कित है। इन मुद्राओंपर गरुड़ तथा गरुड़ध्वजका भी अङ्कन आया है जो गुप्त शासकोंका प्रमुख प्रतीक था। रामगुप्तके कई मुद्रा प्रकारोंका अनुकरण चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य कुमारगुप्त आदिने भी किया है। उनके एक मुद्रा प्रकारपर सिंहका अङ्कन बिल्कुल वैसा ही है जैसा कि वैशालीसे प्राप्त ध्रुवस्वामिनीकी मृण्मुद्रापर मिला था। ध्रुवस्वामिनी तथा शकराजवाली घटना पूर्वी मालवा में सम्भवतः एरण या विदिशामें घटित हुई थी। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके एक मुद्रा प्रकारपर "रूपाकृति" लेख मिलता है। इस आकृतिकी व्याख्या करनेसे प्रतीत होता है कि यह मुद्रालेख चन्द्रगुप्त द्वारा अपना वेष बदल कर शकराजका वध करनेकी ओर इंगित करता है। पूर्वी तथा पश्चिमी मालवामें किये गये अन्वेषणोंसे भी राजा रामगुप्तकी स्थिति सिद्ध होती है। रामगुप्तका एक काच नामक सिक्का प्राप्त हुआ है जिसमें रामगुप्तकी ऐतिहासिकता माननेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं है।

हर्षचरितमें शक और रामगुप्तके युद्धका प्रमाण मिलता है। इस वर्णनसे ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्तने ध्रुवदेवीका स्वांग बना कर शक राजाको मार डाला। हर्षचरितमें बताया है—"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तः चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्"—बाणकृत हर्षचरितपर टीका करते हुए शङ्करार्यने बाणके तथ्यकी पुष्टि की है। शङ्करार्य नवीं शताब्दीका टीकाकार है जिसने कामन्दक नीतिपर भी टीका लिखी है। इस टीकामें शङ्करार्यने बताया है—"शकानाम् आचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीजनवेषपरिवृतेन व्यापादितः"[२]।

उक्त प्रमाणोंके अतिरिक्त राजशेखर कृत काव्यमीमांसामें भी एक अन्य प्रमाण रामगुप्तकी ऐतिहासिकता सिद्ध करनेके लिए प्राप्त होता है। इस ग्रन्थमें राजशेखरने वस्तु

१. Journal of Bihar and Orrisa Research Society, Volume 14, 1928. Essay of Altekar

२. गुप्त साम्राज्यका इतिहास, प्रथम खण्ड, इलाहाबाद संस्करण पृष्ठ–७८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूपका उदाहरण देते हुए एक श्लोक लिखा हैं, जिससे रामगुप्तकी जीवन घटनाओंका सहजमें ज्ञान होता हैं। बताया है—

दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीं
यस्मात् खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे
गीतन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः[1] ॥

इस पद्यमें कुमारगुप्तके पिता चन्द्रगुप्तकी प्रशंसा करते हुए ध्रुवदेवीकी प्राप्तिकी कथाका दिग्दर्शन कराया गया है। इस वर्णनसे यह भी ज्ञात होता है कि हिमालय पर्वतमालामें रामगुप्त तथा शकोंका युद्ध हुआ था।

रामगुप्त और शकोंके युद्धकी पुष्टि मुजमलुत्तवारीखके वर्णनसे भी होती है। इस वर्णनमें बताया है कि राजा रब्बाल शत्रुओंसे पराजित होनेपर अपने भ्राता तथा सरदारोंको लेकर पर्वतकी चोटीपर गया। इस चोटीपर एक दुर्ग था जहाँ जाकर रब्बालने सन्धिके लिए प्रार्थना की। इन प्रमाणोंसे यह निष्कर्ष निकलता है कि रामगुप्त तथा शकोंका युद्ध स्थान हिमालय पर्वतपर कार्त्तिकेय नामक स्थान हैं। डा० भण्डारकरका कथन है कि कार्त्तिकेय नगर कर्तृपुर नामक प्रदेशमें स्थित था। जो समुद्रगुप्तके समय एक प्रत्यन्त राज्य[2] था। इसका नाम प्रयागकी प्रशस्तिमें मिलता[3] है।

अन्य उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि यह युद्ध मालवामें कहीं हुआ था। साहित्यिक प्रमाण और अभिलेखोंसे यह निर्विवाद सिद्ध है कि रामगुप्त ऐतिहासिक व्यक्ति है। देवीचन्द्रगुप्तम्के कथानककी पुष्टि बाण, शङ्करार्य, भोज, राजशेखर तथा 'सञ्जन प्लेट' आदिसे होती है। उसके राज्यपर शकोंने आक्रमण किया था, परन्तु उसने राज्यको सुरक्षित रखनेके लिए शत्रुओंसे सन्धि कर ली। सन्धिके परिणामस्वरूप अपनी पत्नी ध्रुवदेवीको उन शकोंको समर्पण करना स्वीकार कर लिया। पर, उसका कनिष्ठ भ्राता चन्द्रगुप्त अपने कुलकी मर्यादाका पतन न देख सका। वह ध्रुवदेवीका वेष बनाकर शत्रुओंके शिविरमें पहुँचा और शकराजका वध कर ध्रुवदेवीके सतीत्वकी रक्षा की।

इस सम्बन्धमें केवल दो बातें विचारणीय हैं। पहली बात तो यह है कि काव्य मीमांसामें रामगुप्तके लिए शर्मगुप्त तथा शकके लिए खसका प्रयोग किया गया है। हमारा विनम्र मत है कि रामगुप्तका दूसरा नाम शर्मगुप्त भी है[4]। डॉ० भण्डारकरने भी शक शब्दका परिवर्तित रूप खस माना है। गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्तके समयमें पश्चिमी भारतमें शक क्षत्रप शासन करते थे। इसके अतिरिक्त पंजाबकी शक जातियोंसे भी इनकी मित्रता हो गयी थी। प्रसिद्ध विद्वान् बनर्जी महोदयका मत है कि समुद्रगुप्त वाली प्रयाग प्रशस्तिमें उल्लिखित कुषाण जाति ही रामगुप्तकी

१. काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् संस्करण, नवम अध्याय, मुक्तक और प्रबन्ध, पृष्ठ–११६।
२. मालवीय, कमोमेरेशन वाल्यूम, पृष्ठ–१९६।
३. कार्प्स इन्सक्रिप्सन इण्डिकेरम, भाग–३; सं० १।
4. Journal of Bihar and orrisa Research society, volume-14. P, 212.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शत्रु शक जाति है[1]। पश्चिमी शक क्षत्रपका शासन केवल सौराष्ट्रमें था। सम्भव है कि इसी जातिसे रामगुप्तको युद्ध करना पड़ा हो। डा० आल्टेकर इसी शक क्षत्रप जातिकी समता साहित्यमें उल्लिखित शकों—रामगुप्तके शत्रुओंसे करते हैं[2]। उनका अभिमत है कि राजसिंहासन पर बैठने पर द्वितीय चन्द्रगुप्तने पृथ्वी जीतनेकी अभिलाषासे या पूर्व शत्रुताके कारण इन शकोंको भारतवर्षसे निकाल बाहर किया। उसने गुजरात तथा मालवा विजयकर बल्ख तक आक्रमण करके इस शक जातिको सदाके लिए नष्ट कर डाला[3]। अतएव यह सिद्ध है कि पश्चिमी शक क्षत्रपोंका सामना रामगुप्तको करना पड़ा हो। संक्षेपमें इतना ही कहा जा सकता है कि रामगुप्तका शकोंके साथ युद्ध होना ऐतिहासिक तथ्य है।

सञ्जन प्लेटसे यह भी ज्ञात होता है कि गुप्तनरेश चन्द्रगुप्त द्वितीयने अपने भाईका राज्य और पत्नीका अपहरण किया था। देवीचन्द्रगुप्तम्के पञ्चम अङ्कमें बताया हैं कि चन्द्र-गुप्त उन्मत्त होकर रामगुप्तके महलकी ओर गया था। मुजमलूतवारीखसे भी इस घटनाकी सिद्धि होती है। कुछ विद्वानोंका यह अनुमान है कि चन्द्रगुप्तने स्वयं अपने भाईकी हत्या नहीं की है किन्तु उसके प्रेरकोंने गुप्तरूपसे उसकी हत्या कर दी है। कुछ विद्वान् ध्रुवदेवीके साथ चन्द्रगुप्तका विवाह भी असङ्गत मानते हैं। क्योंकि धर्मशास्त्रकारोंने विधवा विवाहको अमान्यता प्रदान की हैं। पर गुप्तकालीन नारद स्मृतिमें नियोग प्रथाका समर्थन मिलता है। अतः देवी चन्द्रगुप्तम्में वर्णित रामगुप्तका नपुंसकत्व ही ध्रुवदेवीको क्षेत्रीकृता सिद्ध करता हैं। रामगुप्त समुद्रगुप्तका ज्येष्ठ पुत्र था। अतएव नपुंसक होनेपर भी उसे उत्तराधिकार प्राप्त हुआ था। सन्तान न होनेके कारण सन्तति प्राप्तिके लिए ही ध्रुवदेवींने अपने देवर चन्द्रगुप्तसे नियोग प्रथानुसार विवाह सम्पन्न किया था। इस प्रकार इस नाटककी सभी घटनाएँ इतिहास सिद्ध हैं।

रत्नावली एवं उसकी ऐतिहासिकता

हर्षने सातवीं शताब्दीमें प्रियदर्शिका, रत्नावली एवं नागानन्द इन तीन रूपक ग्रन्थोंकी रचना की है। प्रियदर्शिकामें चार अङ्क हैं और इसमें वत्सराज उदयनके अन्तःपुरकी प्रेमकथा अङ्कित है। इस नाटिकामें वर्णित कथानक पूर्ण ऐतिहासिक नहीं है, पर राजा दृढ़वर्माका कलिङ्गराजके साथ युद्धमें पराजित होना और बन्दी बनाया जाना इतिहास-सम्मत है। उसकी कन्या प्रियदर्शिकाका उदयनके साथ विवाह सम्पन्न होना भी इतिहाससे दूर नहीं है। अन्य कथानक इतिहासके आलोकमें सिद्ध नहीं है।

रत्नावली नाटिकाका कथानक भी उदयनकी प्रेमकथाके अन्तर्गत है। उदयनको ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाता है। उसने समस्त शत्रुओंको जीत कर राज्यका भार योग्य मन्त्रीको समर्पित किया और स्वयं सतर्कतापूर्वक श्रृंगारके उपभोगमें प्रवृत्त हुआ।

---

१. Fleet, गुप्त लेख, न० १

२. Journal of Bihar and Orrisa Research society. Volume १४ P. २५१

३. उदयगिरिका लेख और महरौलीका लौह स्तम्भ लेख. कार्प्स इन्स्क्रिप्सन इण्डिकेशन् भाग ३ नम्बर ६।३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्नावलीका कथानक उदयन और सागरिकाके प्रणयकी दो दिनकी कथापर आधृत है। इस नाटिकामें प्रमुख रूपसे उदयनका मधुर चरित ही सामने आता है। वह लोकप्रिय राजा था। इसकी प्रतीति निम्नलिखित वाक्यसे होती है—

'लोकहारि च वत्सराजचरितम्'—अर्थात् वत्सराज उदयनका चरित लोगोंके मनको हरण करनेवाला है। स्पष्ट है कि उदयन लोकप्रिय शासक था। उदयनका मन्त्री यौगन्धरायण उदयनके अभ्युदयके हेतु सिंहलकी राजकुमारी रत्नावलीसे विवाह कराना चाहता है। पर वह इस कार्यके लिए वासवदत्ताको भी रुष्ट करना नहीं चाहता है। अतएव अपनी गुप्त योजना द्वारा सिंहल नरेशकी कन्याको वासवदत्ताके संरक्षणमें रत्नावली उपनाम सागरिकाको प्रस्तुत कर देता है और कालान्तरमें रत्नावलीका विवाह उदयनके साथ सम्पन्न हो जाता है।

यह कथावस्तु कल्पित जैसी प्रतीत होती है। पर, इसमें ऐतिहासिक तथ्योंकी कमी नहीं है। उदयन और कोशलपतिका विग्रह इतिहास मान्य है। कोशलपतिने उदयनकी विलासिताका अनुचित लाभ उठा कर वत्सदेशको अपने अधीन कर लिया था। उसने अपने इस खोये हुए राज्यकी प्राप्तिके लिए मगध आदि देशके नरेशोंसे भी सहायता प्राप्त करनी चाही पर, उसे यथार्थ सहायता न मिल सकी। अतएव उदयनके मन्त्री यौगन्धरायणने मगध, सिंहल, विदेह आदि देशोंके राजाओंसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर मित्रता प्रतिष्ठित की। फ़लतः रुमण्वान्‌की अध्यक्षतामें कोशलपर आक्रमण किया तथा रुमण्वान्‌ने अकेले ही सैकड़ों बाणोंसे कोशलपतिको घायल कर दिया। कोशलपतिके प्राणान्तके पश्चात् जब वत्सनरेश उदयनको उसकी मृत्युका समाचार मिलता है तो उदयनके मुखसे अचानक निकल पड़ता है—"मृत्युरपि ते श्लाघ्यो यस्य शत्रवोऽप्येवं पुरुषकारं वर्णयन्ति"। इस कथनसे उदयनके चरित्रपर तो प्रकाश पड़ता ही है पर, साथ ही कोशलराजकी वीरता भी प्रकट होती है। 'रत्नावली'में कोशलपतिके युद्धका वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

अस्त्रव्यस्तशिरस्त्रशस्त्रकषणैः कृत्तोत्तमाङ्गे मुहुर्-
व्यूढासृक्सरिति स्वनत्प्रहरणैर्धर्मोद्वमद्वह्निनि।
आहूयाजिमुखे स कोसलपतिर्भग्ने प्रधाने बले
एकेनैव रुमण्वता शरशतैर्मत्तद्विपस्थो हतः॥—रत्नावली–४।६

अर्थात् शस्त्रोंके प्रहारसे शिरस्त्राणोंके अस्त-व्यस्त हो जानेपर सिर काट लिये गये, रक्तकी धारा वहने लगी, झनझनाते हुए प्रहारोंसे आग निकलने लगी, जब उसकी मुख्य सेना छिन्न-भिन्न हो गयी तब युद्धमें आगे जाकर रुमण्वान्‌ने कोसलपतिको ललकारा और मत्त हाथीपर चढ़े हुए राजाको अकेले ही सौ बाणोंसे मारा। उपर्युक्त पद्यमें वर्णित युद्धकी ऐतिहासिकतामें सन्देह हो सकता है। पर, कथासरित्सागर, पौराणिक तथ्य एवं कौशाम्बीके भूगर्भसे प्राप्त सामग्रीके आधारपर उदयन और कोसलके वैर-विरोधको ऐतिहासिक माना जा सकता है।

महेंन्द्रविक्रम वर्माके रूपकमें ऐतिहासिक तत्त्व

महेन्द्रविक्रम वर्मा हर्षके समसामयिक थे। राजा सिंहविष्णु वर्माके पुत्र और स्वयं राजा थे। इनकी उपाधियाँ अवनिभाजन, गुणभर और मत्तविलास थीं। इनका एक ही रूपक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मत्तविलास नामक उपलब्ध है। यह प्रहसन है। इसमें सातवीं शताब्दीके प्रथम चरणकी सामाजिक स्थितिका वर्णन है। मत्तविलासमें काँचीकी दृश्य-स्थली अङ्कित हैं। इस प्रहसनमें बौद्धदर्शनके सिद्धान्तोंके साथ सातवीं शताब्दीमें प्रचलित कापालिक मतकी समीक्षा की गयी है। शैव कापालिक और उसकी प्रियतमा देवसोमाके शराब पीनेका कथन आया है। दोनों नशेमें प्रविष्ट होते हैं। कापालिक ग्लानिवश सुरा त्यागका सङ्कल्प करना चाहता है, पर देवसोमाके आग्रहके कारण वह वैसा नहीं कर पाता। इसी सन्दर्भमें कापालिक मतके सिद्धान्त भी अङ्कित हैं—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितोऽविकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

× ×

कार्यस्य निःसंशयमात्महेतोः
सरूपतां हेतुभिरभ्युपेत्य।
दुःखस्य कार्यं सुखमामनन्तः
स्वेनैव वाक्येन हता वराकाः॥

अर्थात् जिस प्रकारका मोक्षमार्ग दिखलाया है—सुरा पियो, प्रियतमाके मुखको देखते रहो, स्वभावतः सुन्दर और अविकृत वेष धारण करो, वे भगवान् पिनाकपाणि दीर्घजीवी रहें।

उनकी प्रस्थापना है कि कार्य अपना कारण स्वयं है। अतः उसका वही स्वरूप है जो उसके कारणका है। इसलिए जब वे यह कहते हैं कि सुख दुःखका कार्य है तो वे बेचारे मूर्ख अपनी ही बातसे अपने मतका खण्डन कर देते हैं।

नाटककारने काँची नगरीका वर्णन सातवीं शताब्दीमें स्थित संस्कृति और सभ्यताके आधारपर किया है। इस नाटकमें शांतिभिक्षु नामक एक बौद्ध संन्यासीका भी वर्णन आया है। यों तो मत्तविलास प्रहसन है और प्रहसनमें आयी हुई घटनाएँ व्यंग्य रूपमें प्रस्तुत की जाती हैं। अतः उनमें ऐतिहासिकताका समावेश नहीं हो पाता है।

इस नाटकमें प्रहसनके सिद्धान्तोंका निर्वाह करनेपर भी महेन्द्रविक्रम वर्माने सातवीं शताब्दीकी दक्षिणकी सांस्कृतिक स्थितिका यथार्थ चित्रण किया है। नाटककार स्वयं ऐतिहासिक व्यक्ति है और उसके द्वारा चित्रित घटनाएँ भी इतिहास और किंवदन्तियों द्वारा सिद्ध होती हैं। दक्षिण भारतमें सातवीं-आठवीं शताब्दीमें कापालिक मतका पूर्ण प्रचार रहा है। बौद्धोंके साथ इस मतका संघर्ष भी होता रहा है। नाटककारने प्रहसन होनेपर भी इसमें अपने समयकी सामाजिक मान्यताओंको चित्रित किया है।

कर्पूरमञ्जरी, कथास्रोत, कथानक एवं उसकी ऐतिहासिकता

कर्पूरमञ्जरी नाटककी कथावस्तु ऐतिहासिक है। इस नाटकका रचयिता राजशेखर अपनेको महेन्द्रपालका गुरु बतलाता है। राजा महेन्द्रपालके पुत्र और उत्तराधिकारी राजा महीपालने भी इसको अपना संरक्षक बनाया था। सियदोनीके शिलालेखमें महेन्द्रपालकी-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिथियाँ ९०३–४ ई० और ९०७–८ ई० निर्दिष्ट की गयी हैं। अतः राजशेखरका स्थितिकाल ९०० ई० के लगभग है। राजशेखरने उद्भट (८०० ई०) तथा आनन्दवर्धन (८५० ई०) का उल्लेख किया है। दूसरी ओर यशस्तिलक (९५९ ई०), तिलकमञ्जरी (१००० ई०) और व्यक्तिविवेक (११५० ई०) में राजशेखरका उल्लेख आया है। अतः राजशेखरका समय दसवीं शताब्दीका पूर्वार्ध है। इन्होंने कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण और बाल-भारत—ये चार नाटक लिखे हैं। इन चारोंमें से कर्पूरमञ्जरीमें ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं।

कथा स्रोतकी दृष्टिसे कर्पूरमञ्जरीका कथानक तत्कालीन राजा चन्द्रपाल या महेन्द्रपाल का जीवन बृत्त है। प्रस्तावनाके अनन्तर राजा चन्द्रपाल रानी विभ्रमलेखा, विदूषक और अन्य सेवक रङ्गमञ्च पर आते हैं। राजा और रानी परस्पर वसन्तोत्सव और मलयानिलका वर्णन करते हैं। इस अवसरपर विदूषक और विचक्षणामें वसन्त वर्णनकी क्षमता पर झगड़ा हो जाता है। विदूषक रूठ कर चला जाता है और भैरवानन्द नामक अद्भुत सिद्ध योगीको कोई आश्चर्य दिखानेका अनुरोध करता है। विदूषककी सलाहसे विदर्भ नगरकी राजकुमारीको भैरवानन्द अपनी योगशक्तिसे सबके सामने प्रस्तुत करता है। राजा उसके अनुपम सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है और उससे प्रेम करने लगता है। यह राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी है जो रानी विभ्रमलेखाकी मौसी शशिप्रभाकी पुत्री है। अतः रानी भैरवानन्दसे अनुरोध करती है कि कर्पूरमञ्जरीको कुछ दिनों के लिए उसके पास छोड़ दिया जाय।

राजा कर्पूरमञ्जरीकी यादमें विह्वल रहने लगता है। विचक्षणा राजाको कर्पूरमञ्जरी द्वारा लिखा हुआ एक केतकी पत्रलेख देती है तथा स्वयं मुखसे राजाके वियोगमें उसकी दीन-दशाका वर्णन करती है। विदूषक भी विचक्षणाके समक्ष राजाकी प्रेमजन्य अवस्थाका चित्रण करता है। अनन्तर राजा और विदूषक आपसमें कर्पूरमञ्जरीकी शोभाका वर्णन करते हैं। विदूषक द्वारा यह सूचित किये जानेपर कि हिंदोलना चतुर्थीके अवसर पर महारानी गौरी पूजाके बाद कर्पूरमञ्जरीको झूले पर झुलाएँगी और मरकतकुञ्जमें बैठकर महाराज कर्पूरमंजरीको झूलती हुई देख सकेंगे। राजा और विदूषक दोनों कदली गृहमें चले जाते हैं और कर्पूरमञ्जरीको झूलती हुई देखते हैं। एकाएक कर्पूरमञ्जरी झूलेपरसे उतर पड़ती है। राजा उसके सौन्दर्यका स्मरण करता रह जाता है। दोनों मरकतकुञ्जमें बैठे रह जाते हैं। इसी अवसर पर विचक्षणा आकर कहती है कि महारानीने कुरबक, तिलक और अशोकके वृक्ष लगाए हैं और कर्पूर-मञ्जरीको उनका दोहद करनेको कहा है। विचक्षणाके परामर्शानुसार राजा तमालवृक्षकी ओटसे कर्पूरमञ्जरीका दर्शन करता है। सन्ध्या काल हो जाने पर सभी चले जाते हैं।

राजा कर्पूरमञ्जरीके ध्यानमें मग्न है। विदूषक और राजा अपने-अपने स्वप्न सुनाते हैं। उन दोनोंमें प्रेम, यौवन और सौन्दर्य पर बातचीत आरम्भ होती है। इस अवसर पर नेपथ्यमें कर्पूरमञ्जरी और कुरङ्गिकाकी बातचीत द्वारा पता चलता है कि कर्पूरमञ्जरी राजाके वियोगमें व्याकुल है। इधरसे राजा और विदूषक आगे बढ़ते हैं और उधर कर्पूरमंजरी एवं कुर-ङ्गिका आती हैं। कर्पूरमञ्जरी और राजा एक दूसरेको देखकर स्तब्ध रह जाते हैं। राजा कर्पूरमंजरी का हस्त स्पर्श करता है। संयोगसे दीपक बुझ जाता है और सभीलोग सुरंगके रास्ते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमदोद्यान में चले आते हैं। इधर रानीको कर्पूरमञ्जरीके राजासे मिलनेका वृत्तान्त ज्ञात हो जाता है। अतः वह घबड़ाकर सुरंगके रास्ते रक्षा-गृहमें चली जाती हैं।

रानीने कर्पूरमञ्जरीपर कठोर नियन्त्रण लगा दिया है। वह राजासे मिल नहीं पाती। इधर सारङ्गिका महाराजको केलि-विमान प्रासाद पर चढ़ाकर वटसावित्री महोत्सव देखनेका निमन्त्रण दे आती है। राजा और विदूषक वहाँ जाते हैं। वहाँ पर सारङ्गिका रानीकी ओर से राजाके पास सन्देश लाती है कि आज सायंकाल राजाका विवाह होगा। राजाके द्वारा पूछे जाने पर वह कहती है कि रानीने गौरीकी प्रतिमा बनाकर भैरवानन्दसे जब गुरु दक्षिणाके लिए बड़ा आग्रह किया तो उन्होंने कहा कि यह दक्षिणा महाराजको दो। लाटदेशके राजा चण्डसेनकी पुत्री घनसारमञ्जरीका राजासे विवाह करा दो। ज्योतिषियोंने उसे चक्रवती राजाकी रानी होना लिखा है। इस प्रकार राजा भी चक्रवर्ती हो जाएँगे और मुझे भी दक्षिणा मिल जाएगी।

रानी घनसारमञ्जरीको कर्पूरमञ्जरीसे भिन्न समझती थी। राजाका विवाह घनसार-मञ्जरीसे सम्पन्न होता है और अन्तमें भेद खुल जाता है।

कर्पूरमञ्जरी प्राकृत भाषामें लिखित सट्टक है। राजशेखर विदर्भके निवासी थे और कान्यकुब्जके राजाके उपाध्याय पदपर आसीन थे। इनके आश्रयदाताका नाम महेन्द्रपाल था। महेन्द्रपालके पुत्रका नाम महीपाल था जिसका अन्य नाम चन्द्रपाल बताया गया है। इसी चन्द्रपालकी प्रेम कथा कर्पूरमञ्जरीमें अङ्कित है। महेन्द्रपाल कन्नौजके प्रतिहारवंशी राजाओंमें विशेष गौरवशाली हैं। इसीके आदेशसे राजशेखरने बालरामायणका अभिनय किया था। कुछ दिनोंके लिए राजशेखर कन्नौज छोड़कर दूसरे नरेशके यहाँ चले गये थे। जिसकी अध्यक्षतामें विद्धशालभञ्जिकाका अभिनय किया गया था। यहाँसे लौट कर पुनः कान्यकुब्ज आये और महेन्द्रपालके पुत्र महीपालके सभासद् होकर रहने लगे। इस महीपालके आदेशसे बालभारतका अभिनय किया गया था। कवि महेन्द्रपाल और महीपाल दोनोंके आश्रयमें रह चुका है। ये दोनों राजा मिहिरभोज वंशी हैं। मिहिरभोजने प्रतिहार शक्तिका संगठन प्राप्त किया जो उसके पिता रामभद्रके जन्मकालमें दुर्बल पड़ गयी थी। राज्यारोहणके शीघ्र बाद ही बुन्देलखण्डमें अपने कुलकी सत्ता पुनः स्थापित की और नागभट्ट द्वितीयके एक दानका नवीकरण किया। जो राम-भद्रके समयमें व्यर्थ हो गया था[1]। इसी प्रकार वत्सराज द्वारा प्रदत्त और नागभट्ट द्वारा नवीकृत गुर्जर और मरुभूमि (मारवाड़) के एक दानका ई० सन् ८४३में उसने पुनरुद्धार किया।[2] इसकी राज्यसत्ता उत्तरमें हिमालय तक मानी जाती है।

मध्यप्रदेशमें अपनी शक्ति स्थापित करनेके पश्चात् मिहिरभोज बंगालकी ओर चला और पालवंशी राजा देवपालके शासनको छिन्न-भिन्न कर दिया। मिहिरभोजने दक्षिणकी ओर बढ़ कर राष्ट्रकूट, दक्षिण राजपूताना और उज्जयिनी इत्यादि प्रदेशोंको भी अपने अधीन किया। मिहिरभोजकी प्रशंसा अरबयात्री सुलेमानने भी की है। यह अरबोंका मित्र था और इस्लामका सबसे बड़ा शत्रु।

मिहिरभोजका उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल प्रथम अथवा निर्भयराज हुआ। यह ई० सन् ८८५ के लगभग सिंहासनपर आरूढ़ हुआ था। इसके शासनकी प्रमुख घटना राज्यारम्भमें

१. एपिग्राफिका इण्डिका, वरहताम्रपत्र, जिल्द–१९, पृ० १५ से १९ तक

२. वही, ५, पृ० २१८–१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मगध और उत्तर बंगालपर उसके विजय की है। जूनागढ़ राज्यके दो अभिलेखोंसे विदित होता है कि सन् ८९३ और ८९९ में उसकी सत्ता सौराष्ट्र तक व्याप्त थी और अधीनस्थ सामन्त बलवर्मन तथा अवनिवर्मन् द्वितीय राज्य करते[1] थे। राजतरंगिणीसे विदित होता है कि जिन प्रदेशोंपर मिहिरभोजने अधिकार कर लिया था वे शंकरवर्मनके दिग्विजयके समय वापस कर दिये गये थे। सम्भवतः महेन्द्रपाल प्रथमके पूर्वमें व्यस्त होनेके कारण काश्मीर राज्यको अपने उद्देश्यपूर्तिका अवसर मिला। 'पेहोआ'के अभिलेखसे प्रकट है कि महेन्द्रपालका राज्य कर्नाल तक व्याप्त था।

सन् ९१० ई० के लगभग महेन्द्रपाल प्रथमकी मृत्युके पश्चात् राज्यमें कलह आरम्भ हुआ। प्रथम महेन्द्रपालका पुत्र भोज द्वितीय कुलचेरिकी सहायतासे सिंहासनपर आरूढ़ हुआ था। पर उसके विमाता पुत्र महीपालने हर्षदेव चन्देलकी सहायतासे शीघ्र ही उससे राज्य छीन लिया। महीपालके अन्य नाम क्षितिपाल, विंनायकपाल, हेरम्बपाल और चन्द्रपाल भी हैं। शासनकालके प्रारम्भमें ही उसे राष्ट्रकूटोंके आक्रमणोंका सामना करना पड़ा। गोविन्द चतुर्थके खम्भातके पत्र लेखोंसे ज्ञात होता है कि इन्द्र तृतीयने महोदय (कन्नौज) जैसे समृद्ध नगरको पूर्णतः नष्ट कर दिया। अपने सामन्त नरसिंह चालुक्यको साथ लेकर पूर्वमें प्रयाग तक उसने लूटपाट की। सन् १९१६-१७ तक इस आक्रमणसे लाभ उठा कर पालोंने अपने खोये हुए पैतृक प्रदेशोंको शोणनदके पूर्वी तट तक स्वायत्त कर लिया। इस प्रकार महीपालने अपने पिताकी विजय-भावनाओंकी रक्षा की। 'प्रचण्ड पाण्डव'की भूमिकाके एक प्रशस्ति-वाचक श्लोक से विदित होता है कि उसका प्रभुत्व मोरल—नर्मदाके निवासी, मेखल—अमरकण्टकके निवासी कलिंग, केरल, कुन्तल तथा रमठ—पृथुदकके पीछे तक बसने वाले, तक मानते थे—

नमितमुरलमौलिः पालको मेकलानां,
रणकलितकलिङ्गः केलितटकेरलेन्दोः।
अजनिजितकुलूतः कुन्तलानां कुठारः
हठहृतरमठश्रीः श्रीमहीपालदेवः[2]॥

कर्पूरमञ्जरीमें चन्द्रपाल या चण्डपाल तथा कुन्तलकुमारी कर्पूरमञ्जरीकी प्रणय कथा वर्णित है। यह चन्द्रपाल ही महीपाल है। राज्यकी सम्यक् शासन व्यवस्थाके पश्चात् चन्द्रपाल ने कुन्तलेश्वरकी पुत्री कर्पूरमञ्जरीसे विवाह किया है। सट्टकके कथानकमें नामोंके अतिरिक्त अन्य कोई ऐतिहासिकता दृष्टिगोचर नहीं होती है। इस सट्टककी कथावस्तु संस्कृतकी नाटिकाके समान है। अतः न तो राजनीतिक वातावरण ही ऐतिहासिक है और न सामाजिक पृष्ठभूमि ही। अन्य प्रणय-प्रधान नाटकों और नाटिकाओंके समान ही रोमाण्टिक वातावरण अङ्कित है। इस सट्टककी तुलना हर्षकी 'रत्नावली' अथवा कालिदासके 'मालविकाग्निमित्र' नाटकसे की जा सकती है। 'मालविकाग्निमित्र'में अग्निमित्रके ऐतिहासिक होनेपर भी जिस प्रकार ऐतिहासिक वातावरणका अभाव है उसी प्रकार इस नाटकमें चन्द्रपालको ऐतिहासिक मान लेनेपर भी ऐतिहासिक वातावरणका सर्वथा अभाव है। संस्कृत ऐतिहासिक नाटकोंकी यह एक सार्वजनिक विशेषता है कि उनमें 'मुद्राराक्षस जैसे एकाधि नाटकोंमें ही ऐतिहासिक और राजनीतिक वातावरण

---

१. एपिग्राफिका इण्डिका, जिल्द ९, पृ० १-१०
२. प्रचण्डपाण्डव—कलिके पल्लरका संस्करण (१८८५) पृ० २

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाविष्ट रहता है। अधिकांश ऐतिहासिक नाटकोंमें रोमांटिक तत्त्वोंके कारण प्रेमका ही प्राधान्य पाया जाता है। अतः कर्पूरमञ्जरीमें ऐतिहासिक नामोंके साथ प्रणयका मधुमय वातावरण विद्यमान है तो इसमें कविका कोई विशेष दोष नहीं। यह तो तत्कालीन संस्कृत नाटकों की एक प्रमुख विशेषता है और इस विशेषताका निर्वाह करना प्रत्येक नाटककारके लिए अनिवार्य धर्म-सा है।

कवि अपने नायकका समकालिक है। उसकी राजसभाका सभा पण्डित है तथा नायक राजाने दिग्विजय यात्रा भी की है और अनेक देशोंको पदाकान्त कर अपने राज्यमें मिलाया है। पर इन सब बातोंका निर्देश नाटकमें नहीं मिलता है। संकेतों द्वारा हम कुछ तथ्य प्राप्त कर सकते हैं। यथा—आठवीं, नौवीं शताब्दीमें होने वाले हिन्दू राजाओंके संघर्षका संकेत विदूषक और विचक्षणाके कलहसे प्राप्त होता है। विदूपक और विचक्षणा ये दोनों ही नाटककार की दृष्टिमें प्रतीक हैं। इन प्रतीकों द्वारा नाटककारने भारतव्यापी हिन्दू राजाओंके संवर्षको अभिव्यक्त किया है।

विदूषक और राजा अपने-अपने स्वप्नोंका बढ़ा-चढ़ाकर जो वर्णन करते हैं वह भी उस समयके हिन्दू राजाओंकी परिस्थितिका सूचक है। सभी छोटे-मोटे राजा साम्राज्य वृद्धिका स्वप्न देखा करते थे। इनका यह स्वप्न केवल स्वप्न ही रहता था। यथार्थ रूपमें परिणत नहीं हो पाता था। बढ़ा-चढ़ाकर अपनी-अपनी डींग हाँकना और अपनेको सबसे बड़ा सम्राट् समझना उस युगकी मौलिक विशेषता थी। अतः विदूषक और राजाके स्वप्न वर्णनसे उस समय की विशृंखलित राजनीतिक स्थितिका पता लग जाता है। भैरवानन्दका उपस्थित होकर चमत्कार दिखलाना और कौल धर्मका वर्णन करना नवीं शताब्दीकी प्रमुख सांस्कृतिक विशेषता है। इस शताब्दीमें समाजमें अन्ध विश्वासोंका प्रचार था और साधारण जनता की तो बात ही क्या वड़े-बड़े राजा भी चमत्कारोंमें विश्वास करते थे। कौल धर्म केवल आचार भ्रष्टताकी ओर ही संकेत नहीं करता अपितु राजाओंके विलास और वैभवपूर्ण जीवनकी ओर भी इंगित करता है। निःसन्देह उस समयके अधिकांश राजाओंका आचार कौल-धर्मके अनुकूल था। वे उन्मुक्त जीवन जीना अधिक पसन्द करते थे। अतः कवि राजशेखरने अपनी रोमानी शैलीमें नवीं शताब्दीके राजाओंके विलास और वैभवपर व्यंग्य किया है। वे वीरता छोड़कर कायरताका जीवन यापन करने लगे थे। अतः कविने उक्त सामाजिक मान्यताओंका प्रदर्शन ऐतिहासिक संकेतोंके आधारपर किया है। अतएव संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि कर्पूरमञ्जरी शुद्ध ऐतिहासिक नाटक न होनेपर भी ऐतिहासिक संकेतोंसे परिपूर्ण है।

हम्मीर-मद-मर्दन, कथास्रोत, कथानक एवं उसकी ऐतिहासिकता

भड़ोंचके मुनिसुव्रत चैत्यालयके आचार्य जयसिंह सूरि द्वारा सन् १२१९-१२२९के बीच लिखित 'हम्मीर-मद-मर्दन' नामक नाटक अधिक महत्त्वपूर्ण है। कहा जाता है कि गुजरातके वीरधवलके मन्त्री वस्तुपालके भाई तेजपाल उस चैत्यालयमें दर्शनार्थ गये और उन्होंने अपने भाईकी अनुमतिसे जयसिंहकी प्रार्थनाके अनुसार देवकुलिकोंके लिए पच्चीस स्वर्ण ध्वजदण्डोंका निर्माण कराया। उसके बदलेमें जयसिंहने उन भाइयोंकी प्रशस्तिमें उनका यशोगान ही नहीं किया किन्तु वस्तुपालके पुत्र जयन्तसिंहकी तुष्टिके लिए खम्भातमें भीमेश्वरदेवकी यात्राके उत्सवपर अभिनयार्थ 'हम्मीर-मद-मर्दन' नामक नाटक लिखा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस नाटककी कथावस्तुका स्रोत तत्कालीन राजनैतिक स्थिति है। नाटककारने गुजरात पर मुसलमानोंके हुए आक्रमणको इसमें अङ्कित किया है। प्रथम अंकमें सूत्रधार और अभिनेता के प्रास्ताविक कथोपकथनके पश्चात् तेजःपालके साथ वार्तालाप करता हुआ वीरधवल आता है। उनके वार्तालापका विषय है राजमर्मज्ञके रूपमें वस्तुपालके असाधारण गुण। परन्तु, समय अब भी विपत्ति संकुल है। राज्यके भयका कारण तुरुष्क हम्मीर हैं, यादव सिंहन हैं जिसको लाटके राजा 'सिंह'के भतीजे संग्रामसिंहसे सहायता मिलनेकी आशा हैं। वस्तुपाल आता है तेजःपालके पुत्र लावण्यपालके बुद्धि कौशलकी प्रशंसा करता है जिसके गुप्तचर महत्त्वपूर्ण सूचना लाये हैं। तेजःपालके साथ राजा भी गुणगान करता है। राजा उन्हें बतलाता है कि हम्मीरपर आक्रमण करनेकी योजना बनाई गयी है। वस्तुपाल चेतावनी देता है कि इस प्रयत्नमें अति पराक्रम दिखानेकी चेष्टा ठीक नहीं होगी और राय देता है कि मारवाड़के राजाओंकी सहायता ली जानी चाहिए।

द्वितीय अङ्कमें ज्ञात होता हैं कि उस परामर्शका सफलतापूर्वक पालन किया गया है जैसा कि लावण्य सिंहने बतलाया है। तदनन्तर गुप्तचर निपुणक आकर सफलताकी कहानी सुनाता है। उसने सिंहनके शिविरमें प्रवेश किया। अपनेको वीरधवलकी गतिविधि पर नियुक्त गुप्तचर बतलाया, सूचना दी कि वह राजा हम्मीर पर आक्रमण करनेकी तैयारी कर रहा है और सिंहनको समझाया कि वह वीरधवल पर आक्रमण करनेके लिए, हम्मीरके साथ युद्ध करनेके कारण उसकी सेनाके निर्बल हो जाने तक ताप्तीके जंगलमें अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षा करे। इसी बीच निपुणकका भाई सुवेग अपने स्वामीके सबसे अच्छे घोड़ेको चुरा ले जाता है और सिंहनके सेनानायक संग्रामसिंहको भेंट कर देता है। तत्पश्चात् वह सिंहनके सामने तापस के छद्म वेषमें उपस्थित होता है। परन्तु जब राजा उसके सम्मानके लिए आगे बढ़ता है तब वह भाग जाता है इससे सन्देह उत्पन्न होता है और सुवेग पकड लिया जाता है। उसकी जटा से संग्रामसिंहके नाम एक पत्र निकलता है। पत्रमें उस घोड़ेका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि संग्राम सिंहको देवपालकी ओर से भेंट है और उसको सलाह दी गयी है कि सिंहनके गुजरात में प्रविष्ट होने पर संग्रामसिंह उस पर आक्रमण करे। सिंहन निपुणकसे घोड़के विषयमें तथ्यका पता लगानेके लिए कहता है और वह सुवेगकी सहायतासे संग्रामसिंहको आतङ्कित करके भगा देता है। उसके बाद वस्तुपाल रङ्गमञ्च पर आता है। उसका गुप्तचर कुशलक सूचित करता है कि खम्भातको संग्रामसिंहसे खतरा है। वस्तुपाल उसकी प्रतिरक्षाका उपाय करता है। वह संग्रामसिंहके मन्त्रीं भुवनपालको बुलाता है, वीरधवलको उस राजाकी सहायता का विश्वास दिलाते हुए उसके साथ समझौता कर लेता है।

तृतीय अङ्कमें वीरधवल और तेजःपालको अपने गुप्तचर कमलकसे मेवाड़के राज्यके विनाशकी सूचना मिलती है। उस पर म्लेच्छोंने आक्रमण किया था। लोग हताश होकर कुओंमें कूद पड़े, अपने घरोंमें जल मरे या फाँस लगा ली। कमलकने उन्हें साहस दिया और वीरधवलकी पहुँचकी घोषणा द्वारा शत्रुको हतोत्साहित किया। इसके नामसे आतङ्कित तुरूष्क भाग खड़े हुए। वीरधवल वस्तुपालकी चतुराईकी प्रशंसा करता है। जिसकी सहायतासे वह म्लेच्छोंके अतिरिक्त अन्य शत्रुओंको समाप्त करनेमें समर्थ हुआ। तेजःपाल इन शत्रुओंके विरुद्ध भी सफलताका विश्वास दिलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ अङ्कमें अर्थोपक्षेपक दृश्यमें दो गुप्तचरों कुवलयक और शीघ्रकके कथोपकथनसे वस्तुपालके कार्यकी सूचना मिलती है। उसने एक झूठे समाचारसे बगदादके खलीफाको उकसाया है। जिससे वह खर्पर खाँ को आदेश करे कि वह 'मीलच्छूकार'को बन्दी बनाकर उसके पास भेज दे। उसने तुरुष्कोंके पराजित होनेपर उनकी भूमि गुर्जर राजाओंको देनेका वचन देकर उन्हें अपनी ओर मिला लिया है। इसके अनन्तर हम 'मीलच्छूकार'को अपने मन्त्री गोरीईसप के साथ परिस्थिति पर विचार विमर्श करते हुए पाते हैं। एक ओर खर्परखाँ और वीरधवल उसपर जोर डालते हैं। वह पीछे लौटनेकी बात सोचनेसे भी इनकार करता है। परन्तु वीर धवलकी सेनाके आगमनके पहले ही भाग जाता है। अपने शत्रुओंको न पकड़ पानेसे वह खिन्न है। किन्तु आवेशमें आकर पीछा करनेके विरुद्ध वस्तुपालकी सलाहके अनुसार आज्ञा पालन करता है।

पञ्चम अङ्कमें राजा विजयके साथ लौटता है और अपनी पत्नी जयतल देवीसे मिलता है। वह और वस्तुपाल तथा तेजःपाल एक दूसरेका अभिनन्दन करते हैं। पता चलता है कि वस्तुपालने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न किया है। उसने मीलच्छूकारके गुरुओं 'रदी' और 'कदी'को बगदादसे लौटते समय रोक लिया है और उनको बचानेके लिए उसे मैत्री सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए बाध्य किया है। अन्ततः राजा शिवके मन्दिरमें प्रवेश करता है। शिव स्वयं प्रकट होकर उसे वरदान देते हैं, परन्तु वह अपने मन्त्रियोंके विषयमें इतना भाग्यशाली है कि उसे औपचारिक रूपसे कोई याचना नहीं करनी पड़ती।

इस प्रकार इस नाटककी कथावस्तु वस्तुपाल और तेजःपालकी असीम प्रशस्तिसे युक्त है। गौण रूपमें वीर धवलका गुणगान भी किया है। इस नाटकसे निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य निःसृत होते हैं—

१. बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीमें मुसलमानोंने गुजरातपर आक्रमण किया। इस आक्रमण का सामना वस्तुपाल और तेजःपालने अपने बुद्धिकौशल और रण कौशल द्वारा किया। तेरहवीं शताब्दीके राजा वीरधवलके कार्योंका उल्लेख भी इस नाटकमें आया है जिसका समर्थन गुजरातके इतिहाससे होता है।

२. वस्तुपालने गुजरातकी रक्षाके लिए अनेक प्रयत्न किये। इन प्रयत्नोंका लेखा-जोखा भी इस नाटकमें प्राप्त है।

३. इस नाटकमें मुस्लिम कालीन गुप्तचर व्यवस्थाका सुन्दर चित्रण हुआ है। ये गुप्तचर किस प्रकार गुप्त बातोंका पता लगाते और मुसलमान बादशाह उनकी देख-रेख रखते थे आदि तथ्य इस नाटकसे स्पष्ट हैं।

४. तेरहवीं शतीमें हिन्दू राजाओंमें आपसी मतभेद कितना था और गुजरातकी सामाजिक स्थिति कितनी विशृंखलित थी इसका परिज्ञान भी इस नाटकसे हो जाता है।

५. छोटे-छोटे राजा आपसमें कलह करते थे तथा युद्धका कारण केवल सम्मानका प्रश्न ही रहता था अथवा किसी राजकुमारीको लेकर युद्ध होता था।

६. ऐतिहासिक दृष्टिसे परस्परकी फूट या कलह साम्राज्य पतनका कारण किस प्रकार बनता था यह इस नाटकसे स्पष्ट है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७. सामन्त, सेठ, साहूकार दानमें बड़ी रकमें देते थे। भूमि, गृह, तालाब आदि भी दानमें दिये जाते थे।

८. बारहवीं-तेरहवीं शताब्दीमें राजनीति अस्थिर थी और देश अनेक टुकड़ोंमें विभक्त था। एकछत्र साम्राज्यके अभावमें विदेशियों द्वारा देश आक्रान्त हो रहा था।

९. राजपूताना, गुजरात और महाराष्ट्रकी सामाजिक और राजनीतिक शक्तियाँ संगठित होनेके लिए प्रयत्नशील थे। पर आपसी विद्वेषके कारण संगठनका अभाव था।

१०. मठाधीशोंकी गद्दियाँ, उनके साथ राजनीतिक व्यक्तियोंके सम्बन्ध, दानशालाएँ आदि भी प्रतिष्ठित थीं। राज्य सञ्चालनमें राजपुरुषोंके अतिरिक्त सेठ साहूकार भी भाग लेते थे।

चन्द्रकला : कथास्रोत, कथानक एवं उसकी ऐतिहासिकता

इस नाटिकाके रचयिता साहित्य दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ हैं। विश्वनाथ १४वीं या १५वीं शती ई० में किसी समय उत्कल प्रदेशके कलिङ्ग नरेश नरसिंह भानुदेव चतुर्थकी सभामें महासान्धिविग्रहिकके रूपमें प्रतिष्ठित थे। इन्होंने साहित्यदर्पणकी रचना अलाउद्दीन नृपतिके समय ई० सन् १२९५-१३१६ में की है। इस ग्रन्थमें जयदेवके गीत गोविन्द, नैषधीय चरितम् और कृष्णानन्द कविकृत सहृदयानन्दके छन्द उदाहरण रूपमें उद्धृत किये हैं। रस के सम्बन्धमें धर्मदत्तके मतका भी उल्लेख किया है। अतएव आचार्य विश्वनाथका स्थितिकाल ई० सन् की १५वीं शताब्दीका पूर्वार्ध है।

आचार्य विश्वनाथके पिताका नाम चन्द्रशेखर था। ये भी सान्धिविग्रहिक थे और भानुदेवकी सभामें प्रतिष्ठित थे। भुवनेश्वरके लिङ्गराज मन्दिरके पार्श्ववर्ती पार्वती मन्दिरमें एक शिलालेख प्राप्त है, जिसमें भानुदेव तथा महारानी उमादेवीका नामोल्लेख[1] है। इसी प्रकार विशाखपत्तनके सिंहाचलम् मन्दिरके एक शिलालेखमें भी उमादेवीका नाम मन्दिर निर्माणके लिए धनदात्रीके रूपमें उत्कीर्ण है[2]। इस द्वितीय शिलालेखका समय ई० सन् १३८९ है। १३७९ ई० से १४११ ई० तक नरसिंह भानुदेव चतुर्थने राज्य किया है। जिनके माता-पिता भानुदेव और उमादेवी थे। १३७९ ई० का शिलालेख जिसमें केवल उमादेवीका ही नाम है उनके वैधव्य कालका है। उस समय उनके पुत्र नरसिंह भानुदेव चतुर्थ राज्य कर रहे थे। आचार्य विश्वनाथने अपने पिता चन्द्रशेखरका उल्लेख साहित्यदर्पणमें सान्धि-विग्रहिक विशेषणके रूपमें किया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि विश्वनाथने जब साहित्यदर्पण लिखा तब उनके पिता चन्द्रशेखर सान्धि-विग्रहिक पदपर थे और विश्वनाथने परम्परागत उपाधिके रूपमें उक्त विशेषणका उल्लेख किया होगा। अथवा न भी रहे हों तो भी चन्द्रशेखरने उक्त छन्द भानुदेवकी प्रशस्तिमें तब लिखा है जब भानुदेव और उमादेवी दोनों जीवित थे। यह घटना ई० सन् १३७९ के पूर्व की है। बहुत सम्भव है कि चन्द्रशेखरकी मृत्युके पश्चात् पिताके स्थानपर ही कविराज विश्वनाथको नरसिंह भानुदेव चतुर्थने अपना सान्धि-विग्रहिक नियुक्त

---

१. स्वस्ति श्रीभाणुदेवस्य प्रवर्द्धमानं विजयराज्ये त्रयोदशाङ्कभिलिख्यमाने श्रीउमादेव्या........

२. उड़ीसा, हिस्टोरिकल रिसर्च जर्नल, भाग ३, पृ० १४६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किया है। बहुत सम्भव है कि चन्द्रशेखरके आश्रयदाता नरसिंह भानुदेव तृतीय रहे हों। इनका समय ई० सन् १३५३ से १३७८ ई० तक है। विश्वनाथ कविराजके आश्रयदाता नरसिंह चतुर्थ या निःशङ्क भानुदेवका समय ई० सन् १४०० से १४२० तक है। अतः विश्वनाथने प्रस्तुत नाटिकाकी रचना १४वीं शताब्दीके उत्तरार्ध या १५वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें की होगी।

चन्द्रकला नाटिकाकी कथावस्तु नरसिंह भानुदेव चतुर्थ या निःशङ्क भानुदेवसे सम्बद्ध है। इस नाटकके अनुवादक तरिणीश झा और शिवशङ्कर त्रिपाठीने लिखा है—"चन्द्रकला नाटिकाकी कथावस्तु भी उनके आश्रयदातासे सम्बन्धित है। इस नाटिकाकी रचना भी उन्होंने अपने और अपने आश्रयदाताके यौवनकालके प्रथम चरणमें की होगी अर्थात् १३७५ ई० से १३९० ई० के बीचमें।

यह नाटिका चार अङ्कोंमें विभक्त है। प्रथम अङ्कमें चन्द्रकलाके अनुरागमें आबद्ध राजा चिन्तित अवस्थामें दिखलायी पड़ता है। उसे विदूषकके आगमनका भी प्रतिभास नहीं होता। राजा और विदूषक दोनों वनमें टहलते हुए सखी सुनन्दाके साथ आयी हुई चन्द्रकलाको लताकुञ्जमें छिपकर देखते हैं। चन्द्रकला माधवी लतासे पुष्प तोड़नेका उपक्रम करती है। राजा स्वयंको उन पुष्पोंको तोड़नेके लिए सादर प्रकट कर देता है। चन्द्रकला शील-लज्जाके कारण वहाँसे जाना चाहती है पर, विदूषक उसे चयन किये गये पुष्पोंका षष्ठांश दिये बिना जाने नहीं देता। शीघ्रतावश वह पुनः उठ कर जाती है पर उसके हाथसे कुछ पुष्प गिर जाते हैं। राजा उन्हें उठाकर उसके अनुरागाभिज्ञान स्वरूप अपने हृदयसे लगाता है। इसी समय महारानी वसन्तलेखा की परिचारिका रतिकला वहाँ आती है। उसे देखकर चन्द्रकला सुनन्दाके साथ लताकुञ्जमें छिप जाती है। रतिकला राजाको महारानीका आमन्त्रण देती है। राजा वहाँसे जाता है और रहस्यमय वाणीमें चन्द्रकलाको पुनरागमनके लिए निमन्त्रण देता है।

द्वितीय अङ्कमें महाराज महारानीके साथ उपवनमें विचरण करते हुए दिखलायी पड़ते हैं। उनके हृदयमें चन्द्रकलाकी चिन्ता है। अचानक एक कोलाहल सुनाई पड़ता है कि भयानक व्याघ्र उपवनमें प्रविष्ट हो गया है। महाराजा महारानीको अन्तःपुरमें भेज देते हैं और स्वयं व्याघ्रका वध करनेके लिए चल देते हैं। व्याघ्र शीघ्र ही विदूषकके रूपमें परिवर्तित हो जाता है। यह चन्द्रकलाको राजासे मिलानेके लिए स्वांग किया गया है। रानी व्याघ्र वधका समाचार जानकर प्रसन्न होती हैं और राजाकी पूजाके लिए वहाँ आती हैं। चन्द्रकला वहाँसे चलने लगती है पर उसकी अँगूठी गिर जाती है। राजा उस अँगूठीको उठाकर विदूषकको दे देता है। रानी वसन्तलेखा पूजाके पश्चात् विदूषकको अपने गलेका हार पारितोषिकके रूपमें देती हैं। विदूषक प्रसन्नतासे गलेमें हार और हाथमें अँगूठी पहनकर अपना सौन्दर्य दिखलाता है। महारानी अँगूठी देखकर रुष्ट होती हैं और अन्तःपुरको चली जाती हैं। विदूषक राजासे महारानीको प्रसन्न करनेका वचन देता हुआ अपनी भूल स्वीकार करता है।

तृतीय अंकमें चन्द्रकला सुनन्दाके घरमें छिपा दी जाती है। विदूषक यहींपर चन्द्रकलाको राजासे मिलानेका उपक्रम करता है। पर, महारानीको इसका पहले ही ज्ञान हो जाता है। राजा निर्दिष्ट समयपर रात्रिमें चन्द्रकलासे मिलनेके लिए पहुँचता है। वहाँ चन्द्रकलाको न देखकर वह कोयल, आम्रवृक्ष, पक्षी, मलयपवन आदिसे उसका पता पूछते हुए प्रलाप करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लगता है। विदूषक मणिमण्डपमें चन्द्रकलाकी उपस्थितिकी सूचना देता है। राजा जैसे ही वहाँ मिलने पहुँचता है वैसे ही वहाँ महारानी भी पहुँच जाती है। वह चन्द्रकलाको बन्दी बना लेती है और विदूषकको सुनन्दाके साथ बाँध कर ले जानेका आदेश देती है। राजा इस घटनासे बहुत क्षुब्ध है।

चतुर्थ अङ्कमें चन्द्रकलाके बन्दी बनाए जानेके कारण राजा विरह-सन्तप्त दिखलाई पड़ता है। अचानक महारानीके पितृगृह पाण्ड्य राज्यसे दो बन्दी गण सन्देश लेकर उपस्थित होते हैं। महारानी सन्देश सुनकर हर्ष विभोर हो जाती है। उसे बन्दीजनों द्वारा ज्ञात होता है कि पाण्डेश्वरकी छोटी पुत्री विहार करनेके लिए निकली थी रास्ता भूल जानेके कारण एकाकिनी वह शबरराज द्वारा शुभलक्षणोंसे युक्त जान विन्ध्यवासिनी मन्दिरमें बलिदान हेतु बन्दी बना ली गयी। चतुर्दशीकी रात्रिमें जब वह बलिके लिए यथास्थान उपस्थित की गयी तो दर्शनार्थी आगत किसी विक्रमाभरण नामक सेनापतिके एक सैनिक द्वारा देखी गयी। उस सैनिकने उस कन्याको शबरराजसे मुक्त किया और शबरराजको युद्धमें मार डाला। कन्याको उसने सेनापति विक्रमाभरणको सौंप दिया। सेनापतिने समस्त वृत्तान्त कहकर कन्याको मन्त्री सुबुद्धके संरक्षणमें दे दिया था। अतः वह अब आपके ही यहाँ है। हमारे महाराज उसका विवाह महाराजके साथ ही करना चाहते हैं आप अपनी सहमति दीजिए।

चन्द्रकलाका विवाह राजाके साथ सम्पन्न होता है और भरत वाक्यके साथ नाटिका समाप्त हो जाती है।

ऐतिहासिकता

इस नाटकके प्रमुख पात्र राजा चित्ररथदेव और रानी चन्द्रकला है। चित्ररथदेव नरसिंहदेव चतुर्थ या निःशङ्क भानुदेव ही हैं। यह राजा १४ वीं शतीके उत्तरार्धमें उड़ीसा पर शासन करता था। इसका आश्रित कवि विश्वनाथ है जिसने आश्रयदाताकी प्रशस्तिको इस नाटिकामें अङ्कित किया है। नाटिकामें निःशङ्क भानुदेवकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"आर्ये, पश्य पश्य। अयमिदानीं यवनपुरपुरन्ध्रीवर्गनिर्गलनविरलजलधारानिर्धौत-गिरिकन्दरो निजभुजप्रतापतपनसमुत्सादितारातितिमिरनिकरश्चोलकोशलवङ्ग कोचकाञ्चीगौडडा-हाल मत्स्यम्लेच्छलाटकर्णाटप्रमुखराजीवरजनीकरः सकलगुणरत्नाकरो निखिलानवद्यविद्यानिधि-रर्थिकुलकल्पद्रुमः सभामध्यमध्यास्ते गजपतिर्महाराजधिराजः त्रिकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलः श्रीमन्निः-शङ्कभानुदेवः।

अर्थात् त्रिकलिङ्ग भूमण्डलके इन्द्र महाराजाधिराज श्रीमान् निश्शङ्क भानुदेव इस सभामें विराजमान हैं, जिन्होंने यवन-स्त्रियोंके नेत्रोंसे बहती हुई सतत जलधारासे पर्वतकी कन्दराओंको धो डाला है, अपनी भुजाओंके बल प्रतापसे समस्त शत्रुओंका नाश कर दिया है। चोल, कोशल बङ्ग, कोच, काञ्ची, गौड, डाहाल, मत्स्य, म्लेच्छ, लाट, कर्णाटक आदिके नरेशोंको उसी प्रकार आनन्ददायक हैं जिस प्रकार चन्द्रमा कुमुदिनी दल को प्रमुदित करता है। महाराज निश्शङ्क भानुदेवकी विजय यात्राके समय तीव्रगामी घोड़ोके खुराघातोंसे उड़ी धूलि-राशिसे सूर्य विम्ब ढँक गया है और मतवाले हाथियोंकी सूड़ोंसे ऊपरकी ओर फेंके गये जलकणोंसे आकाश-

१. चन्द्रकला नाटिका, प्रथम अङ्क पृ०-५, देवभाषा प्रकाशन दारागंज, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में तारे छिटक गये हैं। धवल-चाँदनीमें गोड नरेशकी लक्ष्मीने त्रिकलिङ्ग नरेश पर मुग्ध हो कर शीघ्र ही उससे अभिसार किया है। इस उद्धरणसे स्पष्ट है निश्शङ्क भानुदेव ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उन्हींका चरित्र इस नाटकमें निबद्ध किया गया है। कथा कल्पित जैसी भले ही प्रतीत हो पर महाराज चित्ररथदेवको निश्शङ्क भानुदेवसे अभिन्न नहीं मानना पड़ेगा।

वसन्तलेखा और चन्द्रकला दोनों ही पांड्यनरेशकी कन्याएँ हैं। वसन्तलेखा प्रधान महिषी है और वह चन्द्रकलाके साथ राजाका विवाह होने देना नहीं चाहती है पर कालान्तरमें जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि चन्द्रकला उसकी बहिन है तब उसे अपने द्वारा किये गये कार्यों पर पश्चात्ताप होता है। इस प्रकार चन्द्रकला नाटिकामें ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध है।

स्थापत्यकी दृष्टिसे तो इस नाटिकाकी कथावस्तुका गठन मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, कर्पूरमञ्जरी आदि की शैली पर हुआ है जिससे जीवनके बहुमुखी चित्र सामने नहीं आ पाये हैं।

अन यप्राचीन ऐतिहासिक नाटक

अन्य प्राचीन ऐतिहासिक नाटकोंमें सोमदेव द्वारा प्रणीत ललितविग्रहराज नाटक चौहान वीसलदेव विग्रहराजके सम्मानमें अङ्कित किया गया है। यह नाटक पूर्णतः ऐतिहासिक है और वीसलदेव विग्रहराजकी प्रशस्तिको अभिव्यक्त करता है। इस नाटकका रचनाकाल १२ वीं शतीका उत्तरार्ध माना जाता है। इसमें निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्योंका अङ्कन पाया जाता है।

(१) वीसलदेवकी वंशावली और उसके पूर्ववर्त्ती राजाओंका यशोगान
(२) वीसलदेवकी राजनैतिक व्यवस्था
(३) १२ वीं शताब्दीमें हिन्दू राजाओंके पारस्परिक कलह और संघर्षका चित्रण
(४) वीसलदेवके साथ घटित घटनाओंमें से दिग्विजयकी घटनाओंका विशेष रूपसे चित्रण
(५) १२ वीं शताब्दीके आर्थिक विकास एवं कृषि-वाणिज्य आदिका वर्णन
(६) नाटककालीन समाजका यथार्थ चित्रण
(७) मुस्लिम राजाओंके बढ़ते हुए प्रभावका संकेत

विद्यानाथने लगभग १३०० ई० के प्रतापरुद्र कल्याण नामक नाटक लिखा है। इस नाटकमें उन्होंने अपने आश्रयदाता बारङ्गलके राजाकी प्रशस्तिका अङ्कन कर आदर्श हिन्दू चरित्रकी अभिव्यक्ति की है। नाटकमें बारङ्गल नरेशकी दी हुई प्रशस्तिका भी अङ्कन किया गया है। प्रतापरुद्र कल्याणमें कल्पनाकी अपेक्षा ऐतिहासिक तथ्योंकी बहुलता है। काल्पनिक आख्यान जो भी आये हैं उनमें भी ऐतिहासिक तथ्योंका पुट है।

रामचन्द्र द्वारा विरचित कौमुदी मित्रानन्दमें भी कतिपय ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। यह नाटक कुमारपालके भतीजे और उत्तराधिकारी अजयपालके शासन कालमें लिखा गया है। नाटकके आरम्भमें हमें ज्ञात होता है कि मित्रानन्द एक सार्थवाहका पुत्र है। उसने तथा उसके मित्रने वरुण द्वारा निर्दयता पूर्वक एक वृक्षसे बाँधे गये सिद्धराजको मुक्त किया है और तदनन्तर मित्रानन्द वरुणद्वीपमें एक विहारके अध्यक्षकी कन्या कौमुदीको पत्नीरूपमें ग्रहण करता है। कौमुदी तत्कालीन परिस्थितिका विवरण प्रस्तुत करती हुई बतलाती है कि साधु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समाज महामक्कार हो गया है। मेरे साथ विवाह करनेवाले पतियोंका दुर्भाग्यपूर्ण अन्त कर दिया गया है। मित्रानन्दने वरुणसे मोहन मन्त्र प्राप्त किया था। और इसी मन्त्रके प्रभावसे वह अन्य लोगोंको अपने वशमें करता था। परिस्थितिकी विचित्रताके कारण वह सिंहल भाग जानेको सहमत होता है। यदि मित्रानन्दने अपने विवाहके अवसर पर जाङ्गलीदेवी द्वारा दिये गये मन्त्रकी सहायतासे युवराज लक्ष्मीपतिको सर्पदंशसे बचा न लिया होता तो उन दोनोंकी बड़ी दुर्दशा होती, क्योंकि राजपुरुषोंने मित्रानन्दको चोर समझ लिया था। कृतज्ञ राजा उस दम्पतिको मन्त्रीके हाथोंमें सौंप देता है। पर वह मन्त्री कौमुदी पर मोहित हो जाता है और उसके पतिसे पिण्ड छुड़ाने के लिए व्यग्र होता है। राजाका एक सामन्त मानव बलि देना चाहता है। इस प्रकार मन्त्रीको अपनी इच्छा पूर्तिका अवसर मिल जाता है। वह मित्रानन्दको बलि बनानेके उद्देश्यसे एक पत्रके साथ भेजता है। परन्तु भाग्यवश उसका साथी मैत्रेय उसे पहचान लेता है। इसी बीच मन्त्रीकी ईर्ष्यालु पत्नी कौमुदीको अपने घरसे निकाल देती है। भटकती हुई कौमुदीकी भेंट एक सार्थवाहकी कन्या सुमित्रा और उसके परिवारसे होती है। वे सब आदिवासी जातियोंके सरदार वज्रवर्मा द्वारा बन्दी बना लिये जाते हैं, जिसके पास कोई मकरन्द भी लाया जाता है। आगे चलकर पता चलता है कि मकरन्द मित्रानन्दका मित्र है। मित्रानन्द और कौमुदीके क्षेम कुशलकी पूछताछ करनेके लिए लक्ष्मीपतिका एक पत्र आता है। कौमुदी उसका लाभ उठा कर वज्रवर्मासे मकरन्द और सुमित्राका विवाह करवाती है। इसके पश्चात् एकचक्रामें वे तीनों किसी कापालिकके सम्पर्कसे हानि उठाते हैं। इसी समय नारीलोलुप कहे जानेवाले एक विद्याधरके विरुद्ध वह मित्रानन्दकी सहायता माँगता है। मित्रानन्द कापालिकको अपनी वीरतासे भगा देता है। नवम अङ्कमें मकरन्दको अपने साथी व्यापारियों पर स्वामित्व सिद्ध करना है जिसपर कोई नारायण अपना अधिकार बतलाता है। वज्रवर्मा और मित्रानन्दके आनेसे विवाद तय हो जाता है। दशम अङ्कमें सिद्धराजके निवासस्थान पर पति-पत्नीका मिलन कराकर रूपक समाप्त होता है।

इस नाटककी घटनाओंमें इतिहास और कल्पनाका पूर्ण मिश्रण है। कविने सिद्धराजके निवास-स्थानपर विवाह प्रस्तुत कराया है। सिद्धराज जयसिंहने विक्रम संवत् ११५१ से विक्रम संवत् ११९९ तक राज्य किया है। सिद्धराजको कोई पुत्र नहीं था। अतः उनके पश्चात् राज्याधिकारके सम्बन्धमें विवाद उपस्थित हुआ। सिद्धराज जयसिंह कुमारपालको अपना उत्तराधिकारी बनाना नहीं चाहते थे। अतः वे उसे मारकर राज्याधिकार किसी दूसरेको देना चाहते थे। हेमचन्द्रने कुमारपालकी रक्षा की और साथ ही भविष्यवाणी की कि मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्दशी विक्रम संवत् ११९९ में राज्याभिषेक होगा। यह कथन सत्य सिद्ध हुआ। सिद्धराज जयसिंहकी मृत्युके पश्चात् कुमारपाल राज्य सिंहासनका अधिकारी हुआ।

हेमचन्द्रने अपने सिद्ध हेमशब्दानुशासनमें सिद्धराज जयसिंहको स्मरण किया है। वास्तव में गुजरातके सम्राटोंमें सिद्धराज जयसिंह और कुमारपालका महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रस्तुत नाटकमें सिंहल-नरेश और सिंहल देशका कथन आया है। लक्ष्मीपति सम्राट् भी ऐतिहासिक है। वज्रवर्माको निरा कल्पित नहीं कहा जा सकता है। १२वीं शताब्दीमें पहाड़ी राजाओंकी नामावलीमें वज्रवर्माका नाम आता है। अतएव कौमुदी मित्रानन्द नाटक काल्पनिक होने पर भी ऐतिहासिक तथ्योंसे ओत-प्रोत है। इस नाटकसे १२वीं शताब्दीके भारतकी स्थिति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का भी परिज्ञान होता है।

रामभद्र मुनि द्वारा विरचित "प्रबुद्ध रौहिणेय" नाटकमें पौराणिक और ऐतिहासिक तथ्योंकी प्रचुरता है। इस नाटकमें छः अङ्क हैं। कथावस्तु मगध नरेश श्रेणिक बिम्बसारकी राज्य घटनाओंसे ग्रहण की गयी है। प्रथम अङ्कमें एक निर्भीक दस्यु रौहिणेय मदनवतीका अपहरण करता है और उसका सहायक मागधी-भाषी शबर उसके प्रेमीको उलझाये रखता है। दूसरे अङ्कमें वह मनोरथ नामके युवककी माँ का वेष धारणकर पार्श्ववर्त्ती लोगोंको चिथड़ोंसे बनाये गये साँपके द्वारा आतङ्कित कर आभूषणोके प्रलोभनसे मनोरथका अपहरण करता है। आगामी तीन अङ्कोंमें वर्णित है कि मगधनरेश श्रेणिकके यहाँ अपहरणोंके सम्बन्धमें शिकायत की जाती है। उसका मन्त्री अभयकुमार अपराधियोंकी खोज करता है। अन्तमें वह पकड़ा जाता है और अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेकी जीतोड़ कोशिश करता है। परन्तु अपनी उन्मुक्ति के प्रयत्नमें उसे सफलता नहीं मिलती। छठे अङ्कमें नृत्य शिक्षक भरतकी अधीनतामें नारियाँ और संगीतज्ञ छलपूर्वक उसके मनमें यह भ्रान्ति उत्पन्न करनेका प्रयास करते हैं कि वह स्वर्गमें है और इस प्रकार वे उससे उसके दुष्कर्मोंकी संस्वीकृति करा लेना चाहते हैं। परन्तु वह रूपकके अन्तर्निहित रहस्यको समझता है। क्योंकि उसको एक पद्य याद है जो उसने अपने बन्दी होनेके पहले तीर्थङ्कर महावीरके मुखसे सुना था और जिसमें देवताओं के लक्षण बतलाये गये हैं। देवताओंको पसीना नहीं आता, उनकी मालाएँ नहीं मुरझातीं। उनके पैर धरतीको नहीं छूते। अतएव वह दुराचारी निर्दोष घोषित कर दिया जाता है। परन्तु मुक्त होने पर वह अपने अपराधकी अभिव्यक्ति करता है। वह राजा और मन्त्रीको वैभार पर्वतपर ले जाता है। जहाँ उसके द्वारा चुराई गई धन-राशि और गायब युवक एवं स्त्री रक्षित हैं।

इस नाटकमें तीर्थङ्कर महावीर, बिम्बसार, अभयकुमार ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। ई० पूर्व ६००में मगधमें हर्यङ्ककुलका विम्बसार शासन करता था। बिम्बसार एक सामान्य सामन्त भट्टीय पुत्र था और उसका विरुट सेनिक अथवा श्रेणीय था। पहले तो उसकी राजधानी भी प्राचीन गिरिव्रज थी पर बाद में अपने नये राजप्रासादके चतुर्दिक् राजधानी बसाकर उसने उसका नाम राजगृह कर दिया। बिम्बसारने आरम्भमें अपने प्रभावको वैवाहिक सम्बन्धोंकी नीतिसे बढ़ाया। उसकी प्रधान महिषी कोशलदेवी राजा पसेनदिकी भगिनी थी और उसकी दूसरी रानी चेल्लना विख्यात लिच्छवी राजा चेटककी कन्या थी तथा तीसरी रानी क्षेमा मद्र-मध्य पंजाबकी राजकुमारी थी। इन वैवाहिक सम्बन्धोंसे विदित है कि बिम्बसारने अपने राज्य का पर्याप्त विस्तार किया था। अङ्गके राजा ब्रह्मदत्तको परास्तकर उसने उस जनपद राज्यको मगधमें मिला लिया। अङ्गका प्रसार आधुनिक मुंगेर और भागलपुरके जिलोंपर था। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य प्रदेशोंमें भी बिम्बसारने अपने राज्यकी स्थापना की थी। पालिके भाष्यकार बुद्धघोषके लेखसे स्पष्ट है कि बिम्बसारने अपने राज्यकी पूर्णतया वृद्धि की थी।

जैन साहित्यमें आता है कि बिम्बसारके मन्त्रीका नाम अभयकुमार था। यह अभय-कुमार ही राज्यके कार्योंका संचालन करता था। अतः श्रेणिक और अभयकुमार दोनों ही ऐति-हासिक व्यक्ति हैं। साहित्यिक उल्लेखोंसे दोनोंकी ऐतिहासिकता सिद्ध है।

तीर्थंकर महावीरकी ऐतिहासिकताके सम्बन्धमें किसीको विवाद ही नहीं है। ई० पूर्व ६०० के लगभग महावीरका जन्म वैशालीके कुण्डग्राममें हुआ था। इनका ज्ञातृ कुल था

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और इनके पिताका नाम सिद्धार्थ था। इनकी माता त्रिशला देवी लिच्छवि नरेश चेटककी कन्या थी। महावीर बालब्रह्मचारी रहे और ३० वर्षकी अवस्थामें गृह त्यागकर संन्यासी बने। इन्होंने १२ वर्षों तक कठोर तपश्चरण किया तदनन्तर कैवल्य प्राप्तकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका उपदेश दिया। ७२ वर्षकी अवस्थामें पावापुरीमें इनका निर्वाण हो गया। इस प्रकार इस नाटकमें रौहिणेयके अतिरिक्त सभी पात्र ऐतिहासिक हैं। रौहि ेयको भी निरा कल्पित नहीं कह सकते हैं क्योंकि इस पात्रका उल्लेख इस नाटकके अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थोंमें भी आया है। महावीर समकालीन चोर और लुटेरोंके गिरोहका स्वामी रौहिणेय को बताया गया है। रौहिणेय पापी, अत्याचारी होनेपर भी तीर्थंकर महावीरके उपदेशसे बोध को प्राप्त हुआ और तपश्चरणकर आत्मकल्याण किया।

१९वीं और २०वीं शताब्दीके ऐतिहासिक नाटक

१९वीं शताब्दीमें ऐतिहासिक नाटकोंकी रचना संस्कृतमें विशेष रूपसे हुई है। श्रीमूलशङ्कर माणिकलाल याज्ञिकने तीन ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं और मथुराप्रसाद दीक्षितने बीसवीं शताब्दीमें वीरप्रताप, शङ्करविजय, पृथ्वीराज, गाँधीविजय और भारतविजय नामक ऐतिहासिक नाटकोंकी रचना की है। इन सभी नाटकोंमें देशप्रेम और राष्ट्रीयताकी भावना अङ्कित की गयी है। इन नाटककारोंने मौर्यगुप्तकालीन इतिहासका अवलम्बन त्याग कर राजपूत और मुगलकालीन इतिहासकी ओर अधिक ध्यान दिया है। हिन्दू-मुस्लिम एकता, देशभक्ति, बलिदान भावना इस युगके नाटकोंमें विशेष रूपसे देखनेको मिलती है। महाराणा प्रताप, शिवाजी, क्षत्रसाल, पृथ्वीराज आदि पात्रोंने नाटककारोंको अपनी ओर आकृष्ट किया। फलतः राष्ट्रीयताके उद्बोधक नाटकोंकी रचना हुई।

दूसरी बात यह है कि इन शताब्दियोंमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, गोविन्द वल्लभ पन्त, हरिकृष्ण प्रेमी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविन्ददास आदिने युगानुकूल ऐतिहासिक नाटकोंका प्रणयन किया। इन नाटककारोंने नाटकोंको काल्पनिक जीवनसे हटा कर यथार्थ भूमिपर प्रतिष्ठित किया। पात्र, चरित्र-चित्रण, भाषा, वेष-भूषा सभीमें यथार्थ चित्रणकी अभिव्यक्ति इस ुगकी विशेष प्रवृत्ति है। संस्कृत नाटककारोंने भी इन प्रवृत्तियोंको अपनाया और महाराणा प्रताप, शिवाजी आदिके चरित्रोंको प्रधानता दी। हम यहाँ उक्त नाटकोंमें-से दो-एक का विश्लेषण कर उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दीके ऐतिहासिक नाटकोंकी विशेषताओंपर प्रकाश डालेंगे।

छत्रपतिसाम्राज्यम् : कथास्रोत और कथानक

मूलशंकर माणिकलाल याज्ञिकने ऐतिहासिक नाटयकृतियोंका प्रणयन कर कालिदास, विशाखदत्त एवं राजशेखरकी परम्पराको एक नयी दिशा प्रदान की। याज्ञिकजीका जन्म गुर्जर प्रदेशान्तर्गत खेडा जनपद स्थित नडियाद ग्राममें ३१ जनवरी १८८६ में हुआ था। पिताका नाम माणिकलाल और माताका नाम अतिलक्ष्मी था। प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा नडियादमें प्राप्त करनेके पश्चात् बड़ौदा कालेजमें अध्ययन कर स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण की। विभिन्न स्थानोंमें सेवा कार्य करनेके उपरान्त राजकीय संस्कृत कालेज बड़ौदामें तत्कालीन महाराज सयाजी-रावजीके आमन्त्रणपर प्राचार्य पदपर आसीन हुए। सोलह वर्ष पर्यन्त प्राचार्य पदपर रहकर विभिन्न शास्त्रोंमें विद्वानोंको अपनी वाणी सुधारसधारसे तृप्त करते रहे। याज्ञिकजीका स्वर्गवास

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३ नवम्बर १९६५ ई० में हो गया। सन् १९२८ ई० में 'संयोगितास्वयंवरम्'का; सन् १९२९ ई० में 'छत्रपतिसाम्राज्यम्'का और सन् १९३१ ई० में 'प्रतापविजयम्'का प्रकाशन हुआ।

इस नाटककी कथावस्तु इतिहास सम्मत है। महाराष्ट्र-केशरी छत्रपति शिवाजीके शौर्यपूर्ण कार्यों और उनके साम्राज्य स्थापनोद्योगको प्रस्तुत नाटकमें अंकित किया गया है। समस्त नाटकमें सन् १६४६-१६७४ ई० तककी शिवाजीके जीवन कार्योंसे सम्बन्धित घटनाएँ निबद्ध हैं। इन घटनाओंका आधार ग्रैण्डडफ, सर देसाई, मैंकमिलन, श्रीपादशास्त्री और मैंकरके ग्रन्थ हैं। शिवाजी द्वारा स्वराज्यकी स्थापना करना ही इस नाटकका मुख्य प्रयोजन है।

नाटक दस अंकोंमें विभक्त है। प्रथम अंकका नाम 'साम्राज्योपक्रम' है। प्रस्तावनाके पश्चात् शिवराज अपने मित्रों—एसाजी, बाजाजी और तानाजीके साथ मंचपर दिखलायी पड़ते हैं। प्रारम्भमें एसाजी, बाजाजी और तानाजी आपसमें यवन शासकोंकी अत्याचारी नीति तथा उनकी कृपापर जीवित रहनेवाले क्षत्रिय राजाओंके व्यवहारके सम्बन्धमें बातचीत करते हैं—'सभी क्षत्रिय नरेश अपने स्वार्थके वशीभूत हो परस्पर कलह करके यवन सम्राट्की शरणमें सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं, यही कारण है कि आज भारतीय तेजसे हीन हो रहे हैं'। इसी समय शिवाजीने आपसी विवादको समाप्त करनेकी दृष्टिसे कहा—'हमारी इस दशाका कारण भारतके क्षत्रिय नरेश ही हैं जो यवनों जैसा आचरण करते हैं। अतएव हमें अधर्मी और अन्यायी शासकोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए स्वतन्त्र साम्राज्यकी स्थापना करनी है'। इसी समय सेवकसे समाचार प्राप्त होता है कि भगिनीको साथ लेकर गाँव जाते हुए नेताजीको बीजापुरके सैनिकोंने मार डाला। इस सूचनासे शिवाजीका क्रोध और बढ़ जाता है। उनके मुखसे आवाज निकलती है कि हमलोग एकमत होकर धर्मराज्यकी स्थापनाके लिए कटिबद्ध हो जायँ। सभी उनके विचारोंसे प्रभावित होते हैं और सहायता करनेका वचन देते हैं। साम्राज्य-स्थापनाके प्रयासका समाचार जानकर तोरणदुर्गका रक्षक उपस्थित होता है और उसका अधिकार शिवाजीको सौंप देता है। दुर्ग प्राप्त हो जानेसे सभीको प्रसन्नता होती है।

द्वितीय 'निधि-प्राप्ति' अंक है। इस अंकमें सर्वप्रथम चाकणदुर्गके अधिकारमें आनेकी सूचना है। नेताजी शस्त्रास्त्रकी शिक्षा प्राप्त कर राजमाची दुर्गमें प्रवेश करते हैं। बीजापुरके सैनिक उन्हें बन्दी बना लेते हैं। वे यवनवेश धारण कर लोहगढ़ दुर्गमें शिवराजसे भेंट करते हैं। इसके पश्चात् तोरणदुर्गमें शिवराज भविष्यके कार्यक्रमपर विचार-विमर्श करते हैं। धनाभावके कारण शस्त्रास्त्रोंके संग्रह और सैन्य-संगठनमें कठिनाई उपस्थित हो रही है। शिवाजी नेताजीके संकेतानुसार भवानी मन्दिरमें जाकर आराधना करते हैं। आकाशवाणी द्वारा कार्यसिद्धि अवगत कर प्रसन्न होते हैं। जीर्णमन्दिरके एक कोनेसे पत्थरोंको हटाया जाता है और खोदनेपर धनराशि उपलब्ध होती है। इस धनराशिसे विदेशी व्यापारियोंके हाथसे शस्त्रास्त्र खरीदे जाते हैं।

तीसरा अंक 'राज्यव्यवस्थिति' नामक है। इस अंकके प्रारम्भमें शिवराज राजगढ़दुर्गमें मन्त्रियों सहित राज्यव्यवस्थाके सम्बन्धमें विचार करते हैं। इसी समय द्वारपाल कोंकण प्रदेशसे आये हुए गोलवलकर सामन्तकी सूचना देता है। इस सामन्तने 'भवानी' नामक अद्भुत कृपाण शिवाजीको भेंट की। अनन्तर द्वारपाल द्वारा कल्याणविजयकी सूचना मिलती

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसके अनन्तर सात सौ बीजापुर सैनिकोंकी सूचना प्राप्त होती है कि वे बीजापुर नरेशका त्याग कर शिवाजीकी सेनामें प्रविष्ट हो गये हैं। इस प्रकार शनैः शनैः शिवाजीकी सेना वृद्धिगत होने लगती है।

बीजापुरनरेश द्वारा शिवाजीके पिताजीके बन्दी बनाये जानेका समाचार सुनकर शिवराज यवन सम्राट् दिल्लीपतिके लिए रघुनाथ पन्तको प्रेषित करते हैं।

चतुर्थ अंकका नाम 'दूतभेद' है। विष्कम्भक द्वारा 'भवानी-प्रतिष्ठा-महोत्सव' की सूचना प्राप्त होती है। शिवाजी गुरु रामदासके साथ विचार-विमर्श करते हैं। रामदासजीके चले जाने पर बीजापुरनरेशकी ओरसे सन्धि प्रस्ताव प्राप्त होता है। शिवाजी प्रजाकी हितकामनासे उसे स्वीकार करते हैं। पश्चात् पन्तोजी गोपीनाथको शत्रुके मनकी बात जाननेके लिए भेजा जाता है। शत्रुदूत आकर कहता है कि हमारे सेनापति किसी प्रकार आपको बन्दी बनाकर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करना चाहते हैं। शिवराजने दूतको उत्तर दिया—'सेनापतिसे कहो कि एकाकी शिविरमें मिलकर मुझे हस्तगत कर सकते हैं। यह सूचित करो कि सेनासे घिरे रहनेके कारण आपके पास आनेमें शिवराज भयभीत होता है'। दूतकी इच्छानुसार अपना दूत भी भेज कर इस प्रकारकी सूचना दे दी। शिवाजीने बघनखसे सज्जित होकर अंगरक्षक तानाजीके साथ एकान्त शिविरमें मिलने जानेका निर्णय किया। अपने कुछ सैनिकोंको पर्वतकी उपत्यकामें छिपकर रहने और शृंगी-ध्वनिके संकेतानुसार आक्रमण करनेका आदेश भी दिया।

पञ्चम अंक 'आत्मसमर्पण' है। विष्कम्भक द्वारा शिवराज द्वारा यवन सेनापतिके वधका समाचार प्राप्त होता है। विशालगढ़ दुर्गमें सेवकों सहित शिवराज उपस्थित होते हैं। शत्रुदलकी बाढ़ रोकनेके लिए बाजीका प्रस्थान। शत्रुदलसे युद्ध करते हुए बाजी वीर गतिको प्राप्त होता है, यह सूचना सैनिक द्वारा शिवाजीको प्राप्त होती है। यवनराजकी कूटनीतिको ज्ञातकर शिवाजी सतर्क हो जाते हैं और उचित आदेश प्रदान कर राजकार्योंका निरीक्षण करनेके लिए सभाभवनमें चले जाते हैं।

छठा अंक 'छलप्रबन्ध' नामक है। सिंहगढ़दुर्गमें नेताजी और मंत्रीसे परस्पर वार्ता और अरक्षित मुगलप्रदेशोंके अधिकृत हो जानेकी सूचना प्राप्त होती है। दिल्ली नगरसे यवन तपस्वी आता है और सूचित करता है कि दक्षिण पथका राज्यपाल आपको बन्दी बनानेके लिए पूना नगरमें बैठकर आक्रमणकी योजना बना रहा है। शिवराज मुगलसेनामें स्थित मराठा सेनापतिके पास एक बारात निकालनेको मुगल सेनापतिसे आज्ञापत्र प्राप्त करनेके लिए सन्देश भेजते हैं। इस सन्देशमें एक योजना भेजी गयी कि वेष बदलकर हम लोग बाराती रहेंगे। अपने साथ पच्चीस सैनिक, अमात्य और पदाति सेनाके अध्यक्षको रहनेका आदेश कर दिया। मन्त्रीने मुगलसैनिकोंको धोखा देनेके लिए एक योजना भी तैयार की। इसके पश्चात् शिवराज राजमाताके दर्शनार्थ चले गये।

सप्तम अंक 'मोगलेश-अनुसन्धान' नामक है। योजनाको कार्यान्वित किया गया। शिवराजने सम्राट्के मामाके महलमें घुस कर उसकी अँगुलियाँ काट लीं। सहायतार्थ उपस्थित उसके पुत्रको शिवराजके अंगरक्षक सैनिकने मार डाला। मुगल सेनाने भागते हुए शिवराजका पीछा किया, पर कायज मार्गमें प्रकाश देखकर सेना उधर चली गयी और निराश होकर लौट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आई, इससे रुष्ट होकर दक्षिणके राज्यपालने सिंहगढ़दुर्ग पर घेरा डाल दिया, पर शिवराजकी तोपोंने उसे परास्त कर दिया। पश्चात् शिवराज जयसिंहसे उसके सैन्य शिविरमें भेंट करते हैं। विचार-विमर्शके पश्चात् सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर होते हैं। जयसिंह युद्ध विराम हेतु उदय सिंहको पदाति सेनानायकको आदेश सुनानेके लिए भेजता है। यवनराजके आदेशानुसार जयसिंह शिवराजको बहुमूल्य वस्त्राभूषण प्रदान करता है।

अष्टम अंक 'प्रयाण प्रबन्ध' है। इसमें शिवराज और यवनराजके समागमका जयसिंह द्वारा प्रबन्ध किया गया है। जब शिवराज अपने सभी साथियों सहित वहाँ पहुँचे तो उन्हें वहीं घेर कर बन्दी बना लिया गया। शिवराजने मिष्ठान्न ले जानेवाली पच्चीस टोकरियाँ खरीदवा कर मँगायीं और आरम्भमें पाँच टोकरियाँ मिठाइयोंसे भरकर बाहर भेजी गयीं। मुगलसैनिकोंने भलीभाँति निरीक्षण किया। उन्हें विश्वास हो गया कि इसमें कोई छल नहीं है। पश्चात् टोकरीमें शिवराज अपने पुत्र सहित बैठकर निकल गये। उनके स्थानपर हीरोजी रोगाक्रान्त होनेका बहाना कर मुगलोंको भ्रममें डालता रहा। अन्तमें वह भी सबके साथ वेश बदल कर निकल गया और प्रयागके मार्गमें शिवाजीसे मिला। प्रातःकाल मुगल रक्षकने शिवराजको शयन स्थान पर न पाकर यवनराजको सूचित किया।

नवम अंक 'दुर्गविजय' है। प्रधान मन्त्रीने राजमाताको सूचना दी कि छहमें से पाँच दुर्गोंको अधिकारमें कर लिया गया है। उसके बाद कुछ साधु आते हैं। राजमाता साधुओंसे पुत्र शिवराजका समाचार जानना चाहती हैं। प्रधान साधु राजमाताको गंगाजलसे पूर्ण कलश देकर कहता है कि अभिषेक के लिए तीर्थोंसे मैं जल ले आया हूँ। उस साधुकी मुखाकृतिको देखकर राजमाताके हृदयमें शिवराजका सन्देह होता है। अन्तमें शिवराज प्रकट हो जाते हैं। माताको अपार हर्ष होता है। प्रधानमंत्री चाकण आदि दुर्गोंको जीत लेनेकी सूचना शिवराजको देता है। शिवराजने सिंहगढ़के जयार्थ तानाजीके सेनापतित्वमें सेनाको प्रस्थान करनेका आदेश दिया। दक्षिणके राज्यपालका दूत उपस्थित होकर सार्वभौम सम्राट्का पत्र देता है। अमात्य पत्र पढ़कर सुनाता है—"शिवराजको राजपद पर प्रतिष्ठित कर पड़ौसके दो राज्योंके चतुर्थांश ग्रहण करनेका अधिकार प्रदान किया जाता है"। शिवराजने मन्त्रीको आदेश दिया—"सशक्त सेना द्वारा चतुर्थांश ग्रहण करनेके बहाने महाराष्ट्र प्रदेशको अपने अधिकारमें कर लेना चाहिए। इस समय मुगल सम्राट् गान्धार-विजयमें व्यस्त है। मैं कर संग्रहार्थ गुर्जर प्रदेश जा रहा हूँ। वापस लौटने पर साम्राज्याभिषेक सम्पन्न किया जायगा।"

दशम अंकके प्रारम्भमें सिंहगढ़दुर्गके विजयकी सूचनाके साथ उदयभान और तानाजीके वीर गति प्राप्तिकी भी सूचना मिलती है। दो राजपुरुषोंका वार्तालाप आरम्भ होता है। दूसरा राजपुरुष बतलाता है कि सर्वत्र शिवराजकी विजय-दुन्दुभि बज रही है। कल्याण प्रदेशको आबाजीने, प्रधान मंत्रीने माहुलीदुर्गको और प्रतापरावने साल्हेर दुर्गको अधिकारमें कर लिया है। वार्तालाप करते हुए दोनों साम्राज्याभिषेक-मण्डपके निकट पहुँचते हैं। अभिषेक सानन्द सम्पन्न होता है। शिवाजी अपनी राज्ञी सहित रत्नसिंहासन पर आसीन होते हैं। ब्राह्मणोंको वस्त्राभूषण दिये जाते हैं। युद्धभूमिमें आत्मोत्सर्ग करनेवाले वीरोंके कुलवालोंको राज्यकुल वैभवसे सम्मानित करनेका आदेश शिवाजीने प्रधामन्त्रीको दिया। अन्तमें गुरुचरण श्री रामदासने उपस्थित होकर राष्ट्रसमृद्धिका अमोघ आशीष नाटकके 'भरतवाक्य' द्वारा प्रदान किया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐतिहासिकता

शिवाजीका जन्म सन् १६२७ ई० में तथा मृत्यु सन् १६८० ई० में हुई थी। इस नाटककी कथावस्तु इसी बीचकी है। इतिहासके अनुसार शिवाजी द्वारा अफजलखाँको मारा जाना और पूनापर शिवाजी द्वारा आक्रमण करना सन् १६५९ ई० की घटना हैं। शाइस्ताखाँ का आक्रमण और उसका खिड़कीके मार्गसे भागना सन् १६६३ में घटित हुआ है। जयसिंह द्वारा शिवाजीको दरबारमें १२ मई सन् १६६६ ई० में लाया गया है। मिठाईकी टोकरीमें शिवाजीका भागना भी इतिहास सम्मत है। शिवाजीका राज्याभिषेक जून १६७४ ई० में हुआ है।

प्रस्तुत नाटककी प्रायः सभी घटनाएँ इतिहाससे सिद्ध हैं। नाटककारने अपने विचारबिन्दु से भी नयी घटनाओंकी कल्पना की है। शिवाजीके कर्मठ वीर, त्यागी जीवनका चित्रण इस नाटकमें किया गया है। 'निधिप्राप्ति'की घटना कल्पित प्रतीत होती है, इतिहाससे इस घटना का मेल नहीं बैठता। शिवाजीने अट्ठाईस वर्षों तक बीजापुर और दिल्ली नरेशोंसे संघर्ष किया था, तत्पश्चात् उनका राज्याभिषेक हुआ। शौर्य और वीरताकी भावना नाटकमें आद्यन्त व्याप्त है।

इतिहास बतलाता है कि औरंगजेबने महाराज जसवन्तसिहको सात हजारी ज़ात और सात हजार सवारका मनसब देकर अहमदाबादका सूबेदार बनाया। इसके एक वर्षके पश्चात् इनको गुजरातसे हटाकर अजमेरकी सूबेदारी दी गई। वि० सं० १७१९ में इन्हें दक्षिणके सूबे-दार शाइस्ताखाँकी सहायताके लिए भेजा गया। इस समय शिवाजी मुसलमानोंको तंग कर रहे थे। जसवन्तसिहका शाइस्ताखाँके साथ मतभेद हो गया। फलतः जसवन्तसिह भी गुप्तरूपसे शिवाजीकी सहायता करने लगे। शिवाजीने रात्रिमें शाइस्ताखाँपर आक्रमण किया। भाग्यवश वह घायल होकर भाग निकला, पर उसका पुत्र अबुलफ़तह मारा गया। बादशाह शाइस्ताखाँ की इस गफ़लतसे बहुत अप्रसन्न हुआ।[1]

तीन-चार वर्ष बाद वि० सं० १७२४ में शाहजादे मोअज्ज़मके साथ जसवन्त सिंह दक्षिणकी ओर भेजा गया। यहाँपर शिवाजी और शाहजादे मोअज्ज़मके बीच सन्धि करा दी। कुछ समय बाद बादशाहने मोअज्ज़मके स्थानपर महावतखाँको दक्षिणका सूबेदार बनाकर भेजा। जसवन्तसिह लौटकर मारवाड़की ओर चले आये।[2]

शिवाजीकी निधि प्राप्तिकी घटनाका विश्लेषण कर उसकी ऐतिहासिकता बीजापुरकी पैदावार तथा कल्याणकी मालगुजारीके लूटनेके साथ जोड़ी जा सकती है। इतिहासमें बताया गया है कि प्रति वर्ष कल्याणकी मालगुजारी गाड़ी भर कर और जानवरों पर लाद कर बीजापुर पहुँचायी जाती थी। शिवाजीने इसका पता लगा लिया और पुरन्दरके पास उसपर एकाएक छापा मारकर समस्त खजाना लूट लिया। उन्होंने कहा—"यह कोई अन्यायपूर्ण लूट नहीं है, यह तो स्वराज्यकी भिक्षा है। मुसलमान हमारे धर्मका विनाश करनेपर तुले हुए हैं, उसका

१. विश्वेश्वरनाथ रेउ : भारतके प्राचीन राजवंश, तृतीय भाग, प्रकाशक—हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सन् १९२५ ई०, पृ० २०३।

२. वही, पृ० २०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दण्ड हम उन्हें खुले रूपमें देना चाहते हैं। राज्यका खर्च चलानेके लिए इस प्रकारकी झोलीकी आज वड़ी सख्त जरूरत है। इस घटनाका सम्बन्ध हम निधि प्राप्तिसे जोड़ सकते हैं।[1]

मोरेकी पराजयके लगभग एक वर्ष बाद कल्याणका प्रान्त शिवाजीके अधिकारमें आ गया और उन्होंने उत्तरोत्तर समग्र कोंकण प्रान्त तथा पश्चिमी समुद्र तट अपने अधीन कर लिया।

शिवाजीने सन् १६५७ ई०में दक्षिणके कई प्रदेशोंको जीता। बीजापुरी सरदार पश्चिमी घाटकी पहाड़ियों और जंगलोंमें युद्ध करनेमें हिचकते थे। बीजापुरी सरदारोंमें अब्दुल भटारी, जिसका उपनाम अफ़जलखाँ था, प्रथम श्रेणीका दरबारी था। वह राज्यमें सबसे अच्छा सेनानायक माना जाता था। बहलोल लोदी और रन्दौलाखाँका वह श्रेष्ठी था और मुगलोंसे लड़े हुए हालके युद्धमें उसने विशेष वीरता और प्रवीणताका प्रदर्शन किया था। अफ़ज़लके साथ १०,००० घुड़सवारोंका रिसाला भेजा गया। शिवाजीकी मावली पैदल सेना जावालीकी विजय के फलस्वरूप ६०,००० थी और उन्होंने बीजापुरकी विच्छिन्न सेनामें से पठान सेनाका भी एक शक्तिशाली सेना दल बना लिया था। अतएव अफ़ज़लखाँ शिवासे खुले युद्धसे बचना चाहता था।[2]

अप्रैल १६५७ ई० में बीजापुर सरकारने मालवाके समस्त देशमुखोंको एक परिपत्र भेजा और उनसे अफ़जलखाँको अपनी-अपनी सेनाकी टुकड़ियोंके साथ शामिल होने और शिवाजीपर विजय प्राप्त करनेको लिखा। आदिलशाहके अधीन सरदार होनेके कारण, वे कानूनन उसकी आज्ञा माननेके लिए बाध्य थे;[3] फलतः सभीने अफजलखाँकी सहायता की। अफ़ज़लखाँकी सेनाने 'वाई'में अपना शिविर स्थापित किया। दोनों पक्षोंकी ओरसे कई महीनों तक तैयारी चलती रही। 'वाई' अफ़जलकी सरकारका प्रधान नगर था और यहाँ उसके मित्र और पुराने अधिकारी भी निवास करते थे।

मालवदीमें डेरा डालकर अफ़ज़लखाँने अपनी आतंककी नीति चालू रखी जिससे शिवाजी भयभीत होकर उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। उसने आसपासके प्रदेशोंमें प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरोंको लूटने और नष्ट करनेके लिए अपने रिसालेके मजबूत दल भेजे। इस प्रकार जेजूरी, तुलजापुर और अन्य पवित्र नगर लूट लिये गये और वहाँके निवासियोंसे बलात् द्रव्य वसूल किया गया। फलतः अफ़ज़लखाँकी क्रूरता और धार्मिक कट्टरताका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त हो गया। अफ़ज़ल उत्तरकी ओर बढ़कर पूनापर अधिकार करना चाहता था, पर शिवाजीके अवरोधके कारण वह अपनी महत्त्वाकांक्षाकी पूर्त्ति नहीं कर सका। अतएव उसने षड्यन्त्र द्वारा शिवाजीको अपने अधीन करनेका विचार किया।

शिवाजीने जावलीकी विजयके बाद वाईके समीप अपनी स्थिति दृढ़ करनेके लिए प्रतापगढ़ दुर्गका निर्माण किया। जब अफ़जलखाँको यह मालूम हुआ कि शिवाजी प्रतापगढ़में ही हैं, तो

१. गोविन्द सखाराम सरदेसाई, राजा शिवाजो, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्रा० लि० आगरा, सन् १९६२ ई०, पृ० ४७

२. सर जदुनाथ सरकार : शिवाजी और उनका युग, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी आगरा, सन् १९४९ ई०, पृ० ५७

३. वही, पृ० ५८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह सीधे वाईकी ओर उनसे युद्ध करनेके लिए रवाना हुआ। प्रतापगढ़का किला एक दुर्गम ऊँची और पतली पहाड़ी चोटी पर स्थित था। इस किलेपर आक्रमण कर अफजल सफलता प्राप्त नहीं कर सकता था।

शिवाजीको भी अफजलखाँ पर विजय प्राप्त करनेमें कठिनाई दिखलाई पड़ रही थी। अतः वह भी अपने प्रतिद्वन्द्वीको किसी अन्य षड्यन्त्र द्वारा परास्त करना चाहते थे। फलतः वह भी किसी अवसर विशेषकी तलाशमें थे।

इधर अफजलखाँने वाईके कुलकर्णी कृष्णाजी भास्करको शिवाजीके पास शिविरमें मिलनेका सन्देश ले जानेके लिए तैयार किया। इसमें खानकी यह चाल स्पष्ट थी कि शिवाजी को धोखेसे मुस्लिम शिविरमें ले आया जाय, जहाँ उन्हें या तो गिरफ्तार कर बीजापुर ले जाने की सरलतासे युक्ति निकाली जाय अथवा अन्य प्रकारसे उनका नाश कर दिया जाय। शिवाजी इस षड्यन्त्रको समझ गये। जब कृष्णाजी भास्कर सन्देश लेकर आया तो शिवाजीने खानके प्रति पितृ तुल्य श्रद्धा व्यक्त करते हुए प्रार्थना की कि अपने अविवेक पूर्ण आचरणके कारण जिस अवस्थामें वे फँस गये हैं, उसमें से खान ही उन्हें निकाल सकते हैं। अतः वह शिविरमें जाकर मिलनेके लिए तैयार हैं। इस प्रकार खानके प्रति आस्था प्रकट करनेसे कृष्णाजी भास्कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और जब शिवाजीकी ओरसे आश्वासन लेकर वहाँ पहुँचा तो खान को पूरा-पूरा विश्वास हो गया कि वह बिना खुली लड़ाईके ही अपने उद्देश्योंकी सिद्धि कर लेगा। उसने अपने सैनिकोंको आदेश दिया कि जैसे ही शिवाजी बाहर निकले, वे उन्हें पकड़ लें। शिवाजीको शत्रुकी इन योजनाओं एवं गतिविधियोंका समाचार अपने गुप्तचरों द्वारा समय पर मिल गया। फलतः उन्होंने अपने चुने हुए सैनिकोंको गुफाओंमें नियुक्त कर दिया।

इधर पन्ताजी गोपीनाथने अपने मिष्ट भाषण और उत्साही वक्तव्यों द्वारा खानको प्रतापगढ़ दुर्गके नीचे आकर शिवाजीसे मिलनेके लिए राजी कर लिया। पन्ताजीने खानको विश्वास दिला दिया कि एक बार दोनों की भेंट हो जानेपर शिवाजी खानके इच्छानुसार ही अनुसरण करेंगे।

इस महत्त्वपूर्ण मिलनके लिए बृहस्पतिवार, १० नवम्बर १६५९ ई०का दिन निश्चित हुआ। प्रातः शिवाजीने देवी भवानीकी दैनिक पूजा समाप्त की, अल्पाहार किया और वस्त्र धारण किये, जिसमें कोटके नीचे लोहेकी जंजीरोंका कवच था और पगड़ीके नीचे सिरपर धातु की टोपी थी और एक लम्बा श्वेत ढीला वस्त्र इन सबके ऊपर था, जिसकी बाँहें लम्बी और चौड़ी थीं और उनके अन्दर एक हाथमें कटार तथा दूसरे हाथकी अंगुलियोंपर बाघनख थे। पूरी तैयारी करनेके उपरान्त अपनी माताका आशीर्वाद प्राप्त कर चल दिये[1]।

खान पहलेसे ही आ गया था और शिवाजीकी प्रतीक्षा कर रहा था। जब कृष्णाजी भास्करने शिवाजीके आगमनका समाचार दिया और जैसे ही शिवाजी अन्दर आये, खान उठ खड़ा हुआ और उन्हें छातीसे लगा लिया। खानने अपने बायें हाथसे शिवाजीको मजबूतीसे पकड़ लिया और ज्यों ही कटार भोंकनेको उद्यत हुआ, शिवाजीने पूर्ण सूझ-बूझसे काम लिया

---

१. गोविन्द सखाराम सरदेसाई, मराठोंका नवीन इतिहास, द्वितीय संस्करण, सन् १९६३ई० पृ० १२६-१२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अपनी कटार तथा बाघनख खानके विशाल शरीरमें भोंक दिये और उसकी आँतें बाहर निकाल लीं। खान देखते ही देखते शान्त हो गया। इस प्रकार अफजलखाँ काण्डसे बीजापुर राज्यका पतन हुआ।

इस इतिहास प्रसिद्ध घटनाकी सूचना नाटकके पञ्चम अंकमें गुप्तचर द्वारा बतलायी गयी है। वस्तुतः इस नाटकमें शिवाजीने स्वराज्य स्थापनाके लिए जो प्रयत्न किये थे, उनका अंकन इतिहास प्रसिद्ध घटनाओंके आधार पर किया गया है। नाटकके प्रारम्भमें ही कहा है—

उद्धर्तुमेनां परिपीडितां भुवं, धर्मच्युतैरुन्मदराजसंघैः।
साम्राज्यसंस्थापनमन्तरेण, न वर्ततेऽन्याऽर्थकरी प्रतिक्रिया ॥ छत्र० सा० १।८

अर्थात् इस भूमिको धर्मच्युत, उन्मद शासकोंके अत्याचारसे मुक्त करनेके लिए स्वतन्त्र साम्राज्य स्थापनाके अतिरिक्त अन्य कोई श्रेयस्कर मार्ग नहीं है।

शिवाजी द्वारा दुर्गोंकी विजयका इतिवृत्त भी इतिहास सम्मत है। मुगल सम्राट् द्वारा गान्धार विजय तथा सिंहगढ़की विजयके लिए तानाजीके सेनापतित्वमें सेनाका प्रस्थान और विजय लाभ भी ऐतिहासिक हैं। आबाजी द्वारा कल्याण प्रदेश, प्रधानमन्त्री द्वारा माहुलीदुर्ग और प्रतापराव द्वारा साल्हेर दुर्गका अधिकृत किया जाना अर्ध ऐतिहासिक है। इसी प्रकार पात्रोंमें तानाजी, आवाजी, जयसिंह, उदयसिंह, जसवन्तसिंह, दादाजी आदि तो ऐतिहासिक हैं, पर प्रतापराव, गागाभाट आदि कतिपय पात्र कल्पित प्रतीत होते हैं।

नाटकीय घटनाओंका गठन इतिहासके आलोकमें किया गया है। इतिहासानुसार शिवाजीका राज्याभिषेक रायगढ़में ५ जून १६७४ ई० को सम्पन्न हुआ है, पर नाटकमें तिथि आदि की सूचना प्राप्त नहीं है। राज्य प्राप्तिके पश्चात् घटित होने वाली घटनाओंका निर्देश नाटकमें नहीं आया है। गुरु रामदासके आशीर्वादसे नाटक समाप्त हो जाता है। १९ नवम्बर १६७५ ई० में शिवाजीने सतारापर अधिकार किया था। और बीजापुरकी सत्ता भी हस्तगत की थी। सन् १६७६ ई० में शिवाजीने खटाव पर अधिकार किया था। शिवाजीने ५ जुलाई १६७७ ई० में शेरखाँ लोदीका मानमर्दन किया था। शिवाजीके चरित्रकी प्रशंसा उन्हींके मंत्री रामचन्द्र नीलकण्ठने की है।

"युग-प्रवर्त्तक छत्रपति प्रारम्भमें एक मुसलमानके अधीन थे, परन्तु पन्द्रह वर्षकी आयु से ही उन्होंने पूनाकी अपनी छोटी सी जागीरकी स्वतन्त्रताके लिए कार्य आरम्भ कर दिया। इसी लघु आरम्भको उन्होंने अपनी भावी महत्ताका आधार बनाया। उन्हें केवल अपने ही प्रयासों और उपक्रमोंका भरोसा था।.........अपने चातुर्यसे उन्होंने इन सबको घेर लिया और अपने प्रत्येक शत्रुको पराजित किया।..... ...शत्रुद्वारा अधिकृत प्रदेशोंमें उन्होंने निर्भयतापूर्वक अपने लिए गढ़ों और सुरक्षा स्थानोंका निर्माण किया।.........शिवाजीके शासनमें डकैती और अन्यायका लोप हो गया[1]।

---

१. मराठोंका नवीन इतिहास, शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी प्राइवेट लिमिटेड, सन् १९६३ पृ० २७०-७१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भट्टारकयुगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ

कवि या लेखक अपने चतुर्दिक् फैले हुए विश्वको केवल बाह्य नेत्रोंसे ही नहीं देखता बल्कि अन्तश्चक्षु द्वारा उसके सौन्दर्य एवं वास्तविक रूपका अवलोकन करता है और जगत्के अनुभवके साथ अपना व्यक्तित्व मिलाकर जड़चेतनात्मक विश्वका निरीक्षण करता है। वह सर्वोत्तम क्षणोंका साक्षात्कारकर अपने सौन्दर्य बोधको बाह्य जगत्की अनेकरूपता और अन्तर्जगत्की रहस्यमयी विविधता अभिव्यक्त करता है। यही कारण है कि साहित्य किसी भी जाति या सम्प्रदायका दर्पण होता है और उसमें लोकोत्तर आह्लाद उत्पन्न करनेकी क्षमता विद्यमान रहती है।

जैन साहित्यमें संस्कृत-काव्यका सूत्रपात आचार्य समन्तभद्रके स्तोत्र-साहित्यसे होता है, पर विकासकी चरम सीमा भट्टारक युगमें पाई जाती है। विविध विषयक विपुल रचनाएँ इस युगमें लिखी गई हैं। रचना परिमाणकी दृष्टिसे यह युग पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यह सत्य है कि इस युगमें कुछ ही भट्टारक प्रतिभाशाली हुए हैं। पर ग्रन्थ रचना और ग्रन्थ संरक्षण के क्षेत्रमें प्रत्येक भट्टारकने योगदान दिया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाका प्रौढ़ अध्ययन भले ही भट्टारकोंने न किया हो पर पुरानी परम्पराके अनुकरणपर उक्त भाषाओंमें पर्याप्त साहित्यका प्रणयन किया है। दर्शन, सिद्धांत, ज्योतिष, आयुर्वेद, काव्य, अलंकार प्रभृति विषयोंकी अभिज्ञता भट्टारकोंमें वर्त्तमान थी। ये केवल मठाधीशके रूपमें ही अपनी विद्याबुद्धिका चमत्कार जन-साधारणके समक्ष उपस्थित नहीं करते थे बल्कि राजा महाराजाओं और सेठ साहूकारोंको प्रेरित कर स्वयं साहित्य-सृजनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों और कवियों से भी ग्रंथ रचना कराते थे। धर्मप्रचार करना, जन साधारणको धर्मके प्रति श्रद्धालु बनाना, स्वयं ग्रंथ लिखना, अन्य विद्वानोंसे लिखवाना एवं सरस्वतीका संरक्षण करना भट्टारकोंका जीवन लक्ष्य था। कई भट्टारकोंके कार्यकालमें आर्ष ग्रन्थोंकी सहस्रों पाण्डुलिपियाँ तैयार कराई गयी हैं। व्रत-विधान, पूजा-पाठ एवं जीवनोपयोगी औषधि तन्त्रादि विषयक साहित्यका प्रणयन इस युगमें निश्चयतः सर्वाधिक हुआ है।

भट्टारक सम्प्रदायके उल्लेख नवीं शतीसे ही उपलब्ध होने लगते हैं पर इस युगका आरम्भ १३वीं शतीसे होता है। अतः १३वीं शतीसे १८वीं शती तकका समय भट्टारक युग के अन्तर्गत परिगणित है। इन छह सौ वर्षोंके कालमें साहित्य और संस्कृतिके प्रचारका ध्वज भट्टारक वर्गके ही हाथमें था। आरम्भमें यह वर्ग निश्चयतः निस्पृही, त्यागी, ज्ञानी और जितेन्द्रिय था। हाँ, उत्तरकालमें भट्टारकोंमें ऐसे दोष अवश्य दृष्टिगत होते हैं जिन दोषोंके कारण यह वर्ग अपने कर्तव्यसे च्युत तो हुआ ही, साथ ही साहित्यके स्तर और धर्मके स्वरूप विवेचन में भी अनेक कमियाँ उत्पन्न हो गईं।

दूसरी ओर इस काल खण्ड में श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मुनि और यतियोंका वर्ग भी साहित्य सृजनमें प्रवृत्त था। इस वर्गके लेखक और कवियोंने भी भट्टारक युगीन प्रवृत्तियोंका अनुसरण किया। साथ ही कुछ ऐसी साहित्यिक विधाएं भी प्रादुर्भूत हुईं जिनका साहित्यिक मूल्य पूर्व-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युगीन साहित्यकी अपेक्षा कुछ भिन्न था। यों तो भट्टारकोंके समान ही श्वेताम्बर सम्प्रदायके कवि और लेखक भी नवीन भावों और सन्दर्भोंके स्थानपर समस्या पूर्त्यात्मक या हेमचन्द्राचार्य जैसे प्रतिभाशाली आचार्योंके पदचिह्नोंका अनुसरण करते रहे। संक्षेपमें उक्त छह सौ वर्षोंके कालखण्डको जैन संस्कृत साहित्यका पुनरावृत्तकाल भी कहा जा सकता है। हम इस कालखण्ड को भट्टारक युगके नामसे इसलिए अभिहित करेंगे कि इस युगमें भट्टारकोंने ही प्रमुख रूपसे बहुसंख्यक रचनाएँ निबद्ध की हैं। इस युगकी प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियाँ निम्नांकित हैं :—

१. पौराणिक चरितकाव्य
२. लघु प्रबन्ध काव्य
३. सन्देश या दूतकाव्य
४. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक साहित्य
५. सन्धानकाव्य
६. सूक्ति साहित्य
७. स्तोत्र एवं पूजा-भक्ति साहित्य
८. नाटक
९. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक साहित्य
१०. समस्यापूर्त्यात्मक साहित्य
११. न्याय, दर्शन, और आध्यात्मिक साहित्य
१२. संहिता विषयक विविध साहित्य
१३. टीका-टिप्पणी विषयक विविध साहित्य
१४. कथा और पुराण विषयक साहित्य
१५. कोष, छन्द एवं अलंकार विषयक साहित्य

१. पौराणिक चरित काव्य विषयक प्रवृत्ति

जैन साहित्यमें चरित नामान्त काव्यों का प्रारम्भ जटासिंहनन्दिके वराङ्गचरितसे होता है। इस साहित्यिक प्रवृत्तिमें एक साथ चरित, दर्शन, आचार, रोमांच, प्रेम, कामतत्त्व और भक्तितत्त्वका समवाय पाया जाता है, भट्टारक युगीन चरित काव्योंमें चरित्र-विकास की अपेक्षा पौराणिकता ही प्रमुख है। इस कोटिके काव्योंमें पौराणिक कथाओंको ग्रहण कर वर्णन विस्तार और चमत्कारके बिना ही कथाके विकासक्रममें चरितों को निबद्ध करनेका प्रयास किया है। परिणाम यह निकला है कि इस युगके पौराणिक चरित काव्य सम्प्रदाय विशेषकी सीमामें आबद्ध होकर धर्मकथा–काव्य बन गये हैं। काव्य चमत्कार एवं रसोद्बोधनके लिए जिस सौंदर्यानुभूतिकी अभिव्यंजनासे कवि पौराणिक इतिवृत्तको काव्य बनाता है उसका प्रायः अभाव ही इस युगके काव्यमें रह गया। संक्षेप में इस प्रवृत्तिकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. कथावस्तुमें गहनताकी अपेक्षा व्यासका समावेश और काव्यके स्थानपर पौराणिक आयाम का विस्तार।

२. सूक्ष्म भावों की अभिव्यंजनाके स्थानपर उपदेश स्थापनाका प्रयास। काव्यके प्रणेताओंने कवि-धर्मका निर्वाह न कर कथावाचकके धर्मका निर्वाह किया है। फलतः काव्य-तत्त्वके स्थानपर उपदेश तत्त्व ही प्रमुख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. घटनाओं, पात्रों या परिवेशकी सन्दर्भ पुरस्सर व्याख्याके स्थानपर केवल वातावरण के सौरभका ही नियोजन महाकाव्योंके वस्तु वर्णनों में इस प्रकारका व्यापक चमत्कार निहित रहता है, जिससे पाठक घटनाओं और पात्रोंके साथ साधारणीकरणको प्राप्त हो जाता है। भाव किसी पात्रविशेषके न होकर जन-साधारणके बन जाते हैं, पर भट्टारक-युगके चरित-काव्योंमें साधारणीकरणकी प्रक्रिया यथोचित रूपमें घटित नहीं हो सकी है। इसका प्रधान कारण यही है कि उस युगके कवियोंने काव्यका वातावरण न उपस्थित कर सीधे कथाका ही आरम्भ कर दिया है। फलतः काव्य रसके स्थानपर पाठकको पौराणिक कथाका रस ही उपलब्ध हो पाता है।

४. कथावस्तुके प्रवाह एवं उसकी मार्मिकताके निर्वाहके हेतु कथानक गठनमें सघनताके स्थानपर शिथिलता ही समाविष्ट है। कथानकमें जिस प्रकारकी श्रृंखला और क्रमबद्धता चरित-काव्यके लिए अपेक्षित है, उसका समावेश इस युगमें न हो सका।

५. आत्मोत्थान या चरितोत्थानके मूल सिद्धान्तोंको काव्यशैलीमें रखनेका प्रयास। वर्णनों और कार्य व्यापारोंके वैविध्यके अभावोंमें उक्त सिद्धान्त काव्यरूपमें उपस्थित न होकर धर्मशास्त्रके रूपमें ही प्रस्तुत हुए हैं। प्रेम, विवाह, मिलन, राज्याभिषेक, सैनिक-प्रस्थान, नगरावरोध, युद्ध, दीक्षा, तपश्चरण आदि का भावुकतापूर्ण वर्णन न होकर केवल कथात्मक वर्णन हुआ है। कर्मफलकी अनिवार्यता दिखलानेके लिए जन्म-जन्मान्तरोंकी कथाएँ भी चलते रूपमें ही आयोजित हैं।

६. चरित्र काव्योंका उद्देश्य रत्नत्रयकी साधना दिखलाना है। आरम्भसे ही इस विद्याके लेखकोंने उक्त उद्देश्यको चरितार्थ किया है। भट्टारक युगके कवि भी चरितका उद्घाटन रत्नत्रयके परिपार्श्वमें करते रहे हैं। अन्तर इतना ही रहा है कि चन्द्रप्रभचरित, प्रद्युम्नचरित आदि ग्रन्थमें लक्षणा और व्यञ्जनाके आधारपर ही रत्नत्रयकी व्याख्या प्रस्तुत की थी; किन्तु भट्टारक युगकी रचनाओंमें अभिधा शक्तिकी ही मुख्यता है। पुरातन कथानकोंकी पुनरावृत्ति होने और काव्यगुणोंके क्षीण होनेके कारण उद्देश्यकी व्यञ्जना काव्यरूपमें न हो सकी।

७. सन्दर्भ और आख्यानोंमें बहुत कम नवीनताका समावेश होनेसे शैलीमें चमत्कार और आकर्षणकी कमी है; इतनेपर भी कथारसकी सरसताने चरितकाव्यमें प्रवाह गुणकी पूर्ण रक्षा की है। पाठक एक साथ उदात्तचरित, भक्ति और चारित्र प्राप्त कर लेता है।

८. दार्शनिक सिद्धान्तोंकी व्याख्या और विश्लेषण भी सामान्यरूपमें निहित हैं, अतः कथानककी रोचकता अक्षुण्ण है।

पौराणिक चरित काव्योंकी प्रवृत्तिका आरम्भ भट्टारक युगमें कवि वर्धमानके वरांग-चरितसे होता है। आरम्भिक और भट्टारक युगीन इस प्रवृत्तिका अन्तर इस काव्यमें सुस्पष्ट रूपमें मिलता है। चरित विश्लेषणकी शैलीका रूपान्तर यहींसे भट्टारकके वरांगचरितसे होता है। इसका समय ई० सन् १३६४ है।[1] और ये दशभक्त्यादि महाशास्त्रके रचयिता वर्धमान मुनिसे भिन्न हैं। इस महाकाव्यमें १३ सर्ग और ११४५ पद्य हैं।[2] कविने अनुष्टुप् श्लोकोंमें

१. जैन शिलालेख संग्रह प्रथम भाग, माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई सन् १९२८ ई० द० २२३।

२. वरांगचरित्र, सोलापुर, सन् १९२७ ई०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१३८३ श्लोक संख्या बतायी है। इस युगके चरित काव्योंमें यह उत्तम रचना है। इस प्रवृत्तिके अनुसरणकर्ता कई भट्टारक हैं।

विक्रमकी पन्द्रहवीं शतीमें भट्टारक सकलकीर्तिने शान्तिनाथ चरित, वर्द्धमानचरित, मल्लिनाथ चरित, धन्यकुमार चरित,[1] सुदर्शन चरित,[2] जम्बूस्वामी चरित और श्रीपाल चरितकी रचना की है। वे सभी पौराणिक चरित काव्य हैं। इनमें न तो वस्तुव्यापार वर्णनोंका विस्तार है और मर्मस्पर्शी सन्दर्भोंकी योजना ही। कथा जीवनव्यापी है अवश्य, पर उसका प्रवाह उस पहाड़ी नदीकी तेजधाराके समान है, जो शीघ्र ही स्थलको प्राप्त कर लेती है। इसी शताब्दीमें ब्रह्मजिनदासने रामचरित और हनुमानचरितकी रचना की है। सोलहवीं शतीमें ब्रह्म नेमिदत्तने सुदर्शन चरित, श्रीपाल चरित, धन्यकुमार चरित और प्रीतिंकर महामुनि चरितका प्रणयन किया। इसी सदीमें शुभचन्द्र द्वितीय द्वारा चन्द्रप्रभ चरित, पद्मनाभ चरित, जीवन्धर चरित, श्रेणिक चरित और करकण्डुचरितकी रचना सम्पन्न हुई है। अन्य चरित काव्योंमें भावदेव सूरिका पार्श्वनाथ चरित (ई० सन् १३५५), जयसिंहका कुमारपाल भूपाल चरित (सन् १३६५ ई०), पद्मनन्दिका वर्द्धमान चरित (ई० सन्‌की चौदहवीं शती), मुनिभद्रका शान्तिनाथ चरित (ई० सन्‌की चौदहवीं शती), पूर्णभद्रके धन्यशालिभद्र चरित और कृतपुण्य चरित (ई० सन् तेरहवीं शती), धर्मधरका नागकुमार चरित (सन् १४५४ ई०), दोड्डय्य कविका भुजवलि चरित (सोलहवीं शती), जयतिलकके सुलसा चरित और हरि विक्रम चरित (सन् १३४९–१४१३ ई०), वादिचन्द्रका सुभग सुलोचना चरित (सन् १५५५ ई० के लगभग) जगन्नाथका सुषेण चरित (सन् १६४३ ई०), पदमसुन्दरके पार्श्वनाथ चरित और जम्बू चरित (विक्रम १७वीं शती) एवं सोमकीर्तिके प्रद्युम्न चरित और यशोधर चरित प्रसिद्ध पौराणिक चरित काव्य हैं। पौराणिक चरित काव्यकी प्रवृत्तिका विस्तार भट्टारक युगमें खूब हुआ है। यशोधरके आख्यानको लेकर सुन्दर चरित काव्य लिखे गये हैं। अहिंसा धर्म और कर्मसंस्कारोंकी प्रबलताका विश्लेषण करनेके लिए हनुमान, सुदर्शन, श्रीपाल और यशोधरकी कथावस्तुमें काट-छाँट कर पौराणिक चरित काव्योंका प्रणयन इस युगकी एक प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति है।

२. लघुप्रबन्ध काव्य

जिन काव्योंमें जीवनव्यापी कथाके होनेपर भी कथा विभाजन आठ या छः सर्गोंसे कममें हो, वे लघु प्रबन्ध काव्य कहलाते हैं। खण्ड या जीवनके किसी अंश विशेषकी कथावस्तुक न केवल होनेसे इन्हें खण्ड काव्य नहीं माना जा सकता है। लघु प्रबन्ध काव्योंमें सर्वश्रेष्ठ उदाहरण वादिराजका यशोधर चरित है। हमारे अभीष्ट युगमें चारित्रसुन्दर गणिका महिपाल चरित्र (१५वीं शती), भट्टारक रत्नचन्द्रके सुभौम चक्रवर्ती चरित,[3] और भद्रबाहु चरित्र[4] (वि० सं० १६८३), माणिक्य देवके मनोहर चरित, मुनिचरित और यशोधर चरित (वि०

१. २. सुकुमालचरित और सुदर्शनचरित—रावजी सखाराम दोशी, सोलापुर द्वारा क्रमशः वी० नि० स० २४५५ और वी० नि० स० २४५३ में प्रकाशित।

३. हिन्दी अनुवाद सहित दि० जैन पुस्तकालय सूरतसे १९५३ में प्रकाशित।

४. हिन्दी अनुवाद सहित दि० जैन पुस्तकालय सूरतसे वी० नि० सं० २४७९ में प्रकाशित।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सं० १३२७–१३८५) एवं मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र कविका गौतम चरित[1] (वि० सं० १७२६) अच्छे लघु प्रबन्ध काव्य हैं। इस प्रवृत्तिकी प्रमुख विशेषता यह है कि सानुबन्ध कथावस्तुके रहनेपर भी कल्पनाशक्तिका विराट् रूप एवं विभिन्न मानसिक दशाएँ प्रस्फुटित नहीं हो पाती हैं। लघु प्रबन्ध काव्य और पौराणिक चरित काव्योंमें अन्तर इतना ही है कि पौराणिक चरित काव्योंमें यत्रतत्र अलंकार, प्रकृति चित्रण, कथा विस्तार एवं पौराणिक मान्यताओंका निर्देश उपलब्ध होता है, पर लघु प्रबन्ध काव्योंमें केवल कथाका विस्तार ही उपलब्ध होता है अलंकार और वस्तुवर्णन अत्यन्त संक्षेपमें अंकित रहते हैं। कवियोंने प्रायः अनुष्टुप् छन्दका ही व्यवहार किया है। कथाका विभाजन छः सर्ग या इससे कम ही सर्गोंमें पाया जाता है।

३. दूत या सन्देश काव्य—

विप्रलम्भ श्रृंगार या विरहकी पृष्ठभूमिको लेकर इस कोटिके काव्य लिखे गये हैं। जैन कवियोंने दूतकाव्योंमें श्रृंगार रसके वातावरणको नयी काव्य परम्परा द्वारा नयी दिशा और नया मोड़ दिया है। त्याग और संयमको जीवनका पाथेय समझनेवाले कवियोंने अपनी संस्कृतिके उच्चतत्त्वों तथा पार्श्वनाथ और नेमिनाथ तीर्थंकरके जीवनवृत्तोंको इन काव्योंमें अंकित किया है। विक्रमका नेमिदूत[2] (ई० सन् १३वीं शतीका अन्तिम चरण), मेरुतुंगका जैनमेघदूत[3] (सन् १३४६-१४१४ ई०), चारित्रसुन्दर गणिका शीलदूत[4] (१५वीं शती), वादिचन्द्र सूरिका पवन दूत[5] (१७वीं शती) विनयविजय गणिका इन्दुदूत[6] (१८वीं शती), मेघविजय का मेघदूत समस्या लेख[7] (१८वीं शती) एवं अज्ञात नाम वाले कविका चेतोदूत[8] प्राप्य है। विमलकीर्ति गणिका चन्द्रदूत भी उक्त विधा सम्बन्धी रचना है। इन समस्त सन्देश काव्योंमें साहित्यिक सौन्दर्यके साथ जीवनव्यापी सत्योंकी अभिव्यञ्जना हुई है। शील, संयम, तप, त्याग, भावशुद्धि और साधनाका समन्वय इन काव्योंमें पाया जाता है। घोर श्रृंगारकी धाराको वैराग्यकी ओर मोड़ देना साधारण प्रतिभाका कार्य नहीं है।

४. प्रबन्धात्मक प्रशस्तिमूलक ऐतिहासिक साहित्य

ऐतिहासिक तथ्योंका आधार ग्रहण कर काव्य लिखनेकी परिपाटी संस्कृत काव्य परम्पराओंमें कोई नवीन नहीं है। भट्टारक और कवियोंने अपने आश्रयदाता अथवा अनन्य भक्तोंकी कीर्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिए उनके तथ्य पूर्ण जीवनवृत्तोंको रोचक भाषामें निबद्ध किया है, कवि सर्वानन्दने अपने जगडूचरितमें[9] बताया है कि वि० सं० १३१२-१३१५

---

१. दि० जैन पुस्तकालय सूरतसे वी० नि० सं० २४५३ में प्रकाशित।
२. जैन प्रेस, कोटा, वि० सं० २०१५ में प्रकाशित
३. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९८० में प्रकाशित
४. यशोविजय ग्रन्थमाला, वाराणसी
५. हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई सन् १९१४
६. जैन साहित्य वर्धक सभा, शिरपुर (पश्चिम खानदेश) वि० सं० १९४६
७. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९७०
८. उपर्युक्त संस्थासे वि० सं० १९८० में प्रकाशित
९. आत्मानन्द जैन सभा, अम्बाला सिटी, १९२५ ई०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में गुजरातमें बीसलदेव, मालवामें मदनवर्मा और काशीमें प्रतापसिंहका शासन था। इस समय गुजरातमें भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा। राजा बीसलदेवके पास अन्नका अभाव था; अतः प्रजा भूखसे तड़पने लगी। जगडूशाहने अन्नदान देकर राजा और प्रजाकी रक्षा की। नयचन्द्रके हम्मीर काव्य में हमीर और अलाउद्दीन खिलजीके बीच हुए युद्धकी ऐतिहासिक घटनाका वर्णन है। भट्टारकों द्वारा विरचित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियाँ भी ऐतिहासिक दृष्टिमें कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। प्रायः प्रत्येक काव्य या पुराणके अन्तमें अंकित प्रशस्तिमें आचार्यों और पट्टोंका इतिहास पाया जाता है। भट्टारकों द्वारा निवद्ध पट्टावलियां और गुर्वावलियां भी ऐतिहासिक तथ्योंकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। अर्ध ऐतिहासिक तथ्योंसे युक्त देवदत्त दीक्षित कृत स्वर्णाचल माहात्म्य (वि० सं० १८४५) का अन्तिम अध्याय भी भट्टारक परम्पराका इतिहास अवगत करनेके लिए उपयोगी है।

५. सन्धान काव्य

संस्कृत भाषामें एक ही वस्तुके अनेक पर्यायवाची शब्द और एक ही शब्दके अनेक अर्थ पाये जाते हैं। सन्धानात्मक काव्योंके साथ अनेकार्थकस्तोत्र भी इस युगमें रचे गये। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् अकबरकी विद्वत्सभामें जैनोंके 'एगस्स सुत्तस्स अनन्तो अत्थो' वाक्यका किसीने उपहास किया। यह बात महोपाध्याय समयसुन्दरको बुरी लगी और उन्होंने उक्त सूत्रवाक्यकी सार्थकता बतलानेके लिए 'राजानो ददते सौख्यम्'के १०२२४०७ अर्थ किये। वि० सं० १६४९ श्रावण शुक्ला त्रयोदशीको जब सम्राट्ने काश्मीरका प्रथम प्रयाण किया तो उसने प्रथम शिविर राजा श्री रामदासकी वाटिकामें स्थापित किया। यहाँ सन्ध्याके समय विद्वत्सभा एकत्र हुई जिसमें सम्राट् अकबर, शाहजादा सलीम, अनेक सामन्त, कवि, वैयाकरण एवं तार्किक विद्वान् सम्मिलित थे। कविवर समयसुन्दरने अपना यह ग्रंथ पढ़कर सुनाया जिसे सुनकर सभी सभासद् आश्चर्य चकित हुए। कविने उक्त अर्थोंमें से असम्भव या योजना-विरुद्ध पड़नेवाले अर्थोंको निकालकर इस ग्रन्थका नाम 'अष्टलक्षी' रखा। मेघविजयगणिका 'सप्तसन्धान' काव्य भी इस युगकी अमूल्य रचना है। भट्टारकोंने संधानात्मक-काव्य प्रवृत्ति का अनुसरण नहीं किया है।

६. सूक्ति-साहित्य-प्रवृत्ति—उपदेश, नीति और प्रेम सम्बन्धी काव्योंको सूक्ति या सुभाषित काव्य कहा जाता है। लोकवृत्त अथवा नैतिक शिक्षाका निरूपण काव्यकी अनुरंजन-कारिणी भाषामें सम्पन्न होनेसे यह काव्यविद्या भी सहृदयोंको अपनी ओर आकृष्ट करती है। शर्करामिश्रित औषधि समान काव्य चमत्कार उत्पन्न करना सूक्ति काव्यका लक्ष्य होता है। यों तो सूक्ति काव्यके अनेक भेद-प्रभेद किये जा सकते हैं, पर प्रधान रूपसे धार्मिक सूक्तिकाव्य, नैतिक सूक्तिकाव्य और काम या प्रेम परक सूक्तिकाव्य ये तीन उसके उपभेद हैं। इन काव्योंमें लोकवृत्तानुकूल उपदेश एवं ऐहिक जीवनको सुखी बनाने वाले सिद्धांत काव्य चमत्कारोंके साथ निबद्ध रहते हैं। सूक्तियोंमें इसकी समस्त विशेषताएं और चमत्कृतिके समस्त उपकरण समाहित पाये जाते हैं। शब्दचमत्कार और अर्थचमत्कारका जो समवाय सूक्तियोंमें उपलब्ध रहता है वह प्रबन्धमें नहीं। हमारे इस अभीष्ट युगमें अर्हद्दासका भव्यजनकण्ठाभरण (१३वीं शती), सोमप्रभका सूक्तिमुक्तावलि काव्य (१३वीं शती), पद्मानन्दका वैराग्यशतक, विमल कविका प्रश्नोत्तर मालाकाव्य और दिवाकर मुनिका श्रृंगारवैराग्यतरंगिणी काव्य (१५वीं शती) रूचि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर रचनायें हैं। भट्टारक सकलभूषण विरचित उपदेशरत्नमालामें तप, दान, पूजा, स्वाध्याय आदिका सुन्दर चित्रण किया गया है। उनका समय वि० सं० की १५वीं शती है। जयसेन सूरि कृत धर्मरत्नाकर भी सूक्तिकाव्य है। कविने नीति और ज्ञानकी बातें मर्मस्पर्शी शैलीमें व्यक्त की हैं—

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोहसमो रिपुः।
नास्ति क्रोधसमो वह्निर्नास्ति ज्ञानसमं सुखम् ॥२७॥
विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः।
संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ॥३०॥
धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातंकविनाशनम्।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवानां जायते सदा ॥६३॥

७. स्तोत्र और पूजा-भक्ति साहित्य

भट्टारक-युगमें इस श्रेणीके साहित्यका सर्वाधिक सृजन हुआ है। इस प्रकारके साहित्य में परमात्मा, परमेष्ठी या अन्य देवी देवताओंका स्तवन, पूजन या भक्ति आख्यान वर्णित रहते हैं। जैन दर्शनमें भक्तिका रूप दास्य, सख्य और माधुर्य भावसे भिन्न हैं; क्योंकि कोई भी साधक अपनी चिकनी चुपड़ी प्रशंसात्मक बातों द्वारा वीतरागी प्रभुको प्रसन्न कर उनकी प्रसन्नतासे अपने किसी लौकिक या अलौकिक कार्यको सिद्ध करनेका उद्देश्य नहीं रखता है और न परम वीतरागी देवके साथ यह घटित ही हो सकता है। अतः वीतरागी आत्माओंकी उपासना या भक्तिका आलम्बन पाकर मानवका चंचल चित्त क्षणभरके लिए स्थिर हो जाता है और आराध्यके गुणोंका स्मरण कर भक्त अपने भीतर भी उन्हीं गुणोंको विकसित करनेकी प्रेरणा प्राप्त करता है। इस युगमें महाकवि आशाधरका जिनयज्ञकल्प (१३वीं शती), ब्रह्म-जिनदासका जम्बूद्वीप पूजन, अनन्तव्रत पूजन, मेघमालोद्यापन पूजन, (१५वीं शती); ब्रह्मश्रुत-सागरका श्रुतस्कन्ध पूजन (१६वीं शती), गुणचन्द्रका अनन्तजिनव्रत पूजन (१७वीं शती) शिवराजका षट्चतुर्विंशतिजिनार्चन (१७वीं शती), चन्द्रकीर्तिके पंचमेरु पूजन, अनन्तव्रत पूजन और नन्दीश्वर विधान (१७वीं शती), विद्याभूषणके ऋषिमण्डल पूजन, बृहत् कलिकुण्ड पूजन और सिद्धचक्र मन्त्रोद्धार स्तवन पूजन (१७वीं शती) बुधवीरुके धर्मचक्र पूजन और बृहत् चक्र पूजन (१६वीं शती), विश्वसेनका षण्णवति क्षेत्रपाल पूजन (१६वीं शती), सकलकीर्तिके पंच-परमेष्ठि पूजन, षोड़शकारण पूजन, और गणधरवलय पूजन (१६वीं शती) एवं अक्षयरामका चतुर्दशीव्रतोद्यापन पूजन (१९वी शती) उल्लेख्य हैं। स्तोत्रोंमें पद्मनन्दिके वीतराग स्तोत्र, शान्तिजिन स्तोत्र, रावण पार्श्वनाथ स्तोत्र और जीरावली पार्श्वनाथ स्तवन (१५वीं शती), ब्रह्मश्रुतसागरके पार्श्वनाथ स्तवन और शान्तिनाथ स्तवन (१६ वीं शती), जिनप्रभसूरिके सिद्धान्तागम स्तव, पार्श्वस्तव, गौतम स्तव, वीर स्तव, चतुर्विंशतिजिन स्तव, निर्वाणकल्याण स्तव, ऋषभजिन स्तवन, अजितजिन स्तवन, नेमिस्तवन, श्री मन्त्र स्तवन, श्री शारदा स्तवन और शान्तिजिन स्तवन (१४वीं शती) एवं सकलकीर्तिका परमात्मराज स्तोत्र (१५वीं शती) का प्रमुख है। व्रतोद्यापन एवं व्रत विधान सम्बन्धी रचनाएं भी इस युगमें निर्मित हुई हैं।

८. नाटक

जैन संस्कृत-साहित्यमें रूपकोंका विकास नवमी शतीसे हुआ है। नाटकोंके विकासकी दृष्टिसे सन् ९००--१३०० ई० तक स्वर्णकाल माना जा सकता है। भट्टारक युगमें लिखे गये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाटकोंमें वादिचन्द्रका ज्ञानसूर्योदय (विक्रम संवत् १९४८, माघ शुक्ला अष्टमी) और यशचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रसिद्ध हैं। यह सत्य है कि इन नाटकोंमें नवीन शैली या नवीन भावोंका समावेश नहीं हो सका है।

९. चरित्र या आचारमूलक धार्मिक साहित्य-प्रवृत्ति

इस प्रवृत्तिके साहित्य-निर्माताओंमें भट्टारक सकलकीर्ति, शुभचन्द, सकलभूषण, धर्मकीर्ति, मेधावी, सोमकीर्ति, रायमल्ल, नेमिदत्त, जिनदास और ज्ञानकीर्ति आदि प्रमुख हैं। इस प्रवृत्ति में श्रावकाचार या चारित्रोत्थानक तत्त्वज्ञान सम्बन्धी रचनाएँ आती हैं। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार'के अनुकरणपर अधिकांश रचनाएँ निर्मित हुई हैं। पण्डित आशाधर जैसे स्वतन्त्र-चिन्तक मनीषी भी इस प्रवृत्तिके अनुसरणकर्त्ता हैं। इनके सागारधर्मामृत और अनगारधर्मामृत इस युगकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। अन्य रचनाओंमें सकलकीर्तिके धर्म-प्रश्नोत्तर श्रावकाचार और मूलाचार प्रदीप (१५वीं शती), ब्रह्मनेमिदत्तका धर्मोपदेश पीयूषवर्षी श्रावकाचार (१६वीं शती), पद्मनन्दीका श्रावकाचारसारोद्धार (१४वीं शती), अभ्रदेवका व्रतोद्योतन श्रावकाचार (अनुमानतः १४-१५वीं शती), नरेन्द्रसेनका सिद्धान्तसार (अनुमानतः १३--१४वीं शती) गोविन्दका पुरुषार्थानुशासन (१५वीं शती) शुभचन्द्रका अध्यात्म तरङ्गिणी ग्रन्थ (१६वीं शती), ज्ञानभूषण के सिद्धान्तसार, परमार्थोपदेश और आत्मसम्बोधन (१३वीं शती) एवं सोमसेनका त्रिवर्णाचार उल्लेख्य हैं।

१०. समस्यापूर्त्यात्मक साहित्य

भट्टारक-युगमें श्वेताम्बर कवियोंने समस्यापूर्तिको लेकर कई सुन्दर काव्य ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। कवि मेघविजयगणिने नेषध महाकाव्यके प्रथम सर्गके सम्पूर्ण श्लोकोंकीसमस्या पूर्त्ति कर शान्तिनाथ चरितकी रचना की है। इस काव्यके प्रथम चरणमें नैषधके प्रथम चरण को, द्वितीयमें द्वितीय चरणको, तृतीयको तृतीय चरणमें और चतुर्थमें चतुर्थ चरणको नियोजित कर सम्पूर्ण प्रथम सर्गको समाविष्ट कर दिया है। इस काव्यमें छह सर्ग हैं। इसी कविने माघ काव्यके प्रथम श्लोकका अन्तिम चरण लेकर और तीन पाद स्वयं नये रचकर विजयदेवसूरिके चरितको निबद्ध कर देवानन्द काव्यका प्रणयन किया है। कविने माघके चरणोंका नया ही अर्थ निकाला है। माघमें जहाँ जहाँ श्लोकके प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरणमें यमक है, वहाँ-वहाँ समस्यापूर्तिकारने यमक रखकर बड़ी चतुराईसे अर्थानुसन्धान किया है। भट्टारक कवियोंने भक्तामर स्तोत्र और कल्याणमन्दिर स्तोत्रकी समस्यापूर्तियाँ की हैं।

११. न्याय दर्शन विषयक प्रवृत्ति

भट्टारक युगमें प्रमेयरत्नमाला और तत्त्वार्थसूत्र पर वृत्तियाँ लिखनेके साथ-साथ न्याय और दर्शन विषयक एकाध स्वतन्त्र रचना भी लिखी गई है। भट्टारक धर्मभूषणयतिका न्याय-दीपिका ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी और सारगर्भित है। भट्टारक प्रभाचन्दका तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर (१५वीं शती) तत्त्वार्थबोधके लिए प्रवेशद्वार है। भट्टारक शुभचन्द्रका संशयवदनविदारण और काणूरगच्छीय शुभचन्द्रका षड्दर्शन प्रमाणप्रमेयानुप्रवेश जैन न्यायकी सुन्दर रचनाएँ हैं।

१२. संहिता विषयक विविध साहित्य

जैन साहित्यमें दो प्रकारके जीवन मूल्य दृष्टिगोचर होते हैं जो भौतिक, शारीरिक सम्पत्ति तथा सुखभोगके त्यागसे सम्बन्ध रखते हैं और दूसरे ऐहिक सुखभोगके साधनोंको प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करनेके लिए तन्त्र-मन्त्र ज्योतिष एवं आराधनाके उपयोगपर जोर देते हैं। अनेकान्तात्मक जैन दृष्टि उक्त दोनों प्रकारके जीवन-मूल्योंका समन्वय प्रस्तुत कर अन्तिम लक्ष्य त्याग या निवृत्ति को ही महत्त्व देती है। विजयपके भाई नेमिचन्द्रका प्रतिष्ठा तिलक, आनन्द संवत्सर (वि० सं० १३वीं सदी) विजयपके पुत्र समन्तभद्रका केवलज्ञानप्रश्नचूड़ायणि (१३वीं शती) अकलंक देवकी अकलंक संहिता (अनुमानतः १५ वीं शती) माघनन्दि संहिता (अनुमानतः १३-१४वीं शती), सिंहनन्दिका व्रत तिथि निर्णय (१७वीं शती), चन्द्रसेन मुनिका केवलज्ञान होरा (अनुमानतः १६वीं शती), भद्रबाहु संहिता (१५वीं शती), मल्लिषेणके काम चाण्डाली कल्प, ज्वालामालिनी कल्प और भैरव पद्मावती कल्प (१३ वीं शती), धर्मदेवका शांतिक विधि ग्रन्थ (१५वीं शती ऐय्यपार्यका जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय (वि० सं० १३७६ सिद्धार्थ संवत्सर) इस प्रवृत्तिकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। यन्त्र-मन्त्रोंके कई संग्रह भी इस युगके भट्टारकोंने लिखे हैं। जैन सिद्धान्त भवन आरामें यन्त्र-मन्त्र संग्रह, मन्त्र अनुष्ठान एवं मन्त्र समुच्चय प्रभृति कई रचनाएँ उपलब्ध हैं। इन रचनाओंके रचयिताओंके सम्बन्धमें इतिवृत्त उपलब्ध नहीं है।

१३. पुराण और कथा साहित्य

इस प्रवृत्तिका पूर्ण विकास भट्टारक युगमें हुआ है। श्रुतसागर सूरिकी षोडशकारण कथा मुक्तावलि कथा, मेरुपंक्तिकथा, लक्षण पंक्ति कथा, मेघमाला, सप्तपरमस्थान, रविवार चन्दनषष्ठि, आकाशपंचमी, पुष्पांजलि, निःशल्य सप्तमी, श्रावणद्वादशी, रत्नत्रय आदि २३ व्रत-कथाएँ इनके व्रतकथाकोषमें निबद्ध हैं। श्रुतसागर उत्तमश्रेणीके कथाकार हैं। इनका समय वि० सं० १५००–१५७५ के मध्य है। कवि जिनदासका व्रत कथा कोष (१५--१६वीं शती) ब्रह्मनेमिदत्तका आराधना कथाकोष (१६वीं शती) और ललितकीर्तिकी नन्दीश्वरव्रत कथा, अनन्तव्रत कथा, सुगन्ध दशमी कथा; रत्नत्रय व्रत कथा, आकाश पंचमी कथा, धनकलश कथा, निर्दोष सप्तमी कथा, लब्धि विधान कथा, पुरन्दर कथा, कर्मनिर्जरा कथा, मुकुट सप्तमी कथा, चतुर्दशी कथा, दश लक्षण व्रत कथा, पुष्पांजलिव्रत कथा, अक्षय निधि दशमी कथा, निःशल्याष्टमी व्रत विधान कथा, सप्त परमस्थानकथा तथा षट्रस कथाएँ उल्लेखनीय हैं। इनका समय अनुमानतः विक्रमकी १९वीं शती है। गुणचन्द्रकी मौनव्रत कथा (१७वीं शती) सोमकीर्तिकी सप्तव्यसन कथा समुच्चय (१६वीं शती) भी इस युगकी प्रतिनिधि रचनाएँ हैं। पुराणों में केशवसेनका कर्णामृत पुराण (माघ वि० सं० १६८८), सकलकीर्तिका पार्श्वनाथ पुराण (१६ वीं शती) ब्रह्म कामराजका जयपुराण (वि० सं० १५६०, शुभचन्दका पाण्डव पुराण (वि० सं० १६०८), ब्रह्म कृष्णदासका मुनिसुव्रत पुराण (१७वीं सदी), शिवरामका अष्टमजिनपुराण संग्रह (१७वीं सदी), चन्द्रकीर्त्तिके पार्श्वपुराण और ऋषभपुराण, श्रीभूषणके पाण्डव पुराण, शांतिनाथ पुराण, हरिवंश पुराण (१७वीं सदी), धर्मकीर्तिका पद्मपुराण एवं अरुणमणिका अजितनाथपुराण (१८वीं शती) सुन्दर पौराणिक कृतियाँ हैं।

१४. टीका टिप्पणी विषयक साहित्य

भट्टारक युगमें टीका टिप्पणी विषयक साहित्य प्रवृत्तिका पर्याप्त पल्लवन हुआ है। सहस्रकीर्तिकी त्रिलोकसार टीका (१५वीं शती), आशाधरकी भूपालचतुर्विंशति टीका और मूलाराधना दर्पण (१३वीं शती), सोमदेवकी त्रिभगीसार टीका (१७वीं शती) नेमिचन्द्रकी द्विसन्धान काव्यकी पदकौमुदी टीका (१७वीं सदी), शुभचन्द्रकी स्वामि कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा संस्कृत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीका (वि० सं० १६१३) और पार्श्वनाथ काव्य पंजिका योगदेवकी सुखबोध वृत्ति (१७वीं सदी), ज्ञानभूषण और सुमतिकीर्तिकी कर्मकाण्ड टीका (१५वींशती), ज्ञान भूषणकी नेमिनिर्वाण पंजिका (१६वीं शती), कमलकीर्त्तिकी तत्त्वसार टीका (१६वीं सदी), श्रीदेवकी यक्षोधर काव्य पंजिका (१५वीं सदी), काष्ठान्वयी प्रभाचन्द्रकी तत्त्वार्थरत्न प्रभाकर टीका (१५वीं सदी), पण्डित प्रभाचन्द्रकी पंचास्तिकाय प्रदीप और द्रव्यसंग्रह-वृत्ति एवं तोड़ानगरके राजा मानसिंहके मंत्री वादिराजकी वाग्भटालंकार अवचूरि, कविचन्द्रिका (वि० सं० १४२९) प्रसिद्ध टीका रचनाएँ हैं। श्रुतिसागर सूरिने इस युगमें यशस्तिलक चंद्रिका, तत्त्वार्थवृत्ति, जिनसहस्रनाम टीका, महाभिषेक टीका, षट्पाहुड टीका, सिद्धभक्ति टीका, सिद्धचक्राष्ट टीका और तत्त्वत्रय प्रकाशिका ये आठ प्रसिद्ध टीकाएँ लिखी हैं। धर्मशर्माभ्युदय और चन्द्रप्रभचरितपर टिप्पण भी इस युगमें लिखे गये हैं।

१५. कोष, छन्द और अलङ्कार

अलंकार, छन्द और कोष आदि विषयोंपर इस युगमें अल्प रचनाएँ ही प्रस्तुत हुई हैं। श्रीधरका विश्वलोचन कोष (१६वीं शती) कोष विषयक उत्तम रचना है। यह अपने विषयमें अमरकोष और मेदिनीसे भी उत्तम एवं बहुमूल्य कृति मानी जा सकती है। अलंकार ग्रन्थमें विजयकीर्तिके शिष्य विजयवर्णीकी श्रृंगारार्णव चन्द्रिका (अनुमानतः १३-१४वीं शती), अमृतनन्दिका अलंकारसंग्रह (१३वीं शती), अजितसेनका अलंकारचिन्तामणि ग्रन्थ (१४वीं शती), अभिनव वाग्भटका काव्यानुशासन (१४वीं शती) एवं भावदेवका काव्यालंकार सार (१५वीं शती) श्रेष्ठ अलंकार रचनाएँ हैं। छन्द विषयपर वाग्भटकी एक रचना छान्दोऽनुशासन नामकी उपलब्ध है। यह रचना काव्यानुशासनके पूर्वमें ही लिखी गई है। इस छन्द ग्रन्थमें संज्ञाध्याय, समवृत्ताख्य, अर्धसमवृत्ताख्य, मात्रासमक और मात्राछन्दक ये पांच अध्याय हैं। मंगलाचरणमें लिखा है—

विभुं नाभेयमानम्य छन्दसामनुशासनम्।
श्रीमन्नेमिकारस्यात्मजोऽहं वच्मि वाग्भटः।

इस प्रकार भट्टारक-युगमें विभिन्न साहित्यिक प्रवृत्तियोंका विकास होता रहा। ग्रन्थ बाहुल्यकी दृष्टिसे तो इस युगका महत्त्व है ही, पर विविध विषयक रचनाओं की दृष्टिसे भी इस युगका कम महत्त्व नहीं है।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाकवि कालिदास : आधुनिक परिवेश में

आधुनिक परिवेशमें महाकवि कालिदासपर विचार करनेके पूर्व आधुनिक शब्दपर प्रकाश डालना आवश्यक है। आधुनिक शब्द तीन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। एक अर्थ केवल समय सापेक्ष्य है, जिसके अनुसार 'आधुनिक' एक विशेष कालावधिका द्योतक है। इस निर्वचनके अनुसार इसका स्पष्ट अर्थ वर्तमान समय है। क्योंकि वर्तमानकी धारणा समय सापेक्ष्य है। अतः आधुनिक यहाँ अतीतसे भिन्न या नयेका वाचक है। इस अर्थमें आधुनिक हमारे अपने वर्तमान युगसे सम्बद्ध नहीं रह जाता; प्राचीन इतिहास युगोंके भी अपने-अपने आधुनिक चरण रहे होंगे, जो आज प्राचीन बन गये। कलिदास-युग आज प्राचीन है परन्तु अपने युगमें वह निश्चय ही आधुनिक था।

आधुनिक शब्दका दूसरा अर्थ विचार-परक है। जिसके अनुसार आधुनिक एक विशिष्ट दृष्टिकोण—मध्ययुगीन विचार-पद्धतिसे भिन्न एक नये जीवन-दर्शनका वाचक है। वस्तुतः आधुनिकताकी धारणाका मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है। आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीनकी अपेक्षा इसीलिए भिन्न है कि इसमें इतिहास-बोधकी प्रधानता है। अर्थात् यह अपने यथार्थ विवरणके प्रति निश्चय ही सजग है। मध्ययुग और पुराकालमें भी जीवन-दृष्टि अनिवार्यतः अपने परिवेशसे प्रभावित थी, परन्तुवह उसके प्रति कदाचित् इतनी प्रबुद्ध नहीं थी। इतिहासकी चेतनाका विकास उस समय नहीं हुआ था। विचार-परक या दृष्टिपरक अर्थमें आधुनिकता एक मिश्र धारणा है जिसका निर्माण अपने देशकालके साथ जीवन्त एवं सचेतन सम्बन्धसे हुआ है। आधुनिक मनुष्यका जन्म उस समय हुआ जब वह अपने देश-कालके प्रति—अपने युग और इतिहासके प्रति प्रबुद्ध हुआ। फलतः आधुनिक जीवन-दृष्टिमें सामाजिक चेतना और राष्ट्रीय चेतनाका स्वतः ही समावेश हो गया। और जीवन-दृष्टि व्यावहारिक और यथार्थ परक हो गई। अतएव संक्षेपमें इस द्वितीय अर्थके अनुसार आधुनिक दृष्टि परम्पराको प्रवाहके रूपमें स्वीकार करती है जो निरन्तर अग्रसर रहता है और जिसमें परिवर्तन अनिवार्य है। 'आधुनिक शब्दकी इस व्याख्याके अनुसार इसकी धारणा समयसे परिबद्ध नहीं है। न इसमें समयके क्रमका नियन्त्रण है। इस धारणामें नवीन विचारोंका समावेश पाया जाता है। कोई कलाकार अर्वाचीन होनेपर भी विचारोंकी अपेक्षा पुरातन ही रहता है और कोई पुरातन कलाकार नवीन विचारोंके समावेशके कारण आधुनिक माना जा सकता है। अतएव आधुनिक सम-सामयिकसे भिन्न एक विशिष्ट धारणा है।

'आधुनिक' शब्दका तीसरा अर्थ सम-सामयिक है। इस सन्दर्भमें आधुनिकताका अर्थ है वर्तमानका युगबोध। यहाँ दृष्टि वर्तमानपर ही केन्द्रित रहती है। आजकी स्थितिका यथार्थ परिज्ञान ही यथार्थ आधुनिकताका आधार है। आजके जीवनका सबसे अधिक प्रभावी सत्य है वर्तमान क्षण। क्योंकि आदर्श टूटने लगे हैं और मूल्योंके ह्रासकी भावना बल पकड़ने लगी है। यह विश्वास उभरने लगा है कि जीवनके अखण्ड प्रवाहमें अतीत तो सर्वथा विलीन हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चुका है और अनागत अभी अदृष्ट है, सत्य यदि है तो वह है वर्तमान क्षणका अनुभव। मनुष्य क्षणमें ही जीता है। क्योंकि उसका अनुभव क्षणमें ही निबद्ध है। अनुभव ही जीवनका एक मात्र सत्य है और अनुभव का न भूत होता है न भविष्यत। उसका तो केवल वर्तमान ही होता है। इस प्रकार इस तृतीय व्याख्याके अनुसार आधुनिक शब्द क्षणवादका पर्याय है।

मैं इन तीनों अर्थोंमेंसे महाकवि कालिदासके मूल्यांकन प्रसंगमें द्वितीय अर्थका ही उपयोग करूँगा। महाकवि कालिदास विचारोंकी दृष्टिसे कितते नवीन हैं और उन्होंने भारतीय समाजको ऐसे कौन-कौनसे मूल्य प्रदान किये हैं जिनके कारण वे कालजयी कवियोंकी श्रेणीमें परिगणित हैं। मैं कविके युगके साथ सम्बन्ध जोड़कर उनकी राष्ट्रीयता, जन-सम्पर्क, क्रान्तिकारी विचार, पूर्ण मानवताकी धारणा, एवं कलाकी दृष्टिसे उनके नवीन विचारोंकी व्याख्या करनेका प्रयास करूँगा। महाकवि कालिदास राष्ट्रीय कवि हैं। यह तो उनके मेघदूतसे ही सिद्ध है। भारत कृषि-प्रधान देश है। इसकी सम्पूर्ण सौरभमयी संस्कृतिका आधार आकाशमें स्वच्छन्द विचरण करने वाले मेघ हैं। पानीके एक-एक बिन्दुके साथ मुक्ताओंको वर्षाओंकी करनेवाले मेघको रामगिरिसे लेकर हिमालयकी गोदमें बसी अलका नगरी तक पहुँचाकर कविने भारतके जन-जीवनको पूर्णतया चित्रित किया है। केवड़ेकी बाड़ें, भवनोंकी छतोंके नीचे शांतिसे शयन करते हुए कबूतर, वर्षा ऋतुमें धरती पर मन्द गतिसे चलने वाले अतिशय छोटे लाल लाल इन्द्र-फोप, किसके मनमें आनन्दानुभूति उत्पन्न नहीं करते। महाकवि कालिदासने भारतके पर्वतों, नदियों आदिके प्राकृतिक दृश्योंके कुछ चिरस्थायी स्वरूप विशेषोंके स्वयं अनुभव किये। और उनके सौन्दर्य प्रभावको सदा-सदाके लिए शब्दवद्ध कर दिया। मेघदूतमें हमें उत्तर भारतका समस्त भूगोल प्राप्त होता है तो रघुवंश महाकाव्यमें दक्षिण भारतका। त्रिवेणी संगमका वर्णन मेघदूतमें नहीं आ सका तो कविने उसका समावेश रघुवंश महाकाव्यमें किया। संगम-स्थल भारतका एक चिरस्थायी भावनाकेन्द्र है, अतः कालिदास पुष्पक विमानसे उसका दर्शन और वर्णन करनेका अवसर अपने हाथसे नहीं जाने देते। इस प्रकार कविने लंकासे हिमालय तकका एक चक्र पूरा कर दिया है।

धातुताम्राधरः प्रांशुर्देवदारुबृहद्भुजः।
प्रकृत्यैव शिलोरस्कः सुव्यक्तो हिमवानिति ॥

हिमालयकी शोभाका गान तो कुमारसम्भवके आरम्भमें ही प्राप्त हो जाता है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीरवगाह्य स्थितः पृथिव्यां इव मानदण्डः ॥

कविने यहाँ हिमालयके गुणगानके साथ 'अस्ति' शब्द द्वारा मानव अस्तित्ववादकी ओर भी संकेत किया है। वस्तुतः राष्ट्रीय कविके लिये राष्ट्रकी समग्र सांस्कृतिक चेतनाकी अभिव्यक्ति अभिप्रेत होती है। कालिदास ऐसे ही राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना को मूर्त्तरूप देने वाले महाकवि हैं। उन्होंने अपनी कविता द्वारा मनुष्यको पशुसुलभ धरातलसे उठाकर देवत्वमें प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया है। हमारा यह विशाल देश भौगोलिक दृष्टिसे एक अविभाज्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इकाई है। यह विशाल देश अनेक धर्म और संस्कृतियोंका संगम स्थल है। नाना आचार-विचारों और विश्वासोंकी मिलनभूमि होनेके कारण इस देशकी संस्कृतिमें अनेक प्रकारके वैचित्र्य है। काव्य, चित्र, मूर्ति, वास्तु, नृत्य, वादि, नाटक, आदि समस्त कलाओंमें नवीन बातोंका समावेश पाया जाता है। महाकवि कालिदासने इस भारतभूमिका केवल जयगान नहीं किया है किन्तु इसका यथार्थ चित्रण कर भारतकी भावात्मक राष्ट्रीय एकताको अक्षुण्ण बनाये रखनेका प्रयास किया है। हिमालयको देवभूमि कहकर उसकी पवित्रता और महत्ताका संकेत किया है। अनन्तर रघुदिग्विजयके निमित्तसे रघुकी सेनाको काश्मीरसे हिमालयके उत्तरी प्रदेशोंसे होते हुए, लौहित्या (ब्रह्मपुत्र) नदी पार करके आसाममें प्रवेश करती दिखाकर कविकी कविता भारतकी उत्तरी सीमाओं पर घूम लेती है। पूर्वी और पश्चिमी सागरके प्रदेशोंका चित्रण इन्दुमती स्वयंवरके अवसर पर प्रस्तुत हुआ है। कविने 'तीरेषु तालीवनमर्मरेषु' द्वारा ताड़वनोंसे आच्छादित समुद्र तटों पर हमारी कल्पनाको विहार कराया है। इतना ही नहीं महाकवि कालिदासने विभिन्न प्रदेशोंकी सार्वकालिक विशिष्ट उपजोंका वर्णन भी रसपोषक रूपमें किया है। इन्दुमतीको जब उसकी सखी पाण्ड्यराजका परिचय देती है तब उस समय के राज्यमें सुपारीके पेड़ोंसे लिपटी नाग-वल्लियों तथा चन्दन-वृक्षोंसे गुथी इलायचियोंको लताओं और तमालपत्रोंकी शोभाका वर्णन करती है। 'रघुवंश'के चतुर्थ सर्गमें प्रसंशवश भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें सदियोंसे उत्पन्न होती आ रही उपजोंका उल्लेख किया है। जैसे दक्षिणके समुद्र तटवर्ती प्रदेशोंमें उत्पन्न होने वाले ताम्बुल, नारियल, काली मिर्च, इलायची, मोती, खजूर आदि। पश्चिममें पैदा होने वाले अंगूर, काश्मीरकी ओरके भागोंमें उत्पन्न होने वाले अखरोट और केसर, हिमगिरिके प्रदेशोंमें पाई जाने वाली कस्तूरी और भोजपत्र तथा आसाममें पायी जाने वाली कृष्णागुरु आदि। किसी भी देशकी संस्कृति उस देशमें मानव द्वारा निर्मित साधन-सामग्री तथा उसके द्वारा निर्मित संस्थाओं, रूढ़ियों, धार्मिक परम्पराओं, विचार-सरणियों, जीवन मूल्यों आदिका समग्र योग है। कविका कार्य संस्कृतिका आलेख प्रस्तुत करना नहीं है। किन्तु कवि अपनी प्रतिभा द्वारा सौन्दर्य-सृष्टिको शब्दोंमें मूर्त्त रूप प्रदान कर संस्कृतिको व्यंग्य रूपमें विवेचित करता है। कालिदासकी प्रतिभा भारतमें युग-युगसे जिये जा रहे जीवनको अपनी लीलासे माप लेती है, फलतः कालिदासने उपनिषदोंसे ज्ञानमार्गी अद्वैत साधना, रामायण से मानवीय आदर्शोंसे मुखरित आदर्शवाद, महाभारतसे बौद्धिक-चरित्र, धर्मसूत्रों और स्मृतियोंसे ब्राह्मणधर्मानुमोदित आचारसंहिता, पुराणोंमें विभिन्न मानव मण्डलियोंमें परिव्याप्त, मिथक कल्पनाके समृद्ध तत्त्व, भरतमुनिके नाट्यशास्त्रसे नाटकीय व्यवस्था, पाशुपत आगमोंसे सृष्टि रहस्य, सांख्य योगसे अन्तःकेन्द्रित चिरसमाधिका स्वरूप लेकर अपना आदर्शोन्मुखी यथार्थवादो जीवन-दर्शन रूपायित किया है। निःसन्देह कालिदासके काव्योंमें भारतीय संस्कृति पूर्णतया मुखरित है।

राष्ट्रीयताके आधारभूत गोधन और कृषि है। महाकवि कालिदासने गोधनकी महत्ता प्रदर्शित करनेके लिए दिलीप जैसे सम्राट् द्वारा गोसेवा चित्रित की है। चक्रवर्त्ती सम्राट् दिलीप गुरु वशिष्ठकी धेनु नन्दिनीकी सेवा बड़ी ही तत्परताके साथ करता है। कविने रघुवंश काव्यके द्वितीय सर्गमें इस सेवाका जीवन्त चित्रण किया :—

स्थितःस्थिताम्........ आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां..........

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राजा दिलीप गोरक्षाके लिए अपने प्राण देनेको तत्पर हो जाता है। वस्तुतः गोधन भारतका राष्ट्रीय धन है। इसकी रक्षा और विकासके लिए महाकवि कालिदासने दिलीप द्वारा जिस त्याग और सेवाका चित्रण किया है वह आजके सन्दर्भमें भी कम मूल्यवान नहीं है।

कृषिके चित्रणमें भी कविने पूरा रस लिया है। तत्काल जोते हुए खेतोंकी सोंधी गंध ने कविको अपनी ओर आकृष्ट किया है। उज्जयिनी और अलकामें रमण करने वाला कवि शिलीन्ध्र—गोबरके छत्ते या कुकुरमुत्ताका वर्णन करना नहीं भूला है। जनपद-वधू मेघको प्रीति-स्निग्ध नेत्रोंसे इसी कारण देखती हैं कि उसके कारण कृषि सफल होती है और घर धन-धान्य से भर जाते हैं। धानके खेतोंकी रखवाली करने वाली कृषक ललनाएँ ईखकी छायामें बैठकर गीत गाती हैं। कविने इस गीतका वर्णन करते हुए लिखा है—

इक्षुच्छायनिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः ॥ रघु० ४।२०

कवि ग्राम्य संस्कृतके चित्रणमें भी सजग है। उसने पारिजात और कल्पवृक्षोंके चित्रणके साथ गाँवके बूढ़े पीपल वृक्षका भी चित्रण किया है। कवि मेघदूतने लिखा है—

पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नैर्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।
त्वय्यासन्ने परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः सम्पतस्यन्ते कतिपयदिनस्थायिहंसा दशार्णाः॥

वर्षा ऋतुमें कौवे खोंते बनाना शुरू करते हैं। गाँवके बड़े-बड़े वृक्षोंपर ये खूब धूम मचाते हैं। समस्त वृक्ष कोलाहलसे परिपूर्ण हो जाते हैं। ये कौवे आँगनमें आ-आकर रामग्रास भी खा जाते हैं। छप्परोंपर कुचरते रहते हैं। अधरा बाँटते रहते हैं। आम, पीपल, सेमर आदिपर ये अपने घोंसले बनाते हैं। और रसत्की संध्या इनके कोलाहलसे मुखरित हो जाती है।

वन प्रांतरके बीच नदी प्रवाहित होती है और नदीके तीरपर जूहीके उद्यान जहाँ-तहाँ सुशोभित हैं। जूहीके पुष्प चयन करनेवाली मालिनोंके मुखपर पसीनेकी बूँद झलकती है। उनके कपोलोंपर कानोंके कमल कुम्हला गये हैं। महाकवि मेघसे कहता है कि मेघ इन थकी रमणियों के मुखपर तनिक छाया करते हुए आगे बढ़ना। कविका यह चित्रण ग्राम-सौन्दर्यका सूचक है। कविने लिखा है—

गण्डस्वेदापनयरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां।
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम् ॥ १।२७

इस प्रकार ग्रामीण भोली-भाली कन्याओंके चित्रणके पश्चात् कवि ग्राम-वृद्धोंका चित्रण करना भी नहीं भूला है। ग्राम-वृद्ध किसी चबूतरेपर बैठकर युवकों और शिशुओंको कथाएँ सुनाया करते हैं। ये कथायें सरस होनेके साथ-साथ प्रेरणा देने वाली भी होती हैं। कविने लिखा है—

प्राप्यावन्तीथदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् —१।३०

इस प्रकार महाकवि कालिदासने ग्रामोंके चित्रणके सन्दर्भमें आम, जामुन, कदम्ब, केतकी आदिका भी सरस चित्रण किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविका स्नेह भारत भूमिके साथ है। अतः वह इस भूमिको ही स्वर्गसे बढ़कर मानता है। शकुन्तलाका ननिहाल भले ही स्वर्गलोकमें हो पर उसकी ससुराल तो इस भूमिपर ही है। इसी प्रकार उर्वशीका जन्म स्वर्गमें भले ही हुआ हो पर उसकी कर्मभूमि यह भूतल ही है। शाकुन्तलमें कविने **'अहो उदाररमणीयापृथ्वी'** तथा **'आश्चर्यदर्शनः, संलक्ष्यते मनुष्यलोकः** आदि द्वारा भूतलकी महत्ताका चित्रण किया है। उन्होंने मानवकी कमजोरियोका और अपने समयके समाज का जो चित्रण किया है वह आज भी यथार्थ है। शाकुन्तलमें कन्या विदाईके प्रसंगके नीचे कुलबुलाता शाप-सर्प, हंस पदिकाका हृदय क्रन्दन, आरोपीके साथ सिपाहियोंका क्रूर व्यवहार, मछुए का कोतवालको घूस देना, कोतवालका मछुएके साथ हुई पहली मैत्रीका उत्सव कलवारकी दुकानमें मनाना आदि मानव जीवनकी वास्तविकताओंके सूचक हैं।

कालिदासने काम-सामग्री और तपस्याके चित्रण द्वारा; जीवनका स्वस्थ रूप चित्रित किया है। अनियन्त्रित कामाचार, जीवनके लिए अभिशाप है। इस अभिशापको, तपस्या और त्याग द्वारा ही दूर किया जा सकता है। हमारी दृष्टिमें एकमें समा जानेसे शाप और बृहद्में समा जानेसे शाप मोचन, यह कालिदासका तथ्य परक निरूपण है। स्त्री-पुरुष, स्थूल रूपमें सम्बद्ध हों यह बृहद्से दूरतम दशा है। जब इस दशामें भी संतति लाभ द्वारा स्त्री-पुरुषका वृहद्के साथ संधान होता है, तब शाप मोचनकी स्थिति आती है। निरा संभोग, त्याज्य है और दूसरी ओर पूर्ण-ब्रह्मचर्य भी ग्राह्य नहीं है। जब दाम्पत्यमें ब्रह्मचर्यका समावेश होता है तभी जीवनमें शाश्वतिक सुखकी प्राप्ति होती है। कविने मानव-जीवनके प्रति अपने दृष्टिकोणको व्यक्त करते हुए बताया है कि विश्वके कण-कणमें शिव या आनन्दकी रागिनी प्रतिक्षण बजती रहती है। लता, वनस्पति, सरित-समुद्र, पशु-पक्षी, नर-नारी आदि उस अनन्त वीणा के अगणित तार हों। ये सभी समवेत स्वरसे उस आनन्द भैरवीमें सतत योगदान करते हैं। सौन्दर्य और आनन्दके मधुसे प्रकृतिका अणु-परमाणु सिंचित है। चेतन और अचेतन प्रकृति दिव्य प्रेम के सूत्रमें आबद्ध है। द्वैत या पाप-पुण्यका बोध साधारण धरातलमें होता है। उच्च स्तरपर आनन्दमय कोषमें आकर ये द्वन्द्व समाप्त हो जाते हैं। यह सम्पूर्ण विश्व सचेतन है, समग्र है, अखण्ड है और एक है। अखण्डशः देखनेसे जनपद-वधू और वारवधूका अन्तर समाप्त हो जाता है। जीवनका पूर्ण निर्माण पाप और पुण्यके अर्द्धवृत्तोंसे होता है। महाकवि कालिदास अर्द्ध नहीं पूर्णवृत्त देखता है। उसकी दृष्टिमें सती-गणिका, संयोगी-वियोगी, गम्भीरा सरस्वती, आम्रकूट-कैलाश आदि सभी को समान रूपसे सुख प्राप्त करनेका अधिकार है। यह धरती सुख-सौन्दर्य और भोग-ऐश्वर्यसे तरंगित हो रही है। कमल, जूही, केवड़ा, बेला, कदम्ब, कुरै या मौलसिरी मन्दार आदि जितने सुन्दर सुगन्धित पुष्प हैं वे सब यहाँपर हैं। पवन इन सभीका सौरभ लेकर प्रवाहित होता है।

श्रृंगारिक सुख सर्वथा हेय नहीं है। यह सृष्टिके विकासका कारण ही संसारके विहित भोगोंका उपभोग वर्जित नहीं। भोग प्रेय है अवश्य पर श्रेयका रास्ता प्रेयके आँगनसे होकर निकलता है। धर्मविहित प्रेय वर्ण्य है। शिवके मानसमें कामका असमय क्षोभ उत्पन्न करना समाधि सुखका विनाश करना पाप है। इस कर्मको करनेवाले कामका भस्म हो जाना स्वाभाविक है पर जब काम धर्मबन्धनमें आबद्ध हो जाता है तो कुमारका जन्म होता है जिससे लोककल्याण सिद्ध होता है। शिवके सान्निध्यमें रहनेवाला काम लोकमंगलका जनक है। धर्ममें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आलस्य दिखानेवाला काम कुबेरसे अभिशप्त होता हैं। यक्ष पार्वती और शकुन्तलाका अभिशाप काम तपस्याके द्वारा ही प्रेममें रूपान्तरित होता है। कालिदासकी दृष्टिमें प्रेम एकनिष्ठ है और काम अनेक-निष्ठ। काम-भावनाका आध्यात्मीकरण कैलाशकी कृपासे होता हैं प्रेम व्यक्तिको विराट बनाता है और विराटमें रूपान्तरित होते ही व्यक्ति महान बन जाता है।

मनुष्य चरित्रगत दोष और दैवी घटना इन दोनोंके मेलसे दुःख भोगता है। मनुष्यके जीवनमें शाप और वरदान दोनों हैं। शापसे उसकी महिमा अस्इमित हो जाती है। संसारमें सभीको सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है। अँधेरा और उजेला इन दो पक्षोंके सहारे जीवनका पक्षी उड़ता है। सुखकी चाँदनीके साथ दुःखकी अँधियारी भी आती है। अतः धैर्य ही मनुष्यके लिए एकमात्र अवलम्ब होता है।

महाकवि कालिदासने अपने समयके समाजका भी यथार्थ चित्रण कर आधुनिकताका परिचय दिया है। गरीबोंके साथ सरकारी कर्मचारियोंका व्यवहार, पुलिसकी मार-पीट, शराबखानेमें अड्डा जमानेकी वृत्ति, यज्ञमें पशुबलिका सहज तटस्थ उल्लेख, कोतवालके पदपर राजाके सालेकी नियुक्ति, मच्छीमारके प्रसंग द्वारा सामान्य जन-समाजकी झाँकी आदि तथ्य जन-जीवनके चित्रण हैं।

कविके क्रान्तिकारी विचारोंका दर्शन हमें उनकी प्रत्येक रचनामें प्राप्त होता है। मालविकाग्निमित्रमें कविने ऐसे शिक्षकको ज्ञान बेचनेवाला व्यापारी कहा है जो केवल उदर-पोषणके लिए शिष्योंको विद्यादान देता है। जो अपने पाण्डित्य द्वारा शिष्य और अध्यापकोंको सन्तुष्ट कर सकता है तथा प्रतिदिन स्वाध्याय द्वारा अपने ज्ञानकी वृद्धि कर समाजको लाभ पहुँचाता है वही शिक्षक यथार्थ है कविने लिखा हैं—

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोहिततिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवलजीविकायैः तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति ॥ १७ ॥

कवि इसी काव्यमें निर्णयके लिए पंचायतको मान्यता देता है। कविका विश्वास है कि अकेला व्यक्ति सर्वज्ञ होनेपर भी निर्णयमें भूलकर सकता है। अतएव निर्णयका भार पंचायतपर रहना चाहिए। पंचायतकी सत्ता ही सर्वोपरि है। कविने लिखा है—

सर्वज्ञस्याप्येकाकिनो निर्णयाभ्युपगमो दोषाय।

महाकवि कालिदासने रघुवंश महाकाव्यमें विलासी अग्निवर्णकी मृत्युके अनन्तर उसकी रानीको राज्य-सिंहासनपर आरूढ़ किया है। इस रानीने राज्यका ऐसा सुप्रबन्ध किया जिसके कारण प्रजा अग्निवर्णकी विलासितासे उत्पन्न राज्यकी अस्त-व्यस्तताको भूल गयी। और रानी विधिवत् राज्य करने लगी। प्रजाके हितके लिए रानीने अनेक कार्य किये जिससे प्रजा उसके अनुशासनका पूर्णतया पालन करती थी। कविने लिखा हैं—

राज्ञी राज्यं विधिवदविषद्भर्तुरव्याहताज्ञा ॥ ५७ ॥

कुमारसंभवमें कविने शिव-पार्वतीके विवाह और उनकी दाम्पत्य क्रीड़ाका मानव-समाजके समान ही चित्रण किया है। इस वर्णन सन्दर्भमें कविने विलास-लीलाको इतना अधिक मानवीय रूप दिया है जिससे यह किंवदन्ती प्रचलित हुई कि प्रथम सर्गमें माताके शरीरका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अष्टम सर्गमें माताके भोग-शृंगारका वर्णन करने वाले देवीके क्रोधसे कविको कुष्ठ रोग हो गया। इस किंवदन्तीमें तथ्य हो या न हो पर यह मानना पड़ेगा कि कविकी विचार-धारा क्रान्तिकारी है। उन्होंने शिव-पार्वतीके विवाह और कुमार-जन्मकी कथा अंकित कर समष्टि काव्यकी रचना की है। शिव कोई एक व्यक्ति नहीं बल्कि विश्व-मूर्ति हैं। पार्वती निखिल-भूतमें व्याप्त आह्लादिनी शक्ति है। अतः कुमारसंभव व्यक्ति-प्रेमका काव्य नहीं समष्टि-प्रेमका काव्य है। इसीलिए कविने मंगलाचरणमें 'अस्ति' शब्दका प्रयोग किया है और संकेत दिया है कि शिव और पार्वतीका प्रेम सत्ता मात्र है। यदि काम-विजयका विश्लेषण फ्रायडके सन्दर्भमें किया जाय तो अनेक तथ्य प्रस्फुटित होते हैं। नर और नारीका प्रेम शाश्वत भूमिकापर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि कविने यह घोषणा की है कि देवाधिदेव शिवने ही पुरुष और स्त्रीके रूपमें अपने आपको द्विधा विभक्त किया है। इस पुरुष तत्त्व और स्त्री तत्त्व में जो पारस्परिक आकर्षण है वह शिवकी आदि सिसृक्षाका ही विलास है। एक-दूसरेकी ओर आकृष्ट होकर वे उस प्रथम शिवत्वकी आस्थाको ही प्राप्त करना चाहते हैं। विशुद्ध प्रेममें जो अद्वैत भावना आती है वह शिवत्वकी ही अनुभूतिका एक रूप है। अतएव कविने कुमारसंभवमें भी विलास-लीलाका चित्रण कर अपनेको नवीन युग-स्रष्टा सिद्ध किया है। कविका यह विश्वास है कि त्यागके साथ ऐश्वर्यका और तपस्याके साथ प्रेमका मिलन होनेपर ही स्त्री और पुरुषका प्रेम धन्य होता है। त्याग और भोगके सामञ्जस्यसे ही जीवन चरितार्थ होता है। एकान्त वैराग्य आसुरी शक्तिका दमन नहीं कर सकता। भोग और वैराग्यके यथोचित सामञ्जस्यमें ही जीवनकी पूर्णता है। जो प्रेम केवल शारीरिक आकर्षण पर निर्भर होता है वह क्षणस्थायी है। जब तक वह तपस्याकी अग्निमें तप कर निखरता नहीं है तब तक बन्ध्या है, निष्फल है। कालिदासकी नायिकाओंका जीवन तपस्या और प्रेमके सामञ्जस्थका है।

महाकवि कालिदासके क्रान्तिकारी विचारोंके विश्लेषणके पश्चात् कलाकी दृष्टिसे उनका मूल्यांकन भी आवश्यक है। कालिदासका सौन्दर्य-सिद्धान्त आधुनिक समीक्षा-शास्त्रके अनुकूल है। उनकी दृष्टिमें सौन्दर्य नित-नूतन है। जब किसी वस्तुका रूप हमारे मनको अरुचिकर प्रतीत होता है तो हम उससे मुँह फेर लेते हैं। अरुचिकर या फीकापन पुरातनका ही पर्याय है। जो रूप मनकी रमणशील वृत्तिको सतत उद्बुद्ध करता है वह चिर-नवीन माना जाता है। प्रतिक्षण आनन्दकी वृद्धि करने वाला रूप नित-नूतन कहलाता है। कविने मालविकाग्निमिनमें सौन्दर्यकी इसी नूतनताका चित्रण किया है—

न च परिचितो न चायरम्यश्चकितुमुपैमि तथापि पार्श्वमस्य।
सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति स एव नवो नवोऽयमक्ष्णोः॥ मालव० १।११

राजा अग्निमित्रको देखकर गणदास कहता है। राजासे मेरा पूर्व परिचय भी है। ये भयंकर भी नहीं है। फिर भी इनके निकट जानेमें मुझे हिचक हो रही है। समुद्रके समान ज्यों के त्यों सदा एक रस रहते हुए भी ये मेरी आँखोंको पल-पलमें नवीन दिखाई देते हैं। ज्योतिकी तरंगोंके कारण रूप समुद्र नित-नवीन दिखाई देता है। इस प्रकार कविने सौन्दर्यकी क्षण-क्षण नव-नव रूपमें अंकित किया है। कालिदास सुन्दर आकृतिको सर्वदा सुन्दर ही मानते हैं। सुन्दर रूप सभी अवस्थाओंमें सुन्दर ही रहता है। बाह्य अलंकरणोंसे व्यक्तिके रूप सौन्दर्यकी अभिवृद्धि तो होती है किन्तु उसके अभावमें भी रूपका प्रकाश क्षीण नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनलंकृत रूप अपनी नैसर्गिक कान्तिमें अधिक प्रदीप्त रहता है। रूप किसीके आश्रयकी अपेक्षा नहीं करता। मधुर आकृति वाले को कुछ भी पहना दीजिये वह मनोज्ञ ही दिखलाई देगा। कविने लिखा है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्मलक्ष्मीं तनोति।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्॥ शाकु० १।१९

सेवारसे घिरा रहनेपर भी कमल सुन्दर लगता है। कलंक चन्द्रमाकी शोभाको बढ़ाता ही है। शकुन्तला वल्कल पहने हुए भी सुन्दर प्रतीत होती है। जो स्वभावतः सुन्दर है उसे बाह्यमण्डनकी आवश्यकता नहीं। कुमारसम्भवमें कविने जन्मजात प्रतिभा, सौन्दर्यके साक्षात्कार की अभिलाषा और औचित्य ज्ञानका समावेश कर सौन्दर्यका आधुनिक रूप अंकित किया है। कविने लिखा है—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥ कुमारसंभव १।४९

अर्थात् पार्वतीजीके रूपको देखकर ऐसा प्रतीत होता था कि विश्वद्रष्टा ब्रह्माने सुन्दर अंगोंकी उपमामें आने वाली सभी वस्तुओंको यत्नसे एकत्र कर पार्वतीजीके अंगों पर यथास्थान सजा दिया है। क्योंकि वे पृथ्वीके समस्त सौन्दर्यको एकस्थ देखना चाहते हैं।

शाकुन्तलमें भी कविने बताया है कि चित्रकार जिस प्रकार चित्र बनानेके पूर्व रेखाओं का अंकन करता है पश्चात् अपनी कूचिकासे रंगोंको भरकर चित्रको सजीव बनाता है उसी प्रकार किसी सुन्दर वस्तुको रचनेके पूर्व उसका चित्रांकन करना आवश्यक होता है। कविने लिखा है—

चित्रे निवेश्य परिकल्पितसत्त्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः॥शाकु० २।९॥

अर्थात् ब्रह्माने जब शकुन्तलाको बनाया होगा तब पहले उसका चित्र बनाकर या मनमें संसारकी सभी सुन्दरियोंके रूपोंको इकट्ठा करके उसमें प्राण डाले होंगे। क्योंकि ब्रह्माकी प्रसन्नता और शकुन्तलाकी सुन्दरता दोनोंपर बार-बार विचार करनेसे यही जान पड़ता है कि यह कोई अपूर्व स्त्रीरत्न उन्होंने बनाया है। यहाँ भी सम्पूर्ण सौन्दर्यको एकत्र करनेका प्रयास एवं उसे एकस्थ देखनेकी लालसा वर्तमान है। कालिदासने सौन्दर्यको जहाँ वस्तुनिष्ठ, वहाँ उसे व्यक्तिनिष्ठ भी स्वीकृत किया है। व्यक्ति अपनी दृष्टि या रुचिके अनुसार सौन्दर्यका दर्शन करता है। शाकुन्तलमें जहाँ वस्तुनिष्ठ सौन्दर्यकी चर्चा है वहाँ रघुवंशमें व्यक्तिनिष्ठ सौन्दर्यका कथन आया है। कविने इन्दुमतिके स्वयंवरके अवसरपर अत्यन्त कुशलताके साथ रुचितत्त्वका उल्लेखकर आत्मनिष्ठ सौन्दर्यकी चर्चा की है। बताया है—

अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।
नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग् द्रष्टुं न सा, भिन्नरुचिर्हि लोकः॥ रघु० ६।३०

इन्दुमतीने उस अंगदेशके राजासे आँख हटाईं और सुनन्दासे आगे चलनेको कहा। यह बात नहीं थी कि वह राजा सुन्दर नहीं था। और न यही बात थी कि इन्दुमतीने उसे

४६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ठीकसे न देखा हो। अपनी-अपनी रुचि होती है। किसीको कोई अच्छा लगता है, किसीको कोई। स्पष्ट है कि सुन्दरता यदि वस्तुनिष्ठ होती तो हर विषयीको वह प्रिय लगती। जैसे गन्नेकी मिठास हर व्यक्तिको प्यारी लगती है। पर सुन्दरता आत्मनिष्ठ भी है। विषयी किसी वस्तुके गुणको जब तक अपनी कल्पनामें स्थान नहीं देता तब तक वह उसके लिए सुन्दर नहीं हो सकती। रुचिके आधारपर ही व्यक्ति अपनी पसन्दकी वस्तु चुनता है। इस प्रकार आत्मनिष्ठ सौन्दर्यका संकेत उपस्थित किया है।

शाकुन्तलम्के षष्ठ अंकमें विरही दुष्यन्तके समक्ष चतुरिका शकुन्तलाका चित्र लाकर उपस्थित करती है। राजा, विदूषक और सानुमती ये तीनों ही उस चित्रपर अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। इनके वार्तालापमें सौन्दर्य सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनायास अभिव्यक्त हुए हैं। इन सिद्धान्तोंसे स्पष्ट है कि महाकवि कालिदासने सौन्दर्य सम्बन्धी तथ्योंका निरूपण, वाल्मीकि और व्यासकी अपेक्षा नवीन रूपमें प्रस्तुत किया है। आजके सौन्दर्यवादी सिद्धान्तोंके आधारपर भी कालिदासके सौन्दर्य सिद्धान्तोंको परखा जा सकता है।

राजा उस चित्रको देखकर अपनी सारी सुध-बुध खो बैठता है। विदूषक भी उन्हींकी तरह उन्मत्त हो जाता है। सानुमती भी उस चित्रको यथार्थ शकुन्तला समझ कर भाव-विभोर हो जाती है। कलाकृतिके सम्पर्कमें जो-जो आया वह अपनी सहृदयताके कारण उन्मत्त हो गया। कलाकी उन्मत्तता संक्रामक होती है। टॉल्सटायके कलागत संक्रमणताका सिद्धान्त यहाँ देखा जा सकता है—

एष तावदुन्मत्तः। अहमप्येतस्य संगेदृशवर्ण इव संवृत्तः। भो चित्रं खल्वेतत्।

इन पंक्तियों में उन्मत्तता और संक्रमणशीलताका स्पष्टतया समावेश हुआ है। संक्षेपमें कालिदासने शिवतत्त्वके समान सौन्दर्यको भी सर्वत्र व्याप्त और चिरन्तन माना है। सौन्दर्यमें न सुख है न दुःख। यहाँ शाश्वत आनन्दका चिद्विलास है। प्रणय और सौन्दर्यका उपभोग सार्थक है। युक्ताहारविहार सदा अभिनन्दनीय है। सौन्दर्य सागरकी तरह एकरस है। लेकिन सहृदय द्रष्टाको यह प्रतिक्षण नवीन प्रतीत होता है। औचित्य ज्ञानके सद्भावमें ही सौन्दर्यकी सृष्टि होती है। रुचि-वैचित्र्यके कारण कोई सुन्दर वस्तु भी सभीको एक-सी सुन्दर प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार महाकवि कालिदास ने सौन्दर्य सिद्धान्तोंका समावेशकर कलाकृतिमें आधुनिकताका समवाय किया है।

काव्य-कला की दृष्टिसे बिम्ब-विधान भी युग-निर्माता कविके लिए आवश्यक है। महाकवि कालिदास का आधुनिक परिवेशमें मूल्यांकन करनेके हेतु उनकी बिम्ब-विधायिनी प्रतिभापर विचार करना आवश्यक है। यतः बिम्बोंके द्वारा ही कविकी सूक्ष्म-प्रतिभाका परिज्ञान होता है। बिम्ब मनके कल्पना-व्यापार द्वारा मानस-पटलपर निर्मित होते हैं। और अपनी स्फटिकोपम स्वच्छतामें शोभित होते हैं। यहाँ स्फटिकतासे आशय हमारा स्पष्टता, सुबोधता और मूर्त्ततासे है। बिम्बके पारदर्शी पुतलेसे भावका समीरण आर-पार बहता रहे। बिम्ब तरल, वायवीय, भावनाओं एवं विचारोंको मूर्त्त, ठोस रूप प्रदान करते हैं। बिम्ब, भावकी प्राणवत्ता और कल्पनाकी रमणीयताके कारण प्रतिक्षण नवीन दिखलाई पड़ते हैं। संक्षेपमें यों कहा जा सकता है कि विचारों और भावों, बुद्धि और संवेगोंके मिल-जुल जानेसे मानसमें कभी-कभी कोहरा छा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। सनसनाहट और टकराहट सुनाई पड़ती है। लेकिन खुलकर अभिव्यक्तिका आलोक नहीं फूटता। द्वन्द्वकी कुहेलिकाको, असामञ्जस्यकी छटाको काटकर जो आलोक फूटता है वह बिम्ब है। बिम्बके द्वारा सफल अभिव्यञ्जना होते ही अस्पष्टता समाप्त हो जाती है। इसप्रकार उच्च कोटिके बिम्ब, स्फटिकवत्, समुद्रवत्, और विद्युतवत् होते हैं। आशय यह है कि स्फटिक के समान बिम्बोंमें निर्मलता, मूर्त्तता और प्रतिरूपता, रहती है। समुद्रके समान अभिनवता, प्राणवत्ता और तलस्पर्शिता, विद्युद् गुणके समान संघर्षण, आलोक और चमत्कार रहता है। ज्ञानेन्द्रियोंके आधारपर बिम्बोंके चाक्षुप, श्रौत, घ्राणमूलक, रसनामूलक और त्वग्मूलक भेद होते हैं। महाकवि कालिदासने मेघदूतमें बिम्ब विधानका निर्वाह बहुत ही सम्यक् रूपमें किया है। कवि चाक्षुष बिम्बको उपस्थित करता हुआ कहता है—

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः,
सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं बधानः।
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्र नागाजिनेच्छां,
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या ॥३६॥

सान्ध्यवेला है। महाकालके मन्दिरमें आरती समाप्त हो रही है। शंकरका ताण्डव नृत्य हो रहा है। उनकी भुजाएँ ऊँचे-ऊँचे वृक्षोंके रूपमें सुशोभित हैं। वे नृत्य श्रमके कारण कुछ क्लान्तसे दीखते हैं। इसी क्षण मेघ खिले हुए जपापुष्पकी ललाई लिए शिव भुजारूपी वनखण्डके ऊपर छा जाता है। शंकरजी रक्तवर्ण मेघको गजासुरका रक्तिम चर्म समझ कर प्रसन्नतासे ओढ़ रहे हैं। उनकी क्लान्ति मिट रही है। पार्वतीजी उनकी क्लान्तिको दूर होते देख प्रसन्न हो रही हैं। वे बेसुध नयनोंसे अपने प्रियतमको सुख पहुँचाने वाले भक्तिवन्त मेघको जीभर निहार रही हैं।

इस बिम्बमें मेघकी रक्तिमा जो सद्यः प्रस्फुटित जपापुष्पकी तरह है, आँखोंको बड़ी प्यारी लगती है। शिवकी भुजाएँ जो वनकी वृक्षावलीके समान आकाश में फैली हैं नृत्य मुद्रा को प्राणवन्त कर रहीं हैं। लाल-लाल मेघ रक्त रंजित गजासुरका चर्म है जो ताण्डव-नृत्यकी लाल शिखाएँ ताण्डव नृत्यका पृष्ठाधार प्रस्तुत करनेमें सहायक सिद्ध होती हैं। थके भोलेको रिझाने वाला मेघ पार्वतीको अत्यन्त प्रिय है। अतः वे एकटक उसे निहारती हैं। इस बिम्बमें रक्त-वर्णकी प्रधानता है। इसकी रुद्रता नृत्योपरान्त शिवतामें परिणत हो जाती है। मेघकी भक्ति-भावनासे पार्वतीका स्नेह-विभोर होना बिम्बको भभूतके समान पवित्र बना देता है। ताण्डवकी पौराणिक कल्पना हमारे पुरातन-स्थायी भावको पुनरुज्जीवित कर देती है। इस चित्रकी कोई रेखा अनुपयोगी नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपनी अरुणिमासे एक-दूसरेको अरुणाभ बना रही है। जिसकी ललाईपर जगज्जननी निछावर हो रही हैं उस मेघ के भाग्यके क्या कहना। मेघका वर्ण जपापुष्पके समान सुन्दर है। मेघ सुन्दरतम है क्योंकि उसका जीवन शिव सेवामें समर्पित है। वह क्लान्तिको शान्तिमें परिणत कर रहा है। इस प्रकार महाकविने रूपकी परिणति रसमें की है। अतएव यह बिम्ब हमारे अन्नमय कोशको आनन्दमय कोशके रूपमें परिणत कर रहा है। स्थूल मन अति मानसके धरातल पर अनायास चला आता है। आलम्बन मेघका रूप और भाव-सौन्दर्य आश्रय पार्वतीके स्तमित नयन द्वारा चित्रित कर कविने अद्भुत कलात्मकताका परिचय दिया है। उत्कृष्ट काव्य-बिम्बके चार गुण इसमें पूर्णतया विद्यमान हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१. **सर्जनात्मकता**—यह बिम्ब हमारे मनमें पौराणिक कथा, ताण्डव नृत्यके शुभ्र दृश्य का सृजन करता हैं। मनका गजासुर भक्तिके देवत्वमें परिणत हो जाता है। इसके द्वारा मनमें एक नूतन लोकका आविर्भाव होता है।

२. **अर्थगर्भत्व**—इस बिम्बके ध्वन्यार्थमें जितना डूबा जाय उतना आनन्द प्राप्त होता है रूप और भाव सौन्दर्यकी तरंगोंसे यह बिम्ब आर्द्र हो रहा है। आर्द्र अजिनमें गजासुरका बध प्रत्यक्ष हो उठता है। जपाकुसुममें क्रोधका रक्त वर्ण और ताण्डवका सौन्दर्य प्रत्यक्ष गोचर होता है। यह कुसुम हमारी पूजा भावनाको भी जाग्रत करता है।

३. **सामञ्जस्य**—जिस प्रकार समवेत वादनमें कई प्रकारके वाद्ययन्त्र बजते हैं उनके विभिन्न सुर एकलयताकी ओर लिये चलते हैं उसी प्रकार बिम्बके विभिन्न पद, विभिन्न अर्थ छवियोंको व्यक्त करते हुए एक आनन्दानुभूतिकी ओर चलते हैं। काव्य-बिम्बके विभिन्न अंग अर्थ, अलंकार, छन्द, नाद, लय, छविखण्ड, झंकृति, भावविच्छित्ति, वर्णवैविध्य, आदि सौन्दर्यानुभूतिकी ओर अग्रसर होते हैं, अतः इस बिम्बमें सभी अंगोंका सामञ्जस्य प्राप्त है।

४. **परिपाक**—मधुमक्षिका अनेक फूलोंके परागसे मधुका निर्माण करती है। फूलोंके विभिन्न पराग मधुमें आकर अपना वैविध्य छोड़ देते हैं। मधु विभिन्न तत्त्वोंका एक परिपाक है। इसके आस्वादनमें फूलोंकी विविधताका बोध समाप्त हो जाता है। कविके मानसमें भी एक रासायनिक प्रक्रिया चलती रहती है। भावना और विचारणाके विविध तत्त्व अपनी विविधता त्याग कर बिम्बकी पूर्णतामें परिणत हो जाते हैं। भावोंके विविध पुष्प बिम्बोंके सौन्दर्यमदमें केवल आस्वादके रूपमें प्रकट होते हैं। महाकवि कालिदास द्वारा प्रयुक्त उक्त चाक्षुष बिम्बमें भी जपा, अजिन, ताण्डव, मेघ, भवानी, आदिकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं टिक पाती। इस प्रकार विविध तत्त्वोंका परिपाक भक्तिजन्य आनन्दके रूपमें हुआ है। चाक्षुष बिम्बके और भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं पर मैं यहाँ अन्य प्रकारके बिम्बोंकी विशेषता का परिचय प्रस्तुत करनेके कारण चाक्षुष बिम्बोंका विस्तार उपस्थित नहीं करना चाहता। श्रौत बिम्ब अपने लय, भाव और कल्पना माधुर्यसे विचित्र आनन्द उत्पन्न करते हैं। जहाँ पदावलिकी कोमल ध्वनि हमारे मानसमें लय माधुर्यका सृजन करती है, वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि हम किसी लोकमें उड़े जा रहे हैं, हमारा बालमन शब्द संगीतको सुनकर थिरकने लगता है और प्रौढ़मन उस थिरकनके बीच गहराई खोजनेके लिए व्याकुल रहता है। केवल कोमलकान्त पदावलिकी योजना लय माधुर्य उत्पन्न नहीं कर सकती है। यदि करती भी है तो वह ऊपरी और क्षणिक होती है। बिम्बका आधार पाकर ही लय और भावकी सुकुमारता घुल-मिल जाती है। महाकवि कालिदासने श्रौत बिम्ब उपस्थित करते हुए लिखा है—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥१।९॥

'मन्दं-मन्दं नुदति पवनः' तक मानो वायुकी एक लहर सरककर धीरे-धीरे ऊपर उठ रही है। 'पवनश्च' लहरके उत्कर्षका चरम बिन्दु है फिर इस बिन्दु से लहर नीचे उतरती-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सी है। 'अनुकूलो यथा त्वां'में लहर लुढ़क-सी रही है। प्रथम और द्वितीय पंक्तिमें सानुनासिक ध्वनियोंकी प्रचुरता है। द्वितीय पंक्तिका अन्तिम शब्द सगन्ध, माधुर्य गुणके सौन्दर्यको और बढ़ा रहा है। इस प्रकार यहाँ लय-माधुर्य भाव सौन्दर्यके साथ मिलकर, एक नया ही चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। भाव-सौन्दर्यके अभावमें लय-माधुर्य लड़कपन है। उसमें काव्यत्व नहीं। यह बिम्ब हमारे कल्पना नयनको नूतन उत्सव प्रदान कर रहा है। गर्व भरे पपीहेकी मीठी रटन हमारे कानोंको बहुत सुहावनी लग रही है। इस प्रकार पवनकी सनन, पपीहेकी रटन और बलाकाओंका कूजन, इस बिम्बको नयन सुभगम्के साथ श्रवणसुभगम् भी बना देता है। घ्राणमूलक बिम्बको उपस्थित करते हुए कविने लिखा है—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमाना।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं,
किञ्चित्पश्चाद् व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥ १।१६॥

नागरिकोंको जुही, मालती, केतकी आदि पुष्पोंकी गन्ध जानी पहचानी होती है पर कृषकोंकी जोती हुई धरती, मकई या धानके मंजर और पके आमकी गन्ध ज्यादा भाती है। जंगलोंमें उड़ती हुई गंधको सूँघनेवाले मदोन्मत्त हाथी होते हैं। पर खेतोंकी इस सोंधी गंधको जिन्हें सूँघनेका अवसर प्राप्त हुआ है, उन्हें नकली इत्रोंकी गंध फीकी मालूम होगी। रसना-मूलक बिम्बकी योजना करते हुए कविने बताया है—

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्ति वृष्टि-
र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां,
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥१।२०॥

हे मेघ, जब तुम वृष्टि द्वारा अपना जल उड़ेल चुको तो नर्मदाके उस जलका पानकर आगे बढ़ना जो जंगली हाथियोंके तिक्त, महकते मदसे भावित है और जो जामुनोंके कुञ्जोंमें रुक-रुक कर बहता है। हे मेघ, भीतरसे तुम ठोस रहोगे तो हवा तुम्हें न उड़ा सकेगी। क्योंकि जो रीते हैं, वे हल्के और जो भरे हैं वे भारी भरकम होते हैं।

मेघ नर्मदाका जल पी रहा है, इस कथनसे बिम्बका विधान नहीं हो सकता। बिम्ब विधानमें अनुभूतिकी सफल प्रेषणीयता अपेक्षित है। कविने यहाँ जलके कषैलेपनको सहृदयकी जीभतक पहुँचा दिया है। नर्मदाके जलमें जंगली हाथियोंका तिक्त मद बसा हुआ है। जामुनके कुञ्जोंसे बहनेके कारण पके जामुनके गिरनेसे जलमें तिक्तता और बढ़ गई है। मद और जामुनने जलके रंग और गंधको परिवर्त्तित कर दिया है, पाठककी रसना यहाँ विचित्र रसका आस्वादन कर रही है।

त्वग्मूलक बिम्बकी योजना करता हुआ कवि कहता है—

दीर्घीकुर्वन्पटु मदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ १।३१ ॥

शिप्राका प्रातःकालीन कमलोंकी भीनी गंधसे महकता हुआ सारसोंके मधुर कूजनमें चटकारी भरता हुआ, अङ्गोंको सुखद स्पर्श देकर प्रार्थनाके चाटुकार प्रियतमकी भाँति बालाओंके रति जनित खेदको दूर करता है। इस बिम्बमें कूजन, आमोद-गन्ध, कषाय, स्फुटित कमल और ग्लानिहरण क्रमशः श्रुति, नासा, रसना, नेत्र और त्वक्को तृप्ति प्रदान कर रहा है। पर यहाँ पवनसे स्पर्शका प्राधान्य रहनेके कारण इसे त्वग्मूलक बिम्ब ही कहा जायगा।

कविने स्फोटमूलक, गति-मूलक, अतीन्द्रिय आदि बिम्बोंकी भी योजना की है, युग नवीनताकी दृष्टिसे कविका यह बिम्बविधान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आजके कलामीमांसक प्रतीक और बिम्बोंको कलाका सर्वस्व मानते हैं। महाकवि कालिदासने विम्बोंके साथ ऐसे प्रतीकोंका भी प्रयोग किया है, जो हमारे संस्कारको उद्बुद्ध करते हैं। वास्तवमें महाकवि कालिदासकी काव्य-कला कालजयी है। उसका सम्बन्ध न केवल अतीतके साथ है, न वर्तमानके साथ न भविष्यके साथ ही। वह तो अजस्र और नित-नूतन आनन्द देनेवाली है।

यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसिति रामगिर्याश्रमेषु।

× ×

तू पूछ अवधसे राम कहाँ,
वृन्दा बोलो घनश्याम कहाँ।
ओ री, उदास गण्डकी बता,
विद्यापति कविके गान कहाँ॥

\+ +

आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं,
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ॥१।१२॥

\+ +

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्द्धेन्दुमौलेः,
शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीयाः।
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादर्ध्वमुद्धतपापाः,
सङ्कल्पन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः॥ १।५५ ॥

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कालिदासस्य राष्ट्रिय भावना

कालिदासः संस्कृतसाहित्यस्य ज्वलन्दीपस्तम्भोऽस्ति । अस्य रचनासु राजनीतेस्तत्कालीनधार्मिकसांस्कृतिकरूपस्य शास्त्रविज्ञानस्य, राष्ट्रियभावनायाः कलायाश्च संकेत उपलभ्यते । वैदर्भ्याः शैल्याः कविः कालिदासस्स्वरचनासु बाह्यालंकृतेरारोपस्यावश्यकतां न ज्ञातवान् । अस्य रघुवंशकुमारसम्भवे द्वे महाकाव्ये मेघदूततर्तुसंहारे द्वे गीतिकाव्ये, एतच्चत्वारः काव्यग्रन्थास्सन्ति । मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयमेवमभिज्ञानशाकुन्तलञ्चेति त्रयो नाटकग्रन्थास्सन्ति । एतेषु सर्वेषु ग्रन्थेषु महाकविना राष्ट्रियभावनायाः विश्लेषणं निरूपणञ्च कृतम् । कालिदासेन भारतभूमेः न केवलं जयगानं कृतम्, अपितु भारतस्य यथार्थचित्रणं कृत्वाऽस्य भावात्मकराष्ट्रियैकतायास्स्थापनार्थं प्रयत्नः कृतम् ।

महाकविकालिदासस्याधिकांशाभिव्यंजना समूहवाणी भूत्वा समूहे नितरां मिलित्वैवोपस्थितावर्तते । अस्य काव्यानामनेकसन्दर्भाः लोकचित्तेभ्य उत्पन्नाः भूत्वा प्रत्येकभारतीयमान्दोलितं प्रभावितञ्च कुर्वन्ति । नाटकीयपात्रैः कविर्जनभाषाप्राकृतस्य व्यवहारं कारितवान् तथा धीवरलुब्धकसदृशान् निम्नश्रेणीप्रतिनिधिजनान् पात्रेपूपस्थाप्य तेषां व्यवसायेभ्यः कार्येभ्यश्च तेन मान्यता दत्ता । फलतः राष्ट्रियभावनायाः मूलभूतजनसामान्यरीतिप्रथयोः आचार-व्यवहारयोः श्रद्धायाः विश्वासस्य, आवासस्य सहिष्णुतायाः जनानाञ्जीवनभूतस्य च यथास्थानं तेन चित्रणं कृतम् । कृषकजीवनस्य, ग्राम्यजीवनस्य साधारणव्यावसायिकस्य, श्रमिकस्य च जीवनचित्राणि कार्यव्यापाराणि च प्रस्तुतानि ।

कविना भारतराष्ट्रस्याङ्गभूतकृषैः कृषकजीवनस्य च विभिन्नपरिस्थितिषु वर्णनं कृतम् । शालिक्षेत्रेषु यदा शालयः पक्वाः जायन्ते तदा कृषकास्तद्वैभवं वीक्ष्यानन्दमग्नाः भवन्ति । कविः कथयति

भिन्नाञ्जनप्रचयकान्ति नभो मनोज्ञं बन्धूकपुष्परचितारुणता च भूमिः ।
वप्राश्च पक्वकलमावृतभूमिभागाः प्रोत्कण्ठयन्ति न मनो भुवि कस्य यूनः ।।

पक्वधान्यक्षेत्राणि दर्शकवृन्दानां मनांसि चालयन्ति तथा कृषकानपरिमितसुखिनः कुर्वते । अस्मिन् सन्दर्भे कविःसस्यसमृद्धानि क्षेत्राणि वीक्ष्य केवलं ग्रामीणजनानां प्रसन्नताया एव चित्रणं न करोति, प्रत्युत् पथिकानामपि । पथिका अपि सस्यसमृद्धिमवेक्ष्याकृष्टाः जायन्ते । तेऽपि क्षणं यावत् तन्महनीयविभूतिदर्शनं कृत्वा कृतकृत्या भवितुमिच्छन्ति । वस्तुतो भूमेश्शोभा सस्यसमृद्धिरेवास्ति सस्यानामभावे क्षेत्राणि परिलक्ष्यन्ते । कविर्ग्रामसमृद्धेः प्रतिपादनं कुर्वन् राष्ट्रियभावनया प्रेरितो भूत्वा कथयति—

प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगाङ्गनायूथविभूषितानि ।
मनोहरक्रौञ्चनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः ।।

ग्रामादबहिःक्षेत्रेषु पूर्णश्शालिः क्रीडन्नस्ति । मृग्यः सस्यवैभवेन प्रसन्ना कूर्दन्ते । सारसाः आनन्दमग्नाः सन्तः कोलहलध्वनिं कुर्वन्तो विद्यन्ते । एवम्षप्रकारेण तेषां समृद्धया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गणितप्राणिनां प्रसन्नतया सम्बद्धमन्नवातावरणं वीक्ष्य पथिकानां मनांसि हर्षातिरेकेणात्मबहिः निर्गच्छन्ति सन्ति ।

कवये पक्वसस्यक्षेत्राणि नितान्तं रोचन्ते । स बारम्बारं समृद्धिवर्णनं करोति । तस्य धारणा वर्त्तते यत् क्षेत्राणामियं विभूतिः जनजीवनस्य प्राणाधारोऽस्ति । जीवनस्य समस्तप्रसन्नतास्सस्यवैभवाश्रिता एव सन्ति । अतएव कविः कथयति—

बहुगुणरमणीयो योषितां चित्तहारी, परिणतबहुशालिव्याकुलग्रामसीमा ।

पद्येऽस्मिन् कविर्धान्यकर्त्तनायोत्पन्नव्याकुलतायाः संकेत कृतवान् । ग्राम्यपार्श्ववर्त्तीनि क्षेत्राणि स्वसस्यसमृद्धिकारणात् लोकमनांसि लोभयन्ति, सहैव ग्रामसुषमामपि वर्द्धयन्ति । धान्यस्येक्षोश्चोत्पत्तिस्सहैव भवति । अनया शिशिरर्तुसौन्दर्यं वर्द्धते । इयं जनमानसे नानाप्रकारोल्लासमुत्पाद्य ग्रामश्रियं प्रति नागरिकानपि समुत्सुकान् करोति ।

राष्ट्रियताया आधारभूतानि गोधन-कृषि-भौगोलिकप्रदेशादीनि तत्त्वानि वर्त्तन्ते । येषां तत्त्वानां सम्यग् वर्णनेन कवेः राष्ट्रियतायाः परिज्ञानं जायते, तस्य राष्ट्रभक्तिश्चाभिव्यक्ता भवति । महाकविकालिदासेन सम्राट् दिलीपस्य गोसेवा वर्णिता । लिखितं कविना—

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च ।
अव्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥
स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः ।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत् ।

स्पष्टं भवति यद् राष्ट्रस्य समृद्धिभूतगोधनस्य संरक्षणावश्यकता वर्तते । अनेनैव हेतुना कालिदासः पशुसम्पत्तेः संवर्द्धनं महनीयं मन्यते । भारतीयराष्ट्रस्य हिमालयधेनुदेवदारुषु त्रिषु प्रधानप्रतीकेषु देवदारुवृक्षोऽपि महान् वर्तते । कविः सिंहमुखेन दिलीपसमक्षं कथितवान्, यदयं विशालः सम्मुखे दृश्यमानो देवदारुवृक्षः शङ्करेण पुत्रीकृतोऽस्ति । एकदैकेन वन्यद्विपेन स्वगण्डस्थलघर्षणेन त्वगस्योन्मथिता, तदाप्रभृत्येव शङ्करेण वनगजानां हिंस्रप्राणि नंच त्रासार्थमहं रक्षको नियुक्तः । अनेन सन्दर्भेणैतदेवाभिव्यञ्जयते यत् राष्ट्रहितार्थं वृक्षाणां वनानाञ्चातिमहत्त्वमस्ति ।

हिमालयस्य, मेघदूतरघुदिग्विजयान्तर्गतानां जनपद-ग्राम-नगर-नद-वन-पर्वतानां कविना एतादृशं वर्णनं कृतं येन कवेः राष्ट्रियभावनाभिव्यक्ता भवति । हिमालयं वर्णयति कविः—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः ।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥
यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥

अनेनैव प्रकारेण कविः प्रयागस्थित त्रिवेणीसङ्गमस्य वर्णनं कृत्वा राष्ट्रियभावनां जागर्ति ।

क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणैव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य ।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः ॥

एवम्प्रकारेण महाकविकालिदासेन राष्ट्रियभावनाया अभिव्यंजनार्थं प्रणय-कर्त्तकयोः स्वार्थ-परमार्थयोः, धर्मार्थयोश्च संघर्षमपनीय मञ्जुलसमन्वयोपस्थापनं कृतम् । अयं समन्वयः जीवने राष्ट्रकल्याणभावनायै महत्त्वं ददाति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेघदूतस्य समस्यापूर्त्यात्मकं पार्श्वाभ्युदयकाव्यम्

सन्देशकाव्येषु प्राचीनतमं काव्यं कालिदासस्य मेघदूतमस्ति। एतत्स्रोतसां विवेचनं कुर्वद्भिः ऋग्वेदीयः 'सरयापणि-संवाद.' प्राचीनस्रोतोरूपेण स्वीकृतोऽस्ति। वाल्मीकि-रामायणे सीतान्वेषणप्रसंगे हनुमतो दूतरूपेण गमनमपि काव्यस्य प्रेरणास्रोतःसु स्थानमलङ्करोति। जैन-कविभिरेकं नवीनमुद्देश्यं गृहीत्वा मेघदूतानुकारीणि संदेश-काव्यानि रचितानि। शृंगारवातावरणे चलन्त्याः काव्यपरम्परायाः स्वप्रतिभया शान्तरसे प्रेरणमल्पीयो महत्त्वपूर्णं कार्यं नास्ति। त्यागे विश्वस्तैः जैन-लेखकैः श्रमणसंस्कृतेरुच्चतत्त्वानां विश्लेषणं पार्श्वनाथ-नेमिनाथसदृशानां महापुरुषाणां जीवनचरितेष्वकारि। कियद्भिः कविभिः मेघदूतश्लोकानामन्तिमपदानि गृहीत्वा समस्यापूर्तिस्वरूपाणि संदेशकाव्यानि प्रणीतानि। एवं संदेशकाव्यानां जैनकविकृतानां प्रारम्भः पार्श्वाभ्युदयादेव जायते। जैनसंदेशकाव्येषु साहित्यिकसौन्दर्येण साकं दार्शनिकसिद्धान्तोऽप्युपलभ्यते। विषयानुसारं मनश्शीलयोः दौत्ये नियुक्तिः सर्वथा नवीनः प्रयोगोऽस्ति। काव्यभाषायां संयम-सदाचार-परमार्थ-तत्त्वानां निरूपणं सहृदयजनास्वाद्यं सञ्जातं वर्त्तते।

मेघदूतपदान्याश्रित्य प्रणीतेषु समस्यापूर्त्यात्मककाव्येषु पार्श्वाभ्युदयकाव्यं सर्वप्रथमं विद्यते। काव्येऽस्मिन् चत्वारः सर्गाः सन्ति। सर्गेषु श्लोकानां संख्याधोनिर्दिष्टास्ति—

प्रथमसर्गे—११८, द्वितीयसर्गे—११८,

तृतीयसर्गे—५७, चतुर्थसर्गे—७१

काव्यभाषायां प्रौढिरस्ति। मेघदूतवदस्मिन्नपि मन्दाक्रान्ताच्छन्दो व्यवहृतमस्ति। काव्यशैल्याः जटिलतया कथावस्तु सहसा प्रकाशं नायाति पाठकसमक्षम्। समस्यापूर्तिप्रणाल्यां काव्यगुम्फनेन मूलपंक्तीनां भावेषु यत्र-तत्र विपर्यस्तता लक्ष्यते। अस्य प्रणेता जिनसेनो द्वितीयोऽस्ति।

कवेरेतस्य जीवनवृत्तसम्बन्धे प्रामाणिकमितिवृत्तं नोपलभ्यते। काव्यान्तःप्रमाणेनैतत् स्पष्टं जायते यदयं वीरसेनाचार्यशिष्य आसीत्। विनयसेनोऽस्य गुरुभ्रातासीत्। तदादेश एवैतत्काव्य-प्रणयने कारणमभूत्। काव्यस्य प्रत्येकसर्गे जिनसेनोऽमोघवर्षस्य गुरुः कथितो वर्त्तते। अमोघवर्षः राष्ट्रकूटदेशस्य राजासीत्। कर्नाटक-महाराष्ट्र-देशयोरपि तदीयशासनमासीत्। अयं शकसंवत् ७३६ काले राज्यासीनोऽभवत्। अस्य राजधानिका मान्यखेटे मलखेडे वासीत्। जिनसेनोपदेशेनाऽयं जैनधर्मे दीक्षितोऽभवत्। प्रश्नोत्तरमालया ज्ञायते यदमोघवर्षः स्वपुत्राय राज्यं दत्वा स्वयं वनं जगाम। पार्श्वाभ्युदयस्योल्लेखो हरिवंशपुराणेऽपि वर्त्तते। पार्श्वाभ्युदयस्य रचनाकालोऽष्टमी शती वर्तते। वीरसेनारब्धां जयधवलाटीकां (शकसंवत् ७०५) काले फाल्गुन-शुक्ल-दशम्याः पूर्वाह्णे समाप्तवान्। अतो जिनसेनरचनाकाल-निर्णये पार्श्वाभ्युदयानन्तरं जयधवलाटीकायास्तदनन्तरं पुराणस्य च क्रमः निश्चीयते। डा० ज्योतिप्रसादोल्लेखानुसारं वीरसेनस्वामिनः पट्टशिष्यः सेनशंकरी आचार्यजिनसेनस्वामी अमोघवर्षस्य राजगुरुः धर्मगुरुश्चासीत्। अयं विभिन्न-भाषाविज्ञो विविधविषयाणां पटुः दिग्गजो विद्वानासीत्। बाल्यादेव तेन सह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमोघवर्षस्य सम्बन्धोऽभवत् । जिनसेनाचार्यस्य स्थितिकालः शकसंवत् ६८०-७६५ यावत् संभाव्यते । स्वर्गीयपण्डितनाथूरामप्रेमिणा स्वविस्तृत-निबन्धे जिनसेन-गुरु-परम्परायां समयादौ च विचारितम् । प्रस्तुतकाव्यस्य टीकायां पार्श्वाभ्युदयस्य महती प्रशंसा वर्त्तते ।

कथावस्तु—

पोदनपुरस्यारविन्दनरेशेन बहिष्कृतः कमठः सिन्धुनदी-तटे तपश्चरति । अग्रजनिष्कासनेन दुःख्यनुजो मरुभूतिः कमठसमीपं गच्छति । मरुभूतिं पश्यतः कमठस्य हृदये क्रोधाग्निः प्रज्वलति । स नमस्कारं कुर्वतः मरुभूतेरुपरि पाषाणशिलां पातयति, येन सः पञ्चत्वं याति । पश्चात् अनेकेषु जन्मसु कमठस्य जीवात्मा मरुभूतिजीवाय कष्टं ददाति । अन्ततोगत्वा मरुभूतिजीवो वाराणस्यां महाराजविश्वसेनस्य महाराज्ञाः ब्राह्मीदेव्याः पुत्रत्वं गृह्णाति । अभिनिष्क्रमणानन्तरमेकस्मिन् दिने पार्श्वनाथस्य (मरुभूतिजीवस्य) उपरि शम्बरस्य (कमठस्य) जीवस्य दृष्टिः पतति । तस्य पूर्वकालीनो वैरभाव उद्दीप्तो जायते । स स्वमायाप्रभावेन घोरवृष्टिमुपस्थापयति । स सिंहवद्गर्जति । तञ्च धिक्करोति । एतावतापि यदा पार्श्वनाथः साधनाविचलितो न भवति तदा कमठः तं युद्धायाह्वयते तथा युद्धे स्वहस्तमृतं तं स्वर्गलोकस्थितामलकापुरीं गन्तुमुपदिशति । शम्बरस्य (कमठस्य) विभिन्नप्रकाराणि दुर्वचनानि श्रुत्वापि पार्श्वनाथः (मरुभूतिः) मौनस्तिष्ठति । शम्बरोऽस्मिन्नवसरे पार्श्वनाथं विभिन्नकथाः श्रावयति पुनर्युद्धाय चाह्वयते । युद्धे पार्श्वनाथस्य मृत्युं सम्भाव्य स्वयं मेघरूपधारणकारणात् शंबराय पार्श्वनाथायापि मेघरूपं दत्वोत्तरदिक्स्थितालकापुरीगमनाय परामर्शं ददाति ।

काव्येऽस्मिन् शंबरः (कमठः) यक्षरूपे कल्पितोऽस्ति । तस्य प्रेयसी भ्रातृपत्नी वसुन्धरा यक्षपत्नीरूपे कल्पिता विद्यते । राजारविन्दः कुबेररूपेण वर्णितो विद्यते, येन कमठः नगरनिर्वासनेन दण्डितः आसीत् । मेघरूपेण (मरुभूतिः) पार्श्वनाथः चित्रितोऽस्ति । कमठानुसारं जीवनान्ते पार्श्वनाथो मेघरूपेण स्वर्गं गमिष्यति । प्रसंगतो रामगिरेलकापुरीं यावत् मार्गं वर्णितं विद्यते । सर्वप्रथमं रामगिरेरुत्तरस्यां प्रस्थिते आम्रकूटगिरेः, तत्पश्चात् पुनरुत्तरस्यां प्रयाते नर्मदायाः, विन्ध्यवनस्य, दशार्णदेशस्य, तस्याः राजधानिकायाः विदिशायाश्च वर्णनं कृतमस्ति । विदिशायां वेत्रवत्याः जलग्रहणानन्तरं कस्यामप्यट्टालिकायां दिनं यापयित्वा रात्रौ नीचैः नामके पर्वते विश्रम्य तदनन्तरं निर्विन्ध्यायाः सिन्धोश्च साम्मुख्यं कुर्वते मेघायोज्जयिनीगमनाय परामर्शं ददाति । उज्जयिन्यां जिनमन्दिरे जिनस्तुत्यनन्तरं महाकालनामकवने स्थितानां जिनालयानां दर्शनानन्तरं नगरीशोभाप्रेक्षणाय परामर्शं ददाति ।

उज्जयिन्यनन्तरं गम्भीरायाः देवगिरिपर्वतस्य चर्मण्वत्याः नद्याः दशपुरनगरस्य, सीतासरितः, ब्रह्मावर्त्तदेशस्य, कुरुक्षेत्रकनखलयोः, हिमालयक्रौञ्चरंध्रयोरलकापुर्याश्च सामीप्यं प्राप्तुमनुरोधः कृतोऽस्ति । कविरलकापुर्याः विविधभावभंगिमाभिः सह श्रृंगारवर्णनं शंबरमुखेन कारितवान् । एवंप्रकारेण मेघे (पार्श्वनाथे मरुभूतौ) अलकापुरीं प्राप्ते तस्य पूर्वजन्मपत्न्या वसुन्धरया सह तस्य मिलनस्य वर्णनं विहितमस्ति । सन्दर्भेऽस्मिन् वसुन्धरायाः विरहावस्थायाः वर्णनं मेघदूत यक्षप्रेयसीसदृशमेव सरसं भावुकतापूर्णञ्च व्यधायि ।

शंबरेणोक्तवर्णने कृते पार्श्वनाथः (मरुभूतिः) शान्त एव तिष्ठति । एतस्मिन् शंबरः पुनः युद्धाय तं प्रोत्साहितं करोति । युद्धे मृते सति स्वर्गं गत्वा देवाङ्गनया सह निवासस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रलोभनं ददाति । यदा पार्श्वनाथः कथमपि युद्धाय न तत्परो भवति तदा स स्वमाया-शक्त्या स्त्रीसमूहसृष्टिं कुर्वन् गानप्रारम्भं करोति तथा नारीप्रणय-चेष्टाभिः प्रियवचनैश्च तं विमुग्धं कर्तुमिच्छति । एतावत्यां शठतायां कृतायामपि पार्श्वनाथः ध्यानविचलितो न भवति तदा स पाषाणवर्षाभिस्तदन्तं चिकीर्षति । एवं घोरमुपसर्गं वीक्ष्य धरणेन्द्रः पद्मावती च तत्रागच्छतस्तदुपसर्गञ्चापगयतः । त्रस्तः शंबरः गायति । नागराजः धरणेन्द्रस्तमभयं दत्वा पलायनाद्विरामयति । इन्द्रादिदेवाः केवलज्ञानपूजायै आगच्छन्ति । शंवरोऽपि (कमठोऽपि) स्व-कुकृत्येभ्यः पश्चात्तापं तथा तीर्थंकरगुणगानञ्च करोति । स क्षमां याचमानः धर्मं गृह्णाति । देवाः आकाशतः पुष्पाणि वर्षन्ति, दुन्दुभिस्वनश्च जायते ।

समालोचनम्

पार्श्वाभ्युदयकाव्यं संदेशकाव्यं वा दूतकाव्यमस्ति । जिनसेनेन समग्रमेघदूतं समस्यापूर्त्तावावेष्ट्यैतत्काव्यं प्रणीतम् । एतस्य प्रत्येकश्लोकः मेघदूतक्रमेण श्लोकचतुर्थांशेन वा वेष्टितो वर्त्तते । समस्यापूर्त्तेरावेष्टनं प्रकारत्रयेण सम्पन्नमस्ति १. पादवेष्टनम्, २. अर्धपादवेष्टनम्, ३. अन्तरितावेष्टनम् । प्रथमपादावेष्टने मेघदूतस्य श्लोकस्य कतम एकचरणो गृहीतोऽस्ति । द्वितीयावेष्टने चरणद्वयम्, तृतीयावेष्टने तृतीयश्चरणः ।

पादावेष्टितः श्लोकः

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या,
योगैकाग्रचस्तिमिततरया तस्थिवांसं निदध्यौ ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन् बंद्धवैरेण दग्धः,
कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः ।।

अर्धावेष्टितः श्लोकः

वक्रोऽप्यध्वा जगति स मतो यत्र लाभोऽस्त्यत्पूर्वो,
भातुं शक्यं ननु वनपथान् कासिकाग्रार्जुनान्तात् ।
वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां,
सौधोत्संगप्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः ।।—१।१०३

एकान्तरितः श्लोकः

उत्सर्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां,
गाढोत्कण्ठं करुणविरुतं विप्रलापायमानम् ।
मद्गोत्रांकं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामां,
त्वामुद्दिश्य प्रचलदलकं मूर्च्छनां भावयन्ती ।।–३।३८

द्व्यन्तरितः श्लोकः

तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचित्
स्वागुल्यग्रैः कुसुममृदुभिर्वल्लरीमस्पृशन्ती ।
ध्यायं ध्यायं त्वदुपगमनं शून्यचिन्तानुकण्ठी,
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्छनां विस्मरन्ती ।।—३।३९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कविजिनसेनेन मेघदूतोद्धृतांशानां प्रचलितानर्थान् स्व-स्वतंत्रकथानके प्रसज्य महद्वि-लक्षणतायाः परिचयो दत्तः। कविः विभिन्नप्राकृतिकदृश्यानां भावपूर्णरम्यस्थानानाञ्च चित्रणेऽपूर्वसहृदयतायाः परिचयं दत्तवान्। आम्रकूटपर्वतशिखरे संप्राप्ते मेघे पर्वतशोभां वर्णयता कविनोल्लेखि—

कृष्णाहिः किं वलयिततनुः मध्यमस्याधिशेते,
किं वा नीलोत्पलविरचितं शेखरं भूभृतः स्यात्।
इत्याशङ्कां जनयति पुरा मुग्धविद्याधरीणां
त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे ॥—१।७०

विद्याधरीणां मनसि पर्वतशिखरे स्थितान् श्यामवर्णमेघान् वीक्ष्य कृष्णसर्पाणां नील-कमलानाञ्च भ्रमो जायते।

कविः दृश्यचित्रणे पटुरस्ति। एतद्वर्णनाधारे सुन्दररेखाचित्रं रचितमस्ति। रेवां वर्णयता कविना, रेवां पृथिव्याश्छिन्नां मालां प्रकल्प्य, तत्तटे वन्यहस्तिनां दन्तक्रीडास्तथा पक्षिणां मधुविरावान् वर्णयता, नदीतटश्चित्र इवाङ्कितः।

गत्वोदीचीं भ्रुव इव पृथुं हारयष्टिं विभक्तां
वन्येभानां रदनहतिभिर्भिन्नपर्यन्तवप्राम्।
वीनां वृन्दैर्मधुरविरुतैरात्ततीरोपसेवां
रेवां प्रेक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ॥१।७५।

कविः सन्ध्याकाले महाकालवने जिनमन्दिरं प्राप्तो तत्प्राप्तेः चित्रणं कुर्वन् कथयति—"हे मेघ! महाकालवने यदि सन्ध्यायां त्वं जिनमन्दिरं प्राप्नुयास्तदा सांध्यपूजानन्तरं स्वेदबिन्दु-वन्दिताः मन्दं मन्दं चलन्तीः स्वचरणनिक्षेपैः सह मेखलाशब्दं कुर्वन्तीः कोमलकण्ठीः गणिकाः लीलाविकीर्णैः जलकणैः सिक्ताः कुर्य्याः।

सायाह्ने चेत्तदुपगतवान् धाम तत्कालपूजा–
संगीतान्ते श्रमजलकणैराचितांगीः सुकण्ठीः।
मन्दं यान्तीश्चतुरगणिकाः शीकरैः सन्नयेस्त्वं
पादन्यासक्वणितरसनास्तत्र लीलावधूतैः ॥

एतदनन्तरं कविः चित्रयन् वक्ति—'हे मेघ, यदि त्वं जिनमन्दिरे दिने गमिष्यसि तदा त्वं तत्र मणियुक्तानि शब्दायमानानि नूपुराणि दधानाः सुललितपदन्यासैः गायन्तीः भ्रूविलास-युक्ताः रत्नजटितदण्डचामरैः श्रान्तहस्ताः वर्षाग्रबिन्दुभिः सिक्ताः चंचला उपरि पश्यन्तीः गणिकाः द्रक्ष्यसि।'

तास्तत्राह्नर्मणिमयरणन्नूपुराः पण्ययोषाः,
प्रोद्गायन्तीः सुललितपदन्यासमुद्भ्रूविलासाः।
पश्योत्पश्यांनवजलकणद्वित्रसिक्ता विलोला
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।

मेघदूतस्य यक्षः प्रेमरुष्टां स्वप्रियां गैरिकवर्णे पाषाण उल्लिख्य तच्चरणयोः आत्मानम-र्पयितुमिच्छन्नश्रुपातैः मलिने चित्रेऽपि संयोगं न प्राप्नोति। जिनसेनः स्वप्नसंगमाभावस्य चित्रं समुपस्थापयति! कविना विरहिण्याः दीनतायाः कृतं चित्रणं भावसौन्दर्य्यञ्च श्लाघनीयमस्ति–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पवाणैर्मृदंगं
तल्पे नाल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते,
तीव्रापायत्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेऽपि नायं
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।

शंबरः (कमठं) पार्श्वनाथं क्रुद्धं विदधातुं पूर्ण प्रयासं करोति । सोऽपशब्दान् व्यवहरति तथापि पार्श्वनाथः ध्यानेऽचलस्तिष्ठति । कविः जिनसेनः द्वितीय-तृतीयपंक्त्योः समस्यापूर्त्तिं कुर्वन् कथयति—

भो भो भिक्षो मयि सहरुषि क्व प्रयास्यस्यवश्यं—
त्वामुद्धेति प्रणिपतनकैः सारयिष्ये तदग्रम् ।
न प्राणान् स्वान् घटयितुमलं तावको निर्भयो वा
मुक्ताजालं चिरपरिचितं त्याजितो दैवगत्या । ४।२

भो भिक्षो, मयि क्रुद्धे त्वं क्व गमिष्यसि ? अहं त्वां स्वासिलक्ष्यमवश्यं सम्पादयिष्यामि । चिरात् दैववशादभ्यस्तमौक्तिकभूषणानां त्यागनिर्णयोऽपि तव प्राणान्न रक्षिष्यति ।

किं ते वैरिद्विरदन-घटा-कुम्भ-सम्भेदनेषु,
प्राप्तस्थेमा समरविजयी धीरलक्ष्म्याः करोऽयम् ।
नास्मत्खड्गः श्रुतिपथमगात् रक्तपानोत्सवानाम्,
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानाम् ॥

भो भिक्षो ! वैरिहस्तिकुम्भस्थलविदारणाभ्यस्तो रणविजयी युद्धकार्योपरान्तं (सम्भोगान्ते मम हस्तसंवहनयोग्यः वीरलक्ष्म्याः बाहुस्वरूपः अयं मम खड्गः किं त्वया न श्रुतः ।

एवं समस्यापूर्त्यामपि कविना नवीनभावयोजना कृता । अनावश्यकवर्णनाधिक्य-भारैः कथानके शैथिल्यमायातमस्ति । मार्गवर्णनं वसुन्धरायाः विरहावस्थावर्णनञ्चात्र मेघदूतसमानमेवास्ति । परन्तु संदेशकथनं मेघदूतवन्नास्ति । शंवरः (कमठः) पार्श्वनाथस्य (मरुभूतेः) धैर्य्येण; सौजन्येन, सहिष्णुतया च प्रभावितः वैरभावं परित्यज्य तच्छरणमुपैति तथा स्वापराधेभ्यः पश्चात्तापपूर्वकं क्षमाप्रार्थनां करोति ।

प्रस्तुतकाव्ये जैनधर्मस्य क्वापि कोऽपि सिद्धान्तः प्रतिपादितो नास्ति । कैलास-पर्वते महाकालवने च जिनमन्दिराणां महत्प्रतिमानाञ्च निर्देशोऽवश्यमेव कृतोऽस्ति । कविना यत्र तत्र सुन्दर-सूक्तीनां योजनां विधाय रमणीयतोत्पादनाय प्रयासः कृतोऽस्ति "रम्यस्थानं त्यजति न मनोदुर्विधानं प्रतीहि" "पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव" ।

नात्र संदेहो यत्समस्यापूर्त्तिदृष्ट्या काव्यमेतदद्वितीयमस्ति । कविना कालिदासस्य मूलभावाः सुन्दररीत्या पल्लविताः सन्ति । क्वचित् कालिदास-भावानां प्रसंगान्तरे कलापूर्णसूक्ष्मतया सन्निवेशप्रयासः सुन्दरः प्रतीयते । प्रकृतिचित्रणे कविना भावुकतायाः कल्पनाशक्तेश्च पूर्णपरिचयो दत्तः । यद्यपि काव्येऽस्मिन् न कालिदासलालित्यमायातं तथाप्येतत्काव्यं संस्कृतकाव्येषु स्ववैशिष्टयमावहति ।

मेघदूतस्य पाठान्तरम्

एतदतिरोहितं यत् महाकविजिनसेनस्यास्मिन् प्रवन्धकाव्ये मेघदूतस्य समस्तानि पद्यानि समाविष्टानि । अनेन ग्रन्थेन मेघदूतस्य पाठ-संशोधनेऽपि । प्रकाश आपतति जिनसेनानुसारं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्वमेघे पञ्चोत्तराणि षष्टि पद्यानि, उत्तरमेघे च द्व्युत्तराणि पञ्चाशत् पद्यानि संभावितानि। पूर्वमेघ एकत्रिंशत्तमपद्यानन्तरं पद्यद्वयं प्रक्षिप्तं मन्यते; परन्तु पार्श्वाभ्युदये एतत्पद्ययोरपि पादान् गृहीत्वा समस्यापूर्तिः कृता विद्यते। अतः सिद्ध्यति यज्जिनसेन-समये (ख्रीष्टाब्दयाः अष्टमी-शती) एतत्पद्यद्वयं मूलग्रन्थस्यैवाङ्गभूतमासीत्। एतद्रचयितापि कालिदासोऽमन्यत। अतएव पार्श्वाभ्युदय-प्रकाश एतत्पद्यद्वयस्यापि गणना मूल-पद्यरूपेणापेक्षिता। पद्यानां समस्यापूर्त्तिर-धस्तना विद्यते—

तीक्ष्णस्यारेस्स किल कलहे युद्धशौण्डो भुरुण्डः,
प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे।
हैमं तालद्रुमवनमभूत्तत्र तस्यैव राज्ञः
हासालापैरिति रमयति स्त्रीजनो यत्र बालान्॥—१।११३

शैलं शैलप्रतिमवपुषा पीडयन्तुन्मदिष्णू—
न्निघ्नन्व्यालान् कुपितसमवर्त्तीव मेघं मरुद्वत्,
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिस्तम्भमुत्पाट्य दर्पात्,
इत्यागन्तूनरमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः।—१।११४

यस्यां बिभ्रत्यवनिपपथा रत्नराशीनुदग्रान्,
शूर्पोन्मेयाञ्जलधय इवापीततोया युगान्ते,
हारांस्तारांस्तरलघुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः,
शष्पश्यामान् मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।—१।११५

भूयो नानाभरण-रचना-योग्यरत्नप्रवेकान्
ज्योतिर्लेखारचितरुचिमच्छक्र-चापानुकारान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान् विद्रुमाणाञ्च भङ्गान्
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः।—१।११६

उत्तरमेघे कतिपयपद्यानां पाठेषु भेदोऽस्ति। एकस्येदृशस्यापि श्लोकस्य पादपूर्त्तिरुप-लभ्यते, य उत्तरमेघे नास्ति। प्रसंगावलोकनेन तत्पद्यं मेघदूतस्यांगभूतं प्रतिभाति न जाने कथं तत्पद्यं बहिष्कृतम्। एतस्य पादपूर्त्तिरुत्तरमेघस्य दशमैकादशश्लोकयोः मध्ये कृता विद्यते। पार्श्वाभ्युदयानुसारमुत्तरमेघस्य पद्यानुक्रमेऽपि व्यतिक्रमो दृश्यते। काव्येऽस्मिन् एकादशपद्यस्य पादपूर्त्तेरनन्तरं नवीनपद्यमायाति। ततो दशमपद्यस्य पादपूर्त्तिः प्राप्यते। पद्यञ्च निम्न-प्रकारमस्ति—

मन्दाक्रान्तादिगिभविभुभिः स्पर्धमाना इवोच्चैः,
शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्।
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः,
प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणाङ्कैः॥

उत्तरमेघस्य द्वादशे पद्ये त्रयोदशे च पद्ये पर्याप्तः पाठभेदो लक्ष्यते। अत्र तुलनार्थं पद्यद्वयमप्युद्ध्रियते।

तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं,
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया बर्धितो मे,
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ उत्तरमेघ १२ ॥

पार्श्वाभ्युदये च निम्नांकितः पाठ उपलभ्यते—

तत्रागारे धनपति-गृहादुत्तरेणास्मदीयं
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन ।
यस्योद्याने कृतकतनयो वर्द्धितः कान्तया मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥—पार्श्वाभ्युदयः ३।१२–१४

उत्तरमेघस्य त्रयोदशे श्लोके 'हैमैश्छन्ना'-स्थाने पार्श्वाभ्युदये 'हैमैःस्फीता' तथा 'स्निग्ध-वैडूर्य्यनालैः' इत्यस्य स्थाने 'दीर्घवैडूर्य्यनालैः (पार्श्वा० ३।१४); पाठौ प्राप्येते । षोडशे पद्ये 'नर्त्तितः कान्तया मे' (उत्तरमेघ १६) स्थाने 'कान्तया नर्त्तितो मे' (पार्श्वा० ३।३१) 'देहलीदत्तपुष्पैः' (उत्तरमेघ २४) स्थाने 'देहलीमुक्तपुष्पैः' (पार्श्वा० ३।४०) ; 'मत्सङ्गं वा' (उत्तरमेघ २४) स्थाने 'सम्भोगं वा' (पार्श्वा० ३।४१) 'पीडयेन्मद्वियोगः' (उत्तरमेघ १४) स्थाने 'पीडयेद्विप्रयोगः' (पा०३।४३) 'सौध-वातायनस्थः' (उत्तरमेघ० ५) स्थाने 'सद्मवातायनस्थः' (पार्श्वा० ३।४३) 'पेशलम्' (उ०मे० ३०) स्थाने 'पेलवम्' (पा० ३।५२) 'तामुत्थाप्य' (उ०मे०३५) 'स्थाने प्रोत्थाप्यैनां' (पा० ४।९) स्तनितवचनैः (उ०मे०५) स्थाने 'स्तनितवचनः' (पा० ४।१२) 'प्रियमविधवे' (उ०मे० ३६) स्थाने 'प्रियमभिदधे' (पा० ४।१३) 'ब्रूया एवम्' (उ०मे० ३८) स्थाने 'ब्रूयादेवम्' (पा० ४।२२) 'पूर्वभाष्यम्' (उ०मे० ३८) स्थाने 'पूर्वशास्यम्' (पा० ४।२४ । 'प्रेक्षणे' (उ०मे० ४१) स्थाने 'प्रेक्षिते' (४।१९) 'शेषान्मासान्' (उ० मे० ४७) स्थाने 'मासानन्यान्' (पा०४।४७) 'विरहगणितम्' (उ०मे०४७) स्थाने 'विरहगुणितम्' (४।४८) 'तमात्माभिलाषम्' (उ०मे० ४७) स्थाने 'तमेवाभिलाषम्' (पा० ४।४८) 'सस्वनम्' (उ०मे० ४८) स्थाने 'सस्वरम्' (पा० ४।४९) ध्वंसिनस्तेत्वभोगात् (उ०मे० ४९) स्थाने 'ह्रासिनस्तेऽप्य-योगात्' (पा० ४।५३) 'आश्वास्यैवम्' (उ०मे०५०) स्थाने 'आश्वास्यैनाम्' (पा०४।४४) 'प्रथम-विरहोदग्रशोकाम्' (उ०मे० ५०) स्थाने 'प्रथमविरहे शोकदष्टाम्' (पा० ४।५४) 'शैलादाशु' (उ०मे० ५०) स्थाने 'तस्मादद्रेः' (पा० ४।५५) 'साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि' (उ०मे० ५०) स्थाने 'साभिज्ञान-प्रहित-वचनैस्तत्रयुक्तैर्ममापि' (पा० ४।५६) 'धारयेथाः' (उ०मे० ५०) स्थाने 'धारयेदम्' (पा० ४।५७) 'प्रार्थनावर्त्तिनः' (उ०मे० ५२) स्थाने 'प्रार्थनादात्मनो' (पा० ४।६२) एवं 'च ते' (उ०मे० ५५) स्थाने 'सखे' (पा० ४।६५) पाठाः उपलभ्यन्ते' ।

समस्यापूर्ति कुर्वता कविजिनसेनेनोत्तरमेघस्थ-पद्यानां क्रमः निम्नप्रकारेण स्थापितः—

१, ७, ९, ६, २, ३, ५, ६, ४, ८, ११, १०, १२, १३, १४, १९, २०, २१, १५, १६, १७, १८, २२, २३, २४, २५, २६, २८, २९, २७, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१ ।

उत्तरमेघे प्रक्षिप्तेषु पद्येषु निम्नलिखितपद्यानां पूर्त्तयः पार्श्वाभ्युदये प्राप्यन्ते ।

मन्ये यस्या जगति सकलेऽप्यस्ति नौपम्यमन्य-
त्सर्वौपम्यप्रणिहितधिया वेधसा निर्मितायाः,
यामध्यास्ते कमलनिलया सम्पदश्च प्रजाना-
मानन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तैः ।—पा० २।९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्रत्यानां न परपरता चित्तभर्तुः परत्र,
नान्यो भङ्गः प्रणयिनि जने मानभङ्गं विहाय
नान्यो बन्धः प्रियजनतया संगमाशानुबन्धा-
न्नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात् ।—२।९८
यत्राकल्पान्निधिषु सकलानेन सम्पादयत्सु,
नार्थो कश्चिन्न खलु कृपणो वापि निःस्वो जनोऽस्ति ।
धर्मः साक्षान्निवसति सतीं यामलंकृत्य यस्मा—
न्नाप्यन्यत्र प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्तिः ॥—२।९९
यस्यै शक्रः स्पृहयतितरामिष्टसर्वर्द्धिभाजे,
यत्रासीनाः शतमुखपुरीं विस्मरन्त्येव सद्यः ।
नान्यच्चिन्त्यं विहरणमयाद्यत्र मृत्युञ्जयानां—
वित्तेशानां न खलु च वयो यौवनादन्यदस्ति ।—२।१८०

एतत्पद्यानामग्रे "यत्रोन्मत्तभ्रमरनिकराः पादपा नित्यपुष्पाः" इत्यादिपद्यानां पादपूर्त्तयः प्राप्यन्ते। सिद्धमेतद्यत् खीष्टाब्देरष्टमीं शतीं यावत् "आनन्दोत्थम्" तथा "तत्रोन्मत्तभ्रमरनिकराः" पद्ये प्रक्षिप्ते न मन्येते स्म। यदि महाकविजिनसेनमते प्रस्तुतपद्ययोः गणना प्रक्षिप्तपद्येषु नाभविष्यत् तदा तयोः समस्यापूर्तिं नाकरिष्यत्।

एवं प्रकारेण पार्श्वाभ्युदयकाव्यं मेघदूतस्य पाठशोधनदृष्टचा परमोपयोगि, महत्त्वपूर्णञ्चास्ति। कविः पादपूर्तिषु विभिन्नकाव्यचमत्कारमुपस्थापितवान्। स हि मेघदूतस्य समस्तपद्यानि स्वकीयकाव्ये समावेश्य मेघदूतस्य प्राचीनपरम्पराया संरक्षणं कृतवानिति निर्विवादम्।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन-धर्म-दर्शन

१. पुष्पकर्म तथा देवपूजा . विकास और विधि
२. जैन दर्शनकी मौलिक अवधारणायें
३. अहिंसा और पाँच जैनाचार्य
४. प्रमुख दिगम्बर जैनाचार्यों का विवरण
५. विद्वत्परपरिषद् का दायित्व एवं जैन सिद्धान्त
६. दि० जैन संस्कृत पूजाएँ : एक अनुचिन्तन
७. भगवदी आराहणाए वसधि–वियारो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुष्पकर्म-देवपूजा : विकास और विधि

उत्थानिका

वैदिक संस्कृतिमें यज्ञका महत्त्वपूर्ण स्थान है, देवपूजाका नहीं। देवपूजा मूलतः श्रमणों की उपासना पद्धति है वैदिक आर्योंकी नहीं। हमारे इस कथनकी पुष्टि अनेक ऐतिहासिक शोध खोजोंसे होती है। यह सार्वजनिक सत्य है कि वैदिक आर्य अग्निके उपासक थे। यतः वे अग्निमें हविष्यका हवनकर नाना देवताओंको प्रसन्न करते थे। उनका विश्वास था कि देवताओंकी प्रसन्नता ही समस्त मनोकामनाओंकी पूर्तिका साधन है। अग्नि चयन एवं अग्नि सम्बन्धी अन्य विधियोंका वर्णन वैदिक साहित्यमें विशेष रूपसे आया है। इस वाङ्मयमें अग्निके दो प्रकार मानते हैं—स्मार्ताग्नि और श्रौताग्नि। स्मार्ताग्निको गृहाग्नि कहा है और इसमें क्रियमाण यज्ञको पाकयज्ञके नामसे अभिहित किया है। श्रौताग्निमें श्रौतयज्ञोंके करनेका विधान वर्णित है। इसके गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि और सम्याग्नि ये चार भेद बताये हैं। इन अग्नियोंमें प्रतिदिन प्रातः और सायंकाल गोदुग्ध, यवागु, तन्दुल, दधि, घृत आदि पदार्थों द्वारा अग्निहोत्र सम्पन्न किया जाता था। दर्श-पौर्णमास्य, चातुर्मास्य, निरूढपशु, सौत्रमणि, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि अनेक अहिंसक और हिंसक यज्ञ भी विशेषावसरोंपर सम्पादित होते थे। यज्ञविधियोंको अवगत करने तथा उनके अनुष्ठानोंको निर्धारित करनेके हेतु कर्मकाण्ड मूलक ब्राह्मण साहित्य लिखा गया है। अतः स्पष्ट है कि वैदिक आर्य संस्कृतिका सम्बन्ध यज्ञके साथ है, जिसका अवशेष रूप हवन है। हवनका प्रचार ही इस बातका द्योतक है कि यह प्रथा पण्डितों और पुरोहितों तक ही सीमित है। साधारण जनता हवन क्रियासे प्रायः विमुख है।

यज्ञसे इज्यःकी निष्पत्ति अवश्य हुई है, पर आरम्भिक अवस्थामें इस शब्दका अर्थ वेदाध्यापक था। रघुवंश महाकाव्यमें इज्यः या इज्या शब्दका प्रयोग यज्ञके अर्थमें उपलब्ध होता है। यथा—"जगत् प्रकाशं तदशेषमिज्यया" (३।४८), "सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा" (१।६८), "लवणेन विलुप्तेज्या" (१५।२) में इज्या शब्द यज्ञार्थबोधक है।

जैन-साहित्यमें इज्या शब्दका प्रयोग पूजाके अर्थमें उपलब्ध होता है। इस शब्दकी निष्पत्ति √यज् + क्यप् + टाप्से हुई है। आचार्य जिनसेन द्वितीयने "पूजा पूजार्हतामिज्या स चतुर्धा" (आदिपुराण ३८।२६) में इज्याका प्रयोग पूजाके लिये किया है। पण्डित आशाधरने भी इज्यायै वाटिकाद्यपि (सागार० २।८०) में उक्त अर्थमें इज्या शब्दका व्यवहार किया है। अतः सिद्ध होता है कि इज्या शब्द मूलतः वैदिक था, पर जैनाचार्योंने इसका प्रयोग पूजाके अर्थमें किया है।

पूजा शब्दकी व्युत्पत्ति

पूजा शब्द चुरादिगणी पूज् पूजायाम् + अ + टाप्से निष्पन्न है। पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें "तु पश्यपश्यताऽहैः पूजायाम्" (८।१।३९) : "पूजायां नान्तरम्" (८।१।३७) तथा "पूजनात्पूजितमनुदात्तं काष्ठादिभ्यः" (८।१।६७) सूत्रोंमें पूजा शब्दका प्रयोग किया गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। अतएव यह मानना असंगत नहीं है कि पाणिनिके समयमें पूजा शब्द प्रचलित था और संस्कृत भाषामें इसका प्रयोग देव पूजाके अर्थमें होने लगा था।

भाषा विज्ञान एवं आर्य भाषामें समाहित अन्य जातीय भाषाओंके शब्दोंका अध्ययन करनेपर ज्ञात होता है कि पूज् धातु मूलतः संस्कृतकी नहीं है। यतः इस धातुका सद्भाव पाणिनिके पूर्व संस्कृत भाषामें उपलब्ध नहीं होता और न यूरोपीय जर्मन परिवारकी अन्य किसी भाषामें ही यह शब्द पाया जाता है। अन्वेषण और अध्ययनके आधारपर यह मानना युक्तिसंगत है कि पूजा शब्द आर्येतर भाषाका है। जब आर्योंका सम्बन्ध इस देशकी मूल-निवासी जातियोंसे अधिक बढ़ा तो आर्य भाषामें द्रविड़ एवं औष्ट्रिक जातिके शब्दोंका सम्मिश्रण हुआ। फलतः द्रविड़ संस्कृति या श्रमण संस्कृतिमें प्रचलित अनेक शब्द आर्यभाषामें मिश्रित हो गये। पूजा शब्द भी इसी प्रकारका है। जिसका मूलरूप संस्कृतमें नहीं द्रविड़ भाषामें पाया जाता है। द्रविड √पू × √जैसे उक्त शब्दकी निष्पत्ति सम्भव है। 'पू'का अर्थ है पुष्प और √जेका अर्थ है करना। इस प्रकार द्रविड 'पूजे'का अर्थ है पुष्पकर्म। यज्ञको वैदिक साहित्यमें भी 'पशुकर्म' कहा जाता है, पर पूजाको कोषकारोंने भी पुष्पकर्म रूपमें स्वीकृत किया है।

कारपेण्टरने पूजा शब्दकी व्युत्पत्ति द्रविड धातु√पुस्से मानी है। इसका अर्थ है लेपन। लेपनका अभिप्राय मूर्त्ति या प्रतिमाके चरणोंपर चन्दनलेपन कर ही पूजा सम्पन्न की जाती थी। इस कथनकी पुष्टि अर्चन या अर्चा शब्दसे भी होती है। अर्चनका मूलतः अर्थ अलंकृत करना है और यह अलंकरणका कार्य चन्दन, केशर आदि सुगन्धित पदार्थोंसे सम्पन्न किया जाता था। अतः कारपेन्टर द्वारा लिखित पूजाकी व्युत्पत्ति भी कुछ सीमा तक युक्ति-संगत प्रतीत होती है। भाषा विज्ञानमें अर्थोत्कर्ष एक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार 'लेपन' शब्द विकसित होकर अभिषेकके रूपको प्राप्त हुआ है। पूजनके प्रारम्भमें अभिषेक क्रिया सम्पन्न की जाती थी। यह क्रिया चन्दन लेपनका प्रतिनिधित्व करती है। अभिषेकमें चन्दन, केशर, दुग्ध, घृत आदि पदार्थोंका प्रयोग भी उक्त अनुमानका समर्थक है। जैनोंकी एक परम्परा विशेषमें प्रचलित 'पञ्चामृताभिषेक' और वैदिक सम्प्रदायमें प्रचलित रुद्राभिषेक क्रिया दोनों विधिकी दृष्टिसे एक हैं। दोनोंमें प्रयुक्त सामग्री एवं कलशोंका प्रमाण प्रायः तुल्य है।

अतः चन्दन लेपनका विस्तार अभिषेक तक मान लेना तर्कसंगत है। जब भक्ति आध्यात्मिकताकी ओर अधिक बढ़ने लगी तो अभिषेककी सामग्री और विधिमें परिवर्तन हुए।

पूजा प्रथा श्रमण परम्पराकी देन है, यह पहले ही लिखा जा चुका है। इस विधिमें वैदिक धार्मिक विधि-विधान मूलतः निहित नहीं हैं। जब आर्य श्रमणोंके साथ मिश्रित हो गये तो संन्यास और पूजाविधि ये दोनों ही धार्मिक अनुष्ठान आर्य संस्कृतिमें भी प्रतिष्ठित हो गये। इस तथ्यसे सभी अवगत हैं कि वर्तमान हिन्दू धर्म वैदिक धर्मकी अपेक्षा श्रमण धर्मसे अधिक प्रभावित है। पौराणिक धर्म तो मूलतः श्रमण धर्म है, केवल कतिपय संशोधन और परिवर्त्तन ही किये गये हैं। यही कारण है कि पौराणिक धर्ममें न तो वैदिक देवी-देवता ही परिलक्षित होते हैं और न यज्ञ विधियाँ ही।

भक्ति या पूजा पद्धतिका प्रादुर्भाव श्रमणों द्वारा हुआ, इसका एक सबल प्रमाण श्रीमद्भागवतमें उपलब्ध होता है। भागवतमें भक्तिकी आत्म-कथा पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्णित, आवृत की गयी है। इस कथासे स्पष्ट है कि दक्षिण भारत जो कि श्रमण संस्कृतिका केन्द्र रहा है, में भक्तिकी उत्पत्ति हुई है। जब आर्योंकी यज्ञ विधियां आत्मतुष्टिका साधन न रह सकीं, तो वैदिक आर्योंने श्रमणोंसे भक्ति या पूजाविधि ग्रहण की। बताया है—

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥[1]

अर्थात् भक्ति नारदसे कहती है—मेरा जन्म द्रविड देशमें हुआ, कर्णाटकमें मैं बड़ी हुई, महाराष्ट्र देशमें कुछ काल तक वास किया और गुजरातमें आकर मैं बूढ़ी हो गयी हूं।

भक्तिका प्रतिफल पूजा परम्परा है, जो कि द्रविड देशमें प्रचलित हुई। श्रमण संस्कृति का व्यापक प्रसार दक्षिण भारतमें था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें बारह वर्षके दुष्कालके अवसर पर वृद्ध मुनिसंघको दक्षिण भारतमें ले जानेका साहस तभी सम्भव था जब दक्षिण भारतमें श्रमणोंका अस्तित्व पहलेसे रहा हो। एकाएक नये स्थान पर इतने बड़े समुदायको लेकर जाना कभी सम्भव नहीं है। द्रविड, औष्ट्रिक, मुण्डा प्रभृति भारतकी मूल निवासी जातियोंमें श्रमण धर्म व्याप्त था। श्री डॉ० रामधारीसिंह 'दिनकर' ने श्रमणोंका अस्तित्व वैदिक आर्योंसे पूर्व सिद्ध करते हुए लिखा है—

धर्मका नेतृत्व करनेवाले ब्राह्मण गृहस्थ थे, किन्तु उनके साथ साथ वैदिक युगमें श्रमणों की संख्या भी काफी थी, और अनुमान यह होता है, कि श्रमण संस्कृति आर्योंके आगमनके पूर्व इस देशमें विद्यमान थी। ये श्रमण अवैदिक होते थे। ब्राह्मण यज्ञ पात्रको मानते थे, श्रमण उन्हें अनुपयोगी समझते थे[2]।

स्पष्ट है कि संस्कृतका अस्तित्व वैदिक आर्योंसे पूर्ववर्त्ती है। वैदिक आर्य यज्ञ सम्पादन करते थे और श्रमण पूजा। उत्तराध्ययन सूत्रमें यज्ञ विधियों[3] का अहिंसा-परक अर्थ किया है और जो आध्यत्मिक सङ्केत प्रस्तुत किये हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमण आध्यात्मिकता द्वारा वैदिक आर्योंसे समन्वय करनेका प्रयास कर रहे थे। उत्तराध्ययनमें श्रमण और

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण गीताप्रेस गोरखपुर चतुर्थ संस्करण माहात्म्य, अध्याय १ श्लोक ४८

२. संस्कृतिके चार अध्याय, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली, प्रथम संस्करण पृ० १०३

३. सुसंवुडा पंचहिं, संवरेहिंइह जीवियं अणवकं खमाणा। वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥ १२।४२। अर्थात् जो पाँच संवरोंसे संवृत इस जन्ममें संयमरहित जीवन की इच्छा न रखने वाले और परीषहोंको सहन करते हुए जिन्होंने शरीरके ममत्वको त्याग दिया है, वे ही पवित्र हैं और वे ही कर्मोंके जय करनेवाले श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुधा सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोग सन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥ ९२।४४ ॥

अर्थात् तपरूप अग्नि है। जीव अग्निका स्थान है, तीनों योग स्रुव हैं, शरीर करीषाग्नि है, कर्म एध-इन्धन है और संयम व्यापार शान्ति पाठ है, इस प्रकारके होमसे—चारित्र रूप यज्ञानुष्ठानसे मैं अग्निको प्रसन्न करता हूँ जिसको ऋषियोंने प्रशस्त माना है, वा जो ऋषियों के लिए प्रशस्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक आर्योंके संघर्ष और समन्वयके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इन तथ्योंसे भी यह निष्कर्ष निकलता है कि श्रमण पूजा विधिके समर्थक थे।

पुष्पकर्म सिद्धि

पूजन पुष्प कर्म है, इसका समर्थन समस्त भारतीय वाङ्मयसे होता है, पर हम यहाँ केवल जैन साहित्यके उद्धरण प्रस्तुत कर ही पूजनको पुष्पकर्म सिद्ध करने का प्रयास करेंगे।

जैन वाङ्मयमें पूजन विधानका वर्णन प्रतिष्ठा पाठ, श्रावकाचार एवं आराधना सम्बन्धी वाङ्मयमें पाया जाता है। पुष्पों द्वारा पूजन विधि सम्पादित की जाती थी, इसका प्रमाण आजकी पूजा विधि भी है। पूजनका आरम्भ और अन्त पुष्पोंसे ही होता है। मध्य में भी पुष्प क्षेपण किये जाते हैं। पुष्पोंमें सर्वश्रेष्ठ पुष्प कमल होता है अतः पूजन करनेका विधान रविषेणाचार्यके पद्मपुराणमें पाया जाता है। यथा—

जातरूपमयैः पद्मैः रजतादिमयैस्तथा।
मणिरत्नशरीरैश्च पूजा विरचिता परा[1]॥

स्वर्ण रजत एवं मणि-रत्न आदिसे निर्मित कमलों द्वारा श्री जिनेन्द्रदेवकी उत्कृष्ट पूजा की गयी।

पद्मपुराणमें एक सन्दर्भ आता है जिसमें बताया है कि अंगदादि योद्धा पुष्पांजलि विकीर्णित करते हुए शान्तिनाथ जिनालयमें प्रविष्ट होते हैं। इस आख्यानके अध्ययनसे यह अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है कि पूजनमें पुष्पकर्मकी प्रधानता थी। यथा—

प्राप्ताश्च शान्तिनाथस्य भवनं मुदमुद्वहन्।
कुसुमाञ्जलिभिः साकं विमुञ्चन्तो जयस्वनम्॥[2]

नित्य पूजनमें अनादि मूलमन्त्रको पुष्पांजलि समर्पित करनेके उपरान्त चत्वारि मंगल-पाठ-स्वस्तिवाचन, परमर्षि स्वस्तिवाचन, मण्डलाष्टक प्रभृतिमें पुष्पकर्मका विधान है। स्थापना, सन्निधिकरण, विसर्जन और शान्तिपाठ भी पुष्पों द्वारा सम्पादित किये जाते हैं।

जब सचित्त-अचित्तका विचार होने लगा और पूजा पद्धतिमें आरम्भ जनित दोषों पर विचार विनिमय होने लगा तो पुष्पोंकी व्याख्यामें परिवर्तन हुआ। बेला, चमेली और मालती के पुष्पोंके स्थान वर केसर रञ्जित अक्षत एवं सुवर्ण रजतके पुष्प उपयोगमें लाये जाने लगे। आरम्भमें विभिन्न प्रकारके पुष्पोंका ही प्रयोग होता था।

प्रतिमा शुद्धि और प्रतिष्ठा विधिमें पुष्प कर्मकी ही प्रधानता है। सहजातिशय, आकार शुद्धि, सौराज्यप्राप्ति, देवोपनीत भोग, अनन्त चतुष्टय, देवकृत अतिशय, केवलज्ञानजन्य अतिशय प्रभृति क्रियाओंका सम्पादन पुष्पक्षेपण द्वारा ही किया जाता है। इन्द्र यजमान देवियाँ लौकान्तिक देव आदिकी प्रतिष्ठा भी पुष्पों द्वारा होती है। प्रतिष्ठा विधिके सम्पादनमें यदि एक सामग्रीका ही उपयोग किया जाय तो वह सामग्री पुष्प ही हो सकती है। विभिन्न वर्णके पुष्पोंसे नाना तरह की क्रियायें सम्पादित की जाती हैं। यहाँ उदाहरणार्थ कुछ विधियोंका निर्देश किया जाता है। दश अतिशय स्थापनाके हेतु प्रतिष्ठाचार्य पुष्पोंको अभिमन्त्रित करता

१. पद्मपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण, ६८/१८
२. वही ७१/४२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और इन अभिमन्त्रित पुष्पों द्वारा प्रतिमामें जन्मकालीन दश अतिशयोंकी स्थापना की जाती है। यों तो केशर चन्दन आदिके अर्चनसे भी अतिशयोंकी स्थापना की जा सकती थी। पर पुष्पकर्मका प्राधान्य दिखलानेके लिए ही उक्त क्रिया पुष्पोंके प्रयोग द्वारा सम्पन्न की गयी है। प्रतिष्ठाचार्य निम्नलिखित पद्योंको पढ़ता हुआ मन्त्रित पुष्पोंका क्षेपण प्रतिष्ठेय मूर्तिके ऊपर करता है—

[1]निःस्वेदत्वमनारतं विमलता संस्थानमाद्यं शुभम्।
तद्वत्संहननं भृशं सुरभिता सौरूप्यमुच्चैः परम्॥
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदितिः पथ्याप्रियासृक्य यः।
शुभ्रं चातिशया दशेह सहजाः सन्त्वर्हदंगानुजाः॥
सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणैः।
विचित्रं जगदानन्दि यज्जिनांगं तदस्त्विदम्॥

सहजदशातिशयस्थापनार्थं प्रतिमोपरि दशपुष्पीमावयेत्। "कुठस्थप्रतिमां सर्वतः कुंकमरञ्जित पुष्पाक्षतं विकिरत्[2]।" "आकारशुद्धिविधानख्यापनार्थं तीर्थोदकाप्लुतपुष्पाणि प्रतिमोपरि निदध्यात्[3]।" इन्द्रयजमानादिषु तत्तदिन्द्रादिभावस्थापनाय सौधर्मः पुष्पाक्षतं क्षिपेत्[4]। "अनन्तज्ञानादिचतुष्टयप्रतिष्ठार्थम् प्रतिमोत्तमांगे चतुःपुष्पीमारोपयेत्[5]।" "घातिक्षयजदशातिशयस्थापनार्थं पीठिकायां दशपुष्पाणि क्षिपेत्[6]"। 'समवशरणस्थापनार्थम् प्रतिमायाः समन्तात् पुष्पाक्षतं क्षिपेत्[7]।' "चतुर्दशदेवोपनीतातिशयस्थापनार्थं पीठिकायां चतुर्दशपुष्पाणि क्षिपेत्[8]। अष्टमहाप्रातिहार्यस्थापनाय पीठिकायामष्टपुष्पीः क्षिपेत्[9]। सिंहासने पुष्पांजलिं क्षिपेत्[10]"। "भामण्डले पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[11]"; "सरस्वत्यां पुष्पांजलिं क्षिपेत्[12]"; "चामरधारियिक्षयोः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[13]"; "रक्ताशोके पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्[14]" "छत्रत्रये पुष्पांजलिं क्षिपेत्[15]" 'दुन्दुभौ पुष्पांजलिं क्षिपेत्[16]'; "मालाविद्याधरयोः पुष्पांजलिं क्षिपेत्[17]"; लाञ्छने पुष्पांजलिं क्षिपेत्[18]"; "यक्षोपरि पुष्पांजलिं क्षिपेत्[19]"; "शासनदेवतोपरि पुष्पांजलिं क्षिपेत्[20]"; तथा "एतत्पञ्चकं पठित्वा कल्याणपञ्चकस्थापनाभिव्यक्तये प्रतिमायां पुष्पांजलि क्षिपेत्[21]॥"

उपर्युक्त उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि जैन प्रतिष्ठा विधि पुष्पकर्म पर अवलम्बित है। पुष्पार्चनके अभावमें इस विधिको पूर्ण नहीं किया जा सकता।

जैन वाङ्मयमें पुष्पकर्मके समर्थनमें अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं ही, पर महाभारतसे भी पुष्पार्चन विधिका पूर्ण समर्थन होता है। महाभारतमें बताया गया है कि जो मनुष्य पवित्र

---

१. आशाधर—प्रतिष्ठासारोद्धार, बम्बई संस्करण, वि० सं० १९७४, ४/३५-३६ पृ० ९१।

२. वही, पत्र ९१ उ०। ३. वही पत्र ९१ उ०। ४. वही पत्र ९२ उ०।
५. वही पत्र ११३ पू०। ६. वही पत्र ११३ उ०। ७. वही पत्र ११४ पू०।
८. वही पत्र ११४ उ०। ९. वही पत्र ११४ उ०। १०. वही पत्र ११४ उ०।
११. वही पत्र ११४ उ०। १२. वही पत्र ११४ उ०। १३. वही पत्र ११५ पू०।
१४. वही पत्र ११५ पू०। १५. वही पत्र ११५ पू०। १६. वही पत्र ११५ पू०।
१७. वही पत्र ११५ पू०। १८. वही पत्र ११५ उ०। १९. वही पत्र ११५ उ०।
२०. वही पत्र ११५ उ०। २१. वही पत्र ११६ पू०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होकर देवताओंको पुष्प समर्पित करता है, उसके ऊपर सभी देवता प्रसन्न होते हैं तथा उसे सभी प्रकारकी पुष्टियाँ प्रदान करते हैं[१]। देवताओंको अच्छी गन्धवाले पुष्प अधिक प्रिय होते हैं और बुरी गन्ध वाले अप्रिय[२]। जिन वृक्षोंमें कांटे नहीं होते, उनमें जो अधिकांश श्वेतवर्ण वाले हैं, वे पुष्प देवताओंको सदैव प्रिय हैं[३]। जलसे उत्पन्न होने वाले कमल आदि पुष्पोंसे गन्धर्वों, नागों और यक्षोंकी अर्चा करनी चाहिए[४]। श्रीकृष्णको कुमुद, करबीर, चम्पक, चमेली, जुही, मालती आदि विशेष प्रिय हैं। इन पुष्पोंसे जो पूजन विधि सम्पादित करता है, उसकी समस्त मनोकामनायें सम्पन्न हो जाती[५] हैं।

पूजनका विकास क्रम

श्रमण परम्परामें पूजन पद्धतिका विकास एकाएक नहीं हुआ है। स्तुतियां स्तोत्र रूप में आराध्यको प्रसन्न करनेकी परम्परा भारतीय वाङ्मयमें ऋग्वेदसे ही उपलब्ध होती हैं। यह सत्य है कि श्रमण परम्परामें स्तोत्र पढ़ते हुए क्षेपण द्वारा भक्त क्रियाको सम्पन्न किया जाता था। पूज्यपादकी दश भक्तियाँ इस बातका प्रमाण हैं कि आराधक आराध्यके गुणोंका स्मरणकर अपनी आत्माको पवित्र बनाता है। यह सिद्धांत है कि अनादि कर्ममलसे मलिन आत्मा विभाव परिणति रूप परिणमन कर रही है। जब आत्माका परिणमन स्वभावरूप हो जाता है, और कर्ममल हटने लगता है तो यह आत्मा परमात्म पदकी ओर अग्रसर हो जाती है। आत्माकी परम विशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है। यह परमात्मा वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। यह किसीकी स्तुति अथवा निन्दासे प्रसन्न अथवा अप्रसन्न नहीं होता, पर इतना सत्य है कि निन्दा या स्तुति करने वाला स्वयं ही पाप या पुण्यको प्राप्त कर लेता है। आचार्य समन्तभद्रने उक्त तथ्यका स्पष्टीकरण करते हुए बताया है कि जिनेन्द्रके पुण्य गुणोंका स्मरण आत्माको पाप परिणतिसे छुड़ाकर पवित्र बनाता है। यथा—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥[६]

वास्तवमें परमात्माकी पूजा भक्ति करने, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने और उनका भजन या चिन्तन करने से जीवात्मा पापोंसे निवृत्ति प्राप्त करता है और पुण्योपार्जन करता है।

---

१. देवताभ्यः सुमनसो यो ददाति नरः शुचिः।
तस्य तुष्यन्ति वै देवास्तुष्टाः पुष्टिं ददत्यपि ॥ महा० अनुशासनपर्व ९८/२१

२. द्विविधो हि स्मृतो गन्ध इष्टोऽनिष्टश्च पुष्पजः।
इष्टगन्धानि देवानां पुष्पाणीति विभावय ॥ वही, अनु० ९८/२७

३. अकंटकानां वृक्षाणां श्वेतप्रायाश्च वर्णतः।
तेषां पुष्पाणि देवानामिष्टानि सततं प्रभो ॥ वही, अनु० ९८/२८

४. जलजानि च माल्यानि पद्मादीनि च यानि वै।
गन्धर्वनागयक्षेभ्यस्तानि दद्याद् विचक्षणः ॥ वही, ९८/२९

५. शृणुष्वावहितो राजन् पुष्पाणि प्रियकृन्ति मे।
कुमुदं करवीरं च चणकं चम्पकं तथा ॥ वही, आश्व० ९२ अध्याय पृ० ६३४१

६. श्री वासुपूज्य जिनस्तवन पद्य २।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो व्यक्ति परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और आत्मलाभसे वंचित रहता है।

पद्मपुराणमें जिनपूजा और जिनभक्तिका माहात्म्य अनेक पद्योंमें वर्णित है। यहां उदाहरणार्थ कतिपय पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं।

जिनविम्बं जिनाकारं जिनपूजां जिनस्तुतिम्।
यः करोति जनस्तस्य न किञ्चिद् दुर्लभं भवेत्॥[1]

× ×

मनुष्यत्वं समासाद्य दुर्लभं तत्परायणैः।
महेशानस्य कर्त्तव्यं जिनस्य समुपासनम्॥[2]

× ×

वन्दनं यो जिनेन्द्राणां त्रिकालं कुरुते नरः।
तस्य भावविशुद्धस्य सर्वंनश्यति दुष्कृतम्॥[3]

× ×

कर्मभक्त्या जिनेन्द्राणां क्षयं भरत गच्छति।
क्षीण कर्मा पदं याति यस्मिन्ननुपमं सुखम्॥[4]

उपर्युक्त पद्योंसे अवगत होता है कि जिनपूजासे भावविशुद्ध होनेके कारण दुष्कृतिका विनाश होता है। पुण्योपार्जन होनेसे सांसारिक वैभव आदि भी उपलब्ध होते हैं।

मूलाराधनाकी विजयोदया टीकामें अर्हत् पूजाको शुभोपयोगका कारण माना है। बताया है कि जिस प्रकार अर्हन्त आदि परमेष्ठी शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण होते हैं उसी प्रकार उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करने में सहायक हैं। बाह्य पदार्थके आश्रयसे जीवमें शुभ या अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं और इष्टानिष्ट पदार्थोंका सान्निध्य होनेसे राग द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अपने पुत्रके समान किसी अन्य व्यक्तिके पुत्रका अवलोकन करनेसे अपने पुत्रकी याद हो आती हैं, उसी प्रकार अर्हंदादिके प्रतिबिम्बका दर्शन करनेसे अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण हो जाता है। इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवर होता है और नवीन शुभ कर्मोंका आगमन। जो शुभ प्रवृत्तियाँ बन्धको प्राप्त हुई हैं, उनके स्थिति और अनुभागमें परमेष्ठीके गुणोंके स्मरणसे वृद्धि होती है, तथा अशुभ प्रकृतियोंके स्थिति और अनुभागमें हीनता आती है। इस प्रकार प्रतिविम्ब पूजा और उपासना इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धिमें विशेष सहायक है—

"यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूड़ामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति। तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि। बाह्यद्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणाम जायते। यथात्मनि मनोज्ञामनोज्ञविषयसानिध्याद्रागद्वेषी स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनं। एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बं। तथानुस्मरणं अभिनवा शुभप्रकृतेः संवरणे प्रत्यग्रशुभकर्मादाने गृहीत प्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्ताशुभप्रकृतिपटलरसापहासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थ सिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति।"[5]

१. पद्मपुराण १४।२१३। २. वही १४।२६०। ३. वही ३२।१५८।
४. वही १८३। ५. मूलाराधना, विजयोदया टीका, शोलापुर, सन् १९३५, आ० १पृ० १६०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध है कि आरम्भमें गुण स्मरण और स्तवनके रूपमें भक्ति भावना प्रचलित थी। अष्ट द्रव्यरूप पूजनका प्रचार उसके पश्चात् ही हुआ है। खारवेलके शिलालेखसे ज्ञात होता है कि नन्दके समयमें पूजन पद्धतिका प्रचार था। कलिंग जिननाथक मूर्त्तिको नन्द उड़ीसासे पटना उठा लाये थे और सम्राट् खारवेलने मगधपर चढ़ाई कर शताब्दियोंके बाद अपने पूर्वजोंकी मूर्त्तिको घर ले जाकर पुनः प्रतिष्ठित किया था[1]। खारवेलको जिन पूजकके रूपमें भी उल्लिखित पाया जाता है[2]।

आचार्य समन्तभद्रके निम्नलिखित पद्यसे भी यह सिद्ध है कि आरम्भमें स्तवन ही भक्तिका मूल रूप था—

स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्नत्वा विद्वान्सततमभिपूज्यं नमिजिनम्[3] ॥

अर्थात् स्तुतिके समय स्तुत्य वर्तमान रहे अथवा न रहे, फलप्राप्ति उसके द्वारा होती हो, अथवा न होती हो, पर भक्तिभावपूर्वक स्तुति करनेवालेको शुभोपयोगके कारण पुण्यकी प्राप्ति होती है। स्तुति करनेसे श्रेयमार्ग सुलभ हो जाता है।

उपासना सम्बन्धी साहित्यका अध्ययन करनेपर यह ज्ञात होता है कि दर्शन और स्तवनके पश्चात् पूजनकी विधि आती है। पद्मनन्दिपञ्चविंशतिमें दर्शन पूजनके अनन्तर स्तवन निर्देश आया है। इस निर्देशसे ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शनके पश्चात् पूजन सामग्रीका समर्पण और तदनन्तर गुणानुवाद रूप स्तवम करना विधेय अनुष्ठान है। बताया है—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवितं तेषां धिक् च तेषांगृहाश्रमम् ॥[4]

× × ×

प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये।
ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भवनत्रये ॥[5]

---

१. ·········मगधानं च विपुलं भयं जनेनो हथी सुगंगीय [०] पाययनि [।] मागधं च राजानं वहसतिमितं पादे वंदापयति नन्दराजनीतं च कालिंगजिनं संनिवेसं·········गह-रतनान पडिहारेहि अंगमागधवसुं च नेयानि [।]—प्राकृत भाषा और साहित्यका आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री पृ० २५२।

२. ·········गुणविसेसकुसलो सवपासण्डपूजको सवदेवायतन संकारकारको [अ] पति-हत-चकि-वाहि-निबलो चकधुरो गुनचको पवन-चको राजसि वस-कुल-विनिसितो महाविजयो राजा खारवेल-सिरि। वही० पृ० ३५४

३. वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, नमिजिनस्तवन, श्लोक १.

४. पद्मनन्दि पंचविंशति, शोलापुर संस्करण, सन् १९६२, उपासक संस्कार, ६।१५

५. वही, ६।१४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्मसंग्रह श्रावकाचारमें स्पष्टतः कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओंके पूजनका निर्देश आया है। जो परमात्मस्वरूपका अभ्यास करना चाहता है वह दर्शन गुणानुवाद एवं द्रव्य समर्पण रूप पूजनका सम्पादन कर अभीष्ट लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। बताया है—

भक्त्याऽर्हत्प्रतिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा।
यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥[1]

अतएव यह निष्कर्ष निकालना सहज है कि गुणानुवाद गुणस्मरण स्तुतिस्तवनके पश्चात् अष्टद्रव्ययुक्त पूजनका प्रचार हुआ। मुनि या साधु सर्वसावद्यके त्यागी होनेके कारण गुणानुवाद रूप भक्ति करते थे, पर जब गृहस्थोंके विधेय कर्तव्यमें पूजनको परिगणित किया गया तो द्रव्यरूप पूजाका विकास हुआ। पूजनविधिमें द्रव्योंकी जो विकास स्थिति है उससे भी यह सिद्ध होता है कि पूजन सामग्रियोंका विकास शनैः शनैः हुआ है।

पूजन सामग्रीका विकास क्रम

पूजन सामग्रीके विकासकी एक सुनिश्चित परम्परा हमें जैन वाङ्मयमें उपलब्ध होती है। आरम्भमें पूजन विधि केवल पुष्पों द्वारा सम्पन्न की जाती थी, पर क्रमशः पुष्पोंके पश्चात् धूप चन्दन और नैवेद्य द्रव्योंका विकास हुआ। पद्मपुराण, हरिवंशपुराण एवं जटासिंहनन्दिके वरांगचरितसे हमारे उक्त कथनका सम्यक् समर्थन होता है। पद्मपुराणमें बताया है कि राजा श्रीकण्ठ अपनी रानी पद्नाभाके साथ नन्दीश्वर द्वीपमें पूजन करनेके लिए जाने लगा, पर जब मानुषोत्तर पर्वतसे आगे न जा सका तो वह विलाप करता हुआ कहने लगा कि मैंने नाना प्रकारके पुष्प, धूप और मनोहारी गन्धसे भगवान्की पूजा करनेका संकल्प किया था, पर वह पूरा न हो सका। यथा—

पूजां च विविधैः पुष्पैर्धूपगन्धैश्च हारिभिः।
नमस्कारं च शिरसा धरासंसक्तमौलिना ॥[2]

रावण स्नानकर धौतवस्त्र पहन स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिनबिम्बोंकी नदीके तट पर पूजा करने लगा। इस अवसर पर उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा सामग्रीमें धूप, चन्दन, पुष्प और नैवेद्यका ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्योंका नहीं। अतः स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करनेकी प्रथा कुछ समयके पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

स्थापयित्वा घनामोदसमाकृष्टमधुव्रतैः
धूपैरालेपनैः पुष्पैर्मनोज्ञैर्बहुभक्तिभिः ॥[3]
विधाय महतीं पूजां सन्निविष्टः पुरोऽवनौ।
सगर्भं वदनं चक्रे पूतैः स्तुत्यक्षरैश्चिरम् ॥[4]

जटासिंहनन्दिके वराङ्गचरितमें जिन पूजन सामग्रियोंका उल्लेख आया है उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि संसारके जितने उत्तम पदार्थ हैं, वे सभी पूजन सामग्रीमें व्यवहृत होते थे। जल, दुग्ध, दधि, तण्डुल, सिद्धार्थक, तिल, घृत, फल, सुगन्धि द्रव्य, लवा एवं पुष्प आदि सामग्रियां पूजनमें चढ़ाई जानेका उल्लेख है। बताया है—

---

१. धर्मसंग्रह श्रावकाचार ९।४२

२. पद्मपुराण ६।१४६. ३. वही. १०।८९. ४. वही. १०।९०,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपः पयः पुष्पफलानि गन्धा यवाज्यसिद्धार्थकतण्डुलाश्च ।
लाजाक्षताः कृष्णतिलाः सदर्भाः अर्घ्याणि दध्ना रचितानि तत्र ।।
आपो हि शान्त्यर्थमुदाहरन्ति आप्यायनार्थं हि पयो वदन्ति ।
कार्यस्य सिद्धिं प्रवदन्ति दध्ना दुग्धात्पवित्रं परमित्युशन्ति ।।
दीर्घायुराप्नोति च तण्डुलेन सिद्धार्थका विघ्नविनाशकार्थाः ।
तिलैर्विवृद्धिं प्रवदन्ति नॄणामारोग्यतां याति तथाक्षतैस्तु ।।
यवैः शुभं वर्णवपुधृतेन फलैस्तु लोकद्वयभोगसिद्धिः ।
गन्धास्तु सौभाग्यकरा नराणां लाजैश्च पुष्पैरपि सौमनस्यम् ।।[1]

हरिवंशपुराणमें प्रथम जिनसेनने जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यका उल्लेख किया है। इस उल्लेखमें अष्ट द्रव्योंका क्रम तथावत् नहीं है और न जलका पृथक् निर्देश ही है। अभिषेकमें दुग्ध, इक्षुरस, घृत, दधि एवं जलका निर्देश है, पर पूजन सामग्रीमें जलका कथन नहीं आया है। यथा—

हरिचन्दनगन्धाढ्यैर्गन्धाशाल्यक्षताक्षतैः ।
पुष्पैर्नानाविधैरुद्धैर्धूपैः कालागुरुद्भवैः ।।
दीपैदीप्राशिखाजालैर्नैवेद्यैर्निरवद्यकैः ।
तावानर्चतुरर्चां तामर्चनाविधिकोविदैः ।।

—हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण २२।२२-२३

अष्टद्रव्योंका विकास शनैः शनैः हुआ है, इस कथनकी पुष्टि अमितगतिश्रावकाचारसे भी होती है। इस ग्रन्थमें गंध, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और अक्षत इन छः द्रव्योंका उल्लेख उपलब्ध होता है। 'आदि' शब्दके प्रयोगसे भी अष्ट संख्याका निर्धारण नहीं माना जा सकता है। जटासिंहनंदिने अपने समयमें प्रचलित समस्त मंगल द्रव्योंसे पूजन करनेका निर्देश किया है, तथा उनके द्वारा प्रयुक्त द्रव्योंकी नामावलीसे भी अष्ट संख्याकी सिद्धि नहीं होती है।

पूजन सम्बन्धी जैन-अजैन वाङ्मयके आलोडनसे भी यह प्रतीत होता है कि पुष्प द्रव्यके पश्चात् ही अन्य द्रव्योंका प्रयोग हुआ है। द्रव्योंकी आठ संख्या अष्टगुण या अष्ट अंगके आधार पर निश्चित की गयी होगी। पूजाप्रकाश नामक ग्रन्थमें लिखा है—

"पुष्पाभावे फलं शस्तं फलाभावे तु पल्लवम् ।
पल्लवस्याप्यभावे तु सलिलं ग्राह्यमिष्यते ।।
पुष्पाद्यसम्भवे देवं पूजयेत्सिततण्डुलैः । पूजाप्रकाश पृ० ६५ पर उद्धृत

पुष्प, पल्लव, माला; दीप और धूप को माङ्गलिक द्रव्य माना गया है, इसकी पुष्टि प्राचीन पुरातत्त्वावशेषोंसे भी होती है। खजुराहोके आदिनाथ और पार्श्वनाथ मन्दिरके द्वारों पर पुष्पशाखा, पल्लवशाखा, मिथुनशाखायें, चार मुख्य शाखायें तथा इनकी पुनरावृत्तियां होनेसे पञ्च, सप्त और अष्टशाखा उपलब्ध होती हैं। पुष्पमालाओंका व्यवहार प्रत्येक धार्मिक और लौकिक कृत्यमें किया गया है। नारियल, कमल, माला और लतायें मंगल प्रतीकोंके रूपमें प्रयुक्त हैं। अतएव पूजनके अष्ट द्रव्योंकी संख्या छठवीं शतीके पश्चात् ही निर्धारित हुई मालूम पड़ती है।

---

१. वरांगचरित, माणिकचन्द्रग्रन्थमाला बम्बई १९३८ २३।१८-२१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमितगतिका छः द्रव्य सम्बन्धी पद्य निम्न प्रकार है। इस पद्य में प्रयुक्त 'आदि' शब्द अन्य द्रव्योंका आधायक अवश्य है, पर अष्ट संख्या बोधक नहीं है। यथा—

गन्धप्रसूनसान्नाह्यदीपधूपाक्षतादिभिः।
क्रियमाणाथवा ज्ञेया द्रव्यपूजाविधानतः॥

—अमितगति श्रा० सूरत संस्करण वि० सं० २०१५ परि० १२ प० १२

पद्मपुराण,[१] पद्मनन्दिपञ्चविंशति,[२] आदिपुराण, हरिवंशपुराण, वसुनन्दिश्रावकाचार आदि ग्रन्थोंसे अष्टद्रव्योंका फलादेश भी ज्ञात होता है। द्रव्यों द्वारा पूजन करनेसे ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है। भावसंग्रहमें भी अष्टद्रव्योंका पृथक्-पृथक् फलादेश बताया गया है।[3]

पूजन विधि और पूजनके भेद

दन्तधावन, स्नानक्रिया आदि के द्वारा पवित्र होकर शुद्धवस्त्र धारण करे। अनन्तर मुख पर वस्त्र लगाकर मौन पूर्वक जिनेन्द्र देवकी पूजामें प्रवृत्त होना चाहिये। उपासकाध्ययनमें आचार्य सोमदेवने बताया है—

अन्तःशुद्धि बहिःशुद्धि विदध्याद्देवतार्चने।
आद्या दौश्चित्यनिर्मोक्षादन्या स्नानाद्यथाविधि॥४६२॥
आप्लुतः संप्लुतस्वान्तः शुचिवासो विभूषितः।
मौनसंयमसम्पन्नः कुर्याद्देवार्चनाविधिम्॥४७२॥

---

१. सामोदैर्भूजलोद्भूतैः पुष्पैर्यो जिनमर्चति।
विमानं पुष्पकं प्राप्य स क्रीडति यथेप्सितम्॥
—पद्मपुराण ज्ञानपीठ संस्करण ३२/१५९-१६३

२. जातिर्जरामरणमित्यनलत्रयस्य जीवाश्रितस्य बहुतापकृतो यथावत्।
विध्यापनाय जिनपादयुगाग्रभूमौ धारात्रयं प्रवरवारिकृतं क्षिपामि॥
पद्मन० सोलापुर संस्करण जिनपूजाष्टक १९।१-८

३. पसमइ रयं असेसं जिणपयकमलेसु दिण्णजलधारा।
भिंगारणालणिग्गय भमंतभिंगेहि कव्वुरिया॥
चंदणसुअंधलेओ जिणवरचलणेसु जो कुणइ भविओ।
लहइतणू विक्किरियं सहावसुयंधयं अमलं॥
पुण्णाणं पुज्जेहि य अक्खयपुंजेहि देवपयपुरओ।
लब्भंति णवणिहाणे सुअक्खए चक्कवट्टित्तं॥
अलिचुंबिएहिं पुज्जइ जिणपयकमलं च जाइमल्लीहिं।
सो हवइ सुरवरिंदो रमेइ सुरतरुवरवणेहिं॥
—भावसंग्रह, माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला ४७०-४७७

तोयैः कर्मरजःशान्त्यै गन्धैः सौगन्धसिद्धये।
अक्षतैरक्षयावाप्त्यै पुष्पैः पुष्पशरच्छिदे॥
चरुभिः सुखसंवृद्ध्यै देहदीप्त्यै प्रदीपकैः।
सौभाग्यावाप्तये धूपैः फलैर्मोक्षफलाप्तये॥
—वामदेव पंडित विरचित भावसंग्रह पद्य ४८८-८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दन्तधावनशुद्धास्यो मुखवासोचिताननः ।
असंजातान्यसंसर्गः सुधी देवानुपाचरेत् ॥४७३॥

अर्थात् देवपूजन करनेके लिए अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग शुद्धि करनी चाहिये । चित्तसे बुरे विचारोंको दूर करनेसे अन्तरङ्ग शुद्धि और विधिपूर्वक स्नान आदि क्रियायें करनेसे बहिरङ्ग शुद्धि होती है । स्नान कर शुद्ध वस्त्र एवं आभूषण धारण करे तथा मनको वशमें कर मौन एवं संयमपूर्वक जिनेन्द्रदेवका पूजन करना चाहिये । दतौनसे मुख शुद्ध कर और मुखपर वस्त्रधारण कर तथा अन्य व्यक्तियोंके सम्पर्कसे पृथक् रहकर जिनेन्द्रदेवके पूजनमें प्रवृत्त होना चाहिये । पूजनके लिये छः कर्तव्य कर्मोंका सम्पादन करना परमाश्वयक है ।

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम् ।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम् ॥५१९॥ —उपासकाध्ययन

(१) प्रस्तावना, (२) पुराकर्म, (३) स्थापना, (४) सन्निधापन, (५) पूजा और (६) पूजाफल

पूजक सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान्के अभिषेकका संकल्प कर उत्तर दिशा की ओर मुंह कर जिनेन्द्र बिम्बको पूर्व दिशाकी ओर स्थापित करे । इस प्रकार पूजनके समय जिनेन्द्र प्रतिमा के अभिषेककी तैयारी करनेका नाम प्रस्तावना है ।[1] जिस स्थानपर प्रतिमाको स्थापित कर अभिषेक करना है, उस स्थानकी शुद्धि करके जलादिसे भरे हुए कलशोंको चारों ओर कोणोंमें स्थापित करना पुराकर्म है ।[2] इन कलशोंके मध्यवर्ती स्थानमें रखे हुए सिंहासन पर जिनबिम्बको स्थापित करना स्थापना है[3] । ये वही जिनेन्द्र हैं, वही सुमेरुगिरि है, वही सिंहासन है, यह क्षीर सागरका जल है और मैं साक्षात् इन्द्र बनकर भगवान्का अभिषेक कर रहा हूं, इस प्रकारकी कल्पना करके प्रतिमाके समीपस्थ होना सन्निधापन है ।[4] आरती उतारना, अभिषेक

---

१. यः श्री जन्मपयोनिधिर्मनसि च ध्यायन्ति यं योगिनो
येनेदं भुवनं सनाथममरा यस्मै नमस्कुर्वते ।
यस्मात्प्रादुरभूच्छ्रुतिः सुकृतिनो यस्य प्रसादाज्जना ।
यस्मिन्नैष भवाश्रयो व्यतिकरस्तस्यारभे स्नापनाम् ॥
—उपासकाध्ययन ५३० । इति प्रस्तावना

२. रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ भूमौ भुजङ्गमपतीनमृतैरुपास्य ।
कुर्मः प्रजापतिनिकेतनदिङ्-मुखानि दूर्वाक्षतप्रसवदर्भविदर्भितानि ॥५३३॥
पाथः पूर्णान्कुम्भान्कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् ।
दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्वणांश्चतुरः ॥५३४॥ इति पुराकर्म

३. तीर्थोदकैर्मणिसुवर्णघटोपनीतैः पीठे पवित्रवपुषि प्रतिकल्पितार्थे ।
लक्ष्मी श्रुतागमनबीजविदर्भगर्भे संस्थापयामि भुवनाधिपतिं जिनेन्द्रम् ॥५३६॥ इति स्थापना

४. सोऽयं जिनः सुरगिरिर्ननु पीठमेतदेतानि दुग्धजलधेः सलिलानि साक्षात् ।
इन्द्रस्त्वहं तव सवप्रतिकर्मयोगात्पूर्णा ततः कथमियं न महोत्सवश्रीः ॥५३७॥
इति सन्निधापनम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

करना, अष्ट द्रव्यसे अर्चा करना, स्तोत्र पाठ करना, चंवर ढोरना, गीत, नृत्य आदिसे भगवद्भक्ति करना पूजा है[1]। जिनेन्द्र प्रतिमाके पास स्थित होकर इष्ट प्रार्थना करना पूजाफल है।[2]

उपर्युक्त पूजन विधि वर्तमानमें प्रचलित पूजन विधिसे भिन्न है। आचार्य सोमदेवकी उक्त विधि एक प्रकारसे पञ्चामृत अभिषेककी समस्त क्रियाओंमें निहित है। पञ्चामृत अभिषेकके समय प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना सन्निधापन, पूजा और पूजाफल ये विधियाँ आचरित की जाती हैं। रुद्राभिषेकके साथ तुलना करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विधि इस अभिषेकमें प्रयुक्त होनेवाली क्रियाओंसे भिन्न नहीं है।

वर्तमान समयमें पूजनमें प्रयुक्त आह्वानन, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन रूप पञ्चोपचारकी क्रियाका प्रारम्भ कब और किस प्रकार हुआ, यह विचारणीय प्रश्न है? प्रतिष्ठापाठोंमें आह्वानादिका विधान पाया जाता है। पं० आशाधरजीने ग्रहों और अन्य देवोंके पञ्चोपचारके साथ तीर्थंकर पूजामें भी आह्वानादिका प्रयोग किया है।[3] आचार्य देवसेनने भावसंग्रहमें[4] पूर्व आहूत देवोंके विसर्जनका विधान किया है, अतः आह्वान, स्थापन और सन्निधिकरणका समावेश भी हो जाता है। पर यह सत्य है कि आह्वान, स्थापनादि उपचार इन्द्रादि देवताओंके लिए किये गये हैं। तीर्थंकरके सम्बन्धमें पञ्चोपचारका स्पष्ट निर्देश १३वीं शतीके ग्रन्थ वर्धमान कविके वरांगचरितमें पाया जाता है।[5] हमारा अनुमान है कि पुराण सम्मत

---

१. अम्मश्चन्दनतन्दुलोद्गमहविर्दीपैः सधूपैः फलै-
र्चित्वा त्रिजगद्गुरुं जिनपतिं स्नानोत्सवानन्तरम्।
तं स्तौमि प्रजयामि चेतसि दधे कुर्वे श्रुताराधनं
त्रैलोक्यप्रभवं च तन्महमहं कालत्रये श्रद्दधे ॥ ५५९ ॥
यज्ञैर्मुदावभृथभाग्भिरुपास्य देवं पुष्पाञ्जलिप्रकरपूरितपादपीठम्।
श्वेतातपत्रचमरीरुहदर्पणाद्यैराराधयामि पुनरेनमिनं जिनानाम् ॥ ५६० ॥—इति पूजा

२. भक्तिर्नित्यं जिनचरणयोः सर्वसत्त्वेषु मैत्री
सर्वातिथ्ये मम विभवधीर्बुद्धिरध्यात्मतत्त्वे।
सद्विद्येषु प्रणयपरता चित्तवृत्तिः परार्थे
भूयादेतद्भवति भगवन्धाम यावत्त्वदीयम् ॥ ५६१ ॥
धर्मेषु धर्मनिरतात्मसु धर्महेतौ धर्मानवाप्त महिमास्तु नृपोऽनुकूलः।
नित्यं जिनेन्द्रचरणार्चनपुण्यधन्याः कामं प्रजाश्च परमां श्रियमाप्नुवन्तु ॥५६३॥
—इति पूजाफलम्

३. स्वाविन् संवोषट् कृतावाहनस्य द्विष्टांतेनोट्टंकितस्थापनस्य।
स्वं निर्नेक्तुं ने वषट्कार जाग्रत् सान्निध्यस्य प्रारभेयाष्टधेष्टिम् ॥
ॐ ह्रीं अर्हं श्री परमब्रह्म अत्रावतरावतर संवौषट्......।—आशाधर प्रतिष्ठासारोद्धार, बम्बई, सं० १९७४ पृ० ४९

४. आवाहिऊण देवे सुरवइसिहि कालणेरिए वरुणे।
पवणे जरवे ससूली सपिय सवाहणे ससत्थेय ॥—भावसंग्रह गा० ४३९
झाणं झाऊण पुणो मज्झाणियवंदणत्थ काऊणं।
उपसंहरिय विसज्जउ जे पुव्वावाहिया देवा ॥—वही, गा० ४८१

५. पञ्चोपचारपूजा कर्त्तुं.........। वरांगचरित १२।१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वैदिक धर्मकी द्रव्य संख्या प्रधान पञ्चोपचार दशोपचार,[१] षोडशोचार,[२] अष्टादशोपचार[३] एवं द्वात्रिंशदुपचार पूजाके सम्पर्कसे दशवीं शतीके आस-पास उक्त पञ्चोपचार पूजाका प्रचार हुआ होगा। उपचार शब्द उप + चर + घञ् से निष्पन्न है। इसका अभिधाजन्य अर्थ सम्मान और शिष्टतापूर्वक सत्कार प्रकट करना है। अर्थोत्कर्षसे यह शब्द श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने एवं पूजन करनेके अर्थमें प्रयुक्त होता है। अतः विकासके क्रममें प्रार्थना, विधिविशेष (श्रद्धा समर्पित करनेकी), सम्मानसूचक उक्ति, चाटुकारिता, अनुष्ठान, पूजनके अंग या द्रव्यके अर्थमें प्रयुक्त था। यह अर्थ गुप्तकालके अनन्तर ग्रहण किया गया है। जाबालिने ध्यान, आह्वान, भक्ति निवेदन, नीराजन और प्रमाणको पञ्चोपचार कहा है।[४] आचार चिन्तामणि और विश्वामित्र संहितामें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य समर्पणको पञ्चोपचार कहा है।[५] रघुवंश,[६] कुमारसम्भव प्रभृति काव्य ग्रन्थोंमें उपचार शब्द उत्सव, पूजा और पूजांगोंके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। अतएव इस शब्दके अर्थ विकासका अध्ययन करनेपर स्पष्ट होता है कि गुप्तकालके अनन्तर पूजांग और पूजन द्रव्यके अर्थमें उपचार शब्द प्रयुक्त होने लगा। जैन प्रतिष्ठा ग्रथोंमें दिक्पाल, नवग्रह प्रभृति पूजनका विधान किया गया है। अतः पञ्चोपचार पूजनके पंचांगोंके अर्थमें प्रयुक्त होने लगा, और षट्कर्म--प्रस्तावना, पुराकर्मने आह्वान, स्थापन, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जनका स्थान प्राप्त किया।

धर्मसंग्रहश्रावकाचार[७] और लाटी संहिता[८] प्रभृति १५-१६वीं शतीके ग्रन्थोंमें पंचोपचारका स्पष्ट निर्देश आता है। प्रतिष्ठादीपक ग्रंथमें बताया है कि निराकार पूजामें आह्वानन,

---

१. अर्घ्यं पाद्यं तथाचामः स्नानं गन्धञ्च पुष्पकम्।
धूपदीपनैवेद्यानि नमस्कारञ्च ते दश ॥—देवपूजा और कुण्ड निर्माण विधान
अ० प्रह्लादजी महाराज गौड़, सुरेका भवन, बनारस, सन् १९५५ पृ० ५

२. आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्।
मधुपर्काचमन स्नानं वसनाभरणानि च ॥
सुगन्धिसुमनोधूपदीपनैवेद्यवन्दनाम्।
प्रपूजयेदर्चनायामुपचारस्तु षोडश ॥—वही पृ० २

३. आसन, स्वागत, प्रश्न, पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, आभूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अन्न, तर्पण, माला, अनुलेपन, नमस्कार और विसर्जन।-वही पृ० ६

४. विशेष जाननेके लिए देखें--देवपूजा और कुण्ड निर्माण विधि, बनारस १९५५ ई०, पृ० ५

५. गन्धादिका नैवेद्य पूजा पञ्चोपचारिकी---वही पृ० ५

६. प्रकीर्णामि नवोपचारम्---रघुवंश ७।४ 'सन्मंगलोपचाराणाम्' रघुवंश १०।७७
तस्योपकार्यारचितोपचारा, रघुवंश ५।४१।

७. जिनानाहूय संस्थाप्य सन्निधीकृतत्य पूजयेत्।
पुनर्विसर्जयेन्मन्त्रैः संहितोक्तैर्गुरुक्रमात् ॥५६॥—धर्मसंग्रहश्रावकाचार, पृ० २१९

८. अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्याह्वानमात्रिका।
प्रतिष्ठापनसंज्ञाऽथ सन्निधीकरणं तथा ॥१७४॥
ततः पूजनमत्रास्ति ततो नाम विसर्जनम्।
पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥१७५॥
—लाटी संहिता, माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. १९८४, पु. ११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्निधिकरण और विसर्जन क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, पर साकार जिनेन्द्रबिम्ब पूजामें केवल पूजा विधि रूप एक ही उपचार सम्पन्न किया जाता है—

साकारादिनिराकारा, स्थापना द्विविधा मता।
अक्षतादिनिराकारा, साकारा प्रतिमादिषु ॥१॥
आह्वाननं प्रतिष्ठानं सन्निधीकरणं तथा।
पूजा विसर्जनं चेति, निराकारे भवेदिति ॥२॥
साकारे जिनबिम्बे स्यादेक एवोपचारकः।
स चाष्टविध एवोक्तं जलगन्धाक्षतादिभिः ॥३॥
—प्रतिष्ठादीपक, नामकरणाध्याय

वसुनन्दिश्रावकाचारमें स्थापना दो प्रकारकी बतलायी गयी है[1]—सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना। आकारवान् वस्तुमें अरहन्त आदिके गुणोंका आरोप करना सद्भावस्थापना और अक्षत, कमलगट्टा, लवंग आदिमें अरहन्त आदिके गुणोंका आरोपण करना असद्भाव स्थापना है। सद्भाव स्थापना प्रतिमामें ही की जाती है। इस पञ्चमकालमें असद्भाव अतदाकार स्थापना नहीं करनी चाहिए। अतएव प्रतिमाके सम्मुख पूजन करते समय पूर्वोक्त षट्कर्म विधिकी आवश्यकता है, पञ्चोपचारकी नहीं। पञ्चोपचार उसी स्थितिमें विधेय है, जब तीर्थंकरकी प्रतिमा वहाँ विराजमान न हो, जिनकी पूजा करना अभीष्ट है।

पूजनके मूलतः दो भेद हैं—भाव पूजा और द्रव्य पूजा। अमितगतिके अनुसार मनको रोक कर जिनेन्द्रके गुणानुरागमें लगानेको भाव पूजा एवं वचन और शरीरकी क्रियाको रोककर भगवद्भक्ति करना द्रव्य पूजा है।[2] इनके मतानुसार जिनेन्द्र भगवान्के गुणोंका बार-बार स्मरण करना भाव पूजा और[3] अष्ट द्रव्योंसे पूजित करना द्रव्य पूजा है।[4] आशय यह है कि जिन बिम्बके समक्ष अष्टद्रव्योंसे पूजन करना द्रव्य पूजा और स्तोत्रपाठ भक्तिपाठ आदिके द्वारा भगवान्के गुणोंका स्मरण करना भाव पूजा है।

वसुनन्दिश्रावकाचारमें नाम पूजा, स्थापना पूजा, द्रव्यपूजा, भावपूजा, क्षेत्रपूजा और कालपूजा ये छः भेद किये गये हैं। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु इन पञ्च

---

१ सम्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता।
सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा ॥
अक्खयवराडओवा अमुगो एसोत्ति णियबुद्धीए।
संकप्पिरूण वयणं एसाविइया असब्भावा ॥
हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि कायव्वा।
लोए कुलिंग मइमोहिए जदो होइ संदेहो ॥
—वसुनन्दि श्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, गाथा ३८३-३८५ पृ० १२२

२. वचो विग्रह संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥—अमितगतिश्रावकाचार-सूरत संस्करण १२।१२

३. व्यापकानां विशुद्धानां जिनानामनुरागतः।
गुणाना यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥—वही १२।१४

४. वही १२।१३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमेष्ठियोंका नामोच्चारण कर विशुद्ध प्रदेशमें पुष्पक्षेपण करना नाम पूजा है। जिन प्रतिमाकी स्थापना कर पूजन करना स्थापना-पूजा और जल, चन्दन, अक्षत आदि द्रव्योंसे जिनबिम्बादि द्रव्यकी पूजा करना द्रव्य-पूजा है। जिन भगवान्‌के पञ्चकल्याणकोंकी भूमिमें पूजा करना क्षेत्र पूजा एवं भक्तिभावपूर्वक जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंका उल्लेख करते हुए त्रिकाल वन्दन करना भावपूजा है। णमोकार मन्त्रका जाप, ध्यान, स्तोत्र, पाठ एवं गुणाख्यान भी भावपूजाके अन्तर्गत है।[1]

आचार्य जिनसेन द्वितीयके आदिपुराणके ३८ वें पर्व एवं वामदेवके भावसंग्रहमें पूजाके चार भेद बतलाये गये हैं—(१) नित्यपूजा (२) चतुर्मुख पूजा, (३) कल्पद्रुम पूजा और (४) अष्टान्हिका पूजा[2]। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतमें उक्त चारों पूजाओंका प्रतिपादन किया है। प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध पुष्प, अक्षत आदि लेकर जिनालयमें अर्हन्त देवका पूजन करना, प्रतिष्ठा करना, मन्दिर निर्माण करना, मन्दिर व्यवस्था के लिए ग्राम, खेत आदिका दान करना नित्यपूजा है। महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा की जाने वाली पूजा चतुर्मुख या सर्वतोभद्र है। किमिच्छक दान द्वारा संसारके समस्त प्राणियोंके मनोरथों को पूर्ण कर चक्रवर्तियों के द्वारा जो पूजा की जाती है, वह कल्पद्रुम कहलाती है। अष्टाह्निका व्रतमें की गयी पूजा आष्टाह्निका कहलाती है। भावसंग्रह में इन्द्रध्वज पूजाका भी नाम आया है। अकृत्रिम चैत्यालयों और पञ्च-कल्याणक स्थानोंमें देवों द्वारा जो पूजा की जाती है, वह इन्द्रध्वज कहलाती है[3]।

---

१. णाम-ट्ठवणा-दव्वे खित्ते काले वियाण भावे य।
छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहिं ॥ वसुनन्दिश्राव० गा० ३८१, पृ० १२१
उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि।
पुप्फाणि जं खिविज्जंति वण्णिया णामपूया सा ॥ वही, गा० ३८२ पृ० १२२
दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाग दव्वपूजा सा।
दव्वेण गंधसलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा। वही, गा० ४४८ पृ० १२९
जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु।
णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा ॥ गा० ४५२ पृ० १३०
गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण-णाण-णिव्वाणं।
जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा ॥ वही, गा० ४५३ पृ० १३०
णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु।
जं कीरइ जिणमहिमं विण्णेया कालपूजा सा ॥ वही, गा० ४५५ पृ० १३०
काऊणाणंतचउट्ठयाइगुणकित्तणं जिणाईणं।
जं वंदणं तियालं कीरइ भावच्चणं तं खु ॥ वही, गा० ४५६ पृ० १३१

२. प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्।
चतुर्मुखमहः कस्पद्रुमाञ्चाष्टाह्निकोऽपिच ॥
आदिपुराण, भारतोय ज्ञानपीठ प्रथम संस्करण ३८/२६

३. वामदेव विरचित संस्कृत भावसंग्रह पद्य ५५५–५६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजन और श्रावकाचार

पूजा का समावेश श्रावकके किस व्रतमें होता है? यह विचारणीय प्रश्न है। रत्न-करण्डश्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्रने पूजनका अन्तर्भाव वैयावृत्य नामक शिक्षाव्रतमें किया है बताया है—

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम्।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥ रत्न० प० ११९

पद्मपुराणमें पूजाका अन्तर्भाव अतिथिसंविभाग नामक शिक्षाव्रतमें किया है। बताया गया है—

संविभागेऽतिथीनां च तेषामुक्तो जिनाधिपैः।
यज्ञाख्यावस्थितास्तस्मिन् भेदैः पात्रादिभिर्युतैः॥

पद्मपुराण, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण ११/४०

जिनेन्द्र भगवान्ने गृहस्थोंका एक व्रत अतिथिसंविभाग बतलाया है, जो पात्रादिके भेद से अनेक प्रकारका है। पूजाका अन्तर्भाव इसी अतिथिसंविभाग व्रतमें होता है।

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें पूजनको सामायिक व्रत कहा है। उन्होंने बताया है कि पूजन करनेके उपदेशको समय कहते हैं और उसमें उसके इच्छुकजनोंके जो-जो कार्य बतलाये गये हैं, उन्हें सामायिक कहते हैं।

आप्तसेवोपदेशः स्यात्समयः समयार्थिनाम्।
नियुक्तं तत्र यत्कर्म तत्सामायिकमूचिरे॥

उपासकाध्ययन, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण, पद्य ४६० पृ० २१२

देवसेन ने भावसंग्रहमें देवपूजाको पदस्थ ध्यानके अन्तर्गत वर्णित किया है। उनका अभिमत है :—

देवच्चणाविहाणं जं कहियं देसविरयठाणम्मि।
होइ पयत्थं झाणं कहियं तं वरजिणिंदेहि॥

—भाव० गाथा ६२६

प्राकृत भावसंग्रहके अनुसरणकर्त्ता वामदेवने अपने संस्कृत भावसंग्रहमें जिनपूजाको भद्र-ध्यानके अन्तर्गत रखा है। गृहस्थ भद्रधर्मध्यानके द्वारा अपने अर्जित अशुभकर्मोंकी निर्जरा करता है। बताया है—

जिनेज्यापात्रदानादिस्तत्र कालोचितो विधिः।
भद्रध्यानं स्मृतं तद्धि गृहधर्माश्रयाद्बुधैः॥

—संस्कृत भावसंग्रह पद्य ५५२

इसमें सन्देह नहीं कि पूजन द्वारा भगवान्के गुणोंमें अनुरक्ति उत्पन्न होनेसे उत्तम भद्रध्यानकी प्राप्ति होती है। वीतरागी जिनेन्द्रदेवके गुणोंका स्मरण होनेसे क्लेश, कषायका अभाव होता है और आत्मामें निर्मल परिणति उत्पन्न होती है।

आदिपुराणमें द्वितीय जिनसेनने देवपूजाको कुलधर्म माना है और इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, संयम एवं तप इन षट् क्रियाओंको जीवनोत्थान के लिए आवश्यक बताया है। यथा —

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इज्यां वार्ता च दत्तिं च स्वाध्यायं संयमं तपः। श्रुतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ।।
कुलधर्मोऽयमित्येषाम् अर्हत्पूजादिवर्णनम् । तदा भरतराजर्षिः अन्ववोचदनुक्रमात् ।।

—आदि० भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण ३८/२४–२५

कुछ आचार्योंने मुनियोंके समान गृहस्थों के लिए भी षट् आवश्यकका नियमन किया है। आचार्य पद्मनन्दिने बताया है—

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ।।

पदमन० शोलापुर संस्करण ६/७ पद्य क्र० ४०३

श्रावकके षड् आवश्यकोंमें देव पूजाको प्रथम स्थान दिया गया है। पं० आशाधरजीने भी गृहस्थकी दिनचर्यामें 'पूजन' को प्रमुखता प्रदान की है।

उपसंहार :

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि श्रावक के लिए देवदर्शन, देवपूजन और देवस्तवन करना परमावश्यक है। प्रारम्भमे देवपूजा पुष्पों द्वारा सम्पादित की जाती थी। उत्तरकालमें गन्ध, दीप, धूप और अक्षत द्रव्योंका विकास हुआ। पुष्पोंके अनन्तरगंध और अक्षत द्रव्य प्रयुक्त हुए। गन्धके सहयोगी धूप और दीप रहे तथा अक्षतकी सहयोगिता नैवेद्यने प्राप्त की। अर्घ्य का अर्थ प्रारम्भमें केवल जल प्रदान था, किन्तु कालक्रमसे जल के साथ पुष्प और अक्षतका भी प्रयोग होने लगा। 'नीराजना' के आविर्भावके साथ दीप और धूप भी अर्घ्यमें समाविष्ट हो गये। इस प्रकार अष्ट-द्रव्योंका समवाय 'अर्घ्य' पद को प्राप्त हुआ।

पूजनका प्रारम्भिक रूप 'बृहद् अभिषेक' ही था, जिसमें प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधीकरण, पूजा और पूजाफल ये छह अंग समाहित थे। सोमदेवके उपासकाध्ययनके समान उक्त छः अंग आशाधरके 'नित्यमहोद्योत' में भी उपलब्ध होते हैं। सागारधर्मामृतके षष्ठ अध्यायमें जो उपासना विधि वर्णित है, उससे भी उक्त कथन स्पष्ट होता है। पूजनफलमें जय-माला, स्तोत्र या अन्य प्रकारसे अर्हन्तके गुणोंका स्मरण समाहित था। आशाधरने लिखा है—

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां, पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक् ।
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं, न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः, सिक्त्वा कृतोद्वर्तनम् ।
सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः, सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ।।—सागार० ६/२२

अभिषेकके सम्बन्धमें जब समालोचनात्मक चिन्तन प्रारम्भ हुआ और पूजन द्रव्यों पर भी सचित्त-अचित्त सम्बन्धी समीक्षा आरम्भ हो गयी तो अभिषेक की सीमा टूट गयी तथा उक्त षट् विधेयोंकी भी अवहेलना होने लगी। इधर जब पौराणिक धर्मका प्रभाव बढ़ने लगा, तो पञ्चोपचार पूजाविधिका प्रवेश हुआ। दशवीं शतीके अनन्तर इस विधिको इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, जिससे पूर्व प्रचलित विधि गौण हो गयी। प्रतिमाके समक्ष रहने पर भी आह्वानन, सन्निधीकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पञ्चकल्याणकों की स्मृति के लिए व्यवहृत होने लगे। पूजाको वैयावृत्यका अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकारसे इसे 'आहारदान' के तुल्य स्थान प्राप्त हुआ। पूजाका सामायिक या ध्यान की मूलभावनामें परिवर्तन हुआ और पूजा को अतिथि संविभाग व्रतका अंग मान लिया गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शनकी मौलिक अवधारणाएँ

सोचना या चिन्तन करना मनुष्यका स्वाभाविक गुण है। चिन्तनके अभावमें मनुष्य जीवित नहीं रह सकता। जीना और चिन्तन करना दोनों साथ-साथ चलते हैं। जब तक मनुष्य जीवित रहता है चिन्तनकी क्रिया स्थगित नहीं होती। इसमें सन्देह नहीं कि मानवकी चेतन शक्तिका क्रमशः विकास होता है। जो कुछ भी आज तक मनुष्य कर पाया है, इसी विकसित विचार शक्तिके प्रयोगोंका फल है। विचार शक्तिका विकास निरन्तर होता रहता है।

आरम्भ में जब मनुष्यने प्रकृति रहस्योंका दर्शन किया होगा, तो उसके मनमें सहज जिज्ञासा उत्पन्न हुई होगी कि यह रहस्य क्या वस्तु है और क्यों उत्पन्न होते हैं? फलस्वरूप अपने आश्चर्य और कौतूहलके शमन हेतु चिन्तन या विचार अवश्य किया होगा। इसी चिन्तन या विचार पद्धतिने दर्शन शास्त्रको उत्पन्न किया होगा। अतएव यह माना जा सकता है कि दर्शन शास्त्रकी उत्पत्ति उतनी ही प्राचीन है, जितनी मानवकी उत्पत्ति। वस्तुतः मानव जीवनके परिपार्श्वकी परिस्थितियाँ एवं उसके परम्परागत संस्कार भी दर्शनकी दिशाका निर्माण करनेमें कारण होते हैं। स्वभाव वैचित्र्य एवं परिस्थितियोंकी विशेषताके कारण ही विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओंमें दृष्टि भेद उत्पन्न होते हैं। चिन्तन या विचारने के लिए जिस कोटिकी सामग्री उपलब्ध होती है, उसी रूपमें चिन्तन आरम्भ होता है।

सामग्रीके सम्बन्धमें कुछ विचारक आश्चर्यको चिन्तनका आलम्बन मानते हैं, तो कुछ सन्देहको। कोई बाह्य जगत्को महत्त्व देता है, तो कोई आत्मतत्त्वको। इन समस्त दृष्टि-कोणोंके निर्माणमें मानवका व्यक्तित्व एवं उसके परिवेश कार्य करते हैं। संक्षेप में, दर्शन उत्पत्तिका आधा जिज्ञासाके साथ आश्चर्य, संशय, भौतिक जगत्, आत्म-जगत् आदि हैं।

यह सार्वजनीय तथ्य है कि दर्शन मानव जातिके बौद्धिक क्षेत्रकी एक विचित्र उपज है। मनुष्य के आध्यात्मिक या आन्तरिक व्यक्तित्वका विकास दर्शनके मान्य सिद्धान्तोंके आधार पर ही होता है। वात यह है कि बिना किसी सैद्धान्तिक आधारके जीवनमें विश्रृंखलता आ जाती है। आचरणमें सामञ्जस्य लाने के हेतु विचारोंमें सामंजस्य लाना आवश्यक है और विचारों में तभी सामंजस्य सम्भव है जब उनकी आधार शिलाके रूपमें जीवन और जगत्के विषयमें उचित एवं सुदृढ़ सिद्धान्त प्रस्तुत हो। ये सिद्धान्त ही जीवनके प्रति व्यक्तिका दृष्टिकोण स्थिर करते हैं और उसकी जीवनव्यापी क्रियाओंके बीच एक श्रृंखला स्थापित करते हैं।

प्रत्येक मनुष्यका जीवन उसके दर्शनके अनुरूप होता है, जैसा वह सोचता है, वैसा ही बनता है, पर ध्यातव्य यह है कि जीवन वास्तविक दर्शनका अनुसरण करता है, नकली दर्शन का नहीं। व्यक्ति जिसे अपना दर्शन कहता है, उसके प्रति आस्था होती ही है और दर्शनके प्रश्न इतने आत्मीय होते हैं, कि जिससे उनके विषयमें निष्पक्ष चिन्तन किया जा सके। बुद्धिकी मांग दर्शन द्वारा ही पूरी होती है, पर दर्शन इससे भी आगे जाता है। दर्शन अपने आपमें पूर्ण होता है, उसका साध्य कोई दूसरा नहीं। वह स्वयं ही साधन है और स्वयं ही साध्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार्वाकको छोड़ शेष सभी भारतीय दर्शन आध्यात्मिक प्रेरणाको दर्शनकी उत्पत्तिका कारण मानते हैं। मानव अपने पार्श्ववर्त्ती परिवेशसे अथवा जागतिक साधन सामग्री से जब अपनी आत्माको पूर्ण संतोष नहीं दे पाता और उपलब्ध समस्त सामग्रीमें किसी न किसी प्रकार की न्यूनताका अनुभव करता है, तो वह नयी गवेषणा आरम्भ करता है। अपनी आध्यात्मिक पिपासाको शान्त करने हेतु नव कूपका निर्माण करता है और ग्रहण करता है ऐसा नवीन मार्ग जो आन्तरिक प्रेरणाको सन्तुष्ट कर सके। मानवके इसी प्रयत्नको दर्शन कहा जाता है, वह ऐसी वस्तु देखना चाहता है, जिसे चर्म चक्षुओं द्वारा नहीं देखा जा सकता। वह ऐसी वस्तुका अनुभव करना चाहता है, जिसे इन्द्रियाँ नहीं पा सकतीं। वर्तमान से असन्तोष और भविष्यकी उज्ज्वलता की आकांक्षाका दर्शन आध्यात्मिक प्रेरणाका प्रतिफल है। जो वर्तमानसे सन्तुष्ट रहता है, वह भविष्यकी आशामें वर्तमानको कदापि खतरेमें नहीं डालता। यही कारण है कि आध्यात्मिक प्रेरणाकी सबसे पहली शर्त है वर्तमानके प्रति असन्तोष। इसके साथ ही भविष्यत् कालीन उज्ज्वलताकी आकांक्षा भी आवश्यक है। इस प्रकार आध्यात्मिक प्रेरणासे उत्पन्न दर्शन बहुत गम्भीर एवं उच्चस्तरीय होता है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि दार्शनिक चिन्तनकी उत्पत्ति मनुष्यके जीवनकी समस्याओंसे हुई है। यह उसे जीवन और जगत्के रहस्यको समझनेके लिए सर्वदा प्रेरित करती है। मनुष्य जीता है और जानना चाहता है कि क्यों जीता है और जीनेका अर्थ क्या है? यही मनुष्य और अन्य प्राणियोंमें अन्तर है। मनुष्येतर प्राणी भी जीते हैं, पर वे जीते भर हैं, यह जानने का प्रयास नहीं करते कि जीना क्या है? किन्तु मनुष्य केवल जीने भर से सन्तुष्ट नहीं रहता, वह तो जानना चाहता है कि जीवन का अर्थ क्या है? यही जिज्ञासा मनुष्यको चिन्तन करने के लिए प्रेरित करती है। जीवन और जगत्का क्या सम्बन्ध है और इस सम्बन्धका निर्वाह किस प्रकार और कैसे सम्भव है? इस समस्याके समाधानके लिए ही मनुष्य अनादिकालसे चिन्तन करता आ रहा है।

दर्शन : व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ

दर्शन शब्दकी निष्पत्ति दृश् + ल्युट् से हुई है। इसका अर्थ है—देखना, निरीक्षण करना, प्रत्यक्ष जानना या अनुभव करना। वस्तुतः 'दृश्यते अनेन दर्शनम्'—अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुका स्वरूप देखा जाय, जाना जाय वह दर्शन है। संसार नित्य है या अनित्य, आत्मा का स्वरूप क्या है, पुनर्जन्म होता है या नहीं, सृष्टिकर्ता कोई है या नहीं, आत्मा कर्म फलको किस प्रकार प्राप्त करती है, ईश्वरकी सत्ता है या नहीं, इत्यादि बातोंका विचार दर्शनशास्त्र में किया जाता है। यही कारण है कि दर्शन की परिभाषामें उन्नत जीवनके तत्त्वोंका चिन्तन एवं अनुभूति दर्शनके अन्तर्गत है।

दर्शनकी विभिन्न परिभाषा

दर्शनका अर्थ तत्त्वका साक्षात्कार या उपलब्धि है। सबसे प्रमुख तत्त्व आत्मा हैं, जो आत्माको जान लेता है, वह सभी को जान लेता है। अस्तित्वकी दृष्टिसे सभी तत्त्व समान हैं, पर मूल्यकी दृष्टिसे आत्मा सबसे अधिक मूल्यवान है। मूल्यका निर्णय आत्मा पर निर्भर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुका अस्तित्व स्वयंजात होता है, पर उसका मूल्य चेतनासे सम्बद्ध हुए बिना नहीं होता। अतएव दर्शनमें वस्तु विषयक निर्णयके साथ मूल्य विषयक निर्णय भी सम्मिलित है।

कुछ आचार्य हेयोपादेयकी अनुभूतिको दर्शन मानते हैं। अगम्य को गम्य बनाने वाली विचार पद्धति भी दर्शनमें परिगणित है। दर्शनकी यह प्रणाली मुक्तिपर आधारित है। दर्शन तत्त्वके गुणोंसे सम्बन्ध रखता है, अतः इसे तत्त्वज्ञान भी कहा जा सकता है। तत्त्व पर विचार करनेके लिए युक्ति या तर्कका सहारा अपेक्षित है। अतः दर्शन वह तार्किक विचार-प्रणाली है, जिसके द्वारा पदार्थ, आत्मा, अनात्मा, गति, स्थिति, समय, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल, जीवन, जगत् आदि तथ्योंकी आलोचना या व्याख्या की जाय।

भारतीय दर्शन : स्वरूप

दर्शनकी भारतीय परिभाषाके अनुसार अनुभूतियोंकी युक्तिसंगत व्याख्या दर्शन है। अनुभूतियाँ दो प्रकारकी होती हैं—ऐंद्रिय (Sensuons) और अनैन्द्रिय (Non-Sensuons)। दर्शनके स्वरूपमें ये दोनों अनुभूतियाँ गर्भित हैं; परन्तु चार्वाक दर्शनके अतिरिक्त सभी भारतीय दर्शन अनैन्द्रिय अनुभूतिको विशेष महत्त्व देते हैं। क्योंकि वास्तविक सत्ताका साक्षात्कार वास्तविक अनुभूतिसे ही होता है। आध्यात्मिक अनुभूति और बौद्धिक ज्ञान इन दोनोंमें पर्याप्त अन्तर है। बौद्धिक ज्ञानमें ज्ञाता और ज्ञेयका द्वैत बना रहता है, पर इस अनुभूतिमें ज्ञाता और ज्ञेयकी पृथक् प्रतीति नहीं होती। यह अनुभूति अनायास प्राप्त नहीं होती। इसे प्राप्त करनेके लिए साधनाकी आवश्यकता है और साधनाका अर्थ है—मन, वचन, बुद्धि, भावना और चेष्टाको पवित्र एवं परिमार्जित कर एक विशेष दिशामें लाया जाता है। अनवरत साधनाके फलस्वरूप साधकको परम तत्त्वकी अनुभूति आध्यात्मिक है और दर्शनका स्वरूप है।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि भारतीय दर्शन बुद्धिकी महत्ता अस्वीकार नहीं करता। वह न तो अबौद्धिक है और न केवल बौद्धिक। बौद्धिकता इसका एक आवश्यक अंग है। भारतीय दर्शनके लिए अनुभूति और उसकी बौद्धिक व्याख्या दोनों ही आवश्यक हैं। अनुभूति न होनेपर बुद्धिके लिए व्याख्याका विषय ही शेष नहीं रह जायगा और बौद्धिक व्याख्या न होनेपर अनुभूति अनुभवकर्त्ता तक ही सीमित रह जायगी। उसका प्रचार एवं उसकी सत्यताकी रक्षा ही सम्भव नहीं हो सकेगी।

भारतीय दर्शनके स्वरूपानुसार बुद्धिकी पहुँच परमतत्त्व तक नहीं हो सकती। वहाँ तो आध्यात्मिक अनुभूति ही पहुँच पाती है, बुद्धि उस अनुभूतिकी व्याख्या भर कर सकती है। संक्षेपमें, भारतीय विवेचनके अनुसार दार्शनिक चिन्तन बौद्धिक चिन्तन है।

भारतीय दर्शनके परिप्रेक्ष्यमें यह माना जा सकता है कि दार्शनिक चिन्तनकी उत्पत्ति जिज्ञासासे नहीं, किन्तु दुःख मात्रका विनाश करनेकी आकांक्षासे हुई है। पाश्चात्य परम्परा आश्चर्य, जिज्ञासा संशयादि कारणोंका प्रतिनिधित्व करती है, पर भारतीय परम्परा दर्शनकी उत्पत्ति दुःखके विनाशकी आकांक्षामें मानती है। दुःखसे मुक्ति प्राप्त करना यही भारतीय दर्शनशास्त्रका मुख्य प्रयोजन है। इसी प्रयोजनकी सिद्धिके लिए विविध दार्शनिक विचार-धाराओंकी उत्पत्ति हुई है। यद्यपि दुःख समस्त दर्शनोंकी उत्पत्तिका सामान्य कारण है, पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःख क्या है ? उसका वया रूप है ? उसके कितने भेद हैं ? उससे छुटकारा पानेकी क्या प्रक्रिया है ? इत्यादि प्रश्नोंके आधारपर विभिन्न विचार-पद्धतियोंका निर्माण हुआ है और प्रश्नोंके समाधान अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार किये गये हैं ।

पाश्चात्य दर्शन

पाश्चात्य दार्शनिक दर्शनके अर्थमें फिलॉसफी (Philosophy) का प्रयोग करते हैं। यह शब्द ग्रीक भाषामें फिलॉस (Philos) एवं सोफिया (sophia) के संयोगसे बना है । इसका अर्थ है बुद्धि प्रेय (love of visdome) । यही कारण है कि अध्ययनकी किसी भी शाखाको व्यावहारिक रूपमें फिलॉसफी (Philosophy) कहा जाता है । जब मनुष्य अपने बौद्धिक विकासके निम्न स्तर पर होता है, तो वह ज्ञानके बीच अन्तर नहीं कर पाता है । बुद्धिके विकासके साथ ही वह ज्ञानको विभिन्न भागोंमें विभक्त करता है । इस प्रकार वस्तुकी नित्य प्रकृतिको स्पष्ट करनेवाला ज्ञान-दर्शन है ।

अब संकुचित अर्थमें दर्शन न तो विश्वके किसी विशेष विभागका अध्ययन करता है और न वस्तुकी नित्य एवं आवश्यक प्रकृतिका ही अध्ययन करता हैं । अपितु यह ज्ञान की वह उच्चतम शाखा है, जिसका लक्ष्य सभी सत्योंको शृखंलाबद्ध एवं एक पद्धतिमें वांधकर पूर्णत्व पर पहुँचाना है । इसमें सत्यके नित्य एवं क्षणिक सभी अंश सम्पृक्त रहते हैं । इस प्रकार दर्शन एवं अनुभवकी एक आलोचना है ।[१]

कांट और प्लेटोने भी दर्शनका स्वरूप निर्धारण करते हुए लिखा है—"Philosophy is the Science and criticism of cognition" अर्थात् दर्शन आलोचनाका अनुभव एवं विज्ञान है ।[२]

प्लेटोने दर्शनका स्वरूप विश्लेषण करते हुए लिखा है—"Philosophy aims at the knowledge of the eternal of the essential natnre of things अर्थात्— दर्शन वस्तुओं की आवश्यक प्रकृति और अमर ज्ञान पर केन्द्रित है ।

प्लेटोने इस परिभाषामें तत्त्व-मीमांसा पर विशेष बल दिया है । ज्ञान-मीमांसा और प्रमाण-मीमांसाको ज्यों का त्यों छोड़ दिया है । इस परिभाषामें एक दोष भी है । नित्य सत्ता (eternal being) का अध्ययन हम अनित्य सत्ता (Non-eternal being) से पृथक् हो कर नहीं कर सकते । इन्हें एक दूसरेसे पृथक् करनेमें तार्किक संकट भी उत्पन्न होगा । अतएव अरस्तूने इस दोषका निराकरण कर दर्शनकी परिभाषा निम्नप्रकार अंकित की है—

"Philosophy is the science which investigates the nature of being as it is in itself anb the attributes which belong to it in virtues of its own nature.[३]

---

१. Introduction to Philosophy by Yadunath Sinha, Sinha Publication House 39 S. R. Das Road, Calcutta, Page 6-7

२. वही Page १० ३. वही page १०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थात्—दर्शन ऐसा विज्ञान है, जो सत्ता और उसकी प्रकृतिके विषयमें शोध करता है और विभिन्न गुण एवं धर्मोंका अध्ययन प्रस्तुत करता है। वास्तवमें पाश्चात्य दार्शनिकोंने दर्शनको प्रकृति और सत्ताके अध्ययनका साधन माना है।

प्रोफेसर झा ने तत्व-विज्ञानकी समीक्षा करते हुए दर्शनकी निम्नलिखित परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं—

"Philosophy is an attempt to explain the mystery of life and universe."

Philosophy is all attempt to know what really exists and what merely appears to be."[1]

"Philosophy is an intellectual explanation of human experience as a whole.[2]

अर्थात् जागतिक रहस्यों और जीवनकी व्याख्या दर्शन शास्त्रमें की जाती है। वस्तुतः दर्शन शास्त्र विश्व रूपी पुस्तकके प्रथम और अन्तिम पृष्ठका पता लगानेका प्रयास करता है। प्रथम पृष्ठका अर्थ है विश्वकी उत्पत्ति कब हुई, विश्व कहाँसे आया ? अन्तिम पृष्ठका अर्थ है विश्वका अन्त कब और कैसे होगा ? विश्वका अन्तिम लक्ष्य क्या है ? इस प्रकार जीवन जगत् और प्रकृकिके रहस्य और समस्याओंका अध्ययन दर्शन है।

डॉ० अनिरुद्ध झाने अपनी 'तत्त्व मीमांसाकी रूपरेखा' नामक पुस्तकमें दर्शनका स्वरूप-विश्लेषण करते हुए लिखा है—"दर्शन सम्पूर्ण विश्वको समझने और उसकी संगत व्याख्या करनेकी चेष्टा[3] है"।

इस स्वरूप कथनमें दर्शनका विषय सम्पूर्ण विश्वको माना गया है। वस्तुतः दर्शनमें आत्मा, प्रकृति और ईश्वर सम्बन्धी विवेचन सम्मिलित है।

श्री डॉ० सतीशचन्द्र चटर्जी ने अपनी 'The problem of Philosophy' नामक पुस्तकमें पाश्चात्य विचारकोंके आधार पर दर्शनकी परिभाषाका विशद विवेचन किया है। उन्होंने लिखा है—Phyiosophy as a universal science combines the results of the special slieules, reconciles their contradictions, and gives us general view of the world as a whole[४].

अर्थात् दर्शन एक सार्वभौम विज्ञानके रूपमें विशिष्ट ज्ञान है, यह अनेक विज्ञानोंके परिणामोंको अपनेमें समाहित किये हुए है, साथ ही उनके विरोधोंको पृथक् कर विश्वके सम्बन्धमें—समस्त ब्रह्माण्डके विषयमें मनुष्यको सामान्य विचार देता है।

१. तत्त्वविज्ञान : एक समीक्षा–प्रो० झा, नालन्दा बुक डिपो, बिहार शरीफ, सन् १९६५ पृ०१
२. वही, पृ० २
३. तत्त्व मीमांसाकी रूपरेखा, चतुर्थ संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, पृ० ७।
४. The problem of Philosophy university of Calcutta, Second edt, 1964, Page 4

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आलोचकोंने दर्शनकी इस परिभाषाको दोष युक्त बतलाया है। उसका अभिमत है कि इस प्रकारका संश्लेषण सम्भव नहीं हो सकता; क्योंकि भूत-भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी विज्ञानोंका संश्लेषण एक ही कालमें एक ही मानवके लिए सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि विश्वका परिज्ञान अन्य सभी प्रकारके विद्वानोंके परिणामोंसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह मानवकी शक्ति और क्षमताके बाहर है। अतएव दर्शनकी परिभाषामें संशोधन होना आवश्यक है। श्री सतीशचन्द्र चटर्जीने बर्टेण्ड रसेल—logical positalist आदिके विचारोंको उद्धृत करते हुए दर्शनकी एक अन्य परिभाषा निम्न प्रकार प्रस्तुत की है—

"Philosophical knowledge does not differ essculially from scientific knowledge, and the results obtained by philosophy are not radically different from those obtained from science. The essential characteristic of Philosophy, which makes it is a study distint from sciences is criticism. It means critically the principles employed in science.[१]"

दर्शन विज्ञानसे प्राप्त परिणामोंसे मूलतः भिन्न नहीं है। इसकी जो विशेषता इसे विज्ञानसे पृथक् करती है, वह आलोचना है। वस्तुतः दर्शन वस्तुओंका साक्षात्कार कर उनकी वैज्ञानिक आलोचना करता है। अतएव न तो यह ऐकान्तिक रूपसे अनुभवकी तत्त्वमीमांसा है और न इन्द्रिय अनुभवके बाह्य तथ्यकी ही मीमांसा करता है। यह तो जिज्ञासाको शान्त करता हुआ विश्वके पदार्थोंकी जानकारी प्रस्तुत करता है। अतएव संक्षेपमें पाश्चात्य विचारकोंके अनुसार दर्शनकी परिभाषा निम्न प्रकार सम्भव है—

"Philosophy may therefore be defined as the criticism of sense experiences and scientific knowledge to Justify our experiences of supersenseous reality.[२]

अर्थात् दर्शन इन्द्रिय अनुभवकी आलोचनाके साथ अतीन्द्रिय तत्त्वोंकी अनुभूतिको औचित्य देनेवाला ज्ञान है। यह ज्ञान भी वैज्ञानिक प्रणालीके आधारपर तत्त्वोंका प्रस्तुतीकरण करता है। इस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकोंने दर्शनको विश्वकी सम्पूर्णताका परिज्ञान करानेवाला बौद्धिक प्रयत्न माना है। यह विश्वको एक इकाईके रूपमें अपने ज्ञानका विषय बनाता है।

वस्तुका परिज्ञान दो प्रकारसे प्राप्त किया जाता है—प्रथम प्रकार यह है कि समस्त वस्तुके अंगोंको पृथक्-पृथक् जान कर उसके समस्त रूपका परिज्ञान प्राप्त किया जाय। दूसरी पद्धति यह है कि समूची वस्तुको एक ही साथ जानकर उसका यथार्थ स्वरूप अवगत किया जाय। दर्शन दूसरी पद्धतिको अपनाता है। इस पद्धतिकी एक अन्य विशेषता बौद्धिकता भी है। दर्शन बुद्धिकी क्रिया है। दार्शनिक विश्वकी व्याख्याके हेतु बुद्धिका आश्रय लेता है, रागों

१. वही Page 4

२. The problem of PhilosoPhy University of Caleutta, Second edt, 1964, Page 17,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या मनोवेगोंका नहीं। दर्शनके निष्कर्ष तर्क और चिन्तनपर आधृत रहते हैं, भावना और विश्वासपर नहीं। मनुष्यकी अनुभूतियोंका बौद्धिक विश्लेषण कर वह निश्चित करता है कि वास्तविकता क्या है। अनुभूतियोंमें उन्हींको वह अर्थवान् या जीवन्त समझता है, जो बुद्धि द्वारा विश्लेषण करनेपर सामंजस्य पूर्ण और व्याघात रहित सिद्ध होती हैं। अनुभूतियोंकी अर्थवत्ता स्थिर करना परमावश्यक है; यतः अर्थपूर्ण अनुभूतियोंके आधारपर ही वास्तविकताका सच्चा स्वरूप जाना जा सकता है। इस कार्यमें बुद्धि ही एकमात्र सहायिका है। बुद्धिकी कसौटीपर कसे जानेपर ही खरी उतरनेवाली अनुभूति ही यथार्थ मानी जाती है। बुद्धिकी कसौटी है असामंजस्य और व्याघातका अभाव। अर्थात् वे ही अनुभूतियाँ यथार्थ मानी जाती हैं, जो अबाधित और तर्कसंगत हों। बौद्धिक आधारके अभावमें कोई भी प्रकथन सत्य नहीं माना जा सकता है। बौद्धिक या तार्किक होनेके कारण ही दार्शनिक चिन्तन निष्पक्ष होता है। इसके निष्पक्ष होनेका अर्थ है—स्वार्थ और पूर्वाग्रहसे रहित हो विश्वके यथार्थ स्वरूपको समझनेका प्रयत्न करना। दार्शनिक चिन्तन राग, द्वेष आदिसे मुक्त रहता है। जिस रूपमें विश्व है, उसी रूपमें उसे वह जाननेका प्रयास करता है। वह विश्वकी व्याख्याको अपनी इच्छा और आकांक्षाके रंगमें रंगता नहीं। अतएव दार्शनिक व्यक्ति व्यामोहसे दूर हट कर किसी भी वस्तुके ज्ञानको निष्पक्ष दृष्टिसे अवगत करनेका प्रयास करता है।

जैनदर्शन : स्वरूप एवं वर्ण्य-विषय

दर्शनकी प्राच्य एवं पाश्चात्य परिभाषाओंके विश्लेषणके अनन्तर जैन दर्शनके स्वरूप और उसके वर्ण्य-विषय पर विचार करना आवश्यक है। जैन दर्शन भी अन्य भारतीय दर्शनों के समान जीवको सांसारिक दुःखोंसे मुक्त कर अनन्त आध्यात्मिक सुखके उपभोगकी अवस्थाका विश्लेषण करता है। अतः अनेकान्तात्मक दृष्टि द्वारा आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, पुनर्जन्म-प्रक्रिया और विश्वके रहस्योंका विश्लेषण विवेचन करना ही जैन दर्शन है। षड्दर्शन समुच्चयमें—''दर्शनं सामान्यावबोधलक्षणम्'[1] अर्थात् दर्शन सामान्यावबोधलक्षण वाला शासन है। इसका तात्पर्य यह है कि दर्शन द्वारा आत्मा आदि पदार्थोंके सामान्यावलोकन को ग्रहण किया जाता है। प्रज्ञाचक्षु श्री पं० सुखलालजी ने 'न्यायकुमुदचन्द्र' के द्वितीय भागके प्राक्कथनमें दर्शन शब्दका 'सबल प्रतीति' अर्थ किया है। कुछ विद्वान् भावनात्मक साक्षात्कारको दर्शन मानते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि चेतन और जड़के स्वरूप, उनका परस्पर सम्बन्ध तथा दृश्य जगत् की व्यवस्थाके मर्मको जानने का अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण दर्शनमें परिगणित है।

जैन दर्शन की पृष्ठभूमिका अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन दर्शनका तात्पर्य 'नय' दृष्टिकोण द्वारा वस्तु विवेचन है। पूर्ण ज्ञानके द्वारा जो वस्तु जानी जाती है वह व्यवहार तक आते-आते शब्द संकेत और अभिप्रायसे मिलकर पर्याप्त रंगीन बन जाती है। दर्शन इसी प्रक्रियाकी साभिप्राय प्रतिपादन या वस्तु देखनेकी शैली है, जो दृष्टिकोणके निर्देशानुसार आगे बढ़ती है। 'नय' विवेचन प्रक्रियाका तात्पर्य है कि प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तुके अंश को अभिप्रायके अनुसार विश्लेषित करना।

---

१. षड्दर्शन समुच्चय २।१८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शन केवल भावना और विश्वासकी भूमिपर खड़ा होकर कल्पनालोकमें विचरण नहीं करता और न ही यह वस्तुग्राही दृष्टिकोणोंका तिरस्कार ही करता है। यह तो अनन्त गुण पर्यायात्मक वस्तुका विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा विश्लेषण और विवेचन करता है। वस्तुके धर्म अनन्त हैं और उसके दर्शक दृष्टिकोण भी अनन्त हैं। प्रतिपादनके साधन शब्द भी अनन्त हैं। अतः जो वस्तु स्पर्श करने वाली दृष्टियाँ अपने से भिन्न वस्तुओंको ग्रहण करनेवाले दृष्टिकोणोंका समादर करती है वे सत्योन्मुख होनेके कारण यथार्थ कही जाती हैं। जिन दृष्टियों में यह आग्रह रहता है कि मेरे द्वारा देखा गया वस्तुका अंश ही सत्य है, अन्य के द्वारा जाना गया मिथ्या है। वे वस्तु स्वरूप से पराङ्मुख होनेके कारण मिथ्या और विषमवादिनी होती हैं। इस प्रकार अनन्त धर्मात्मक वस्तुको ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण 'दर्शन' है।

आचार्य कुन्दकुन्दने बोधपाहुडमें मोक्षमार्गका दर्शक दर्शन बताया है।[1] इसका तात्पर्य यह है कि अनेकान्तवादी दृष्टिकोणकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग ·सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌-चारित्र रूप--रत्नत्रयका स्वरूप-विश्लेषण करना ही दर्शन है। इस प्रकार जैन दर्शनके अन्तर्गत मुक्ति, जीव, जीवका अस्तित्व, जगत्‌का नित्यत्व, अनित्यत्व, आत्माका शरीरसे भिन्नत्व-अभिन्नत्व, परमात्मतत्त्व, लोकस्वरूप, त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद भाषा एवं प्रमेय---द्रव्य- तत्त्व, गुण-पर्याय, का विवेचन समाविष्ट हैं।

जीव और पुद्गलका सम्बन्ध अनादिकालसे चला आ रहा है। यह रत्नत्रयकी साधना द्वारा पुद्गलके सम्बन्धसे मुक्त हो जाता है और शुद्धात्मा, सिद्ध या परमात्मा कहलाने लगता है। आत्मामें स्वभावतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य निहित हैं। पौद्गलिक कर्मोंके सम्बन्धने आत्माके इन गुणोंको आच्छादित या मलिन कर दिया है। जब आत्मा कर्म-बन्धनसे छूट जाती है तो उसके शाश्वत गुण यथार्थ रूपमें प्रतिभासित होते हैं। कर्म-बन्धनसे छूटने वाली आत्मा पुनः कभी भी बन्धनमें नहीं बंधती। सर्वदा स्वतन्त्र रहती है। आत्माका यह स्वातन्त्र्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्रकी साधनासे प्राप्त होता है। यहाँ रत्नत्रयके स्वरूपका संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है, क्योंकि जैन दर्शनका यह प्रमुख प्रतिष्ठान है।

सम्यग्दर्शन

वस्तु अनन्त गुण, धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। इसके स्वरूपका परिज्ञान अनेकान्तात्मक वस्तुके स्वरूपकी प्रतीतिसे होता है। जैन दर्शनके इस रत्नत्रय प्रासादका सर्व प्रमुख स्तम्भ सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके अभावमें न तो ज्ञान ही सम्यक् होता है और न चारित्र ही। सम्यग्दर्शन आत्मसत्ता की आस्था और स्वरूपविषयक दृढ़ निश्चय है। मैं कौन हूँ? क्या हूँ? और कैसा हूँ? इसका निर्णय सम्यग्दर्शन द्वारा ही होता है। जड़-चेतनकी भेदप्रतीति या भेदानुभूति ही सम्यग्दर्शन है। स्व और पर, आत्मा और अनात्मा, चैतन्य एवं जड़की स्व स्वरूपोलब्धिका साधन भी सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके आलोकमें ही जीव यह निश्चय करता है कि अनन्त अतीतमें जब पुद्गलका एक कण भी मेरा अपना नहीं हो सका है, तब अनन्त

१. दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च।
णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं॥—बोधपाहुड गाथा १३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनागतमें वह मेरा कैसे हो सकेगा ? वर्त्तमान क्षणमें तो उसको अपना मानना नितान्त भ्रम है, मैं हूँ और पुद्गल, पुद्गल है। जीव कभी पुद्गल नहीं हो सकता और पुद्गल कभी जीव नहीं। इस प्रकार जीव और पुद्गलके स्वरूप बोध द्वारा आत्मतत्त्वकी प्रतीति या अनुभूति करना सम्यग्दर्शन है।

जैन दर्शनमें तत्त्व-प्रतीति या तत्त्वश्रद्धानको सम्यदर्शन कहा है। गृद्धपिच्छाचार्यने—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्[1] अर्थात् तत्त्व रूप अर्थोंका श्रद्धान प्रतीति या रुचि सम्यग्दर्शन है। वह धर्म, जिसके होने पर 'पर' से भिन्न 'स्व' में ही स्व का साक्षात्कार होना सम्यग्दर्शन है। तात्पर्य यह है कि छद्‌मस्थ—अल्पज्ञानी संसारी जीवोंको आत्माका पूर्ण साक्षात्कार नहीं होता। क्योंकि इन्द्रिय एवं मनकी सहायतासे होनेवाला या बिना इन्द्रिया और मन की सहायतासे होने वाला जितना भी क्षायोपशमिक ज्ञान—कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होने वाला ज्ञान हैं, वह आवरण सहित होनेसे रूपी पदार्थोंको हीं जान सकता है। यतः आत्मा अरूपी है इसलिये उसका क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा साक्षात्कार न हो कर निरावरण ज्ञानके द्वारा ही साक्षात्कार सम्भव है। इससे स्पष्ट है कि छद्‌मस्थ अल्पज्ञानी जीव आगमानुसार आत्माका श्रद्धान कर अनुभूति प्राप्त करते हैं। अतएव तत्त्वार्थ विषयक प्रतीति या श्रद्धानको सम्यग्दर्शन माना गया है।

शास्त्रीय परिभाषामें सप्त तत्त्व, पुण्य-पाप एवं द्रव्य-गुण-पर्यायका यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जैन दर्शनमें मूलतः दो तत्त्व हैं—जीव और अजीव। जिसमें चेतना पायी जाती है, वह जीव है और उससे भिन्न जड़ अजीव। जीवके साथ नोकर्म, द्रव्यकर्म और भावकर्मका संयोग है। प्रत्येक जीव प्रतिक्षण अपने कषाय—क्रोधादि विकार भाव और तदनुसार उत्पन्न होनेवाली मन-वचन कायकी प्रवृत्तिसे कार्मण स्वरूप पुद्गल वर्गणाओंको ग्रहण करता है और ये सूक्ष्म पुद्गल वर्गणाएँ जीवके राग-द्वेषानुसार उसके साथ सम्बद्ध हो जाती हैं। अनादि काल से यह जीव नोकर्म[2], द्रव्यकर्म[3] एवं भावकर्म[4] का अर्जन करता आ रहा है।

आत्मोत्थान के लिए सप्त तत्त्व प्रयोजनीय हैं। इनके स्वरूपका वास्तविक निर्णय कर श्रद्धा करना सम्यग्दर्शन है। अध्यात्म मार्गके पथिकके लिये तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित वस्तु तत्व में अटूट श्रद्धा रखना नितान्त आवश्यक है।

सात तत्वोंमें जीव और अजीवका संयोग संसार है और इसके कारण हैं आस्रव—कर्मागम द्वार एवं बन्ध—कर्मोंका आत्माके साथ बंधना। जीव और अजीवका जो पृथक् भाव

---

१. तत्त्वार्थसूत्र या मोक्षशास्त्र १/२

२. नोकर्मका अर्थ किंचित् कर्म है। जैन दर्शनमें औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और तैजस नाम कर्मके उदयसे चार प्रकारके शरीरोंकी प्राप्तिका कथन आया है। ये शरीर ही नोकर्म है।

३. आत्माके योग परिणामों—मन-वचन और कायकी प्रवृति द्वारा जो किया जाता है, उसे कर्म कहते हैं। कर्मोंके आने की प्रक्रियाके सम्बन्धमें कहा जाता है कि कषाय-विकारोंके कारण मन वचन-काय की प्रवृत्तिसे पुद्गल खिंचते हैं और वे आत्माके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं।

४. आत्माके राग-द्वेष रूप चैतन्य परिणामोंको भाव कर्म कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं, उसके कारण हैं संवर—आस्रवका रुकना एवं निर्जरा—कर्मोंका शनैः शनैः क्षय होना। जिस प्रकार रोगी मनुष्यको रोग, उसके कारण, रोग मुक्ति, और उसके कारण, इन चारोंका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जीवको संसार, संसारके कारण, मुक्ति और मुक्तिके कारण; इन चारोंका परिज्ञान अपेक्षित है। सम्यग्दर्शन या तत्त्व सम्बन्धी आस्था जीवके संसारी और मुक्त स्वरूप की प्रतीति कराती है। अतएव जैन दर्शनमें दुःख मुक्तिके उपायोंके अन्तर्गत रत्नत्रय को स्थान दिया है और इसका सबसे अधिक प्रमुख अंग सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके अभावमें न तो ज्ञान ही सम्यक् होता है और न चारित्र ही। सम्यग्दर्शनका जैन दर्शनमें विशेष वर्णन आया है। इसकी उत्पत्तिके कारण, अष्ट अंग और सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति की प्रक्रिया सम्यक् रूपसे वर्णित है।

सम्यग्ज्ञान

शास्त्रके द्वारा प्रतिपादित निखिल सिद्धान्तों और तत्त्वोंका ज्ञान प्राप्त करना सम्यग्-ज्ञान है। शास्त्रीय परिभाषामें नय और प्रमाण द्वारा जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। दृढ़ आत्मविश्वासके अनन्तर ज्ञानमें सम्यक्पना आता है। यों तो संसारके पदार्थोंका हीनाधिक रूपमें ज्ञान प्रत्येक सम्यक व्यक्तिको होता है, पर उस ज्ञानका आत्म विकासके लिये उपयोग करना कम ही व्यक्ति जानते हैं। सम्यग्दर्शनके पश्चात् उत्पन्न हुआ ज्ञान आत्म-विकासका कारण होता है। 'स्व' और 'पर' का भेदविज्ञान, पृथक् ज्ञान यथार्थतः सम्यग्ज्ञान है।

निश्चय सम्यग्ज्ञान अपने आत्मस्वरूपका बोध ही है। जिसने आत्माको जान लिया है उसने सब कुछ जान लिया है और जो आत्माको नहीं जानता, वह सब कुछ जानते हुए भी अज्ञानी है। यथार्थमें आत्म-ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्ज्ञानका विशेष विवेचन 'ज्ञान मीमांसा' के अन्तर्गत किया जायगा।

सम्यक्चारित्र

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित व्रत, समिति, गुप्ति आदिका अनुष्ठान करना, उत्तम क्षमादि दश धर्मोंका पालन करना एवं मूलगुण और उत्तर गुणोंका धारण करना सम्यक्चारित्र है अथवा विषय-कषाय-वासना, हिंसा, मिथ्या भाषण चोरी, कुशील और परिग्रह संचय रूप क्रियाओंसे निवृत्ति प्राप्त करना सम्यक्चारित्र[1] है। चारित्र वस्तुतः आत्मस्वरूप है। यह कषाय और वासनाओंसे सर्वथा रहित है। मोह और क्षोभसे रहित जीव की जो निर्विकार परिणति होती है, जिससे जीवमें साम्य भाव की उत्पत्ति होती है, चारित्र है।[2]

प्रत्येक व्यक्ति अपने चारित्रके बलसे ही अपना सुधार या बिगाड़ करता है। अतः मन वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वदा शुभ रूपमें रखना आवश्यक है। मनसे किसीका

---

१. असुहादो विणिवित्ति सुहे पवित्ति य जाण चारित्तं।
वद समिदिगुत्ति रूवं ववहारणया दु जिणभणियं॥ द्रव्य संग्रह ४५॥

२. साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः॥ प्रवचनसार, गाथा ७ की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनिष्ट नहीं सोचना, वचनसे किसीको बुरा नहीं कहना तथा शरीरसे कोई निन्द्य नहीं करना सदाचार है।

विषय तृष्णा और अहंकारकी भावना मनुष्यको सम्यक् आचरणसे रोकती है। विषय-तृष्णाकी पूर्तिके हेतु ही व्यक्ति प्रतिदिन, अन्याय, अत्याचार, बलात्कार, चोरी, बेईमानी, हिंसा आदि पापोंको करता है। तृष्णाको शान्त करनेके लिए स्वयं अशान्त हो जाता है तथा बड़े से बड़ा पाप कर बैठता है। अतः विषय निवृत्ति रूप चारित्रको धारण करना परमावश्यक है।

मनुष्यके सामने दो मार्ग विद्यमान हैं—शुभ और अशुभ तथा शुद्ध। जो राग-द्वेष मोहको घटाकर शुभोपयोग—शुभ परिणाम रूप परिणति करता है, वह शुभ मार्गका अनुगामी माना जाता है और जो राग-द्वेष कषाय रूप परिणतिमें संलग्न रहता है। वह अशुभ मार्गका अनुसरण कर्ता है। अज्ञान और तीव्र राग-द्वेषके अधीन होकर व्यक्ति कर्त्तव्यच्युत होता है। जीव अपनी सत् प्रवृत्तिके कारण शुभका अर्जन करता है और असत्प्रवृत्तिके कारण अशुभका। एक ही कर्म शुभ और अशुभ प्रवृत्तियोंके कारण दो रूपोंमें परिणत हो जाता है। शुभ और अशुभ एक ही पुद्गल द्रव्यके स्वभाव भेद हैं।

यह जीव निश्चयरूपसे वीतराग और सच्चिदानन्द है और व्यवहारकी दृष्टिसे रागादि रूप परिणमन करता हुआ शुभोपयोग और अशुभोपयोग रूप है। जीवकी परिणति या क्रिया विशेष ही चारित्र है। इस चारित्रमें सम्यक्श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानके रहनेसे सम्यक्चारित्रका रूप प्राप्त होता है। रत्नत्रयका तीसरा अंग सम्यक्चारित्र है और इस सम्यक्चारित्रका मोक्ष मार्गके लिए विशेष स्थान है। जहाँ अन्य तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयस प्राप्ति मानते हैं वहाँ जैन दर्शन सम्यक् चारित्रको ही निःश्रेयस प्राप्तिका अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। यही मोक्षका साक्षात् कारण है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इसके परिपोषक हैं। जैन दर्शन ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व स्वीकार करता है। प्रत्येक विचार या ज्ञानका उपयोग चारित्र—आत्मस्वभावमें वर्तन या आचरणके लिए किया जाता है। जैन सन्तोंने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता और समता या अहिंसाकी दिव्य ज्योतिको विश्वमें प्रसारित करनेके लिए समस्त तत्त्वोंका साक्षात्कार किया।

जैन दर्शनका साध्य विचार नहीं आचार है, ज्ञान नहीं चारित्र है, वाक् विलास नहीं, आत्मशुद्धि है। अहिंसाका वास्तविक अर्थ है जीव-मात्रमें समत्व का दर्शन। जीव चाहे स्थावर हो, जंगम हो, पशु हो, पक्षी हो, मनुष्य हो, शूद्र हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो, गोरा हो, काला हो, भारतीय या अभारतीय हो—सभी में समानता का व्यवहार करना और समत्वकी अनुभूति करना ही अहिंसा है। प्रत्येक जीव स्वरूपतः चैतन्य शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। कर्म वासनाके कारण वह विभिन्न शरीरोंको धारण करता है, पर उसके चैतन्य स्वरूपका एक भी अंश नष्ट नहीं होता, केवल कर्म वासनाओंसे विकृत कहा जाता है। अतः मानव मात्र मूलतः समान है। आत्मसमत्व और वीतरागत्व अहिंसाके विकाससे ही प्रादुर्भूत होते हैं। इस प्रकार जैन दर्शनने आचारकी भूमि पर अवस्थित हो अपना विकास किया है। आत्मशुद्धिकी व्यक्तिगत साधना, मुक्ति प्रक्रिया और विश्व शान्ति स्थापना की लोकैषणाका मूल मन्त्र अहिंसा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दर्शन : विभिन्न व्याख्याएँ

जैन दर्शनमें 'दर्शन' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें उपलब्ध होता है। तत्त्व प्रतीति और श्रद्धाके अतिरिक्त नय-ज्ञानको भी दर्शन कहा गया है। जीवके चैतन्य परिणामको उपयोग कहते हैं और इस उपयोगके ज्ञान और दर्शनके दो भेद हैं। ये दोनों आत्माके स्वभाव हैं और और समस्त आत्माओंमें शक्तिकी अपेक्षा समान रूपसे पाये जाते हैं; तो भी सभी आत्माओंमें एक-सा उपयोग नहीं रहता। जिसे बाह्य और आभ्यन्तर जैसी सामग्री प्राप्त होती है उसी के अनुसार यह होता है। इस प्रकार समस्त आत्माओंमें न्यूनाधिक रूपसे उपयोग पाया जाता है। उपयोगके मुख्य दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। घट-पट आदि बाह्य पदार्थों का जानना ज्ञान है और बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेके लिए आत्माका स्व-प्रत्ययका होना दर्शन है। इस मान्यताको यों भी कहा जा सकता है कि सामान्य विशेषात्मक पदार्थके सामान्य अंश को ग्रहण करना दर्शन है और विशेष अंशको ग्रहण करना ज्ञान है। आगममें ज्ञानोपयोगको साकारोपयोग और दर्शनोपयोगको अनाकारोपयोग भी कहा है।

धवलाटीका और बृहद्द्रव्यसंग्रहमें दर्शनोपयोगकी सैद्धान्तिक व्याख्या करते हुए लिखा है—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टु आयारं।
अविसेसिऊण अत्थे दंसणमिदि भण्णदे समए[1] ॥

आत्माके स्वरूपावलोकनको दर्शन कहा गया है। यहाँ अवलोकनका अर्थ आत्माके व्यापार—वृत्तिसे है। आत्माकी वृत्ति अर्थात् वेदन रूप व्यापारको अवलोकन वृत्ति या स्व-संवेदन कहा जाता है और इसीको स्व-दर्शन माना गया है। प्रकाश-वृत्तिका नाम भी दर्शन है और प्रकाशका अर्थ है—वस्तु अवबोध। आत्माके लिए जो व्यापार होता है, उस सम्बन्धी ज्ञानको प्रकाश वृत्ति कहा जाता है।

परमागममें सामान्य विशेषात्मक पदार्थोंको अलग-अलग भेद रूपसे ग्रहण न कर सामान्य रूपसे अवगत करना दर्शनोपयोग बताया है। 'जं सामण्णं गहणं' गाथासे भी ज्ञात होता है कि बाह्य अर्थके सामान्य अवलोकनका नाम दर्शन है। आचार्य पूज्यपादने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थमें लिखा है—''विषयविषयिसन्निपाते' सति दर्शनं भवति[2]।'' अर्थात् विषय और विषयी के सन्निपातके अनन्तर पदार्थकी सामान्य सत्ताके प्रतिमासके रूपमें जो स्वलोकन रूप अनुभूति होती है, वह दर्शन है। यह सत्य है कि आत्मानुभूति या आत्मदर्शन ही दर्शन कोटिमें परिगणित था पर उत्तरवर्त्ती आचार्योंने दर्शनको 'आत्म-दर्शन'की सीमासे निकाल कर 'पदार्थके सामान्य ग्रहण' तक पहुँचा दिया है। टीकाकारोंने सामान्य ग्रहणसे भी आत्मग्रहण अर्थ लिया है। श्री डॉ० पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यने लिखा है—

''दर्शन एक ही बारमें वस्तुके अखण्ड स्वरूपका अवलोकन कर लेता है और इसी अर्थ में यदि दर्शनशास्त्रके 'दर्शन' शब्दका प्रयोग है, तो मतभेदकी गुञ्जाइश रह सकती है। क्यों-

---

१. धवला टीका, जैन साहित्य उद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती, १९३९, पृ०, १४८-१४९ तथा बृहद् द्रव्य संग्रह गाथा १४३।

२. सर्वार्थसिद्धि, प्रथम अध्याय, पृ० १११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि यह सामान्यावलोकन प्रति नियत अर्थ क्रियाका साधक नहीं होता। अर्थ क्रियाके लिए तो तत्तद् अंशोंके निश्चयकी आवश्यकता है। अतः असली कार्यकारी तो दर्शनके बाद होने वाले शब्द प्रयोग वाले विकल्प हैं। जिन विकल्पोंको दर्शनका पृष्ठ बल प्राप्त है, वे प्रमाण हैं तथा दर्शनका जिन्हें पृष्ठ बल प्राप्त नहीं है अर्थात् जो दर्शनके बिना मात्र कल्पना प्रसूत हैं, वे अप्रमाण हैं। अतः दर्शन शब्दको आत्मा आदि पदार्थोंके सामान्यावलोकन अर्थमें लिया जाता है, तो मतभेदकी गुन्जाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकनकी व्याख्या और निरूपण में[1] है।

उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि पदार्थसे उत्पन्न हुआ सामान्यावलोकन ज्ञान दर्शन है। यह पदार्थकी सत्ताका अविनाभावी है। आत्माका साक्षात्कार करनेकी प्रक्रियाको दर्शन कहा जा सकता है।

अनन्त धर्मात्मक पदार्थको ज्ञात करनेके दृष्टिकोणोंका कथन अनन्त प्रकारसे सम्भव है। इनमें जो दृष्टियाँ वस्तुका स्पर्श करती हैं, तथा अन्य वस्तुस्पर्शी दृष्टियोंका समादर करती हैं, वे सत्योन्मुख हैं। जिनमें यह पूर्वाग्रह रहता है कि मेरे द्वारा देखा या जाना गया वस्तु-तत्त्व ही सत्य है और अन्य मिथ्या, वे वस्तु स्वरूपसे पृथक् रहनेके कारण भ्रमात्मक दृष्टियाँ मानी जाती हैं। वस्तु स्वयं नित्य-अनित्य, एक-अनेक, भाव-अभाव आदि विरोधी द्वन्द्वोंका अविरोधी क्रीड़ा-स्थल है। इन समस्त विरोधी धर्मोंका मिलकर रहनेमें कोई विरोध नहीं है। विरोध तो तब उत्पन्न होता है, जब व्यक्ति अपनी निजी दृष्टिका प्रयोग कर उसीके आधारसे वस्तु व्यवस्थाको सम्पादित करनेका प्रयास करता है। अतः जैन चिन्तकोंने दर्शनके अन्तर्गत 'अनेकान्तात्मक दृष्टि'को महत्त्व दिया है।

अनेकान्त दर्शन वस्तुविचारके क्षेत्रमें दृष्टिकी एकांगिता और संकुचिततासे होनेवाले मतभेदोंको दूर कर मानस समताकी सृष्टि करता है और वीतराग चित्तकी सृष्टिके लिए भूमिका निर्माण करता है। अपेक्षा भेदसे दृष्टिभेदका प्रतिपादन करना और दृष्टिभेदको वस्तुधर्मका अंग समझना अनेकान्तवाद है। यह वचनकी निर्दोष पद्धति भी है और है मानस-अहिंसाके लिए विचार शुद्धि। यतः अनेकान्तात्मक वस्तुके स्वरूपको उपस्थित करनेके हेतु 'ऐसा ही है'—इस प्रकारकी अवधारणा भाषाके माध्यमके बिना नहीं बन सकती। इसको व्यक्त करनेवाला प्रत्येक वाक्य अपनेमें सापेक्ष रह कर स्ववाच्यको प्रधानता देता हुआ भी वस्तुके अन्य अंशोंका लोप नहीं करता, उनका तिरस्कार नहीं करता और न उनकी सत्ताका ही लोप करता है। सापेक्ष प्राक्कथनमें वस्तुका एक अंश मुख्य रहता है और अन्य अंश गौण। अतः अनन्त धर्मात्मक वस्तुका प्रतिपादन स्याद्वादकी शैलीमें ही सम्भव है।

प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मोंका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि अनन्त सन्तान-स्थितिकी दृष्टिसे नित्य है। कभी भी ऐसा समय नहीं आ सकता, जब विश्वके रंग-मंचसे एक कणका भी अभाव हो, या उसकी सन्ततिका उच्छेद हो। उसके गुण धर्मोंमें सादृश्य या वैसादृश्य परिवर्तन होता रहता है। वस्तु पर्याय-परिवर्तनकी अपेक्षा अनित्य भी

---

१. न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम जिल्द, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्रथम संस्करण, प्रस्तावना पृ० १३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। क्योंकि प्रत्येक वस्तुकी पर्याय सतत परिवर्तित होती रहती है। नित्य और अनित्य ये दोनों ही धर्म वस्तुमें निवास करते हैं। अतएव अनन्त गुण, शक्ति, पर्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति है। हमारा स्वल्प ज्ञान इनमें से एक-एक अंश विशेषको विषय करता है। यह दृष्टि-भेद ही वस्तुका यथार्थ दर्शन कर पाता है।

जैन चिन्तकोंने दृष्टिकोणकी विशेषताको प्रमुख स्थान दिया है। यह वस्तुकी सीमाका उल्लंघन कर उसे प्राप्त करानेकी चेष्टा करता है। जाति अथवा सामान्यको प्रकट करनेके लिए 'द्रव्य' और व्यक्ति अथवा विशेषको प्रकट करनेके लिए 'पर्याय' शब्दका व्यवहार किया जाता है। सामान्य दो प्रकारका है—(१) तिर्यक् सामान्य और (२) ऊर्ध्वता सामान्य। एक ही कालमें स्थित अनेक देशोंमें रहनेवाले पदार्थोंमें जो समानताकी प्रतीति होती है, वह तिर्यक् सामान्य है। आशय यह है कि एक जातिका जहाँ निर्देश होता है और अनेक व्यक्तियोंमें एक सामान्य जहाँ विकसित होता है वहाँ तिर्यक् सामान्य माना जाता है। जैसे—अनेक सिद्ध जीवोंमें "यह भी सिद्ध है, यह भी सिद्ध है" ऐसा अनुगताकार सिद्ध जाति सामान्यका ज्ञान होना। किन्तु इसके विपरीत अनेक कालोंमें, अनेक देशोंमें रहनेवाले पदार्थोंमें जो विशिष्टता या भेदजन्य विलक्षणताकी प्रतीति होती है, उसे ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं, जैसे—केवलज्ञानकी उत्पत्तिके क्षणमें जो मुक्त आत्मा है, वही दूसरे-तीसरे क्षणमें भी मुक्त आत्मा है—यही प्रतीति होना। आशय यह है कि ऊर्ध्वता सामान्य भिन्न कालक्रमसे जनित पर्यायोंमें घटित होता है और तिर्यक् सामान्य एक कालमें रहनेवाले द्रव्योंमें होता है। वस्तुमें पाई जानेवाली विभिन्न पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यसे होता है।

जैनदर्शनका मौलिक घटक त्रिलक्षणपरिणामवाद

प्रत्येक वस्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है अर्थात् वह उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव रहती हैं। ये तीनों ही अवस्थाएँ जिसमें पायी जाती हैं, वही वस्तु, पदार्थ या ज्ञेय है। जो उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे युक्त है, वही सत् है और जो सत् है वही द्रव्य उत्पाद उत्पति विनाशको और को, व्यय ध्रौव्य अवस्थितिको कहते हैं। इन तीनोंका परस्परमें अविनाभाव है। उत्पादके बिना व्यय नहीं होता, व्ययके बिना उत्पाद नहीं होता और ध्रौव्य या स्थितिके बिना उत्पाद एवं व्यय नहीं होते।[1] दूसरे शब्दोंमें जो उत्पाद है वही व्यय है और जो व्यय है वही उत्पाद है और जो उत्पाद-व्यय है, वही स्थिति है तथा जो स्थिति है वही उत्पाद-व्यय है। उदाहरणार्थ, यों कहा जा सकता है कि जो घटकी उत्पत्ति है, वही यतः भाव अन्य भावके अभाव रूपसे दृष्टिगोचर होता है। जो मिट्टीके पिण्डका विनाश है। मिट्टीके पिण्डका विनाश है, वही घड़ेका उत्पाद है। क्यों कि अभाव अन्य भावके भावरूपसे दिखलायी पड़ता है। और जो घटका उत्पाद एवं मिट्टीके पिण्डका विनाश है, वही मिट्टीकी स्थिति है, क्योंकि व्यतिरेक अन्वयका अतिक्रमण नहीं करता।[2]

---

१. ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण ॥ प्रवचनसार, गाथा १००

२. न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः;

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि वस्तुमें उपर्युक्त त्रिलक्षण परिणामवादको स्वीकार नहीं किया जाय, तो उत्पत्ति अन्य, विनाश अन्य एवं स्थिति अन्य प्राप्त होंगे। वस्तुमें व्यय और ध्रौव्य के बिना केवल उत्पादको ही माना जाय, तो घटकी उत्पत्ति सम्भव नहीं होगी; क्योंकि मिट्टीकी स्थिति और उसकी पिण्ड पर्यायके विनाशके बिना घट उत्पन्न नहीं हो सकेगा। यदि उत्पन्न होगा, तो असत् का उत्पाद मानना पड़ेगा। एक बात यह भी घटित होगी कि जिसप्रकार घट उत्पन्न नहीं होगा, उसी प्रकार अन्य पदार्थ भी उत्पन्न नहीं होंगे।

असत्का उत्पाद मानने पर आकाशकुसुम जैसी असम्भव वस्तुओंका भी उत्पाद मानना होगा।

इसी प्रकार उत्पाद और ध्रौव्यके बिना केवल व्यय मानने पर व्ययके कारणका अभाव होनेसे मिट्टीके पिण्डका विनाश नहीं हो सकेगा। यदि उक्त स्थितिमें विनाश होगा, तो सत्के उच्छेदका भी प्रसंग आयगा।

मिट्टीके पिण्डका विनाश होने पर सभी पदार्थोंका विनाश नहीं होगा और सत् का उच्छेद होनेसे चैतन्य आदिका भी उच्छेद हो जायगा। उत्पाद और व्ययके बिना केवल स्थिति मानने पर व्यतिरेक सहित स्थित रूप अनन्वयका अभाव होनेसे मिट्टी की स्थिति ही नहीं रहेगी। अथवा केवल क्षणिकत्व नित्यत्वको प्राप्त हो जायगा। क्षणिक नित्यतामें बौद्ध सम्मत चित्त क्षण भी नित्य हो जायेंगे। अतः पूर्व-पूर्व पर्यायोंके विनाश उत्तरोत्तर पर्यायोंके उत्पाद तथा अन्वय रूपकी स्थितिसे अविनाभूत त्रैलक्षण्य ही पदार्थका स्वरूप[1] है, यही सत् है और है जैन दर्शन सम्मत लक्षण।

यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथाहि—य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावान्तराभाव--स्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखे नैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्।—प्रवचनसार गाथा १०० की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति

१. यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति। तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेवभवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्यामवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादेन वा व्योमप्रसवादीनाम व्युत्पादः स्यात्। तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा। तत्र मृत्पिण्डस्यासंहारणौ सर्वेषामेव भावानामसंहरणिरेव भवेत्। सदुच्छेदे वा सदादीनामप्युच्छेदः स्यात् तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्। क्षणिकनित्यत्वेवाचित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्व पूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यन्।

प्रवचनसार १०० गाथाकी तत्त्वप्रदीपिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त त्रिलक्षणात्मक पदार्थ या सत् के माननेसे वैशेषिक आदि अन्य दर्शनोंके गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामक पृथक् पदार्थ मानने की आवश्यकता नहीं है। ये सभी सत् या द्रव्यकी अवस्थाएँ हैं।

इस प्रकार जैन दर्शनका यह त्रिलक्षण परिणामवाद वस्तुके एकान्त रूप नित्यत्व और अनित्यत्वकी समीक्षा कर वस्तुको सापेक्ष नित्यानित्यात्मक सिद्ध किया। अनेकान्तवादी जैन दार्शनिकोंने उद्घोषित किया कि इस विश्वमें न कोई वस्तु नित्य है और न कोई वस्तु सर्वथा क्षणिक ही। दोनों सम स्वभाव हैं। जिसप्रकार आकाश द्रव्य रूपसे नित्य है, उसी प्रकार दीपक भी नित्य है और जिस प्रकार पर्याय रूपसे दीपक क्षणिक है, उसी प्रकार आकाश भी क्षणिक है। यतः प्रत्येक सत् उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक है।[1]

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी यह धारा निरन्तर चलती रहती है और इस धाराके चलनेपर भी वस्तुका स्वभाव कभी नष्ट नहीं होता। वस्तुके प्रतिक्षण परिवर्तनशील होते हुए भी उसमें एकरूपता समाहित रहती है। उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य पर्यायोंमें होते हैं और पर्यायें द्रव्यमें स्थित[2] हैं। तथ्य यह है कि किसी भाव अर्थात् सत्का अत्यन्त नाश नहीं होता[3]। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूपसे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त रहते हैं। विश्वमें जितने सत्य हैं, वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामें कभी परिवर्तन नहीं होता, पर उनके गुण और पर्यायोंमें परिवर्तन अवश्य होता है। इसका कोई अपवाद नहीं हो सकता।

गुण और पर्याय दोनों ही वस्तुमें पाये जाते हैं। गुण वस्तुके स्वभाव हैं इनके परिणमनसे वस्तुका परिणमन लक्षित होता है; जैसे चेतन द्रव्यमें ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य अनेक सहभावी गुण हैं। ये गुण प्रतिक्षण वस्तुके उत्पाद, व्यय स्वभावके अनुसार किसी-न-किसी अवस्थाको प्रतिक्षण धारण करते रहते हैं। ज्ञान गुण जिस समय जिस वस्तुको जानता है, उस समय तदाकार होकर घटज्ञान, पटज्ञान, नभज्ञान आदि विशेष पर्यायोंको प्राप्त होता जाता है। इसी प्रकार सुख आदि गुण भी अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार तरतमादि पर्यायोंको धारण करते हैं। इस प्रकार गुणोंकी वर्तमानकालीन अवस्था ही पर्याय कहलाती है। गुण किसी-न-किसी पर्यायको प्रतिक्षण धारण करता है। इस प्रकार वस्तुमें गुण पर्याय और उत्पादक-व्ययकी स्थिति निरन्तर बनी रहती है। इसे ही त्रयात्मक परिणामवाद या सामान्य विशेषात्मक वस्तुवाद कहा जाता है।

त्रयात्मकता और अस्तित्ववाद

अस्तित्व दो प्रकारका है—(१) स्वरूपास्तित्व और (२) सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक सत् या पदार्थको अन्य सजातीय या विजातीय द्रव्यसे, पदार्थसे असंकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतन्त्र अस्तित्वका प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है। इसी अस्तित्वके कारण प्रत्येक पदार्थकी पर्याएँ

---

१. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ॥—तत्त्वार्थ सूत्र ५।३०

२. उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥—प्रवचनसार. गाथा १०१

३. भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥—पञ्चास्तिकाय, गाथा १५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनेसे भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय पदार्थकी पर्यायोंसे असंकीर्ण बनी रहती हैं, जिससे उनका पृथक् अस्तित्व पाया जाता है। यह स्वरूपास्तित्व दो कार्य सम्पन्न करता है—

(१) प्रत्येक पदार्थ—द्रव्यको इतरद्रव्योंसे व्यावृत्त—पृथक् करना तथा (२) कालक्रमसे होनेवाली अपनी पर्यायोंमें अनुगत करना।

स्वरूपास्तित्वके कारण अपनी पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय–अनुगताकार प्रतीति उत्पन्न होती है और इतर द्रव्योंसे व्यावृत प्रत्ययकी। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य और अवान्तर सत्ता भी कहा जाता है। आशय यह है कि प्रत्येक द्रव्यके जितने अखण्ड प्रदेश हैं, वह द्रव्य उतने प्रदेशों के साथ अपनी सत्ताको दूसरे द्रव्यसे पृथक् रखता है तथा उसकी इस अवान्तर अथवा पृथक् सत्तामें ही गुण पर्यायत्व या उत्पादव्ययध्रौव्यत्व रहते हैं। जहाँ द्रव्यका अस्तित्व है, वहीं उसके गुण पर्याय हैं और वहीं उसके उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य हैं। न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ताको छोड़ता है, न गुण-पर्यायोंको और न उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको ही। यही द्रव्य है, यही अपने क्रमिक पर्यायों द्वारा द्रवित होता है।

स्वरूपास्तित्वको ही ध्रौव्य माना जाता है। किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षण परिणमन करते रहने पर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नहीं होना, ध्रौव्य है। इसी स्वरूपास्तित्वको द्रव्य, ध्रौव्य या गुण कहा जाता है। स्वरूपास्तित्व अथवा ध्रौव्य गुणके कारण ही प्रतिक्षण पर्यायरूपसे परिवर्तन होनेपर भी उसकी अनाद्यनन्त स्वरूप स्थिति बनी रहती है और इसी कारण द्रव्यका समूलोच्छेद नहीं हो पाता। यह काल्पनिक नहीं, परमार्थ सत्य है। आचार्य अमृतचन्द्रने स्वरूपास्तित्वकी उक्त विशेषताओंका निरूपण करते हुए लिखा है—"अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपतया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद् द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वान्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्त्तस्वरवत्[1]।"

नाना द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है। इसे तिर्यक् सामान्य या सादृश्य सामान्य कहलाते हैं।[2] अनेक स्वतन्त्र सत्ता वाले द्रव्योंमें अनुगत प्रत्यय की कल्पना सम्भव नहीं है, यतः स्वतन्त्र सत्तावाले द्रव्योंमें अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नहीं सकता। इसे पृथक् सत्तावाले द्रव्योंकी संयुक्त पर्याय तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि एक पर्यायमें दो अतिभिन्न क्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नहीं होते। जिस व्यक्तिने अनेक मनुष्योंमें बहुत से अवयवोंकी समानता देखकर सादृश्यकी कल्पना की है, उसी को उस सादृश्यके संस्कार के कारण 'मनुष्य, मनुष्य' इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है। अतएव दो विभिन्न द्रव्यों में अनुगत प्रतीति का कारण भूत सादृश्यास्तित्व मानना होता है। इसे ही महासत्ता कहा जाता है।

---

१. प्रवचनसार, गाथा ९६ की तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति।

२. इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥—प्रवचनसार गाथा ९७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभिप्राय यह है कि एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वता सामान्यसे होता है और व्यावृत्त प्रत्यय पर्याय नामके विशेष से। दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुगत प्रत्यय तिर्यक् सामान्य सादृश्यास्तित्वसे तथा व्यावृत्तप्रत्यय व्यतिरेक नामक विशेष से होता है। तिर्यक् सामान्यरूप साध्यकी अभिव्यक्ति यद्यपि परसापेक्ष है, किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य अलग-अलग है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येकमें परिसमाप्त है।

सामान्यविशेषात्मक अथवा अनन्तधर्मात्मक वस्तु या पदार्थमें ध्रौव्यांशको ऊर्ध्वता सामान्य और उत्पाद-व्ययको पर्याय नामक विशेष कहा जाता है। यदि केवल स्वरूपास्तित्व रूप ऊर्ध्वता सामान्यको ही स्वीकार किया जाय तो वस्तु त्रिकालमें सर्वथा एक रस अपरिवर्त्तन-शील और कूटस्थ बनी रहेगी। इस प्रकारके पदार्थमें कोई परिणमन न होने से जगत्के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायेंगे। कोई भी क्रिया कार्यकारी नहीं हो सकेगी। पुण्य, पाप, बन्ध, मोक्ष आदिकी व्यवस्था भी नहीं बनेगी। अतः वस्तु या पदार्थमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार पदार्थको सर्वथा पर्याय नामक विशेषके रूपमें ही स्वीकार किया जाय अर्थात् क्षणिक माना जाय तो पूर्वक्षणका उत्तरक्षणके साथ किसी भी प्रकारका सम्बन्ध घटित नहीं हो सकेगा।

अतएव जैनदर्शनका मौलिक स्वरूप पदार्थ या वस्तुका सामान्य-विशेष, एक-अनेक, विधि-निषेध, नित्य-अनित्य आदि विरोधी धर्मोंका समन्वित पिण्ड स्वीकार कर सापेक्ष दृष्टि-कोण द्वारा कथन करना है।

आचार्य समन्तभद्रने वस्तुके स्वरूप विवेचनके सन्दर्भमें वस्तुको विभिन्न विरोधी धर्मों का समूह स्वीकार कर उसके सर्वथा नित्यत्व और अनित्यत्वका निरसन किया है। यथा—

न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।[1]
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति॥

यदि वस्तु—गुण-पर्यायात्मक द्रव्य सर्वथा नित्य हो, तो उसमें उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते हैं और न उसमें क्रिया-कारककी योजना बन सकती है, उसे सदा, सर्वथा अटल अपरि-वर्त्तनीय एकरूपमें रहना होगा, जो असंभव है। इसी प्रकार जो सर्वथा असत् है उसका कभी जन्म नहीं होता और जो सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता। यदि यह शंका की जाय कि विद्यमान दीपकका-दीप प्रकाशका बुझ जाने पर अभाव हो जाता है, तो फिर कैसे कहा जाय कि सत्का नाश नहीं होता। इस शंकाका समाधान यही है कि दीपक भी बुझने पर सर्वथा नाशको प्राप्त नहीं होता, किन्तु उस समय अन्धकाररूप पुद्गल-पर्यायको धारण किये हुए अपना अस्तित्व रखता है—प्रकाश और अन्धकार दोनों पुद्गलकी पर्याय हैं। एक पर्यायके अभावमें दूसरी पर्यायकी स्थिति बनी रहती है; वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं होता।

जैनदर्शनके विवेचनीय विषय

विवेचनाकी सुविधाकी दृष्टिसे जैन दर्शनको भी कई भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। विभिन्न प्रकारकी समस्याओंके समाधान प्रस्तुत करनेके हेतु जैन दर्शनको निम्नलिखित शाखाओंमें विभक्त किया जा सकता है—

१. बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र पद्य २४, सुमति जिनस्तवन।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संग्र. (का. हि. वि. वि.) वाराणसी

(१) तत्व मीमांसा (Metaphysics or ontology)
(२) ईश्वर मीमांसा (Theology)
(३) सृष्टि मीमांसा (Cosmology)
(४) कर्म मीमांसा (Theory or bondage)
(५) ज्ञान मीमांसा या प्रमाण मीमांसा (Epistemology and logic)
(६) आचार मीमांसा (Ethics)
(७) अर्थ या मूल्य मीमांसा (Axiology)

(१) तत्त्व मीमांसा (Metaphysics)

जैन दर्शनमें मुमुक्षु के लिये मुक्ति प्राप्त करनेके साधनोंमें तत्त्वज्ञानको महत्त्व दिया गया है। यह जैन दर्शनका आधारभूत सिद्धान्त है। जिस वस्तुका जो भाव है, वह तत्त्व कहलाता है। वस्तुके असाधारण स्वरूप भूत 'स्व' तत्तको तत्त्व कहते हैं। तत्त्व शब्द भाव सामान्यका वाचक है, क्योंकि 'तत्' यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थमें रहता है। अतः उसको तत्त्व कहा जाता है। तथ्य यह है कि जो पदार्थ जिस रूपसे अवस्थित है, उसका उसी रूपसे होना यहाँ तत्त्व शब्दसे अभिप्रेत है। तत्त्व सात हैं—

१. जीव—ज्ञान, दर्शन, चैतन्यरूप

२. अजीव—जड़ द्रव्य—पुद्‌ल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल

३. आस्रव—कर्मागमन या किसी माध्यमसे आनेवाले कर्म

४. बन्ध—कर्मोंका आत्माके साथ सम्बद्ध होना

५. संवर—आस्रव-निरोध

६. निर्जरा—बँधे हुए कर्मोंका शनैः शनैः क्षीण होना

७. मोक्ष—समस्त कर्मोंका विनाश

जैन-दर्शनमें सत्, तत्त्व, अर्थ, द्रव्य, पदार्थ आदि शब्दोंका प्रयोग सामान्यतः एक ही अर्थमें होता है और ये सभी शब्द "तत्त्व" सामान्यके लिए प्रयुक्त होते हैं। तत्त्वनिरूपणकी दो शैलियाँ प्रचलित हैं—१. अनुयोगद्वारोंके आधारपर और २. प्रयोजनीय पदार्थोंके आधारपर। सत्, संख्या, क्षेत्र आदि अनुयोग द्वारोंके अनुसार बीस प्ररूपणाओं द्वारा जीवादिका विश्लेषण-विवेचन करना प्रथम शैली है। यह शैली अत्यन्त विस्तृत है। दूसरी प्रक्रिया आत्म-कल्याणके लिए प्रयोजनभूत पदार्थोंके निरूपण की है और ये प्रयोजनभूत पदार्थ सात हैं। जिनका निर्देश पूर्वमें किया जा चुका है। अनादि कालसे जीव तथा कर्म—नोकर्म रूप अजीव मिलकर संयुक्त अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं। अतएव इस संयुक्त अवस्थामें जीव-अजीवको समझना सर्वप्रथम प्रयोजनभूत है।

ये तत्त्व अनादि हैं। जिस प्रकार काल अनादि अनन्त है, उसी प्रकार यह तत्त्व भी अनादि है। पुण्य और पापका अन्तर्भाव आस्रव तत्त्वमें हो जाता है। अतः सात ही तत्त्व प्रमुख हैं। यों तो आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपसे जीवकी पर्याएँ हैं और द्रव्य रूपमें पुद्‌गलकी। जिस भेद-विज्ञानसे आत्मा और परके विवेक ज्ञानसे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचारकी साधना द्वारा केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है, उस आत्मा और परमें ये सातों तत्त्व समाहित हो जाते हैं, परन्तु तत्त्व व्यवस्थाको ज्ञात करनेके लिए इन सातोंकी जानकारी आवश्यक है।

जिस 'पर'की परतन्त्रताको हटाना है और जिस 'स्व'को स्वतन्त्र करना है, उन 'स्व' और 'पर'के ज्ञानमें ही तत्त्वज्ञानकी पूर्णता है। जीवनका लक्ष्य दु खोंसे छुटकारा प्राप्त कर शाश्वत मोक्ष सुखको प्राप्त करना है और इस दुःखसे छूटनेके हेतु जिन पदार्थोंकी जानकारी अपेक्षित है, वे पदार्थ तत्त्व कहलाते हैं। दुःख और दुःख निवृत्ति प्राप्त करनेके सम्बन्धमें सात प्रकारकी जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं—

१. स्वतन्त्रता प्राप्त करनेवालेका क्या स्वरूप है ?
२. परतन्त्रता आवरण करनेवाली वस्तु कौन है और उसका क्या स्वरूप है ?
३. आवरण करनेवाली वस्तु स्वतन्त्रता प्राप्त करनेवाले जीव तक कैसे पहुँचती है ?
४. आवरणीय वस्तु जीव तक पहुँच कर किस प्रकार बंधको प्राप्त करती है ?
५. नवीन कर्म बंधको रोकनेका क्या उपाय है ?
६. पूर्वोपार्जित कर्मोंको कैसे नष्ट किया जा सकता है ?
७. मुक्तिका क्या स्वरूप है ?

इन सात प्रकारके प्रश्नोंकी जानकारी प्रत्येक मुमुक्षुके लिए आवश्यक है। इन प्रश्नोंके अनुसार इनका उत्तर ही सप्त तत्त्वके रूपमें वर्णित है और यही तत्त्व ज्ञान साधकके लिए प्रयोजनभूत है।

२. ईश्वर मीमांसा (Theology)

ईश्वर विषयक विश्वासका विवेचन ईश्वर मीमांसामें सम्मिलित है। जैनदर्शन कर्त्ताके रूपमें ईश्वरको स्वीकार नहीं करता। उसकी मान्यता है कि चैतन्य आत्मा ही कर्मावरणसे रहित होनेपर परमात्मा या ईश्वर बन जाती है। जैनदर्शनने विशुद्ध आत्माको परमात्मा कहा है। प्रत्येक जीवात्मामें परमात्मा या ईश्वर होनेकी क्षमता विद्यमान है। जब तक कर्मावरण रहता है तब तक जीवका ईश्वरत्व प्रादुर्भूत नहीं होता, पर कर्मावरणके दूर होते ही आत्माकी समस्त शक्तियोंका विकास हो जाता है और जीव परमात्मा बन जाता है। अतः शुद्ध आत्माके रूपमें ही परमात्माका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। यह ईश्वर या परमात्मा एक नहीं अनेक हैं। ईश्वर मीमांसा प्रसंगमें ईश्वरका स्वरूप, उसके कर्तृत्वका अभाव एवं उसके साथ विश्वके सम्बन्धपर विशेष रूपसे विचार किया जायगा। जैनदर्शनको इसी अर्थमें निरीश्वरवादी माना जा सकता है कि उसे कर्मफलदाताके रूपमें नहीं मानता है। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता भी नहीं है। यतः यह सृष्टि शाश्वत है और यह विश्व किसी भी काल विशेषमें उत्पन्न नहीं हुआ है।

३. सृष्टि मीमांसा (Cosmology)

सृष्टि मीमांसाके अन्तर्गत लोक, स्वरूप और उसकी व्यवस्थाका विवेचन आता है। लोककी स्थिति, लोक-रचना, द्रव्य-व्यवस्था, निमित्त, उपादान, कार्य-कारण सम्बन्ध, काल, स्वभाव, नियति, अकर्तृत्व आदिके स्वरूपका विश्लेषण लोक-व्यवस्था या सृष्टि मीमांसामें की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जायगी। जैनदर्शन न तो सृष्टिकर्त्ताके रूपमें किसीको मानता है और न कोई शक्ति लोक-व्यवस्थापिका ही है। यह तो द्रव्य, गुण और पर्यायके स्वभावानुसार स्वतः सम्पन्न होती है। अतः जैनदर्शन विश्वको अनन्त, स्वतन्त्र, मौलिक पदार्थोंका समुदाय मानता है और स्वभावानुसार इसमें गति या परिवर्तन होता रहता है। विश्वकी रचना, योजना और व्यवस्था भी उसके अपने निजी स्वभावके कारण है। किसीके नियन्त्रणमें न तो सृष्टिकी रचना ही होती है और न उसकी व्यवस्था। जगत्का प्रत्येक अणु-परमाणु गतिशील—परिवर्तनशील है और यह परिवर्तन परिमाणात्मक और गुणात्मक दोनों प्रकारके होते हैं। परिवर्तनका यह चक्र अनादि अनन्त है। प्रत्येक वस्तुमें अगणित विरोधी शक्तियोंका समागम है और इसीके कारण वस्तुओंमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। आशय यह है कि प्रत्येक वस्तुमें स्वभावतः दो विरोधी शक्तियाँ अवश्य विद्यमान रहती हैं, जिनके संघर्षसे उसे गति मिलती है, उसका परिवर्तन होता है और जगत्का समस्त कार्य-कारण चक्र संचालित होता है। जैनदर्शन लोक-व्यवस्थाका मूल मन्त्र त्रिलक्षण परिणामवाद—उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूपको स्वीकार करता है।

४. कर्म मीमांसा

जैनदर्शनमें कर्म सिद्धान्त या कर्म मीमांसाका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुख, दुःख एवं सांसारिक वैविध्यका कारण कर्मको माना गया है। जीव अनादिकालसे कर्मवश हो विविध भवोंमें भ्रमण कर रहा है। जन्म और मरणका मूल हेतु कर्म है। जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मोंके साथ परभवमें जाता है। जो जैसा शुभाशुभ भाव करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त करना पड़ता है। एक प्राणी दूसरे प्राणीके कर्मफलका अधिकारी नहीं होता। प्रत्येक प्राणीका कर्म 'स्व'सम्बद्ध है, 'पर' सम्बद्ध नहीं। जैन चिन्तकोंने जिस पद्धतिसे कर्म-सिद्धान्तका सुसम्बद्ध और सर्वाङ्गपूर्ण निरूपण किया है, वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। जैनदर्शन और जैन आचारकी समस्त धारणाएँ और मान्यताएँ कर्मसिद्धान्तपर आधारित हैं।

१. प्रत्येक क्रियाका कोई न कोई फल अवश्य होता है। कोई भी क्रिया निष्फल नहीं होती। इसे ही कार्य-कारण भाव कहते हैं।

२. कुछ क्रियाओंका फल प्राणी वर्त्तमान जीवनमें प्राप्त कर लेता है और कुछ अवशिष्ट क्रियाएँ भविष्यत्कालीन जीवनमें फल देती हैं।

३. कर्मका कर्त्ता-भोक्ता आत्मा है। यह प्रत्येक भव या जन्ममें एक निश्चित काल मर्यादामें रहता हुआ अपने पूर्व कर्मोंका भोग तथा नवीन कर्मोंका बन्ध करता है। इसी कर्म-बन्धकी परम्पराके कारण इस जीवको एक भवसे दूसरे भवमें जन्म लेना पड़ता है। पुनर्जन्मका कारण यह कर्मोंकी श्रृंखला ही है।

४. प्रत्येक व्यक्तिमें जो जन्मजात भेद प्रतीत होता है, उसका कारण कर्म है। व्यक्तिके व्यवहार तथा सुख-दुःखमें जो असामञ्जस्य एवं असमानता दृष्टिगोचर होती है, वे कर्म-जन्य हैं।

५. कर्म बन्ध और कर्मके भोगका अधिष्ठाता प्राणी स्वयं है। यह अपने कृत कर्मोंको भोगता जाता है और नवीन कर्मोंका उपार्जन करता है। इतना होनेपर भी प्रत्येक प्राणी सर्वथा कर्माधीन नहीं है। यतः कर्माधीन माननेपर इच्छा स्वातन्त्र्यका व्याघात हो जायगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार जीवकी समस्त क्रियाएँ स्वचालित यन्त्रकी भाँति स्वतः चलती रहेंगी। परिणामतः कर्मवाद नियतिवादका रूप ग्रहण कर लेगा। प्राणी कर्मका फल भोगनेमें भले ही परतन्त्र हो, पर नवीन कर्म उपार्जन करनेमें वह किसी सीमा तक स्वतन्त्र है।

६. जैन दर्शन कर्मको पौद्गलिक मानता है। कर्म न संस्कार रूप हैं, न वासना रूप हैं, ये पौद्गलिक हैं। कषायाविष्ट जीवके मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिके अनुसार पुद्गल कर्म-वर्गणाएँ आकृष्ट होती हैं और वे जीवके विकारोंकी तारतम्यताके कारण आत्माके साथ सम्बद्ध हो जाती हैं। जिस प्रकार एक लोहेका पिण्ड गर्म किये जानेपर चारों ओरसे जलके परमाणुओं को खींचता है, उसी प्रकार आत्माके विकार राग-द्वेष आदिसे आविष्ट हुआ यह जीव मन-वचन काय रूप प्रवृत्तिसे कर्म परमाणुओंको खींचता है और वे खिंचे हुए कर्म-परमाणु आत्माके साथ चिपट जाते हैं और जीवकी कषाय एवं योगकी प्रवृत्तिके अनुसार इनमें रासायनिक परिवर्त्तन होता है।

कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार इन कर्म-परमाणुओंमें स्थिति और फल देने की शक्ति पड़ती है। कर्मका यह बन्ध चक्र तब तक चलता रहता है, जब तक राग-द्वेष, मोह और वासनाएँ विद्यमान हैं।

५. ज्ञान मीमांसा या प्रमाण मीमांसा

अधिगम अर्थात् ज्ञान प्राप्तिके दो साधन हैं—(१) प्रमाण और (२) नय। प्रमाण समग्र वस्तुको अखण्ड रूपसे ग्रहण करता है और नय प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तुके किसी अंश विशेषको जानता है। प्रमाण ज्ञानको माना जाता है और ज्ञानका सामान्य धर्म है—अपने स्व-स्वरूपको जानते हुए पर पदार्थको जानना संवेदी होना ज्ञानका सामान्य धर्म है। यदि ज्ञानको 'स्व' स्वरूपका अवबोधक न माना जाय, तो वह पर पदार्थोंका भी अवबोधक नहीं हो सकता है। जो अपने स्वरूपका ही प्रतिभास करने में असमर्थ है, वह परका अवबोधक कैसे हो सकता है। स्व स्वरूपकी दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणताका विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बन्ध रखता है। स्वरूपकी दृष्टिसे तो न कोई ज्ञान प्रमाण है और न कोई प्रमाणाभास।

प्रमाणका सामान्य अर्थ 'प्रमीयते येन् तत् प्रमाणम्'—अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो, उस द्वारका नाम प्रमाण है। यही कारण है कि 'प्रमा'के साधकतम करणको प्रमाण कहा जाता है। जैन दर्शनमें साधकतम ज्ञान माना गया है, सन्निकर्षादि नहीं। यतः सन्निकर्षादिके रहनेपर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और सन्निकर्षादिके अभावमें भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अतः जानने रूप क्रियाका साक्षात् कारण ज्ञान ही है।

प्रमाण मीमांसाका विषय बहुत व्यापक है। प्रमाण उसकी प्रमाणता एवं प्रमाणताकी उत्पत्तिके कारण, प्रमाणके भेद-प्रभेद आदिके वर्णनके साथ विपर्यय ज्ञान स्वरूपका विचार भी प्रमाण मीमांसामें किया जाता है। जैन दर्शनके आलोकमें प्रमाण मीमांसाके अन्तर्गत निम्न-लिखित विषयोंका विचार किया जाता है—

१. ज्ञानका स्वरूप, उत्पत्तिकी प्रक्रिया, ज्ञान, ज्ञेयका सम्बन्ध, तदाकारता, ज्ञान और अनुभूति, इन्द्रिय प्राप्तिका क्रम, शरीर-मनका सम्बन्ध, ज्ञानके भेद, प्रमाण विमर्श, प्रामाण्य विचार, प्रमाणके भेद आदि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. नय, स्वरूप एवं भेद-प्रभेद आदि।
३. स्याद्वाद सिद्धान्त
४. सप्तभंगी।
५. निक्षेप विचार।

६. आचार-मीमांसा

आचार और विचार ये दोनों परस्परमें अन्योन्याश्रित हैं। विचारके अनुसार आचार का निर्माण होता है। जैन दर्शनमें अहिंसा मूलक आचार और अनेकान्त मूलक विचारका उपादेयत्व वर्णित है। जैनाचार्यका प्राण अहिंसा है। परमार्थतः अहिंसक आचार एवं विचारसे ही आध्यात्मिक उत्थान होता है और यही कर्म मुक्तिका कारण है। जैन चिन्तकोंने अहिंसाका पल्लवित रूप ही आचार माना है।

जीवनकी ऊँचाई केवलज्ञान अथवा विश्वाससे नहीं आँकी जा सकती है, अपितु दिव्यता की ओर होनेवाली यात्राका मुख्य मापदण्ड आचार ही है। यह सभीको दिखलायी पड़ता है कि विश्वास और ज्ञान तबतक जीवनमें साकार नहीं हो पाते, जबतक मनुष्य अपने आचार व्यवहारको मानवोचित आकार प्रदान नहीं करता है। मानवकी विविधरुचियों, इच्छाओं, संघर्षात्मक आवश्यकताओं एवं उत्तरदायित्वोंके बीच सामंजस्य उत्पन्न करनेका कार्य आचार ही करता है। आचारकी गणना सामान्यतः चेतनाकी अनुभूतिमें की गयी है। नैतिक चेतनाका आशय शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित, वांछनीय-अवांछनीय आदि की अनुभूतियोंसे है। ये अनुभूतियाँ सार्वभौम हैं। अपनी-अपनी रुचि और संस्कारोंके अनुसार भले-बुरेकी चेतना हम सभी को होती है। इस चेतनाकी व्यञ्जना आचारात्मक निर्णयों द्वारा सम्भव है। अपनी और दूसरेकी शुभाशुभ प्रवृत्तियोंकी घोषणा आचार शास्त्रके आलोकमें की जाती है। जो इनसे परे है वह अतिलौकिक व आध्यात्मिक है।

नैतिक निर्णयोंका आधार कोई-न-कोई आदर्श होता है। आदर्शके अनुकूल होनेसे कोई कार्य कर्त्तव्य और प्रतिकूल होनेसे कोई कार्य अकर्त्तव्य कहलाता है। आचार व्यक्ति और समाज दोनोंके कर्तव्याकर्त्तव्योंका विवेचन करता है। इसी कारण इसे नीति विज्ञान भी कहा जाता है। जीवनका सर्वोच्च लक्ष्य क्या है, मानवके कर्त्तव्य और अधिकार क्या-क्या हैं? कर्त्तव्य करनेकी योग्यता और स्वतन्त्रता मानवके भीतर है या नहीं, व्यक्ति और समाजके कर्त्तव्यमें क्या सम्बन्ध है, जीवनका विकास किन साधनाओं या प्रक्रियाओं द्वारा किया जा सकता है, आदिकी मीमांसा आचार सिद्धान्तमें की गयी है। जीवनके प्रथम क्षणसे मरण पर्यन्त विधेय और करणीय कर्त्तव्योंका विमर्श करना आचार-शास्त्रमें सम्मिलित है। आचार श्रद्धालु व्यक्तियोंके मध्य संतोषका वातावरण प्रस्तुत करता है।

जैन दार्शनिकोंने साधु-आचार और गृहस्थाचारका सम्यक् विवेचन किया है। वस्तुतः दोनोंके आचार एक ही दृष्टिबिन्दुको लेकर चलते हैं। उनमें अंश-अंशी, सामान्य-विशेष तथा एकदेश-सर्वदेश रूप भेद हैं।

सामाजिक और व्यावहारिक परिवेशके अतिरिक्त अपने वास्तविक रूप में भी नीति या आचारका कम महत्त्व नहीं है। चिन्तकोंने यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि मानव व्यवहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या आचारके निर्धारण में विचारात्मक तथ्य प्रधान रहते हैं। समाजके उन्नायक तत्त्वोंमें आचार की गणना की जाती है। भारत तो आरम्भसे ही चारित्र प्रधान देश रहा है। इस देशमें चारित्र का मूल्य सर्वोपरि है। संक्षेपमें, यही कहा जा सकता है कि जो मानवकी सर्वतोमुखी उन्नतिकी पीठिका प्रस्तुत कर उसे सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिये उसका मार्ग दर्शन करे, वह आचार या नीति है। वैयक्तिक और सामाजिक उत्थानके लिये कैसा आचार उपादेय हो सकता है और समाजोत्थानमें किस प्रकारके आचारकी उपयोगिता हो सकती है, आदिका कथन करना आचार-मीमांसा है। आचारकी उपयोगिताके सम्बन्धमें जैन चिन्तकोंने निम्नलिखित दृष्टि-विन्दु उपस्थित किये हैं—

१. व्यक्तिके सार्वभौमिक विकास हेतु आचार साधनाका अवलम्बन।

२. समाज व्यवस्थाको सुदृढ़ और पूर्ण वनानेके हेतु दुराचारके त्यागके साथ सदाचार का परिपालन।

३. लोकरक्षाके साथ जीवनको सात्विक सरल और उन्नत बनानेके हेतु आचारको प्रतिष्ठा।

४. मानवकी सर्वतोमुखी उन्नतिकी पीठिका आचारका निरूपण।

५. राग-द्वेषात्मक भावनाओंका नियंत्रण।

६. मन-वचन और कायके व्यापारको अहिंसक बनाना।

७. चित्त शुद्धि और वीतरागता की प्राप्ति।

अर्घ मीमांसा या मूल्य मीमांसा

आचारके अन्तर्गत ही अर्घों या मूल्यों (Values) का विवेचन किया जाता है। जीवनमें मूल्योंकी उपयोगिता सर्वत्र परिलक्षित होती है। व्यक्ति और समाज दोनोंके जीवनकी गतिविधि आस्था द्वारा निर्धारित मूल्योंके अनुरूप होती है। मूल्योंका स्वरूप क्या है? वे आत्म-निष्ठ हैं या वस्तुनिष्ठ? विश्वके साथ उनका क्या सम्बन्ध है? मानव जीवनमें मूल्यकी क्या उपयोगिता है, आदि विषयोंकी मीमांसा मूल्योंकी मीमांसा है। जैन दर्शनमें मूल्य-निर्णयकी तीन दृष्टियाँ हैं—

१. सैद्धान्तिक या बौद्धिक

२. व्यावहारिक या नैतिक

३. आध्यात्मिक, धार्मिक या पारमार्थिक

वस्तु मात्र ज्ञेय है और अस्तित्वकी दृष्टिसे ज्ञेय मात्र सत्य है। सत्यका मूल्य सैद्धान्तिक होता है जो आत्मानुभूतिसे परे है। आत्म विकास शिव है, यह आध्यात्मिक मूल्य है। पौद्गलिक साज-सज्जा सौन्दर्य है, यह व्यावहारिक मूल्य है। एक व्यक्ति सुन्दर नहीं होता, पर आत्म विकास होनेके कारण शिव होता है। जो शिव नहीं होता, वह सुन्दर हो सकता है। मूल्य निर्णय की तीन दृष्टियाँ स्थूल नियम है। व्यापक दृष्टिसे व्यक्तिकी जितनी अपेक्षाएँ होती हैं, उतनी ही मूल्य दृष्टियाँ हैं।

व्यवहारकी दृष्टिसे भोग–विलास जीवनका मूल्य है, पर आत्मिक दृष्टिसे त्याग जीवन जीवनका मूल्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूल्यके प्रत्येक निर्णयमें आत्मा की संतुष्टि या असंतुष्टि अन्तर्निहित रहती है। अशुद्ध दशामें आत्माका संतोष या असंतोष भी अशुद्ध होता है। अतः इस दशामें होनेवाला मूल्यांकन नितान्त बौद्धिक या व्यावहारिक होता है। वह शिवत्वके अनुकूल नहीं होता है। शिवत्वके साधन तीन हैं—सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। यह त्रिवेणी ही शिवत्वके अनुकूल है। जैन दर्शनमें मूल्य-मीमांसाके प्रचुर सिद्धान्त समाहित हैं। इस शाखाके अन्तर्गत उन समस्त सिद्धान्तोंका विवेचन किया जायगा।

अन्य भारतीय दर्शनके आलोकमें जैनदर्शनकी विशेषताएँ

जैनदर्शनके सिद्धान्तोंमें अन्य भारतीय दर्शनोंके सिद्धान्तोंकी अपेक्षा अनेक विशेषताएँ पायी जाती हैं। इस दर्शनकी प्रमुख विशेषता 'स्याद्वाद' सम्बन्धी है। वस्तुका पूर्णरूप भाषा-शैलीमें 'स्याद्वाद'के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। जैनचिन्तक सामान्यतः 'सत्'को परिणामी नित्य मानते हैं और प्रत्येक 'सत्' अनन्त धर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचन-अगोचर है। कोई ऐसा शब्द नहीं, जो वस्तुके पूर्णरूपका स्पर्श कर सकता हो। 'सत्' शब्द भी वस्तुके एक अस्तित्व धर्मका बोधक है, शेष नास्तित्व आदि धर्मोंका नहीं। वस्तुकी ऐसी स्थिति होनेपर भी हम वस्तुको समझने-समझानेका प्रयास करते हैं। अतः उस विराट् वस्तुको जानने और दूसरोंको बतलानेमें बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। हमारे जानने और समझानेकी शैली ऐसी होनी चाहिये, जिससे हम उस अनन्त धर्मात्मक अखण्ड वस्तुके अधिकसे अधिक समीप पहुँच सकें और उसका 'विपर्यास' किसी भी प्रकार सम्भव न हो सके। शब्द-प्रयोगकी प्रणाली ऐसी ही हो, जो उस वस्तुका यथार्थ प्रतिनिधित्व कर सके और भ्रम उत्पन्न करनेमें बाधक न हो। अतएव वस्तुका यथार्थ बोध करानेके लिये 'अनेकान्त दृष्टि' या 'नय दृष्टि'की आवश्यकता है। इस दृष्टिमें विवक्षित धर्मोंको जानकर भी अन्य धर्मोंका निषेध नहीं किया जाता। उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है। इस प्रकार समग्र वस्तुका मुख्य गौण भावसे स्पर्श होता है। उसका कोई भी अंश छूटने नहीं पाता। जिस समय जो धर्म विवक्षित होता है, उस समय वह मुख्य या अर्पित और शेष धर्म गौण या अनर्पित रह[1] जाते हैं। इस प्रकार मनुष्यकी दृष्टि अनेकान्त तत्त्वका स्पर्श करने लगती है और उसका वचन प्रयोग वस्तु तत्त्वका यथार्थ प्रतिपादक स्याद्वाद कहलाता है।

यों तो हम 'स्याद्वाद'के सम्बन्धमें इस ग्रन्थके अन्य प्रकरणमें विशेष विचार करेंगे, पर 'स्याद्वाद' भाषाकी वह निर्दोष प्रणाली है, जो वस्तु तत्त्वका सम्यक् प्रतिपादन करती है। 'स्याद्वाद' शब्द स्यात् + वादसे निष्पन्न है। स्यात्का अर्थ 'कथंचित्' है और वादका अर्थ 'कथन' या प्रतिपादन है। 'स्यात्' शब्द विधिलिंगमें बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक निपात है। यह कथंचित् अर्थात् 'अमुक निश्चित अपेक्षा'से वस्तु अमुक धर्मवाली है, यह निरूपण करता है। इसका अर्थ न 'शायद' है, न 'सम्भावना' है और न 'कदाचित्' है। यह तो सुनिश्चित दृष्टिकोणका वाचक है। शब्दका स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है। अतः अन्यके प्रतिषेध करनेमें वह निरंकुश रहता है, पर 'स्यात्' शब्द इस प्रतिषेधपर अंकुश लगानेका कार्य करता है। यह 'ही'का निषेध कर 'भी'का प्रतिपादन करता है। जब हम कहते हैं कि 'पट'—वस्त्र श्वेत है। उस समय वस्त्र श्वेत ही है, इस अवधारणाका निषेध कर वस्त्रमें रहने वाले

१. "अर्पितानर्पितसिद्धेः"—तत्त्वार्थसूत्र, ५।३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्य गुण-धर्मोंका निषेध नहीं करता। शब्द अपने स्वार्थको मुख्य रूपसे कहे, इसमें कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर अपने ही स्वार्थको सब कुछ मानकर शेषका निषेध करे, तो उसका ऐसा करना अनुचित होगा तथा इससे वस्तु-स्थितिका विपर्यास भी होगा। 'स्यात्' शब्द इसी अन्यायको रोकता है और न्याय पद्धतिकी सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्यको मुख्य गौणभावसे अनेकान्त अर्थका प्रतिपादक बनाता है। इस प्रकार जैनदार्शनिकोंने 'स्याद्वाद' का निरूपण कर साम्य दृष्टिकी भावना नियोजित की है। अनेकान्त दृष्टि तत्त्वको सभी ओरसे देखती है। तत्त्वका स्वभाव ही ऐसा है कि वह अनेक प्रकारसे जाना जा सकता है। किसी समयकी दृष्टि किसी एक धर्मपर जोर देती है, तो अन्य समयकी दूसरी दृष्टि किसी अन्य धर्मपर जोर देती है। तत्त्वकी दृष्टिसे उस वस्तुमें सभी धर्म हैं, इसलिये वस्तुको अनेक धर्मात्मक कहा जाता है। अपेक्षा-भेदसे दृष्टि-भेदका प्रतिपादन करना और उस दृष्टिको वस्तु धर्मका एक अंश समझना अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है। इसे हम सापेक्षवाद भी कह सकते हैं।

आचार्य सिद्धसेनने 'स्याद्वाद' के महत्त्वको स्वीकार करते हुए इसे त्रिभुवनका गुरु कहा है और बतलाया है कि सामंजस्य और समन्वयका कार्य अनेकान्तवाद या स्याद्वादके द्वारा ही सम्भव है।

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वइए।
तस्स भुवणैकगुरुणो णमोऽणेगंतवायस्स[1]॥

२. जैन दर्शनकी दूसरी विशेषता तत्त्व-चिन्तनकी है। भारतीय दर्शन विचारधारामें तत्त्वके सामान्यतः चार पक्ष उपलब्ध होते हैं। सांख्य 'तत्त्व' को सत् मानता है। इसके यहाँ मूलतः दो तत्त्व हैं—एक 'प्रकृति' और दूसरा 'पुरुष'। 'पुरुष' तत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य और ज्ञानादि परिणामसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुष तत्त्व अनन्त है। सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृतिको प्रधान भी कहा जाता है। यह परिणामी नित्य है। यह एक है, त्रिगुणात्मक है, सामान्य है और महान् आदि विकारोंको उत्पन्न करती है।[2] कारण रूप प्रकृति 'अव्यक्त कही जाती है और कार्यरूप 'व्यक्त'। प्रधान या प्रकृतिसे विषयको निश्चय करने वाली बुद्धि या महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्से अहंकार, अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती है और इनसे प्राप्त स्पर्शन, रसना, चक्षु, घ्राण और श्रोत्र ये पाँच भाव इन्द्रियाँ, वचन, हस्त, पाद, मलस्थान और मूत्रस्थान ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं मन इस प्रकार सोलह गण उत्पन्न होते हैं। इनमें शब्द तन्मात्रासे आकाश, स्पर्श तन्मात्रासे वायु, रस तन्त्रात्रासे जल, रूप तन्मात्रासे अग्नि और गन्ध तन्मात्रासे पृथ्वी, इस प्रकार पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

प्रकृतिसे उत्पन्न होने वाले महान् आदि तेईस विकार प्रकृतिके ही परिणाम हैं[3] और

---

१. सन्मति तर्क ३।६८

२. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥सांख्यका० ११।

३. प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ साङ्ख्यतत्त्व कौमुदी कारिका २२,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पत्तिके पहले प्रकृति रूप कारणमें इनका सद्भाव है। अतएव सांख्य सत्कार्यवादी माना जाता है। इस सत्कार्यवादको सिद्ध करनेके लिए सांख्य दर्शनमें पाँच हेतु दिये गये हैं—

(i) कोई भी 'असत्' कार्य पैदा नहीं होता। यदि कारणमें कार्य 'असत्' रहे तो खर-विषाणके समान उत्पन्न ही नहीं हो सकेगा।

(ii) यदि कार्य 'असत्' होता तो प्रति नियत उपादान कारणोंको क्यों ग्रहण किया जाता। जब गेहूँ उत्पन्न करना है, तो इसके लिए गेहूँके बीज बोने पड़ते हैं और जब चना उत्पन्न करना है, तब चनेके बीज बोने पड़ते हैं। अतः सिद्ध है कि कारणमें कार्य सत् है।[1]

(iii) यदि कारणमें कार्यको 'सत्' न माना जाय तो सभी कारणोंसे सभी कार्य उत्पन्न हो सकते हैं, पर सबसे सब कार्य उत्पन्न नहीं होते। अतः सिद्ध है कि जिनसे जो उत्पन्न होते हैं, उनमें उन कार्योंका सद्भाव है।

(iv) प्रतिनियत कारणोंकी प्रतिनियत कार्यके उत्पन्न करनेमें ही शक्ति देखी जाती है। समर्थ हेतु शक्य कार्यको उत्पन्न करते हैं, अशक्यको नहीं। इससे भी स्पष्ट है कि कारण में कार्यका सद्भाव नियत रहता है। इसीलिये शक्य कार्यकी उत्पत्ति होती है, अशक्यकी नहीं।

(v) जगत्में कार्य-कारण भाव ही सत्कार्यवादका सबसे बड़ा प्रमाण है। बीजको कारण कहना इस बातका प्रमाण है कि उसमें ही कार्यका सद्भाव है। अन्यथा उसे कारण ही नहीं कह सकते।

इस प्रकार सांख्य दर्शनमें तत्त्वको 'सत्' कहा गया है और सत्कार्य वादकी सिद्धि भी की है। जैन दर्शनिकोंने सर्वथा सत्कार्यवादकी समीक्षा कर कथंचित सत्-असत् कार्यवाद सिद्ध कर तत्त्वको कचंचित् सत्-असत् माना है।

सांख्यकी तत्त्व प्रक्रियामें एक प्रधानका अस्तित्व ही संसारमें माना गया है, उस एक तत्त्वसे महान् अहंकार रूप चेतन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि अचेतन इस प्रकार परस्पर विरोधी दो कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? एक कारणसे ही अमूर्तिक आकाश और मूर्त्तिक पृथिव्यादि की उत्पत्ति मानना भी संगत नहीं है। एक कारणसे परस्पर अत्यन्त विरोधी दो कार्यं उत्पन्न नहीं हो सकते। विषयोंका निश्चय करनेवाली बुद्धि और अहंकार चेतनके धर्म है, इनका उपादान कारण जड़ प्रकृति नहीं हो सकती। सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणोंके कार्य जो प्रसाद, ताप, शोष आदि बतलाये गये हैं, वे भी चेतनके ही विकार हैं। उनमें प्रकृतिको उपादान मानना किसी भी तरह संगत नहीं है। एक अखण्ड तत्त्व एक ही समयमें परस्पर बिरोधी कार्योंके रूप में कैसे परिणमन कर सकेगा?

मूल प्रकृति यदि निर्विकार है और उत्पाद एवं व्यय केवल धर्मोंमें ही होते हैं, तो प्रकृतिको परिणामी कैसे कहा जायगा? कारणमें कार्योत्पादनकी शक्ति तो मानी जा सकती है, पर कार्यकालकी तरह उसका प्रकट स्वभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता। तर्ककी कसौटी पर कसने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सामान्य रूपसे मिट्टी आदि कारणोंमें घटादि कार्योंके

---

१. असदकरणादुपादान ग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम्॥ सांख्य कारिका ९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पादन करनेकी शक्ति है, कुम्भकारके व्यापारादिका निमित्त पाकर वह शक्ति वाली मृत्तिका अपनी पूर्व पिण्ड पर्यायका त्याग कर घट पर्यायको धारण करती है। इससे यह प्रकट होता है कि उपादान कारणमें कार्य-द्रव्यकी शक्ति निहित है और इसका प्रादुर्भाव निमित्तादि कारणों से होता है।

प्रत्येक कार्य अपने आधारभूत द्रव्यमें शक्तिकी दृष्टिसे ही सत् कहा जा सकता है, पर्यायकी दृष्टिसे नहीं। यदि पर्यायकी दृष्टिसे भी सत् हो, तो कारणोंका व्यापार निरर्थक हो जायगा। उपादान-उपादेय भाव, शक्य हेतुका शक्य क्रिया-कार्यको उत्पन्न करना और कारण-कार्य विभाग कथंचित् सत् कार्य बादमें ही सम्भव है। अतएव सांख्य दर्शनमें तत्त्व को 'सत्' माना गया है, पर जैन दर्शन में तत्त्व न एकान्त रूपसे सत् है और न एकान्त रूपसे असत् है, न एकान्त रूपसे सत् एवं असत् है। और न एकान्त रूपसे अनिर्वचनीय ही है।

बौद्ध दर्शनमें तत्त्वको असत् कहा गया है। उनके यहाँ साधारणतः विशेष पदार्थको ही वास्तविक तत्त्व माना, गया है। स्वलक्षण चाहे चेतन हो या अचेतन, क्षणिक और परमाणु रूप है। जो जहाँ और जिस कालमें उत्पन्न होता है, वह वहीं और उसी समय नष्ट हो जाता है। कोई भी पदार्थ देशान्तर और कालान्तरमें व्याप्त नहीं हो सकता। वह दो देशोंको स्पर्श नहीं कर सकता। पदार्थका प्रतिक्षण नष्ट होना स्वभाव है। उसके नाशके लिए किसी अन्य कारणकी आवश्यकता नहीं। अगले क्षणकी उत्पत्तिके जितने कारण हैं, उनसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा पूर्व क्षणके विनाशकी नहीं होती, वह उतने ही कारणोंसे हो जाता है। अतः उसे निर्हेतुक कहते हैं। निर्हेतुक होनेका अर्थ कारणोंके अभावमें हो जाना नहीं है, किन्तु उत्पादके कारणोंसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं रखना है। प्रत्येक पूर्व क्षण नष्ट होता हुआ उत्तर क्षणको उत्पन्न करता जाता है और इस तरह एक वर्तमान क्षण ही अस्तित्वमें रहकर धाराकी क्रमबद्धताका प्रतीक होता है।

स्थिर और स्थूल ये दोनों ही मनकी कल्पना है। वस्तुतः नित्य या सत् नामक कोई पदार्थ नहीं है। वस्तु प्रतिक्षण विनाशशील हैं, अतः असत् है। बौद्धदर्शनकी यह क्षणिकवाद कल्पना भी भ्रान्त है। यदि वस्तु क्षणिक परमाणुरूप है, तो स्कन्ध अवस्था सम्भव नहीं हो सकेगी। परमाणुओंके परस्पर विशिष्ट रासायनिक सम्बन्ध होनेपर ही उनमें स्थूलता आती है और तभी वे इन्द्रिय ग्राह्य होते हैं। परमाणुओंका परस्पर जो सम्बन्ध होता है, वह स्निग्धता और रुक्षताके कारण गुणात्मक परिवर्तनके रूपमें होता है। वह कथंचित् तादात्म्य रूप है। अतः स्कन्धकी उत्पत्ति भी क्षणिक परमाणुओंमें सम्भव नहीं। इसके लिए वस्तुओंको कथंचित् नित्यानित्य मानना पड़ेगा। तभी परमाणुओंका संयोग सम्भव होगा।

अर्थक्रियाकारित्व भी असत् तत्त्वमें सम्भव नही है। सर्वथा क्षणिकमें पूर्वका उत्तरके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं बन सकता है। फिर, उनमें कार्य-कारणभाव किस प्रकार सम्भव हो सकेगा? अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव या उपादान-उपादेय भावके लिए पूर्व और उत्तर क्षणमें कोई वास्तविक सम्बन्ध या अन्वय मानना ही पड़ेगा। अन्यथा सन्तानावर्त्ती उत्तर क्षणके साथ भी उपादान-उपादेयभाव बन जाना चाहिए। एक वस्तु जब क्रमशः दो क्षणों या दो देशोंको प्राप्त होती हैं, तो उसमें कालकृत या देशकृत क्रम माना जा सकता है। पर जो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जहाँ और जब उत्पन्न हो, वह वहीं तभी नष्ट हो जाय तो क्रम कैसे बनेगा ? क्रमके अभावमें युगपत्की चर्चा भी व्यर्थ है। जब वस्तुमें उत्पाद और विनाश दोनों ही समान कोटिके धर्म हैं, तो उनमें से एकको सहेतुक और दूसरेको अहेतुक मानना किसी भी तरह उचित नहीं है। इस प्रकार बौद्धदर्शनमें मान्य ऐकान्तिक असत् भावका निराकरण किया गया है। वास्तवमें वस्तु या तत्त्व कथंचित् सत्-असत् रूप है। जो वस्तुको क्षणिक या असत् मानता है, उसके यहाँ अर्थ क्रियाकारित्व और देने न देनेका व्यवहार सम्भव ही नहीं हो सकता है।

तत्त्वकी मान्यताके सम्बन्धमें तीसरा पक्ष 'सत्' और 'असत्' दोनोंको स्वतन्त्र रूपमें मानता है। यह पक्ष नैयायिक और वैशेषिकका है। इनकी दृष्टिमें 'सत्' भिन्न है, 'असत्' भिन्न है। ये दोनों स्वतन्त्र तत्त्व हैं। सत् असत्से सर्वथा भिन्न तथा स्वतन्त्र पदार्थ है, उसी प्रकार 'असत्' भी एक भिन्न स्वतन्त्र पदार्थ है।

अतः नैयायिक और वैशेषिक उभय तत्त्ववादी हैं। उनके यहाँ सामान्य और विशेष नामक दो भिन्न-भिन्न पदार्थ स्वतन्त्र एवं एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, पर समवाय[1] सम्बन्धके आधारपर सामान्य और विशेष मिल जाते हैं। सामान्य अभेदका सूचक है और विशेष भेदका। वस्तुमें भेद और अभेद विशेष एवं सामान्यके कारण होते हैं। एकताकी प्रतीति अभेदके कारण है। समस्त गायोंमें गोत्व सामान्य रहता है, और मनुष्योंमें मनुष्यत्व सामान्य। इसी कारण गऊ और मनुष्य ऐसी एकाकार प्रतीति होती है। यह प्रतीति एकताका बोधक है। सभी मनुष्य या गायें व्यक्तिगत रूपसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती हैं, उनका अपना भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व है। जाति और व्यक्तिका सम्बन्ध ही भेद एवं अभेद प्रतीति है। यों तो दोनों एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, पर समवाय सम्बन्धके कारण दोनों मिले हुए मालूम पड़ते हैं। इस प्रकार सत् और असत् दोनोंको स्वतन्त्र माननेवालोंकी अपेक्षा जैनदर्शनका सत् तात्त्विक रूपसे विशिष्ट है। वह एकान्त रूपसे न नित्य है, न अनित्य है, कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है। गुण अथवा अन्वयकी अपेक्षासे नित्य है और पर्यायकी अपेक्षासे वह अनित्य है।

चतुर्थ पक्ष अनुभयवादका है। इस पक्षका अभिमत है कि तत्त्व अनिर्वचनीय है। न वह सत् है और न असत्। वेदान्तमें वर्णित माया इसी प्रकारका तत्त्व है। शंकराचार्य संसार के परिवर्तनशील विशेष विषयोंकी सत्ताकी परीक्षा करते हुए बतलाते हैं कि विषय सत् नहीं हैं, क्योंकि वे विशेष और विकारशील हैं। पर वन्ध्या पुत्रके समान उन्हें सर्वथा असत्, अलीक या तुच्छ भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उनमें भी सत्ता है, जो उनके रूपमें आभासित हो रही है। इस कारण संसारके पदार्थ न सत् हैं और न असत् हैं, वे अनिर्वचनीय हैं। यह समस्त संसार और इसकी जननी माया भी सत्-असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय है।

१. "क्रियावद्गुणवत्समवायिकारणम्"—वैशेषिक सूत्र, १।१।१५,
"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहेदंप्रत्ययलिङ्गो यः सम्बन्धः स समवायः"
प्रशस्तपादभाष्य उद्धृत आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञटीका, वीर-सेवामन्दिर, संस्करण प्रथमावृत्ति,
"अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां इह प्रत्ययहेतुसम्बन्धः स समवायः"
स्याद्वादमंजरी, कारिका ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दर्शन इस अनिर्वचनीयवादकी समीक्षा करते हुए तत्त्वको कथंचित् सत्-असत् रूपमें स्वीकार करता है। अनिर्वचनीय मानने पर उसका न तो कथन ही सम्भव है और न अर्थ क्रिया कारित्व ही।

३. जैन दर्शन द्वारा मान्य द्रव्य, गुण और पर्याय व्यवस्था भी अत्यन्त मौलिक और विशिष्ट हैं। इस दर्शनमें छह द्रव्य माने गये हैं—

१. जीव, २. पुद्गल, ३. धर्म, ४. अधर्म, ५. आकाश और ६. काल

जीव द्रव्यको कर्त्ता, भोक्ता और स्वदेह परिमाण माना गया है। सांख्य दर्शन जहाँ प्रकृतिको कर्त्ता और पुरुषको भोक्ता मानता है, नैयायिक और वैशेषिक ईश्वरको कर्त्ता और पुरुष को भोक्ता मानता है, नैयायिक और वैशेषिक ईश्वरको कर्त्ता और जीवको भोक्ता मानते हैं, वहाँ जैन धर्म प्रत्येक जीवको ही कर्त्ता और भोक्ता मानता है। यह संसारी आत्मा स्वदेह परिमाण होती है। भारतके अन्य किसी भी दर्शनमें आत्माको स्वदेह परिमाण नहीं माना गया हैं। केवल जैन दर्शन ही इसे स्वशरीर परिमाण मानता है। हाथीके शरीरमें रहनेवाली आत्मा, हाथीके शरीरके आकार की, नाटे, लम्बे एवं मध्यम कदके व्यक्तियोंके शरीरमें रहने वाली आत्मा उन-उन कदवाले व्यक्तियोंके परिमाणकी एवं चींटीके शरीरमें रहने वाली आत्मा चींटीके शरीरके आकारकी होती है। इस प्रकार संसारी आत्माके स्वदेह परिमाणका कथन नितान्त मौलिक चिन्तन है और इसकी सिद्धि तर्क द्वारा की गयी है।

अन्य भारतीय दर्शनोंमें गति और स्थितिकी क्रियाके सम्पादनहेतु भिन्न द्रव्योंकी कल्पना नहीं की गयी है। वैशेषिक दर्शन उत्क्षेपण आदिको द्रव्य न मान कर कर्म मानता है, पर जैन दर्शन गतिके लिए स्वतन्त्र द्रव्य धर्मास्तिकाय और स्थितिके लिये स्वतन्त्र द्रव्य अधर्मास्तिकाय स्वीकार करता है। जैन दर्शनकी आकाशविषयक मान्यता भी विशिष्ट है। लोकाकाशकी मान्यता तो अन्य दर्शनोंमें भी पायी जाती है, पर अलोकाकाश—केवल आकाशकी मान्यता अन्यत्र नहीं मिलती। पुद्गलकी मान्यताके सम्बन्धमें भी कई महत्त्वपूर्ण बातें दृष्टिगोचर होती हैं। यह समस्त दृश्य जगत् पुद्गलका ही विस्तार है। पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श पाये जाते हैं। शब्द, आकृति, प्रकाश, गरमी, छाया, अन्धकार आदि पुद्गलके ही पर्याय हैं। जहाँ नैयायिक और वैशेषिक पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चारों गुण, जलके परमाणुओंमें रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण, अग्निके परमाणुओंमें रूप और स्पर्श ये दो गुण, वायुके केवल स्पर्श। इस प्रकार गुण भेद मान कर चारोंको स्वतन्त्र मानते हैं। वहाँ जैन दर्शन समस्त पुद्गल परमाणुओंका परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार करता है। यह सम्भव है कि अवस्था विशेषमें कुछ गुण प्रकट हों और कुछ अप्रकट अग्निमें रस अप्रकट रह सकता है, वायुमें रूप और जलमें गन्ध। पर उक्त द्रव्योंमें उन गुणोंका अभाव नहीं माना जा सकता। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सीपमें पड़ा हुआ जल पार्थिव मोती बन जाता है। पार्थिव लकड़ी अग्नि बन जाती है, अग्नि भस्म बन जाती है। पार्थिव हिम गलकर जल हो जाता है तथा ऑक्सीजन एवं हाइड्रोजन दोनों वायु मिल कर जल बन जाती हैं। अत एव इनमें परस्पर गुणभेद कृत जातिभेद अंगीकार कर पृथक् द्रव्यत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह सामान्य नियम है कि जहाँ पुद्गलका एक गुण रहता है वहाँ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसके अन्य गुण भी व्यक्त या अव्यक्त रूपमें अवश्य रहते हैं। अतएव पुद्गलका विशेष निरूपण जैन दर्शनकी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। पुद्गलकी शक्ति, पर्याय, स्कन्धादि भेद एवं परमाणु स्वरूप विवेचन भी मौलिक है।

४. जैन दर्शनकी ज्ञानमीमांसामें भी अनेक विशेषताएँ पायी जाती हैं। अन्य भारतीय दर्शनोंमें इन्द्रिय ज्ञानको प्रत्यक्ष माना गया है। पर जैन दर्शनमें आत्मासे होने वाले ज्ञानको ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है। यह अतीन्द्रिय ज्ञान इन्द्रियोंकी सहायतासे न होकर सीधा आत्मासे होता है और यही वास्तवमें प्रत्यक्ष है। जैन दर्शन इन्द्रिय ज्ञानको व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहता है, पारिमार्थिक प्रत्यक्ष नहीं। पाँचों ज्ञानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, इन्द्रिय एवं मनकी अपेक्षा रखते हैं, अतः परोक्ष हैं। अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इन्द्रिय एवं मनकी अपेक्षा नहीं रखते। किन्तु ये आत्मासे उत्पन्न होते हैं। आचार्य पूज्यपादने अतीन्द्रिय ज्ञानकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव प्राप्तक्षयोपशमं प्रक्षीणावरणं वा प्रति नियतं प्रत्यक्षम्"।[1] अर्थात् अक्ष्, व्याप् और ज्ञाप् ये धातुएँ एकार्थक हैं। अतएव अक्ष् का अर्थ आत्मा है। इस प्रकार क्षयोपशम वाले या आवरण रहित केवल आत्माके प्रति जो नियत है अर्थात् जो ज्ञान बाह्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे न होकर केवल क्षयोपशमवाले या आवरण रहित आत्मासे होता है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है

केवल ज्ञान—सम्पूर्ण द्रव्य ओर पर्यायोंको प्रत्यक्ष रूपसे ज्ञात करने वाला ज्ञान उत्पन्न होनेसे आत्मा सर्वज्ञ बनती है। त्रिकाल, त्रिलोकवर्ती समस्त ज्ञेयोंके प्रत्यक्ष दर्शनसे कोई भी सर्वज्ञ होता है। केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त अर्थोंका जानने वाला है। यह सूक्ष्म अन्तरित और दूरवर्ती समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष रूपसे ग्रहण करता है। अतः ज्ञानमीमांसाके अन्तर्गत सर्वज्ञत्वका विचार भी आता है। आत्माको ज्ञान स्वभाव माननेके अनन्तर निरावरण दशामें अनन्त ज्ञान मा सर्वज्ञताका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सर्वज्ञताका व्यावहारिकरूप कुछ भी हो, पर ज्ञानकी शुद्धता और परिपूर्णता असम्भव नहीं है। जैन ज्ञानमीमांसाकी प्रमुख विशेषता ज्ञानकी परिपूर्णता और शुद्धताकी सिद्धि है।

५. प्रमाण मीमांसाके अन्तर्गत प्रमाणकी उत्पत्ति और ज्ञप्तिके सम्बन्धमें जैन तार्किकों ने जो विचारधारा प्रस्तुत की है, वह भी अन्य भारतीय दर्शनोंकी अपेक्षा भिन्न है। जैन दर्शनमें प्रामाण्य और अप्रामाण्यकी उत्पत्ति परतः मानी गयी है, जब कि ज्ञप्ति स्वतः और परतः दोंनो प्रकारसे होती है। अभ्यास दशामें ज्ञप्ति स्वतः होती है और अनभ्यास दशामें परतः। जैन दर्शनमें उपमानको पृथक् प्रमाण नहीं माना गया है। इसका अन्तर्भाव सादृश्य प्रत्यभिज्ञानमें किया गया है। मीमांसक उपमानको स्वतन्त्र प्रमाण मानता है। उसका कथन है कि जिस पुरुषने गायको देखा है, वह जब गवयको देखता है और उसे जब पूर्ण दृष्ट गऊका स्मरण आता है, तब इसके समान 'वह' इस प्रकार का उपमान ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि गवयनिष्ठ सादृश्य प्रत्यक्षका विषय हो रहा है और गोनिष्ठ सादृश्यका स्मरण आ रहा है, फिर भी 'इसके' समान 'वह' है—इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान करनेके लिए उपमान नामक स्वतंत्र प्रमाणकी आवश्यकता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। १।१२, पृ० १०३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन तार्किकोंने मीमांसकके इस विचारकी समीक्षा की है और उन्होंने बताया है कि इस प्रकारसे साधारण विषय भेदके कारण प्रमाणोंकी संख्याकी वृद्धि की जाय, तो 'गोविलक्षणः महिषः' इस प्रकार के वैलक्षण्य विषयक प्रत्यभिज्ञानको भी पृथक् प्रमाण मानना पड़ेगा। अतएव एकत्व, सादृश्य, प्रातियोगिक, आपेक्षिक आदि समस्त ज्ञानोंको प्रत्यभिज्ञानकी सीमामें रखना होगा।

जैन दर्शनमें व्याप्तिका स्वरूप भी अन्य दर्शनोंकी अपेक्षा भिन्न रूपमें वर्णित है। अनुमान के अंश, हेतु का अविनाभावित्व, पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर आदि हेतु, अर्थापत्तिका अनुमानमें अन्तर्भाव एवं अभाव प्रमाणको स्वतन्त्र न मानना आदि प्रमाण मीमांसाके विशिष्ट अंग हैं।

६. जैन दर्शनकी नय और निक्षेप सम्बन्धी विशेषताएँ भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। सप्तभंगीका विचार भी नय मीमांसाके अन्तर्गत है। नयके सम्बन्धमें जितना सूक्ष्म और महत्त्वपूर्ण विचार जैन दार्शनिकोंने किया है, अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। अधिगमके उपायोंमें प्रमाण के साथ नयोंका भी निर्देश है। ज्ञाताका वह अभिप्राय विशेष नय कहलाता है, जो प्रमाणके द्वारा ज्ञात की गयी वस्तुके एकदेशका स्पर्श करता है। नय ज्ञान वस्तुके प्रत्येक अंशका अवबोध करता है। नयोंके मूलतः दो भेद बताये गये हैं—१. सुनय और २. दुर्नय। अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक धर्मका विषय करनेवाला अभिप्राय विशेष सुनय है। सुनय वस्तुके किसी विशेष अंगको मुख्य भागसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोंका निराकरण नहीं करता है, उनकी ओर तटस्थ भाव रखता है। सुनय सापेक्ष होता है, पर दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। इस प्रकार निरपेक्ष और सापेक्ष रूपमें दुर्नय और सुनयका कथन किया गया है। जैन दार्शनिकोंने नयका आविष्कार वस्तुके यथार्थ स्वरूपको अवगत करनेके लिए किया है। अपनी दृष्टि तक सीमित रहते हुए भी दूसरोंकी दृष्टि पर प्रहार न करना, यही नयका संदेश है।

७. जैन दर्शनकी कर्म मीमांसा सम्बन्धी विशेषताएँ भी उल्लेख्य है। जैन दर्शन कर्म को केवल क्रिया रूप नहीं मानता, बल्कि उसे द्रव्य रूप स्वीकार करता है। द्रव्य और भावकी दृष्टिसे कर्मके दो भेद हैं—१. द्रव्यकर्म और २. भाव कर्म। जीव अनादिकालसे कर्मावरणके कारण ही अनेक जन्मोंमें भ्रमण करता है। जन्म और मृत्युका मूल कारण कर्म है। जैन दर्शन का कर्मवाद न तो नियतिवाद है और न अनिवार्यतावाद ही है। इस सन्दर्भमें कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, पुरुषवाद, दैववाद एवं पुरुषार्थवाद प्रभृतिकी समीक्षा की गयी है।

आचारकी भूमिका पर कर्मवादकी उत्पत्ति हुई है। कर्मवादका अर्थ है-कार्यकारणवाद। प्रत्येक कार्यका कोई न कोई कारण होता है और प्रत्येक कारण किसी न किसी कार्यको उत्पन्न करता है। यह कार्य कारणका पारस्परिक सम्बन्ध ही विश्वकी विविधता और विचित्रताका आधार है। इस प्रकार वर्तमानका निर्माणभूतके आधार पर और भविष्यका निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जैन चिन्तकोंने आत्मा और कर्मके सम्बन्ध का अनादि प्ररूपणाका कर्मसिद्धान्तका विस्तृत और गम्भीर विवेचन किया है। ऐसा निरूपण अन्यत्र प्राप्त नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८. जैन दर्शनकी आचार सम्बन्धी विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं। जैनाचारकी मूलभित्ति अहिंसा है। अहिंसाका जितना सूक्ष्म विवेचन इस दर्शनमें पाया जाता है, उतना अन्यत्र नहीं। अहिंसाके केन्द्र विन्दुसे अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रहके आदर्श उपस्थित होते हैं। यथाशक्ति जीवनको स्वावलम्बी, सादा, सरल, और संयमी बनाने का प्रयास करना चाहिए। मुक्तिकी प्राप्ति या चित्तशुद्धिके लिए अहिंसाकी साधना आवश्यक है। मानसिक, वाचिक और कायिक अहिंसाकी पूर्ण साधना वस्तु स्वरूपके यथार्थ दर्शनके विना सम्भव नहीं। अतः जैन दर्शनमें अनेकान्त दृष्टिका निरूपण कर अहिंसाकी प्रतिष्ठा की गयी है।

आचारके अन्तर्गत संयम, त्याग, तपश्चरण और ध्यानकी गणना की जाती है। निस्सन्देह जैनदर्शनका विकास तत्त्वज्ञानकी भूमिपर न होकर आचारकी भूमिपर हुआ है। जीवनशोधनकी व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया एवं समाज और विश्वमें शान्ति स्थापनकी पद्धति अहिंसापर ही अवलम्बित है। जैनदर्शनका विस्तार जीवनशोधन और चरित्र वृद्धिके लिए हुआ है। ध्रुव सत्य है कि उस ज्ञान या विचारका कोई विशेष मूल्य नहीं, जो जीवनमें उतारा न जा सके; जिसके प्रकाशसे जीवन आलोकित न हो सके। यही कारण है कि जैनदर्शनमें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रको अन्तिम महत्त्व दिया गया है। तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की जाती हैं और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसाकी दिव्यज्योतिको विश्वमें प्रसारित करनेके हेतु तत्त्वोंका साक्षात्कार किया जाता है। इस दर्शनमें विचार साध्य नहीं, आचार है; ज्ञान नहीं, चारित्र है।

जैनदर्शन और धर्म

धर्म और दर्शनमें घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। 'अज्ञातको ज्ञात करना' यही दोनोंका चरम लक्ष्य है। अन्तर इतना ही है कि धर्म जनसाधारणको अज्ञात तक जानेके लिए एक जीवनक्रम प्रस्तुत करता है तथा विद्वानोंके द्वारा इह लोक एवं परलोकको परस्पर आबद्ध करनेवाला एक मार्ग है, जिसपर चलकर जनसाधारण परम शान्तिका अनुभव करता है। दर्शनके आत्मा, परमात्मा, विश्व और इनके सम्बन्धकी अनुभूति की जाती है। दुःखकी चरम निवृत्ति अथवा परमानन्दकी प्राप्ति दर्शनका मूलाधार है। प्रत्येक दर्शनमें इसी उद्देश्यको पूर्ण करनेके हेतु स्वरूपसे परमतत्त्वका गवेषण किया है।

सर्वतोभावेन यह माना जाता है कि जीव सुख एवं दुखके भोगनेके लिए संसारमें जन्म ग्रहण करता है। इसके साथ-साथ यह भी सत्य है कि दुःख किसीको प्रिय नहीं है तथा इस दुःखसे मुक्त होनेके लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। जिस क्षण जीवको दुःखसे सर्वदाके लिए मुक्ति मिल जाती है, उसी क्षण वह सदाके लिए जन्म-मरणसे छुटकारा प्राप्त कर लेता है। यही जीवका चरम लक्ष्य है तथा यही दर्शनशास्त्रका परमतत्त्व है, जिसकी साक्षात् अनुभूतिके लिए दर्शनोंका प्रतिपादन हुआ है। अतएव धर्म एवं दर्शनको एक दूसरेसे सम्बद्ध माना जाता है।

धर्मका आधार श्रद्धा या विश्वास है और दर्शनका तर्क। इस दृष्टिसे धर्म और दर्शन इन दोनोंका क्षेत्र भिन्न है। यदि इन दोनोंको एक माना जाय, तो दो दृष्टियोंकी आवश्यकता नहीं होती। धर्मकी दृष्टि श्रद्धामूलक है और दर्शनकी तर्कमूलक। इन दोनोंको एकान्त रूपसे अभिन्न कहना श्रद्धा और तर्कका सांकर्य करना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसी प्रकार धर्म और दर्शनको सर्वत्र एकान्त रूपसे भिन्न मानना भी नहीं माना जा सकता; यतः भेदका सर्वथा नाश करनेसे विचारशक्ति और श्रद्धापूर्ण आचरणके भेदको समाप्त करना है। यह सत्य है कि धर्म और दर्शनके कुछ विषय सामान्य हैं। ईश्वर या परमात्मा, पुनर्जन्म, आत्मशोधन, चरित्रोत्थान इत्यादि प्रश्न दोनोंके समक्ष प्रस्तुत होते हैं। अतएव जैनचिन्तकोंने अनेकान्तवादके आलोकमें धर्म और दर्शनका सम्बन्ध कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक स्वीकार किया है। यथार्थतः धर्म और दर्शनमें मौलिक एकता होते हुए भी दोनोंके साधनोंमें अन्तर है। दोनोंका विषय एक होते हुए भी वहाँ तक पहुँचनेकी पद्धति या मार्गमें अन्तर है। धर्मका आधार स्थिरता है और दर्शनका आधार गति। धर्म सर्वथा श्रद्धा, भावुकता और स्थिरताका आश्रय लेता है; पर दर्शन, तर्क, विचारशक्ति और गतिका आश्रय ग्रहण करता है। निस्सन्देह इन दोनोंमें मौलिकता होते हुए भी दोनोंके साधनोंमें अन्तर है।

जैनदर्शनमें धर्मकी परिभाषा निरूपण करते समय दर्शनको भी उसके अन्तर्गत समाविष्ट किया है। आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मकी परिभाषा लिखते हुए कि धर्म चारित्र रूप है, शम अथवा साम्य भावको धर्म कहा जाता है। यह मोह—मिथ्या प्रतीति तथा क्षोभ—राग-द्वेषसे रहित आत्मका परिणाम शम या साम्यभाव है। लिखा है—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पाणो हि [1]समो॥

दर्शनका यह नियम है कि द्रव्य जिस कालमें जिस रूप परिणमन करता है, उस कालमें वह उसी रूप हो जाता है। धर्म—'स्व'स्वभाव रूप परिणत आत्मा भी धर्म कहलाती है। इस प्रकार रत्नत्रय, अहिंसा, चारित्र, संयम आदि प्रवृत्ति धर्मके स्वरूप हैं। जब हम अहिंसाका आध्यात्मिकसे दृष्टि चिन्तन करते हैं, तो अनेकान्त दृष्टि हमारे सम्मुख स्वयं उपस्थित हो जाती है। और जीवनके उलझे हुए प्रश्नोंका समाधान सहजमें उपस्थित हो जाता है। जीवनका व्यवहार विधि निषेधके युगल पारुषोंके मध्यसे चलता है। दार्शनिक शब्दावलीमें इसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थमें अनन्त धर्मोंकी सत्ता है और उस स्वभावमें यह सत्ता दूसरे स्वभावकी प्रतिरोधिनी नहीं है। यही कारण है कि विरोधी युगलोंका सहअस्तित्व सहजमें सम्भाव्य है। उदाहरणार्थ—जल-अग्नि आदिको लिया जा सकता है। जल जीवनका हेतु होनेसे जीवन भी है और डूबनेवालोंके लिए संहारक होनेसे मृत्यु भी है। इसी प्रकार अग्नि जीवन प्रदान करनेवाली भी है और उग्ररूप धारण करनेपर नाश भी करती है। इससे यह स्पष्ट है कि पदार्थमें विरोधी युगलका युगपत् अस्तित्व है। जो व्यक्ति किसी एक पक्षमें बँध जाता है और निरपेक्ष होकर अपने व्यवहारका सम्पादन करता है, उसका कार्य व्यापार वस्तुके स्वरूपसे बहुत दूर रहता है। वस्तुके यथार्थ स्वरूपका वही व्यक्ति अनुसरण कर सकता है, जिसकी दृष्टि सापेक्ष है।

सत्य अनुभूतिगम्य है। अनुभूति एकांशग्राही और सर्वांशग्राही उभयरूप होती है, पर अभिव्यक्ति सर्वांशग्राही नहीं एकांशग्राही होती है। वह सदा एक अंश ही प्रस्तुत करती है।

१. प्रवचनसार, गाथा ७ श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फल्टन, प्रथमावृत्ति, सन् १९७०,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानकी अनन्त पर्याय हैं। व्यक्ति अपनी शक्तिके अनुसार उन्हें अधिकृत करता है। अभिव्यक्तिका माध्यम शब्द है। अनुभूतिकी पूर्णता और अधिकता होनेपर भी वह एक अंश को ही प्रस्तुत करती है। वक्ता अपनी समस्त अनुभूतियोंको एक साथ अभिव्यक्त नहीं कर पाता। जितनी वह व्यक्त करता है, उतनी सुनने वाला ग्रहण नहीं कर पाया। जितना ग्रहण होता है, वह अपेक्षाके साथ संयुक्त होकर ग्रहण होता है। अतः सत्य सदा अपेक्षाके साथ बंधा हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मका आचरण दर्शनके आलोकमें ही सम्भव है। यदि आचारका प्रमुख अंग अहिंसा है, तो विचारका प्रमुख क्षेत्र स्याद्वाद या अनेकान्त दृष्टि। स्याद्वाद के अपनाये बिना हम सत्यको प्राप्त नहीं कर सकते। अतएव दर्शनशास्त्रमें धर्मके सिद्धान्तोंका भी निरूपण होता गया है।

दर्शनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति या दुःख-निवृत्ति है। दुःख-निवृत्तिका मार्ग धर्म है। यह अहिंसा, त्याग और संयम रूप है। जब दुःख निवृत्ति हो जाती है, तभी स्व स्वरूपकी स्थिति प्राप्त होती है। मोक्ष, मोक्षके कारण, दुःख और दुःखके कारणोंकी खोज दर्शन है, तो दुःखकी निवृत्तिका साधन धर्म है। जैन तत्त्वज्ञानमें ज्ञातव्य सात तत्त्व हैं। उन तत्त्वोंके श्रद्धा तथा विश्वासको सम्यग्दर्शन, उन तत्त्वोंके सम्यक् बोधको सम्यग्ज्ञान और उनके यथार्थ आचरण को सम्यक्चारित्र कहा गया है। तत्त्वज्ञानसे विषय निवृत्ति रूप वैराग्य प्राप्त होता है। अतः वह तत्त्व ज्ञान उपादेय नहीं जो जीवनमें अनासक्तिकी सृष्टि न करे। इस प्रकार जैन दर्शनमें मोक्षका साक्षात्कारण तत्त्व ज्ञानसे परिपुष्ट चारित्र है। कोई भी धर्म तब तक स्थायित्वको प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक उसका अपना तत्त्वज्ञान न हो। अतः धर्माचरणके लिए तत्त्व-ज्ञानकी धाराकी आवश्यकता है। जैन दर्शनकी मान्यता है कि दर्शनके बिना धर्म एक सामान्य नैतिक नियमोंके अतिरिक्त और कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता और धर्मके बिना दर्शन भी कोरा वाग्जाल है। इस प्रकार जैन दार्शनिकोंने धर्म और दर्शनका अनेकान्तात्मक दृष्टिसे सम्बन्ध विवेचित किया है। जैन चिन्तकोंने प्राणीमात्रके उद्धारके लिए जहाँ धर्म या चारित्रको मोक्षका अन्तिम साक्षात् कारण बतलाया, वहाँ संघ रचना, विश्व शान्ति और समाज व्यवस्था के हेतु अहिंसाके आधारभूत तत्त्वज्ञानकी गवेषणा करनेका प्रयत्न किया है। अतएव धार्मिक श्रद्धा और दार्शनिक सिद्धान्तोंमें मौलिक भेद यह है कि दार्शनिक दृष्टिकोण अनेकात्मक सापेक्ष होता है, जब कि धार्मिक श्रद्धा उस दृष्टिकोण द्वारा विवेचित सत्याचरण है। दर्शन सत्य प्राप्तिके लिए मार्ग दिखलाता है, जिससे धार्मिक श्रद्धा तर्कके साथ सम्बद्ध होकर चिरजीवित रहती है। जैन धर्मको कोरी भावुकता या श्रद्धा नहीं कहा जा सकता है। यह तो अनेकान्ता-त्मक दृष्टिसे सम्बद्ध है। अतः श्रद्धा भी विवेकमूलक होती है। क्रिया या चारित्र ज्ञानके साथ सम्पृक्त होकर जीवनकी पूर्णताकी उपलब्धि कराती है।

जैन दर्शन और विज्ञान

दर्शन और विज्ञान ये दो भिन्न क्षेत्रोंमें कार्य करते हैं। दर्शन तत्त्वज्ञान, मोक्ष और उसके साधनका विश्लेषण करता है, तो विज्ञान भौतिक जगत् या दृश्य जगत्की समस्याओंका अध्ययन करता है। भारतीय चिन्तकोंने दर्शनको 'परा' विद्या और विज्ञानको 'अपरा' विद्या कहा है। विज्ञान व्यावहारिक जगत्के भिन्न-भिन्न अंगोंका अध्ययन कर जीवनको क्लेश रहित करता है। यह भौतिक दुःखको ही दूर करनेका प्रयास करता है, दुःख मात्रको नहीं। दुःखका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्ण विनाश तो दर्शन करता है। अतः जिस कार्यको विज्ञान आंशिक रूपमें सम्पादित करता है, उसे दर्शन सर्वांशतः। दर्शन जीवनके चरम लक्ष्यको निर्धारित कर विज्ञानको वस्तु व्यवस्था में सहायता प्रदान करता है। यह स्मरणीय है कि विज्ञान प्रदत्त ज्ञान सर्वदा दृश्य जगत् विषयक होता है। विज्ञानके आधारपर दृश्य धगत् तीन भागोंमें विभक्त हैं—(१) भौतिक (Physical) (२) प्राण सम्बन्धी (Biological) और (३) मानसिक (Mental)। इन तीनों शाखाओंका ज्ञान--विज्ञानका पूर्ण ज्ञान है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विज्ञान दृश्य जगत् तक ही सीमित है। इसे विश्वका सम्पूर्ण और सच्चा ज्ञान नहीं मान सकते। विश्वके अदृश्य और गूढ़ सिद्धान्त विज्ञानकी दृष्टिसे ओझल रहती है। अतः विज्ञानको किसी भी अवस्थामें पूर्ण ज्ञान नहीं माना जा सकता।

विज्ञान और दर्शन इन दोनोंके क्षेत्र तो भिन्न हैं ही, दोनोंकी प्रक्रिया भी भिन्न है। विज्ञानकी प्रक्रिया आनुभविक (Experimental) एवं व्याप्तिमूलक (Inductive) होती है। इसका आधार बाह्य अनुभव है, जो अवलोकन एवं प्रयोगपर स्थित है। दर्शनकी पद्धतिका का आधार केवल अनुभव नहीं होता, अपितु युक्ति एवं अनुभव दोनों होते हैं। युक्ति एवं अनुभवके सम्मिलित प्रयत्नसे प्राप्त ज्ञान ही दर्शनकी भूमिकाका निर्माण करता है। पर विज्ञान की विधि इससे विपरीत है। विज्ञान अनुभवका त्याग नहीं कर सकता है, जबकि दर्शन इसका त्याग करनेके लिए प्रस्तुत हो सकता है। यह युक्तिको कोई महत्त्व नहीं देता, अपितु अनुभवको ही सब कुछ समझता है। इस प्रकार दर्शनकी विधिका आधार केवल अनुभव नहीं है, अपितु युक्ति और अनुभव दोनों है। विज्ञान केवल अनुभवपर ही स्थित है। एक अन्य बात यह भी है कि विज्ञानका आधार केवल व्याप्ति है, जबकि दर्शन व्याप्ति या आगमन (Induction) और निगमन (Deduction) दोनोंको आधार मानकर चलता है।

दर्शन और विज्ञानमें एक अन्य भेद यह है कि विज्ञान अपने निर्णयका प्रदर्शन अपूर्ण रूपमें करता है, पर दर्शन अपने विषयका स्पष्टीकरण पूर्ण रूपसे करता है। विज्ञान द्वारा उपस्थित किये गये निर्णय पूर्ण इसलिये नहीं कहलाते कि उनका आधार सत्यका एक अंग दृश्य जगत् है, वह अदृश्य या पारिमार्थिक जगत्को देख नहीं पाता, पर दर्शन दोनों ही जगत्के सत्योंका कथन करता है।

दर्शन और विज्ञानमें कुछ साम्य भी है। दोनोंका उद्देश्य एक है और दोनोंके स्पष्टीकरणकी पद्धति भी एक है। दर्शन और विज्ञान दोनों ही स्पष्टीकरणके सामान्य उद्देश्यको सामने रखकर आगे बढ़ते हैं, पर विज्ञान उसके अन्तिम छोर तक नहीं पहुँच पाता, किन्तु दर्शन सत्यके अन्तिम किनारे तक पहुंच जाता है। वस्तुतः दर्शनका कार्य वहींसे आरम्भ होता है, जहाँ विज्ञानका कार्य समाप्त होता है। दृश्य जगत्का जितना अनुभव-जन्य और साधारण विवेचन विज्ञानके क्षेत्रमें आता है, उससे आगे दर्शनका अन्वेषण चलता है। दर्शनकी गवेषणा का अन्त सत्यका अन्त है। जहाँ तक सत्य है, वहाँ तक दर्शन है। और जहाँ तक दर्शन है, वहीं तक सत्य है।

जैन दर्शनके अधिकांश प्रमेय विज्ञान द्वारा सम्मत हैं। उसके तथ्योंकी सिद्धि विज्ञानके आलोकमें सम्पादित की जाती है। जैन दर्शनोंमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिकी जो प्रक्रिया बतायी गयी है, वह नितान्त वैज्ञानिक है। अवग्रह—(Sensation), ईहा (Speculation)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवाय (Perception) और धारणा (Retention) का विवेचन वैज्ञानिक पद्धति पर सम्पन्न हुआ है। निरीक्षणको अवग्रह कहा जा सकता है। इन निरीक्षणोंमें नियमितताएँ देखना और अनुमान करना ईहा है। इन नियमितताओंको संकल्प (Hypothesis) कहा जाता है। इन नियमिताओंकी व्यापकताका ज्ञान इन्हें सिद्धान्त या अवाय वना देता है। जब ये नियमितताएँ सार्वत्रिक होती हैं, तो वे नियम बन जाती हैं। विज्ञानकी प्रक्रियामें स्वयंके समान दूसरोंके प्रयोग और निरीक्षण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। वस्तुतः विज्ञानकी प्रगतिका मूलकारण दूसरेके प्रयोगों, निरीक्षणों और निष्कर्षोंकी प्रामाणिकता ही है, जिसके आधार पर आगेके प्रयोग किये जाते हैं। कभी-कभी नये प्रयोगोंमें पुराने निष्कर्षोंका अविसंवादित्व भी खतरेमें पड़ जाता है। फलतः नये तथ्यपूर्ण परिणामोंके अनुरूप निष्कर्ष स्थिर किये जाते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया पूर्व ज्ञात ज्ञानको समुचित महत्त्व देती हुई ज्ञान दीपकको नित्य नये क्षितिजोंमें पहुँचायी है। जैन दर्शनका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा सम्बन्धीज्ञान विज्ञानके आलोक में यथार्थ घटित होता है।

जैनदर्शनका उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप त्रिलक्षण परिणामवाद द्रव्यभाव संरक्षण नियमके अन्तर्गत आता है। इस त्रिलक्षण परिणामवादके उत्पाद-व्यय परिवर्त्तनशील गुणोंको निरूपित करते हैं और ध्रौव्यत्व वस्तुमें विद्यमान द्रव्यकी अविनाशिताको व्यक्त करता है। मूलद्रव्यका अविनाशित्व ही द्रव्यमान संरक्षणका नियम है। इस नियममें बताया गया है कि निरन्तर परिवर्त्तनोंके होने पर भी मूलद्रव्यके द्रव्यमान ऊर्जाओंमें कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

जैनदर्शनमें दृश्यमान भौतिक जगत्को परमाणुरूप पौद्गलिक माना गया है। परमाणु की प्रकृति पर अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे विचार किया है। परमाणुके स्थानपर अणु शब्दका प्रयोग पाया जाता है और वर्त्तमान अणु शब्दके स्थान पर स्कन्ध शब्द प्रयुक्त हुआ है। परमाणु अविभागी, अविनाशी, अशब्द (elastic), मूर्त्तिक, विविक्त एवं इन्द्रियअग्राह्य होते हैं। लघुतम कण सदा गतिशील होते हैं। इनमें भार एवं कठोरताका गुण नहीं पाया जाता। परमाणु के उक्त लक्षणमें उसकी विविक्तता—खोखलापन, गतिशीलता एवं मूर्त्तिकता वैज्ञानिक तथ्योंसे सिद्ध हो चुकी है। जैनदर्शन द्वारा अभिमत परमाणुमें खोखलापन, गतिशीलता और संकुचन-प्रसारता विज्ञान द्वारा मान्य है। इनकी शीत-उष्णता एवं स्निग्ध-रूक्षता गतिशील प्रकृतिके परिणाम स्वरूप सिद्ध होती है। ये इन्हें वैद्युत-प्रकृति देते हैं, जो उनके विविध संयोगोंका मूल है।

परमाणुओंके विविध प्रकारके संयोगोंसे स्कन्धोंका निर्माण होता है। ये स्कन्ध वर्त्तमान अणुके पर्यायवाची हैं। परमाणुओंके अतिरिक्त बड़े-बड़े स्कन्धोंके वियोजन-भेदसे भी छोटे स्कन्ध बनते हैं और छोटे स्कन्धोंके संयोजन-संपातसे बड़े स्कन्ध बनते हैं। संयोजकता सिद्धान्त के पूर्णतः अनुरूप है। परमाणुओंको प्रकृति वैद्युत होती है और अपनी स्निग्धता और रूक्षता धनात्मकता या ऋणात्मकताके कारण वे परस्परमें संयोग करते हैं।

परमाणुओंका संयोग विषम वैद्युत प्रकृतिके कारण होता है। जघन्य या शून्य वैद्युत प्रकृतिके परमाणुओंमें बना नहीं होता। आधुनिक अक्रिय गैसोंकी अक्रियता जघन्य प्रकृतिके कारण ही मानी जाती है। जब तुल्य या अतुल्य जातीय परमाणुओंकी वैद्युत-प्रकृतिमें दो भागों

५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अन्तर होता है, उनमें बन्ध होता है। यह बन्ध पर्याप्त स्थायी रहता है। इस प्रकार परमाणु और स्कन्ध सम्बन्धी व्यवस्थाएँ वर्तमान विज्ञानके आधार पर सिद्ध होती हैं।

अनेकान्तवाद या स्याद्वाद आइंस्टीनके सापेक्षवादके निकट है। यह सत्य है कि अनेकान्तवादकी प्रतिष्ठा दार्शनिक क्षेत्रमें तत्त्वविवेचनके लिए हुई है, पर यह भौतिक जगत्के मूलरूपकी सही व्यवस्था प्रस्तुत करनेमें सक्षम है। विज्ञान यह मानता है कि निरपेक्ष कुछ भी नहीं है, सभी ज्ञान सापेक्ष हैं। अतः सापेक्षताके लिए कुछ मानक स्थिर किये जाते हैं। यह सापेक्षता सामान्य लोक व्यवहारकी सीमाका अतिक्रमणकर गणितके क्षेत्रमें सूक्ष्मतथ्य विवेचन के साथ अनेक अव्याख्यात तत्त्वोंकी व्याख्या भी प्रस्तुत करती है।

वस्तुतः दृष्टिकोणों या मानकोंकी संख्या इतनी है कि वस्तुका स्वरूप परस्पर विरोधी धर्म समागमके रूपमें लक्षित होता है एवं निरपेक्ष रूपसे उसे निरूपित करना कठिन हो जाता है। इसी कारण स्याद्वादके सात भागोंमें अवक्तताका समावेश किया गया है। इसका आशय यह है कि वस्तुको विभिन्न विवक्षाओंसे निरूपित किया जा सकता है, निरपेक्ष रूपसे वह अवक्तव्य है। उसका यथार्थ स्वरूप वचनोंकी सीमामें नहीं आता, क्योंकि अनन्त धर्मी पदार्थका वर्णन केवल विचारगम्य ही हो सकता है।

यद्यपि अवक्तव्यके सम्बन्धमें जगत्को बहुत कम ज्ञान है, पर इसका महत्त्व भौतिकशास्त्रकी दृष्टिसे बहुत व्यापक है। स्याद्वाद या अनेकान्तवादकी उपयोगिता समन्वयके साथ वैज्ञानिक तथ्योंकी सिद्धिमें भी कम नही है।

आइंस्टीनके सापेक्ष्यवादकी व्याख्या करते हुए इसे दो भागोंमें विभक्त किया है। १. विशेष सापेक्ष्यवाद और २. साधारण सापेक्ष्यवाद। किसी पदार्थकी गतिके ज्ञानके लिए, किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षा आवश्यक होती है। रेलकी गति, पृथ्वीकी अपेक्षासे और ग्रहकी गति दृश्य तथा स्थिर ताराओंकी अपेक्षा से होती है। विज्ञानमें उन पदार्थोंको भुजयुग्मोंका आधार कहा जाता है, जिनकी अपेक्षा गति होती है। गैलीलिओ और न्यूटनके कलशास्त्र भुजयुग्मोंकी सहायतासे ही निष्फल किये जा सकते हैं। सापेक्ष्यवाद 'देश, काल और भावके अनुसार विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा वस्तुके स्वरूपका स्थापन करता है।' यह कुछ अंशोंमें सापेक्ष्यवादसे आगे है। वस्तुके सही रूपकी जानकारी विभिन्न सापेक्ष दृष्टिकोणों द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और कालद्रव्यकी सिद्धि भी वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा घटित होती है। अतएव जैन दर्शनका विज्ञानके साथ सम्बन्ध है। हाँ, आध्यात्मिक सिद्धान्त इस दर्शनके इतने विशिष्ट हैं कि उन तक विज्ञानकी पहुँच नहीं है। अतः विज्ञान जगत्की ही व्याख्या करता है, आध्यात्मिक जगत्की नहीं।

उपसंहार

जैन दर्शनके स्वरूप, वर्ण्य विषय और उसकी विशेषताओंके विवेचनके अनन्तर उसके साथ धर्म एवं विज्ञानके सम्बन्धकी समीक्षा करनेसे अवगत होता है कि जैन धर्मके सिद्धान्त जैन दर्शनको व्यापक और उपादेय बनाते हैं। दार्शनिक अपने सर्वाङ्गपूर्ण चिन्तनके लिए धर्म, नीति, विज्ञान, प्रभृतिके अध्यनन द्वारा दार्शनिक निष्कर्षोंको व्यापक बनाता है। धर्म मनुष्यकी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूर्णताकी इच्छाको पूर्ण करता है और विज्ञान सत्यके विभिन्न अंगोंकी व्याख्या प्रस्तुत करता है। दर्शन दोनोंके आधारभूत सिद्धान्तों, निष्कर्षों एवं पद्धतियोंकी परीक्षा करता है और सम्पूर्ण विश्वके सन्दर्भमें उनकी सार्थकता निश्चित करता है। यदि धर्म और विज्ञानके बीच कभी संघर्ष उत्पन्न हुआ तो दर्शन उनके बीच समझौता करता हैं।

धर्म जहाँ आध्यात्मिक अनुभूतिको महत्त्व देकर बुद्धिको सत्यदर्शनके योग्य प्रमाणित करता है, वहाँ विज्ञान बौद्धिक ज्ञानको सर्वोपरि बतला आध्यात्मिक अनुभूतिको निरा भ्रम मानता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म और विज्ञान दोनों परस्पर में विरोधी हैं, पर दर्शन इस स्थितिको सुलझाता है, निष्पक्ष आलोचककी तरह दोनोंके तर्कोंकी परीक्षाकर बतलाता है कि यह विरोध दृष्टिभेदजन्य है, यथार्थ नहीं। उदार और व्यापक दृष्टिकोण अनेकान्तवादी होता है, इसको अपेक्षासे आध्यात्मिक अनुभूति बुद्धि तर्कके विपरीत नहीं है, अपितु इसके लिए तर्ककी आवश्यकता है। तर्क द्वारा निर्णीत पदार्थ वास्तविक सिद्ध होते हैं। धर्म दर्शन और विज्ञानका समन्वय अनेकान्तवादके द्वारा ही किया जा सकता हैं।

●

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसा और पाँच जैनाचार्य

जैनाचार्योंने अहिंसा धर्मका जितना विस्तृत विवेचन किया है, संभवतः अन्यत्र नहीं मिलेगा। श्रावकधर्म और मुनिधर्मका विवेचन करते हुए पूर्ण अहिंसा एवं आंशिक अहिंसाके विश्लेषणके साथ, अहिंसाकी मर्यादा. क्षेत्र प्रभृति बातोंका बड़ी सूक्ष्मताके साथ निरूपण किया गया है। प्रस्तुत निबन्धमें स्वामी समन्तभद्र, अमितगति, अमृतचन्द्र, आशाधर और शुभचन्द्राचार्यके अहिंसा विषयक वचनोंका संकलन किया जायगा। पाठक देखेंगे कि श्रावक धर्मके निरूपण में इस विषयका साहित्य किस प्रकार उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। जहाँ चरित्र पाहुड, भाव संग्रह आदि ग्रन्थोंमें अहिंसाकी व्याख्या एवं श्रावक और मुनिकी पदमर्यादाके अनुसार अहिंसा की सीमारेखा निर्धारित की गयी है, वहाँ उत्तरवर्ती आचार्योंने इस धर्मकी विस्तृत समीक्षाएँ भी की हैं। तत्त्वार्थ सूत्रके टीकाकार पूज्यपाद[1], अकलंकदेव[2], विद्यानन्दी[3] प्रभृति[4], ने भी अहिंसाका विवेचन जी खोलकर किया है। इसी प्रकार भगवती आराधना, मूलाचार[5] आदिमें भी अहिंसाका सविस्तार निरूपण किया गया है।

---

१. प्रसादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः प्रमत्तस्य योगः प्रमत्तयोगः तस्मात् स प्राणिनो दुःखहेतुत्वादधर्महेतुः। प्रमत्तयोगादिति विशेषणं केवलं प्राणव्यपरोपणं नाधर्मायेति ज्ञापनार्थम्। उक्तं च—वियोजयति चासुभिर्न च बधेन संयुज्यते इति। उक्तं च उच्चालिदंमि पादे इरियासमिदस्स णिग्गणट्ठाणं। आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ।। णहि तस्स तण्णिमित्तो बन्धो सुहमोवि देसिदो समये। मुच्छापरिग्गहोत्ति य अज्झप्पपमाणदो भणिदो ।। ननु च प्राणव्यपरोयणभावेऽपि प्रमत्तयोगमात्रादेव हिंसेष्यते। उक्तं च—मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा। पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ।। इति, नैष दोषः। अत्रापि प्राणव्यपरोपणामस्ति भावलक्षणम् तथा चोक्तम्—स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ।।—सर्वार्थसिद्धिः पृः २३०-२३१

२. अनवगृहीतप्रचारविशेषः प्रमत्तः, अभ्यन्तरीकृतेवार्थो वा. पंचदशप्रमादपरिणतो वा……।
—तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० २७५

३. हिंसा हि द्वेधा भावतो द्रव्यतश्च। तत्र भावतो हिंसा प्रमत्तयोगः सन् केवलस्तत्र भावप्राणव्यपरोपणस्यावश्यंभावित्वात्। ततः प्रमत्तस्यात्मनः स्वात्मघातित्वात् रागाद्युत्पत्तेरेव हिंसात्वेन समये प्रतिवर्णनात्। द्रव्यहिंसा तु परद्रव्यप्राणव्यपरोपणं स्वात्मनो वा वा तद्विधायिनः प्रायश्चित्तोपदेशो भावप्राणव्यपरोपणाभावात् तदसंभवात् प्रमत्तयोगः स्यात् तद्धि पूर्वकस्य यतेरप्यवश्यंभावात्।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४६२

४. जह तेण पियं दुक्खं, तहेव तेसिं पि जाण जीवाणं।
एवं णच्चा अप्पो वमिओ जीवेसु होहि सदा ।।
सव्वेसिमासमाणं हिदयं गम्भो ह सव्व सत्थाणं।
सव्वेंसि वदगुणाणं, पिण्डो सारो अहिंसा ।।—भगवती आराधना गा० ७८०, ७९३

५. एइंदियादिपाणा पंचविधावज्जभीरुणा सम्मं।
ते खलु ण हिंसिदव्वा मणवचिकायेण सव्वत्थ ।।—मूलाचार, पंचाचार अ० गा० २८९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वामी समन्तभद्र

विक्रम संवत्की ३-४थीं शतीमें स्वामी समन्तभद्रने विपुल परिमाणमें जैन साहित्यका प्रणयन किया हैं। आपने गृहस्थाचारपर रत्नकरण्ड श्रावकाचार नामक ग्रन्थ लिखा है, इसमें गृहस्थाचारका विस्तृत वर्णन है। गृहस्थ वही हो सकता है, जो आठ मूल गुणोंका पालन करे। मूलगुणोंको धारण किये बिना कोई भी व्यक्ति श्रावकपद नहीं पा सकता है। स्वामी समन्तभद्रने पंचाणुव्रतोंको मूलगुणोंमें स्थान देकर आरम्भिक श्रावकको ही आंशिक अहिंसाको सम्यक्तया पालन करनेके लिए बाध्य कर दिया है। जिस प्रकार मजबूत जड़के बिना वृक्षकी स्थिति संभव नहीं अथवा गहरी मजबूत नींवके बिना दीवालकी दृढ़ता संभव नहीं; उसी प्रकार अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाण्यणुव्रतके पालनके साथ मद्य, मांस और मधुका त्याग[1] किये बिना गृहस्थकी स्थिति संभव नहीं। अहिंसक और सात्विक होनेपर ही व्यक्ति यथार्थमें गृहस्थ होता है। जो दयालु है, समस्त जीवोंके प्रति जिनके हृदयमें अपनत्वकी भावना जाग्रत् हो गयी है, ऐसा व्यक्ति ही धर्मके उपदेशको सुननेका अधिकारी है। अहिंसा धर्मका पालन करनेवाला श्रावक अपनी इच्छा और वासनाओंको भी संयमित बनाता है तथा इस धर्मके पालनेके लिए झूठ, चोरी, कुशील और अधिक संचयकी वृत्तिका त्याग करता है। प्राणिमात्रके साथ उसकी सहानुभूति और मित्रता हो जाती है।

स्वको पहचानने तथा आत्मानुभूतिमें दर्शनमोहनीयका उदय अधिक बाधक है। जब आत्मामें सम्यक्त्व—स्व-स्वरूपका विश्वास हो जाता है तो आत्मा धर्मकी ओर प्रवृत्ति करने लगती है। अहिंसापर विश्वास भी तभी होता है जब आत्मामें दर्शनमोहके उपशम, क्षय या क्षमोपशम होनेपर धर्म धारणकी योग्यता उत्पन्न हो जाय। स्वामी समन्तभद्रने इसी कारण सबसे प्रथम श्रावकको सम्यग्दृष्टि बननेपर जोर दिया है। पापके कारण हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और अति संचय या अमर्यादित संचयका त्याग करना चारित्र बताया है।

अहिंसाणुव्रत

संकल्पात्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्य चरसत्वान्।
न हिनस्ति यत्तदाहुः स्थूलवधाद्विरमणं निपुणाः ।।—रत्न० श्लोक० ५३

अर्थ—मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे संकल्प कर त्रसहिंसा—द्वीन्द्रियादि जीवोंकी हिंसाका त्याग करना अहिंसाणुव्रत है।

इस व्रतका समुचित पालन करनेके लिए पाँच अतिचारोंका भी त्याग करना आवश्यक है।

अतिचार

छेदनबन्धनपीडनमतिभारारोपणं व्यतीचाराः।
आहारवारणापि च स्थूलवधाद्व्युपरतेः पंच ।।—रत्न श्लो० ५४

अर्थ—छेदन—पशुओं या मनुष्योंके नाक, कान, आदि अंगोंका काटना; बन्धन—पशुओंको रस्सी आदिसे बाँधना, पीडन—किसीको भी कोड़ा, लाठी आदिसे पीटना, अति-

१. मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपञ्चकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः ।।—रत्न० श्लो० ६६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारारोपण—शक्तिसे अधिक बोझ लादना; और आहारवारण—आहार-पानीका रोकना अथवा समयपर आहार-पानीका न देना; ये पाँच अहिंसाणुव्रतके अतीचार हैं।

अमितगति

विक्रमकी ११वीं शतीमें आचार्य अमितगतिने अनेक ग्रन्थोंका निर्माण किया है। इनमें श्रावकाचार प्रसिद्ध ग्रन्थ है; इसमें आचार्यने अहिंसा धर्मका वर्णन बड़े सुन्दर ढंगसे किया है। अहिंसाकी परिभाषा, गृहस्थके लिए अहिंसाकी मर्यादा, हिंसाके कारण, देव-मंत्र-औषध आदिके लिए हिंसाका निषेध एवं अहिंसाकी महत्ताका सविस्तार निरूपण किया है।

अहिंसाणुव्रतकी परिभाषा

स्थूल हिंसाके त्यागको अहिंसाणुव्रत बतलाता है। विश्वमें दो प्रकारके प्राणी हैं—त्रस और स्थावर। जो गृहस्थ जीवोंकी हिंसाका पूर्णतया त्याग कर देता है तथा मद्य, मांस, मधु और अभक्ष्यका त्यागी होता है, वहीं अहिंसाणुव्रतका पालन करता है। अहिंसाणुव्रतके पालन करनेवालाका संयतासंयत रूप होता है, अतः उसे इन्द्रियोंके विषयोंसे भी विरक्ति रखनी होती है। संसार, शरीर और भोग इन तीनोंसे भी विरक्त होना आवश्यक है।

द्वेधा जीवा जैनैर्मतास्त्रसस्थावरप्रभेदेन।
तत्र त्रसरक्षायां तदुच्यतेऽणुव्रतं प्रथमम्॥
स्थावरघाती जीवस्त्रससंरक्षी विशुद्धपरिणामः।
योऽक्षविषयान्निवृत्तः सः संयतासंयतो ज्ञेयः॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० ४-५

अर्थ—जीव दो प्रकारके हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीवोंकी रक्षा करना अहिंसाणुव्रत है। यद्यपि शक्त्यनुसार जीवोंकी हिंसाका भी अणुव्रती त्यागी होता है; परन्तु पूर्णरूपसे स्थावर जीवोंकी रक्षा करनेमें गृहस्थ असमर्थ रहता है। अतएव त्रस हिंसाका पूर्ण त्यागी, विशुद्ध परिणामोंका धारी, इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त श्रावक देशव्रती कहलाता है।

हिंसा की परिभाषा

प्राणी प्रमादकलितः प्राणव्यपरोपणं यदा धत्ते।
सा हिंसाऽकथि दक्षैर्भववृक्षनिषेकजलधारा॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० २४

अर्थ—प्रमादसे युक्त होकर अन्य जीवोंके प्राणोंका घात करना हिंसा है। हिंसा करनेसे संसाररूपी वृक्ष की मर्यादा बढ़ती है—हिंसा संसाररूपी वृक्षका सिंचन करनेके लिए जलकी धाराके समान है।

हिंसाके कारण और भेद

संरंभसमारंभैर्योगकृतकारितानुमतैः।
सकषायैरभ्यस्तैस्तरसा संपद्यते हिंसा॥
त्रित्रित्रिचतुःसंख्यैः संरंभाद्यैः परस्परं गुणितैः।
अष्टोत्तरशतभेदा हिंसा संपद्यते नियतम्॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० १२-१३

अर्थ—संरम्भ—कषाय युक्त होकर हिंसा करनेका विचार करना; समारम्भ—हिंसा की साधन सामग्री जुटाना; आरम्भ—हिंसा करनेका उपक्रम; कृत—स्वयं हिंसा करना; कारित-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरेसे हिंसा कराना; अनुमोदन—कोई करता हो तो उसकी प्रशंसा करना; मन—मन में हिंसाकी भावना लाना; वचन—हिंसक वचन बोलना; काय हिंसाकी क्रिया करना तथा क्रोध, मान, माया और लोभ कषायके आवेशसे हिंसा करना; इस प्रकार एक सौ आठ कारणोंसे हिंसा होती है—हिंसाके १०८ भेद हैं। प्रत्येक कार्यके संरंभ, समारंभ, आरंभके भेदसे ये ३ तीन भेद हुए; पश्चात् मन, वचन, काय इन तीन योगोंसे युक्त किया तो ३ × ३=नौ भेद हुए। इन नौ के साथ कृत कारित और अनुमोदनका संयोग किया तो ९ × ३ = २७ भेद हुए। इनके साथ क्रोध, मान, माया और लोभ कषायका योग किया तो १७ × ३ = १०८ भेद हुए।

हिंसा-अहिंसा की व्यवस्था

म्रियतां मा मृतजीवः प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा।
प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति ॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लोक २५

अर्थ—हिंसा और अहिंसाकी व्यवस्था प्राणोंके घात या प्राणोंकी रक्षाके ऊपर अवलम्बित नहीं है। किन्तु जहाँ कषाय-रागादि युक्त हिंसक परिणाम होते हैं, वहां अवश्य हिंसा होती है। संयम रूप प्रवृत्ति रखने पर—बचावकी भावना रखने पर सावधान व्यक्तिको प्राणी का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती। उदाहरणके लिए यों कह सकते हैं कि एक व्यक्ति सावधानी पूर्वक देख-देखकर चल रहा हैं। उसके पैर उठाने पर कोई क्षुद्र जन्तु अकस्मात् कुचल जानेसे मर जाता है, तो उस व्यक्तिको हिंसाका पाप नहीं लगता। इसी प्रकार एक व्यक्ति असावधानीसे मार्ग चलता है, जीवरक्षाका उसको ध्यान नहीं है, ऐसी अवस्थामें किसी प्राणीका घात हो या न हो; पर उसे हिंसाका पाप लगेगा। अतः—यत्नाचार—सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना अहिंसा है और अयत्नाचार—असावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करनेका नाम हिंसा है।

मन्त्रौषधादिके लिए भी हिंसाका त्याग

देवातिथिमंत्रौषधिपित्रादिनिमितोऽपि संपन्ना।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥—अमि० श्रा० अ० ६ श्लो० २९
आत्मवधो जीववधस्तस्य च रक्षात्मनो भवति रक्षा।
आत्मा न हि हन्तव्यस्तस्य वधस्तेन मोक्तव्यः ॥—अ० ६ श्लो० ३०

किसी-किसीका मत है कि धर्म मंत्रौषधादिके निमित्तसे हुई हिंसा पापका कारण नहीं हैं, किन्तु पुण्यका कारण है। आचार्य इसी प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हिंसा त्रिकाल और त्रिलोकमें कभी भी पुण्योत्पादक नहीं हो सकती है। देवी-देवताओंके नामपर हिंसा करना, अतिथि सत्कारके लिए हिंसा करना, मन्त्र सिद्धिके लिए हिंसा करना, औषध निर्माणमें हिंसा का प्रयोग करना तथा पितरोंको सन्तुष्ट करनेके लिए हिंसा करनेसे नरक गतिकी प्राप्ति होती है। क्योंकि जीव हिंसा करना आत्मबध और जीवरक्षा करना आत्मरक्षा है, अतएव सभी प्रकारकी हिंसाका सदा त्याग करना चाहिए।

अहिंसाकी महिमा

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यंति।
चन्द्रेण विना नक्षैर्हन्यन्ते तिमिरजालानि ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तिष्ठन्ति व्रतनियमा नाहिंसामन्तरेण सुखजनकाः ।
पृथिवीं न विना दृष्टास्तिष्ठन्तः पर्वताः क्वापि ।।
निघ्नानेनाहिंसामात्मधारां निपात्यते नरके ।
स्वाधारां न हि शाखां छिदानः किं पतति भूमौ ।।अमि० श्रा० अ०६ श्लो० १४,१६

अर्थ—जीव दयाके बिना व्रत-उपवास भी कर्मोंकी निर्जराका साधन नहीं होते हैं—अहिंसा पूर्वक ही व्रतोंके पालन करनेका फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार चन्द्रमाके बिना नक्षत्र समूह अन्धकारका विध्वंस नहीं कर सकता है, उसी प्रकार अहिंसाके अभावमें केवल व्रत-उपवास कर्मोंकी निर्जरा नहीं कर सकते हैं। सुखोत्पादक व्रत और नियम अहिंसाके बिना कभी भी संभव नहीं हैं, जिस प्रकार पृथ्वीके विना पर्वतादिकी स्थिति संभव नहीं; उसी प्रकार अहिंसाकी पृष्ठभूमिके विना कोई भी शुभ कृत्य नहीं हो सकता है।

आत्माका आधारभूत धर्म अहिंसा ही है, इसके अभावमें जीव नरक जाता है। जिस प्रकार जिस वृक्षकी शाखा पर बैठा हो, उसीको काटनेवाला व्यक्ति पृथ्वी पर गिरता है उसी प्रकार समस्त धर्म और क्रियाओंका आधारस्तम्भ अहिंसा हैं, इसके बिना धारण किये प्राणी भी नरक जाता है।

हिंसक जीवकी हिंसा करना भी अविधेय है

केचिद्वदन्ति मूढा हन्तव्या जीवघातिनो जीवाः ।
परजीवरक्षणार्थं धर्मार्थं पापनाशार्थम् ।।
युक्तं तन्नैवं सति हिंस्रत्वात्प्राणिनामशेषाणाम् ।
हिंसायाः कः शक्तो निषेधने जायमानायाः ।।—अ० ६ श्लोक ३३-३४

अर्थ—पर प्राणियोंकी रक्षाके लिए, पाप नाश करनेके लिए एवं धर्मकी रक्षाके लिए हिंसक सिंहादिका घात करना विधेय हैं; क्योंकि हिंसक प्राणी जब तक जीवित रहेंगे तब तक हिंसा करते रहेंगे। अतः हिंसाकी परम्पराको नष्ट करनेके लिए दुष्ट पापी प्राणियोंका घात करना अच्छा है। यह शंका या प्रश्न ठीक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सिंहादि अन्य प्राणियों का बध करनेके कारण बध्य हैं, उसी प्रकार सिंहादिकी हिंसा करने वाला भी बध्य है, पुनः इसी प्रकार उसकी हिंसा करनेवाला भी बध्य हो जायगा। अतः यह परम्परा अनन्त कालतक चली जायगी, कहीं भी शान्त नहीं होगी। अतएव हिंसक जीव भी अबध्य है, अहिंसक मानव किसीकी हिंसा नहीं करता है। सबके साथ प्रेम और बन्धुत्वका व्यवहार रखता है। अहिंसक प्राणीकी आत्मशक्तिके प्रभावसे हिंसक प्राणियोंकी क्रूरता नष्ट हो जाती है; उनकी आत्मा भी अहिंसक बन जाती है। अतः अहिंसाके द्वारा ही हिंसकको अहिंसक बनाया जा सकता है। हिंसाके द्वारा हिंसकका अन्त नहीं किया जा सकता।

पापीकी हिंसा भी अविधेय है

पापनिमित्तं हि वधः पापस्य विनाशने न भवति शक्तः ।
छेदनिमित्तं परशुः शक्नोति लतां न वर्द्धयितुम् ।।
हिंस्राणां यदि घाते धर्मः संभवति विपुलफलदायी ।
सुखविघ्नस्तर्हि गतः परजीवविघातिनां घाते ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्माद्गच्छन्ति गतिं निहता गुरुदुःखसंकटां हिस्रा ।
तस्माद्दुःखं ददतः पापं न भवति कथं घोरम् ।।—अ० ६ श्लोक ३६-३८

अर्थ—पापके लिए की गयी हिंसा पापका मोचन नहीं करा सकती है । लताको काटने के लिए प्रयुक्त कुल्हाड़ी लताका संवर्द्धन नहीं कर सकती । यदि हिंसक जीवोंकी हिंसाको महान् फलदायक समझते हैं तो यह भारी भूल है; क्योंकि हिंसा स्व-पर सुखका विघातक होने के कारण कभी भी सुखदायक नहीं हो सकती है । अतएव हिंसक सदा नरकादि गतियोंको प्राप्त करता है । पापी और हत्यारेका सुधार दण्ड या हिंसासे नहीं हो सकता है । उसका सुधार भी सहानुभूति और सहृदयतासे ही हो सकता है । आत्माका स्वभाव अहिंसामय है, इसीके प्रयोग द्वारा पापी, दुराचारी और लंपटका सुधार या उत्थान किया जा सकता है । अहिंसामें इतनी बड़ी शक्ति है कि उसके द्वारा संसारसे पाप, दुराचारको दूर भगाया जा सकता है । अतः संसारमें हिंसाके द्वारा पापीका सुधार सम्भव नहीं है ।

सुखी और दुःखी जीवको मारना भी वर्ज्य है

दुःखवतां भवति वधे धर्मो नेदमपि युज्यते वक्तुम् ।
मरणे नरके दुःखं घोरतरं वार्यते केन ।।
सुखितानामपि घाते पापप्रतिषेधने परो धर्मः ।
जीवस्य जायमाने निषेधितुं शक्यते केन ।।—अ० ६ श्लोक ३९-४०
मनसा वचसा वपुषा हिंसां विदधाति यो जनो मूढः ।
जन्मवनेऽसौ दीर्घे दीर्घं चंचूर्यते दुःखी ।।—अ० ६ श्लोक ४४

अर्थ—इसका दुःख जल्द दूर हो जाय, इसीलिए दुखीको मारनेमें पुण्य है, पाप नहीं । यह भी गलत है; क्योंकि मारते समय महान् संक्लिष्ट परिणाम मरने और मारनेवाले दोनोंके होते हैं, जिससे नरकमें जन्म लेना पड़ता है । इसी प्रकार सुखी जीवोंको इस ध्येयसे मारना कि ये अवशेष सुखका भोग अगले जन्ममें करेंगे; क्योंकि मरने और मारनेवाले दोनों के संक्लेश परिणाम होने से दोनोंको कुगतिकी प्राप्ति होती हैं । जो मन, वचन और कायसे हिंसा करता है, वह बहुत काल तक संसारमें जन्म-मरणके कष्ट उठाता रहता है ।

अहिंसाणुव्रतके अतिचार

भारातिमात्रव्यपरोपघातछेदान्नपानप्रतिषेधवंधा ।
अणुव्रतस्य प्रथमस्य दक्षैः पंचापराधाः प्रतिषेधनीयाः ।।—अ० ७ श्लो० ३

अर्थ—अति भारारोप—अधिक बोझा लादना, उपघात—लाठी, कोड़ा आदिसे मारना, छेद—नाक-कान आदि का छेदना, अन्नपाननिरोध—अन्न जलका रोकना, और बन्ध–बांधना ये पाँच अतिचार हैं ।

अमृतचन्द्राचार्य

अहिंसाका जितना व्यापक और व्यावहारिक विवेचन १२वीं शतीमें आचार्य अमृतचन्द्र सूरिने किया है, उतना पूर्व या परवर्ती किसी भी आचार्य ने नहीं । गृहस्थको किस प्रकारके अहिंसा धर्मका पालन करना चाहिए, उसकी अहिंसा-मर्यादा कहाँ तक रहनी चाहिए, आदि बातें इनके ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से जानी जा सकती हैं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसाका लक्षण

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥—पु० सि० श्लो० ४२

अर्थ—कषायरूप परिणत हुए मन, वचन और कायसे द्रव्य और भाव प्राणोंका घात करना हिंसा है। अभिप्राय यह है कि कषायवश होकर अपने या परके भाव प्राण और द्रव्य प्राणका घात करना हिंसा है।

प्राणघातका नाम हिंसा नहीं है, अपितु रागादिका नाम हिंसा है

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥—४४

अर्थ—राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, शोक, जुगुप्सा और प्रमादादि विभावों को उत्पन्न न होने देना अहिंसा है और इन विभावोंकी उत्पत्ति होना हिंसा है।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यवरोपणादेव ॥ ४५ ॥

सावधानी पूर्वक आचरण करने वाले सन्त पुरुषके रागादि भावोंके बिना केवल प्राण-पीड़नसे हिंसा नहीं होती है।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम् ।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा ॥ ४६ ॥

अर्थ—जो प्रमादी जीव कषायोंके वशीभूत होकर गमनादि क्रिया यत्नपूर्वक नहीं करता है, उसके 'जीव मरे या न मरे' हिंसा अवश्य होती है। क्योंकि असावधानी और कषाययुक्त भावनाका नाम हिंसा हैं।

यस्मात्सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम् ।
पश्चाज्जायते न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥ ४७ ॥

अर्थ—जीव कषाय भाव सहित होनेसे अपने द्वारा आपको घातता है, फिर पीछेसे अन्य जीवोंकी हिंसा हो अथवा न हो। तात्पर्य यह है कि हिंसाका अर्थ घात करना है, यह घात दो प्रकार का है एक आत्मघात दूसरा परघात। जिस समय आत्मामें कषाय भावोंकी उत्पत्ति होती है, उस समय आत्मघात हो जाता है, पीछे यदि अन्य जीवोंकी आयु पूरी हो गयी अथवा पापका उदय आया हो तो उनका भी घात हो जाता। आयुके रहते हुए कदाचित् प्राणीकी हिंसा नहीं भी हो सकती है, परन्तु कषाय भाव होनेके कारण अपनी आत्माका घात अवश्य हो जायगा।

हिंसाके त्याग की प्रतिज्ञा बिना घात नहीं करने पर भी हिंसा

हिंसाया अविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा ।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥ ४८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हिंसा दो प्रकार की होती है—अविरमणरूप और परिणमन रूप। पर घातमें प्रवृत्त न होने पर भी हिंसा त्यागकी प्रतिज्ञाके बिना होनेवाली हिंसा अविरमणरूप हिंसा कहलाती है। क्योंकि अहिंसाकी प्रतिज्ञाके विना अन्तरंगमें हिंसाका सद्भाव रहता है, अतः प्रतिज्ञाके अभावमें हिंसा नहीं करने पर हिंसा होती है। परघातमें मन, वचन, कायसे प्रवृत्त होने पर परिणमन रूप हिंसा होती है। इसमें भी प्रमाद रहता है अतएव प्रमादको दूर करनेके लिए पर जीवोंकी हिंसाके त्यागकी दृढ़ प्रतिज्ञा होनी चाहिये।

हिंसाका कारण परिग्रह

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥ ४९ ॥

अर्थ—निश्चय कर आत्मापर वस्तुका कारण नहीं है, अतः सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती है। फिर भी परिणामोंकी निर्मलताके लिए हिंसाके कारण परिग्रहका त्याग करना उचित है। तात्पर्य यह है कि रागादि कषाय भावोंका होना हिंसा है, पर वस्तुका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु रागादि परिणाम परिग्रहके निमित्तसे होते हैं, अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परिग्रहका त्याग करना आवश्यक है।

कोई व्यक्ति ऐसा कहे कि मेरे अन्तरंग परिणाम शुद्ध हैं, इशलिए बाह्य आरम्भ—हिंसा करते हुए तथा परिग्रह रखते हुए भी मुझे कोई पाप नहीं लगता, यह ठीक नहीं हैं। परिग्रह आदिके कारण परिणाम कदापि शुद्ध नहीं रह सकते, क्योंकि उसके ये सब कार्य बुद्धि-पूर्वक पुरुषार्थ करनेसे ही होते हैं। इसी भावको आचार्यने बतलाया है—

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥ ५० ॥

अर्थ—जो जीव यथार्थ निश्चयके स्वरूपको न जानकर उसको ही निश्चय श्रद्धानसे अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रियामें आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरणको नष्ट करता है।

हिंसाफलकी व्यवस्था

अविधायापि हिंसा हिंसाफलभुग् भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—जिसके परिणाम हिंसा रूप हो गये हैं, ऐसा जीव हिंसा न करके भी हिंसाका फल भोगनेका पात्र होता है। परिणामोंमें हिंसा न आनेपर हिंसा करके भी हिंसाका फल भोगनेका पात्र नहीं होता।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक व्यक्ति थोड़ी हिंसा करके अधिक हिंसक परिणामोंके कारण उदयकालमें अधिक फल प्राप्त करता है और दूसरा व्यक्ति बड़ी हिंसा करके भी परिणामोंकी निर्मलताके कारण उदयकालमें स्वल्प फलको पाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कषायोंकी तीव्रता और मन्दताके कारण फलव्यवस्था

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य ।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥ ५३ ॥

दो आदमी मिलकर हिंसा करें तो जिसके परिणाम तीव्र कषाय रूप हुए हैं, उसे उदयकालमें अधिक फल और जिसके परिणाम मन्दकषाय रूप हैं, उसे अल्पफल भोगना पड़ता है ।

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति च कृतापि ।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥ ५४ ॥

किसीको हिंसा करनेके पहले ही, किसीको करते समय, किसीको हिंसा कर चुकने पर, किसीको हिंसा आरम्भ करनेपर और किसीको हिंसा न करनेपर अपने कषायभावोंकी तीव्रता मन्दताके कारण फल प्राप्त होता है ।

एक हिंसा करता है फल अनेक पाते हैं और अनेक हिंसा करते हैं फल एक पाता है

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः ।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग् भवत्येकः ॥ ५५ ॥

एक व्यक्ति हिंसा करता है, पर फल भोगनेवाले अनेक होते हैं, इसी प्रकार हिंसा बहुतसे व्यक्ति करते हैं, पर फल एक व्यक्तिको मिलता है । तात्पर्य यह है कि जीवको मारते देखकर जो अच्छा कहते हैं और प्रसन्न होते हैं, वे सभी हिंसाके फल भागी हैं, इसीसे एक करता है और अनेक फल भोगते हैं । इसी प्रकार संग्राममें हिंसा तो अनेक करते हैं, परन्तु उनको आज्ञा देनेवाला सेनापति या अन्य स्वामी उसके फलका भागी होता है ।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले ।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसा फलं विपुलमा ॥५६॥

किसी पुरुषको तो हिंसा उदयकालमें एक ही हिंसाफलको देती है और किसीको वही हिंसा बहुतसे अहिंसाके फलको देती है ।

हिंसा द्वारा अहिंसा फल और अहिंसा द्वारा हिंसा फल

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे ।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥ ५७ ॥

किसीको अहिंसा उदयकालमें हिंसाके फलको देती है तथा अन्य व्यक्तिको हिंसा अहिंसाके फलको देती है, अन्य फलको नहीं । अभिप्राय यह है कि कोई व्यक्ति किसी जीवके बुरा करनेका यत्न कर रहा हो, परन्तु उस जीवके पुण्योदयसे कदाचित् बुरेकी जगहपर भला हो जाय, तो भी बुराईका यत्न करनेवाला बुरा फल प्राप्त करेगा । इसी प्रकार कोई डाक्टर किसी रोगीका आपरेशन करे, कदाचित् रोगीकी मृत्यु हो जावे तो भी डाक्टरकी भावना निर्मल है । अतः उसे अहिंसाका फल प्राप्त होगा ।

अनेक नयोंसे हिंसाका स्वरूप समझ कर त्यागना

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाफलानि तत्त्वेन ।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥ ६० ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संवरमें तत्पर पुरुषको हिंसा—जिनकी हिंसा की जावे, ऐसे अपने या पर जीवके द्रव्य प्राण और भाव प्राण अथवा एकेन्द्रियादि जीव; हिंसक हिंसा करनेवाला जीव; हिंसा प्राणपीडन या प्राणघात की क्रिया और हिंसाफल—हिंसासे प्राप्त होनेवाले नरक निगोदादि फलोंको विचार कर अपने शक्त्यनुसार हिंसाका त्याग करना चाहिए।

असत्यादि हिंसा रूप होनेसे त्याज्य हैं

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥ ४२ ॥

आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घातक होनेसे असत्य, चोरी आदि हिंसा रूप हैं ? शिष्योंको समझानेके लिए इनका विशेष वर्णन किया गया है।

हिंसाकी पर्यायें

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः ॥ ६४ ॥

अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, रति, अरति, शोक, काम, क्रोध आदि हिंसाके पर्याय या भेद हैं। और ये सभी भाव व्यसनसे उत्पन्न होते हैं :

मद्य, मांस, मधु, नवनीत और पंचोदम्बर फलभक्षणमें त्रसजीवोंकी हिंसा होती है, अतएव इनके सेवनका त्याग करना परमावश्यक है। सूखे उदम्बर फल खानेमें दोष नहीं मानना चाहिए, आचार्य इसीका उत्तर देते हैं—

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥ ७३ ॥

सुखाकर पांच उदम्बर फलोंके भक्षण करनेसे रागकी अधिकता रहनेके कारण हिंसा होती है। तात्पर्य यह है कि अहिंसक व्यक्तियोंको अपना रहन-सहन और खान-पान भी अहिंसक ही रखना चाहिए।

गृहस्थके लिए त्याज्य हिंसा

धर्ममहिंसारूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥ ७५ ॥
स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥ ७७ ॥

जो गृहस्थ स्थावर हिंसाका त्याग करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें त्रस हिंसाका अवश्य त्याग करना चाहिए। स्थावर हिंसामें भी अल्प एकेन्द्रिय घातके अतिरिक्त अवशेष स्थावर जीवोंकी हिंसाका भी त्याग करना योग्य है।

धर्मके नाम पर होनेवाली हिंसाका त्याग

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्या ॥ ७९ ॥

भगवान् द्वारा निरूपित धर्म बहुत सूक्ष्म है, अतएव धर्मके निमित्तसे हिंसा करनेमें कोई दोष नहीं है, यह मान्यता गलत है, क्योंकि हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवताके लिए हिंसा करना भी पाप है

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥ ८० ॥

धर्म देवताओंसे होता है, अतएव इस लोकमें मांसादिकी बलि देना उचित है; यह मानना भी भ्रान्त है, क्योंकि प्राणियोंकी बलि देनेसे महान् पाप होता है। देव हिंसाप्रिय नहीं होते। हिंसासे कभी भी पुण्य या धर्म नहीं हो सकता है।

अतिथिके लिए हिंसा करना अनुचित है

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति संप्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥ ८१ ॥

पूज्य पुरुषोंके लिए बकरा आदि जीवोंका घात भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि शिष्ट पुरुष जीव हिंसाको सदा पाप समझते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि शाक तथा अन्नके भक्षण करनेकी अपेक्षा एक जीवका मांस भक्षण करनेमें अल्प पाप है, क्योंकि जीव-जीव समान हैं। अतएव अनेक एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा न कर एक त्रसजीवका घात करना ज्यादा अच्छा है। आचार्य इसी शंकाका समाधान करते हैं।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम् ।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्त हिंसनं जातु ॥ ८२ ॥

बहु प्राणियोंके घातसे उत्पन्न हुए भोजनसे एक जीवके घातसे उत्पन्न हुआ भोजन अच्छा है, यह मानना मिथ्या है। अतः विचारशील व्यक्तियोंको हिंसा नहीं करनी चाहिए। कारण स्पष्ट है कि अन्तरंग ज्ञान प्राण और बाह्य शारीरिक प्राणोंके घातकी अपेक्षा एकेन्द्रिय की हिंसासे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय आदि की हिंसामें असंख्यात गुणा पाप और निर्दयता है।

दुष्ट जीवको मारने में हिंसा

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन ।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥ ८३ ॥

सर्प, विच्छू, सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक जीवोंकी भी इस अभिप्रायसे हिंसा नहीं करनी चाहिए कि इन दुष्ट जीवोंके मर जाने से सहस्रोंकी रक्षा होगी, क्योंकि जो हिंसा करता है, वही उसके पापका भागी होता है। अतः किसी भी प्राणीकी हिंसा करके व्यर्थ पापका अर्जन नहीं करना चाहिए।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरु पापम् ।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥ ८४ ॥

बहु घाती जीव जीते रहेंगे तो अधिक पाप करेंगे, ऐसा सोचकर हिंसक जीवोंकी हिंसा नहीं करना चाहिए।

दुखी जीवको मारना भी पाप है

बहुदुःखासंज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम् ।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥ ८५ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रोग अथवा दारिद्रय आदि पीडित दुःखी जीवोंकी हिंसा भी इस अभिप्राय से नहीं करनी चाहिए, कि घात करने से ये दुःखसे छूट जायेंगे। क्योंकि शरीर त्याग करनेसे कोई भी जीव दुःखसे छुटकारा नहीं पा सकता है। बल्कि संक्लिष्ट परिणामोंसे मृत्यु होने पर अधिक पापका बन्ध होता है तथा मारनेवाले को भी पाप बन्ध होता है।

अगले जन्ममें सुख प्राप्त होगा, इस उद्देश्यसे सुखीको नहीं मारना

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥ ८६॥

सुखकी प्राप्ति कष्टसे होती है, इसलिए मारे हुए सुखी जीव सुखी ही होंगे, इस कुतर्कका आश्रय लेकर सुखियोंका घात नहीं करना चाहिए।

समाधिस्थकी हिंसा करना भी वर्जित है

उपलब्धिसुगतिसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलाषिता॥ ८७॥

सत्य धर्मके अभिलाषी शिष्य द्वारा अधिक अभ्याससे ज्ञान और सुगति प्राप्त करनेमे कारण समाधि प्राप्त करनेवाले गुरुका शिरच्छेदन नहीं करना चाहिए; क्योंकि शिरच्छेदन करनेवाला प्राणपीड़ा जनित हिंसाका भागी होगा।

हिंसा करनेसे कदाचित् सुख प्राप्त हो तो भी हिंसा त्याज्य है

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम्॥ ७८॥

किसी जीवको हिंसा करतें हुए सुख-साता युक्त देखकर और आपको अहिंसा धर्म पालते हुए भी दुःखी जानकर अथवा आपको अहिंसा धर्म साधते देख तथा अन्य मिथ्यादृष्टियोंको हिंसामें धर्म ठहराते हुए व पुष्ट करते हुए देखकर धर्मात्मा पुरुषोंको विचलित न होना चाहिए। अहिंसा ही जीवके लिए समस्त सुखोंको देनेवाली है।

आशाधर

पण्डित प्रवर आशाधरजीने अपने अनगार और सागार धर्मामृतमें मुनि और श्रावक दोनोंकी अपेक्षासे अहिंसा धर्मका विस्तृत विवेचन किया है। आपने भी प्रमादके सम्बन्धसे होनेवाले प्राणघातके त्यागपर जोर दिया हैं।

हिंसाकी परिभाषा और व्यवस्था

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रस-स्थावराङ्गिनाम्।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः॥
रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः॥ अन० धर्मा० अ० ४ श्लो० २२-२३

प्रमत्तयोगसे त्रस और स्थावर जीवोंके यथासंभव द्रव्य और भाव प्राणोंका, जो व्यपरोपण होता है, उसको हिंसा कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि जीव राग-द्वेष-मोह रूप परिणामोंसे युक्त नहीं है तो प्राणघात हो जानेपर भी अहिंसक है। राग-द्वेषसे युक्य होनेपर प्राणघातक न होनेपर भी हिंसक होता है।

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसा रागाद्युत्पत्तिरहिंसा तदनुद्भवः।—अनगार अ० ४ श्लो० २६

जिनागमका यही रहस्य या सार है कि राग-द्वेष, मोह रूप परिणामोंका उत्पन्न होना हिंसा है और इनका उत्पन्न न होने देना अहिंसा है।

अहिंसाणुव्रतकी परिभाषा

शान्ताद्यष्टकषायस्य संकल्पैर्नवभिस्त्रसान्।
अहिंसतो दयार्द्रस्य स्यादहिंसेत्यणुव्रतम्॥—सागार अ० ४ श्लो० ७

अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया और लोभके शान्त—उपशम होनेपर मन, वचन, काय और कृत, कारित अनुमोदनासे जिस दयालुने त्रस जीवकी हिंसाका त्याग कर दिया है, उसके अहिंसाणुव्रत होता है।

हिंसाके चार भेद करके आशाधरजी गृहस्थसे संकल्पी हिंसाका त्याग कराते हैं। संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी, ये चार हिंसाके भेद हैं। बिना अपराधके जानबूझ कर किसीकी हिंसा करना संकल्पी; जीवन निर्वाहके लिए व्यापार, खेतीमें होनेवाली हिंसा उद्योगी; सावधानी रखते हुए भी भोजन बनाने, पानी भरने आदिमें होनेवाली हिंसा आरम्भी और अपनी या दूसरोंकी रक्षाके लिए जो हिंसा करनी पड़ती है, वह विरोधी कहलाती है। आशाधरजीने प्रधानतः आरम्भी और अनारम्भी ये दो हिंसाके भेद किये हैं।

इमं सत्वं हिनस्मीति हिन्धि हिन्ध्येष साध्विमम्।
हिनस्तीति वदन्नाभिसन्दध्यान्मनसा गिरा॥
वर्तेत न जीववधे करादिना दृष्टिमुष्टिसन्धाने।
न च वर्तयेत्परं तत् परे नखच्छोटिकादि न च रचयेत्॥
—सागार अ० ४ श्लोक० ८-९

इस जीवको मैं मारूँगा, इसे तुम मारो, इसने इसे मारा अच्छा किया आदिका मन, वचन और कायसे त्याग करना चाहिये। मन्त्र, रस्सी आदिके द्वारा भी प्राणियोंका बन्धन नहीं करना चाहिये तथा प्राणियोंके नखादिके काटनेकी क्रिया भी नहीं करनी चाहिये।

अहिंसाके लिए आवश्यक व्यवहार

इत्यनारम्भजां जह्याद्धिंसामारम्भजां प्रति।
व्यर्थस्थावरहिंसावद्यतनामावहेद्गृही॥—सागार अ० ४ श्लो० १०

आसन, शय्या, खान-पान आदि सम्बन्धी हिंसाका उचित त्याग करना चाहिये। आरम्भजनित कार्योंमें भी व्यर्थ स्थावर जीवोंकी हिंसा नहीं करनी चाहिये।

सन्तोषपोषतो यः स्यादल्पारम्भपरिग्रहः।
भावशुद्ध्येकसर्गोऽसावहिंसाणुव्रतं भजेत्॥—सागार अ० ४ श्लोक० १४

अहिंसकको सन्तोषपूर्वक अल्प आरम्भ और अल्प परिग्रह रखना चाहिए, क्योंकि अधिक आरम्भ और अधिक परिग्रह हिंसाका कारण है। मनकी शुद्धि रखना तथा सदा आर्त्त और रौद्र ध्यानोंसे अपनी रक्षा करना आवश्यक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहिंसाणुव्रतके स्वीकारकी विधि

हिंस्यहिंसकहिंसातत्फलान्यालोच्य तत्त्वतः ।
हिंसां तथोज्झेन्न यथा प्रतिज्ञामङ्गमाप्नुयात् ॥
प्रमत्तो हिंसको हिंस्या द्रव्यभावस्वभावकाः ।
प्राणास्तद्विच्छिदा हिंसा तत्फलं पापसंचयः ॥–सागार० अ.४ श्लो०२०-२१

हिंसा, हिंसक, हिंस्य और हिंसा फलका पूर्णतः विचार करके अहिंसाणुव्रतको स्वीकार करना चाहिए। प्रमादी होना हिंसक है, द्रव्य-भाव प्राणोंका धारी प्राणी हिंस्य और प्राणोंका घात करना हिंसा है तथा हिंसाका फल पापसंचय करना है।

अहिंसाव्रतकी निर्मलताके लिए विधेय

कषायविकथानिद्राप्रणयाक्षविनिग्रहात् ।
नित्योदयां दयां कुर्यात् पापध्वान्तरविप्रभाम् ॥
अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये ।
नक्तं भुक्तिं चतुर्धाऽपि सदा धीरस्त्रिधा त्यजेत् ॥-सागार० अ.४ श्लो२२,२४

अहिंसाणुव्रतको निर्मल करनेके लिए कषाय, विकथा, निद्रा, स्नेह, रात्रिभोजन एवं मोह-ममताका त्याग करना आवश्यक है।

शुभचन्द्राचार्य

पंचमहाव्रतोंके निरूपणमें आचार्य शुभचन्द्रदेवने अहिंसा धर्मका विस्तृत विवेचन किया है। ज्ञानार्णवमें अहिंसाका स्वरूप और उसकी महत्तापर पूरा प्रकाश डाला गया है।

अहिंसाकी परिभाषा

वाक्चित्ततनुभिर्यत्र न स्वप्नेऽपि प्रवर्त्तते ।
चरस्थिराङ्गिनां घातस्तदाद्यं व्रतमीरितम् ॥—ज्ञानार्णव सर्ग ८ श्लो० ८

मन, वचन और कायसे त्रस और स्थावर जीवोंके घातका सर्वदाके लिए त्याग करना अहिंसाव्रत है।

प्रमादसे हिंसा होती है, प्राणघातसे नहीं

मृते वा जीविते वा स्याज्जन्तुजाते प्रमादिनाम् ।
बन्ध एव न बन्धः स्याद्धिंसायाः संवृतात्मनाम् ॥–ज्ञाना० सर्ग ८ श्लो० ९

जीवोंके मरते या जीते प्रमादी पुरुषोंको निरन्तर ही हिंसाका पापबन्ध होता है और जो संवर सहित अप्रमादी हैं, उनको जीवोंकी हिंसा होते हुए भी हिंसा रूप पापका बन्ध नहीं होता।

हिंसाके भेद

संरम्भादित्रिकं योगैः कषायैर्व्याहतं क्रमात् ।
शतमष्टाधिकं ज्ञेयं हिंसाभेदैस्तु पिण्डितम् ॥–ज्ञा० स० ८ श्लो० १०

संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ इस त्रिकको मन, वचन, कायकी तीन-तीन प्रवृत्तियों से तथा क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायों एवं कृत, कारित, अनुमोदनासे क्रम से गुणा करने पर हिंसाके १०८ भेद होते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन कषायोंसे उत्तरोत्तर गुणा करने पर ४३२ भेद भी हिंसाके होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः प्रमादमुत्सृज्य भावशुद्धयाङ्गिसन्ततिम् ।
यमप्रशमसिद्धयर्थं बन्धुबुद्धया विलोकय ॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० ११

उपर्युक्त संरम्भादि हिंसा परिणामोंके १०८ या ४३२ भेद हैं। अतः प्रत्येक व्यक्तिको प्रमादका त्याग कर भावशुद्धिके लिए समस्त अन्य प्राणियोंको बन्धुवत् देखना चाहिए।

हिंसा सदा दुःखदायक है

सौख्यार्थे दुःखसन्तानं मङ्गलार्थेऽप्यमंगलम् ।
जीवितार्थे ध्रुवं मृत्युं कृता हिंसा प्रयच्छति ॥—ज्ञा० स० श्लो० २२

सुखके लिए की गयी हिंसा दुःख-परिपाटी करती है, मंगलार्थ की हुई हिंसा अमंगल करती है तथा जीवनार्थ की हुई हिंसा मृत्युको प्राप्त कराती है। इस बातको निश्चय समझना चाहिए।

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यहत्य वा क्वचित् ।
कृता सती नरैहिंसा पातयत्यविलम्बितम् ॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० २७

देवताकी पूजाके लिए रचे हुए नैवेद्य तथा मन्त्र और औषधिके निमित्त अथवा अन्य किसी भी कार्यके लिए की हुई जीवोंकी हिंसा जीवोंको नरक ले जाती है।

अहिंसा की महिमा

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥
अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्यात् व्यसनानि निरस्यति ॥—ज्ञा० स० ८ श्लो० ३२-३३

अहिंसा जगत्की माता है; क्योंकि समस्त जीवोंका प्रतिपालन करनेवाली है। अहिंसा ही आनन्दकी सन्तति है, अहिंसा ही उत्तम गति एवं शाश्वती लक्ष्मी है। जगत्में जितने उत्तम गुण हैं, सब अहिंसामें ही निवास करते हैं।

अहिंसा ही मोक्ष, स्वर्ग आदिके वैभवको देती है और अहिंसा ही आत्माका हित करती है तथा समस्त कष्टरूप आपदाओंको नष्ट करती है।

जैनाचार्योंने अहिंसापर पर्याप्त विस्तारपूर्वक लिखा है। उनका मत है कि आत्माकी चैतन्य शक्तिकी अपेक्षा एकेन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त वनस्पति, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, कीड़े-मकोड़े, चींटी, मक्खी, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि सभी जीव समान आत्मशक्तिवाले हैं। अतः सब आपसमें भाई-भाई हैं, ऐसी अवस्थामें किसी भी जीवका वध करना भ्रातृबधके समान महापापबन्धका कारण है। झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना और अधिक संचय करना हिंसा है। अहिंसकके लिये अपने मन, वचन और कायकी समस्त प्रवृत्तियोंको शुद्ध रखना अत्यावश्यक है। राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय-कषाय आदि सभी हिंसाके रूपान्तर हैं। अहिंसकको विचारोंको शुद्ध रखनेके लिए स्याद्वाद सिद्धान्तका आश्रय लेना भी आवश्यक है तथा आहार-विहारको भी पूर्ण शुद्ध बनाये रखना पड़ता है। मद्य, मांस, मधुका त्याग, अभक्ष्य भक्षणका त्याग, रात्रि भोजनका त्याग, बिना छने जलका त्याग, अमर्यादित भोजनका त्याग भी अहिंसकको करना चाहिये। समस्त प्राणियोंके प्रति दयालु होना, समताभाव रखना, ईर्ष्या-घृणादिका त्याग कर विश्वबन्धुत्वकी भावनाको अपनाना प्रत्येक अहिंसकका परम कर्त्तव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमुख दि० जैनाचार्योंका विवरण[1]

यह विवरण हमें पूज्य आचार्यश्री महावीरकीर्त्तिजीके एक गुटकेमें लिखा मिला है। इतिहासके परिज्ञानके लिए आचार्योंकी वंशावली, उनका दीक्षाकाल, उनका समय परिज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण होता है, यह सभी इतिहास विशारद जानते हैं। अभीतक दि० जैनाचार्योंकी पट्टावलियोंका और वंशावलियोंका अन्वेषण ऐतिहासिक दृष्टिसे हुआ ही नहीं है। इस दिशामें प्रयास करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है। हस्तलिखित ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंके दो तीन संग्रह भी दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रकाशित हो चुके हैं तथा इतिहासविज्ञ प्रेमीजी और मुख्तार सा० के कई निबन्ध संग्रहमें प्रकाशित हैं। शिलालेखोंके संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। अतः इस सामग्रीके आधारपर तथा नवीन अन्वेषणोंके आधारपर दिगम्बर जैनाचार्योंका एक प्रामाणिक इतिहास लिखे जानेकी बड़ी भारी आवश्यकता है। साधन सामग्री इस समय वर्तमान है। आजका समय इतिहास लिखनेके लिए बहुत उपयोगी है। सभी प्रकारके संभव साधन सामने प्रस्तुत हैं। अधिकांश हमारा साहित्य मुद्रित अवस्थामें विद्यमान है। अतएव इतिहासविज्ञोंको इस ओर शीघ्र प्रयास करना चाहिए। समाजके धनिक श्रीमानोंको इस आवश्यक और उपयोगी कार्यके लिए मुक्तहस्तसे दान देना चाहिए। दि० जैन साहित्य और उसके निर्माताओंके इतिहासकी अत्यन्त आवश्यकता है। बड़ेसे बड़े दि० आचार्यका प्रामाणिक जीवनवृत्त ऐतिहासिक ढंगसे अभी तक लिखा ही नहीं गया है। अतएव इस ओर समाजका ध्यान शीघ्र ही आकृष्ट होना चाहिए।

प्रस्तुत विवरणमें आचार्योंका संवत्, दीक्षातिथि, जाति, गृहस्थ वर्ष, दीक्षा वर्ष, पट्ट वर्ष, अन्तर दिन और सर्व वर्षायु दी जा रही है। इन विवरणोंमें कहाँ तक प्रामाणिकता है, यह तो इतिहास मनीषी ही जान सकेंगे। यदि कोई ऐतिहासिक विद्वान् आचार्योंके इन विवरणोंमें संशोधन प्रस्तुत करेंगे, तो भास्कर उसका भी स्वागत करेगा। अतः इस विषयपर अधिक प्रकाश डालनेकी आवश्यकता है, जिससे इतिहास निर्माणके लिए प्रमाण प्रस्तुत किये जा सके।

---

१. भास्कर : भाग २२, किरण १ में प्रकाशित लेख।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्व वर्षायु
१	४	चैत्रसुदी १४	श्री भद्रबाहु	पंवाररजपूत	२४	३०	२२-१०-१७	३	७६-११-०
२	२६	फाल्गुनसुदी १४	गुप्तगुप्तिश्री	पंवार	२२	३४	९-६-२५	५	६५-७-०
३	३६	आश्विनसुदी १४	श्री माघनन्दी	जैसवाल	२०	४४	४-४-२६	४	६८-५-०
४	४०	फाल्गुनसुदी १४	श्री जिनचन्द्र	चोसरवा पोरवाड	२४-९-०	३३-३-०	८-९-६	३	६५-९-९
५	४९	पौषवदी ९	श्री कुन्दकुन्द	पल्लीवाल	११	५१-१०-१०	०	५	९५-१०-१५
६	१०१	का० सु० ८	उमा स्वामी	अयोध्यापुरी श्रावक	१९	२५	४०-८-१	५	८४-८-६
७	१४२	आसाढ़ सु० १४	लोहाचार्य	लभेंचू	२१	३८	१०-१०-२७	६	६९-१०-२६
८	१५३	ज्येष्ठ सु० १०	यशकीर्ति	जैसवाल	१२	२१	५८-८-१०	५	९१-८-१५
९	२११	फा० व० १०	यशोनन्दि	जैसवाल	१६	१७	४६-४-९	४	७९-४-१३
१०	२५८	आषाढ़ शु० ८	देवनन्दी	पोरवाल	१०-५-०	१५-१७-०	४९-१०-२८	४	७५-११-२
११	३०८	ज्येष्ठ सु० १०	श्री० पूज्यवाद	पद्मावती पोरवाल	१५	११-७-०	४४-११-२२	७	७१-६-२९
१२	३५३	ज्येष्ठ सु० ९	गुणनन्दि	गोला पूरब	१४	१३-५-०	१३-३-१	४	४०-८-५
१३	३६४	भा० सु० १४	जम्मूनन्दि	×	१९	१६-३-०	२२-५-१	४	५७-८-५
१४	३८६	फाल्गुन ब० ४	कुमारनन्दि	सहालवाल	१६	१०-२-०	४०-२-२०	९	६६-४-२९
१५	४२७	ज्येष्ठ ब० ३	लोकचन्द्र	लभेंचू	१८	१६	२६-३-१६	१०	६०-३-२६
१६	४५२	भा० सु० १४	श्री प्रभाचन्द्र	पंचम श्रावक	९	२४	२५-५-१	१९	५८-५-२६
१७	४७८	फाल्गुन सु० १०	श्री नेमिचन्द्र	नैगम श्रावक	१०	२२	८-९-१	९	४०-९-१०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्ट वर्ष	अन्तरदिन	सर्ववर्षायु
१८	४८७	पौष वदी ५	भावनन्दि	ईसर	११	१५	२१-७-२४	१२	४६-१-९
१९	५०८	माघ सु० ११	हरिनन्दि	श्री० मालसीकसपा	९	१५	१६-१७-१५	१४	४०-७-२९
२०	५२५	आसौज सु० १०	वसुनन्दि	वघनौरा	१०	३०	६-२-२२	९	४६-३-१
२१	५३१	पौष सु० ११	श्री वीरनन्दि	लमेंचू	९	१३	३०-०-१४	१०	५२-०-२४
२२	५६१	माघ सु० ५	श्री रतनकीर्ति	अग्रवाल	८	१२	२३-४-७	११	४३-५-१८
२३	५८५	आषाढ़ व० ८	,, माणिक्यनन्दि	अग्रवाल	१०	१९	१६-५-१०	१५	४५-५-२५
२४	६०१	पौष व० ३	,, मेघचन्द्र	खंडेलवाल	२४-३-३९	६-७-१३	२५-५-३०	१२	५६-६-२
२५	६२७	आसौ० व० ५	,, शान्तिकीर्ति	सहलवाल	७	१०	१५-०-२५	२०	३२-१-१५
२६	६४२	श्रा० सु० ५	,, मेरुकीर्ति	सहलवाल	८	११	४४-३-१६	१३	६३-३-२९
२७	६८६	मगसिर सु० ४	,, महाकीर्ति	सहलवाल	६	१२	१७-११-५	१५	३५-११-२०
२८	७०४	मगसिर व० ९	,, विजयनन्दि	बागडा	७	१४	१२-४-०	१५	४२-४-१५
२९	७२६	चैत्र सु०	,, भूषण	सहलवाल	१४	८	९	२६	३१-०-२६
३०	७३५	वैशा० सु० ५	,, चन्द्र	श्रीपाल	६	१२	१४-३-४	११	३२-४-५
३१	७४९	भा० सु० १९	,, नन्दकीर्ति	नागदहीं	१५	२०	१५-६-४	१३	५०-६-१७
३२	७६५	चै० व० १२	,, देशभूषण	श्रीमाल	१८	२४	०-६-६	७	४२-६-१३
३३	७६५	आसौ० सु० १०	,, अनन्तकीर्ति	पोरवालशाखा	११	१६	१९-९-२५	१०	४३-१०-५
३४	७८१	श्रावण सुदी	,, धर्मनन्दि	नागडा	१३	१८	२२-९-२५	५	५३-१०-०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्ववर्षायु
३५	८०८	ज्येष्ठ सु० १५	श्री वीरचन्द्र	बघेरवाल हरसोरा	१३	२५	३२-०-४	८	७०-०-१२
३६	८४०	आषाढ़ व० १२	,, रामचन्द्र	पंचम श्रावक	८	११	१६-१०-०	६	३५-१०-०
३७	८५७	पौ० सु० ३	,, रामकीर्ति	लमेंचू	१४	१६	२१-४-२६	११	५१-५-७
३८	८७८	आसौज सु० १०	,, अभयचन्द्र	अयोध्यापुरी श्रावक	१८	१०	१६-०-२७	४	४५-१-१
३९	८९७	का० सु० ११	,, नरचन्द्र	नैगम श्रावक	१५	२१	१८-९-०	९	५४-९-९
४०	९१८	भादो० व० ५	,, नागचन्द्र	वागडा	२१	१३	२३-३-३	१०	६७-०-१३
४१	९३९	भादो सु० ३	,, नैंणनन्दि	इसर	८	१०	८-९-११	९	२६-९-२०
४२	९४८	आसाढ़ ब० ८	,, हरिचन्द्र	बघेरकल हरवोस	८-४-०	१४-८-०	२६-१-८	८	४९-१-२६
४३	९७४	श्रा० शु०९	,, महीचन्द्र	धाकडा	१४	१०-११-०	१६-६-०	५	४१-५-५
४४	९९०	मा० सु० १४	,, माघचन्द्र	पद्मावती पोरवाल	१३	२०	३२-०-२४	९	६५-३-३
४५	१०३३	ज्येष्ठ ब० २	,, लक्ष्मीचन्द		११	२५	१४-४-३	१०	४९-११-१३
४६	१०३७	आसौ० सु० १	,, गुणनन्दि	नगौलवाल	१८	२०	१०-१०-२९	१४	४८-११-१३
४७	१०४८	भादों सु० १४	,, गुणचन्द्र	गोलादूख	१०	२२	१७-८-७	१०	४९-८-१७
४८	१०६६	ज्येष्ठ सुदी १	,, लोकचन्द्र	सहलवाल	१५	३०	१३-३-३	४	५८-३-७
४९	१०७५	भाद्रपद सु० ८	,, श्रुतकीर्ति	सचाणु श्रावक	१३	३२	१५-६-६	६	६०-६-१२
५०	१०९४	चैत्र व० ५	,, भावचन्द्र		१२	२५	२०-११-२५	५	५८-०-०
५१	११९५	चैत्र व०६	,, महीचन्द्र	श्रीमाली	१०	२६	२५-६-१०	५	६१-५-१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षा वर्ष	पट्टवर्ष	अंतर दिन	सर्वाबर्षायु
५२	११४०	भादों सु० ११	श्री माघचन्द्र	पंचम श्रावक	१४	१३	४-३-१७	७	३१-३-२४
५३	११४४	पौष व० १४	,, वृषभनन्दि	बघनौरा	७	३७	३-४-१	४	४७-४-५
५४	११४८	वै० सु० ४	,, शिवनन्दि	सहलवाल	९	३९	७-६-७	१४	५५-७-१
५५	११५५	म० सु० ५	,, वसुचन्द्र	बघनौरा	११	४०	०-७-२८	३	५१-८-१
५६	११५६	श्रा० सु० ६	,, सहनन्दि	सचाणु श्रावक	७	३२	४-०-२४	५	४०-०-२९
५७	११६०	भा० सु० ५	,, भावनन्दि	हुम्मड श्रावक	११	३०	७-२-०	३	४८-२-३
५८	११६७	का० सु० ८	,, देवनन्दि	धाकड श्रावक	११	३०	७-२-०	३	४४-३-१३
५९	११७०	फा० व० ५	,, विद्याचन्द्र	बागड	१४	३८	५-५-५	१४	५७-५-१९
६०	११७६	श्रा० सु० ९	,, सूरचन्द्र	नरसिंहपुरा	१०	३५	८-१-२९	२	५३-२-१
६१	११८५	आसौ० सु० १०	,, माघनन्दि	चतुर्थ श्रावक	३-३-०	३२-२-०	४-१-१६	५	५०-६-२१
६२	११८८	मग० सु० १	,, ज्ञानकीर्ति	गंगरी श्रावक	१०	३४	११-०-३	७	५५-०-१०
६३	११९९	माग० सु० ११	,, अंगकीर्ति	×	१३	३३	७-२-८	१०	५३-२-१८
६४	१२०६	फागु० व० १४	,, सिंहकीर्ति	नरसिंहपुरा	८	३७	२-२-१५	१६	४७-३-१
६५	१२०९	ज्येष्ठ व०	,, हेमकीर्ति	हुमवड़	१३	२४	७-३-२७	१६	४४-४-३
६६	१२१६	आसौ० सु० ३	,, सुन्दरकीर्ति	सहलवाल	६-९-०	१९-३-०	६-६-२०	१०	३२-७-०
६७	१२२३	वै० सु० ३	,, नेमिचन्द्र	नागदुहा	७	१९	७-७-२९	९	३५-९-८
६८	१२३०	मा० सु० ११	,, नाभिकीर्ति	नैगम श्रावक	५	३५	१-११-२६	४	४२-०-०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नं०	संवत्	तिथि	आचार्य नाम	जाति	गृहस्थ वर्ष	दीक्षावर्ष	पट्ट वर्ष	अन्तर दिन	सर्व वर्षायु
६९	१२३२	मा० सु० ११	श्री नरेन्द्रकीर्ति	नागदुहा	१४	१३	९-०-२८	१२	३६-१-०
७०	१२४१	फा० सु० ११	,, श्रीचन्द्र	बघेरवाल	७	२५	६-३-२४	७	३८-४-१
७१	१२४८	आ० सु० १२	,, पद्मकीर्ति	पोरवाल	१०	२२	४-११-२५	६	३७-०-१
७२	१२५३	आ० सु० १३	,, वर्द्धमान	वद्यनीरा	१८	५	२-११-२८	३	२६-०-१
७३	१२५६	आ० सु० १४	,, अकलंकचन्द्र	अवशाखा पोरवाल	१४	३३	१-३-२६	७	४८-४-१
७४	१२५७	का० सु० १५	,, ललितकीर्ति	लभेंचू	१३	२४	४-०-०	५	४१-०-५
७५	१२६१	मगसिर व० ५	,, केशवचन्द्र	लभेंचू	११	३५	०-६-१५	६	४६-६-२१
७६	१२६२	ज्येष्ठ सु० ११	,, चारुकीर्ति	पंचम श्रावक	१३	२२	२-३-१	७	४९-३-८
७७	१२६४	आषाढ़ व० ३	,, अभयकीर्ति	अठसाखा पोरवाला	११-१-०	३०-५-०	०-४-१०	७	४१-११-७
७८	१२६४	माघ सु० ५	,, वसन्त कीर्ति	साहगोत्र	१२	२०	१-४-२२	८	३३-५-०
७९	१२६६	आसौ० सु० ५	,, प्रख्यात कीर्ति	पंचम श्रावक	११	१५	२-३-२९	४	२८-३-२३
८०	१२६८	का० व०	,, शान्ति कीर्ति	छावडा गोत्र	१८	२३	२-९-७	८	४३-९-१५
८१	१२७१	श्रा० सु० १५	,, धर्मचन्द्र	सेठी गोत्र	१६	२४	२५-०-५	८	६५-०-१३
८२	१२९६	भा० व० १३	,, रत्नकीर्ति	नागदुहा	१९	२५	१४-४-१०	६	५८-४-१६
८३	१३१०	पौ० सु० १४	,, प्रभाचन्द्र	पद्मावती पोरवाल	१२	१२	७४-११-१५	८	९८-११-२२
८४	१३८५	पौ० सु० ७	,, पद्मानन्दि	,,	१०-७-०	२३-५-०	६५-०-१८	१०	९१-०-२८
८५	१४५०	मा० सु० ५	,, शुभचन्द्र	अग्रवाल	१६	२४	५६-३-४	११	९६-३-१५
८६	१५०७	ज्येष्ठ व० ५	,, जिनचन्द्र	अग्रवाल	१२	१५	६४-८-१७	१०	९१-८-२७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री बीसतीर्थंकरों के नाम, चिन्ह व माता, पिता और नगरी के नाम

नं०	नाम	चिन्ह	पिता के नाम	माता के नाम	नगरी के नाम
१	श्री सीमंधरजी	वृषभ	श्रेयांस	सत्य देवी	पुण्डरीकणी
२	,, युगमंधरजी	हाथी	सुदृढ़रथ	सुतारा	सुसीमा
३	,, बाहुजी	मृग	सुग्रीव	विजया	अयोध्या
४	,, सुबाहुजी	कपिल	निशाटिल	सुनन्दा	अलकापुरी
५	,, संजातकजी	सूरज	देवसेन	सेना	विजया
६	,, स्वयंप्रभजी	चन्द्रमा	मित्रभूत	सुमंगला	सुसीमा
७	,, ऋषभाननजी	हरि	कीरत	वीरसेना	अयोध्या
८	,, अनन्तवीर्यजी	गज	मेघ	सुमंगला	विजया
९	,, सूर्यप्रभजी	सूर्य	नागराय	भद्रा	पुण्डरीकणी
१०	,, विशालकीर्तिजी	चन्द्रमा	विजसु राय	विजया	सुसीमा
११	,, वज्रधरजी	शंख	पद्मरथ	सरस्वती	पुण्डरीकणी
१२	,, चन्द्राननजी	वृषभ	बाल्मीकि	पद्मावती	विनीता
१३	,, चन्द्रबाहुजी	पद्म	देवनन्दी	सुरेणुका	विजया
१४	,, भुजंगमजी	चन्द्रमा	महाबल	महिमा	सुसीमा
१५	,, ईश्वरजी	सूर्य	गलसेन	ज्वाला	अयोध्या
१६	,, नेमिप्रभुजी	वृषभ	वीरसेन	सेना	पुण्डरीकणी
१७	,, वीरसेनजी	ऐरावत	(भुवपाल) भोपाल	सुभानमती	विजया
१८	,, महाभद्रजी	चन्द्रमा	देवराज	उमा देवी	सुसीमा
१९	,, यशकीर्तिजी	साथिया	श्रवभूत	गंगा देवी	अयोध्या
२०	,, अजितवीर्यजी	पद्म	सुबोध	कनका	अयोध्या

५८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वत्परिषद् का दायित्व एवं जैन सिद्धान्त[1]

बर्ट्रैण्ड रसैलने समाज संगठन सम्बन्धी एक सिद्धान्तका निरूपण करते हुए लिखा है कि जब किसी भी संस्थाके वरिष्ठ संचालक आयु-ज्ञान-अनुभवमें हीन रहने पर भी कर्मठ युवक को पदाधिकारीके रूपमें निर्वाचित करते हैं, तो उस संस्थामें नया जीवन आ जाता है, नया मोड़ उत्पन्न होता है और विकास एवं उन्नतिकी नवीन सम्भावनाएँ प्रकट होती हैं। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें चलना, समूहको साथ लेकर चलना, सदस्यको महत्त्व देना और उसकी योग्यता का मूल्याङ्कन करना संस्थामें नया जीवन प्रतिष्ठित करना है। योग्यताका जहाँ उदारतापूर्वक मूल्याङ्कन नहीं होता, वहाँ नयी प्रतिभाएँ विकसित नहीं हो पातीं। प्रतिभाएँ मुरझाने न पायें, उन्हें गति मिलती रहे, इसका प्रयास उत्तरदायी व्यक्तियोंको अवश्य करना चाहिए[2]।

भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्की स्थापना आजसे दो युग पूर्व एशियाके महानगर कलकत्तामें हुई थी। तबसे अब तक पुरानी और नयी पीढ़ीके विद्वान् मिलकर इस संस्थाके माध्यमसे दि० जैन वाङ्मय और दिगम्बर जैन संस्कृतिके संरक्षण एवं सम्प्रसारणके हेतु अथक श्रम करते आ रहे हैं।

भगवान् महावीर एवं उनके गणधर केवलियोंकी परम्पराके पश्चात् जैन शासनका दायित्व श्रुतकेवलियों पर आया। अनन्तर अन्य आरातीय आचार्यों और भट्टारकोंने इस दायित्वका वहन कर दिक् दिगन्त पर्य्यन्त जैनशासनका प्रचार-प्रसार किया। वास्तवमें ये आचार्य ग्रन्थ रचना, मन्दिर प्रतिष्ठा एवं धर्माराधकों को सजग कर जैनधर्मका प्रचार करते रहे।

विगत सौ सवा-सौ वर्षोंसे स्वनामधन्य स्वर्गीय पण्डित श्री गुरु गोपालदासजी, पूज्यपादमुनि गणेशकीर्त्तिजी (वर्णीजी महाराज), बैरिष्टर चम्पतरायजी एवं ब्र० शीतल प्रसादजी प्रभृतिने इस शासनके ध्वजको उत्तोलित किया है। वर्त्तमानमें पूर्वोक्त विद्वानोंकी निःस्वार्थ सेवा और त्यागके फलस्वरूप हमारे दिगम्बर समाजमें अनेक विषयोंके ज्ञाता लगभग ५-६ सौ विद्वान् दिखलायी पड़ रहे हैं। इन विद्वानों का यह नैतिक दायित्व है कि परम्परासे प्राप्त जैनशासनके ध्वजको उन्नत बनाये रखना और अनेक प्रकारके विरोधी आँधी एवं तूफानों के आने पर भी उसे नीचे न गिरने देना।

वस्तुतः आज दि० जैन वाङ्मय और जैन संस्कृतिके उपकरण--तीर्थ आदि के संरक्षण; संवर्द्धन और प्रसारणका भार मुनि त्यागियों, पंचायतों एवं विद्वानों पर है। अतः इस ग्यारहवें अधिवेशनमें सम्मिलित विद्वन्मण्डलको विद्वत्परिषद्के इस संगठनको अति सबल और सुदृढ़ बनानेके हेतु विशेषरूपसे विचार करना है। इस समय कुछ ऐसी परिस्थितियाँ सामने उपस्थित हैं, जिनका सामना हम संगठित रूपमें ही कर सकते हैं।

बुद्धिजीवियोंकी विचारधारा तर्कसंगत होने पर भी स्वतन्त्र होती है। फलतः उनके

---

१. अखिल भारतवर्षीय दि० जैन विद्वत्परिषद्के एकादश अधिवेशनमें ८-५-१९६८ को सागर (म० प्र०) में दिया गया अध्यक्षीय अभिभाषण।

२. बर्ट्रैण्ड रसैल—सामाजिक पुनर्निर्माणके सिद्धान्त, राजकमल प्रकाशन, पृ० १९६-२०६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विचारोंमें समन्वय बड़ी कठिनाईसे हो पाता है। यही कारण है कि बुद्धिजीवियोंके संगठन प्रायः शिथिल और कमजोर होते है। राजनैतिक या सामाजिक संगठनोंकी अपेक्षा बुद्धिजीवियोंके संगठनमें मौलिक अन्तर पाया जाता है। एक विचारक दूसरे विचारकके चिन्तन को गलत कहनेमें हिचक का अनुभव नहीं करता।

आज हमारे यहाँ भी निमित्त, उपादान और अध्यात्मवादकी चर्चा को लेकर विद्वानों में मतभेद दिखलायी पड़ रहा हैं। प्रत्येक पक्षके विद्वान् अपने विचारोंको सर्वथा सत्य और दूसरे पक्षके विचारोंको असत्य सिद्ध करते हुए परिलक्षित होते हैं। यदि हममें विचारोंकी उदारता प्रतिष्ठित हो जाय तो हमारा यह संगठन बहुत ही सबल हो सकता है। शास्त्रि-परिषद् और विद्वत्परिषद्के एकीकरणमें भी सफलता मिल सकती है। मेरा विश्वास है कि स्याद्वादकी उदार समन्वयात्मक नीतिको जीवनमें अपना लेने पर किसी भी संगठनके सबल होनेमें त्रुटि नहीं रह सकती। अतएव दिगम्बर जैन शासनके रक्षण और संवर्द्धनके उद्देश्यको सामने रखकर विद्वानोंके इस संगठनको उत्तरोत्तर दृढ़ एवं सबल बनानेमें प्रवृत्त होना, हमारा पहला कर्त्तव्य होना चाहिए।

विद्वानोंमें मतभेदका होना स्वाभाविक है, पर यह मतभेद संगठनमें बाधक नहीं होता है; बाधक होता है मनोभेद; क्योंकि मनोभेदसे पक्ष उत्पन्न होता है तथा पक्ष पर बल देनेके साथ-साथ उत्तरोत्तर आग्रहकी कट्टरता बढ़ती जाती है। आग्रह की यह अधिकता ही पृथक्ता उत्पन्न कर देती है। अतः संगठन सिद्धान्तकी दृष्टिसे मतभेद रहने पर भी मनोभेद नहीं रहना चाहिए। परस्पर मैत्री, प्रेम एवं सद्भावनाका प्रचार ही संगठनकी समृद्धिका महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

जैनधर्म व्यक्तिनिष्ठ कहा जाता है और व्यक्तित्वके विकासके लिए आध्यात्मिक तथा नैतिक जीवनका यापन करना अपेक्षित होता है। जब तक मनुष्य भौतिकवादमें भटकता रहेगा, तब तक उसे सुख-शान्ति और सन्तोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जैन संस्कृतिका लक्ष्य भोग नहीं त्याग है; संघर्ष नहीं, शान्ति है; विषमता नहीं समता हैं; विषाद नहीं आनन्द है। जीवनके शोधनका कार्य आध्यात्मिकता द्वारा ही सम्भव होता है। भोगवादी दृष्टिकोण मानव जीवनमें निराशा, अतृप्ति और कुण्ठाओंको उत्पन्न करता है; जिससे शक्ति, अधिकार और स्वत्वकी लालसा अहर्निश बढ़ती जाती है। प्रतिशोध एवं विद्वेषके दावानलसे झुलसती हुई मानवताका त्राण अध्यात्मवाद ही कर सकता है। यह अध्यात्मवाद कहीं बाहर से आने वाला नहीं, हमारे आत्माका धर्म है, हमारी चेतनाका धर्म है और है हमारी संस्कृतिका प्राणभूत तत्त्व।

मनुष्य जीवनमें दो प्रधान तत्त्व हैं; दृष्टि और सृष्टि। दृष्टिका अर्थ है बोध, विवेक, विश्वास और विचार। सृष्टिका अर्थ है क्रिया, कृति, संयम और आचार। मनुष्यके आचार को परखने की कसौटी उसका विचार और विश्वास होता है। वास्तवमें मनुष्य अपने विश्वास, विचार और आचारका प्रतिफल है। दृष्टिकी विमलता से जीवन अमल और धवल बन सकता है। यही कारण है कि जैनदर्शनमें विचार और आचारके पहले दृष्टिकी विशुद्धि पर विशेष जोर दिया गया है। क्योंकि विश्वास और विचारको समझने का प्रयत्न ही अपने स्वरूपको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समझने का प्रयत्न है। आशय यह है कि हमारा आचार बनता है, विचार (ज्ञान) से और विचार बनता है विश्वास से।

अपने विशुद्ध स्वरूपको समझनेके लिए निश्चय दृष्टिकी आवश्यकता है। मैं इस सत्य को भी स्वीकार करता हूँ कि व्यवहारको छोड़ना एक बड़ी भूल हो सकती है, परन्तु मेरा विश्वास है कि निश्चयको छोड़ना उससे भी अधिक भयंकर भूल है। अनन्त जन्मोंमें अनन्त बार हमने व्यवहारको ग्रहण करनेका प्रयत्न किया, किन्तु निश्चय दृष्टिको पकड़ने और समझनेका प्रयत्न एक वार भी नहीं किया। यही कारण है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपकी उपलब्धि हमें नहीं हो सकी और यह तब तक प्राप्त नहीं हो सकेगी, जब तक कि हम आत्माके विभावके द्वारको पार कर उसके स्वभाव के भव्य-द्वारमें प्रवेश नहीं कर लेंगे।

दुःख एवं क्लेशप्रद परिणाम होने से पाप त्याज्य है; प्राणियोंको दुःखरूप होनेसे ही पाप रुचिकर नहीं है। पुण्य आत्माको अच्छा लगता है, क्योंकि उसका परिणाम सुख एवं समृद्धि है। इस प्रकार सुख एवं दुःख प्राप्तिकी दृष्टिसे संसारी आत्मा पापको छोड़ता है और पुण्यको ग्रहण करता है; किन्तु विवेकशील ज्ञानी आत्मा विचार करता है कि जिस प्रकार पाप बन्धन है, उसी प्रकार पुण्य भी एक प्रकार का बन्धन है। यह सत्य है कि पुण्य हमारे जीवन-विकासमें उपयोगी है, सहायक है। यह सब होते हुए भी पुण्य उपादेय नहीं हैं, अन्ततः वह हेय ही है। जो हेय है, वह अपनी वस्तु कैसे हो सकता है? आस्रव होनेके कारण पुण्य भी आत्माका विकार है, वह विभाव है, आत्माका स्वभाव नहीं। निश्चय दृष्टि सम्पन्न आत्मा विचार करता है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं, वे अपने-अपने भावके कर्त्ता हैं, परभावका कर्त्ता कोई पदार्थ नहीं। जैसे कुम्भकार घट बनाने रूप अपनी क्रियाका कर्त्ता व्यवहार या उपचार-मात्र से है। वास्तव में घट बनने रूप क्रियाका कर्त्ता घट है। घट बननेरूप क्रियामें कुम्भकार सहायक निमित्त है, इस सहायक निमित्तको ही उपचारसे कर्त्ता कहते हैं। तथ्य यह है कि कर्त्ता के दो भेद हैं—वास्तविक कर्त्ता और उपचरित कर्त्ता। क्रियाका उपादान कारण ही वास्तविक कर्त्ता है, अपने ज्ञान, दर्शन आदि चेतन भावोंका ही कर्त्ता है, राग-द्वेष मोहादिका नहीं। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने बताया है—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥—गाथा ८

व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गल कर्म आदिका कर्ता है, निश्चय से चेतन कर्मका और शुद्ध नयकी अपेक्षा शुद्धभावोंका कर्त्ता है।

तथ्य यह है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यके साथ बन्धको प्राप्त होता है, उस समय उसका अशुद्ध परिणमन होता है। उस अशुद्ध परिणमनमें दोनों द्रव्योंके गुण अपने स्वरूपसे च्युत होकर विकृत भावको प्राप्त होते हैं। जीव द्रव्यके गुण भी अशुद्ध अवस्थामें इसी प्रकार विकारको प्राप्त होते रहते हैं। जीव द्रव्यके अशुद्ध परिणमनका मुख्य कारण वैभाविकी शक्ति है और सहायक निमित्त जीवके गुणोंका विकृत परिणमन है। अतएव जीवका पुद्गलके साथ अशुद्ध अवस्थामें ही बन्ध होता है, शुद्ध अवस्था होनेपर विकृत परिणमन नहीं होता। विकृत परिणमन ही बन्धका सहायक निमित्त है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्धके दो भेद हैं—सजातीय बन्ध और विजातीय बन्ध। पुद्‌गलके साथ पुद्‌गलके बन्धको सजातीय बन्ध कहते हैं और जीवके साथ पुद्‌गलके बन्धको विजातीय बन्ध कहा जाता है। जीवमें केवल विजातीय बन्ध होता है, पर पुद्‌गलमें सजातीय और विजातीय दोनों प्रकारके बन्ध होते हैं। जीव और पुद्‌गलनें वैभाविक शक्तिके साथ अन्य सहकारी कारण भी बन्धके कारण होते हैं। जो आत्मरसिक कर्तृत्व और बन्धभावको अवगत कर अपने विकल्प और विकारोंको दूर करनेमें प्रयत्नशील हो जाता है, वह साधनाके मार्गको प्राप्त कर लेता है। उसके राग-द्वेष विकार शान्त हो जाते हैं।

शास्त्रीय परिभाषामें यों कहा जा सकता है कि मोहयुक्त अज्ञान बन्धका कारण है। मोहके न रहनेपर केवल अज्ञान बन्धका विषय नहीं है। मोहविद्ध ज्ञान आत्मोत्थानका साधन नहीं। जिस प्रकार घृतको रजतपात्रमें रखनेपर उसकी विशुद्धता बनी रहती है और पीतलके पात्रमें रखनेसे दोष उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानको निर्मोह पात्रमें रखनेसे मुक्तिका साधक होता है और विपरीत अवस्थामें बन्धका कारण। ज्ञानी आसक्तियोंसे पृथक् रहकर शरीरको आत्मासे भिन्न देखता है। मोक्ष प्राप्तिमें वीतरागता ही सर्वोपरि है। सच्चा वीतरागी किसी पदार्थपर राग नहीं करता, उसके लिए भौतिक-अभौतिक सभी प्रकारकी आसक्तियाँ त्याज्य हैं। आचार्य अकलंकदेवने इसी प्रकारकी वीतरागताको लक्ष्य कर कहा है—"यस्य मोक्षेऽप्यनाकाङ्क्षा स मोक्षमधिगच्छति" जिसे मोक्षकी भी इच्छा नहीं, वही मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

वीतरागताकी प्राप्ति हेतु व्यवहार और निश्चय रूप धर्मका आश्रय लेनेकी आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र व्यवहारसे मोक्षका कारण और निश्चयसे सम्यग्दर्शनादि त्रिरूप आत्मा मोक्षका कारण है। व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधन है। आचार्य कुन्दकुन्दने व्यवहार और निश्चयकी नय-सापेक्षताका कथन करते हुए लिखा है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वी परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥—समयसार गाथा १२

जो शुद्धनय तक पहुँच कर पूर्ण श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र सम्पन्न हो गये हैं, उनको शुद्धनयका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है; पर जो श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रके पूर्णभावको नहीं प्राप्त हो सके हैं तथा साधक अवस्थामें स्थित हैं, उन्हें व्यवहार द्वारा उपदेश देना चाहिए।

उक्त गाथाकी आत्मख्याति टीकामें अमृतचन्द्राचार्यने व्यवहार और निश्चयकी सापेक्षताका निरूपण करते हुए बताया है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

—आत्मख्याति टीका १२ गाथा

यदि जैनधर्मका प्रवर्तन—आचरण करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहार नयके बिना तीर्थ—व्यवहार मार्गका नाश हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्वका नाश हो जायगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतएव वीतरागताकी प्राप्तिके लिए निश्चय और व्यवहार धर्मका आचरण करना आवश्यक है। आचार्य अमृतचन्द्रसूरिने प्रभावना अंगके वर्णनमें धर्मके समस्त उपकरणोंका निरूपण किया है—

आत्मा प्रभावनीयो रत्नमयतेजसा सततमेव ।
दानतपो जिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ।।–पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लो० ३०

अर्थात्—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके तेजसे अपनी आत्माको प्रभावित करते हुए दान, तप, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा और ज्ञान-सम्पादनमें विशेष योग्यता एवं चमत्कार द्वारा जैनधर्मकी प्रभावना करनी चाहिए।

भक्ति या जिनपूजा शुभोपयोगका साधन है तथा परम्परया मोक्ष प्राप्तिका भी हेतु है। उपास्य या आराध्यके स्वरूपमें एकाकार होना भक्ति है। भक्तिका अर्थ है तन्मयता। आराध्यके गुणोंमें तन्मय रहनेवाला पूजक मन, वचन और कायके बहुमुखी व्यापारको ध्येयके एक बिन्दुपर ले जाता है, जिससे कर्मोंकी असंख्यगुणी निर्जरा होती है। जिस प्रकार सीढ़ीके सहारे प्रासाद शिखरपर पहुँचनेमें सफलता प्राप्त होती है, उसी प्रकर भक्ति सोपान द्वारा मनुष्यभावकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है। मूलाराधनाकी विजयोदया टीकामें बताया है कि जिस प्रकार अर्हन्त आदि परमेष्ठी शुभोपयोग उत्पन्न होनेमें कारण होते हैं, उसी प्रकार उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करनेमें सहायक हैं। बाह्य पदार्थके आश्रयसे जीवमें शुभ या अशुभ परिणाम उत्पन्न होते हैं और इष्टानिष्ट पदार्थोंका सान्निध्य होनेसे राग-द्वेषकी उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार अपने पुत्रके समान किसी अन्य व्यक्तिके पुत्र का अवलोकन करनेसे अपने पुत्रकी स्मृति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार अर्हदादिके प्रतिबिम्बका दर्शन करने से अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंके गुणोंका स्मरण हो जाता है। इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवर होता है और नवीन शुभ कर्मोंका आगमन। जो शुभ प्रकृतियाँ बन्धको प्राप्त हुई हैं, उनके स्थिति और अनुभावमें परमेष्ठीके गुणोंके स्मरणसे वृद्धि होती है तथा अशुभ प्रकृतियोंके स्थिति-अनुभागमें हीनता आती है[1]।

जिनेन्द्र पूजन सम्यक्त्वोपपत्ति का साधन है। इससे आन्तरिक शान्ति, ज्ञान, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और तप आदिकी प्राप्ति होती है। पात्रकेसरी स्तोत्रमें बताया गया है कि भगवान्के गुणोंका स्मरण करनेसे कर्मराशि नष्ट हो सकती है; क्योंकि प्रभुके गुणोंका चिन्तन ही आत्मचिन्तन है।

दानका वास्तविक रहस्य तो राग-द्वेषका त्याग करना है। समाज व्यवस्थाके लिए

---

१. यथा वीतरागद्वेषास्त्रिलोकचूडामणयोऽर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपयान्ति । तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि । बाह्यद्रव्यालम्बनो हि शुभोऽशुभो वा परिणामो जायते ।यथात्मनि मनोज्ञानोज्ञविषयसानिध्याद्रागद्वेषौ स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनम् । एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बम् । तथानुस्मरणं अभिनवा शुभप्रकृतेः संवरणे प्रत्यग्रशुभकर्मादाने, गृहीतशुभ प्रकृत्यनुभवस्फारीकरणे, पूर्वोपात्तशुभप्रकृतिपटलरसापह्रासे च क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति ।—मूलाराधना, विजयोदया, शोलापुर सन् १९३५ ई०, आ० १ पृ० १६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दानका अत्यधिक महत्त्व है, दान द्वारा धन-वितरणकी क्रिया सम्पन्न होती है। मोह कम होता है और भावनाएँ परिष्कृत तथा विशुद्ध हो जाती है। अतएव प्रत्येक गृहस्थको दान द्वारा साधु संस्थाका संवर्द्धन करना एवं समाजोत्थानके कार्योंमें प्रवृत्त होना आवश्यक है।

जैनधर्म व्यक्तिके नैतिक विकासके लिए आत्मनिरीक्षण पर जोर देता है, इस प्रवृत्ति के विना अपने दोषोंकी ओर दृष्टिपात करनेका अवसर ही नहीं मिलता। व्यक्तिकी अधिकांश क्रियाएँ यन्त्रवत् होती रहती हैं, इन क्रियाओंमें कुछ क्रियाएँ सदोष भी होती हैं, व्यक्ति न करने योग्य कार्य भी कर बैठता है और न कहने लायक बात भी कह देता है तथा न विचार करने योग्य बातोंकी उलझनमें पड़कर अपना और पर का अहित भी कर बैठता है। पर आत्म-निरीक्षण या आत्मचिन्तन वह आत्मप्रकाश है, जिसके आलोकमें अपनी समस्त गन्दगी और बुराइयाँ स्पष्ट दिखलायी पड़ती हैं। वस्तुतः आत्मनिरीक्षण दैनिक जीवनका लेखा जोखा है। अपने दोषोंको देखनेके लिए यह एक वैज्ञानिक यन्त्र है; जिससे व्यक्ति घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, मान, मत्सर प्रभृति दुर्गुणोंसे अपनी रक्षा कर सकता है। आजका मानव अपने अवगुण नहीं देखना चाहता, दूसरेके अवगुण देखकर उसकी निन्दा करता है। अतः आत्मनिरीक्षण आत्मानुशासन का एक अंग है।

समस्त प्राणियोंको उन्नतिके अवसरोंमें समानता प्रदान करना जैनधर्मका सामाजिक सिद्धान्त है। जैन मान्यतानुसार समाज व्यवस्था विश्वप्रेमकी नींव पर अवलम्बित है। परस्पर भाई-भाईका व्यवहार करना, एक दूसरेके दुःख-दर्दमें सहायक होना, दूसरोंको ठीक अपने समान समझना, हीनाधिककी भावनाका त्याग करना, अन्य व्यक्तियोंकी सुख-सुविधाओंको समझना तथा उनके विपरीत आचरण न करना जैनधर्मकी समाज व्यवस्था है। जैन परम्परामें केवल मनुष्यके साथ ही भाई-चारेका सम्बन्ध स्थापित करनेको नहीं कहा गया है, बल्कि संसारके पशु-पक्षी, कीड़े मकोड़े आदि समस्त प्राणियोंके साथ भ्रातृत्व भावका सम्बन्ध स्थापित करनेका निर्देश है। पाखण्ड और धोखेबाजीकी भावनाओंका अन्त विश्वप्रेम द्वारा ही किया जा सकता है। विश्वप्रेम या अहिंसा ही एक ऐसा सिद्धान्त है जो व्यक्ति और समाजके बीच अधिकार एवं कर्त्तव्यकी शृंखला स्थापित कर सकता है।

अहिंसाके आधार पर ही समाजमें सहयोग और सहकारिताकी भावना स्थापित की जा सकती है। समाजका आर्थिक एवं राजनैतिक ढाँचा लोकहितकी भावना पर आश्रित हो तथा उसमें उन्नति और विकासके लिए सबको समान अवसर दिये जायँ। अहिंसाके आधार पर निर्मित समाजमें शोषण और संघर्ष नहीं रह सकते।

अपने योगक्षेमके लायक भरण-पोषणकी वस्तुओंको ग्रहण करना तथा परिश्रम कर जीवन यापन करना, न्याय और अत्याचार द्वारा धन संचय न करना अपरिग्रह[1] है। धन,

१. वास्तु क्षेत्रं धान्यं दासीदासश्चतुष्पदभाण्डम्।
परिमेयं कर्त्तव्यं सर्वं सन्तोषकुशलेन॥ अमित० श्रा० पृ० १६१
तन्मूलाः सर्वदोषानुषङ्गाः—सः परिग्रहो मूलमेषां ते तन्मूलाः ममेदमिति हि सति संकल्पे रक्षणादयः सञ्जायन्ते। तत्र च हिंसाऽवश्यं भाविनी तदर्थमनृतं जल्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रतियतते।—तत्त्वार्थ रा० ज्ञानपीठ संस्करण ७।१७।६ पृ० ५४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धान्य, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, स्त्री, पुत्र, घर प्रभृति पदार्थोंमें ये मेरे हैं, इस प्रकारके ममत्व परिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंके संचयको कम करना परिग्रह-परिमाण व्रत है। जैनाचार्योंने परिमाण-व्रतके साथ भोगोपभोग परिमाण व्रतका भी निरूपण किया हैं। इन दोनों व्रतोंके समन्वय द्वारा मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्था को उन्नत बनाना है। यह पूंजीवादका विरोधी सिद्धान्त है, अतः आध्यात्मिक धरातल पर समाजवादकी व्यवस्था उक्त व्रतोंके समन्वय द्वारा स्थानित की जा सकती है। बाह्य परिग्रह त्याग श्रमार्जित योगक्षेमके योग्य धन ग्रहण पर जोर देता है और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग धन संचयके हेतु लोभ, मोह, तृष्णा आदि के त्यागपर।

आजके मानवका जीवन लोभ, अर्थलिप्सा एवं संचयके भयावह अग्नि-शोलोंमें झुलस रहा है, इससे वह अशान्त है, दुःखी है, इस आगको शान्त किये जानेका प्रयास जैनधर्म संयमवादमें पाया जाता है। शान्तिका एकमात्र उपाय इन्द्रियजय है। संयमी अपने जीवन निर्वाह के लिए कम से कम सामग्री का उपयोग करता हैं जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोंके काममें आती हैं और संघर्ष कम होता है। इच्छाओं, वासनाओं और कषायों पर नियन्त्रण करनेसे छीना-झपटी एवं आर्थिक विषमताएँ दूर हो जाती हैं। नैतिक आधारके अभावमें आर्थिक समस्याका समाधान सम्मव नहों है। यह ध्रुव सत्य है कि जब तक समर्थ लोग संयम पालन नहीं करेंगे, तब तक निर्बलोंकी भोजन समस्या भी नही सुलझ सकेगी। संयम आत्मशुद्धि और उसके विकासका साधन तो है ही, पर इसका रहस्य सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ़ बनाना भी हैं। स्वार्थ त्यागकी कठिन तपस्या द्वारा ही वर्ग संघर्ष दूर हो सकेगा।

उत्पादन और वितरण जन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन अपरिग्रहवाद और संयमवाद द्वारा किया जा सकता है। व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र सभी की कृत्रिम आवश्यकतायें इतनी अधिक बढ़ रही हैं जिससे वृद्धिगत असंख्य आवश्यकताओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है। इन्द्रिय नियन्त्रण या संयम सिद्धान्त ही अनावश्यक इच्छाओंका नियमन कर शान्तिकी स्थापना कर सकता है। जैनाचार्य सोमदेवने धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका अविरोध पूर्वक सेवन करने का कथन किया है। उनका मत है—

> धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्। नीति वा० कामसमुद्देश—२
> एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानात्मानमितरौ च पीडयति ॥ वही, सूत्र-४

स्पष्ट है कि जैनाचार्योंने अर्थकी उपेक्षा नहीं की। जैन धर्मने पञ्चाणुव्रतोंकी व्यवस्था का वैयक्तिक जीवनके परिष्कारके साथ सुदृढ़ समाज व्यवस्थाकी भी प्रतिष्ठा की है। अणुव्रतों के अतिचार एवं व्रतोंकी भावनाओंमें स्पष्टतः समाजवादी सिद्धान्त वर्णित हैं। अन्तर यही है कि वर्त्तमान समाजवादमें आध्यात्मिकता और नैतिकताकी गन्ध नहीं है, जिससे समाजवादी तथाकथित देश भी अशान्ति और उत्पीड़नका अनुभव कर रहे हैं। जैनाचार्योंने कूटनीति और धोखाको सत्याणुव्रत द्वारा; एकाधिकारकी भावना और अधिकारोंके प्रति स्वाभाविक सम्मान जागृत करनेके हेतु अस्तेयव्रत का; सरल और सादा जीवन यापनकी प्रेरणा देने एवं ईमानदार बनाये रखनेके लिए स्वदारसन्तोषव्रत तथा साम्राज्य और पूँजीवादकी आसुरी लालसाको नियन्त्रित करनेके हेतु परिग्रहपरिमाणव्रतका प्रतिपादन किया है। अहिंसाणुव्रत द्वारा बन्धुता, मैत्री, समता और सद्भावका प्रचार किया जा सकता है। वर्गभेद, जातिभेद एवं आपसी मत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेदका शमन स्याद्वादकी उदारनीति द्वारा ही किया जा सकता है। स्याद्वाद सिद्धान्त अपनी मतभेदों एवं पक्षपात पूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामें एकता, विचारोंमें उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करता है। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक वर्ग दूसरे वर्ग से और एक जाति दूसरी जातिसे इसलिए संघर्षरत है कि उससे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उसके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशे से मत्त होकर की जाने वाली निर्मम हत्यायें भी स्याद्वादकी उदारनीति द्वारा रोकी जा सकती हैं।

विचार विभिन्नता स्वाभाविक है, प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एवं आवश्यकतानुसार बनते हैं, अतः विचारोंमें एकत्व होना सम्भव नहीं। समानरूप से प्रतिभासित होने वाली नीम की दो पत्तियाँ भी यथार्थ में समान नहीं हैं, फिर विभिन्न योग्यताओं वाले व्यक्तियोंके विचारोंमें समानता किस प्रकार सम्भव है? तथ्य यह है कि अनेक गुण-पर्यायात्मक वस्तुओंमें विभिन्न समयों पर विभिन्न अवस्थायें उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओंमें से किसी एक अवस्थाको देखता है और विचार करता है, अतः उसका एकांगिक ज्ञान उसी की दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलू से करता है, अतः उसका ज्ञान भी किसी विशेष दृष्टि से ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं और वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण सभी का अंशात्मक ज्ञान ज्ञान है, अपूर्ण है। अतएव स्याद्वाद नीति द्वारा प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझकर उदार समन्वयात्मक प्रेम पूर्ण व्यवहार करने में ही सामाजिक समस्याओंका समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार जैन धर्मने वैयक्तिक और सामाजिक जीवनको परिष्कृत एवं व्यवस्थित बतानेका विधान किया है। आज हमें इस शासनके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। देश, समाज और राष्ट्रके जीवनको सुखी, सम्पन्न एवं सहयोग-सहकारिता पूर्ण बनाने के हेतु निम्नलिखित जीवन मूल्योंको अपनाना आवश्यक है।

१. स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति।
२. श्रम करनेमें आस्था तथा प्रमादका त्याग।
३. सर्वधर्म समभाव।
४. समानता और उदारता की दृष्टि।
५. सहयोग और सहकारिता सम्बन्धी भावना की प्रतिष्ठा।
६. धर्मके मौलिक तत्त्व—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको जीवन-व्यापी बनानेका सामूहिक प्रयत्न।
७. कर्त्तव्यके प्रति आदर भाव और जागरूकता।
८. शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए शुद्ध आहार-विहारके प्रति आस्था।
९. श्रद्धा, विचार और आचारका परिमार्जन।
१०. अन्यकी भूल या गलतीको देखनेके पूर्व आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति।
११. आध्यात्मिक और नैतिक जीवनके प्रति आस्था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धान्य, रुपया, पैसा, सोना, चाँदी, स्त्री, पुत्र, घर प्रभृति पदार्थोंमें ये मेरे हैं, इस प्रकारके ममत्व परिणामको परिग्रह कहते हैं। इस ममत्व या लालसाको घटाकर उन वस्तुओंके संचयको कम करना परिग्रह-परिमाण व्रत है। जैनाचार्योंने परिमाण-व्रतके साथ भोगोपभोग परिमाण व्रतका भी निरूपण किया हैं। इन दोनों व्रतोंके समन्वय द्वारा मानव-समाजकी आर्थिक व्यवस्था को उन्नत बनाना है। यह पूंजीवादका विरोधी सिद्धान्त है, अतः आध्यात्मिक धरातल पर समाजवादकी व्यवस्था उक्त व्रतोंके समन्वय द्वारा स्थानित की जा सकती है। बाह्य परिग्रह त्याग श्रमार्जित योगक्षेमके योग्य धन ग्रहण पर जोर देता है और आभ्यन्तर परिग्रहका त्याग धन संचयके हेतु लोभ, मोह, तृष्णा आदि के त्यागपर।

आजके मानवका जीवन लोभ, अर्थलिप्सा एवं संचयके भयावह अग्नि-शोलोंमें झुलस रहा है, इससे वह अशान्त है, दुःखी हैं, इस आगको शान्त किये जानेका प्रयास जैनधर्म संयम-वादमें पाया जाता है। शान्तिका एकमात्र उपाय इन्द्रियजय है। संयमी अपने जीवन निर्वाह के लिए कम से कम सामग्री का उपयोग करता है जिससे अवशिष्ट सामग्री अन्य लोगोंके काममें आती हैं और संघर्ष कम होता है। इच्छाओं, वासनाओं और कषायों पर नियन्त्रण करनेसे छीना-झपटी एवं आर्थिक विषमताएँ दूर हो जाती हैं। नैतिक आधारके अभावमें आर्थिक समस्याका समाधान सम्भव नहीं है। यह ध्रुव सत्य है कि जब तक समर्थ लोग संयम पालन नहीं करेंगे, तब तक निर्बलोंकी भोजन समस्या भी नही सुलझ सकेगी। संयम आत्मशुद्धि और उसके विकासका साधन तो है ही, पर इसका रहस्य सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्थाको सुदृढ़ बनाना भी है। स्वार्थ त्यागकी कठिन तपस्या द्वारा ही वर्ग संघर्ष दूर हो सकेगा।

उत्पादन और वितरण जन्य आर्थिक विषमताका सन्तुलन अपरिग्रहवाद और संयमवाद द्वारा किया जा सकता है। व्यक्ति हो या समाज अथवा राष्ट्र सभी की कृत्रिम आवश्यकतायें इतनी अधिक बढ़ रही हैं जिससे वृद्धिगत असंख्य आवश्यकताओंकी पूर्ति सम्भव नहीं है। इन्द्रिय नियन्त्रण या संयम सिद्धान्त ही अनावश्यक इच्छाओंका नियमन कर शान्तिकी स्थापना कर सकता है। जैनाचार्य सोमदेवने धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थका अविरोध पूर्वक सेवन करने का कथन किया है। उनका मत है—

धर्माविरोधेन कामं सेवेत ततः सुखी स्यात्। नीति वा० कामसमुद्देश—२
एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानात्मानमितरौ च पीडयति ॥ वही, सूत्र-४

स्पष्ट है कि जैनाचार्योंने अर्थकी उपेक्षा नहीं की। जैन धर्मने पञ्चाणुव्रतोंकी व्यवस्था का वैयक्तिक जीवनके परिष्कारके साथ सुदृढ़ समाज व्यवस्थाकी भी प्रतिष्ठा की है। अणुव्रतों के अतिचार एवं व्रतोंकी भावनाओंमें स्पष्टतः समाजवादी सिद्धान्त वर्णित हैं। अन्तर यही है कि वर्त्तमान समाजवादमें आध्यात्मिकता और नैतिकताकी गन्ध नहीं है, जिससे समाजवादी तथाकथित देश भी अशान्ति और उत्पीड़नका अनुभव कर रहे हैं। जैनाचार्योंने कूटनीति और धोखाको सत्याणुव्रत द्वारा; एकाधिकारकी भावना और अधिकारोंके प्रति स्वाभाविक सम्मान जागृत करनेके हेतु अस्तेयव्रत का; सरल और सादा जीवन यापनकी प्रेरणा देने एवं ईमानदार बनाये रखनेके लिए स्वदारसन्तोषव्रत तथा साम्राज्य और पूँजीवादकी आसुरी लालसाको नियन्त्रित करनेके हेतु परिग्रहपरिमाणव्रतका प्रतिपादन किया है। अहिंसाणुव्रत द्वारा बन्धुता, मैत्री, समता और सद्भावका प्रचार किया जा सकता है। वर्गभेद, जातिभेद एवं आपसी मत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेदका शमन स्याद्वादकी उदारनीति द्वारा ही किया जा सकता है। स्याद्वाद सिद्धान्त अपनी मतभेदों एवं पक्षपात पूर्ण नीतिका उन्मूलन कर अनेकतामें एकता, विचारोंमें उदारता एवं सहिष्णुता उत्पन्न करता है। आज एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक वर्ग दूसरे वर्ग से और एक जाति दूसरी जातिसे इसलिए संघर्षरत है कि उससे भिन्न व्यक्ति, वर्ग और जातिके विचार उसके विचारोंके प्रतिकूल हैं। साम्प्रदायिकता और जातिवादके नशे से मत्त होकर की जाने वाली निर्मम हत्यायें भी स्याद्वादकी उदारनीति द्वारा रोकी जा सकती हैं।

विचार विभिन्नता स्वाभाविक है, प्रत्येक व्यक्तिके विचार अपनी परिस्थिति, समझ एवं आवश्यकतानुसार बनते हैं, अतः विचारोंमें एकत्व होना सम्भव नहीं। समानरूप से प्रतिभासित होने वाली नीम की दो पत्तियां भी यथार्थ में समान नहीं हैं, फिर विभिन्न योग्यताओं वाले व्यक्तियोंके विचारोंमें समानता किस प्रकार सम्भव है? तथ्य यह है कि अनेक गुण-पर्यायात्मक वस्तुओंमें विभिन्न समयों पर विभिन्न अवस्थायें उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और योग्यता के अनुसार वस्तुकी अनेक अवस्थाओंमें से किसी एक अवस्थाको देखता है और विचार करता है, अतः उसका एकांगिक ज्ञान उसी की दृष्टि तक सत्य है। अन्य व्यक्ति उसी वस्तुका अवलोकन दूसरे पहलू से करता है, अतः उसका ज्ञान भी किसी विशेष दृष्टि से ठीक है। अपनी-अपनी दृष्टिसे वस्तुका विवेचन, परीक्षण और कथन करनेमें सभी स्वतन्त्र हैं और वस्तुके एक गुण या अवस्थाको जाननेके कारण सभी का अंशात्मक ज्ञान ज्ञान है, अपूर्ण है। अतएव स्याद्वाद नीति द्वारा प्रत्येक प्राणीको अपना मित्र समझकर उदार समन्वयात्मक प्रेम पूर्ण व्यवहार करने में ही सामाजिक समस्याओंका समाधान प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार जैन धर्मने वैयक्तिक और सामाजिक जीवनको परिष्कृत एवं व्यवस्थित बतानेका विधान किया है। आज हमें इस शासनके प्रचार-प्रसारकी नितान्त आवश्यकता है। देश, समाज और राष्ट्रके जीवनको सुखी, सम्पन्न एवं सहयोग-सहकारिता पूर्ण बनाने के हेतु निम्नलिखित जीवन मूल्योंको अपनाना आवश्यक है।

१. स्वावलम्बनकी प्रवृत्ति।
२. श्रम करनेमें आस्था तथा प्रमादका त्याग।
३. सर्वधर्म समभाव।
४. समानता और उदारता की दृष्टि।
५. सहयोग और सहकारिता सम्बन्धी भावना की प्रतिष्ठा।
६. धर्मके मौलिक तत्त्व—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको जीवन-व्यापी बनानेका सामूहिक प्रयत्न।
७. कर्त्तव्यके प्रति आदर भाव और जागरूकता।
८. शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यके लिए शुद्ध आहार-विहारके प्रति आस्था।
९. श्रद्धा, विचार और आचारका परिमार्जन।
१०. अन्यकी भूल या गलतीको देखनेके पूर्व आत्मनिरीक्षणकी प्रवृत्ति।
११. आध्यात्मिक और नैतिक जीवनके प्रति आस्था।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२. अनुशासन स्वीकार करनेकी प्रवृत्ति ।

१३. अर्जनके समान त्यागके प्रति अनुराग ।

दिगम्बर जैन साहित्यका महत्त्व एवं मूल्यांकन

वास्तवमें वाङ्मय शान्तिसे परिपूर्ण क्षणोंमें लिखित कोमल शब्दों, मधुर कल्पनाओं, उद्रेकमयी भावनाओं एवं जीवनको चिरन्तन शान्ति प्रदान करनेवाले सिद्धान्तों की मर्मस्पृक् भाषा है। यह सहज रूपमें तरंगित भावों, विचारों एवं जीवन आस्थाओंका मधुर प्रकाशन है। मानव जीवन वाङ्मयका पाथेय ग्रहण कर सांस्कृतिक संतरणकी क्षमता प्राप्त करता है। राष्ट्रिय, सांस्कृतिक और जातीय भावनाएँ वाङ्मयमें ही सुरक्षित रहती हैं। अतः किसी भी धर्म, जाति या देशका वाङ्मय ही उसकी यथार्थ सम्पत्ति हैं। जैन वाङ्मयकी विशालता और अर्हताके कारण ही युग-युगान्तरोंके संघर्षोंको सहन करता हुआ भी जैनधर्म आज जीवन्त है।

वाङ्मयसे समस्त जीवनकी अभिव्यक्ति और ज्ञान-चेतनाका बोध होता है। जैनाचार्यों ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी, तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती प्रभृति भाषाओंमें धर्म, दर्शन, आचार, काव्य, नाटक, पुराण, अलंकार शास्त्र, ज्योतिष एवं आयुर्वेद विषयक विपुल साहित्यका प्रणयन किया है। जितने ग्रन्थ अभी तक प्रकाशमें आये हैं, उनसे सहस्र गुणित ग्रन्थ भण्डारोंमें अप्रकाशित पड़े हैं। जैन साहित्यका मुख्याधार सप्तभङ्गी पद्धति है, जो विभिन्न दृष्टिकोणोंसे सत्यको उपस्थित करती है। विचार वैविध्यको एक धरातलपर उपस्थित कर समन्वयात्मक जीवन मूल्योंका विश्लेषण ही इस पद्धतिकी विशेषता है। साहित्यस्रष्टाओंके उदार विचार अनेकान्त सिद्धान्तके आलोकमें ही विकसित हुए हैं। आरम्भसे ही जैन साहित्य जन-क्रान्तिको अपनाता रहा है, फिर भी श्रेण्य प्रवृत्तियाँ पूर्णरूपेण वर्त्तमान हैं। दर्शन विशेषके रहनेपर जैनसाहित्यको साम्प्रदायिक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि साहित्यमें अनिवार्यतः किसी दृष्टि या दर्शनका प्रतिफलन रहता है। यदि दर्शन विशेषके कारण जैन साहित्यको साम्प्रदायिक कहा जायगा तो फिर वर्त्तमान समाजवादी साहित्य या अन्य किसी भी कालखण्ड में निर्मित साहित्यको भी साम्प्रदायिक मानना पड़ेगा।

प्राकृत भाषामें षट्खण्डागम, कसायपाहुड, धवला, जयधवला टीकाएँ; कुन्दकुन्द, वट्टकेर, यतिवृषभ, कार्त्तिकेय, नेमिचन्द, शिवार्य प्रभृतिके ग्रन्थोंमें गुणस्थान, मार्गणा, कर्मसिद्धान्त, सप्ततत्त्व, ज्ञानमीमांसा, आचार, सृष्टिविद्या आदिका निरूपण किया है।

संस्कृतमें लिखित दर्शन एवं न्यायशास्त्र विषयक जैन ग्रंथ भारतीय चिन्तनके अध्ययन के लिए उसी प्रकार उपयोगी एवं असाम्प्रदायिक हैं, जिस प्रकार न्याय, साँख्य, वैशेषिक, योग, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनोंसे सम्बद्ध ग्रंथ हैं अथवा इण्डियन फिलॉसफीपर लिखे गये आधुनिक ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्र, पूजा-पाठ, प्रतिष्ठा, व्रत-अनुष्ठान, मुनिचर्या, लोकालोक वर्णन प्रभृति विषयोंसे सम्बद्ध ग्रन्थ भी प्राप्य हैं। भारतीय संस्कृतिका वास्तविक ज्ञान वाङ्मयके अध्ययनके बिना अपूर्ण है।

चरित काव्यके स्वरूप, सिद्धान्त और गुण-धर्मोंका विवेचन जैन वाङ्मयके अध्ययनके अभावमें कभी भी सम्भव नहीं है। इस प्रकारके काव्योंसे पुण्यपुरुषोंके आख्यानोंके साथ वस्तु व्यापारोंका नियोजन काव्य शास्त्रीय परम्पराके अनुसार घटित हुआ है। कथावस्तु व्यापक, मर्मस्पर्शी स्थलोंसे युक्त और भावपूर्ण है। जैनाचार्योंने चरित काव्यके मूलसूत्र 'तिलोयपण्णत्ति'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे ग्रन्थोंमें निबद्ध किये हैं। पुराण और महाकाव्यका उद्भव एवं विकास समान्तर हुआ है। सामान्यतः जिसमें अनेक नायकोंका अस्तित्व पाया जाय, वह पुराण और जिसमें कथावस्तु एक ही नायकसे सम्बद्ध हो, वह महाकाव्य कहा जाता है। संस्कृतके महाकाव्योंमें धनञ्जय कविका द्विसन्धान, वीरनन्दिका चन्द्रप्रभचरित, हरिचंदका धर्मशर्माभ्युदय, असग कविका वर्धमानचरित आदि उल्लेख्य हैं। गद्य काव्यके क्षेत्रमें वादीभ सिंहकी गद्यचिन्तामणि कादम्बरीके समकक्ष हैं। अलंकार शास्त्रके मूल्यांकनकी दृष्टिसे श्रृंगारार्णव चन्द्रिका, अलंकार चिन्तामणि एवं अलंकार संग्रह कम मूल्यवान नहीं हैं। संस्कृत भाषामें प्रकाशित विपुल साहित्यके अतिरिक्त निम्नलिखित संस्कृत ग्रन्थ प्रकाशनीय हैं—

वृषभनन्दिका जिनसारसमुच्चय (९वीं शती), आशाधरका अध्यात्म रहस्य, वादिचन्द्र का सुलोचनाचरित; रत्नभूषणका चारित्रसार; भावसेनका विश्वतत्त्वप्रकाश; अभयचंद्रका प्रवचन परीक्षा; हस्तिमल्लका श्रीपुराण; पद्मनन्दिका रत्नत्रय कथा; सोमदेवका रुक्मिणी कथा; माधव-चन्द्रका चन्दन षष्ठि कथा; और त्रैलोक्यविधानकथा नामक ग्रंथ उल्लेख्य हैं। श्रावक धर्म प्रकरण, पार्श्वनाथ चरित और मेघाभ्युदय आचार एवं काव्यतत्त्वकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं। शान्तिराजा कविका पञ्चसन्धान काव्य, भाषा, अलंकार, अर्थ-गाम्भीर्य एवं रसनियोजनकी दृष्टि से केवलज्ञान होरा और ज्योतिर्ज्ञानविधि परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियोंसे महत्त्व-पूर्ण हैं।

भट्टारक युगमें लिखे गये संस्कृत साहित्यका तो अभी प्रकाशन ही नहीं हुआ है। सकलकीर्त्तिके श्रीपुराण वर्धमान चरित, पाण्डव चरित आदि उल्लेखनीय हैं।

अपभ्रंश साहित्यमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ दिगम्बर जैन कवियों की है। इसमें एक ओर विशालकाय महापुराण, हरिवंश पुराण, पउमचरिउ जैसी कृतियाँ हैं तो दूसरी ओर एक व्यक्तिको भी मानकर लिखी गयीं पद्यबद्ध कथा कृतियाँ हैं जिन्हें चरित काव्यमें रखा जा सकता है। अपभ्रंशकी रचनाओंकी प्रयोग विषयक प्रधान विशेषता है मात्रिक छन्दकी। इस छन्दके जितने प्रयोग अपभ्रंशके कवियोंने किये, उतने मध्ययुगीन हिन्दी कवियोंने नहीं।

अपभ्रंश काव्यका इतिवृत्त, संवाद, पात्र भावनियोजन एवं वस्तु व्यापारोंके वर्णनको दृष्टिसे संस्कृत काव्योंसे भी अधिक मूल्य है। वन, पर्वत, नगर, राजप्रासाद, हाट, वीथी, पशु-पक्षी, ऋतुएँ, राजकुमार, वनविहार, जलकेलि, नख-शिख चित्रण एवं पुष्पावचयका व्यौरेवार वर्णन पाया जाता है इसी कारण अनेक कवियोंने अपभ्रंशके कवियोंकी प्रशंसा की है। यथा—

जलकीलाए सयम्भू चउमुह एवं च गोग्गहकहाए।
भद्दं च मच्छवेहे, अज्जवि कइणो न पावन्ति॥

अर्थात्—जलक्रीड़ा वर्णनमें स्वयम्भूको; गोग्रहकथा वर्णनमें चतुर्मुखको, और मत्स्यवेध वर्णनमें भद्रको आज भी कवि नहीं पा सकते।

अपभ्रंश कृतियोंमें अनेक कथानक रूढ़ियोंका प्रयोग भी पाया जाता है—यथा स्वप्न द्वारा चरितनायककी उत्पत्तिकी सूचना, दोहदकी पूर्त्ति हेतु अमानवीय शक्ति द्वारा साहाय्य, अचानक गुप्त धनकी प्राप्ति, भविष्यवाणी, मदान्ध गजको वश करना, बलि देनेके हेतु किसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्तिका पकड़ा जाना, निर्जन स्थानपर चैत्यालय की प्राप्ति, जहाजके टूटनेपर काष्ठ पट्टकी प्राप्ति, प्रतिनायक द्वारा अनेक प्रकारके कष्ट देनेपर भी नायकके अभ्युदयका विकास एवं विमाताके विद्वेषकी विभिन्न परिणतियोंका निरूपण आया है।

अप्रस्तुत विधानके लिए अपभ्रंश कवियोंने सामान्य जीवनकी परिचित वस्तुओंको भी ग्राह्य किया है। अतः अपभ्रंशके काव्योंमें हृदयमें प्रविष्ट होनेवाले अभुक्त उपमान संस्कृत काव्यकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

अप्रकाशित अपभ्रंश ग्रन्थोंमें से कुछ अपभ्रंश रचनाओंकी तालिका प्रस्तुत की जाती हैं—

रिट्ठणेमि चरिउ	स्वयम्भू	९वीं शती
हरिवंश पुराण	धवल	११वीं शती
सयलविहिविहाण कव्व	नयनन्दि	११वीं शती
पासणाह चरिउ	श्रीधर	११३९ ई०
भविसयत्त चरिउ	श्रीधर	११७३ ई०
सुकुमाल चरिउ	विबुध श्रीधर	१२-१३वीं शती
पज्जुण्ण चरिउ	सिद्ध सिंह	१३वीं शती
चंदप्पह चरिउ	सिद्ध सिंह	१२वीं शती
सुलोचणा चरिउ	गणिदेवसेन	१२वीं शती
जिणदत्त चरिउ	लक्ष्मण	१२७५ वि० सं०
णेमिणाह चरिउ	लक्ष्मणदेव	१४वीं शती
सिरिवाल चरिउ	नरसेन	१४वीं शती
बाहुबलि चरिउ	धनपाल	१४वीं शती
सनमति णाह चरिउ	शुभकीर्त्ति	१४वीं शती
संतिणाह चरिउ	शुभकीर्त्ति	१४वीं शती
वरांग चरिउ	तेजपाल	१४५० ई०
हरिवंश पुराण	यशःकीर्त्ति	१५वीं शती
पाण्डव पुराण	यशःकीर्त्ति	१५वीं शती
नेमिणाह चरिउ	दामोदर	१५वीं शती
चंदप्पह चरिउ	दामोदर	१५वीं शती
अजित पुराण	बुधविजय सिंह	१५वीं शती
सिरिवाल चरिउ	बुधविजय सिंह	१५वीं शती
सुकुमाल चरिउ	पूर्णभद्र	१५वीं शती
अमरसेन चरिउ	माणिक्य	१५१९ ई०
नाग कुमार चरिउ	माणिक्य	१६वीं शती
मृगांकलेहा चरिउ	भगवती दास	१७वीं शती

महाकवि रइधूके लगभग दो दर्जन ग्रन्थ अप्रकाशित हैं। नयनन्दि मुनि का दोहा पाहुड, लक्ष्मीचन्दका दोहाणुवेहा, ब्रह्मदीपका मनकरहारास एवं भट्टारक गुणभद्रके सवण वारसिविहाण,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पक्खवइ, आयास पंचमी, चंदणछट्टी, मउडसत्तमी आदि १५ कथा ग्रन्थ नीति, रस, अलंकार आदि दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण हैं।

अन्य भारतीय भाषाओंमें लिखा जैन साहित्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। तमिलके पांच महाकाव्योंमें जीवक चिन्तामणि, शिलप्पड्डिकारम् और लल्लैय्यापति ये तीन महाकाव्य जैनाचार्यो द्वारा निर्मित हैं। कुरलकाव्य तो तमिल साहित्यका पञ्चम वेद माना जाता है। नालडियार उत्तम गीति काव्य हैं। कन्नड़में कवि चक्रवर्ती पम्पके चम्पूशैलीमें लिखित आदि-पुराण और भारत प्रसिद्ध काव्य हैं। काव्य सुधाधाराको प्रवाहित करने वाले ओडय्य (११७०ई०), नयसेन (१२वीं शती), जन्न (११७०-१२३५ ई०), पौन्न कर्णपार्य, गुणवर्मा, बन्धुवर्मा रत्नाकर वर्णी एवं मंगिरस प्रभृति कवियोंके नाम आदर पूर्वक स्मरण किये जा सकते हैं। जैन कवियोंका कन्नड़ साहित्यकी श्रीवृद्धिमें अपूर्व योगदान है। मराठीमें जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, गुणनन्दि, महेन्द्रकीर्त्ति, एवं विशालकीर्त्तिकी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। हिन्दी में आदिकालकी प्रामाणिक सामग्रीके अतिरिक्त मध्ययुगमें लगभग तीन सौ जैन कवियोंने विविध विषयक जैन साहित्यका प्रणयन किया है। हिन्दीमें आत्मकथा और कोष ग्रन्थ लिखने की प्रथा का आरम्भ महाकवि बनारसी दासके अर्धकथानक' एवं नाममाला से होता है।

भा० दि० जैन विद्वत्परिषद्का मुख्य उद्देश्य दि० जैनधर्म और संस्कृतिको अधिकाधिक व्यापक एवं उपयोगी बनाना है तथा ज्ञानाराधक सरस्वती सेवकोंकी स्थितिको उन्नत करना भी है। इस सम्बन्धमें मैं निम्नाङ्कित सुझाव विचारार्थ मान्य सदस्योंके समक्ष प्रस्तुत करता हूं—

प्रकाशन व्यवस्थाकी सम्भाव्य रेखाएँ निम्न प्रकार हो सकती हैं—

क—काव्य और संस्कृतिकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण पाँच अपभ्रंश ग्रन्थोंका एक जिल्दमें प्रकाशन किया जाय। इस जिल्दमें एक-सौ पृष्ठोंकी भूमिका तथा चार सौ पृष्ठोंमें मूल ग्रन्थ। प्रकाशनार्थ निम्न ग्रन्थ लिए जा सकते हैं।

१. हरिवंश पुराण—धवल
२. पासणाह चरिउ—श्रीधर
३. चंदप्पह चरिउ—सिद्धसिंह
४. सुलोचणा चरिउ—गणिदेवसेन
५. बाहुबलि चरिउ—धनपाल

ख—पाँच सौ पृष्ठोंकी दूसरी जिल्दमें जैनन्यायका विषयक्रम और लेखक क्रमानुसार अनुशीलन। इस जिल्दमें २५० पृष्ठोंमें प्रमाण, प्रमेय सम्बन्धी विषयोंका इतिहास तथा अवशेष २५० पृष्ठोंमें आचार्योंके परिचय, जीवनवृत्त, तिथि, रचनाएँ, रचनाओंके वर्ण्य विषय एवं तुलनात्मक विवेचन अंकित किये जायें।

ग—तीसरी पाँच सौ पृष्ठोंकी जिल्दमें तत्त्वज्ञान और कर्मसिद्धान्तसे विभिन्न अंग-प्रत्यंगोंका ऐतिहासिक विकासक्रमकी दृष्टिसे विषय निरूपण तथा तद्विषयक ग्रन्थोंके लेखकोंका जीवनवृत्त एवं उनकी रचनाओंका विस्तृत परिचय लिखा जाय।

घ—चतुर्थ जिल्दमें धवला टीका अनुशीलन अथवा आचार विषयक ग्रन्थोंका विषय और लेखक क्रमानुसार इतिहास लिखा जाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ङ—पञ्चम खण्डमें पद्मपुराण, हरिवंश पुराण और महापुराण इन तीन पुराण तथा काव्य-ग्रन्थोंके आधार पर समाज, संस्कृति, भूगोल, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं कला आदिका अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

२. जैन समाजमें संस्कृत अनेक महाविद्यालय चालू हैं, पर आज शिक्षार्थियोंकी संख्या अत्यल्प है। जो छात्र विद्यालयोंमें प्रविष्ट भी होते हैं, उनके मन में भी प्राकृत, जैन दर्शन एवं संस्कृत शिक्षाके प्रति अनुराग नहीं है; जिससे विद्वानोंकी परम्परा क्षीण होती जा रही है। अतएव महाविद्यालयोंकी शिक्षा को लोकप्रिय बनाने तथा विद्यार्थियोंमें सांस्कृतिक वाङ्मयके प्रति अभिरुचि जागृत करनेके हेतु प्रयत्न करना आवश्यक है।

३. समाजमें स्वाध्यायकी प्रवृत्तिको चालू करनेके हेतु स्वाध्याय शालाओंकी स्थापना तथा शास्त्र खरीदनेके प्रति आस्था जागृत की जाय।

४. विद्वानोंकी नयी पीढ़ी अपने प्रति समाजकी विपरीत धारणा और कठिनाइयोंका अनुभव करते हुए अपने जीवन स्तरको अर्थके आधार पर उन्नत बनानेकी दृष्टिसे आधुनिक शिक्षा-प्रणालीकी ओर आकृष्ट हो चुकी है। इस प्रकारके विद्वानोंको सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण एवं साहित्य विषयके अध्ययनार्थ प्रोत्साहित किया जाय। अध्ययनशील ऐसे विद्वान् जो किसी पाठशाला या विद्यालयमें कार्य करते हैं, उन्हें ग्रन्थ सुविधा तथा अन्य प्रकारकी आर्थिक सुविधायें प्रदान कर प्रोत्साहित किया जाय; जिससे वे कार्य करते हुए प्रौढ़ विद्वत्ता प्राप्त कर सकें। सिद्धान्त और न्याय ग्रन्थोंके विशेष अध्येताओंको छात्रवृत्तियोंका प्रबन्ध किया जाय।

५. जैन साहित्य विश्वशान्ति और विश्वमैत्रीके आधारभूत सिद्धान्तोंका प्रतिनिधित्व करता है। भ्रष्टाचार और अनैतिकताको रोकनेके लिए इस साहित्यमें व्यक्त किये गये विचार और कर्त्तव्य अत्यन्त उपयोगी हैं। जीवदया, गुणवाद, प्रेम, शान्ति और समत्वके प्रसारसे देश में नैतिकताकी प्रतिष्ठा की जा सकती है। अतएव विद्वत्परिषद्को सार्वजनिक पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे जैन विचारधाराका प्रचार करनेके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए तथा जैन साहित्यको सार्वजनिक लेखकों तक पहुँचानेका भी प्रयास करना चाहिए।

६. प्राकृत भाषा जैन-वाङ्मयकी मूल भाषा है, इस भाषाका उत्तरकालीन विकसित रूप अपभ्रंश है। दिगम्बर जैनाचार्योंने इन दोनों भाषाओंमें साहित्यका सृजन किया है। वर्त्तमानमें हमारे यहाँ प्राकृत और अपभ्रंशके अध्ययनकी ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। भाषाकी दृष्टिसे प्राकृत और अपभ्रंशके अध्ययनके अभावमें संस्कृतका अध्ययन भी अपूर्ण है। अतएव अपने यहाँके अतिरिक्त भारतीय विश्वविद्यालयोंमें संस्कृत और पालिके अध्ययनके समान ही प्राकृतके अध्ययनका भी प्रचार होना चाहिए। विद्वत्परिषद्को इस दिशामें विशेष प्रयास करना है।

७. दिगम्बर जैन विषयोंपर अन्वेषणकार्य सम्पादनार्थ जैनेतर अनुसन्धित्सुओंको प्रति वर्ष कमसे एक 'फैलोशिप'की व्यवस्था समाजके धनी-मानियोंसे करानी चाहिए। प्रातःस्मरणीय पूज्यपाद वर्णीजी महाराज, गुरु गोपालदासजी, स्व० सेठ माणिकचन्दजी प्रभृतिके नामपर 'फैलोशिप' चालू करनेकी आवश्यकता है।

८. वर्तमानमें मन्दिर निर्माण और प्रतिमा-प्रतिष्ठाओंके लिए समाज द्वारा जितना धन व्यय किया जा रहा है, उतना साहित्योद्धारके लिए नहीं। इस सम्बन्धमें यह स्मरणीय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है कि संस्कृतिके तीन उपकरणों—साहित्य, तीर्थभूमियाँ और चैत्यालयमें साहित्यका प्रमुख स्थान है। धर्म और समाजका मूल्यांकन साहित्य द्वारा ही सम्पन्न होता है। अतएव प्रत्येक स्थानकी पंचायतको साहित्योद्धारके लिए प्रयत्नशील होना आवश्यक है।

९. वरिष्ठ व्यक्तियोंका सम्मान करनेसे संस्थाकी परम्परा सुदृढ़ होती है। अतएव विद्वत्परिषद्के मंचसे प्रतिवर्ष कमसे कम एक वरिष्ठ विद्वान्का सम्मान अवश्य होना चाहिए।

१०. आचारके बिना ज्ञानका मूल्य घट जाता है। आचारसे ही ज्ञानमें अमृततत्त्व उत्पन्न होता है। अतएव सम्मान्य सदस्योंको आचार ग्रहण करनेकी ओर भी प्रवृत्त होनेका प्रयास करना चाहिए।

११. समाजमें त्यागी, मुनि और ब्रह्मचारियोंको यथेष्ट प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। रत्नत्रयके विकासके कारण पवित्रात्माएँ मान्य हैं। अतएव साधना सम्पन्न व्यक्तियोंकी निर्बाध साधनाके हेतु अतिथि संविभाग व्रतके प्रचारकी परम आवश्यकता है।

वर्तमानमें जैनतीर्थों, विद्वानों एवं विद्यालयोंकी अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं। विद्वानोंके परम हितैषी पूज्यपाद वर्णीजी महाराजने इन समस्त समस्याओंको जीवन पर्यन्त सुलझाया था और पैदल भ्रमण कर ज्ञानका अलख जगाकर विद्वद्वर्ग तैयार किया था। आज उन्हींके आशीर्वाद स्वरूप कई शतकज्ञान मूर्त्तियाँ परिलक्षित हो रही हैं।

■

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दि० जैन संस्कृत पूजाएँ : एक अनुचिन्तन

प्रकृतिकी अभिनय-शालामें अहर्निश अभिनय होता रहता है। इस विराट अभिनय के अभिनेता एवं अभिनेत्रियाँ कीट पतंगसे लेकर मानव तक सब-के-सब हैं। मानवताके स्तर से निम्न कोटि के प्राणी सजग और सुबोध अभिनायक नहीं हैं, अतः इस रंगशालाकी कटुता या मधुरताके रसास्वादनका अनुभव उन्हें पूर्ण नहीं हो पाता। वे सुखाभास या दुखाभाससे इस तरह लुब्ध या क्षुब्ध हो जाते हैं कि मतवाली मस्ती या कम्पायमती कायरताकी दासतामें ही उनकी जीवनलीला समाप्त हो जाती है। इसके प्रतिकूल मानव कलेवरमें अन्तःकरणकी स्थापना है जिसके सहारे वह विश्व नाटकमें अपना पार्ट अदा करते समय भी अपने निरासक्त मानस मंचपर बैठकर चहुँदिशि घटित होने वाली घटनाओं एवं क्रिया-कलापों के पेटमें प्रविष्ट हो उनके तथ्यातथ्यका विवेचन अन्तःकरण की प्रयोगशालामें करता रहता है। भूलना न होगा कि मानव कायामें पशुता एवं मानवता दोनों ही प्रवृत्तियाँ वर्तमान हैं, पर जो सज्ञान मानव है वह विरोधी वृत्तियोंमें भी अपनी मानवता कायम रखता है।

मानव आत्मा नाना प्रकार के सुख-दुःखों और अनेक आवर्त्तनों-विवर्त्तनोंके बीचसे होकर अपनेको प्रकाशित करती है। वह प्रकृति पाठशालाके श्रृंखलाबद्ध एवं संघर्षमय जीवन मार्गमें जड़ एवं चेतन जगत्के प्रतिभा-सौन्दर्यसे कभी लुब्ध और क्षुब्ध होती है तो कभी हर्षित एवं पुलकित। सारांश यह है कि विविध वस्तुओं के नैकट्य विभिन्न प्रकारके होनेके कारण उसके अन्तर्जगत्में नाना प्रकारकी तरंगमयी गतिशीलता तरंगित होती रहती है। इसी हार्दिक संवेदनासे भक्ति भावनाका उदय होता है। संसार यात्रासे विश्रान्त मानव गुणोंसे आकृष्ट हो अपने आराध्य देवके निकटमें जाकर शान्ति चाहता है और वह उस शान्ति प्राप्तिके लिए अपने हृदयकी भक्तिको उनके चरणोंमें उड़ेलनेका प्रयास करता है, फलतः साहित्य जगत् में भक्ति-साहित्य या पूजा-साहित्यका आविर्भाव होता है।

जैन मान्यतामें आराध्यदेवको सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी बताया है। वीतरागी प्रभुकी भक्ति, स्तुति, और निन्दा समानकोटि की हैं। फिर भी उनके पुण्य गुणोंका स्मरण, श्रवण, दर्शन एवं कीर्त्तन स्थायी भावात्मक आनन्दका उद्रेक करता है जिससे मानव पशुलोक से परे शुद्ध लोकोत्तर मानव लोकमें पहुँच जाता है। स्वामी समन्तभद्रने अपने स्वयंभूस्तोत्रमें इसी बातको स्पष्ट किया है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

साहित्यिक दृष्टिकोणसे विश्लेषण करनेपर हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि जो भक्ति के अतलतलमें जिस गहराई तक डुबकियाँ लगानेमें समर्थ है वह उतने ही उत्कृष्ट पूजा साहित्य का सृजन कर सकता है। बुद्धिमान व्यक्ति अपने साध्यको प्राप्त करनेके लिए नाना प्रकारके साधनोंको जुटाता है तथा उनके अन्वेषण एवं प्राप्त करनेमें जरा भी प्रमाद नहीं करता। अपनी आकांक्षाओं और स्वयंको तद्रूप करनेके लिए वह साध्यको एक सुनिश्चित आकारमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देखता है और अपने अन्तस्थल रूप असीम चित्पिण्ड करण्डको प्राप्त करनेकी की चेष्टा करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि मनुष्यसे भावात्मक सम्बन्ध रखने वाले अनुभवोंकी आनंद प्रदायिनी सुन्दर शब्दमयी अभिव्यक्ति पूजा-साहित्य है। इसके द्वारा मानवजातिको शान्ति और सुख मिलता है, और वह भौतिकवादको त्याग आध्यात्मिकवाद की ओर अग्रसर होती है। संसारसे संतप्त व्यक्तिके लिए उपासना हो एक कल्याणकारी आश्रय है, इससे उसका हृदय दोना भक्ति रूपी कोमल सुमनों से भर जाता है और वह जीवन संग्राममें सक्रिय भाग लेता हुआ भी आध्यात्मिक क्षेत्रको प्राप्त करनेमें सफल होता है। वह निरासक्त और निरपेक्ष हो अपनी अन्तरात्माके साथ मन्त्रणा करता है, उसके सामीप्यको प्राप्त करता है तथा अन्त में उसी विशुद्ध निर्विकार, अखण्ड, ज्ञान-दर्शनमय चैतन्य आत्मा को प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है।

यद्यपि भक्ति रागका अंश है, क्योंकि श्रद्धा और प्रेमके योगका मिश्रण भक्ति कहलाता है। जब पूज्य भावकी वृद्धिके साथ श्रद्धा भाजनके सामीप्य लाभकी प्रवृत्ति हो, उसके साक्षात्कारकी इच्छा हो तब हृदयमें भक्तिका प्रादुर्भाव समझना चाहिये। पर यह राग भी वीतरागताकी प्राप्तिमें सहायक है, जिस प्रकार रेखागणितके सिद्धान्तोंकी शिक्षा देते समय ऐसी रेखाकी कल्पना करनेके लिए जो अनादि, अनन्त और बिना लम्बाई, चौड़ाई की है, किसी कल्पित लम्बाई, चौड़ाई वाली रेखा द्वारा समझाया जाता है, उसी प्रकार ऐसे प्रभुकी भक्ति द्वारा जो अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख आदि गुणोंका धारी, वीतरागी है उसके उक्त गुणोंकी प्राप्तिके लिए प्रयास किया जाता है। प्रारम्भिक आत्मशुद्धिके विकासमें रागरूप भक्ति या पूजन बड़ी सहायक है।

दि० जैन-पूजा-साहित्यकी विशेषता

यों तो सभी सम्प्रदायोंमें पूजा-साहित्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है तथा सभी सम्प्रदायोंके उक्त साहित्यमें अपने-अपने आराध्य देवकी महत्ता स्वीकार करते हुए उसके चरणोंमें अपनेको अर्पण किया गया है। लेकिन दि० जैन पूजा-साहित्यमें आराध्यदेवके गुणोंका स्मरण एवं मनन किया गया है, इसमें किसी देव विशेषकी पूजा नहीं की गई है, बल्कि आत्मिक गुणों की पूजा की गई है। यहाँ पूजासे आत्म निर्मलताकी प्राति अभिप्रेत है। अतः जैन पूजाकी विशेषता परमात्म गुणों की प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिकी भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ़, प्रकर्ष एवं विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी।

आत्मा स्वभावसे अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख एवं अनन्तवीर्यादि शक्तियों की धारक है, पर अनादि कर्म मल से मलिन होने के कारण उसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं तथा यह आत्मा सांसारिक मोहजाल में इतनी लिप्त है कि उन शक्तियोंके विकासका इसे भान नहीं होता। ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त है, उसमें यह जीव मस्त रहता है। लेकिन जो संसारी जीव आत्मज्ञानका इच्छुक हो प्रबल ध्यान के बलसे समस्त कर्ममलको दूर कर देता है उसमें आत्माकी सम्पूर्ण अनन्त ज्ञानादिक स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्मल होकर परमात्म पदको प्राप्त होती हैं। श्रीकुमुदचन्द्राचार्यने कल्याणमन्दिर स्तोत्रमें कहा भी है—

ध्यानाज्जिनेश भवतो भवितः क्षणेन,
देहं विहाय परमात्मदशां व्रजन्ति।
तीव्रनलादुपलभावमपास्य लोके,
चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदाः॥

उक्त परमात्मस्वरूप सभी आत्माओंके लिए अभीष्ट है, अतः परमात्वस्वरूप या आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना प्रत्येक व्यक्तिका परम कर्त्तव्य है। परमात्माका ध्यान एवं उनकी भक्ति निजात्माकी याद दिलाती है। पूजन, स्तवन एवं ध्यान द्वारा आत्मा यह समझनेमें समर्थ होता है कि मैं कौन हूं? मेरी शक्ति क्या है? जड़कर्म किस प्रकार मुझसे आबद्ध हैं? मैं इनसे कैसे मुक्त हो सकता हूँ? तात्पर्य यह है कि जैन मान्यता में परमात्माको प्रसन्न करने, या उनसे कुछ वर पाने अथवा सांसारिक विषय कषायोंको पुष्ट करनेके लिए पूजा नहीं की जाती है, किन्तु आत्मस्वरूपकी प्राप्ति एवं परमात्माके उपकारका स्मरण करने के लिए पूजा की जाती है।

दि० जैन-संस्कृत-पूजा-साहित्य का क्रमिक विकास

उपलब्ध पूजा-साहित्यमें सबसे प्राचीन ग्रन्थ चौथी शताब्दीके आचार्य यशोनन्दीके हैं, आपने पञ्चपरमेष्ठी पूजा, धर्मचक्रपूजा आदि ग्रन्थ लिखे हैं। इस कालमें और भी कई पूजा ग्रन्थ लिखे गये हैं, पर उनमेंसे आज बहुत थोड़े उपलब्ध हैं। यों तो पूजा साहित्यका आरम्भ विक्रम सं० की पहली शताब्दीमें ही हो चुका था। स्वामी समन्तभद्र जैसे दार्शनिकों ने भी पूजा की महत्ता बताई है तथा गृहस्थके लिए दैनिक कर्त्तव्यमें प्रधान अंग बताया है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि जिस प्रकार दर्शन, काव्य, व्याकरण आदि विषयों का साहित्य प्राचीन है उसी प्रकार पूजा साहित्य भी प्राचीन है। छठवीं, सातवीं और आठवीं शताब्दीमें अभयनन्दी, ललितकीर्ति, पद्मनन्दी आदि आचार्यों ने अनेक पूजा ग्रन्थोंकी रचना की है। इन शताब्दियोंमें व्रतपूजा और व्रतोद्यापन सम्बन्धी रचनाएँ भी हुई है। पर इस काल तक प्रतिष्ठा एवं आराधना सम्बन्धी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं। वि० सं० १२४१ में होने वाले अप्पार्य ने अपने विद्यानुवादाङ्ग ग्रंथमें वीराचार्य, पूज्यपाद, जिनसेन, गुणभद्र, वसुनन्दी, आशाधर, हस्तिमल्ल और एकसन्धि इन नौ प्रतिष्ठा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है। आपने बताया है कि उपयुक्त नौ आचार्योंके प्रतिष्ठाग्रन्थोंका सार लेकर ग्रंथ रचना की जा रही है—

वीराचार्यसुपूज्यपादजिनसेनाचार्यसंभाषितो-
यः पूर्वं गुणभद्रसूरिवसुनन्दीन्द्रादिनन्द्यूर्जितः।
यश्चाशाधरहस्तिमल्लकथितो यश्चैकसंधीरितः
तेभ्यस्स्वाहृतसारमार्यरचितः स्याज्जैनपूजाक्रमः॥

इससे स्पष्ट है कि तेरहवीं शताब्दीके पूर्व प्रतिष्ठा ग्रन्थोंकी रचना पर्याप्त मात्रामें हो चुकी थी। १५ वीं, १६ वीं और १७वीं शताब्दीमें तो संस्कृत-पूजा-साहित्यका निर्माण विपुल परिमाणमें हुआ, इस कालमें होने वाले प्रायः सभी भट्टारकोंने पूजा-साहित्यका सृजन किया। क्योंकि इस कालकी भट्टारक परम्परा प्रकाण्ड विद्वान् होनेके साथ-साथ जैन शासनकी रक्षिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थी। भारतके इतिहासमें यह समय धर्मसंकटका माना गया है, इसमें मुसलमान इतर धर्मवालों के साथ अन्याय एवं अत्याचार करते थे अतः लोग भगवान्की शरणको ही सर्वोपरि आश्रय मानते थे। इसीसे इस समयमें पूजा या भक्ति साहित्यका निर्माण विशेष रूपसे हुआ। जैन परम्पराकी दृष्टिसे विचार करनेपर अवगत होगा कि इस भट्टारक युगमें आसाताके उदयसे आगन्तुक उपद्रवोंकी शान्तिके लिए आराधना ग्रंथ तथा यक्ष, यक्षिणियोंके पूजा ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे थे। क्योंकि उस समयकी उपासना पद्धतिका हेतु आत्माकी निर्मलताके साथ-साथ असाताजन्य दुर्घटनाओंकी शान्ति करना भी था। इस समय ग्रन्थोंकी पूजाके ग्रंथ भी रचे गये थे। त्रिलोकसार पूजा, समयसार पूजा, गोम्मटसार पूजा आदि पूजा ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि उस समय भक्ति भावना या श्रद्धावृद्धिका बड़ा भारी प्राबल्य था। जो व्यक्ति इतर धर्मोंके चमत्कारसे प्रभावित होकर उधर की उपासना पद्धति एवं क्रियाकाण्डकी ओर झुक रहे थे, भट्टारक परम्पराने उनकी बड़ी रक्षा की और जैन साहित्यमें भी वैसे ग्रंथोंकी रचना कर उन्हें इस ओर आकर्षित किया। अतएव स्पष्ट है कि १५वीं शताब्दीसे लेकर १९वी शताब्दी तक विपुल परिमाणमें पूजा ग्रंथ रचे गये। दि० जैन-संस्कृत-पूजा साहित्यके अब तकके उपलब्ध ग्रन्थोंकी संख्या लगभग ५९० के हैं, जिनमें २०० ग्रंथ रचयिताओंके नाम सहित मिलते हैं। ऐसे भी कई ग्रन्थ हैं जिनमें एक ही ग्रंथके रचयिता कई आचार्य हैं।

दि० जैन संस्कृत-पूजा-साहित्यकी सूची

१. अकलंक संहिता (प्रतिष्ठा पाठ) अकलंकदेव भट्टारक (पौरवाड़ जातीय सं० १२५६)

२. अंकुरारोपण विधान—इन्द्रनन्दि (नन्दिसंघीय वि० सं० ९९०)

३. अनन्तनाथ पूजा—ब्र० शान्तिदास।

४. अनन्तव्रत पूजा—ब्र० जिनदास (वि० सं० १५१०), श्रीभूषण भट्टारक, ब्र० शान्तिदास।

५. अनन्तव्रतपूजा व उद्यापन—गुणचन्द्राचार्य (वि० सं० १६००), श्रीभूषण भट्टारक, ब्र० शान्तिदास।

६. अनन्तव्रतोद्यापन—रत्नचन्द्र भट्टारक (वि० सं० १६००), धर्मचन्द्र भट्टारक, गुणचन्द्र भट्टारक (वि० सं० १६००), ब्र० जिनदास (वि० सं० १५१०)

७. अन्तरीक्ष पार्श्वनाथ पूजा—नेमिदत्त यति (नेमिनाथ पुराणके रचयिता वि० सं० १५७५)

८. अभिषेक पूजन—केशवनन्दन।

९. अर्हत्प्रतिष्ठासार—कौमारसेन (वि० सं० ७७०)

१०. अर्हंकाराक्षर पूजा—

११. अष्टाह्निकासर्वतोभद्र पूजा—कनककीर्त्ति भट्टारक।

१२. अष्टान्हिका सिद्धचक्र व्रतोद्यापन—महाचन्द्र सूरि (वि० सं० ९७४)

१३. अष्टान्हिकोद्यापन—कनककीर्त्ति भट्टारक, धर्मकीर्त्ति भट्टारक, (धनञ्जय कृत द्विसन्धान काव्यकी टीकाके रचयिता), श्रुतसागर (यशस्तिलककी टीकाके रचयिता), सकलकीर्त्ति (द्वितीय)

१४. आदित्यवार व्रत पूजा—भ० देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्ट के भट्टारक वि० सं० १६६२, ग्रन्थलिपि सं० १८५२ श्लो० २४०)

१५. आदित्यव्रतोद्यापन—भ० देवेन्द्रकीर्त्ति (श्लो० १५०)

१६. आराधनासार—देवसेन (काष्ठासंघी)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१७. इन्द्रध्वजपूजा—भ० विश्वभूषण (वि० सं० १८१०), शुभचन्द्र (त्रिविधविद्याधरषट्भाषा-कवि चक्रवर्त्ती वि० सं० १६८० सागवाड़ा पट्टाधीश)

१८. ऋषिमण्डल पूजा—गुणनन्दि भट्टारक, वीर पण्डित।

१९. ऋषिमण्डल स्तवन व पूजन—ब्र० जिनदास, भ० विश्वभूषण।

२०. कर्मचूरोद्यापन—लक्ष्मीसेन।

२१. कर्मदहन पूजा—शुभचन्द्र, जिनचन्द्र मुनि (अग्रवाल जातीय वि० सं० १५०७) सोमकीर्त्ति (सप्तव्यसन चरित्र के रचयिता), सोमदत्त।

२२. कर्मदहनाराधना विधान—कल्याणकीर्त्ति।

२४. कलिकुण्डपूजा—श्रुतसागर, पद्मनन्दि भ० (वि० सं० १३६२), देवराज (ग्रंथकी श्लो० सं० २००)

२५. कल्याणमन्दिरोद्यापन—सुरेन्द्रभूषण (वि० सं० १८८२), देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्टके भट्टारक)

२६. काञ्जीद्वादश्युद्यापन—खुशाल पण्डित।

२७. केवलचान्द्रायणोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति।

२८. क्षमावाणोपूजा—ब्रह्मसेन।

२९. क्षीरोदानी पूजाष्ठक—अभयचन्द्र।

३०. क्षेत्रपालपूजा—देवेन्द्रकीर्त्ति भ०, विश्वसेन भ०

३१. गणधरवलयपूजा-हस्तिमल्ल पण्डित, शुभचन्द्र (त्रिविधविद्याधरषट्भाषाकविचक्रवर्त्ती, सागबाड़ा पट्टाधीश, वि० सं० १६८०), धर्मकीर्त्ति भट्टारक, पद्मनन्दि भट्टारक (वि० १३६२), प्रभाचन्द्र भ० (वि० सं० १५८०)

३२. गणधरवलय यंत्रपूजा-राजकीर्त्ति सूरि।

३३. गन्धकुटी पूजा—शुभचन्द्र भ०, प० आशाधर।

३४. गुरुपूजा—जसकीर्त्ति।

३५. गोम्मटसार पूजा—श्रुतसागर (यशस्तिलकके टीकाकार), रायमल्ल।

३६. चतुर्दशी विधान—विद्यानन्दि मुनि (जयसिंह राजा के मंत्री ताराचन्द्रके व्रतोद्यापन के लिए रचना की है—ग्रंथ प्रमाण १५ पत्र)

३७. चतुर्दश्युद्यापन—सुरेन्द्रभूषण।

३८. चतुर्मुख पूजा-ऋषिकेश।

३९. चतुर्विंशतिपूजा—श्रीभूषण, शुभचन्द्र, रामचन्द्र मुमुक्षु।

४०. चतुर्विंशत्युद्यापन—जिनदास।

४१. चतुस्त्रिंशदुत्तर द्वादशशतोद्यापन—जिनदास।

४२. चतुस्त्रिंशदधिक द्वादशशतोद्यापन—शुभचन्द्र।

४३. चन्दनषष्ठीपूजा—लक्ष्मीसेन, वज्रकीर्त्ति।

४४. चन्दनषष्ठ्युद्यापन—देवसेन भ०, सोमकीर्त्ति।

४५. चन्द्रप्रभदेव पाठ—देवसेन

४६. चन्द्रप्रभदेव पूजा—अज्ञात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४७. चमत्काराख्य आदिनाथ पूजा—

४८. चारित्र शुद्धि पूजा—श्रीभूषण मुनि ।

४९. चारित्रशुद्धि तपोद्यापन—शुभचन्द्र ।

५०. चिन्तामणि पूजा—शुभचन्द्र ।

५१. चिन्तामणि पार्श्वनाथ पजा—सोमसेन ।

५२. चिन्तामणि यंत्र पूजा—शुभचन्द्र ।

५३, चौबीसी पूजा—माघनन्दी व्रती ।

५४. जम्बूद्वीपस्थ अकृत्रिम जिनपूजा—लक्ष्मीसागर शिष्य प० जिनदास ।

५५. जम्बूद्वीप पूजा—ब्र० जिनदास ।

५६. जिनगुण सम्पत्तिव्रत पूजा—श्रुतसागर

५७. जिनगुण सम्पत्त्युद्यापन—विशालकीर्त्ति पुत्र विश्वभूषण भट्टारक, सुमतिसागर ।

५८. जिनयज्ञकल्प—आशाधर, भावशर्मा, शुभचन्द्र ।

५९. जिनसहस्रनाम पूजा—धर्मभूषण ।

६०. जिनेन्द्रदेवशास्त्रगुरु पूजा—विश्वसेन ।

६१. जैनपूजा पद्धति—गुणचन्द्र भट्टारक ।

६२. जैन महाभिषेक पूजा—पूज्यपाद ।

६३. जैनेन्द्रयज्ञ विधि—श्रुतसागर ।

६४. ज्ञानपञ्चविंशत्युद्यापन—भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति ।

६५. ज्येष्ठजिनवर पूजा—ब्र० कृष्णराज (वि० सं० ६७२, ग्रंथका लिपिकाल सं० १६४०)

६६. ज्येष्ठजिनवर व्रतोद्यापन—श्रीभूषण कवि ।

६७. ज्वालामालिन्युद्यापन—लक्ष्मीसेन ।

६८. तीसचौबीसी पूजा—धर्मचन्द्र भ०, शुभचन्द्र, भावशर्मा ।

६९. तेरह द्वीप पूजा—शुभचन्द्र ।

७०. त्रिकाल चतुर्विंशतिकोद्यापन—गुणनन्दि भ० ।

७१. त्रिकाल चौबीसी पूजा—भ० विद्याभूषण ।

७२. त्रिकुण्डी होमशान्तिक पूजा—रविषेण भट्टारक ।

७३. त्रिचतुर्विशति विधान—विद्याभूषण भ० ।

७४. त्रिपञ्चाशत्क्रियोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति ।

७५. त्रिलोकसार पूजा—ललितकीर्त्ति, बामदेव, सुमतिसागर ।

७६. त्रिलोकसार महापजा—सहस्रकीर्त्ति ।

७७. त्रेपनक्रियाव्रत पूजा–देवेन्द्रकीर्त्ति अग्रवाल (वि० सं० १६४०–ग्रन्थ प्रमाण २०० श्लो०)

७८. त्रेपनक्रियाव्रतोद्यापन—विक्रम देवेन्द्र अग्रवाल ।

७९. दशलक्षण पूजा—धर्मचन्द्र, सुमतिसागर ।

८०. दशलक्षण पूजा विधान–सोमसेन ।

८१. दशलक्षण व्रतोद्यापन—सुमतिसागर, रत्नकीर्त्ति, धर्मचन्द्र; विश्वभूषण ।

८२. दुधारस व्रतोद्यापन–श्रीधर्ममुनि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

८३. देवपूजा–पं० शिवचन्द्र (ग्रंथ प्रमाण ८८–पत्र लि० सं० १९४७)

८४. देवव्रतोद्यापन–पद्मनन्दी ।

८५. द्वादशव्रतपजा–भोजदेव ।

८६. द्वादशव्रतोद्यापन–शान्तिदास ब्र० श्रीभूषण कवि ।

८७. धर्मचक्रपूजा–साधु रणमल्ल, यशोनन्दि (द्वितीय वि० सं० ३६८), वीर पण्डित ।

८८. धर्मवृहद्पजा–हंस कवि ।

८९. नंदीश्वर पंक्तिपूजा–कनककीर्त्ति ।

९०, नंदीश्वर लघुपूजा–देवेन्द्रकीर्त्ति ।

९१. नन्दीश्वर विधान–देवेन्द्रकीर्ति ।

९२. नन्दीश्वर व्रतोद्यापन विधि—ज्ञानसागर, श्रुतसागर ।

९३. नवकार पैंतीस पूजा--भ० सुमतिसागर, अक्षयराम ।

९४. नवकार पैंतीस व्रतपूजा—कनककीर्ति ।

९५. नवगृह पूजा—इन्द्रनन्दि भट्टारक, बुधवीरु ।

९६. नित्यमहोद्योत अभिषेक पाठ—पं० आशाधर ।

९७. निर्वाणपूजा—उदयकीर्त्ति ।

९८. पञ्चपरमेष्ठो पाड—आशानन्दी ।

९९. पञ्चपरमेष्ठी पूजा—यशोनन्दी (वि० सं० ३६८), शुभचन्द, जिनदास, ज्ञानभूषण ।

१००. पञ्चकल्याणक पूजा—सुधीसागर, सुमतिसागर, श्रीचन्द्र (वि० सं० १२१४), ज्ञानसागर, चन्द्रकीर्त्ति (लिपिकाल सं० १८८७), सुरेन्द्रभूषण, मेघराज ।

१०१. पञ्चक्षेत्रपाल पूजा—गंगादास ।

१०२. पञ्चमास चतुर्दशीव्रतोद्यापन—भ० सुरेन्द्रकीर्त्ति ।

१०३. पञ्चमीव्रतोद्यापन—उदयपुत्र हर्षनामा सुधीर (ग्रन्थ प्रमाण ७५ श्लो०)

१०४. पञ्चमेरु पूजा—सुखानन्द ।

१०५. पञ्चमेरुपूजाष्टक—विश्वभूषण भ० ।

१०६. पद्मावती पूजा—सिंहनन्दी ।

१०७. पल्यविधान पूजा—रत्ननन्दि भ० (भद्रबाहु चरित्रके रचयिता), शुभचन्द्र ।

१०८. पल्यव्रतोद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति (सांगानेर पट्टके भट्टारक), शुभचन्द्र ।

१०९. पुष्पाञ्जली पूजा—रत्नचन्द्र भ० (वि० सं० १६००), देवेन्द्रकीर्त्ति ।

११०. पुष्पाञ्जल्युद्यापन—गंगादास, छत्रसेन ।

१११. पूजाकल्प—अभयनन्दि, जिनसेन, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि, रविषेण, द्वितीय पूज्यपाद चन्द्रकीर्त्ति भ० ।

११२. पूजाविधि—लघु समन्तभद्र ।

११३. पूजासार—जिनसेन ।

११४. प्रतिमासान्तचतुर्दशी व्रतोद्यापन—अखयराज ।

११५. प्रतिमासंस्कारारोपण पूजा—इन्द्रनन्दि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

११६. प्रतिष्ठाकल्प—प्रभाकरसेन, आशाधर।

११७. प्रतिष्ठाकल्पटिप्पण (जिनसंहिता)—माघनन्दी सुत कुमुदचन्द्र (ग्रन्थ प्रमाण—पत्र संख्या ३९)

११८. प्रतिष्ठातिलक—नरेन्द्रसेन, ब्रह्मसूरि, देवसेन काष्ठासंघी, नेमिचन्द्र कवि।

११९. प्रतिष्ठापाठ—प्रभाचन्द्र, पूर्णदेव, इन्द्रनन्दि, जयसेन।

१२०. प्रतिष्ठासार—वसुनन्दी।

१२१. प्रतिष्ठासारसंग्रह—फतेहलाल।

१२२. बीस विरहमानपूजा—ब्रह्मदास, अमरचन्द्र (ग्रन्थप्रमाण ३१ पत्र)

१२३. बुद्धाष्टम्युद्यापन—देवेन्द्रकीर्त्ति भ०।

१२४. वृहद् कलिकुण्ड पूजा—भ० विद्याभूषण।

१२५. वृहद् ध्वजारोपणपूजा—केसरीसिंह पण्डित।

१२६. वृहद् सिद्धचक्र पूजा—ब्र० जिनदास।

१२७. वृहद् सिद्धचक्र यंत्रोद्धारक पूजा—प्रभाचन्द्र।

१२८. वृहद् सिद्धचक्रविधान—वीरु कवि अग्रवाल।

१२९. भक्तामरस्तवन पूजा—श्रीभूषण शिष्य भ० ज्ञानसागर।

१३०. भक्तामरोद्यापन—सुरेन्द्रभूषण भ०।

१३१. महाभिषेक विधि व पूजन—पं० नगेन्द्रसेन।

१३२. मांगीतुङ्गी गिरिपूजा—विश्वभूषण भ०।

१३३. मातृकायंत्र पूजा—इन्द्रनन्दि।

१३४. मुक्तावलीव्रतपूजा—ब्र० जीवन्धर।

१३५. मुक्तावल्युद्यापन—रत्नकीर्त्ति भ०, खुशाल पंडित।

१३६. मेघमालोद्यापन—ब्र० जिनदास।

१३७. यति भावनाष्टक—पद्मनन्दी।

१३८. योगीन्द्रपूजा—पं० साधारण।

१३९. रत्नत्रयपूजा—नरेन्द्रसेन।

१४०. रत्नत्रय बृहत्पूजा—धर्मचन्द्र भ०।

१४१. रत्नत्रयार्चन विधि—मल्लिषेण।

१४२. रविव्रतोद्यापन—भ० महीचन्द्र, ब्र० जयसागर।

१४३. रोहिणीव्रतोद्यापन—भ० प्रभाचन्द्र।

१४४. लब्धिविधान—सकलकीर्त्ति द्वितीय।

१४५. लब्धिविधानोद्यापन—विद्याधर।

१४६. विघ्नहर पार्श्वनाथ पूजा—भ० महीचन्द्र।

१४७. विद्यानुवादाङ्ग (जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय)—अप्पयार्य (वि० सं० १२४१ माघ शुक्ला-दशमी रविवार को एकशैल नामक ग्राम में इसकी रचना हुई है)

१४८. विमानशुद्धिपूजा—चन्द्रकीर्त्ति।

१४९. विमानशुद्धि शांतिक पूजा—शुभचन्द्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५०. विवाहपटलपूजा—ब्रह्मदेव ।
१५१. विंशति तीर्थंकरपूजा—नरेन्द्रकीर्त्ति ।
१५२. विषापहार पूजाविधान—देवेन्द्रकीर्त्ति ।
१५३. व्रतोद्यापन श्रावकविधि—अभयमुनि ।
१५४. शान्तिचक्रपूजा—पद्मनन्दि, इन्द्रनन्दि ।
१५५. शान्तिपूजाविधान—धर्मदेव काष्ठासंघी ।
१५६. शास्त्रपूजा—मलयकीर्त्ति ।
१५७. शीतलगंगाष्टक—यशोनन्दि ।
१५८. शुक्लपञ्चम्युद्यापन—सोमसेन ।
१५९. श्रुतस्कन्धपूजा—भ० त्रिभुवनकीर्त्ति, पं० आशाधर ।
१६०. श्रुतस्कन्धोद्यापन—नक्षत्रदेव ।
१६१. श्रुतज्ञानोद्यापन—वामदेव ।
१६२. श्रेयस्करणोद्यापन—भ० सुरेन्द्रभूषण ।
१६३. श्रेयोविधान—अभयनन्दि ।
१६४. षट्चतुर्थजिनार्चन—शिवराभिराम (ग्रन्थ प्रमाण—पृ० ९५, लिपिकाल सं० १९३८)
१६५. षण्णवतिक्षेत्रपालपूजा—भ० विश्वभूषण ।
१६६. षोड़शकारण विस्तार पूजा—भ० ज्ञानभूषण शिष्य जयभूषण ।
१६७. षोड़शकारणव्रतोद्यापन—केशवाचार्य, सुमतिसागर ।
१६८. सप्तमपरमस्थानपूजा—विद्यानन्दि मुनि ।
१६९. समयसारपूजा—शुभचन्द्र ।
१७०. समवशरण पूजा—रत्नकीर्त्ति ।
१७१. सम्मेदशिखर पूजा—गंगादास ।
१७२. सरस्वती पूजा—मल्लिभूषण शिष्य श्रुतसागर, ब्र० नेमिदत्त ।
१७३. सर्वतोभद्रपूजा—शुभचन्द्र ।
१७४. सर्वदोषप्रायश्चित्त पूजा—महेन्द्रकीर्त्ति ।
१७५. सहस्रगुणपूजा—धर्मकीर्त्ति ।
१७६. सहस्रगुणीपूजा—धर्मचन्द्र ।
१७७. सहस्रनामपूजा—खड्गसेन ।
१७८. सारस्वतयंत्रपूजा—शुभचन्द्र, श्रुतसागर ।
१७९. सार्द्धद्वयद्वीपपूजा—शुभचन्द्र, सुरेन्द्रभूषण, जिनदास ।
१८०. सिद्धचक्रपूजा—प्रभाचन्द्र, ललितकीर्त्ति, देवेन्द्रकीर्त्ति, पं० आशाधर (इसकी स्वोपज्ञ टीका भी है)
१८१. सिद्धचक्र की बृहद् पूजा—भानुकीर्त्ति, शुभचन्द्र ।
१८२. सिद्धचक्रसहस्रगुणितपूजा—शुभचन्द्र ।
१८३. सिद्धचक्रयंत्रोद्धारस्तवन पूजा—भ० विद्याभूषण ।
१८४. सिद्धपूजा—पद्मनन्दि, सोमदत्त ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८५. सुखसम्पत्तिव्रतोद्यापन—भ० सुरेन्द्रभूषण ।
१८६. सुगन्धदशम्युद्यापन—पद्मनन्दि, गंगादास ।
१८७. सूत्रोद्यापन–विजयसेन ।
१८८. स्थाण्डिल्यहोमपूजा–सोमसेन भ० ।
१८९. स्नपनविधि व पूजा—भ० अभयनन्दि ।
१९०. स्वयंभूसहस्रनाम पूजा—धर्मचन्द्र भ० ।
१९१. हेमकारी जिनपूजा—विश्वभूषण भ० ।
१९२. होमविधि व वास्तुपूजन—इन्द्रनन्दि ।

उपर्युक्त पूजा ग्रन्थों के अतिरिक्त ऐसे भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनके कर्त्ताओं का पता नहीं है । श्रीजैन-सिद्धान्त-भवन आरा के शास्त्रागार में उक्त ग्रन्थों की संख्या लगभग ८०-९० के है तथा A Descriptive catlogue of the sanskrit manuscripts in the Government oriental manuscripts library Madras में लगभग ४०-५० अज्ञात-कर्त्ता के ग्रंथों का उल्लेख है । जानकारी के लिए उक्त ग्रन्थों में से कुछ पूजाग्रंथों की प्रशस्तियाँ दी जाती हैं—

१. **वज्रपञ्जराराधनाविधान**—इस ग्रन्थ में ७ इन्च लम्बे और ६ इंच चौड़े ६ पत्र हैं । इसमें सर्व प्रथम चन्द्रप्रभ प्रतिबिम्ब का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पंचगुरुपूजा और चत्तारि अर्घ्य का विधान बतलाया गया है । इसके अनन्तर चन्द्रप्रभ भगवान् की पूजा, उनकी स्तुति, श्यामयक्ष, ज्वालामालिनी यक्षी की पूजा, पञ्चपरमेष्ठी की पूजा तथा अन्य अधिष्ठात्री देवियोंकी पूजा दी गई है ।

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्रार्कं चन्द्रकान्तसंकाशम् ।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्मारकीर्त्तिकान्ताशान्तम् ॥
ॐ ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवागच्छ—
तीर्थोपनीतैर्घनसारशीलैः पातप्रपाद्यैः घुसृणाद्युपेतैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥
ओं ह्रीं चन्द्रप्रभजिनदेवाय जलं निर्वपामीति स्वाहा—
सुगन्धसारैर्घनगन्धसारैः सिताभ्रभारैः सितधामगौरैः ।
चन्द्रप्रभाभास्करदिव्यदेहं महामि चन्द्रप्रभतीर्थनाथम् ॥गन्धम्॥

अन्तिम भाग—

यस्यार्थं क्रियते पूजा सुप्रीतो नित्यमस्तु ते ।

ओं ह्रीं रं रं रं रं ज्वालामालिनी ह्रां आं क्रों क्षीं ह्रों क्लों ब्लूं द्रां द्रीं ह्मलवरयूं ह्रां ह्रीं ह्रं ह्रौ ह्रः ज्वल ज्वल प्रज्वल प्रज्वल धग धग धूं धूं धूम्रान्धकारिणी शीघ्रं यन्त्राधिपतये देवदत्तस्य सर्वग्रहोच्चाटनं कुरु कुरु ह्रूं फट नमः स्वाहा । मन्त्रपुष्पम्—

२. **कलिकुण्डाराधना विधान**—इसमें ६½ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े १३ पत्र हैं । इसके प्रारम्भ में कलिकुण्डयन्त्र, पार्श्वनाथ की प्रतिमा का अभिषेक, भूमिशुद्धि, पञ्चगुरु पूजा

६१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं चत्तारि अर्घ्यों का कथन है। उसके पश्चात् पार्श्वनाथ पूजा, इनकी मन्त्रस्तुति घरणेन्द्र यक्ष और पद्मावती की पूजा तथा इनके मन्त्रस्तोत्र दिये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में यन्त्रस्थ पिण्डाक्षरों का अर्घ्य, अष्टमात्रिका की पूजा, मन्त्रपुष्प एवं जयमाला आदि हैं।

प्रारम्भिक भाग—

सत्पुष्पधाम्ना प्रविराजितेन पुष्पेण पूर्णेन सुपल्लवेन।
सन्मङ्गलार्थं कलिकुण्डदेवमुपांगुभूमौ समलङ्करोमि ।। (कलशस्थापनम्)
शुद्धेन शुद्धह्लदकूपवापी गङ्गातटाकादिसमावृतेन।
शीतेन तोयेन सुगन्धिवाहं भक्त्याभिषिञ्चे कलिकुण्डयन्त्रम् ।।
(तीर्थोदकाभिषेकः)

नीरैः सुगन्धैः कमलाक्षतौघैः पुष्पैर्हविर्भिर्वरधूपधूमैः।
भास्वत्फलार्घ्यैः कलिकुण्डयन्त्रं सम्पूजयाम्यष्टतया सुभक्त्या ।।

अन्तिम भाग—

कलिलदहनदक्षं योगियोगोपलक्षम्।
ह्यविकुलकलिकुण्डो दण्डपार्श्वप्रचण्डम्।
शिवसुखमभवद्वा दासवल्लीवसन्तम्।
प्रतिदिनमहमीडे वर्धमानस्य सिद्ध्यै ।।

३. **मृत्युञ्जयाराधना विधान**—इसमें ६¾ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े ७ पत्र हैं। इसके आरम्भ में चन्द्रनाथ, श्रुत, गणधर, एवं मृत्युञ्जय यंत्र का अभिषेक एवं भूमिशुद्धि, चत्तारि अर्घ्य, चन्द्रप्रभुस्वामी की पूजा निर्दिष्ट की गयी है। इसके अनन्तर यक्ष, यक्षिणी की पूजा, मृत्युञ्जय मंत्र पूजा, एवं अष्टमातृकापूजा आदि हैं।

प्रारम्भिक भाग—

चन्द्रनाथश्रुतगणधरमृत्युञ्जययन्त्रमित्येतेषामभिषेकं कृत्वा भूमिशुद्धिचत्तार्यर्घ्यानन्तरं

चन्द्रप्रभपूजा—

चन्द्रपुराम्बुधिचन्द्रं चन्द्राकं चन्द्रकान्तसंकाशम्।
चन्द्रप्रभजिनमंचे कुन्देन्दुस्फारकीर्त्तिकान्ताशान्तम् ।।
नानामणिप्रचयभासुरकण्ठपीठभृंगारनालकलितामलदिव्यतोयैः।
संसारतापविनिवारणहेतुभूतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं यजेऽहम् ।। (जलं नि०)
नाकाङ्गनाकरसरोरुहमध्यवर्त्तिकर्पूरकुंकुमविमिश्रितदिव्यगन्धैः।
मुक्तोपमानवरगन्धरमासमेतं श्रीचन्द्रनाथपदपद्मयुगं भजेऽहम् ।। (गन्धं नि०)

अन्तिम भाग—

अत्यन्तभक्त्यानतदेवचन्द्रसूर्याभिवन्द्याग्रजिनेन्द्रभक्ता
ब्रह्माणिकाद्या उररीकृतार्घ्या सर्वापमृत्युं विनिवारयन्त्यः ।।
ॐ ह्रीं अष्टमातृकाभ्यः पूर्णार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा।
अणिमादिगुणैश्वर्यशालिन्येत्यष्टमातरः।
याजकानां सुशान्त्यर्थं सुप्रसन्ना भवन्तु ताः। इष्टप्रार्थनाय पुष्पाञ्जलिः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. **जिनपुरन्दरोद्यापन**[1]—इसमें १५ इञ्च लम्बे और ४½ इञ्च चौड़े ९ पत्र हैं। इसके प्रारम्भमें आदिनाथ भगवान्‌को नमस्कार किया गया है तथा पुरन्दरव्रतका लक्षण बतलाया है, इसके अनन्तर पुरन्दरव्रतकी पूजाके लिये जिनेन्द्र भगवान्‌की स्थापना एवं पूजा है अन्तमें भगवान्‌के अतिशयोंके अष्टक हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमदादिजिनं नौमि पञ्चकल्याणनायकं।
इन्द्रादिभिर्देवगणैः पूजितमष्टधाश्चतैः॥
श्रीवीरजिननाथेन कथितं व्रतमुत्तमम्।
वक्ष्येऽहं विघ्नशान्त्यर्थं जिनपूजापुरन्दरम्॥

अन्तिम भाग—

धर्मवृद्धिजयमंगलमानराजऋद्धिप्रददाति समागम्।
पापतापदुःखरोगविनाशं कुर्वते जिनपुरन्दरवासः॥ इत्याशीर्वादः॥

५. **अक्षयनिधिव्रतोद्यापन**—इसमें १० इञ्च लम्बे और ७ इंच चौड़े ५ पत्र हैं। यह एक गुटमें हैं, जिसमें २५-२६ उद्यापन हैं। इसके प्रारम्भमें व्रतविधि बताई गयी है, अनन्तर अर्हन्त पूजा है तथा अन्तमें २४ भगवानोंके अष्टक हैं।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीसर्वज्ञपादाम्भोजम्, इन्द्रनागेन्द्रपूजितम्।
वाञ्छितार्थफलं नूनं, अक्षयाक्षविधानकम्॥
आगमव्रतमायुष्मान्, यथावत्संगिराम्यहम्।
धर्मार्थरागिनो जाते, सुखस्वर्गापवर्गकम्॥

अन्तिम भाग—

अमिप्रणीताभिरतीवसद्भाविशुद्धकर्पूररजोयुताभिः।
यजाम्यहं सर्वसुखार्थहेतोः जिनेन्द्रबिम्बं भवनाशनाय॥
ॐ ह्रीं चतुर्विंशतिजिनेभ्यो नमः, अक्षयपदनिधानेभ्यो नमः। जलं।
सच्चन्दनैर्लोहितचन्दनाद्यैः, सिताभ्रकालागुरुजातमिश्रैः॥
यजाम्यहं सर्वसुखार्थहेतोः जिनेन्द्रबिम्बं भवनाशनाय॥ गन्धं॥

'भवन'के इस गुटकेमें ऐसे कई उद्यापन हैं जिनके अष्टक संस्कृत भाषामें हैं और जयमाला अपभ्रंश या हिन्दीमें है। उपर्युक्त अक्षयविधानोद्यापनकी अन्तिम जयमाला भी हिन्दीमें लिखी हुई है जो पीछे जोड़ी हुई मालूम पड़ती है तथा प्रकरण से असम्बद्ध भी जँचती है।

६. **वास्तुविधान**—इसमें ६ इञ्च लम्बे और ५ इंच चौड़े ९ पत्र हैं। इसके प्रारम्भमें अंकुरविधान, नान्दीविधान आदिका निर्देश करते हुए सकलीकरण आदि क्रियाओंका संक्षिप्त

---

१. लेख लिखे जानेके बाद पता चला है कि इस जिनपूजापुरन्दर के कर्त्ता सोमसेन हैं। लेखक—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कथन है। इसके अनन्तर ब्रह्म, इन्द्र, वरुण, पवन आदि दश वास्तु देवताओंकी पृथक्-पृथक् पूजा है।

प्रारम्भिक भाग—

अथार्हदीशप्रतिमाप्रतिष्ठाविधाननिर्विघ्नसमाप्तिसिध्यै।
ततोऽङ्कुरार्चादिवसार्द्धपूर्वे दिने क्षपायां विदधीत नान्दीम्॥
तत्रापि पर्वं विदधीत वास्तु दिवौकसां भेकपदेस्थितानाम्।
ततः परे वो विधिवत्सपर्यां क्रमेण सामान्यविशेषकल्पाम्॥
स्नात्वा समाचम्य समेत्यधाम कृत्वा तदेर्यापथशोधनञ्च।
स्तुत्वा च सिद्धान् सकलीविधानं कृत्वैकतानो रहसि प्रदेशे॥
कृत्वा समासाज्जिनराजपूजां श्रुतं समाराध्य तथा मुनीन्द्रान्।
गुरोरनुज्ञां शिरसा गृहीत्वा दत्वानियोगं परिचारकाणाम्॥
प्रत्यग्रधौतोत्तमशुभ्रवासकृतान्तरीयं च तथोत्तरीयम्।
हैमोपवीताङ्गदहारमुद्रिकाकिरीटकर्णाभरणादिभूषितः॥

अन्तिम भाग—

सम्पूजिता इत्यमरेन्द्रमुख्याः महामहिम्ना प्रतिभासमानाः।
दशप्रकारोदितभावनेन्द्राः कुर्वन्तु शान्ति जिनभाक्तिकानाम्॥
मुखयाविमौ चन्द्रदिवाकरौ च शेषग्रहा अश्वयुगादितारा:।
प्रकीर्णका ज्योतिरमर्त्यवर्गाः कुर्वन्तु शान्ति जिनभाक्तिकानाम्॥
जिनेन्द्रचन्द्रस्य महामहेऽस्मिन् संपूजिताः कल्पनिकायवासाः।
सौधर्ममुख्यास्त्रिदशाधिनाथाः कुर्वन्तु शान्तिं जिनभाक्तिकानाम्॥
इष्टप्रार्थनाय पुष्पाञ्जलिः॥
संस्थाप्य मध्येष्टदिशासु बाह्यं जलप्रपूर्णं सहिरण्यं भागम्।
सुवस्त्रमाल्याध्वजदर्पणादयं कुम्भं यजे वास्तुसमृद्धिसिध्यै॥
इति बास्तुपूजाविधानं समाप्तम्।

७. **जैनपूजाविधान**—इसमें १३ इंच लम्बे और २ इञ्च चौड़े ६० ताड़पत्र हैं तथा प्रतिपत्र में ५ पंक्तियाँ हैं। लिपि कन्नड़ और भाषा संस्कृत है। इसमें पूजाविधिका वर्णन विस्तार सहित किया है। तथा पञ्च परमेष्ठोके पृथक् पृथक् अष्टक निर्दिष्ट हैं।

प्रारम्भिक भाग—

संकल्प्याभिषवं विशोध्य भुवमास्थाप्यात्र दर्भान् पुटान्
पीठं बिम्बमिहार्हतं जिनमुपास्याष्टासनादिक्रमैः।
दिक्पालान् परिपूज्य सज्जलमुखेनान्यैः कषायोदकैः
संस्नाप्यान्ववतार्य कोणकलशैर्गन्धोदकैः स्नापयेत्॥
विधियज्ञप्रतिज्ञापनाय पुष्पाञ्जलिः........।
जिनानामपि सिद्धानां महर्षीणां समर्चनात्।
पाठात् स्वस्त्ययनस्यापि पुनः पूर्वं प्रसादयेत्॥
पुनः प्रशस्तिविधानसूचनार्थमर्चनपीठाग्रतः पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तिम भाग—

सिद्धपरमेष्ठिने नमः स्वाहेत्यादि। अथ कर्णिकायानर्चादिशि आचार्य परमेष्ठी पूजा।

कुमतोतिमिरसूर्यान् सारगाम्भीर्यधैर्यान्
परहितनिजकार्यान् पञ्चभेदोद्धचर्यान्।
विनयवत [वि] विधीयान् पूजयाम्यादृतार्यान्
मुनिजनपरिवार्यान् श्रीमदाचार्यवर्यान्॥

८. **जैन-मंत्र-यंत्र-पूजा**—इसमें १४ पत्र और प्रति पत्र ८ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ में कलशाभिषेक, यन्त्रस्नपन का निर्देश किया गया है पश्चात् यन्त्रपूजा का वर्णन है।

प्रारम्भिक भाग—

निष्ठाप्यैवं जिनानां सवनविधिमनुप्राच्यभूभागमन्यं
पूर्वोक्तैर्यन्त्रमन्त्रैरिह भुवि विधिनाराधनापीठयन्त्रम्।
कृत्वा सच्चन्दनाद्यैर्वसुदलकमलं कर्णिकायां जिनेन्द्रान्
प्राच्यां संस्थाप्य सिद्धानितरदितिगुरून्मन्त्ररूपान् विधाय॥
जैनं धर्मागमार्चानिलयमपि विदिश्यत्र मध्ये लिखित्वा
वाह्ये कृत्वाथ चूर्णैः प्रविशदशदकैः पञ्चकृन्मण्डलानाम्।
तत्रस्थाप्यास्तिथीशा ग्रहसुरपतयो यक्षयक्षीः क्रमेण
द्वारेशा लोकपाला विधिवदिह महं यन्त्रतो व्याह्वियन्ते॥

अन्तिम भाग—

स्फुरिततरतनुश्रीः ह्री लसद्भृत्युपेता
द्युतिमतिविजयाः सत्कीर्त्तिलक्ष्मीश्च पश्चात्।
विधृतविविधभूषाविद्रुमद्योतदेहाः
जिनपतिसवनेऽस्मिन् व्याह्वये दिक्पुरन्ध्रीः॥

ओं ह्रीं क्रों वराहे श्री ह्रीधृतिद्युतिमतिकीर्त्तिबुद्धिलक्ष्म्य आगच्छत।
यस्यार्थं क्रियते पूजा तस्य शान्तिर्भवेत्सदा।

९. **जैनहोमोत्सवपूजा**—इसमें ३८ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ ५ पंक्तियाँ हैं। प्रारम्भ में शान्तिनाथ भगवान् को पुष्पाज्जलि दी गई है, अनन्तर वाद्य उद्घोषण पूर्वक पञ्चपरमेष्ठी पूजा, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र की पूजा दी गई है।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीशान्तिनाथममरासुरमर्त्यनाथ-
भास्वत्किरीटमणिदीधितिधौतपादम्।
त्रैलोक्यशान्तिकरणप्रवणं प्रणम्य
होमोत्सवाय कुसुमाञ्जलिमुत्क्षिपामि॥

ओं ह्रीं श्रीं भू स्वाहा। होमप्रस्तावनपुष्पाञ्जलिः।

अन्तिम भाग—

औदासीन्यसुशक्तिसंयतमतिक्रोधाधिमावोल्लस-
ज्जीवव्रातविकारदोषहननं कर्मक्षयोत्पादकम्॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवेन्द्रादिनमस्क्रियासमुचितं संसारदुःखापहं-
साक्षात्मोक्षसुखप्रदं प्रविमलं चारित्रमर्चामहे ॥
अर्हत्सिद्धाः सूरयः पाठकेन्द्राः
सर्वेऽप्येते साधवः साधुवन्द्याः ।
सम्यग्दृष्टिज्ञानचारित्रयुक्ताः
श्रेयःकुर्वन्त्वर्धिताः सज्जनानाम् । पूर्णार्घ्यम् ॥

१०. **जैनाराधनविधि**—इसमें १३½ इञ्च लम्बे और १¾ इञ्च चौड़े ६२ ताड़पत्र हैं, प्रतिपत्र ५ पंक्तियां हैं । पूजाविधि के साथ जिनेंद्र पूजा के अष्टक हैं, अन्त में जयमाला है ।

रागादिदोषरहितं सुरराजवन्द्यं-
नत्वा जिनेशमखिलामलयोगिसेव्यम् ।
पुष्पाञ्जलिं जिनमुखे वयमुत्क्षिपामः
श्रीमूलसङ्घवरभव्यजनप्रशान्त्यै ॥

ओं परब्रह्मणे नमो नमः । स्वति, जीव, नन्द, वर्धस्व, विजयस्व, अनुशोधि, पुनीहि पुण्याहं, माङ्गल्यं, पुष्पाञ्जलिं स्वाहा ।

अन्तिम भाग—

ओं ह्रीं श्रीं क्लीं ऐं अर्हमिदं पुष्पांजलिं प्रार्चनमिदं गृहीध्वम् । नमोऽर्हद्भ्यः स्वाहाः ।

शक्रचक्रधराहीन्द्रराजिताङ्घ्रियुगाम्बुजः ।
पायादपायाद्भव्यौघं श्रीपतिः श्रीजिनः सदा ॥

११. **तीर्थंकरपूजा**—इसमें २० ताड़पत्र हैं, प्रति पत्र में ७ पंक्तियाँ हैं । प्रारम्भ से लेकर अन्त तक चौबीस तीर्थकरों की पूजा का वर्णन है ।

आरम्भिक भाग—

आदिनाथोऽस्तु वः स्वस्ति स्वस्ति स्यादजितेश्वरः ।
संभवो भविता स्वस्ति भूयात् स्वस्त्यभिनन्दनः ॥
स्वस्तिमन्तं स्वयं शाश्वत सन्तु स्वस्त्ययनं जिनाः ।
एतत्सप्तकं पठित्वा पुष्पांजलिं क्षिपामि स्वाहा ॥

अन्तिम भाग—

द्वासप्तर्ति तीर्थकृता त्रिकाले त्रिषष्टिसंख्या पुरुषोत्तमानाम् ।
त्रिलोकसाम्राज्यरमाधिपानां पुष्पोत्तरार्घ्यैर्महयामि देवान् ॥

ओं ह्रीं त्रिकालत्रिलोकभव्यजनमहितद्वासप्ततितीर्थकरपरमदेवेभ्यः महार्घ्यं निर्वपामि स्वाहा ।

१२. **तीर्थंकरयजनक्रम**—इसमें १० पत्र हैं और प्रति पत्र ७ पंक्तियाँ हैं, २४ तीर्थंकरोंके पूजाविधान का वर्णन है ।

प्रारम्भिक भाग—

येऽमी सम्प्रति कालभव्यजनता दृष्टामरेन्द्रैर्मुदा-
कल्याणे वृषभादयो जिनवराः संपूजितास्तानिह ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रैलोक्याधिपतीन् यजाम्यतिशयोपेतांश्चतुर्विंशतिम्-
शान्त्यर्थी जगतां चराचरगुरुंस्तीर्थङ्करान् साम्प्रतम् ॥

ओं ह्रीं वृषभाजितवर्तमानकालचतुर्विंशतितीर्थङ्करपरमदेवान् सलिलमलयजशतककुसुमसांनाय्यप्रदीपधूपफलस्तवकशान्तिधाराद्यष्टकमङ्गलद्रव्यैराराधयामि स्वाहा । ठकारवलयाम्यन्तरे च सोमयमवरुणधनदजिनवेदिद्वारपालनियुक्ताः स्वस्वामिहेत्वनुयोगं कुर्वस्मिन् ।

अन्तिम भाग—

यष्टुं कुक्कटसर्पगात्रिफणकोत्तंसा द्विषां यात्तषट्-
पाशादी सदसत्कृते च धृतशङ्खास्यादिदोस्त्र्यष्टंगा ।
तां शान्ता व(म) रुणां स्फुरच्छ्रृणिसरोजन्माक्षमालाम्बरां-
पद्मस्थां नवहस्तकप्रभुनुतां यायज्मि पद्मावतीम् ॥
भगवन् दुर्मार्गविनाशनपरसन्मार्गपरिपालकयक्षेश्वर स्वाहा ।

१३. **शान्तिहोमोत्सवविधि**—इसमें ७९ पृष्ठ हैं और प्रति पृष्ठ में ५ पंक्तियाँ हैं। सांसारिक अरिष्टोंकी शान्तिके लिये भगवान् शान्तिनाथकी पूजा की गयी है। नवग्रह संबंधी अरिष्टों को दूर करने के लिये सभी ग्रहों के पृथक् पृथक् मंत्र और पूजन भी दिये गये हैं। सांसारिक कष्टों से ऊबने वाले आराधकके लिये यह पूजन शान्तिदायक है, इससे भावुक भक्तों को सन्तोष और शान्ति मिलेगी ।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमत्पञ्चमसार्वभौमपदवीं प्रद्युम्नरूपश्रियम्
प्राप्तं षोडशतीर्थकृत्त्वमखिलत्रैलोक्यपूजास्पदम् ।
शान्तं शान्तजिनेश्वरं त्रिजगतामश्रान्ति (न्त) शान्तिप्रदम्
नत्वा शान्तिविधित्सयाद्य विदधे श्रीशान्तिहोमोत्सवम् ॥

ओं ह्रीं श्रीं क्ष्रीं भूः स्वाहा । विधियज्ञप्रतिज्ञानाय पुष्पांजलिः ।

× × × ×

ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रायस्वाहा—पीठार्चनम् ।

संस्थापयाम्युपरि तस्य जिनेश्वरार्चाम् ।
छत्रत्रयं जिनपतेरपसव्यभागे ।
छत्रत्रयं (मङ्गलं) तदनु तस्य तु सव्यभागे
वादित्रजालज (ब) धिरे सति सर्वलोके ॥

अन्तिम भाग—

ओं ह्रीं ह्रं फट् केतुमहाग्रह अमुकस्य शिवं कुरु कुरु स्वाहा ।

इत्थं सारसपर्ययाद्य महिता यूयं प्रसन्नास्तु नः
साङ्गास्ता विकला विमोहमुखतोयुष्मत्प्रसादादियम् ।
सर्वज्ञाध्वरविघ्नमाघ्नत द्रुतं सूर्यादिसर्वग्रहान् ।
पूर्वाङ्गान् विधिपूर्त्तिपूर्णफलदां पूर्णाहुतिं वोऽर्पये ॥

ओं ह्रीं आदित्यादिनवग्रहदेवा यष्टृप्रभृतीनां शांतिं कुरु स्वाहा—
पूर्णार्घ्यम् ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१४. ज्वरशान्तियन्त्रपूजा—इसमें ७ ताड़पत्र हैं और प्रति पत्र ५ पंक्तियाँ हैं। ज्वरको दूर करनेके लिये शान्तिदायक यंत्रका विधान बताया गया है। प्रारम्भमें यंत्रको लिखनेकी विधिका वर्णन किया गया है, अनन्तर यन्त्रकी पूजा है। भगवान् पार्श्वनाथकी पूजा, आरती और मन्त्रजापका वर्णन है। Catalogue के सम्पादकने इसके विषयका वर्णन करते हुए लिखा है कि "Deals with the drawing and sanctification of a Ya ntra (mysticdiagram) which is considered to have the power of curing one of severe fevcr and freeings one from danger of any kind.

अर्थात् इस यन्त्रपूजाके द्वारा सभी प्रकारके ज्वर दूर हो जाते हैं और आराधकको परम शान्ति मिलती है—

प्रारम्भिक पूजा—

हंसावृताभिधानं मलवरषष्ठस्वरान्वितं कूडम् ।
बिन्दुयुतं स्वरपरिवृतमष्टदलाम्भोजमध्यगतम् ।।
तेतोऽर्हं सोमसुधा हंस स्वाहेति दिग्दलस्य विलिखेत् ।
× × × ×
श्रीपार्श्वनाथस्सहितं करोति दाहज्वरे लोपितमन्त्रखण्डे ।
तदालिख्यापायत्कांस्यभाजने महादाहज्वरग्रस्तं तत्क्षणेनोपशाम्यम् ।

अन्तिम भाग—

वहिरर्चयेत् समन्तात् गन्धाक्षतकुसुमचरुकाद्यैः ।
क्रूरारिमारिशाकि[नी]न्युरगनवग्रहापिशाचचोरभयम् ।।
अपहरति तत्क्षणादिह तत्सलिलद्रवसमासिक्तः ।।

१५. जैनेन्द्रयज्ञविधि—इसमें १८ ताड़पत्र हैं और प्रतिपत्र ४ पंक्तियाँ हैं। जिनेन्द्र भगवान् की पूजाविधिका सविस्तार वर्णन है।

प्रारम्भिक भाग—

श्रीमज्जिनेन्द्रमभिवन्द्य जगत्त्रयेशं
स्याद्वादनायकमनन्तचतुष्टयार्हम् ।
श्रीमूलसंघसुदृशां सुकृतैकहेतुः
जैनेन्द्रयज्ञविधिरेष मयाभ्यधायि ।।

ओं ह्लां ह्लीं ह्लूं ह्लौं ह्लः असि आ उ सा। ओं नमोऽर्हते भगवते श्रीमते पवित्रतर-जलेन मम हस्तशुद्धिं करोमि स्वाहा।

ओं ह्लां जलेन मम सर्वाङ्गशुद्धिं करोमि स्वाहा। ओं ह्लां जलेन मम पूजापात्रशुद्धिं करोमि स्वाहा। ओं ह्लां जलेन मम पूजाद्रव्यशुद्धिं करोमि स्वाहा।

अन्तिम भाग—

पानीयैर्जिनराजमज्जनकृतैर्गन्धैर्जिनेन्द्रार्चितैः
स्रग्भिः श्रीजिनपूजिताभिरर्हत्पादाञ्चितैरक्षतः ।
हव्यैः श्रीजिनपादपीठमहितैर्दीपैस्तमश्छेदिभिः ।।
धूपैर्गुग्गुलसंभवैर्बहुफलैः क्षेत्राधिपो मान्यते ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राप्ताभ्यङ्गविधिर्जटामुकुटवान् नीलाञ्जनाभः सदा
हैमं पात्रमसिं गदां च डमरुं बिभ्रच्चतुर्भिः करैः।
नग्नो नागविभूषणस्त्रिणयनः श्रीजैनपूजार्चितः
सिन्दूराङ्कितमौलिरिष्टफलदः क्षेमं क्रियात् क्षेत्रपः॥
आशीर्वादः।

इस प्रकार अज्ञात कर्त्तावाले पूजाग्रन्थ २००-२५० के लगभग हैं। इन ग्रन्थोंमें-से अधिकांशकी प्रशस्तियाँ जैन-सिद्धान्त-भवन आरा एवं मद्रास लाइब्रेरीके सूत्रीपत्रमें वर्तमान हैं। अन्वेषण करनेपर खासा पूजा साहित्य तैयार किया जा सकता है। जैनाचार्योंने अपनी बहुमुखी प्रतिभाके द्वारा विभिन्न भाषाओंमें सहस्रों ग्रन्थोंकी रचना की है। साहित्योद्धारकोंको पूजा साहित्यकी ओर भी ध्यान देना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भगवदी-आराहणाए वसधि-वियारो

मुणिचरियाए अब्भंततम्मि वसधि-वियारो एगा महन्तपुण्णा समस्सा अत्थि। एआए समस्साए समाज्झाणं परिट्ठिदि-वादावरणानुसारेण विविक्त सज्जासणतवस्स विक्खाणे समयम्मि समयंमि-आचारिएण किदं अत्थि। मुणीणं णिवासो वणे सुण्णागारेसु आसी, इति दिगम्बरपरंपराए पंचम-सतद्धिपज्जंतं मणिणदं वट्टदि। अम्हाणं एतदकहणस्स पुट्ठि इंदनन्दिसुदावदारकहाए हवदि। एअम्मि गंथम्मि लिहिदं, जओ अहद्दबलिणा विभिण्णठाणादो आगदाणं मुणीणं गणसंणा ठाविदा। गुहादो आगदाणं मुणीणं नंदि या वीरसंणा, असोकवाडिगादो आगदाणं मुणीणं देव या अवराजिदसंणा, सालमलि-खंडकेसरविच्छादो आगदाणं सिंह या मद्यसंणा एवं पंचवत्थूवदो आगदाणं सेण संणा किदा[१]। अद एव फुडं एतदअत्थि जओ अहद्दबलि-समयपज्जंतं (वि० सं० २७५) गुहाए, वाडिगाए, विच्छमूलम्मि य मुणीणं वसधी आसी।

कुन्दकुन्द उमासामी[२] पभदि आचारिय रयणाहिं बुज्झदि जओ मुणीणं वसधी सुण्णा-गार-गुहा-रुक्खमूल-जक्खायदणेसु वट्टदि। दसवेयालिय[३]-उत्तराज्झयण[४] सुत्तेहिं विमुणीणं वसधी सुण्णागार विमोचिदगिहेसु एव सिज्झदि।

सेयंबर पट्टावलीए वीरणिव्वाण संवत ८८२ ईसवी सन् तइयसदीदो एव मुणीणं चेत्त-वासस्स उल्लेहो उवलब्भदे[५]। अम्हाणं अणुमाणं अत्थि जओ पारब्भे अयं चेत्तवासो विणिज्जण जक्खायदणेसु सुण्णागारेसु एव वट्टदि, कालदोसपभावादो अस्स रूवंतरं णगरट्ठिदचेत्तालयरूवेण जादं। मूलाचार भगवदी-आराहणाणं अज्झयणेण चेत्तवासस्स वसधिगाए विगासकमो फुडो हवदि। वत्थुदो जदा मुणीणं रायास्सयं जादं तदा पहुदि णगरमज्झट्ठिद चेत्तालयम्मि वसधीणं विहोट्टीआ पट्टावली-अज्झयणेण अवगदो भवदि, जओ देवणंदी पुज्जपादो गंगवंसत्थकेरस्स दुविणीदस्स सिक्खागुरु आसी[६]; अदो इदं अणुचिदं णत्थि जओ पुज्जपादादो एव णयरट्ठिद चेत्तालयेसुमुणीणं वसधीणं आरब्भो हविदो, इदि अणुमिज्जइ अम्हाहिं। अत्थेदं तादपज्जं अत्थि जओ सुण्णागारेसु जक्खायदणेसु सक्कारं किच्चा णगरट्ठिद चेत्तालयेसु वसधीणं रूवणिम्माणं जादं।

---

१. इति सञ्चित्य गुहायाः समागता ये यतीश्वरास्तेषु। काञ्चिन्नन्द्याभिधानान् काञ्चिद्वीराह्वयानकरोत्।
ये शालमलीमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपागतास्तेषु। ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागतास्तेषु॥ श्रुतावतार श्लोक ९१-९५।

२. एकान्तेऽनाबाधेऽसंसक्ते स्त्रीपशुषण्ढकविवर्जिते शून्यागार देवकुलसभापर्वत गुहादीनामन्यतमे—तत्व० भा० ९, १९.५।

३. अणिएयवासो समुयाणचरिया बिइया चूलिया विवित्तचरिया—दसवेयालिय

४. विवित्तसेज्जासणजंतियाणं—उत्तराध्ययन ३२/१२

५. वीरात् ८८२ चैत्यस्थितिः—धर्मसागरपट्टावली

६. The Jain sources of the history of ancient India, Page 161.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विसेसाज्झयणेण अवबुज्झदि जओ जिणवल्लहविदं संघपट्टस्य भूमिगाए सेयंबर चइत्त-वासस्स इतिहासे अंकिदो अत्थि । जधा वीरणिव्वाणसंवद अट्ठसयपण्णासम्मि मुणिगणा उग्ग-विहारं चइउण मन्दिरेसु वसधि-पारब्भं करेमाणो । सिग्घं एव एदेसां संखा बड्ढदि । इत्यत्तं ते मन्दिरवासिणो चडुलमेव अदिपबला संजादा । एहिं य णिगमा गंथा रचिदा तधा एआओ एदाणं गंथाणं दिट्ठिवादणाभगदुवालसम अंगस्स अंसभूदं कधिदेमंतो । एसु गंथेसु पडिवादणं किदं जओ वट्टमाण काल वत्तिणं मुणीणं चइत्तेसु णिवसणं उचिदं अत्थि । मुणोणं पोत्थकादि-कीडणत्थं आवस्सगधणस्सवि संगहो करणिज्जं । वणवासिसाहूणं णिंदा वि तत्थ वट्टदि ।

विक्कम संवद अट्ठसयदुमञ्झे अणहिलउरपट्टणस्स वणराय चावडाणियगुरुसीलगुण-सूरिपरेणाए आणा पयारिदा जओ एअम्मि णयरे चइत्तवासी साहूणं मोतूण अण्णा साहुणो ण णिवसहिंदि ।

अणेणेदं सिज्झादं जओ सेयंबरपरंपराए चइत्तवासस्स पारब्भो वीरणिव्वाणसंवद अट्ठ-सयदोसीइदो पुव्वमेव जादो ।[1]

दिगंबरपरंपराए सिवकोडिणामगविउसालिहिदरतनमालागंथम्मि कधिदं-

कलौ काले वने वासो वर्ज्यते मुनि सत्तमैः ।
स्थीयते च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ।। रत्नमाला-२२

इदं तादपज्जं जओ कलिजुगे वणवासं चइऊणं चइत्तवासो आवस्सगोअत्थि । लिंगपाहुडे आयादं जओ जिणलिंगं घेत्तूणं वि साहू कालदो सादो विवाहं किसिकम्म वणिज्जजीवघादं च उव-दिसंदि, वणवासस्स उवहासं केरंदि य । लिंगपाहुडस्स अज्झयणेण इदं विफुडो हवदि जओ तस्स गंथकत्तुणोपासत्थ चइत्तवासी-समणाणं समवायो विसेसरूवेण वट्टदि । तु अयं गंथकत्ता साहूणं पुव्वमग्गे आणेदुं पयत्तं करेदि । अणेणेव हेउणा तेण लिहिदं—

"तिरिक्खिजोणी ण सो समणो" ।

देवसेणविरचिददंस्सणसारगंथे पंचजेणाभासेसु दविड-कट्ठा संघाणं णामाओ वि संति[2], जओ ते साहुओ सिहिलाचारिणो वण्णिरा । इमाणं णिवासो वि णयरचेत्तालयेसु वट्टदि । मक्करा-नोणमंगलदाण[3]पत्तेहिं इदं तत्तं णिप्फणं भवदि जओ विक्कम संवदस्स पंचमसदीए गामादिदाण-विवत्था पचलिदा आसी । नोणमंगलदाणपत्ते लिहिदं जओ कोंगुणिवम्मा विजयकित्तिमुणीणं उरणरस्स अरहदमंदिरपबंधत्थं गामदाणं दिण्णं । आलतमथाणादो उवलद्ददाणपत्तेणिबद्धं जओ मूलसंघकाकोवल आमणायस्स सिद्धणंदिमुणिणो अलत्तणगरस्स जिणमंदिर सुपबंधणिमित्तं पुल-केसीदुतयस्स सामंत सामिचारेण[4] दिण्णा । पुव्वुत्तवियाराज्झयणेण णिप्फणं भवदि जओ दविड-कट्ठ संघेसु एव पुव्वं चइत्तवासो पारब्भो जादो, पच्छा मूलसंघम्मि । विक्कमसंवअस्सदसम-सदीए मूलसंघस्स साहुणोवि संघकज्जसंवादणत्थं गामखेत्तादि दाणदव्वं गहेंति । पंचतंत्तं गंथेण वि उत्तं तत्थं सिज्झदि ।

---

१. सिरि अगरचंद नाहटालिहिदो "यति समाज" पबंधो-अनेकान्त वर्ष ३ अंक ८९
२. दर्शनसार गाथा २७
३. जैनशिलालेख संग्रह द्वितीय भाग पृ० ६०-६१
४. इण्डियन एण्टिक्वेरी जिल्द ७ पृ० २०९-१७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एअस्स गंथस्स पंचमतंत्ते पढमाकहाए लिहिदं—"नूनमेते सर्वेऽपि नग्नकाः शिरसि ताडिताः काञ्चनमया भवन्ति।.......क्षपणकविहारं गत्वा जिनेन्द्रस्य प्रदक्षिणत्रयं विधाय.... साम्प्रतं पुनः पुस्तकाच्छादनयोग्यानि कर्पटानि बहुमूल्यानि प्रगुणीकृतानि तथा पुस्तकानां लेखनाय लेखकानां च वित्तं सञ्चितमास्ते"[1]।

अमूआ कहाए इदं सिज्झदि जओ पंचतंत्तरयणा काले चइत्तवासो जादो तथा खवणगा कप्पडादिलोहेण सावगाणं गिहे भोजणत्थं गच्छन्ति। भासा–सैली एवं गठणदिट्टीए पंचतंत्तस्स रयणा विक्कमसंवअस्स पंचमसदीदो पच्छा एव होहीअ। अओ मुणीणं चेत्तवासो पुज्जपादादो किंचिपुव्वमेव जादो।

भगवदी–आराहणाए मुणिवसधि-वियारो वित्थारपुव्वं विज्जदि। एयम्मि गंथे वसधीए रूवणिधारणकरेंतो लिहिदं अत्थि-जत्थ[2] सोत्तिगसद्दरसरूवगंधेहिं ण दूसिदं अत्थि तधा जत्थसज्झा-यज्झाणेसु बाधादो ण वट्टदि तत्थ विवित्ता वसधी संहवदि। वसधीए दारं वियडिदं अवियडिदं वा हवदि, परं सा वसधी इत्थि णउंसयणसु विवज्जिदा आसी। सा सीदा उसणा वा होदि। सा गामणगराब्भंतरे बहिभागे वा तिट्ठदि। इयं वसधी उग्गम-उप्पादण-एसणादोसवज्जिदा भवियव्वा वसधिरूवणिद्धारगे एगं आवस्सगं तत्थं अत्थि जओ एअम्मि वसधिम्मि णिज्जण-ढाणट्ठिदित्तादोणाणज्झाणसाहणाए काइं विग्घं ण संहवदि। उवसग्गजणिददोसा वि तत्थ ण सक्कदि साहणाए चालिदुं मुणिणो, इदि तत्थ विचारो वट्टदि। णिज्जणट्ठाणे वि वसधीसव्व उवद्दवसुण्णा होदव्वा अत्थ छद्दह दोसा उग्गमा संति। जधा—

१. अधोकम्मदोसो—रुक्खं छेत्तूण कट्ठाणपणं किच्चा वसधी-आच्छादणं; इट्ठिगायाग-कम्मेण वसधि-णिम्माणं; भूमिं खणित्ता वसधि-करणं; पासाणबालुगाहिं सुहयररूवेण-वसधि-जोयणं तधा कद्दमकरणादिवावारेण छण्हं जीवणिकायाणं वाहं किच्चा सोणोप्पादिदा अण्णेण वा कारिदा कियमाणा वा अणुमोदिदा वा वसधी अधकम्मदोसेण दूसिदा भवदि। वसधि-णिम्माणे छहकायजीवाणं जइ पाणिवहं किंचि सिआ, तहिं अधोकम्मदोसो णूणं आगच्छदि।

२. उद्देसियदोसो—मुणीणं उद्देसेण णिम्मिदवसधी अधवा विभिण्णवग्गागदाणं जणाणं आगमणोद्देसत्थं णिम्मिदा वसधी उद्देसियदोसदुट्ठा अत्थि। मुणिजणा णिज्जणपएसे ट्ठिदा वि एयम्मि वसधिम्मि ण णिवसंति।

३. अज्झोवज्झदोसो—अप्पत्थं घरं करेमाणो तत्थ एगो अपवरगो संजदाणं होइज्जदु इति कप्पणाए णिम्मिदा वसधी अज्झोवज्झदोसेण दूसिदा होदि।

४. पूदिगदोसो—अप्पगिहत्थं आणीदेहीं कट्ठादिएहिं सह समणत्थाणी देहिं कट्ठादि-एहिं मिस्सणं पूदिगदोसो अत्थि।

५. मिस्सदोसो—पाखंडीणं सावगाणं वा संबद्धेण करेमाणे घरे पच्छा संजदाणं उद्देसं किच्चा दिज्जमाणा वसधी मिस्सदोसदूसिदा हवदि।

---

१. पञ्चतन्त्र–अपरीक्षितकारकम्

२. जत्थ ण सोत्तिग अत्थिदु सद्दरसगंधफासेहिं।
सज्झायज्झाणवाधादो वा वसधी विवित्ता॥ भगवती आराधना गाथा, २२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

६. वलिदोसो—जक्खणागकुलदेवाणं णिम्मिदं घरं, ताणं अवसिट्ठं अवपरगं संजदाणं देइ, तदा वलिदोस दुट्ठिदा भवदि वसधी। अप्पथं किदं घरं समणाणं ठविदं ठविददोसो अत्थि।

७. पाहुडिददोसो—इयदेहिं दिवसेहिं आगमिस्सन्ति संजदा, ताणं पवेसदिणे गिहसक्कारं सअलं करिस्सेमो इदि चित्तम्मि णिच्छयं किच्चा सक्कारिदंघरं पाहुडिगं होदि।

८. पादुक्कारो—जो गिहो अंधयारबहुलो अत्थि तत्थ पयाससंवादणत्थं कुड्डीए छिद्दं किच्चा पयासस्स अणुजोगो किदो हविज्ज, तं पादुक्कारदोसं विज्जदि।

९. कीददोसो—कीदं घरं दुविहं दव्वकीदं भावकीदं य। तत्थ गोवलीवद्देण संचतत्थं कीदं सचित्तकीदं तधा घी-गुडखंडादिगेहिं कीदं घरं अचित्तकीदं अत्थि। विज्जामंतादिणा कीदं भावकीदं मण्णदि। एवं पयारेण कीदं घरं समणाणं देउ तहि कीददोसेण दूसिदं हवदि।

१०. पामिच्छो—अप्पं अहियं वारिणं किच्चा गिहीदो आवासो समणाणं देइ, तदा पामिच्छो दोसो होदि।

११. परियट्टो—भवंतो मज्झगिहे तिट्ठ, अहं तव गेहं समणाणं दासेम्मो, इदि पत्थणाए गिह परिवट्टनं किच्चा ऊण्णस्स गिहं समणाणं देइ, तदा परियट्टदोसो आगच्छदि।

१२. अभिहडो—सयत्थं णिम्मिदं कुडी-कडगादिगं संजदाणं आणीदं अभिहडो दोसो हत्थि।

१३. उब्भिण्णे—इट्ठि-मिट्टि-कंटकादि-आच्छादितं गिहं रित्तं सुच्छं य किच्चा संजदाणं देइ, तदा उब्भिण्णदोसो होदि।

१४. मालारोहो—पासादोवरि संजदाणं आवासो जइ भवदि, तदा मालारोहो दोसो अत्थि। पासादोवरि सेजदाणं आवासनिसिद्धो भण्णदि।

१५. अच्छिजो—राया-अमच्चादीणंभयपदंसणं किच्चा अण्णजणस्स गिहं वसधी-णिमित्तं गहणं अच्छिद्ददोसो भण्णदि।

१६. अणिसट्टो—जस्स ठाणस्स सामी अप्पवयसिगो पराहीणो वा, तं ठाणं ताणं घेत्तूण संजापाणं देइ, तदा अणिसट्टो दोसो होदि[1]।

एवं पयारेण छद्दह उग्गमदोसा मेल्लिअब्बा। मुणीणं वसधी संझमाराहणाहेदु हुवेअब्बा।

उप्पादणदोसा—धादी-दूदणिमित्त-आजीव-वणिवग-तेगिंच्छ-कोही-माणी-मायी लोही-पुव्वं-पच्छासंथुइ-विज्जामंत-चुण्णजोगा-मूलकम्मा इति सोलस दोसा संति। एदेसां दोषाणं वण्णणस्य इदं अत्थं अत्थि जओ वसधी-उप्पादणे दूयकम्म-अंग-सुर-विजण-लक्खण-छिन्न-भोम-सुवण्ण-अंतरिक्खादीणं पजोगोण करणिज्जो। अप्पणो जाइ, कुलं एस्सरियं अण्ण महत्तं भणिऊण वसधी-पावणं अणुचिदं अत्थि। आहारदाणादि अवेक्खा-वसधि-दाणं सिट्ठदरं अत्थि इदि कहिऊण वसधी-उप्पादणं पावकरणं हवदि। विज्जा-मंत-तंत-चुण्णपजोगेण सावगाणं वसं किच्चा वसधी-उप्पादणं-दोसावहं होदि। एवं पयारेण सोलसा उप्पादणदोस विवज्जिदा वसधी एव घेतव्वा।

किं इयं वसधी जोगा णवेदि तक्कणा संकिददोसदुट्ठा अत्थि। उवजोगकाले लित्ता सित्ता छिद्दा जल पवाहेण छालिदा य वसधी मक्खिददोस जुत्ता भवदि। सचित्त भूमिए अहवा पाणी-हरिदवणप्फदीए उवरि सेज्जं करेदि. इदिकहणं सोच्चा वसधिकरणं णिखित्तदोसेण दुट्ठो अत्थि।

१. मूलाचार ६।६-२१ तथा विजयोदयाटीका पृ० ४४३, मूलाराधना पृ० ४४५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हरिदकायवणप्फदीणं छेत्तूण वसधी देइ, अदो हिंसा सत्तादो पिहिद दोसो अवगच्छदि।

कट्ठ-वत्थ-कंटकादीणं आकस्सणं केरमाणो वसधी पदाणं संव-वहरणदोसो अत्थि। मुणीणं उद्देसं किच्चा वसधीणं सुट्ठकरणं दोसपयं।

सोमजुत्त-मत्त-रोगी-पिसाचग्गह जणेहिं वसधी-पावणं दायग-दोसेण दूसिदा अत्थि।

भूमि-जलादि थावर जीवाणं मक्कुणापिपीलिगादितसजीवाणं पमिस्सिदा वसधी उम्मिस्स दोसदुट्ठा हवदि।

पमाणदो अहिया भूमिडाहणं पमाणधिगा एवं सीय-वायुन तिव्यातव उवदव्वकारणादो वसधीए णिंदणं करमाणो वसंतो धूमदोसो अत्थि।

णिवात-विसाल-समसीद-उण्हासोहणं सवधि पडि अणुरागं केरमाणो इंगालदोसो भण्णदि।

एवं अकिरियाए असंसत्ताए णिप्पाडियाए अंते बहि वा वसधी णिम्माणं उचिदं अत्थि[1]।

विवित्ता वसधी-विसयम्मि लिहिदं—

सुण्णघरगिरिगुहा रुक्खमूल आगंतुगारदेवकुले
अकदप्पन्भारारामघरादीणि य विचित्ताइं ॥ भग. २३१ ॥

सुणघरो, गिरिगुहा, रुक्खमूलं, आगंतुगाणंघरो, देवउलं, सिक्खागिहं आरामगिहं, अकदप्पब्भार—अकित्तिमसिलागिहं, कीडत्थागदाणं आवासगिहं, एदेसु ठाणेसु वसधी हुवेअव्वा।

एदेसु ठाणेसु वसधी णिम्माणे दोसाभावो सन्ति। जधा
कलहो बोलो झंझा वामोहो संकरो ममत्ति च।
ज्झाणाज्झयणविघादो णत्थि विवित्ताए वसधीए ॥—भग० २३२॥

सुण्णागारविमोचिद ठाणेसु वसधी णिम्माणादो कलहो बोलो ममेयं वसधी तवेयं वसधी इति कलहो ण केणचिअ अण्णजणरहितादो। बोलो सद्दबहुलदा कोलाहलं वा ण संहोदि। झंझा-संकिलेसो वि ण भवदि। वामोहो वइचित्तं ण उप्पदि। विवित्ताए वसधीए ज्झाणज्झयणविघादो ण विज्जदि।

अणेण संखित्त-अज्झयणेण सिज्झदि जओ जदा णयरमज्झट्ठिदचइत्तालयम्मि वसधी पारम्भा जादा, तप्पमिइं एव चइत्तालयो वि वसधी-सद्देण विवदिक्खंते। अणेण एव हेदुणा दक्खिभारहे जिण मंदिराणं सण्णा वसधी आसी। अहुणा सव्वे दक्खिणत्था चेत्तालया वसधी-संण्णगा जादा। इत्थत्तं णिप्फणं होदि जओ मुणिणिवासकारणादो एव चइत्तालयाणं उत्ता सण्णा पगडिदा।

जदवि भगवदी-आराहणाए वसधी-वियारो मूलाचार तुल्लो अत्थि, तधावि आंगंतुगार-देवउल-आरामघरेसु वसधी-विहाणेण अवबुज्झदि जओ चइत्तवासस्स अयं पुव्वरूवो अत्थि। उक्त सद्देहिं चइत्तवासस्स झुणि वि णिगच्छदि। मूलाचारे पिण्डसुद्धी-पयरणम्मि उग्गम-उप्पादणएसणदोसाणं णिरुवणं किदं, परं भगवदी-आराहणाए उत्तदोसाणं वियारो वसधी पयरेण वित्थारपुव्वं किदो। विजयोदया टीकाए दोसाणं विवेचणं वि विज्जदि।

●

---

१. संकिद मक्खिदणिक्खित्तपिहिद संववहरणदायगुम्मिस्से।
अपरिणदलित्तछोडिद एसणदोसादु दस एदे ॥—मूलाचार ६।४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३५६१
(का. हिं. वि. वि.) वाराणसी

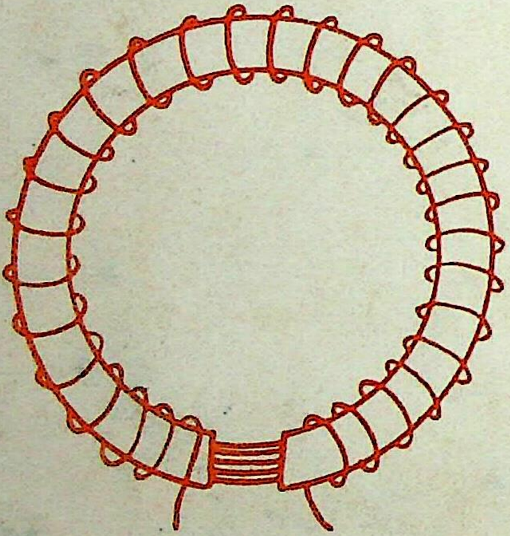

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi